पालि साहित्य का इतिहास

भरतसिंह उपाध्याय



हिन्दी साहित्य सम्मेलन • प्रयाग
१२, सम्मेलन मार्ग • इलाहाबाद



5.1



पालि साहित्य का इतिहास

(संशोधित और परिवर्द्धित षष्ठ संस्करण)

डॉ० भरतसिंह उपाध्याय



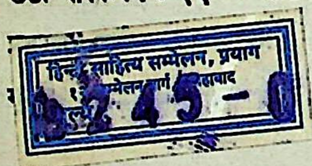
शक १९२२ : सन् २००० ई०

हिन्दी साहित्य सम्मेलन • प्रयाग

१२, सम्मेलन मार्ग, इलाहाबाद

प्रकाशक
विभूति मिश्र
प्रधानमन्त्री : हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
१२, सम्मेलन मार्ग, इलाहाबाद

छठा संस्करण : २२०० प्रतियाँ



मुद्रक
सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग
१३, सम्मेलन मार्ग, इलाहाबाद

कल्याणमित्र
श्री तुलसीराम वर्मा को



प्रकाशकीय

पालि वाङ्मय के ख्यातिप्राप्त विद्वान् डॉ० भरतसिंह उपाध्याय द्वारा लिखित 'पालि साहित्य का इतिहास' ग्रन्थ के संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण का पुनर्प्रकाशन करते हुए परम प्रसन्नता हो रही है।

सन् १९५१ ई० में इसका प्रथम संस्करण प्रकाशित हुआ था। इसके प्रकाशन से विद्वानों को पालि-साहित्य के विविध अंगों एवं उपांगों की समृद्धि का परिचय प्राप्त हुआ, जिससे इस ग्रन्थ की लोकप्रियता अपनी पराकाष्ठा पर पहुँची। फलतः अब तक इस ग्रन्थ के पाँच संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। अध्येताओं के निरन्तर आग्रह पर सम्मेलन ग्रन्थ का षष्ठ संस्करण प्रकाशित करते हुए परितोष का अनुभव कर रहा है। मान्यवर डॉ० भरतसिंह उपाध्याय जी ने चतुर्थ संस्करण की सामग्री का गहन संशोधन-परिवर्द्धन किया था। पुस्तक को इस रूप में प्रस्तुत करने में उन्होंने जो सहयोग प्रदान किया है, उसके लिए सम्मेलन आभारी है।

विश्वास है, 'पालि साहित्य का इतिहास' का यह संस्करण और भी लोकप्रिय होगा।

अक्षय तृतीया, शक १९२२

विभूति मिश्र
प्रधानमन्त्री

प्राक्कथन

भारतीय वाङ्मय में बौद्ध-साहित्य और उसमें भी पालि-साहित्य का बहुत महत्त्व है, इतना कहने से भी हम पालि-साहित्य के महत्त्व को अच्छी तरह प्रकट नहीं कर सकते। वस्तुतः ईसवी सन् के पहले और पीछे की पाँच शताब्दियों के भारत के विचार, साहित्य, समाज, सभी क्षेत्रों की हमारी जानकारी बिलकुल अधूरी रह जाती, यदि हमारे पास पालि-साहित्य न होता। हमारे इतिहास के कितने ही अन्धकारावृत्त भागों पर पालि-साहित्य ने प्रकाश डाला है। हमारे ऐतिहासिक नगरों और गाँवों में से बहुतों को विस्मृति के गर्भ में से बाहर निकालने का श्रेय पालि-साहित्य को है। फिर भारत के सर्वश्रेष्ठ पुरुष गौतम बुद्ध के मानव-रूप का साक्षात्कार करने के लिए पालि-साहित्य तो अनिवार्यतया आवश्यक है।

दुनिया की प्रायः सभी उन्नत भाषाओं में पालि-साहित्य की अनमोल निधियों के अनुवाद हुए हैं, पालि-साहित्य के ऊपर परिचयात्मक ग्रन्थ लिखे गये हैं। यह खेद की बात है कि हमारी हिन्दी भाषा में ऐसी कोई पुस्तक नहीं लिखी गयी थी। कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के अनुवाद अवश्य हुए हैं, लेकिन वहाँ भी बहुत थोड़े भाग में काम हो सका है। श्री भरतसिंह उपाध्याय ने पालि-साहित्य के इतिहास पर एक विस्तृत ग्रन्थ लिखकर, हिन्दी-साहित्य की एक बड़ी कमी को पूरा किया है। उनके ग्रन्थ में पालि-साहित्य और तुलनात्मक भाषा के सम्बन्ध में भी पर्याप्त सामग्री दी गयी है। इस ग्रन्थ के सब गुणों का परिचय देना, यहाँ सम्भव नहीं है। किन्तु समझता हूँ कि यह पुस्तक पालि-साहित्य के उच्च विद्यार्थियों एवं अध्यापकों के लिए तो बहुत सहायक साबित होगी ही, साथ ही, साहित्य में रुचि रखनेवाले पाठकों के लिए भी बहुत उपयोगी सिद्ध होगी।

—राहुल सांकृत्यायन

दिल्ली
२-६-४६

नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मासम्बुद्धस्स

प्रथम संस्करण की भूमिका

हिन्दी में पालि-साहित्य-सम्बन्धी अध्ययन का अभी सूत्रपात ही हुआ है। कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के अनुवादों के अतिरिक्त पालि-साहित्य-सम्बन्धी कार्य हिन्दी में प्रायः बहुत कम ही हुआ है। अनुवाद भी प्रायः विनय-पिटक और सुत्त-पिटक के कुछ ग्रन्थों के ही हुए हैं। सुत्त-पिटक के भी संयुत्त और अंगुत्तर जैसे निकाय अभी अनुवादित नहीं हो पाये हैं। खुद्दक-निकाय के भी अनेक ग्रन्थ अभी अनुवादित होने को बाकी हैं। सम्पूर्ण अभिधम्म-पिटक पर तो अभी हाथ ही नहीं लगाया गया। इसी प्रकार सम्पूर्ण अनुपिटक साहित्य, जिसमें बुद्धदत्त, बुद्धघोष और धम्मपाल की अट्ठकथाएँ और अन्य विशाल साहित्य सम्मिलित है, अभी अनुवाद की बाट देख रहा है। इस साहित्य में से केवल 'मिलिन्द-प्रश्न' और 'महावंस' तथा कुछ अन्य अल्पाकार ग्रन्थ ही हिन्दी-रूपान्तर ग्रहण कर सके हैं। 'विसुद्धिमग्गो' जैसा ग्रन्थ अभी हिन्दी-जनता को अविदित है। ऐसा लगता है कि एक महान् उत्तराधिकार से हम वंचित हो गये हैं। जिस दिन अवशिष्ट पालि-साहित्य हिन्दी-रूपान्तर ग्रहण कर लेगा, उस दिन भारतीय मनीषा को एक नयी स्फूर्ति मिलेगी। उसकी आध्यात्मिक प्रेरणा के स्रोत, जो आज सूखे पड़े हैं, पुनः आप्लावित हो उठेंगे, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।

जो दशा पालि-ग्रन्थों के अनुवादों की है, वही उनके मूल पाठों के नागरी संस्करणों की भी है। सन् '३७ में पुण्यश्लोक बर्मी भिक्षु उत्तम ने भिक्षुत्रय-महामति राहुल सांकृत्यायन, भदन्त आनन्द कौसल्यायन और भिक्षु जगदीश काश्यप द्वारा सम्पादित खुद्दक-निकाय के ११ ग्रन्थों को नागरी लिपि में प्रकाशित किया था। तब से बम्बई विश्वविद्यालय की ओर से निदान-कथा, महावंस, दीघ-निकाय (दो भाग), मज्झिम-निकाय (मज्झिम-पण्णासक), थेरीगाथा, थेरगाथा, मिलिन्दपञ्हो तथा पातिमोक्ख आदि का प्रकाशन नागरी लिपि में हो चुका है। पण्डित विधुशेखर भट्टाचार्य के भिक्खु और भिक्खुनी पातिमोक्ख के तथा डॉ० विमलाचरण लाहा के 'चरियापिटक' के नागरी संस्करण भी स्मरणीय हैं। इसी प्रकार मुनि जिनविजय का 'अभिधानप्पदीपिका' का संस्करण, प्रोफेसर

बापट के 'धम्मसंगणि' और 'अट्ठसालिनी' के संस्करण, आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी के 'विसुद्धिमग्ग' एवं स्वकीय नवनीत-टीका सहित 'अभिधम्मत्थसंगह' के संस्करण तथा भिक्षु जगदीश काश्यप का मोग्गल्लान-व्याकरण पर आधारित 'पालि महा-व्याकरण' ये सब हिन्दी में पालि-स्वाध्याय के महत्त्वपूर्ण प्रगति-चिह्न हैं। इनके अलावा कुछ अन्य ग्रन्थों के भी नागरी-संस्करण निकले हैं और धम्मपद, सुत्त-निपात, तेलकटाहगाथा, खुद्दक-पाठ आदि कुछ ग्रन्थों के मूल पालि-सहित हिन्दी-अनुवाद भी प्रकाशित हुए हैं। फिर भी जो कुछ काम अभी तक हो चुका है, वह उसके सामने कुछ नहीं है, जो अभी होना बाकी है। भारतीय विद्वानों के सामने एक भारी काम करने को पड़ा हुआ है। यह काम सफलतापूर्वक हो, इसके लिए अथक परिश्रम और आर्थिक व्यवस्था दोनों की ही बड़ी आवश्यकता है। महाबोधि-सभा की कई योजनाएँ आर्थिक अभाव के कारण अपूर्ण पड़ी हुई हैं। भिक्षु जगदीश काश्यप-कृत संयुत्त-निकाय का हिन्दी-अनुवाद वर्षों से पड़ा हुआ है और उसके प्रकाशन की व्यवस्था अभी-अभी हुई है। इसी प्रकार उनके द्वारा संकलित वृहत् पालि-हिन्दी शब्दकोश के प्रकाशन का सवाल है। अनेक पालि-ग्रन्थों के मूल पाठ, जिन्हें विद्वान् भिक्षुओं ने नागरी अक्षरों में लिख लिया है, विद्यमान हैं; किन्तु उनके छपने की कोई व्यवस्था नहीं। यही अवस्था अनेक अनुवादों की है। यह अत्यन्त आवश्यक है कि महाबोधि-सभा या कोई पुरानी या नयी साहित्य-संस्था सम्पूर्ण पालि-साहित्य के मूल पाठ और हिन्दी-अनुवाद को प्रकाशित करने का महत्त्वपूर्ण कार्य अपने हाथ में ले और विद्वानों के सहयोग से उसे निकट भविष्य में पूरा करे। सरकार और जनता का भी कर्त्तव्य है कि वह इसमें महत्त्वपूर्ण आर्थिक सहयोग दे। ब्रिटिश साम्राज्यवाद के दिनों में हम प्रत्येक स्वाधीनता-दिवस पर अंग्रेजों पर यह आरोप लगाया करते थे कि अन्य अनेक ह्रासों के साथ, उन्होंने हमारा सांस्कृतिक ह्रास भी किया है। आज स्वतन्त्रता-प्राप्ति के चौथे वर्ष में भारतीयों को यह याद दिलाने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होगी कि जबकि हमारी अपनी भाषा में कुछ गिने-चुने पालि-ग्रन्थों के मूल पाठों और अनुवादों के अतिरिक्त कुछ नहीं है, अंग्रेजों ने बीसों वर्ष पहले सम्पूर्ण पालि-साहित्य के मूल पाठ और अंग्रेजी-अनुवाद को रोमन-लिपि में रख दिया था। क्या पालि-साहित्य भारतीय संस्कृति और सभ्यता की अपेक्षा अंग्रेजी-संस्कृति और सभ्यता से अधिक घनिष्ठ सम्बन्धित है? क्या हमारी अपेक्षा पालि-साहित्य का महत्त्व और ममत्व अंग्रेजों के लिए अधिक था? क्या ५०० ई० पूर्व से लेकर ५०० ई० तक का भारतीय इतिहास, हमारी अपेक्षा अंग्रेज लोगों के लिए अधिक ज्ञातव्य विषय था? सन् १९०२ में 'बुद्धिस्ट इण्डिया' लिखते

समय रॉयस डेविड्स ने अपने देश की सरकार की उदासीनता की शिकायत करते हुए लिखा था कि इंग्लैण्ड में केवल दो जगह संस्कृत और पालि की उच्च शिक्षा का प्रबन्ध है, जबकि जर्मनी की सरकार ने अपने यहाँ बीस से अधिक जगह इसका प्रबन्ध किया है, 'जैसे कि मानो जर्मनी के स्वार्थ भारत में हमसे दस गुने से भी अधिक हों।' आज सन् १९५१ में भारत में पालि के उच्च स्वाध्याय की अवस्था और उसके प्रति सरकार के शून्यात्मक सहयोग को देखकर कोई भारतीय विद्यार्थी यह दुःखद अनुभूति किये बिना नहीं रह सकता कि सन् '५१ में भारतीय सरकार का जितना हित इस देश की संस्कृति और साहित्य के साथ दिखायी पड़ता है, उसके कदाचित् दुगुने और बीस गुने से भी अधिक क्रमशः इंग्लैण्ड और जर्मनी का सन् १९०२ में था।

जब पालि-ग्रन्थों के हिन्दी-अनुवाद और उनके मूल पाठों के नागरी संस्करणों की उपर्युक्त अवस्था है, तो पालि-साहित्य पर हिन्दी में अभी विवेचनात्मक ग्रन्थ लिखने का कोई आधार ही नहीं मिलता। किसी भी साहित्य के विस्तृत शास्त्रीय अध्ययन और उस पर विवेचनात्मक ग्रन्थ लिखने के लिए पहले यह आवश्यक है कि उसके मूल संस्करण और अनुवाद उपलब्ध हों, जिनके आधार पर उपादान-सामग्री का संकलन किया जा सके। हिन्दी इस शर्त को पूरा नहीं करती। इसीलिए सिर्फ दो-एक निबन्धों के अतिरिक्त पालि-साहित्य के इतिहास के सम्बन्ध में यहाँ कोई विवेचनात्मक ग्रन्थ हमें नहीं मिलते। पूज्य भदन्त आनन्द कौसल्यायन जी ने सिंहल में अपने अध्ययन के परिणामस्वरूप पालि-ग्रन्थों का एक संक्षिप्त विवरण लिखा था, जो 'पालि वाङमय की अनुक्रमणिका' शीर्षक से काशी विद्यापीठ की पत्रिका 'विद्यापीठ' के सम्वत् १९९३ के आश्विन-पौष अंक में निकला था। एक दूसरा पालि-साहित्य-सम्बन्धी निबन्ध आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के ग्रन्थ 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' के चतुर्थ परिशिष्ट के रूप में है। सरसरी तौर पर यहाँ पालि-साहित्य के विकास को दिखाने की चेष्टा की गयी है। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन, भदन्त आनन्द कौसल्यायन और भिक्षु जगदीश काश्यप के अनुवादों की प्रस्तावनाओं में उन-उन ग्रन्थों-सम्बन्धी विवरणों के साथ-साथ सामान्यतः पालि-साहित्य-सम्बन्धी परिचयात्मक विवरण भी कहीं-कहीं दे दिया गया है। विशेषतः महापण्डित राहुल सांकृत्यायन की 'बुद्ध-चर्या', 'दीघ-निकाय', 'विनय - पिटक' एवं 'अभिधर्म - कोश' आदि की भूमिकाएँ, भदन्त आनन्द कौसल्यायन की 'जातक' (प्रथम खण्ड) और 'महावंस' की भूमिकाएँ और भिक्षु जगदीश काश्यप की 'उदान' और 'पालि महाव्याकरण' की भूमिकाएँ इस दृष्टि से देखने योग्य हैं। भदन्त श्री शान्ति भिक्षु जी के भी पालि-साहित्य-

सम्बन्धी निबन्ध इधर 'विश्व भारती' पत्रिका और 'विशाल भारत' में निकलते रहे हैं। 'धर्मदूत' में भी पालि-साहित्य-सम्बन्धी निबन्ध त्रिपिटकाचार्य भिक्षु धर्मरक्षित जी, भिक्षु शीलभद्र जी, भिक्षु धर्मरत्न जी तथा अन्य अनेक बौद्ध विद्वानों के प्रायः निकलते रहते हैं। इधर बौद्ध धर्म और दर्शन-सम्बन्धी कुछ विवेचनात्मक ग्रन्थ भी हिन्दी में निकले हैं। उनमें भी यथास्थान पालि-साहित्य का कुछ विवरण है। पर उनमें कोई ऐसी मौलिकता या विशेषता दृष्टिगोचर नहीं होती, जिससे उसे विशिष्ट महत्त्व दिया जा सके। अतः प्रकीर्ण निबन्धों, प्रस्तावनाओं और गौण संक्षिप्त विवरणों के अतिरिक्त पालि-साहित्य के इतिहास पर हिन्दी में अभी कुछ नहीं लिखा गया है।

हाँ, अंग्रेजी में पालि-साहित्य के इतिहास पर कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। मेबिल बोड का 'दि पालि लिटरेचर ऑव बरमा' (लन्दन, १९०९) और जी० पी० मललसेकर का 'दि पालि लिटरेचर ऑव सिलोन' (लन्दन, १९२८) क्रमशः बरमा और लंका के पालि-साहित्य पर अच्छे विवेचनात्मक ग्रन्थ हैं। डॉ० विण्टरनित्ज़ ने अपने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिटरेचर' (कलकत्ता, १९३३) की दूसरी जिल्द (पृष्ठ १-२२६) में पालि-साहित्य का संक्षिप्त, किन्तु अत्यन्त प्रामाणिक विवरण दिया है। पालि भाषा और साहित्य का अत्यन्त सूक्ष्म और गम्भीर विद्वत्तामय विवेचन जर्मन विद्वान् डॉ० विल्हेल्म गायगर ने अपने ग्रन्थ 'पालि लिटरेचर ऐण्ड लैंग्वेज' (अंग्रेजी-अनुवाद, कलकत्ता, १९४३) में किया है। इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ में पालि-साहित्य का निर्देश तो अपेक्षाकृत संक्षिप्त रूप में किया गया है (पृष्ठ ९-५८), किन्तु पालि-भाषा का शास्त्रीय दृष्टि से जितना सूक्ष्म और विस्तृत विवेचन (पृष्ठ १-७ तथा ६१-२५०) इस ग्रन्थ में उपलब्ध होता है, उतना अन्यत्र कहीं नहीं। पालि-भाषा और साहित्य दोनों के परिपूर्ण और शृंखलाबद्ध विवेचन की दृष्टि से डॉ० विमलाचरण लाहा का दो जिल्दों में प्रकाशित 'हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर' (लन्दन, १९३३) एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, यद्यपि इसका भाषा-सम्बन्धी विवेचन डॉ० गायगर के ग्रन्थ के सामने नगण्य-सा है। पालि-साहित्य-सम्बन्धी इन महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के अलावा उसके विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालनेवाले अनेक प्रबन्ध एवं परिचयात्मक निबन्ध आदि हैं, जो पालि टेक्स्ट सोसाइटी के 'जर्नल' में अनुसन्धेय हैं। रॉयल एशियाटिक सोसाइटी के 'जर्नल' तथा 'एन्साइक्लोपीडिया ऑव रिलिजन ऐण्ड एथिक्स' में भी प्रासंगिक तौर पर पालि-साहित्य-सम्बन्धी प्रभूत सामग्री मिलती है। पालि टैक्स्ट सोसाइटी, लन्दन के अंग्रेजी-अनुवादों की भूमिकाओं और अनुक्रमणिकाओं में भी भारी सामग्री भरी पड़ी है, जिसका उपयोग पालि-साहित्य के किसी भी इतिहास-

कार के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हो सकता है। सम्पूर्ण पालि-साहित्य में प्राप्त व्यक्तिवाचक नामों का विवरणात्मक कोश (डिक्शनरी ऑव पालि प्रॉपर नेम्स), जिसे अत्यन्त परिश्रम और विद्वत्ता के साथ सिंहली विद्वान् डॉ० मललसेकर ने, विशेषतः पालि टेक्स्ट सोसाइटी के अनुवादों की अनुक्रमणियों के आधार पर ग्रथित किया है, (लन्दन, १९३७) पालि-साहित्य के विद्यार्थियों के लिए सदा एक प्रेरणा की वस्तु रहेगा। पालि-साहित्य के विभिन्न पहलुओं पर विवेचन हमें कर्न के 'मैनुअल ऑव इण्डियन बुद्धिज्म' (स्ट्रैसवर्ग, १८९६), रॉयस डेविड्स के 'बुद्धिज्म : इट्स हिस्ट्री ऐण्ड लिटरेचर' (लन्दन, १८९६) एवं 'बुद्धिस्ट इण्डिया' (लन्दन, १९०३) आदि अनेक ग्रन्थों में मिलते हैं। वंस-साहित्य पर डॉ० गायगर का 'दीपवंस ऐण्ड महावंस' (अंग्रेजी-अनुवाद, कोलम्बो, १९०८) एक महत्त्वपूर्ण समालोचनात्मक ग्रन्थ है। अभिधम्म-पिटक के विषय का विवेचन करनेवाले प्रबन्धों और ग्रन्थों में स० ज० औंग का 'अभिधम्म लिटरेचर इन बरमा' (जर्नल ऑव पालि टेक्स्ट सोसाइटी, १९१०-१२), डॉ० सिलवा का 'ट्रीटाइज ऑन बुद्धिस्ट फिलासफी', श्रीमती रॉयस डेविड्स की 'ए बुद्धिस्ट मैनुअल ऑव साइकोलोजिकल एथिक्स' ('धम्म-संगणि' का अंग्रेजी-अनुवाद, लन्दन, १९००) की भूमिका, महास्थविर ज्ञानातिलोक की 'गाइड थ्रू दि अभिधम्म पिटक' (लुज़ाक ऐण्ड कं० लन्दन, १९३८) एवं भिक्षु जगदीश काश्यप की 'अभिधम्म फिलॉसफी' (दो जिल्दें, सारनाथ, १९४२-४३), अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। इसी प्रकार सुत्त-पिटक, विनय-पिटक, पालि काव्य, व्याकरण, अभिलेख-साहित्य, अट्ठकथा-साहित्य आदि पालि-साहित्य के विभिन्न पहलुओं पर इतनी विवेचनात्मक सामग्री अंग्रेजी और यूरोप की अन्य भाषाओं जैसे फ्रेंच और जर्मन, में भरी पड़ी है कि उसके संक्षिप्ततम निर्देश के लिए भी, एक महाग्रन्थ की आवश्यकता पड़ेगी। यह कहना अतिशयोक्ति न जान पड़े, इसलिए यहाँ यह बता देना जरूरी है कि गत सत्तर-अस्सी वर्षों में पश्चिमी देशों में भारतीय विद्या-सम्बन्धी जो खोज-कार्य हुआ है, उसका तीन-चौथाई भाग बौद्ध धर्म, दर्शन, साहित्य और संस्कृति से ही सम्बन्धित है।

जैसा ऊपर निर्दिष्ट किया जा चुका है, हिन्दी या अन्य किसी भारतीय भाषा में पालि-साहित्य के इतिहास पर लिखी जानेवाली यह प्रथम पुस्तक है। इस पृष्ठभूमि से देखने पर इसमें अनेक अनिवार्य कमियाँ मिलेंगी, जिनकी पूर्ति भावी विद्वानों की कृतियाँ करेंगी। १२-१-४७ के अपने कृपा-पत्र में पूज्य भदन्त आनन्द कौसल्यायन ने मुझे उत्साहित करते हुए लिखा था—'हिन्दी में पालि-साहित्य का इतिहास' लिखा जाय, तो ऐसा ही लिखा जाय कि अंग्रेजी इतिहास फीके पड़ जायें और १९४७ तक की साहित्यिक खोज का पूरा-पूरा सार रहे।..

अपनी राष्ट्रभाषा में 'पालि-साहित्य का इतिहास' लिखा जाय, तो वह ऐसा ही होना चाहिए कि उसे ही पढ़ने के लिए लोगों को हिन्दी पढ़नी पड़े।' मैं नहीं कह सकता कि पूज्य भदन्त जी ने मुझसे जो बड़ी आशा बाँधी थी, उसे पूरा करने में मैं कहाँ तक सफल हुआ हूँ। परन्तु मुझे विश्वास है कि बरमा, सिंहल और स्याम के निवासी भी यदि बुद्ध के देश के माणवक के पालि-साहित्य-सम्बन्धी विवरण को पढ़ेंगे, तो अधिक निराश नहीं होंगे। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन और पूज्य भिक्षु जगदीश काश्यप जी के अनुवादों से मुझे इस पुस्तक के लिखने में बड़ी सहायता मिली है। पूज्य भिक्षु काश्यप जी के अभिधम्म-सम्बन्धी अध्ययन के फलों और निष्कर्षों को (जैसे कि वे 'अभिधम्म फिलॉसफी' में प्रस्फुटित हुए हैं) पाठक इन पृष्ठों में हिन्दी-रूप में प्रतिबिम्बित देखेंगे और पूज्य राहुल जी की विद्वत्ता के फलों से मैं कितनी प्रकार लाभान्वित हुआ हूँ, इसकी तो कोई इयत्ता नहीं। उन्होंने कृपा कर इस पुस्तक का प्राक्कथन लिखा है, जिसके लिए उनका अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। पूज्य आचार्य श्री वियोगी हरि जी ने इस रचना में आदि से ही बड़ी रुचि दिखायी है, यह मेरे लिए एक बड़ी प्रेरणा और आश्वासन की बात रही है। उन्होंने ही श्री राहुल जी से मेरा परिचय कराया और इस ग्रन्थ के प्रकाशन में सहायता भी की। आचार्य श्री नरेन्द्रदेव जी ने इस ग्रन्थ की रूपरेखा को देखकर मुझे अत्यधिक उत्साहित किया, जिसके लिए उनका हृदय से कृतज्ञ हूँ। पूज्य गुरुवर आचार्य श्री जगन्नाथ तिवारी जी, आचार्य श्री धर्मेन्द्रनाथ जी शास्त्री, आचार्य श्री सीताराम जी चतुर्वेदी एवं आचार्य श्री कृष्णानन्द जी पन्त का मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने कृपा कर पाण्डुलिपि के कई अंशों को ध्यानपूर्वक पढ़ा और सत्परामर्श दिये। राजर्षि श्री पुरुषोत्तमदास जी टंडन, श्री चन्द्रबली जी पाण्डेय, श्री कृष्णदेवप्रसाद जी गौड़, श्री दयाशंकर जी दुबे, श्री पं० लक्ष्मीनारायण जी मिश्र, श्री रामप्रताप जी त्रिपाठी एवं सम्मेलन की साहित्य-समिति के सदस्यों का हृदय से कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने इस पुस्तक को सम्मेलन के द्वारा प्रकाशन के योग्य समझा। अन्त में मैं श्री सीताराम जी गुण्ठे, व्यवस्थापक, सम्मेलन-मुद्रणालय तथा उनके सहयोगियों के प्रति हृदय से कृतज्ञता प्रकाशित करता हूँ, जिन्होंने बड़ी दक्षता से इस पुस्तक को छापा है। भगवान् बुद्ध का अनुभाव उन पर अभिवर्षित हो!

किसी खोजपरक विवेचनात्मक ग्रन्थ के लेखक के लिए आज-कल यह प्रायः आवश्यक माना जाता है कि वह बताये कि कहाँ तक उसने अपने पूर्वगामियों का अनुसरण किया है, अथवा कहाँ तक उसने मौलिक स्थापनाएँ और निष्कर्ष उपस्थित किये हैं। मैं समझता हूँ, यह काम तो पालि-साहित्य के मर्मज्ञ समालोचक

ही, जिन्होंने पूर्वी और पश्चिमी विद्वानों के ग्रन्थों को पढ़ा है, कर सकेंगे। जहाँ तक मैं समझता हूँ; मैंने इस पुस्तक के पृष्ठ-पृष्ठ, पंक्ति-पंक्ति, शब्द-शब्द; अक्षर-अक्षर का विश्लेषण कर देखा; तो मुझे कहीं 'मैं' या, 'मेरा' नहीं मिला, 'अपना' कुछ दिखायी न दिया। जो 'मैं' नहीं है, जो मेरा 'अपन' नहीं है, उसको जितना जल्दी हो छोड़ देना ही मेरे लिए कल्याणकारी होगा। इसी विचार के साथ मैं समाप्त करता हूँ।

जैन कालेज, बड़ौत
१०-६-५१

—भरतसिंह उपाध्याय



चतुर्थ संस्करण की भूमिका

मेरे लिए यह बड़ी प्रसन्नता की बात है कि इस पुस्तक के संशोधित और परिवर्द्धित चतुर्थ संस्करण को देख रहा हूँ। यह हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्रधानमन्त्री परम श्रद्धेय डॉ० प्रभात शास्त्री जी की कृपा से ही सम्भव हुआ है। ऐसे कठिन समय में उन्होंने इस पुस्तक के नवीन संस्करण को प्रकाशित किया है, इसे मैं उनका अपने ऊपर महान् अनुग्रह और उपकार ही मानता हूँ।

—भरतसिंह उपाध्याय

बी-१३७, लोहियानगर
गाजियाबाद, उ० प्र०
२१ जुलाई, १९८६ ई०



विषय-सूची

पहला अध्याय

पालि भाषा

दूसरा अध्याय

पालि-साहित्य का विस्तार वर्गीकरण और काल-विभाग

तीसरा अध्याय

सुत्त-पिटक

चौथा अध्याय

विनय-पिटक

पाँचवाँ अध्याय

अभिधम्म-पिटक

छठा अध्याय

पूर्व-बुद्धघोष-युग

(१०० ई० पू० से ४०० ई० तक)

सातवाँ अध्याय

बुद्धघोष-युग

(४०० ई० से ११०० ई० तक)

आठवाँ अध्याय

बुद्धघोष-युग की परम्परा अथवा टीकाओं का युग

(११०० ई० से वर्तमान समय तक)

नवाँ अध्याय

वंस-साहित्य

दसवाँ अध्याय

काव्य, व्याकरण, कोश, छन्दःशास्त्र, अभिलेख आदि

उपसंहार

नामानुक्रमणिका

पालि-साहित्य का इतिहास

पहला अध्याय

पालि भाषा

'पालि' शब्दार्थ-निर्णय

जिसे हम आज पालि भाषा कहते हैं,वह उसका प्रारम्भिक नाम नहीं है। भाषा-विशेष के अर्थ में पालि शब्द का प्रयोग अपेक्षाकृत नवीन है। कम-से-कम ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी से पूर्व उसका इस अर्थ में प्रयोग नहीं मिलता। 'पालि' शब्द का सबसे पहला व्यापक प्रयोग हमें आचार्य बुद्धघोष (चौथी-पाँचवीं शताब्दी ईसवी) की अट्ठकथाओंऔर उनके 'विसुद्धिमग्ग' में मिलता है। वहाँ यह बात अपने उत्तरकालीन भाषा-सम्बन्धी अर्थ से मुक्त है। आचार्य बुद्धघोष ने दो अर्थों में इस शब्द का प्रयोग किया है---(१) बुद्ध-वचन या मूल तिपिटक (सं० त्रिपिटक) के अर्थ में, (२) 'पाठ' या 'मूल तिपिटक के पाठ' के अर्थ में। चूँकि 'मूल तिपिटक' और 'मूल तिपिटक के पाठ' में भेद कहने भर को है, अतः मोटे तौर से कहा जा सकता है कि 'मूल तिपिटक' या 'बुद्ध-वचन' के सामान्य अर्थ में ही बुद्धघोष महास्थविर ने 'पालि' शब्द का प्रयोग किया है। जिस किसी प्रसंग में उन्हें पोराण-अट्ठकथा (प्राचीन अर्थकथा) से विभिन्नता दिखाने के लिए मूल तिपिटक के किसी अंश को उद्धृत करना पड़ा है; वहाँ उन्होंने 'पालि' शब्द से बुद्ध-वचन या मूल तिपिटक को अभिव्यक्त किया है, जैसे 'विसुद्धिमग्ग' में "इमानि ताव पलियं, अट्ठकथायं पन . . ." ("ये तो 'पालि' में हैं, किन्तु 'अट्ठकथा' में तो...") तथा वहीं "नेव पालियं न अट्ठकथायं आगत" ("यह न पालि" में आया है और न 'अट्ठकथा' में") । इसी प्रकार 'सुमंगलविलासिनी' (दीघ-निकाय की अट्ठ-कथा)की सामञ्ञफलसुत्त-वण्णना में तथा 'अट्ठसालिनी'('धम्मसंगणि' की अट्ठ-कथा) में "नेव पालियं, न अट्ठकथायं दिस्सति" । ("यह न 'पालि' में दिखायी देता है और न 'अट्ठकथा' में") तथा पुग्गलपञ्ञत्ति-अट्ठकथा में "पालिमुत्तकेन पन अट्ठकथानयेन" ('पालि' को छोड़कर 'अट्ठकथा की प्रणाली से) आदि। इसके अलावा जहाँ उन्हें तिपिटक की व्याख्या करते हुए कहीं-कहीं उसके पाठान्तरों का निर्देश करना पड़ा है; वहाँ उन्होंने 'इति पि पालि' (ऐसा भी पाठ है) कहकर 'पालि' शब्द से मूल तिपिटक के 'पाठ' को द्योतित किया है, जैसे 'सुमंगलविलासिनी'

पालि०—१

की सामञ्ञफलसुत्त-वण्णना में 'महच्चराजानुभावेन' पद की व्याख्या करते हुए पहले उन्होंने उसका अर्थ किया है 'महता राजानुभावेन' और फिर पाठान्तर का निर्देश करते हुए लिखा है 'महच्चा इति पि पालि' अर्थात् 'महच्चा' ऐसा भी पाठ है। यहाँ 'पालि' का अर्थ निश्चित रूप से 'पाठ' ही है, यह इस बात से प्रकट होता है कि समान प्रसंगों में 'पालि' के समानार्थवाची शब्द के रूप में 'पाठ' शब्द का भी प्रचुर प्रयोग आचार्य बुद्धघोष ने किया है। कुछ एक उदाहरण ही पर्याप्त होंगे। "सेतकानि अट्ठीनी एत्था' ति सेतट्ठिका . . . सेतट्ठिका' ति पि पाठो" (समन्तपासादिका—वेरञ्जकण्डवण्णना) तथा "अपगतकाळको . . . अपहतकाळको' ति पि पाठो" (समन्तपासादिका—वेरञ्जकण्डवण्णना)। वास्तव में नाना स्थानों और व्यक्तियों के नामों के व्याख्या-प्रसंग में "ति पि पाठो" के निर्देशों से बुद्धघोष की अट्ठकथाएँ भरी पड़ी हैं।

आचार्य बुद्धघोष के कुछ ही समय पूर्व लंका में लिखेगये'दीपवंस' ग्रन्थ में भी, जो चौथी शताब्दी ईसवी की रचना है; 'पालि' शब्द का प्रयोग बुद्ध-वचन के अर्थ में ही किया गया है।[१] इसी प्रकार बुद्धघोष के प्रायः समकाल या तत्काल बाद (पाँचवीं शताब्दी ईसवी में ही); रचित 'महावंस' में भी पालि शब्द का प्रयोग बुद्ध-वचन या पालि-तिपिटक के अर्थ में हुआ है।[२] आचार्य बुद्धघोष के बाद भी सिंहल देश में 'पालि' शब्द का प्रयोग उपर्युक्त दोनोंअर्थों में होता रहा। आचार्य धम्मपाल (पाँचवीं-छठी शताब्दी ईसवी) ने अपनी 'परमत्थदीपनी' (खुद्दक-निकाय के कतिपय ग्रन्थों की अट्ठकथा) में भी 'पालि' शब्द का प्रयोग मूल तिपिटक के 'पाठ' के अर्थ में किया है; यथा "अयाचितो ततागच्छी' ति . . . आगतो 'ति पि पालि।" इसी प्रकार 'बुद्ध-वचन' के अर्थ में भी 'पालि' शब्द का प्रयोग वहाँ उपलक्षित होता है। 'चूलवंस' (तेरहवीं शताब्दी) में भी, जो 'महावंस' (पाँचवीं शताब्दी) का उत्तरकालीन परिवर्द्धित अंश है,'पालि' शब्द का प्रयोग बुद्ध-वचन, अट्ठकथा से व्यतिरिक्त मूल पालि तिपिटक के अर्थ में ही किया गया है। उसका एक अति प्रसिद्ध वाक्य है—"पालिमत्तं इधानीतं नत्थि अट्ठकथा

---

१. पिटकत्तयपालिं च तस्सा अट्ठकथं पि च॥ २०।२० (ओल्डनबर्ग का संस्करण)।

२. बिल्कुल ऊपर पाद-टिप्पणी में 'दीपवंस' से दिये गये उद्धरण के समान ही—"पिटकत्तयपालिञ्च तस्सा अट्ठकथं पि च।" महावंस ३३।१०० (गायगर का संस्करण)।

इध।"[1] ("यहाँ केवल 'पालि' ही लायी गयी है ('अट्ठकथा' यहाँ नहीं है")। इसी प्रकार यहीं दिखाया गया है कि रेवत स्थविर ने बुद्धघोष के प्रति "अभिधम्म की पालि (मूल बुद्ध-वचन) को कहा। "पालिमहाभिधम्मस्स।"[2] उसी के कुछ काल बाद लिखित "सद्धम्मसंगह"[3] (चौदहवीं शताब्दी) में भी 'पालि' शब्द का प्रयोग इसी मूल तिपिटक के अर्थ में किया गया है। यहाँ स्थविर रेवत को बुद्धघोष के प्रति यह कहते दिखाया गया है; "आयुष्मन् बुद्धघोष! यहाँ जम्बू-द्वीप में पिटक-त्रय पालि (पालि तिपिटक) मात्र ही है,उसकी अट्ठकथा और आचार्यवाद विद्यमान नहीं है।[4] यहाँ तक कि उन्नीसवीं शताब्दीमें लिखित 'सासनवंस' में भी "नेव पालियं न अट्ठकथायं" का परम्परागत उद्धरण उसी रूप में पालि के अर्थ को स्पष्ट करता हुआ आया है। बल्कि इसी ग्रन्थ में एक प्रसंग में "पालिमत्तं एव अत्थि, अट्ठकथा पन नत्थि" वाक्य आया है जो 'चूलवंस' के उपर्युक्त "पालिमत्तं इधानीतं नत्थि अट्ठकथा इध" का कुछ अक्षर-परिवर्तन से पुनरुद्धरण मात्र ही है; जिसके समान ही वाक्य; जैसा हम ऊपर देख चुके हैं; 'सद्धम्मसङ्गह' में भी आया है।

उपर्युक्त उद्धरण 'पालि' शब्द के अर्थ-निर्धारण में बड़े महत्त्व के हैं। चौथी शताब्दी ईसवी से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी ईसवी तक जिन अर्थों में 'पालि' शब्द का प्रयोग होता रहा है, उसका वे दिग्दर्शन कराते हैं। अतः उनसे हमें एक आधार मिलता है; जिसका आश्रय लेकर हम चौथी शताब्दी ईसवी से पहले 'पालि' शब्द के इतिहास पर विचार कर सकते हैं। तिपिटक में तो 'पालि' शब्द बुद्ध-वचन के अर्थ में मिलता नहीं। तिपिटक को आधार मानकर लिखे हुए साहित्य में भी बुद्धघोष की रचनाओं या 'दीपवंस' के समय से पूर्व किसी ग्रन्थ में 'पालि' शब्द का निर्देश बुद्ध-

---

१. ३७।२२७ (गायगर का संस्करण)।

२. चूलवंस ३७।२२१ (गायगर का संस्करण)। सद्धम्मसङ्गह, पृष्ठ ३० (देवनागरी संस्करण) में भी बिलकुल यही बात उद्धृत।

३. "इधावुसो बुद्धघोस, जम्बुदीपे पिटकत्तयपालिमत्तमेव अत्थि, तस्स अट्ठकथा च आचरियवादा च न विज्जन्ति।" पृष्ठ ३१ (देवनागरी संस्करण)। मिलाइये यहीं "बुद्धघोसो पिटकत्तय पालिं च तस्सा अट्ठकथं च पस्सित्वा विसुद्धिमग्गं....अकासि।" ("बुद्धघोष ने पिटकत्रय पालि (पालि तिपिटक) और उसकी अट्ठकथा को देखकर 'विसुद्धिमग्ग' की रचना की)।"

४. पृष्ठ ११९ (देवनागरी संस्करण)।

५. पृष्ठ २९ (देवनागरी संस्करण)।

वचन के अर्थ में नहीं मिलता। फिर आचार्य बुद्धघोष ने किस परम्परा का आश्रय ग्रहण कर 'पालि' शब्द को 'बुद्ध-वचन' या उसके 'पाठ' के अर्थ में प्रयुक्त किया, यह हमारे गवेषणा का मुख्य विषय है। दूसरे शब्दों में, बुद्धघोष के समय से पहले 'पलि' शब्द का इतिहास हमें जानना है। भाषाओं के विकास में, स्थान और युग की विशेष परिस्थितियों के कारण, शब्दों के रूपों, अर्थों और ध्वनियों में नाना विकार होते रहते हैं। ध्वनि, रूप और अर्थ के उन विकारों को हमें ढूँढ़ना है, जिनका अतिक्रमण कर 'पालि' शब्द बुद्धघोष के समय तक 'बुद्ध-वचन' या 'मूल तिपिटक के पाठ' के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा और फिर उन्नीसवीं शताब्दी तक उसी अर्थ को धारण करता रहा। उसके बाद के अर्थ-विकार की बात तो बाद में। उपर्युक्त महत्त्वपूर्ण उद्धरणों में 'पालि' शब्द के जो अर्थ व्यक्त किये गये हैं, उन्हीं को आधार मानकर कुछ आधुनिक विद्वानों ने 'पालि' शब्द की निरुक्ति के सम्बन्ध में कुछ महत्त्वपूर्ण स्थापनाएँ की हैं, जिनमें तीन अधिक प्रभावशाली हैं। पहली स्थापना इस बात को प्रमुखता देकर चलती है कि बुद्धघोष की अट्ठकथाओं में चूँकि 'पालि' शब्द 'बुद्ध-वचन' या 'मूल तिपिटक' के अर्थ को व्यक्त करता है, इसलिए उसका मूल रूप भी कोई ऐसा शब्द रहा होगा जो बुद्ध-काल में इसी अर्थ को सूचित करता हो। दूसरी स्थापना इसी प्रकार 'पालि' शब्द के 'पाठ' अर्थ को प्रमुखता देकर चलती है। तीसरी स्थापना संस्कृत शब्द 'पालि', जिसका अर्थ पंक्ति है, को प्रधानता देकर उसे बुद्धघोष आदि आचार्यों के द्वारा प्रयुक्त 'पालि' शब्द के अर्थों के साथ संगत करने का प्रयत्न करती है। इन तीनों स्थापनाओं की समीक्षा हमें करनी है।

पहली स्थापना के अनुसार 'पालि' शब्द का प्राचीनतम रूप हमें 'परियाय' शब्द में मिलता है। 'परियाय' शब्द तिपिटक में अनेक बार आया है। कहीं-कहीं 'धम्म' शब्द के साथ और कहीं-कहीं अकेले भी इस शब्द का व्यवहार हुआ है। उदाहरणतः 'को नामो अयं भन्ते धम्मपरियायो ति'[१] ('भन्ते! यह किस नाम का धम्म-परियाय है'); 'भगवता अनेक परियायेन धम्मो पकासितो'[२] ('भगवान् ने अनेक पर्यायों से धर्म को प्रकाशित किया') आदि। स्पष्टतः ऐसे स्थलों में 'परियाय' शब्द का अर्थ बुद्धोपदेश है। बाद में (मागधी के अनुरूप रकार का लकार करके) 'परियाय' शब्द का ही विकृत रूप 'पलियाय' हो गया। अशोक के प्रसिद्ध भाब्रू शिलालेख में 'पलियाय' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में मिलता है। मगध के भिक्षु-संघ को कुछ चुने हुए बुद्ध-वचनों के स्वाध्याय करने की प्रेरणा

---

१. ब्रह्मजाल-सुत्त (दीघ० १।१)।
२. सामञ्ञफल-सुत्त (दीघ० १।२)।

देते हुए प्रियदर्शी 'धम्मराजा' कहते हैं, "भन्ते ! ये धम्म-पलियाय हैं। मैं चाहता हूँ कि सभी भिक्षु-भिक्षुणियाँ, उपासक और उपासिकाएँ, इन्हें सदा सुनें और धारण करें।"[१] 'पलियाय' शब्द के 'पालि' उपसर्ग के प्रथम अक्षर का दीर्घ होकर बाद में 'पालियाय' शब्द बन गया। 'पालियाय' शब्द का ही संक्षिप्त रूप बाद में 'पालि' होकर 'बुद्ध-वचन' या 'मूल-तिपिटक' के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा।[२] इस मत की स्थापना भिक्षु जगदीश काश्यप ने अपने 'पालि महाव्याकरण' की वस्तुकथा में योग्यतापूर्वक की है।

---

१. "इमानि भन्ते धम्मपलियायानि.....एतानि भन्ते धम्मपलियायानि इच्छामि किं ति बहुके भिखुपाये चा भिखुनिये चा अभिखिनं सुनयु चा उपधालेयेयु चा। हेवं मेवा उपासका चा उपासिका चा।"

२. यह लक्षणीय है कि महायान में भी 'सद्धर्मपुण्डरीक-सूत्र' में "साधु, साधु, भगवन्, शाक्यमुने सुभाषितस्तेऽयं सद्धर्मपुण्डरीको धर्मपर्यायः.....यदा तु मयायं सद्धर्मपुण्डरीको धर्मपर्यायः श्रुतः.....सर्वे च ते.....स्तथागतेन सत्त्वानां विनयार्थाय भाषिताः....नानाविधैः धर्मपर्यायैः" जैसे अनेक कथनों में न केवल इस सूत्र-ग्रन्थ को ही 'धर्मपर्याय' कहा गया है, बल्कि बुद्धोपदेश के साधारण अर्थ में भी 'धर्मपर्याय' शब्द का प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार स्वयं 'ललितविस्तर' में इसी ग्रन्थ को 'ललितविस्तरो नाम धर्मपर्यायः' कहकर पुकारा गया है। इसी प्रकार 'दिव्यावदान' और 'अवदान शतक' में समान रूप से आया है "अस्मिं खलु धर्मपर्याये।" 'महावस्तु-अवदान' में "अयं धर्मपर्यायो" के रूप में तथा 'शिक्षा-समुच्चय' में "इमं धर्मपर्यायं श्रुत्वा" के रूप में यही अर्थ गृहीत है। इसी प्रकार 'महाकर्म-विभङ्ग' नामक महायान सूत्र में भी भगवान् कहते हैं, "कर्म विभङ्ग धर्म पर्याये देशयिष्यामि" और समान रूप से 'अर्थ विनिश्चय सूत्र' में, "सम्प्रकाशयिष्ये अर्थ विनिश्चयं नाम धर्मपर्यायम्।" बल्कि 'राष्ट्रपाल-परिपृच्छा' में तो ऊपर उद्धृत पालि 'ब्रह्मजाल-सुत्त' के समान ही "किं नामायं धर्मपर्यायः" कहा गया है। अतः सौगत संस्कृत साहित्य में 'धर्म पर्याय' शब्द का प्रयोग बिलकुल पालि 'धम्म-परियाय' के समान अर्थ में ही होता है। यह एक अत्यन्त सार्थक परिपूरक तथ्य है और इस प्रकार भी पालि का मूल रूप 'परियाय' हो सकता है। इसके लिए अवकाश है।

३. पृष्ठ आठ-बारह।

दूसरा मत, जिसकी स्थापना भिक्षु सिद्धार्थ ने अपने अंग्रेजी निबन्ध "पालि भाषा का उद्गम और विकास, विशेषतः संस्कृत व्याकरण के आधार पर"[1] में की है, इससे कुछ भिन्न है। उनके मतानुसार 'पालि' या ठीक कहें तो 'पाळि' शब्द का मूल उद्गम संस्कृत 'पाठ' शब्द है। इस मत के अनुसार संस्कृत 'पाठ' शब्द का ही विकृत या परिवर्तित रूप 'पाळि' या 'पालि' है। यह विकास-क्रम भिक्षु सिद्धार्थ के मतानुसार कुछ-कुछ इस प्रकार चला। प्राचीन काल में 'पाठ' शब्द का प्रयोग ब्राह्मण लोग विशेषतः वेद-वाक्यों के 'पाठ' के लिए किया करते थे। भगवान् बुद्ध के समय में भी यह परम्परा ब्राह्मणों में चली आ रही थी। जब अनेक ब्राह्मण-महाशाल बुद्ध-मत में प्रविष्ट हुए तो उन्होंने इसी शब्द को, जिसे वे पहले वेद के पाठ के अर्थ में प्रयुक्त करते थे; अब बुद्ध-वचनों के लिए प्रयुक्त करना आरम्भ कर दिया। यह स्वाभाविक भी था। जब उन्होंने बुद्ध को 'मुनि', 'वेदगू (वेद में गति रखनेवाले), 'वेदन्तगू' (वेदान्त में गति रखनेवाले) कहकर अपनी श्रद्धा अर्पित की, तो उनके वचनों के निर्देश के लिए भी वे पवित्र 'पाठ' शब्द का अभिधान क्यों न करते? भिक्षु सिद्धार्थ ने ठीक ही 'पाठ' शब्द के अतिरिक्त कुछ अन्य शब्दों की सूची दी है, जो पहले वैदिक परम्परा के थे, किन्तु बौद्ध संघ में आकर जिन्होंने नये स्वरूप ग्रहण कर लिये थे। 'संहिता' 'सहित' हो गयी; 'तन्त्र' 'तन्ति' हो गया, 'प्रवचन' 'पावचन' हो गया। अन्तः प्राचीन 'पाठ' शब्द का भी बौद्ध संस्करण असम्भव न था। किन्तु बौद्धों ने जो कुछ लिया, उसे एक नया स्वरूप भी प्रदान किया। संस्कृत 'पाठ' शब्द 'भिक्षु संघ में आकर 'पाळ' हो गया। यह ध्वनि-परिवर्तन भाषा-विज्ञान के नियमों के आधार पर सर्वथा सम्भव भी था। संस्कृत के सभी मूर्द्धन्य व्यञ्जन (ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्) पालि और प्राकृत भाषाओं में 'ळ्' हो जाते हैं। उदाहरणतः संस्कृत 'आटविक' पालि में 'आळ्विक' है, सं० 'पटच्चर'-पालि में 'पळच्चर' है, सं० 'एडक' पालि में 'एळक' है। इसी प्रकार सं० वेणु-पालि वेळु; सं० दृढ़-पालि दळ्ह, आदि। 'पाळ' शब्द का ही बाद में विकृत रूप 'पाळि' हो गया। यह भी भाषा-विज्ञान सम्बन्धी नियमों के असंगत न था। अन्त्य स्वर-परिवर्तन का विधान पालि में अक्सर देखा जाता है, जैसे संस्कृत 'अंगुल' से पालि 'अंगुलि-अंगुली; सं० 'सर्वज्ञ' से पालि 'सब्बञ्ञू' आदि। अतः मिथ्या-सादृश्य के आधार पर 'पाळ' शब्द का विकृत रूप 'पाळि' हो गया। 'पाळि' शब्द में 'ळ्' व्यञ्जन वैदिक मूर्द्धन्य 'ळ्' ध्वनि का प्रतिरूप था। इस ध्वनि का विकास कई आधुनिक भारतीय भाषाओं में 'ड्' के रूप में

---

१. बुद्धिस्टिक स्टडीज (डॉ० लाहा द्वारा सम्पादित); पृष्ठ ६४१-६५६।

हुआ है। यह वैदिक ध्वनि 'अन्तःस्थ ळ्' से भिन्न थी। किन्तु 'ळ्' और 'ल्' के उच्चारणों में भेद न कर सकने के कारण बाद में मिथ्या-सादृश्य के आधार पर 'पालि' शब्द को 'पाळि' शब्द के साथ मिला दिया गया, जो वास्तव में व्युत्पत्ति और अर्थ की दृष्टि से एक बिलकुल भिन्न शब्द था। 'पाळि' शब्द के साथ इस प्रकार मिलकर 'पालि' शब्द भी बुद्ध-वचन के ही अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। भिक्षु सिद्धार्थ के मतानुसार 'पालि' शब्द की यही निरुक्ति है।

तीसरे मत का निर्देश करने से पूर्व इन दोनों मतों की कुछ समीक्षा कर लेना आवश्यक होगा। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से दोनों मत निर्दोष हैं। 'पालि' और 'पाळि' दोनों ही शब्द-रूप ठीक हैं; ऐसा 'अभिधानप्पदीपिका सूची' में स्वीकार किया गया है। बल्कि यहाँ 'पाळि' शब्द को ही अधिकतर स्वीकार किया गया है। 'पातिरक्खतो' ति पाळि, पाळी'ति एकच्चे।" ध्वनि-परिवर्तन सम्बन्धी नियमों पर भी दोनों खरे उतरते हैं। दोनों एक-दूसरे के विरोधी भी नहीं हैं। जहाँ तक वे भिन्न-भिन्न हेतुओं से 'पालि' या पाळि शब्द का तात्पर्य 'बुद्ध-वचन' में दिखलाते हैं, वे एक-दूसरे के पूरक हैं। किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से भिक्षु सिद्धार्थ के मत की एक निर्बलता है। उन्होंने 'पाठ' शब्द का विकृत रूप 'पाळ' बतलाया है और फिर उससे 'पाळि' या 'पालि' शब्द की व्युत्पत्ति की है। इसे ऐतिहासिक रूप से ठीक होने के लिए यह आवश्यक है कि 'पाळ' शब्द का प्रयोग पालि-साहित्य में उपलब्ध हो। तभी उसके आधार पर 'पाळि' शब्द की व्युत्पत्ति की स्थापना की जा सकती है। ऐसा कोई उदाहरण भिक्षु सिद्धार्थ ने अपने उक्त निबन्ध में नहीं दिया। आचार्य बुद्धघोष की अट्ठकथाओं से जो उदाहरण उन्होंने दिये हैं, उनमें भी 'इति पि पाठो' ही बुद्धघोषोक्त वचन है, 'इति पि पाळो' नहीं। जब बुद्धघोष के समय अर्थात् ईसा की चौथी-पाँचवीं शताब्दी तक 'पाठ' शब्द का वैसा ही संस्कृत का-सा रूप पालि-साहित्य में मिलता है, तो फिर इस स्थापना के लए क्या आधार है कि बुद्ध-काल में ही संघ में आकर उसका रूप 'पाळ' हो गया था? वास्तव में ऐतिहासिक दृष्टि से तो यही अधिक युक्तियुक्त जान पड़ता है कि 'इति पि पालि' के बाद ही; उससे पहले नहीं; 'इति पि पाठो' लिखना आरम्भ किया गया होगा, जब कि तिपिटक के पठन-पाठन का प्रचार कुछ अधिक बढ़ा होगा। श्रीमती रायस डेविड्स का भी यही मत है।[1] अतः भिक्षु सिद्धार्थ की व्युत्पत्ति के लिए कोई अवकाश नहीं रह जाता। इस ऐतिहासिक आधार की कमी के कारण वह प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। भिक्षु जगदीश काश्यप के मत में ऐसी कोई कमी दिखायी नहीं

---

१. देखिए; उनका 'शाक्य और बुद्धिस्ट ऑरीजिन्स', पृष्ठ ४२९-३०।

देती। भाब्रू शिलालेख का अद्वितीय साक्ष्य उसे प्राप्त है। 'पेय्याल' शब्द में भी यही तत्त्व निहित है।[1] अतः एक पूरी परम्परा का आधार लेने के कारण और इस कारण भी कि पालि साहित्य में उपलब्ध 'पालि' शब्द के समस्त विकृत या विकसित रूपों के साथ उसकी संगति लग जाती है, वह मत हमारे वर्तमान ज्ञान की अवस्था में एक मान्य सिद्धान्त है।

'पालि' शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में तीसरा मत पं० विधुशेखर भट्टाचार्य का है। उनके मतानुसार 'पालि' शब्द का अर्थ 'पंक्ति' है और इस प्रकार वह संस्कृत 'पालि' शब्द का पर्यायवाची है। इस बात को पालि भाषा और साहित्य का भी कुछ समर्थन प्राप्त न हो, ऐसी बात नहीं है। स्वयं 'विनय-पिटक' के 'महावग्ग' में हम मगध के एक खेत को 'पालि-बद्ध' (या 'पालि-बन्ध') अर्थात् 'कतार में बँधा' देखते हैं।[2] प्रसिद्ध पालि कोश 'अभिधानप्पदीपिका' (बारहवीं शताब्दी) में 'पालि' शब्द के 'बुद्धवचन' अर्थ के साथ-साथ 'पंक्ति' अर्थ भी दिया गया है। "तन्तिबुद्धवचनं पन्ति पालि।" पालि साहित्य में 'अम्बपालि', 'दन्तपालि', 'कण्णपालियों' जैसे प्रयोग भी 'पालि' शब्द के 'पंक्ति' अर्थ को ही द्योतित करते हैं। अतः 'पालि' शब्द का अर्थ 'पंक्ति' और बाद में 'ग्रन्थ की पंक्ति' इस आधार पर लिया गया है और बुद्धघोष द्वारा प्रयुक्त अर्थ के साथ उसकी संगति भी मिला ली गयी है। किन्तु इस मत में दोष फिर भी स्पष्ट हैं। भिक्षु जगदीश काश्यप ने उसमें प्रधानतया तीन कमियाँ दिखायी हैं[3]—(१) 'पंक्ति' के लिए लिखित ग्रन्थ का होना आवश्यक है। तिपिटक प्रथम शताब्दी ईसवी-पूर्व से पहले लिखा नहीं गया था। अतः उस समय के लिए तिपिटक के उद्धरण के लिए 'पालि' या 'पंक्ति' शब्द इस अर्थ में उपयुक्त नहीं हो सकता था। (२) 'पालि' शब्द का अर्थ यदि 'पंक्ति' होता तो उस अवस्था में 'उदान-पालि' जैसे प्रयोगों में 'उदान-पंक्ति' अर्थ करने में कोई समझने योग्य अर्थ नहीं निकलता।

---

१. देखिए, पालि महाव्याकरण, पृष्ठ ४३ (वस्तुकथा)। 'पेय्याल' शब्द के पालि ग्रन्थों में लेखक के प्रयोग के लिए देखिए आगे तीसरे अध्याय में सुत्त-पिटक की शैली का विवेचन। डॉ० डी० डब्ल्यू० रायस डेविड्स और विलियम स्टीड ने 'पालि-इंगलिश डिक्शनरी' में 'पेय्याल' शब्द को 'परियाय' शब्द से जोड़ा है। इस प्रकार 'पालि' के मूल अर्थ को 'परियाय' में खोज करनेवाले मत को यहाँ अवकाश और समर्थन मिलता है।

२. महावग्ग पालि, पृष्ठ ३०३ (श्री नालन्दा संस्करण); देखिए, विनय-पिटक (राहुल सांकृत्यायन का हिन्दी अनुवाद), पृष्ठ २७९ भी।

३. पालि महाव्याकरण, पृष्ठ ८ (वस्तुकथा)।

(३) 'पालि' शब्द का अर्थ यदि 'पंक्ति' होता तो ग्रन्थ-पंक्ति के अर्थ में कहीं भी उसका बहुवचन में भी प्रयोग दृष्टिगोचर होना चाहिए था, जो नहीं होता। अतः 'पालि' शब्द का 'पंक्ति' अर्थ उसके मौलिक स्वरूप तक हमें नहीं ले जा सकता। हाँ; भिक्षु जगदीश काश्यप ने जो आपत्तियाँ उठायी हैं, उनमें से प्रथम के उत्तर में आंशिक रूप से यह कहा जा सकता है कि तिपिटक की अलिखित अवस्था में 'पालि' या 'पंक्ति' शब्द से तात्पर्य केवल शब्दों की पठित पंक्ति से लिया जाता रहा होगा और उसके लेखबद्ध कर दिये जाने पर उसकी लिखित पंक्ति ही 'पालि' कहलायी जाने लगी होगी। श्रीमती रायस डेविड्स ने इसी आधार का मत प्रकाशित किया है।[1] फिर भी इस मत से 'पालि' शब्द की व्युत्पत्ति पर कुछ प्रकाश नहीं पड़ता। अतः प्रस्तुत प्रसंग में यह हमारे लिए महत्त्वपूर्ण नहीं हो सकता।

उपर्युक्त मतों के अलावा एक मत जर्मन विद्वान् डॉ० मैक्स वेलेसर ने सन् १९२४ और फिर १९२६ में प्रकाशित किया था। इस मत के अनुसार 'पाटलि' या 'पाडलि' (पाटलिपुत्र की भाषा) शब्द का ही संक्षिप्त रूप 'पालि' है। चूंकि 'पालि' शब्द का प्रयोग भाषा-विशेष के अर्थ में अट्ठकथाओं तक में नहीं मिलता, अतः मैक्स वेलेसर का मत अपने आप गिर जाता है। डॉ० थॉमस द्वारा उसका पर्याप्त प्रतिवाद कर दिये जाने पर[2] आज उसका कोई नाम नहीं लेता। यही भाग्य कुछ अन्य अल्प प्रसिद्ध मतों का भी हुआ है, जिनमें ऐतिहासिक सत्य की अपेक्षा उनके उद्भावकों का बुद्धि-वैचित्र्य ही अधिक दिखायी पड़ता है। इस प्रकार कुछ 'पल्लि' (गाँव) शब्द से 'पालि' भाषा की उत्पत्ति बताकर उसे ग्रामीण भाषा बताना चाहते हैं, कुछ प्राकृत-पाकट-पाअड-पाअल-पालि इस प्रकार उसकी व्युत्पत्ति करना चाहते हैं; कुछ संस्कृत 'प्रालेय' या 'प्रालेयक' (पड़ोसी) शब्द से उसकी व्युत्पत्ति बताकर उसमें एक विशिष्ट ऐतिहासिक तथ्य की खोज करना चाहते हैं।[3] यह सब अन्धकार-ही-अन्धकार है।

---

१. देखिए उनका 'शाक्य और बुद्धिस्ट ऑरीजिन्स', पृष्ठ ४२९-३०।

२. इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली, दिसम्बर १९२८, पृष्ठ ७७३; मिलाइए विण्टरनित्ज: हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६०५ (परिशिष्ट दूसरा); लाहा: हिस्ट्री आव पालि लिटरेचर, जिल्द पहली, पृष्ठ १८ (भूमिका); देखिए बुद्धिस्टिक स्टडीज (डॉ० लाहा द्वारा सम्पादित) पृष्ठ ७३०-३१ में डॉ० कीथ द्वारा मैक्स वेलेसर के मत का खण्डन भी।

३. देखिए जहागीरदार-कृत 'कम्पेरेटिव फिलॉलॉजी आव दि इण्डो-आर्यन लैंग्वेजेज' में पालि-सम्बन्धी विवेचन।

हाँ, 'अभिधानप्पदीपिका' के 'पालि' शब्द के महत्त्वपूर्ण अर्थ को लेकर हमें कुछ और विचार कर लेना चाहिए। 'पालि' शब्द को तन्ति (संस्कृत 'तन्त्र'), 'बुद्ध-वचन' और 'पंक्ति' का समानार्थवाची मानते हुए वहाँ कहा हो गया है "तन्ति बुद्धवचनं पन्ति पालि।" इसकी विशद व्याख्या (अभिधानप्पदीपिकासूची") में है। यहाँ 'पालि' शब्द की व्युत्पत्ति की गयी है—"पाति रक्खती'ति पालि" अर्थात् जो पालन करती है, रक्षा करती है, वह 'पालि' है। 'पालि' शब्द के 'पंक्ति' अर्थ को यहाँ स्वीकार किया गया है और उसके उदाहरणस्वरूप 'तळाकपालि' (तड़ाग-पंक्ति) और 'पालिया निसीदिसु' (पंक्ति में बैठे) जैसे उदाहरण दिये गये हैं। पालि के अन्य दो अर्थों 'तन्ति' और 'बुद्धवचन' को यहाँ 'पालिधम्म' ('पालिसद्दो पलिधम्मे') या 'परियत्तिधम्म' के रूप में व्याख्यायित किया गया है। "अयं हि पालि सद्दो..... परियत्तिधम्मसङ्खाते पालिधम्मे दिस्सति।" आगे कहा गया है कि यह 'पालि' शब्द उस अर्थ को और भाषा को भी द्योतित करता है जिनका बुद्ध ने भाषण किया। "भगन्ता वुच्चमानस्स अत्थस्स वोहारस्स व दीपनतो सद्दो येव पालि नामाति।" यहाँ पालि या बुद्धवचन के समानार्थवाचक रूप में 'पालिधम्म' और 'परियत्तिधम्म' शब्दों का प्रयोग हुआ है, जो बड़ा सार्थक है। 'धम्म' ही पालि है और 'परियत्ति' को ही 'बुद्धवचन' कहते हैं। "तत्त्व धम्मो'ति पालि"—'समन्तपासादिका' (विनयट्ठकथा) की बाहिरनिदान कथा और "परियत्ति नाम बुद्धवचन"—"सम्मोहविनोदिनी" (विभङ्ग ट्ठकथा)। इस प्रकार यह पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है कि पालि=बुद्धवचन=धम्म=परियत्ति=परियत्तिधम्म=पालिधम्म=वह 'अर्थ' जिसके लिए बुद्ध ने उपदेश दिया और वह भाषा ('वोहार') भी जिसमें वह अर्थ रखा हुआ है अर्थात् पालि तिपिटक में रखा अर्थ और उसकी भाषा भी। यही 'पालि' शब्द का पूरा अर्थ है। यह स्पष्ट ही है कि दूसरा अर्थ (बुद्धवचन की भाषा के रूप में अर्थ) बाद में प्रचलित हुआ, और आज हम 'पालि' भाषा के रूप में प्रायः उसी अर्थ को लेते हैं। अब यह जो कहा गया कि 'पालि' पालन करती है, रक्षा करती है, तो वह किसका पालन करती है; किसकी रक्षा करती है? स्पष्टतम उत्तर है, 'अत्थं पाति अत्थं रक्खति।' अर्थ का पालन करती है, अर्थ की रक्षा करती है। दूसरे शब्दों में, बुद्ध-वचनों की, धम्म की। 'पालि' ने किस प्रकार बुद्ध-वचनों का पालन किया; किस प्रकार धम्म की रक्षा की? एक उत्तर है तिपिटक के रूप में उनका संकलन करके, दूसरा उत्तर है लंकाधिपति वट्टगामणि के समय में उनको लेखबद्ध करके। तिपिटक का संकलन किया, इसलिए 'पालि' 'बुद्धवचन' है, तिपिटक को लेखबद्ध किया, इसलिए 'पालि' पंक्ति है। ऐसा मालूम पड़ता है कि 'अभिधानप्पदीपिका-

सूची' कार (वस्कडुवे सिरि सुभूति थेर) ने 'पालि' शब्द के इस पालन करने या रक्षा करने सम्बन्धी अर्थ पर जोर देकर उस महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक कार्य की ओर संकेत किया है, जो सिंहल में सम्पादित किया गया और जिसके विषय में 'दीपवंस' और 'महावंस' में समान शब्दों में कहा गया है, "तिपिटक की पालि (पंक्ति) और उसकी अट्ठकथा को ;जिन्हें पूर्व में महामति भिक्षु कण्ठस्थ करके ले आये थे; प्राणियों को (स्मृति-) हानि देखकर; भिक्षुओं ने एकत्र हो; धर्म की चिरस्थिति के लिए; पुस्तकों में लेखबद्ध करवाया।"[1] कुछ भी हो, 'पालि' शब्द के इतिहास की दृष्टि से 'अभिधानप्पदीपिका' की निरुक्ति अवश्य महत्त्वपूर्ण है; यद्यपि वह 'पालि' शब्द के मौलिक रूप 'परियाय' पर विचार नहीं करती। वह केवल उसका समानार्थ-वाची 'बुद्ध-वचन' शब्द दे देती है। कुल मिलाकर हम कह सकते हैं कि "पालि' शब्द की निरुक्ति और उसका अर्थ-निर्वचन जो 'परियाय' या 'पलियाय' शब्द में उसके मूल रूप को खोजता है, हमारे वर्तमान ज्ञान की अवस्था में एक मान्य सिद्धान्त है; क्योंकि जैसा हम ऊपर निर्दिष्ट कर चुके हैं, पालि = धम्म = परियत्ति = परियाय = पलियाय = बुद्ध-वचन।

पालि भाषा

ऊपर हमने उन्नीसवीं शताब्दी से पूर्व तक का 'पालि' शब्द का इतिहास देखा है। इस बीच हमें एक भी उदाहरण ऐसा न मिला जिसमें 'पालि' शब्द का प्रयोग भाषा-विशेष के अर्थ में किया गया हो। फिर कब इस शब्द का प्रयोग बुद्ध-वचन के स्थान पर जिस भाषा में बुद्ध-वचन लिखे गये, उसके लिए होनें लगा; इसका निर्धारण करना कठिन है। फिर भी हुआ यह बड़े स्वाभाविक नियम के आधार पर। पहले 'तन्ति' शब्द का प्रयोग मूल तिपिटक या उसके किसी ग्रन्थ के लिए पालि के अर्थ में होने लगा, यथा 'विनय-तन्ति' अर्थात् 'विनय-पालि'। बाद में तिपिटक की भाषा को द्योतित करने के लिए सिंहल में 'तन्ति-भाषा' जैसा सामासिक शब्द प्रचलित हुआ। उसी का समानार्थवाची शब्द 'पालि-भाषा' भी बाद में प्रयुक्त होने लगा। 'पालि-भाषा' अर्थात् पालि (बुद्ध-वचन) की

---

१. पिटकत्तयपालि च तस्सा अट्ठकथं पि च।
मुखपाठेन आनेसुं पुब्बे भिक्खू महामती॥
हानिं दिस्वान सत्तानं तदा भिक्खु समागता।
चिरट्ठितत्थं धम्मस्स पोत्थकेसु लिखापयुं॥
—दीपवंस २०।२०।२१; महावंस ३३।१००-१०१।

भाषा। बाद में स्वयं 'पालि' शब्द ही भाषा के लिए प्रयुक्त होने लगा। आज 'पालि' से तात्पर्य हम उस भाषा से लेते हैं, जिसमें स्थविरवाद बौद्धधर्म का तिपिटक और उसका सम्पूर्ण उपजीवी साहित्य रखा हुआ है। किन्तु 'पालि' शब्द का इस अर्थ में प्रयोग स्वयं पालि-साहित्य में भी उन्नीसवीं शताब्दी से पूर्व कभी नहीं किया गया है।

ऐसा लगता है कि भाषा-विशेष के अर्थ में 'पालि' शब्द का प्रयोग उन्नीसवीं शताब्दी में ही आरम्भ हुआ। हम ऊपर देख चुके हैं कि इस (उन्नीसवीं) शताब्दी में बरमी भिक्षु प्रज्ञास्वामी ने अपने ग्रन्थ 'सासनवंस' आदि में कहा है कि मैं अपने इस ग्रन्थ को 'मूल भाषा में' ('मूल भासाय') लिख रहा हूँ। अब इसी ग्रन्थ के छठे परिच्छेद (पृष्ठ १४१—देवनागरी संस्करण) में उन्होंने अपनी अन्य रचनाओं का भी उल्लेख किया है और इस प्रसंग में वे कहते हैं कि "उसी में मैंने सद्दनीति (नामक व्याकरण-ग्रन्थ) की 'संवण्णना' भी पालि भाषा में लिखी है :— "सो येवाहं सद्दनीतिया संवण्णनं पालिभासाय अकासिं।" जहाँ तक मैं जानता हूँ, स्वयं पालि साहित्य में 'पालि' शब्द का भाषा-विशेष के अर्थ में पाया जानेवाला यह प्रथम प्रयोग है। इसी समय में, उन्नीसवीं शताब्दी में ही, सिंहली विद्वान् वस्कडुवे सिरि सुभूति थेर ने जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, अपनी 'अभिधानप्पदीपिका सूची' में स्वीकार किया कि 'पालि' शब्द भगवान् बुद्ध के द्वारा भाषित 'धम्म' को भी सूचित करता है और उसकी भाषा ('वोहार') को भी। यह भाषा बड़ी लक्षणीय बात थी, जो उन्होंने कही। पालि तिपिटक में पाया जानेवाला बुद्धोपदेश, धम्मथा अर्थ ही पालि नहीं है, बल्कि उसकी भाषा, अभिव्यक्ति ('वोहार'); उसके व्यञ्जन और शब्द भी 'पालि' हैं। बस यही 'पालि' का बुद्ध-वचनों की भाषा को सूचित करनेवाला प्रयोग उपर्युक्त रूप से प्रज्ञास्वामी स्थविर ने किया। अतः हम आसानी से कह सकते हैं कि उन्नीसवीं शताब्दी में 'पालि' शब्द को भाषा के रूप में मानने और इस रूप में उसका प्रयोग करने की मान्यता श्रीलङ्का और बरमा में प्रायः समान काल में चली और तब से वह व्यापक रूप से चली आ रही है। और अब हम तिपिटक की भाषा के लिए 'मागधी' जैसे किसी शब्द का व्यवहार न कर उसे प्रायः 'पालि' नाम से ही पुकारते हैं। भाषा में तिपिटक लिखा गया है, उसके लिए वहाँ मागधी, मगध-भाषा, मागधा निरुक्ति, मागधिक भाषा जैसे शब्दों का ही व्यवहार किया गया है, जिनका अर्थ होता है मगध-देश में बोली जानेवाली भाषा। सिंहली परम्परा के अनुसार मागधी ही वह 'मूल' भाषा है, जिसमें भगवान् बुद्ध ने उपदेश दिये थे और जिसमें ही उनका संग्रह 'तिपिटक' नाम से किया गया था। इसी अर्थ को व्यक्त करते

हुए कच्चायन-व्याकरण में कहा गया है—"सा मागधी मूल भासा नरा ययादिकप्पिका। ब्रह्मा तो चस्सुतालपा सम्बुद्धा चापि भासरे" ("मागधी ही वह मूल भाषा है, जिसमें प्रथम कल्प के मनुष्य बोलते थे, जो ही अश्रुत वचनवाले शिशुओं की मूल भाषा है और जिसमें ही बुद्धों ने अपने धर्म का; मूल रूप से भाषण किया है")। अट्ठकथाचार्य भदन्त बुद्धघोष की भी यही मान्यता थी कि "सम्मासम्बुद्धेन वुत्तप्पकारो मागधको वोहारो।" अर्थात् "सम्यक् सम्बुद्ध के द्वारा प्रयुक्त भाषा-प्रयोग मागधी" ही है—समन्तपासादिका। इसी 'मागधक वोहार' को उन्होंने 'बुद्ध-वचनों की अपनी भाषा' ('सकतनिरुत्ति') माना है, इसे हम आगे भी देखेंगे। इस रूप में मागधी भाषा की प्रतिष्ठा स्थविरवादी बौद्ध-साहित्य में इतनी अधिक है कि कहीं-कहीं उसके गौरव के विषय में इतना अधिक अर्थवाद कर दिया गया है कि वह आधुनिक ऐतिहासिक बुद्धि को कुछ अखरता भी है। मागधी भाषा को यहाँ सम्पूर्ण प्राणियों की आदि भाषा ही मान लिया गया है। आचार्य बुद्धघोष ने 'विसुद्धिमग्ग' (चौदहवें परिच्छेद) में कहा है,—"मागधिकाय सब्बसत्तानं मूलभासाय" ("सम्पूर्ण प्राणियों की मूल भाषा मागधी में")। इसी प्रकार महावंस के परिवर्द्धित अंश चूलवंस के परिच्छेद ३७ की २४४वीं गाथा में कहा गया है "सब्बेसं मूलभासाय मागधाय निरुत्तिया" ("सम्पूर्ण प्राणियों की मूल भाषा मागधी भाषा में") आदि। निश्चय ही सिंहली परम्परा अपनी इस मान्यता में बड़ी दृढ़ है कि जिसे हम आज 'पालि' कहते हैं, वह बुद्धकालीन भारत में बोली जाने वाली मगध की भाषा ही थी। बुद्ध-वचनों की भाषा को ही सिंहली परम्परा 'मागधी' कहना नहीं चाहती, वह अट्ठकथाओं तक की भाषा को बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी में 'मागधी' कहना ही अधिक पसन्द करती है। महावंस के परिवर्द्धित संस्करण चूलवंस (तेरहवीं शताब्दी) के सैंतीसवें परिच्छेद की २२९-२३० गाथाओं में जब रेवत स्थविर ने बुद्धघोष को लंका जाकर सिंहली अट्ठकथाओं को पालि में अनुवाद करने का आदेश दिया तो उन्होंने उनसे कहा—"मागधानं निरुत्तिया परिवत्तेहि"। अर्थात् 'मागधी भाषा में अनुवाद करो।" और वहीं आगे कहा गया है कि बुद्धघोष ने ऐसा ही किया। "परिवत्तेसि सब्बा पि सीहलट्ठकथा तदा। सब्बेसं मूलभासाय मागधाय निरुत्तिया।" इसी प्रकार मोग्गल्लान (बारहवीं शताब्दी) ने अपना पालि व्याकरण लिखते हुए उसके आदि में कहा है "भासिस्सं मागधं सद्दलक्खणं।" अर्थात् "मैं मागध शब्द-लक्षण (मागधी व्याकरण) को कहूँगा।" इसी (बारहवीं) शताब्दी में वाचिस्सर थेर ने 'थूपवंस' लिखा। उन्होंने अपने समय में विद्यमान और पालि भाषा में ही लिखे गये एक अन्य पूर्ववर्ती 'थूपवंस' ग्रन्थ का उल्लेख किया है और उसे मागधी भाषा में ही लिखा गया बताया है।

"मागधनिरुत्तिकतो पि थूपवंसो।" इस प्रकार यहाँ पालि भाषा के लिए 'मागध निरुक्ति' शब्द का प्रयोग ही है। 'बोधिवंस' ('महाबोधिवंस') की रचना दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी ईसवी में श्रीलङ्का में हुई। इसके रचयिता उपतिष्य स्थविर थे। अब इस ग्रन्थ और ग्रंथकार के सम्बन्ध में "सासनवंसदीप' में (जो उन्नीसवीं शताब्दी में श्रीलङ्का में लिखा गया एक 'वंश-ग्रंथ' है) कहा गया है "उपतिस्स-महाथेरो मागधाय निरुत्तिया बोधिवंस अका।" इस प्रकार यहाँ भी पालि भाषा न कहकर 'मागधा निरुक्ति' ही कहा गया है। 'सद्धम्म सङ्गह' की रचना चौदहवीं शताब्दी ईसवी में हुई। यहाँ बुद्धघोष की अट्ठकथाओं को 'मूलभाषा मागधी' में ही अनुवादित बताया है सम्पूर्ण सिंहली अट्ठकथाओं से। "बुद्धघोसो सब्बं सीहलट्ठकथं मूलभासाय मागधिकाय परिवत्तेसि।" 'दाठावंस' (१।१०) में ऐसी ही बात उसके रचयिता धम्मकित्ति महाथेर (बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी) ने अपनी इस रचना के सम्बन्ध में कही है। न केवल सिंहली परम्परा ही बल्कि उसका अनुसरण कर बरमी बौद्ध धर्म की परम्परा भी आरम्भ से यह मानती आयी है कि मगध की भाषा में ही, जिसे वह भी मूल भाषा कहकर पुकारती है; बुद्ध ने अपने उपदेश दिये थे और वही आज तिपिटक के रूप में प्राप्त हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रसिद्ध बरमी विधिशास्त्रीय पालि ग्रन्थ 'मोहविच्छेदनी' में यही बात कही गयी है।[1] इसी प्रकार इसी (उन्नीसवीं) शताब्दी में बरमा में लिखे गये पालि ग्रन्थ 'सासनवंसो' के आदि ('निदानं') में ही उसके कर्त्ता प्रज्ञास्वामी ने कहा है कि वह अपना यह ग्रन्थ 'मूल भाषा' में लिख रहे हैं; जिससे उनका तात्पर्य मागधी भाषा के रूप में पालि भाषा से ही है। "तस्मा हि मूलभासाय करिस्सामि अहं हवे।" इतना ही नहीं; ऊपर उद्धृत 'चूलवंस' और 'सद्धम्मसङ्गह' के समान इस ग्रन्थ में भी बुद्धघोष की अट्ठकथाओं को 'मागध भाषा' में ही रचित बताया गया है। इस प्रसंग में वहाँ दो स्थलों पर कहा गया है, "बुद्धघोसो नाम थेरो सीहल-दीपं गन्त्वा सीहलभासाय लिखिते अट्ठकथागन्थे मागधभासाय परिवत्तेत्वा लिखि"।[2] तथा "तत्थेव अट्ठकथायो बुद्धघोसत्थेरो मागधभासाय परिवत्तेत्वा विरचि"।[3] इस प्रकार श्रीलङ्का और बरमा की सम्पूर्ण स्थविरवाद बौद्धधर्म की परम्परा आदि काल से लेकर ठीक उन्नीसवीं शताब्दी तक मागधी भाषा के

१. देखिए मेबिल बोड : दि पालि लिटरेचर ऑव बरमा, पृष्ठ ८८-८९ (लन्दन, १९०९)।

२. पृष्ठ २६ (देवनागरी संस्करण)।

३. पृष्ठ ३० (देवनागरी संस्करण)।

रूप में ही पालि को जानती है; जिसे वह सर्वत्र प्रायः 'मागधभाषा', 'मागधिका निरुत्ति' या 'मूल भासा' कहकर पुकारती है। इतनी विस्तीर्ण यह सिंहल और बरमा की स्थविरवादी परम्परा कहाँ तक या किन अर्थों में ठीक है या नहीं; यह हमारे अध्ययन की सम्भवतः सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और कठिन समस्या है।[१] पालि स्वाध्याय के प्रथम युग में यह परम्परा सिंहली भिक्षुओं की एक मनगढ़न्त कल्पना मानी जाती थी। ओल्डनबर्ग ने इस मान्यता के प्रचार में काफी योग दिया था। अनेक प्रसिद्ध भारतीय विद्वान् भी उनके इस प्रवाह में बह गये थे।[१] किन्तु उसके बाद इस दिशा में जो महत्त्वपूर्ण गवेषण-कार्य हुआ है, उससे अब हमें पथभ्रष्ट होने की आवश्यकता नहीं है। इस महत्त्वपूर्ण समस्या पर हम अभी भारतीय भाषाओं के विकास में पालि की पृष्ठभूमि को देखने के बाद आयेंगे।

भारतीय भाषाओं के विकास में पालि का स्थान

भारतीय भाषाओं का इतिहास तीन युगों या विकास-श्रेणियों में विभक्त किया गया है। (१) प्राचीन भारतीय आर्य-भाषा-युग (वैदिक युग से ५०० ईसवी-पूर्व तक); (२) मध्यकालीन भारतीय आर्य-भाषा-युग (५०० ईसवी-पूर्व से १००० ईसवी तक), (३) आधुनिक भारतीय आर्य-भाषा-युग (१००० ईसवी से अब तक)। प्रथम युग की भाषा का नमूना हमें ऋग्वेद की भाषा में मिलता है। उसमें तत्कालीन अनेक बोलियों का सम्मिश्रण है। ऋग्वेद की भाषा का विकास अन्य वेदों; ब्राह्मण-ग्रन्थों और सूत्र-ग्रन्थों में हुआ है। मध्यकालीन भारतीय आर्य-भाषा-युग में एक ओर वेद की भाषा की विविधता को नियमित किया गया; उसे एकरूपता प्रदान की गयी; जिसके परिणामस्वरूप एक राष्ट्रीय; अन्तर्प्रान्तीय साहित्यिक भाषा का 'संस्कृत' के नाम से विकास हुआ और दूसरी ओर उसी के समकालिक; ऋग्वेद की विविधतामयी भाषा अनेक प्रान्तीय बोलियों के रूप में विकास ग्रहण करती गयी। जब भगवान् बुद्ध ने मगध प्रान्त में भ्रमण करते हुए वहाँ की जन-भाषा में उपदेश दिया तो यह वही ऋग्वेद की विविधतामयी भाषा के प्रान्तशः विकसित रूपों में से एक थी। तथागत के 'वाचनामग्ग' होने का गौरव मिलने के कारण इसका भी रूप

---

१. डॉ० विमलाचरण लाहा जैसे आधुनिक विद्वान् भी इस मोह से मुक्त नहीं हो पाये हैं। देखिए, उनका हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द पहली, पृष्ठ ११ (भूमिका), जहाँ उन्होंने मागधी निरुत्ति को सिंहली भिक्षुओं की शुद्ध गढ़न्त कहा है।

बाद में राष्ट्रीय हो गया और इसी कारण अनेक बोलियों, प्रान्तीय भाषाओं और उपभाषाओं का सम्मिश्रण भी इसमें हो गया जिसे हम आज 'पालि' भाषा कहते हैं। इस प्रकार संस्कृत और पालि का विकास समकालिक है। मध्यकालीन भारतीय आर्य-भाषा-युग में इस जन-भाषा के विकास के हम तीन स्तर देखते हैं—(१) पालि और अशोक की धर्मलिपियों की भाषा (५०० ईसवी-पूर्व से १ ईसवी-पूर्व तक); (२) प्राकृत भाषाएँ[1] (१ से ५०० ईसवी तक), (३) अपभ्रंश भाषाएँ (५०० ईसवी से १००० ईसवी तक)। अपभ्रंश भाषाएँ उन-उन प्रदेशों की लोक-भाषाएँ ही थीं। अतः वे प्राकृत भाषा की ही उत्तराधिकारिणी हैं। आधुनिक युग में आकर इन्हीं अपभ्रंश भाषाओं से हमारी हिन्दी, मराठी, गुजराती आदि वर्तमान प्रान्तीय भाषाओं का विकास हुआ है। इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के बाद अब हमें पालि भाषा के स्वरूप आदि पर कुछ अधिक स्पष्टता के साथ विचार करना है।

पालि किस प्रदेश की मूल भाषा थी ?

पालि भाषा के विकास में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है—वह किस प्रदेश की मूल भाषा थी ? सिंहली परम्परा उसे मागधी या मगध की भाषा मानती है; यह हम अभी कह ही चुके हैं। किन्तु यह समस्या इतनी सस्ती निबटने वाली नहीं है। विद्वानों के एतद्विषयक मतों का यदि संग्रह किया जाय तो वह एक लम्बी सूची होगी। सभी मत उसे भिन्न-भिन्न प्रान्तों की भाषा मानने के पक्षपाती हैं। कुछ विद्वानों के मतों का निदर्शन करना यहाँ आवश्यक होगा।

(१) प्रोफेसर रायस डेविड्स[2]—पालि भाषा का आधार कोशल प्रदेश में छठीं और सातवीं शताब्दी ईसवी-पूर्व में बोली जानेवाली भाषा थी। कारण कि—(१) भगवान् बुद्ध कोशल प्रदेश के थे, अतः उनकी मातृभाषा यही थी और इसी में उन्होंने उपदेश दिये थे। (२) भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद सौ वर्ष के भीतर प्रधानतः कोशल प्रदेश में ही उनके उपदेशों का संग्रह किया गया।

---

१. स्वयं प्राकृत ग्रन्थों में इस भाषा को 'पागड', 'पागत', 'पायय', 'पाइय', 'पाइअ' और 'पाउअ' नामों से पुकारा गया है।

२. बुद्धिस्ट इण्डिया, पृष्ठ १५३-४५४; कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑव इण्डिया, जिल्द पहली, पृष्ठ १८७; पालि-इंगलिश डिक्शनरी (पालि टैक्ट्स सोसायटी), पृष्ठ ५ (प्राक्कथन)।

(२,३) वैस्टरगार्ड[1] और ई० कुह्न[2]—पालि उज्जयिनी प्रदेश की बोली थी। कारण (१) गिरनार (गुजरात) के अशोक के शिलालेख से इसका सर्वाधिक साम्य है। (२) कुमार महेन्द्र (महिन्द्र), जिन्होंने लंका में बौद्ध-धर्म का प्रचार किया और पालि तिपिटक को वहाँ पहुँचाया, की मातृभाषा यही थी।

(४) आर० ओ० फ्रैंक[3]—पालि-भाषा का उद्गम-स्थान विन्ध्य-प्रदेश है। कारण (१) गिरनार-शिलालेख से उसका सर्वाधिक साम्य है। निषेधात्मक कारण देते हुए फ्रैंक ने कहा है कि पालि उत्तर भारत के पूर्वी भाग की भाषा नहीं हो सकती, उत्तर-पश्चिमी भाग के खरोष्ठी लेखों से भी उसकी समानताएँ और असमानताएँ दोनों हैं, इसी प्रकार दक्षिण के लेखों की भाषा से भी उसकी विभिन्नता है। अधिकतर उसका साम्य मध्यदेश के पश्चिमी भाग के लेखों से है, यद्यपि यहाँ भी कुछ असमानताएँ हैं। अतः पालि-भाषा का उद्गम-स्थान विन्ध्य के मध्य और पश्चिमी भाग का प्रदेश है।

(५) स्टैन कोनो[4]—विन्ध्य-प्रदेश पालि-भाषा का उद्गम-स्थान है। कारण (१) पैशाची प्राकृत से पालि का अधिक साम्य है। (२) पैशाची प्राकृत विन्ध्य-प्रदेश में उज्जयिनी के आसपास बोली जाती थी। यहाँ यह स्मरण रखना आवश्यक होगा कि पैशाची प्राकृत-सम्बन्धी स्टैन कोनो का यह मत प्रसिद्ध भाषातत्त्वविद् ग्रियर्सन के मत से नहीं मिलता, जिसकेअनुसार पैशाची प्राकृत केकय और पूर्वी गान्धार की बोली थी। ग्रियर्सन का मत ही अधिक युक्तियुक्त माना गया है।

(६) डॉ० ओल्डनबर्ग[5]—पालि कलिङ्ग देश की भाषा थी। कारण (१) लंका के पड़ोसी होने के कारण कलिंग से ही लंका में धर्मोपदेश का कार्य शताब्दियों के अन्दर सम्पादित किया गया। (२) खारवेल के खण्डगिरि-अभिलेख से पालि का अधिक साम्य है। ओल्डनबर्ग के मत को समझने के लिए यह जानना आवश्यक होगा कि महेन्द्र द्वारा लंका में बुद्ध-धर्म के प्रचार की बात को ओल्डनबर्ग ने ऐति-

---

१, २, ३, ४. लाहा : हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द पहली, पृष्ठ ५०-५६ (भूमिका); बुद्धिस्टिक स्टडीज (डॉ० लाहा द्वारा सम्पादित), पृष्ठ २३३; देखिए, गायगर : पालि लिटरेचर एण्ड लैंग्वेज, पृष्ठ ३-४ (भूमिका); विंटरनित्ज : हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६०४ (परिशिष्ट दूसरा)।

५. विनय-पिटक (डॉ० ओल्डनबर्ग द्वारा रोमन अक्षरों में सम्पादित), जिल्द पहली, पृष्ठ १-५६ (भूमिका)।

हासिक तथ्य नहीं माना है। उनके मतानुसार कलिंग के निवासियों ने लंका में बुद्ध-धर्म का प्रचार किया और इसमें कई शताब्दियाँ लगीं।

(७) ई० मुलर[1]—कलिंग ही पालि का उद्‌गम-स्थान है। कारण, यहीं से सबसे पहले लोगों का लंका में जाकर बसना और धर्म-प्रचार करना अधिक संगत है।

आगे के मतों का निर्देश करने के पूर्व उपर्युक्त मतों की कुछ समीक्षा कर लेना आवश्यक होगा। इन सब मतों में सबसे मुख्य बात यह है कि ये सभी मत पालि-भाषा की उत्पत्ति के विषय में सिंहली परम्परा से असहमत हैं। पालि-भाषा के मागधी आधार को वे किसी भी अर्थ में स्वीकार नहीं करते। केवल रायस डेविड्स के मत में उसके लिए कुछ अवकाश अवश्य है। भगवान् कोशल में उत्पन्न हुए, मगध में घूमे-फिरे, अतः उनके उपदेशों का माध्यम कोशल की भाषा भी हो सकती थी, मगध की भाषा भी और उनका सम्मिश्रण भी। किन्तु रायस डेविड्स का अपने मत को सिद्ध करने के लिए यह अनुमान करना कि अशोक के अभिलेखों की भाषा छठी और सातवीं शताब्दी ईसवी-पूर्व की कोशल प्रदेश में बोली जानेवाली भाषा का ही विकसित रूप है, अथवा यह कि अशोककालीन मगध-शासन की राष्ट्रभाषा कोशल प्रदेश की टकसाली भाषा ही थी, ठीक नहीं माना जा सकता। प्रतिवेशी कोशल राज्य के मगध में सम्मिलित हो जाने के बाद मगध साम्राज्य जब अपनी चरम उन्नति पर पहुँचा तो यही मानना अधिक युक्तिसंगत है कि मगध की भाषा को ही राष्ट्रभाषा होने का गौरव मिला। हाँ, चारों ओर की जनपद-बोलियों को भी, जिनमें एक प्रधान कोशल प्रदेश की बोली भी थी, उसमें अपना उचित स्थान मिला। एक सार्वदेशिक, टकसाली राष्ट्रभाषा के निर्माण में प्रादेशिक बोलियों का इस प्रकार का सहयोग सर्वथा स्वाभाविक है। अतः कोशल प्रदेश की बोली का भी अन्तर्भाव मगध की राष्ट्रभाषा (मागधी भाषा) में हो गया था, ऐसा हम कह सकते हैं। वैसे यदि रायस डेविड्स के मत को उसके मौलिक रूप में देखा जाय तो उसका कोई आधार ही नहीं मिलता, क्योंकि जैसा डॉ० विण्टरनित्ज ने भी कहा है, छठी और सातवीं शताब्दी ईसवी-पूर्व की कोशल प्रदेश की बोली की आज हमारी जानकारी ही क्या है, जिसके आधार पर हम उसे पालि का मूल रूप मान सकें ?[2] वेस्टरगार्ड, ई० कुह्न, फ्रैंक और स्टैन

---

१. सिम्पलीफाइड ग्रामर ऑव दि पालि लैंग्वेज, पृष्ठ ३ (भूमिका)।

२. हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६०५ (परिशिष्ट) २; डॉ० कीथ ने भी रायस डेविड्स के मत का खण्डन किया है। देखिए इण्डियन हिस्टो-

कोनो के ऊपर निर्दिष्ट मत भी, जो किसी-न-किसी प्रकार विन्ध्य-प्रदेश को पालि का जन्म-स्थान मानते हैं, एकांगदर्शी है। अधिक-से-अधिक वे पालि-भाषा के मिश्रित रूप को, जो एक साहित्यिक एवं अन्तर्प्रान्तीय भाषा के लिए सर्वथा अनिवार्य है, व्यञ्जित करते हैं। इससे अधिक उनका और कुछ महत्त्व नहीं है। फ्रैंक ने विन्ध्य-प्रदेश के मध्य और पश्चिमी भाग को पालि का उद्‌गम-स्थान बताने के अतिरिक्त एक और विचित्र बात कही है। उन्होंने सामान्यतः पालि समझी जानेवाली भाषा (अर्थात् तिपिटक और उसके उपजीवी साहित्य की भाषा) के लिए तो 'साहित्यिक पालि' शब्द का प्रयोग किया है और 'पालि' शब्द से उन्होंने बुद्धकालीन भारत में बोली जानेवाली अन्य सब आर्य-भाषाओं को अभिप्रेत करना चाहा है। फ्रैंक का यह पारिभाषिक शब्द-निर्माण भ्रमात्मक ही सिद्ध हुआ है। जिन आर्य-भाषाओं को उन्होंने 'पालि' कहा है, उनके लिए भारतीय साहित्य में प्राकृत भाषाओं का नाम रूढ़ है और आज भी उनका यही नाम प्रचलित है। अतः उसी का प्रयोग करना अधिक उचित जान पड़ता है। तिपिटक की भाषा के लिए केवल 'पालि' नाम पर्याप्त है। उसके साथ 'साहित्यिक' लगाने से भ्रम पैदा होने की आशंका हो जाती है। स्टैन कोनो का मत पैशाची प्राकृत को उज्जयिनी -प्रदेश की बोली बतलाता है और इस प्रकार भाषातत्त्वविदों के सामने एक नयी समस्या खड़ी कर देता है। वास्तव में उनका यह मत विद्वानों को कभी ग्राह्य नहीं हुआ है और पैशाची को गन्धार और पूर्वी गन्धार की बोली मानना ही सब प्रकार ऐतिहासिक और भाषावैज्ञानिक तथ्यों से संगत है। पैशाची प्राकृत के तत्त्व पालि में निर्विवाद रूप से विद्यमान हैं, परन्तु पैशाची को सब प्रकार भारत के उत्तर-पश्चिम भाग की बोली ही मानना पड़ेगा। ओल्डनबर्ग और ई० मुलर के मत प्रधानतः कल्पना-प्रसूत हैं। इस बात के लिए कोई प्रमाण नहीं कि पालि कलिंग से लंका गयी। उल्टे इस बात के प्रमाण हैं कि सिंहली भाषा की अधिक समानताएँ अपेक्षाकृत भारत की पश्चिमी बोलियों के साथ हैं। ओल्डनबर्ग को अपने मत-स्थापन में महेन्द्र के लंका में धर्म-प्रचार संबंधी कार्य को भी, जो अन्यथा सब प्रकार ऐतिहासिक तथ्यों से सिद्ध है,[1] अनैतिहासिक मानना पड़ा है। इसी से उनके मत की गम्भीरता का पता लग जाता है। खारवेल के खण्डगिरि-अभिलेख के साक्ष्य पर

रिकल क्वार्टरली, सितम्बर १९२५ में प्रकाशित कीथ का 'पालि दि लैंग्वेज ऑव सदर्न बुद्धिस्ट्स' शीर्षक निबन्ध।

१. देखिए आगे, दूसरे अध्याय में 'पालि साहित्य का उद्‌भव और विकास' सम्बन्धी विवेचन।

पालि का जन्म-स्थान कलिंग बतलाना उतना ही अपूर्ण सिद्धान्त है जितना अशोक के गिरनार के शिलालेख के आधार पर उसे उज्जयिनी-प्रदेश की बोली ठहराना। पालि के प्रान्तीय कारणों से उत्पन्न मिश्रित स्वरूप को दिखाने के अतिरिक्त इन मतों का अन्य कोई साक्ष्य या महत्त्व नहीं है।

जिन विद्वानों ने पालि-भाषा के मागधी आधार को स्वीकार किया है, अथवा जिन्होंने सिंहली परम्परा को कुछ विशिष्ट अर्थों में समझने का प्रयत्न किया है, उनमें जेम्स एल्विस, चाइल्डर्स, विण्डिश, विण्टरनित्ज, ग्रियर्सन और गायगर के नाम अधिक प्रसिद्ध हैं। भिक्षु सिद्धार्थ[1] और भिक्षु जगदीश काश्यप[2] ने भी इसी मत का प्रतिपादन किया है। जेम्स एल्विस और चाइल्डर्स की यह मान्यता है कि 'मागधी' ही पालि-भाषा का मौलिक और सबसे अधिक उपयुक्त नाम है। जेम्स एल्विस के मतानुसार बुद्धकालीन भारत में १६ प्रादेशिक बोलियाँ प्रचलित थीं। इनमें 'मागधी' बोली में, जो मगध में बोली जाती थी, भगवान् बुद्ध ने उपदेश दिये थे। विण्डिश ने भी पालि के 'मागधी' आधार को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। विण्टरनित्ज का मत भी इसी के समान है। उनका कहना है कि पालि एक साहित्यिक भाषा थी, जिसका विकास अनेक प्रादेशिक बोलियोंके सम्मिश्रण से हुआ था, जिनमें 'प्राचीन मागधी' प्रधान थी।[3] ग्रियर्सन ने पालि के मागधी आधार को तो स्वीकार किया है, किन्तु पालि में तत्कालीन पश्चिमी बोलियों के प्रभाव को देखकर उन्हें यह मानना पड़ा है कि पालि का आधार विशुद्ध मागधी न होकर कोई पश्चिमी बोली है। इसी को सिद्ध करने के लिए उन्होंने यह कल्पना कर डाली है कि पालि का विकास मागधी भाषा के उस रूप से हुआ जो तक्षशिला विश्वविद्यालय में बोली जाती थी और जिसमें ही तिपिटक का संस्करण वहाँ किया गया था।[4] किन्तु न तो मागधी भाषा के वहाँ शिक्षा के माध्यम के रूप में प्रयुक्त होने की और न उसमें तिपिटक के वहाँ संकलित होनेकी कोई अकाट्य युक्ति ग्रियर्सन या अन्य किसी विद्वान् ने अभी तक दी है।[5] जर्मन विद्वान् गायगर का मत उपर्युक्त सभी मतों से अधिक

---

१. बुद्धिस्टिक स्टडीज (डॉ० लाहा द्वारा सम्पादित), पृष्ठ ६४१-५६)।

२. पालि महाव्याकरण की वस्तुकथा।

३ हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १३।

४. आर० जी० भण्डारकर कमेमोरेशन वोल्यूम पृष्ठ ११७-१२३ (ग्रियर्सन का 'दि होम ऑव लिटररी पालि' शीर्षक लेख) (पूना, १९१७)।

५. यह आलोचना डॉ० कीथ की है। देखिए, उनका 'दि होम ऑव

परिपूर्ण और ग्राह्य है। उनके अनुसार पालि मागधी भाषा का ही एक रूप है, जिसमें भगवान् बुद्ध ने उपदेश दिये थे। यह भाषा किसी जनपद-विशेष की बोली नहीं थी, बल्कि सभ्य-समाज में बोली जानेवाली एक सामान्य भाषा थी, जिसका विकास बुद्ध-पूर्व युग से हो रहा था। इस प्रकार की अन्तर्प्रान्तीय भाषा में स्वभावतः ही अनेक बोलियों के तत्त्व विद्यमान थे। एक मगध का निवासी इसे एक प्रकार से बोलता था, कोशल का दूसरी प्रकार से और अवन्ती का किसी तीसरे प्रकार से। यद्यपि भगवान् बुद्ध मगध प्रदेश के नहीं थे, किन्तु उनका जीवन-कार्य अधिकांश वहीं सम्पादित किया गया था। अतः मगध की बोली की उनकी भाषा पर अमिट छाप पड़ी होगी। इसलिए उनकी भाषा को आसानी से 'मागधी' कहा जा सकता है, फिर चाहे उसमें मागधी बोली की कुछ विशेषताएँ भले ही उपलब्ध न हों। अतः गायगर के मतानुसार पालि विशुद्ध मागधी तो नहीं थी, किन्तु उस पर आश्रित एक लोक-भाषा थी, जिसमें भगवान् बुद्ध ने अपने उपदेश दिये थे।

वास्तव में पालि कहाँ तक या किन अर्थों में मागधी थी या नहीं, यह हमारे अध्ययन की सबसे बड़ी समस्या है। जिस मागधी का विवरण उत्तरकालीन प्राकृत-वैयाकरणों ने दिया है या जिसके स्वरूप का दर्शन अशोक के कतिपय अभिलेखों या अश्वघोष, भास, कालिदास आदि के नाटक-ग्रन्थों में होता है, उससे तो पालि निश्चयतः भिन्न है, ऐसा कहा जा सकता है। प्राकृत-व्याकरणों, अभिलेखों और नाटक-ग्रन्थों की मागधी का विकास पालि के बाद हुआ है। इस प्रकार की मागधी भाषा के रूप की तीन प्रधान विशेषताएँ हैं। (१-२) प्रत्येक र् और स् का क्रमशः ल् और श् में परिवर्तित हो जाना, और (३) पुंल्लिग और नपुंसक लिंग अकारान्त शब्दों का प्रथमा विभक्ति एक वचन का रूप एकारान्त होना। पालि में र् रहता है, उसका 'ल्' में परिवर्तन केवल अनियमित रूप से कभी-कभी होता है, सर्वथा नियमानुसार नहीं। उदाहरणतः पालि में सं० 'तरुण' के लिए 'तलुण' है और 'तरुण' भी 'रोम' के लिए 'लोम' भी है और 'रोम' भी, 'पारिलेय्यक' (वन का नाम) के लिए पारिलेय्यक भी है और 'पालिलेय्यक' भी। यह लक्षणीय है कि पालि तिपिटक के प्रायः सिंहली संस्करणों में रकार वाला पाठ स्वीकार किया जाता है, जबकि बरमी संस्करणों में लकार वाला। इसी प्रकार अशोक

पालि' शीर्षक निबन्ध, बुद्धिस्टिक स्टडीज' (डॉ० लाहा द्वारा सम्पादित), पृष्ठ ७३९।

१. पालि लिटरेचर एण्ड लैंग्वेज, पृष्ठ ४-५ (भूमिका)।

के पश्चिम के लेखों में राजा, पुरा, आरभित्वा जैसे प्रयोग मिलते हैं, किन्तु पूर्व के लेखों में उनके क्रमशः लाजा, पुलुवं, आलभितु रूप हो जाते हैं। 'नेरञ्जरा' (नदी का नाम) शब्द का अर्थ-चिन्तन करते हुए धम्मपालाचार्य ने 'उदानट्ठ-कथा' में लक्षणीय रूप से कहा है कि वास्तव में इस शब्द को 'नेलञ्जला' होना चाहिए और रकार का लकार करके यहाँ 'नेरञ्जरा' रूप बना है। "नेरञ्जरायाऽति नेलं जलमस्सा' ति नेलञ्जला'ति वत्तब्बे लकारस्स रकारं कत्वा नेरञ्जराया'ति वुत्तं।" इसे दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है कि वास्तव में वैसे पालि भाषा का मूल आधार मागधी भाषा ही होनी चाहिए--'नेरञ्जरा' के लिए 'नेलञ्जला' ही होना चाहिए--परन्तु लकार का रकार करके 'नेरञ्जरा' रूप बना है जो पालि तिपिटक में पाया जाता है। इस प्रकार यह विचार उत्पन्न होता है कि इस एक उदाहरण में पालि के मूल मागधी रूप और उस पर शौरसेनी प्रभाव की पूरी स्वीकृति है। पालि में जिस भाषा का प्रतिनिधित्व हुआ है उसमें बहुल रूप से लकार के स्थान पर रकार ही है और रकार का लकार बहुत कम ही हुआ है और, जैसा हम आगे देखेंगे, यह प्रवृत्ति शौरसेनी की है। 'कुम्भीर' के लिए पालि में 'कुम्भील' का होना और इसी प्रकार 'ऋषिगिरि' के लिए 'इसिगिलि' का होना उसके मूल मागधीआधार को स्पष्ट करते हैं, परन्तु ऐसे उदाहरण कुछ छुटपुट ही हैं। मागधी में नियमतः रकार का लकार होता है। वहाँ 'नर' 'नल' है और 'कर' 'कल' है, पालि में ये 'नर' और 'कर' ही हैं। अतः जहाँ तक रकार और लकार का सम्बन्ध है, पालि का मूल मागधी आधार क्षीण रूप में हुआ है, परन्तु इस प्रवृत्ति की दृष्टि से वह वास्तव में मागधी की अपेक्षा शौरसेनी के ही अधिक समीप है। 'स्' का 'श्' में परिवर्तन तो पालि में होता ही नहीं। 'श्' पालि में है ही नहीं। केवल अशोक के उत्तर (मनसेहरा) के शिलालेख में इसका प्रयोग अवश्य दृष्टिगोचर होता है, जैसे प्रियद्रशिन, प्रियदर्शि, प्राणशतसहस्रानि आदि। परन्तु मागधी की यह एक भारी विशेषता है। वह शकार-बहुला है। 'स्' और 'ष्' दोनों ही वहाँ 'श्' हो जाते हैं। 'सः' वहाँ 'शे' है, 'पुरुष' 'पुलिशे' 'सारसः' 'शालशे' और 'शुष्क' 'शुश्क'। इस प्रकार पालि तिपिटक की भाषा से यह भारी भिन्नता है। पुंल्लिंग और नपुंसक लिंग अकारान्त शब्दों का रूप पालि में प्रथमा विभक्ति, एकवचन में क्रमशः ओकारान्त और अनुस्वारान्त होते हैं, एकारान्त नहीं। 'राहु-लोवादः' की जगह 'लाघुलोवादे', 'बुद्धः' की जगह 'बुधे', 'मृगः' की जगह 'मिगे' आदि मागधी के जैसे प्रयोग अशोक के कुछ शिलालेखों में अवश्य पाये जाते हैं और सुत्त-पिटक के कुछ अंशों में भी, जैसे कि दीघ-निकाय के 'सामञ्ञफल-सुत्त' में "नत्थि अत्तकारे, नत्थि परकारे, नत्थि पुरिसकारे" हैं। ये विशुद्ध मागधी प्रयोग

हैं। ये "नत्थि अत्तकारो, नत्थि परकारो, नत्थि पुरिसकारो" की जगह हैं। यहीं आगे "बाले च पण्डिते च" हैं और "सुखे दुक्खे जीवसत्तमे" जैसे प्रयोग भी हैं जो वास्तव में क्रमशः "बालो च पण्डितो च" और नपुंसक लिङ्ग "सुखं दुक्खं जीवसत्तमं" की जगह हैं। इसी प्रकार 'जातक' में भी एक जगह "बहुके जने" है जो वास्तव में "बहुको जनो" के स्थान पर ही है। किन्तु नियमतः ये प्रयोग नहीं पाये जाते। अधिकतर पालि में 'बुद्धो' और 'फलं' जैसे ही रूप हैं। मागधी भाषा की इन तीन मुख्य प्रवृत्तियों और उनके सन्दर्भ में पालि के रूप पर कुछ विचार करने के पश्चात् अब हम मागधी भाषा की दो और प्रवृत्तियों की ओर देखें। मागधी में ण्य्, ज्ञ् तथा ञ्ञ् के स्थान पर ञ्ञ् होता है। उदाहरणतः अन्य = अञ्ञ; पुण्य-पुञ्ञ; प्रज्ञा = पञ्ञा। यह प्रवृत्ति पालि और मागधी में समान है। बल्कि यही प्रवृत्ति पैशाची प्राकृत में भी पायी जाती है, यह हम आगे देखेंगे। मागधी में मध्यस्थित क्ष् की जगह स्क् पाया जाता है, उदाहरणतः यक्ष = यस्क, राक्षस = लस्कश। पालि में मध्यस्थित क्ष् की जगह क्ख् या च्छ होता है। इस प्रकार वहाँ 'यक्ष' के स्थान पर 'यक्ख' है, 'राक्षस' के स्थान पर 'रक्खस', 'मक्षिका' के स्थान पर 'मक्खिका', 'अक्षर' के स्थान पर 'अक्खर' और 'कक्ष' 'कांस' के स्थान पर 'कच्छ'। इस प्रकार हमने मागधी के स्वरूप का कुछ विवेचन कर पालि के सन्दर्भ में उसे देखा। इससे हम इसी निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि जिस मागधी का निरूपण प्राकृत-वैयाकरण करते हैं, उसे पालि का आधार नहीं माना जा सकता। उसका विकास तो, जैसा अभी कहा गया है, पालि के बाद हुआ है। पालि का आधार तो केवल वही मागधी या मगध की बोली हो सकती है जो मध्य-मण्डल अर्थात् पश्चिम में कुरु जनपद से पूर्व में मगध तक और उत्तर में श्रावस्ती से दक्षिण में अवन्ती तक फैले हुए प्रदेश की सामान्य सभ्य-भाषा के रूप में प्रतिष्ठित थी और जिसका विकास अनेक कारणों से गौरव प्राप्त करनेवाली मगध की भाषा से हुआ और अनेक कारणों से ही जिसमें नाना प्रदेशों की बोलियों का सम्मिश्रण हो गया, जिसका साक्ष्य आज हम उसके सुरक्षित रूप 'पालि' में पाते हैं। इस बात के लिए कोई प्रमाण नहीं है कि जिस मागधी भाषा का परिचय प्राकृत-वैयाकरणों ने दिया है, वही मगध में बुद्ध के काल में बोली जाती थी। यदि यह मान भी लिया जाय कि वह या उससे मिलती-जुलती भाषा बुद्ध के काल में नीची श्रेणी के लोगों के द्वारा मगध में बोली जाती थी (जैसी अपेक्षा संस्कृत के नाटककार और प्राकृत वैयाकरण हमसे करेंगे) तो भी बौद्ध धर्म के प्रभाव से राष्ट्रीय गौरव प्राप्त करने जानेवाली एक प्रादेशिक भाषा (मगध की भाषा—मागधी) इस प्रक्रिया में अपने कुछ ऐसे प्रयोगों को छोड़ सकती थी, जैसा आधुनिक काल में खड़ीबोली

हिन्दी ने राष्ट्रभाषा का गौरव प्राप्त करते हुए मेरठ और दिल्ली के आसपास के क्षेत्र के (जहाँ की वह मूल भाषा है) अपने अनेक प्रयोगों और शब्द-उच्चारणों को छोड़ दिया है और भारत के अन्य प्रदेशों, यहाँ तक कि दक्षिण के भी, भाषा-प्रयोगों को ग्रहण करने जा रही है और आगे और करेगी। अतः पालि, मगध की भाषा होते हुए भी मागधी प्राकृत से भिन्न हो सकती है, अपने प्रादेशिक आधार को कुछ हद तक छोड़ सकती है और दूसरे प्रादेशिक प्रयोगों को ग्रहण कर सकती है। वस्तुतः हुआ भी ऐसा ही था।

जिस प्रकार प्राकृत वैयाकरणों द्वारा विवेचित मागधी को पालि भाषा का आधार नहीं माना सकता, उसी प्रकार जैन सूत्रों की भाषा अर्द्ध-मागधी ('अद्ध-मागह भासा')[1] या 'आर्ष'[2] को भी उसका आधार स्वीकार नहीं किया जा सकता। उसका भी विकास पालि के बाद हुआ है। पश्चिम में शौरसेनी और पूर्व में मागधी प्राकृत के बीच के क्षेत्र में जो भाषा बोली जाती थी, वह अपने मिश्रित स्वरूप के कारण 'अर्द्धमागधी' कहलाती है। ध्वनि-समूह, शब्द-साधन और वाक्य-विचार की दृष्टि से पालि और अर्द्धमागधी में क्या समानताएँ या असमानताएँ हैं, इसका विवेचन हम आगे पालि और प्राकृत भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन करते समय करेंगे। अभी लूडर्स के उस मत का निर्देश करना है, जिसके अनुसार 'प्राचीन

१.२. स्वयं प्राकृत में अर्द्धमागधी भाषा को 'अद्धमागह भासा' या ('अद्ध-मागही भासा') कहा गया है। भगवान् महावीर ने अपने उपदेश इसी भाषा में दिये। 'समवायाङ्ग'-सूत्र में कहा गया है "भगवं च णं अद्धमागहीये भासाये धम्ममाइक्खइ।" इसी भाषा को जैनागम सूत्रों में 'इसि भासिता' या 'इसि भासिआ' (ऋषि-भाषिता) कहकर पुकारा गया है। इसीलिए हेमचन्द्राचार्य ने इसे 'आर्ष' भाषा नाम दिया है। भरत के 'नाट्य-शास्त्र' के अनुसार संस्कृत नाटकों में अर्द्ध-मागधी का प्रयोग नौकरों, राजपुत्रों और सेठों के द्वारा किया जाता है। 'अर्द्ध-मागधी' को इस नाम से पुकारे जाने के दो कारण दिये जाते हैं। पहला यह कि यह आधे मगध की, मगध देश के आधे भाग की, भाषा है और दूसरा यह कि 'मागधी भाषा' का अर्धांश तत्त्व इसमें मिलता है। ये दोनों ही व्युत्पत्तियाँ ठीक हैं, अर्द्धमागधी मूलतः मगध देश के एक भाग की भाषा ही थी और मागधी भाषा से बहुत हद तक मिलती-जुलती भी है। इसके काफी तत्त्व या रूप मागधी जैसे ही हैं। प्राचीन जैन सूत्रों की भाषा अर्द्धमागधी ही है, अतः उसका महत्त्व स्पष्ट है और पालि के साथ इस प्रकार उसका सम्बन्ध भी घनिष्ठ हो जाता है।

अर्द्धमागधी' पालि भाषा का आधार है। लूडर्स का मत है कि मौलिक रूप में पालि तिपिटक प्राचीन अर्द्धमागधी भाषा में था और बाद में उसका अनुवाद पालि भाषा में, जो पश्चिमी बोली पर आश्रित थी, किया गया। अतः उसके मतानुसार आज तिपिटक में जो मागधी रूप दृष्टिगोचर होते हैं, वे प्राचीन अर्द्धमागधी के वे अवशिष्ट अंश मात्र हैं जो उसका पालि में अनुवाद करते समय रह गये थे।[1] लूडर्स का यह तर्क बिलकुल अनुमान पर आश्रित है। जिस प्राचीन अर्द्धमागधी को लूडर्स ने तिपिटक का मौलिक आधार माना है, उसके रूप का निर्णय करने के लिए सिवाय उनकी कल्पना के और कोई आधार नहीं है। जैसा कीथ ने कहा है, यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि लूडर्स द्वारा निर्मित या परिकल्पित प्राचीन अर्द्ध-मागधी का विकास बाद में अर्द्धमागधी प्राकृत के रूप में ही हुआ है।[2] अतः लूडर्स ने तथाकथित 'प्राचीन अर्द्धमागधी' के रूप का निर्माण अशोक के शिलालेखों और बाद में अश्वघोष के नाटकों के अवशिष्ट अंशों से किया है। किन्तु यह अनुमानित निर्माण-कार्य प्रमाण-कोटि में नहीं आ सकता। पालि भाषा में प्राप्त विभिन्नताओं की व्याख्या उसके प्रान्तीय विकास और सम्मिश्रण, मौखिक परम्परा और एक भिन्न देश में तिपिटक के लिपिबद्ध किये जाने के परिणामस्वरूप भी की जा सकती है।[3]

लूडर्स के समान ही एक मत प्रसिद्ध फ्रेंच विद्वान् सिलवाँ लेवी का है। उन्होंने यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया था कि पालि-तिपिटक मौलिक बुद्ध-वचन न होकर किसी ऐसी पूर्ववर्ती मागधी बोली का अनुवादित रूप है जिसमें ध्वनि-परिवर्तन पालि भाषा की अपेक्षा अधिक विकसित अवस्था में था। पालि के 'एकोदि' एवं 'संघादिसेस' जैसे शब्दों की उनके संस्कृत प्रतिरूप 'एकोति' (एक+ऊति) और 'संघातिशेष' (सङ्घ+अतिशेष) जैसे शब्दों के साथ तुलना कर उन्होंने तिपिटक के अन्दर एक ऐसी बोली के अवशिष्ट चिह्न खोजने का प्रयत्न किया है, जिसमें शब्द के मध्य स्थित संस्कृत अघोष (क्, च्, त्, प् आदि) स्पर्शों के स्थान पर घोष (ग्, ज्, द्, व् आदि) स्पर्श होने का नियम था। पालि-तिपिटक और अशोक के

---

१. देखिए, बुद्धिस्टिक स्टडीज, पृष्ठ ७३४; गायगर : पालि लिटरेचर एण्ड लैंग्वेज, पृष्ठ ५; लाहा : हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द पहली, पृष्ठ २०-२१ (भूमिका)।

२. बुद्धिस्टिक स्टडीज (डॉ० लाहा द्वारा सम्पादित) में उनका 'दि होम ऑव पालि' शीर्षक लेख, पृष्ठ ७३४, पद-संकेत २।

३. गायगर : पालि लिटरेचर एण्ड लैंग्वेज, पृष्ठ ५।

शिलालेखों के कुछ विशेष शब्दों में, जिनमें उपर्युक्त नियम लागू होता है, लेवी ने प्राचीन मौलिक बुद्ध-वचन (जिन्हें उन्होंने ऐसा समझा है) में प्रयुक्त शब्दों के रूपों को खोजने का प्रयत्न किया है। उदाहरणतः भाब्रू अभिलेख में 'राहुलोवाद' की जगह 'लाघुलोवादे' है, 'अधिकिच्च' (सं० 'अधिकृत्य') की जगह 'अधिगिच्य' है। इन 'लाघुलोवादे' और 'अधिगिच्य' को वे पालि के 'राहुलोवाद' और 'अधिकिच्च' की अपेक्षा प्राचीनतर मानते हैं। लेवी का कहना है कि क् (अघोष स्पर्श) के स्थान पर ग् (घोष स्पर्श) का होना पालि में तो बहुत अल्प हो जाता है, इसी प्रकार 'अधिगिच्य' में 'च्य' भी पालि की प्रवृत्ति के अनुकूल नहीं है। इसे, उनके मतानुसार, 'च्च' होना चाहिए, जैसे 'पटिकच्च', या 'पटिगच्च' में। इससे उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला है कि वर्तमान पालि तिपिटक एक ऐसी भाषा (मागधी) से अनुवाद किया हुआ है, जिसमें अघोष स्पर्शों (क्, त्, प्, आदि) का घोष स्पर्शों (ग्, द्, ब् आदि) में पलिवर्तित हो जाना अधिक सीमा तक पाया जाता था और इसी प्रवृत्ति के कुछ अवशिष्ट चिह्न पालि तिपिटक की भाषा में चले आये हैं, जबकि अशोक के अभिलेखों की भाषा में वे अधिक पूर्ण रूप से सुरक्षित हैं। नीचे के कुछ उदाहरण लेवी के तर्कों को स्पष्ट करने के लिए अलं होंगे—

संस्कृत	पूर्ववर्ती मागधी बोली लेवी द्वारा अनुमानित
माकन्दिक	मागन्दिय
कचंगला	कजंगला
पाराचिक	पाराजिक

इन उद्धरणों के आधार पर लेवी ने अनुमान किया है कि पालि तिपिटिक अपने मौलिक रूप में उस ऐसी भाषा में था जिसमें शब्द के मध्य-स्थित अघोष स्पर्शों के घोष स्पर्शों में परिवर्तित होने का नियम था। लेवी के मत को गायगर ने प्रामाणिक नहीं माना है। उन्होंने इसके तीन कारण दिये हैं—(१) लेवी ने 'संघादिसेस' और 'एकोदि' आदि शब्दों की जो निरुक्तियाँ दी हैं, वे सभी अनिश्चित हैं। (२) अघोष स्पर्शों का घोष स्पर्शों में परिवर्तित होना केवल उपर्युक्त शब्दों में ही नहीं पाया जाता, अन्य अनेक शब्दों में भी इस नियम का पालन देखा जाता है, उदाहरणतः—

संस्कृत	पालि
उत्ताहो	उदाहु
ग्रथित	गधित
व्यथते	पवेधति

(३) लेवी द्वारा निर्दिष्ट नियम का ठीक विपरीत अर्थात् संस्कृत घोष स्पर्शों का अघोष स्पर्शों में परिवर्तित हो जाना भी पालि में दृष्टिगोचर होता है—

संस्कृत	पालि
अगुरु	अकलु (अगरु, अगलु भी)
परिघ	पलिघ
कुसीद	कुसीत
मृदंग	मुतिंग
शावक	छापक
प्रावरण	पापुरण[1]

अतः गायगर के मतानुसार लेवी द्वारा निर्दिष्ट ध्वनि-परिवर्तनसम्बन्धी उदाहरणों से हम उनके द्वारा निश्चित सिद्धान्त पर नहीं पहुँच सकते। गायगर के द्वारा लेवी के मत के निराकरण में उपर्युक्त तीन तथ्यों के दिये जाने के अलावा एक अन्य महत्त्वपूर्ण बात भी है जो लेवी के मत को अनिश्चित बना देती है। वह यह है कि अशोक के अभिलेखों में पाये जानेवाले कुछ शब्दों के मागधी रूपों की उनके समान पालि-तिपिटक में पाये जानेवाले शब्दों से तुलना कर ही लेवी ने अपने मत की स्थापना की है। परन्तु इसमें क्या प्रमाण है कि अशोक के अभिलेखों में पाये जानेवाले शब्द-रूप ही पालि-तिपिटक में पाये जानेवाले शब्दों से प्राचीनतर हैं। उदाहरणतः 'लाघुलोवादे' 'राहुलोवाद' से प्राचीनतर है, इसमें कोई निश्चित प्रमाण नहीं है। बल्कि अधिकतर हेतुसम्मत तो यही है कि अशोक के अभिलेख लोगों के प्रबोधार्थ उस समय की नाना जनपद-बोलियों में लिखे गये थे और वे छठी शताब्दी ईसवी-पूर्व बुद्धभाषित भाषा से, जो पालि-तिपिटक में सुरक्षित है, प्राचीनतर भाषा का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकते। लेवी का मत पालि भाषा को केवल एक विचित्रता को बतलाता है और वह विचित्रता है उसका विविधतामय रूप, जिसकी व्याख्या हम वेद की भाषा से उत्तराधिकारस्वरूप प्राप्त नाना बोलियों के सम्मिश्रण के आधार पर ही कर सकते हैं। अतः लेवी का मत भी अन्ततोगत्वा पालि के मिश्रित स्वरूप को ही प्रकट करता है।

ऊपर कुछ विद्वानों के मतों का उल्लेख और उनकी समीक्षा की जा चुकी है। अब बुद्ध-युग की परिस्थितियों और स्वयं तिपिटक के साक्ष्य पर पालि भाषा के

---

१. कुछ अन्य उदाहरणों के लिए देखिए—आगे पालि में मध्य-व्यञ्जन सम्बन्धी परिवर्तनों पर विचार।

मागधी आधार पर हम कुछ और विचार कर लें। यह निश्चित है कि भगवान् बुद्ध ने पैदल घूम-घूमकर अपने उपदेश मध्यदेश (मज्झिमेसु जनपदेसु) अर्थात् साधारणतः कुरु जनपद से मगध और विन्ध्य से हिमालय के बीच के प्रदेश में दिये थे। यह भी निश्चित है कि उनके शिष्यों में नाना जाति, वर्ग और प्रदेशों के व्यक्ति सम्मिलित थे। इसी प्रकार यह भी निश्चित है कि भगवान् बुद्ध के उपदेश मौखिक थे और उनके महापरिनिर्वाण के अनन्तर दो-तीन शताब्दियों में उनका संकलन किया गया। उनका लिपिबद्ध रूप तो प्रथम शताब्दी ईसवी-पूर्व में आकर हुआ, तब से वे उसी रूप में चले आ रहे हैं। इस इतने विकास की परम्परा में अनेक परिवर्द्धनों और परिवर्तनों की सम्भावना हो सकती है। भगवान् बुद्ध की 'चारों वर्णों की शुद्धि' और उसके विषय में उनकी कोई 'आचार्य-मुष्टि' (रहस्य-भावना) न होने के कारण हम यह तो स्वाभाविक ही मान सकते हैं कि नाना प्रदेशों से आये हुए भिक्षु अपनी-अपनी बोलियों में ही बुद्ध-वचनों को समझने का प्रयत्न करते होंगे। कम-से-कम अन्तर्प्रान्तीय मागधी भाषा का व्यवहार करने पर भी उस पर अपनी बोलियों की कुछ छाप तो वे लगा ही देते होंगे। बाद में उन्हीं लोगों ने जब अपने सुने हुए के अनुसार बुद्ध-वचनों का संकलन किया तो उनमें उन विभिन्नताओं का भी चला आना सर्वथा सम्भव था। अतः बुद्ध-वचनों की भाषा मूल रूप से मागधी होने पर भी उसमें प्राप्त विविधरूपता की व्याख्या उपर्युक्त ढंग पर की जा सकती है। किन्तु गायगर ने मागधी को पालि का मूलाधार सिद्ध करने के लिए और यह दिखाने के लिए कि भाषा और विषय दोनों की ही दृष्टि से पालि-तिपिटक ही मूल बुद्ध-वचन है, एक ऐसे तर्क का उपयोग किया है जिसके बिना भी उनका काम चल सकता था। विनय-पिटक के चुल्लवग्ग में एक कथा है, जिसमें दो ब्राह्मण भिक्षु (यमेळु और तेकुल) इस बात पर बड़े क्षुब्ध होते दिखाये गये हैं कि नाना जाति और गोत्रों के मनुष्य "अपनी-अपनी भाषा में बुद्ध-वचनों को रख-रखकर उन्हें दूषित करते हैं" ("सकाय निरुत्तिया वुद्ध-वचनं दूसेन्ति")। वे जाकर भगवान् को इस बात की सूचना देते हैं और प्रार्थना करते हैं—"भन्ते! अच्छा हो हम बुद्ध-वचन को छन्दस् में कर दें"—("हन्द मयं भन्ते बुद्धवचनं छन्दसो आरोपेमाति")। भगवान् उन्हें कहते हैं कि ऐसा करना तो 'दुक्कृत' अपराध होगा। बाद में विधानात्मक आदेश देते हैं—"भिक्षुओ! अपनी-अपनी भाषा में बुद्ध-वचन सीखने की अनुज्ञा देता हूँ"—("अनुजानामि भिक्खवे सकाय निरुत्तिया वुद्धवचनं परियापुणितुं")। घटना का अर्थ स्पष्ट है। ब्राह्मण-भिक्षुओं को संस्कारवश अभी तक वेदों की प्राचीन भाषा (छन्दस्) में पवित्रता की गन्ध आती थी। अपनी वाणी (सका निरुत्ति),

जिसमें सभी सामान्य भिक्षु बुद्ध-वचनों को सीखते थे, उन्हें वैदिक भाषा की अपेक्षा अधम लगती थी। अतः उसमें बुद्ध-वचनों को रखना उन्हें उनका अपमान लगता था। इसीलिए उन्होंने बुद्ध-वचनों को वेद की पवित्र भाषा या 'छन्दस्' में रखने का प्रस्ताव किया था—"हन्द मयं भन्ते बुद्धवचनं छन्दसो आरोपेमाति"। यहाँ 'छन्दसो' से क्या तात्पर्य है ? आचार्य बुद्धघोष ('समन्तपासादिका'—चुल्लवग्ग वण्णना में) कहते हैं "छन्दसो आरोपेमाति वेदं विय सक्कतभासाय वाचनामग्गं आरोपेम" अर्थात् 'छन्दस्' में कर देने का तात्पर्य है वेद के समान सम्माननीय संस्कृत भाषा में माध्यम में कर देना। बुद्धघोष के 'सक्कत भासाय' पद के 'सक्कत' शब्द के संस्कृत और 'सत्कृत' दोनों ही अर्थ हो सकते हैं। डॉ० विमलाचरण लाहा ने उसका अर्थ केवल संस्कृत-भाषा लेकर बुद्धघोष की आलोचना कर डाली है।[1] इसे बुद्धघोष के प्रति अन्याय ही समझना चाहिए। आचार्य बुद्धघोष का तात्पर्य यहाँ वेद की आदरणीय भाषा से ही था। 'संस्कृत' (पालि 'सक्कत', प्राकृत 'सक्कय') शब्द पाणिनि के बाद का है और वह लौकिक संस्कृत का वाचक है। छन्दस् शब्द उस प्राचीन आर्य भाषा का द्योतक है जिसमें संहिताएँ लिखी गयी हैं। भगवान् बुद्ध को यही (दूसरा) अर्थ अभिप्रेत हो सकता था। स्वयं तिपिटक में "सावित्थी छन्दसो मुखं"[2] जैसे प्रयोगों में 'छन्दस्' शब्द का प्रयोग वेद के लिए ही हुआ है। अतः यहाँ भी बुद्ध का तात्पर्य वेद की भाषा से ही था; जिससे विपरीत बुद्धघोष का मत भी नहीं है। अतः ऊपर उद्धृत भगवान् बुद्ध की अनुज्ञा "अनुजानामि भिक्खवे सकायनिरुत्तिया बुद्धवचनं परियापुणितुं") का अर्थ ("भिक्षुओ ! अनुज्ञा देता हूँ अपनी-अपनी भाषा में बुद्ध-वचन सीखने की") आसानी से समझा जा सकता है। बुद्ध की उदार शिक्षा के साथ इस अर्थ का सम्बन्ध भी मिल जाता है। कुछ शिक्षित ब्राह्मणों द्वारा ही समझी जानेवाली भाषा में अपने उपदेशों को रखवाकर वे उन्हें संकुचित नहीं बनाना चाहते थे। इसलिए उनकी उपर्युक्त अनुज्ञा प्रसंग को देखते हुए ठीक ही थी। किन्तु गायगर ने भगवान् बुद्ध की उपर्युक्त अनुज्ञा का एक दूसरा ही अर्थ किया है। उन्होंने कहा है कि भगवान् की अनुज्ञा में 'सकाय निरुत्तिया' का अन्वय 'बुद्ध-वचन' के साथ है, 'भिक्खवे' के साथ नहीं। यदि 'भिक्खवे' के साथ 'सकाय निरुत्तिया' का अन्वय होता तो उसके साथ 'वो' (तुमको) शब्द भी अवश्य होना चाहिए था और तभी हम भिक्षुओं के सम्बन्ध में उनकी 'अपनी-अपनी भाषा' जैसा अनुवाद कर सकते थे। किन्तु चूँकि 'वो' शब्द

---

१. हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द पहली, पृष्ठ १२ (भूमिका)।

२. विनय-पिटक—महावग्ग; सुत्त-निपात, गाथा ५६८ भी।

मूल पाठ में है नहीं, अतः स्वाभाविक रूप से, व्याकरण के नियम केअनुसार,'सकाय निरुत्तिया' शब्द 'बुद्ध-वचन' केसाथ जायगा, और इस प्रकार भगवान् की अनुज्ञा का अर्थ होगा, "भिक्षुओ ! अनुमति देता हूँ बुद्ध-वचन को उसकी (बुद्ध-वचन की) भाषा में सीखने की।" इसका तात्पर्य यह है कि भगवान् बुद्ध ने बुद्ध-वचन को उसी की (बुद्ध-वचन की) भाषा अर्थात् मूल मागधी भाषा में ही सीखने की आज्ञा दी।[1] आचार्य बुद्धघोष ने भी 'सकाय निरुत्तिया' पद से यही अर्थ लिया है। वे कहते हैं "सकाय निरुत्तिया' ति एत्थ सका निरुत्ति नाम सम्मासम्बुद्धेन वुत्तप्पकारो मागध को वोहारो" अर्थात् "यहाँ 'सका निरुत्ति' (स्वकीय भाषा) से तात्पर्य भगवान् सम्यक् सम्बुद्ध द्वारा प्रयुक्त मागधी भाषा-व्यवहार से ही है।" गायगर ने अपने अर्थ की पुष्टि करते हुए इस बात पर बहुत अधिक बल दिया है कि बुद्ध-वचनों को उनके मौलिक प्रामाणिक रूप मेंअक्षुण्ण रखने की उस समय भी जब इतनी अधिक तत्परता थी तो बाद में तो इसका और भीअधिक अनुसरण किया गया होगा। उन्होंने यह भी कहा है कि न तो भिक्षुओं का ही और न बुद्ध का ही मन्तव्य भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को भिन्न-भिन्न भाषाओं में उपदेश करने से हो सकता था। अतः 'अपनी-अपनी भाषा' अर्थ लेने का अनौचित्य दिखाने का उन्होंने प्रयत्न किया है।[2] बुद्धघोष या गायगर के मत का ही अनुसरण करते हुए भिक्षु सिद्धार्थ ने कहा है कि जब भगवान् बुद्ध नेसंस्कृत जैसी परिमार्जित और सम्मानित भाषा में अपने उपदेशों को रखे जाने का विरोध किया तो फिर वे किसी साधारण बोलचाल की भाषा में उन्हें रखे जाने का किस प्रकार आदेश दे सकते थे ? उस दशा में तो उनके मौलिक अर्थों और प्रभाव में ही काफी अन्तर हो जाता।[3] "अतः निःसन्देह भगवान् बुद्ध ने अपने उपदेश मगध-देश की टकसाली भाषा में ही दिये और उसी में उनके शिष्यों ने उन्हें सीखा और फिर उपदेश किया।"[4] भिक्षु सिद्धार्थ के इस मन्तव्य से किसी को विरोध नहीं हो सकता। चूंकि भगवान् बुद्ध ने मध्य-मण्डल

---

१. पालि लिटरेचर एण्ड लैंग्वेज, पृष्ठ ६-७।

२. वही, पृष्ठ ७।

३. बुद्धिस्टिक स्टडीज (डॉ० लाहा द्वारा सम्पादित), पृष्ठ ६४८।

४. "There can be no doubt as to the fact that Buddha preached his doctrine in the standard vernacular of the Magadha country and his disciples studied and taught it in that very language" बुद्धिस्टिक स्टडीज, पृष्ठ ६४९।

को सामान्य सभ्य-भाषा में ही अपने उपदेश दिये और उसी के विभिन्न स्वरूपों में उनके शिष्यों ने उन्हें सीखा, अतः आज हम कहना चाहें तो कह ही सकते हैं कि मागधी भाषा ही भगवान् बुद्ध के उपदेशों का माध्यम थी और उसी में उनके शिष्य उन्हें सीखते और उपदेश करते थे। इस दृष्टि से बुद्धघोष, गायगर और भिक्षु सिद्धार्थ के अर्थ ठीक हैं। किन्तु यदि उनके अर्थों से हम यह समझें कि स्वयं भगवान् बुद्ध और उनके शिष्यों को भगवान् बुद्ध की उपर्युक्त अनुज्ञा से वही अर्थ अभिप्रेत था जो बुद्धघोष, गायगर और भिक्षु सिद्धार्थ ने उसे दिया है, तो यह बिलकुल गलत है। वास्तव में, हम बुद्ध की उपर्युक्त अनुज्ञा की व्याख्या करने में बुद्धघोष या गायगर की अपेक्षा उस अनुज्ञा के ही पूर्वापर प्रसंग और बुद्ध की भावना से भी, जैसी वह अन्यत्र प्रस्फुटित हुई है, अधिक सहायता लेने के पक्षपाती हैं। विण्टर-नित्ज ने कुछ स्पष्टतापूर्वक यह दिखाया है कि 'सकाय निरुत्तिया' का सम्बन्ध 'भिक्खवे' के साथ लगाने के लिए उसके साथ 'वो' शब्द का आना अनिवार्यतः आवश्यक नहीं है, जैसा कि गायगर ने आग्रह किया है। उसे प्रसंग-वश भी समझा जा सकता है।[1] डॉ० विमलाचरण लाहा ने पालि के मागधी आधार को स्वीकार नहीं किया है, अतः उन्होंने कुछ विस्तार से गायगर के मत का प्रतिवाद किया है।[2] कीथ ने भी, जो पालि को किसी पश्चिमी बोली पर आधारित मानते हैं, गायगर के परम्परावादी मत को स्वीकार नहीं किया है।[3] वास्तव में बात यह है कि व्याकरण की दृष्टि से निर्दोष होते हुए भी गायगर की बुद्ध-अनुज्ञा की उपर्युक्त व्याख्या उस प्रसंग में ठीक नहीं बैठती, जिसमें वह आयी है। अतः पालि भाषा के स्वरूप के सम्बन्ध में उस मत को सिद्ध करने के लिए, जो दूसरे प्रमाणों के आधार पर उनके द्वारा ही सुनिश्चित कर दिया गया है, पर्याप्त नहीं ठहरती। सामान्यतः गायगर का अर्थ इन कारणों से प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। (१) प्रसंग में वह ठीक नहीं बैठता। पहले भिक्षु लोग 'सकाय निरुत्तिया' (अपनी-अपनी भाषा में) बुद्ध-वचनों को दूषित करते दिखाये गये हैं। इस पर ब्राह्मण भिक्षुओं ने उन्हें 'छन्दस्' में करने का

---

१. हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६०२ (परिशिष्ट दूसरा)।

२. हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द पहली, पृष्ठ ११-१६ (भूमिका)।

३. इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली, १, १९२५, पृष्ठ ५०१; बुद्धिस्टिक स्टडीज, पृष्ठ ७३०।

प्रस्ताव रखा है। भगवान् ने इस प्रस्ताव का विरोध करते हुए 'सकाय निरुत्तिया' बुद्ध-वचनों को सीखने की अनुज्ञा दे दी है। स्पष्टतः प्रसंग के अनुसार यहाँ 'सकाय निरुत्तिया' का वही अर्थ लेना ठीक है जो पहले लिया गया है, अर्थात् 'अपनी-अपनी भाषा में'। (२) किसी विशेष भाषा में बुद्ध-वचनों को सीखना रूढ़ कर देना भगवान् तथागत की प्रवृत्ति के विपरीत है। इस प्रकार उनका 'धम्म' प्रकाशित नहीं होता, जो सारी प्रजाओं के लिए खुलने पर ही प्रकाशित होता है।[1] (३) भगवान् बुद्ध का जोर शब्दों पर नहीं था, अर्थों पर था।[2] कोई भी भाषा किसी अन्य भाषा से उनकी दृष्टि में उच्च अथवा हेय नहीं थी। न उन्हें संस्कृत से द्वेष था, न मागधी से मोह। वे केवल जीवित भाषा में उपदेश देना चाहते थे, जिससे लोग उन्हें आसानी से समझ सकें। मागधी का एक ऐसा ही माध्यम उन्हें अनायास मिल गया, जिसे उन्होंने प्रयुक्त किया। (४) जनपद-निरुत्तियों अर्थात् भाषा के स्थानीय प्रयोगों में तथागत को अभिनिवेश नहीं था। किसी एक भाषा-प्रयोग में उनका आग्रह नहीं था। उन्होंने स्वयं कहा है कि एक ही वस्तु 'पात्र' के लिए किसी जनपद में 'पाति', किसी में 'पत्त', किसी में 'वित्थ', किसी में 'सराव', किसी में 'धारोप', किसी में, 'पोण', किसी में 'पिसील' शब्द का प्रयोग होता है, तो भिक्षुओं को किसी एक शब्द को ही लेकर यह समझ कर नहीं बैठ रहना चाहिए कि यही प्रयोग ठीक और सब गलत हैं। बल्कि उन्हें तो अपने भी जनपद के प्रयोग के प्रति ममता न रखकर जहाँ जैसा प्रयोग चलता हो, वहाँ उसी के अनुसार बरतना चाहिए।[3] अतः मगध-जनपद के प्रयोग के प्रति भी तथागत का अभिनिवेश या पक्षपात-व्यवहार कैसे हो सकता है? अतः गायगर का अर्थ ग्रहण नहीं हो सकता।

जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, गायगर की 'सकाय निरुत्तिया' की व्याख्या के साथ असहमत होते हुए भी पालि भाषा के मागधी आधार को हम अस्वीकार नहीं कर सकते। अब तक हमने इस विषय सम्बन्धी जो विवेचन किया है, वह हमें इसी निष्कर्ष की ओर पहुँचने के लिए बाध्य करता है कि पालि भाषा का विकास मध्य-

---

१. ऐसा ही अंगुत्तर-निकाय के तिक-निपात के एक सुत्त में कहा गया है। 'भिक्षुओ! ये तीन खुले चमकते हैं, ढँके नहीं। चन्द्र-मण्डल···सूर्य-मण्डल···तथागत द्वारा उपदिष्ट धर्म···ये तीन खुले चमकते हैं, ढँके नहीं।" देखिए, मिलिन्द प्रश्न (भिक्षु जगदीश काश्यप का अनुवाद), पृष्ठ २३१ भी।

२. किन्ति-सुत्त (मज्झिम, ३।१।३)।

३. देखिए, अरणविभंग-सुत्त (मज्झिम, ३।४।९)।

मंडल में बोली जानेवाली उस अन्तर्प्रान्तीय सभ्य भाषा से हुआ जिसमें भगवान् बुद्ध ने अपने उपदेश दिये थे और जिसकी संज्ञा बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार 'मागधी' है। इसी 'मागधी' के विकसित, विकृत या अधिक ठीक कहें तो विभिन्न जनपदीय स्वरूप हमें अशोक के अभिलेखों की 'मागधी' में मिलते हैं। निश्चय ही इस अशोककालीन मगध-भाषा की उससे तीन सौ वर्ष पूर्व बोली जानेवाली मगध-भाषा से, जो तिपिटक में सुरक्षित है, विभिन्नताएँ भी हैं। इन विभिन्नताओं के आधार पर ही ओल्डनवर्ग आदि विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाल डाला था कि पालि मागधी नहीं है। पालि को मागधी न मानने से उनका तात्पर्य, जैसा डॉ० ई० जे० थामस ने दिखाया है, सिर्फ यही था कि पालि अशोक के अभिलेखों की भाषा नहीं है।[1] किन्तु यहाँ पर यह नहीं सोचा गया कि जो कुछ भी विभिन्नताएँ तिपिटक की भाषा और अशोक के अभिलेखों की भाषा में है, वे सब एक अन्तप्रान्तीय राजभाषा के प्रान्तीय प्रयोगों के आधार पर समझी जा सकती हैं। अशोक का उद्देश्य अपने विशाल साम्राज्य के विभिन्न जनपदों की सामान्य जनता तक अपने सन्देश को पहुँचाना था। जनपद-निरुक्तियों का अभिनिवेश उसके हृदय में था नहीं। उसने जैसा प्रयोग जिस जनपद में चलता देखा, वैसा ही शिलालेखों में अंकित करवा दिया। इसी कारण उनमें उच्चारण आदि की अल्प विभिन्नताएँ मिलती हैं। एक ही प्रथम शिलालेख के पूर्व (जौगढ़), पश्चिम (गिरनार) और उत्तर (मनसेहरा) इन तीन संस्करणों का मिलान करने से यह भेद स्पष्ट हो जाता है। स्थानाभाव के कारण हम यहाँ इन तीनों अभिलेखों को उद्धृत तो नहीं कर सकते, किन्तु उनके आधार पर विभिन्न भाषा-स्वरूपों का अध्ययन करना आवश्यक है। उनके भाषा-स्वरूपों में मुख्य विभिन्नताएँ इस प्रकार हैं। (१) पश्चिम (गिरनार) के शिलालेख में 'र्' का 'ल्' में परिवर्तन नहीं होता। उदाहरणतः 'राजा', 'राज्ञा', 'पुरा', 'आरभित्वा' जैसे प्रयोग वहाँ दृष्टिगोचर होते हैं। उत्तर के शिलालेख (मनसेहरा) में भी 'र्' का 'ल्' में परिवर्तन नहीं होता, किन्तु वहाँ प्रादेशिक उच्चारण-भेद अवश्य दृष्टिगोचर होता है। 'राजा' की जगह वहाँ 'रज', 'राज्ञा'

---

१. बुद्धिस्टिक स्टडीज, पृष्ठ २३४ (डॉ० ई० जे० थॉमस का बुद्धिस्ट एजूकेशन इन पालि एंड संस्कृत स्कूल्स" (शीर्षक निबन्ध)।

२. जिसके लिए देखिए भिक्षु जगदीश काश्यप : पालि महाव्याकरण, पृष्ठ तैंतीस-चौंतीस (वस्तुकथा)।

की जगह 'राजिने', 'पुरा' की जगह 'पुर' और 'आरभित्वा' की जगह 'आरभितु' मिलते हैं। पूर्व के शिलालेख (जौगढ़) में 'र्' का 'ल्' में परिवर्तन हो जाता है। वहाँ 'राजा' की जगह 'लाजा' है, 'राज्ञा' की जगह 'लाजिना' है, 'पुरा' की जगह 'पुलुवं' है और 'आरभित्वा' की जगह 'आलभितु' है। (२) पश्चिम के लेख में (सामान्यतः पालि के समान) केवल दन्त्य 'स्' का ही प्रयोग है। तालव्य 'श्' और मूर्द्धन्य 'ष्' वहाँ नहीं मिलते। इनकी जगह भी दन्त्य 'स्' का ही प्रयोग मिलता है। 'प्रियदसि' इसका उदाहरण है। पूर्व के लेख की भी यही प्रवृत्ति है। किन्तु उत्तर के लेख की आश्चर्यजनक प्रवृत्ति 'श्' और 'ष्' दोनों को रखने की है। वहाँ 'प्रियदसि' (पश्चिम) या 'पियदसि' (पूर्व) की जगह 'प्रियदर्शि' है। इसी प्रकार 'प्रियदसिना' या 'पियदसिना' की जगह 'प्रियद्रशिन' है। 'प्राणसतसहस्रानि' (पश्चिम) या 'पानसतसहसानि' (पूर्व) की जगह 'प्राणशतसहस्रानि' है। 'आरभरे' (पश्चिम) या 'आलभियिसु' की जगह आश्चर्यजनक रूप से 'अरभिषंति' है। (३) पुंल्लिंग अकारान्त शब्द के प्रथमा एक वचन का रूप पश्चिम के अभिलेख में ओकारान्त है, जैसे 'एको मगो'। किन्तु पूर्व और उत्तर के अभिलेखों में वह एकारान्त हो गया है, जैसे 'एक मिगे' (पूर्व), 'एके भ्रिगे' (उत्तर)। (४) पूर्व के अभिलेख में व्यंजन रेफयुक्त होने पर रेफ की ध्वनि लुप्त होकर व्यंजन में ही मिल गयी है, जैसे 'प्रियदर्शी' से 'पियदसि', 'प्राणा' से 'पानानि'। किन्तु पश्चिम और उत्तर के अभिलेखों में यह परिवर्तन नहीं हुआ है। वहाँ 'प्रियदसि', 'प्राणा' (पश्चिम) एवं 'प्रियदर्शि', 'प्रणनि' (उत्तर) शब्दों में रेफध्वनि सुरक्षित है। (५) 'ऋ' के परिवर्तन में भी असमानता है। मृग से 'मगो' पश्चिम में है; 'मिगे' पूर्व में है, 'भ्रिगे' उत्तर में है। (६) पश्चिम का शिलालेख संस्कृत के अधिकतम समीप है। मिलाइए "पुरा महानसम्हि देवानं प्रियस प्रियदसिनो राञो अनुदिवसं बहुनि प्राणसतसहस्रानि आरभिसु सूपाथाय" (पश्चिम); "पुलुवं महानससि देवानं पियस पियदसिने लाजिने अनुदिवसं बहूनि पानसतसहसानि आलभियिसु सुपठाये" (पूर्व) "पुर महनससि देवन प्रियस प्रियदर्शिस राजिने अनुदिवसे बहुनि प्राणशत-सहस्रानि आरभिसु सुपथये" (उत्तर)। इन विभिन्नताओं के स्वरूप पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे मौलिक न होकर एक ही सामान्य भाषा के प्रान्तीय या जनपदीय रूप हैं; जो उच्चारण-भेद से उत्पन्न हो गये हैं। दूसरे शब्दों में, अशोक के अभिलेखों की भाषा एक सामान्य मागधी राष्ट्रभाषा है जिसमें प्रादेशिक आवश्यकताओं के अनुसार उच्चारण आदि में अल्प परिवर्तन हैं और जिसके विभिन्न रूपों में एक-दूसरे के साथ गहन अन्तर्सम्बन्ध हैं। मूल तो उन सबका एक ही है—मगध की राज-माषा-मागधी—जिसमें ३०० वर्ष पहले भगवान् बुद्ध ने अपने उपदेश

दिये थे और आज तक अपने उसी प्रामाणिक किन्तु मिश्रित[1] रूप में पालि तिपिटक में सुरक्षित हैं।

पालि और वैदिक भाषा

ऊपर अशोक की धर्मलिपियों में पायी जानेवाली पालि की विभिन्नताओं की ओर संकेत किया गया है। वास्तव में ये विभिन्नताएँ पालि की जन्मजात हैं। ये उसे वैदिक भाषा से उत्तराधिकार-स्वरूप मिली हैं। पालि का वैदिक भाषा से ऐतिहासिक दृष्टि से क्या सम्बन्ध है; इसका हम पहले विवेचन कर चुके हैं। यहाँ हम इन भाषाओं के स्वरूप की दृष्टि से ही विचार करेंगे। ऋग्वेद की रचना अनेक युगों में अनेक ऋषियों द्वारा की गयी। अतः उसमें अनेक प्रादेशिक बोलियों का सम्मिश्रण मिलता है। ब्राह्मण-ग्रन्थों और सूत्र-ग्रन्थों में इसी भाषा के विकसित स्वरूप के दर्शन होते हैं। बाद में पाणिनि ने इसी भाषा की भिन्नरूपता को सुसम्बद्ध कर उसे साहित्यिक रूप प्रदान किया। यही 'संस्कृत' अर्थात् संस्कार की हुई भाषा कहलायी। ब्राह्मण-ग्रन्थों और यास्क या पाणिनि के काल के बीच में इस भाषा का व्यवस्थापन-कार्य हुआ। प्राचीन वेद की भाषा के साथ इसका विभेद दिखाने के लिए इसके लिए 'संस्कृत' शब्द का प्रयोग किया जाता है, जब कि वेद की भाषा का उपयुक्त नाम 'छन्दस्' है। वेद की भाषा जिस समय यास्क और पाणिनि के समय में और उसके कुछ पहले से सुसम्बद्ध होकर 'संस्कृत' के रूप में आर्यों के विज्ञान और धर्म की भाषा बन रही थी, उसी समय आर्यों की बोलचाल की भाषा भी विकसित होकर नया स्वरूप प्राप्त कर रही थी। मगध या कोशल के प्रान्तों में उसने जो स्वरूप प्राप्त किया, उसी के दर्शन हमें आज 'पालि' के रूप में होते हैं। मगध-साम्राज्य के विकास के साथ इसी बोली ने एक व्यापक रूप धारण कर लिया। इस प्रकार हम देखते हैं कि एक ही वैदिक भाषा के आधार पर, एक ही मध्यकालीन आर्यभाषा-युग में, संस्कृत और पालि का विकास भिन्न-भिन्न ढंगों से हुआ। वैदिक भाषा के एक ही शब्दों के क्रमशः पालि और संस्कृत में विकसित स्वरूपों को मिलान कर देखने से यह ऐतिहासिक तथ्य अच्छी तरह से समझा जा सकता है।

---

१. अशोक के पूर्वी, पश्चिमी और उत्तरी अभिलेखों के ही भाषा-तत्त्व पालि में मिलते हैं। जिन्होंने पूर्वी तत्त्वों पर जोर दिया है, उन्होंने पालि को मागधी या अर्द्ध-मागधी पर आधारित माना है; जिन्होंने पश्चिमी तत्त्वों पर जोर दिया है, उन्होंने उसमें शौरसेनी के तत्त्व ढूंढ़े हैं और जिन्होंने उत्तरी तत्त्वों को प्रधानता दी है, उन्होंने उसमें पैशाची तत्त्व ढूंढे हैं।

वैदिक भाषा की सबसे बड़ी विशेषता उसकी अनेकरूपता है। स्वभावतः इस अनेकरूपता का उत्तराधिकार संस्कृत की अपेक्षा पालि को ही अधिक मिला है। इस तथ्य का विशेष विवरण हम आगे पालि के शब्द-साधन और वाक्य-विचार का विवेचन करते समय करेंगे। यहाँ कुछ उदाहरण ही पर्याप्त होंगे। अकारान्त शब्दों के तृतीया बहुवचन में वैदिक भाषा में 'देवेभिः', 'कर्णेभिः', जैसे रूप मिलते हैं। संस्कृत ने इन रूपों को छोड़ दिया है। किन्तु पालि में ये 'देवेभि', 'देवेहि'; 'कण्णेभि', 'कण्णेहि' आदि के रूप में सुरक्षित हैं। वैदिक भाषा में 'विश्वन्', 'च्यवन्' जैसे नपुंसकलिंग शब्दों के प्रथमा और सम्बोधन के बहुवचन के रूप 'विश्वा', 'च्यवना' जैसे आकारान्त होते हैं। पालि में यह प्रवृत्ति 'चित्ता', 'रूपा' जैसे प्रयोगों में दिखायी पड़ती है, किन्तु संस्कृत में नहीं पायी जाती। उत्तम पुरुष बहुवचन का वैदिक प्रत्यय 'मसि' पालि में 'मसे', 'यमामसे', 'करोमसे', 'अभिनन्दायसे' जैसे प्रयोगों के रूप में सुरक्षित हैं। इसी प्रकार प्रथम पुरुष बहुवचन में वैदिक भाषा में 'रे' प्रत्यय लगता है। संस्कृत में यह नहीं पाया जाता। किन्तु पालि में यह 'पच्चरे', 'भासरे', 'सोचरे', खादरे' जैसे प्रयोगों में सुरक्षित है। वेद में निमित्तार्थक 'तवे' प्रत्यय का बहुत प्रयोग होता है। पालि में भी 'कातवे, 'गन्तवे' जैसे रूपों में यह सुरक्षित है। संस्कृत ने इस प्रयोग को छोड़ दिया है। इसी प्रकार अन्य अनेक शब्दों में हम यह प्रवृति देखते हैं। संस्कृत 'आम्र' शब्द का वैदिक रूप 'आम्ब्र' है। पालि में यह 'अम्ब' है। पालि ने 'ब्' को रख लिया है। वैदिक अकारान्त पुंल्लिग शब्दों के प्रथमा बहुवचन के रूप में 'असुक्' प्रत्यय लगकर 'देवास' जैसा रूप बनता था। पालि में भी यह 'देवासे', 'धम्मासे', 'बुद्धासे', 'उपासकासे', 'पण्डितासे', 'ब्राह्मणासे' जैसे रूपों में सुरक्षित है। संस्कृत ने इन रूपों को ग्रहण नहीं किया है।[1] बल्कि ऐसे अनेक शब्द-प्रयोग और मुहावरे आदि हैं जो हमें पालि में मिलते हैं और वैदिक स्मृतियों को हमारे अन्दर जगाते हैं, जैसे कि पालि के 'देव-मनुस्सानं' में 'छान्दोग्य-उपनिषद्' (७।६।१) के "ध्यायन्तीव देवमनुष्याः" की प्रतिध्वनि है, पालि के शील, समाधि और प्रज्ञा ये तीन धर्मस्कन्ध हमें छान्दोग्य० (२।२३।१) के 'त्रयो धर्मस्कन्धाः' की स्मृति कराते हैं, हालाँकि रूप में वे (पालि के धर्मस्कन्ध) उनसे श्रेष्ठतर हैं। तैत्तिरीय-उपनिषद् (१।११।४) में उपनिषद्

---

१. अधिक उद्धरणों के लिए देखिए बुद्धिस्टिक स्टडीज, पृष्ठ ६५५-५६ (भिक्षु सिद्धार्थ का पालि भाषा सम्बन्धी निबन्ध)। देखिए आगे, "कुछ विचित्र-स्वर-परिवर्तन" शीर्षक विवेचन भी और इसी प्रकार पालि का शब्द-साधन और वाक्य-विचार भी।

शब्द का प्रयोग इस प्रकार है—"एष आदेश, एष उपदेशः, एषा वेदोपनिषत्।" इसकी याद हमें तब आती है, जब हम विनय-पिटक (पाराजिक पालि) में देखते हैं कि अनुपादान (अनासक्ति) से प्राप्त चित्त की विमुक्ति के स्कन्ध में वहाँ कहा गया है, "एतदत्था कथा एतदत्था मन्नना एतदत्था उपनिसा।" "सम्परि-मायासुत्तं" का "सतं सम" 'शतं समाः' की वैदिक ध्वनि लिये हुए है ही।

छान्दोग्य० (५।११।१-५।११।३) में वेदों के विद्वान्, गृहपति ब्राह्मणों के लिए "इमे महाशाला महाश्रोत्रियाः" के रूप में निर्देश आया है। वृहदारण्यक; (२।१।१९) में 'महाब्राह्मणों' का भी उल्लेख है। ये सब 'महाशाल', 'महाश्रोत्रिय' 'महाब्राह्मण' पालि के सुविदित 'ब्राह्मण महासाला' ही हैं। वृहदारण्यक० (४।४।-२३) में 'पाप्मा' शब्द का प्रयोग है। यह पालि का 'पापिमा' मार है जिसका इस रूप में बौद्ध संस्कृत साहित्य में भी प्रभूत रूप से उल्लेख है और 'गीता' भी जिसे 'महापाप्मा' के रूप में सम्यक् रूप से जानती है। सन्दर्भ पूरा विद्यमान है, परन्तु शंकर अपने वृहदारण्यक-भाष्य में इस अर्थ को ग्रहण नहीं कर पाते, यह आश्चर्यजनक ही है। यदि इसका बौद्ध सन्दर्भ भी उनके मन में होता, तो गीता का 'महाशनो महापाप्मा' उनके लिए अधिक शक्तिशाली बन जाता और वे उसे वृहदारण्यक (४।४।२३) के उपर्युक्त 'पाप्मा' में भी खोजे बिना नहीं रहते, ऐसा लगता है। "न वा अरे" से बार-बार आरम्भ होनेवाले उपनिषद्-वाक्य और "जनको ह वैदेहः" "तं ह कुमारं सन्तं" और "मृत्यवे त्वा ददामीति" जैसे वाक्यांशों की स्मृति तो बार-बार पालि तिपिटक के पढ़नेवाले को होती है और वह अनायास अपने को एक दिव्य भाषामय सौन्दर्य के लोक में पाता है, जिसे देवों के काव्य के अलावा और क्या कहा जाय? अस्तु, ऐसे अनेक समान शब्द-प्रयोग खोजे जा सकते हैं जो पालि तिपिटक के समान प्राचीन वैदिक साहित्य में भी पाये जाते हैं और दोनों की भाव और भाषा की शैली की एकता को प्रकट करते हैं और समान रूप से दोनों के सौन्दर्य और प्राचीनता के भी साक्ष्य देते हैं।

पालि और संस्कृत

पालि और संस्कृत के ऐतिहासिक सम्बन्ध का विवेचन हम पहले कर चुके हैं। दोनों ही मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाएँ हैं। दोनों ही समान स्रोत वैदिक भाषा से उद्भूत हुई हैं। किन्तु जैसा कबीर ने पन्द्रहवीं शताब्दी में लोकभाषा हिन्दी का संस्कृत से मिलान करते हुए संस्कृत को 'कूप-जल' कहकर (हिन्दी) 'भाषा' को 'बहता नीर' कहा था, वही बात हम पालि के विषय में भी कह सकते हैं। पालि वह बहता हुआ नीर था जो वैदिक काल से लेकर अप्रतिहत रूप से मध्य-मंडल में प्रवाहित होता हुआ चला आ रहा था। इसके विपरीत संस्कृत

वह बद्ध महासरोवर था, जिसमें समस्त आर्य ज्ञान-विज्ञान अनुमापित कर दिया गया था। एक की गति अवरुद्ध थी, दूसरे में आवर्त-विवर्तों की लहरें सतत चलती रहीं। परिणामतः प्राकृतों की सीमा पार कर, अपभ्रंश के नाना विवर्त धारण कर, वह आज हमारी अनेक प्रान्तीय बोलियों के रूप में समाविष्ट हो गयी है। संस्कृत 'पुराण युवती' है। पुरानी होते हुए भी वह सदा अपने मौलिक अभिराम रूप को धारण करती है। उसके जरा-मरण नहीं। इसके विपरीत पालि के कुमारी, युवती, वृद्धा स्वरूप हमें दृष्टिगोचर होते हैं। अन्त में वह अपनी सन्तानों के रूप में अपने को खो भी चुकी है। पालि तिपिटक में उसके बाल्य और तारुण्य का सामान्यतः दिग्दर्शन होता है,अनुपालि-साहित्य में सामान्यतः उसके वृद्धत्व का। उसके ये विभिन्न भाव एक ही व्यक्तित्व के विकार हैं, जो उसने काल और स्थान के भेद से ग्रहण किये हैं। जिन भाषा-तत्त्वविदों ने उसके इस रहस्य को नहीं समझा है, उन्होंने उसके आदि निवास-स्थान और स्वरूप आदि के विषय में अनेक एकांगदर्शी मत प्रकट किये हैं, यह हम पहले देख ही चुके हैं।

उद्गम की दृष्टि से पालि और संस्कृत सहोदरा हैं। जैसे दो सगी बहनों में एक का रूप कुछ अधिक निखरा हो, दोनों के स्वर-तन्त्रियों और शब्दों के समान होते हुए भी एक कुछ अधिक परिष्कार के साथ बोले, यही हालत पालि और संस्कृत की है। ध्वनि-समूह में तो कुछ अल्प विभिन्नताएँ हैं भी, किन्तु रूप-विधान में तो उतनी भी नहीं है। दोनों के ध्वनि, रूप और अर्थ का विस्तृत तुलनात्मक अध्ययन करते समय यह हम अभी देखेंगे। पहले विकास-क्रम को पूरा करते हुए पालि-भाषा का सम्बन्ध प्राकृत भाषाओं के साथ देखें।

पालि और प्राकृत भाषाएँ : विशेषतः अर्द्धमागधी, शौरसेनी और पैशाची

प्राकृतों का विकास (१-५०० ई०) पालि के बाद का है। यह भी कहा जा सकता है कि पालि प्राकृत की प्रथम अवस्था का ही नाम है। हम पहले कह चुके हैं कि अशोक के समय में पालि या तत्कालीन लोक-सामान्य भाषा के कम-से-कम तीन स्वरूप प्रचलित थे। पूर्वी, पश्चिमी और पश्चिमोत्तरी। इन्हीं बोलियों का विकास बाद में प्राकृतों के रूप में हुआ। मागधी और अर्द्धमागधी अशोककालीन पूर्वी बोली के, शौरसेनी पश्चिमी बोली के और पैशाची पश्चिमोत्तरी बोली के विकसित रूप हैं, ऐसा हम कह सकते हैं। पहले ये बोलियाँ मात्र थीं, किन्तु साहित्य में प्रयुक्त होने पर इनका स्वरूप अवरुद्ध हो गया। भरत मुनि ने सात प्राकृत भाषाओं का उल्लेख किया है—(१) मागधी, (२) आवन्ती (अवन्तिजा), (३) प्राच्या, (४) शौरसेनी, (५) अर्द्धमागधी, (६) बाह्लीका, और (७) दाक्षि-

णात्या ।[१] बाद में वैयाकरण हेमचन्द्र (बारहवीं शताब्दी ईसवी) ने इनमें पैशाची और लाटी को और जोड़ दिया है। साहित्य की दृष्टि से प्राकृतों में चार मुख्य हैं---मागधी, अर्द्धमागधी, शौरसेनी और महाराष्ट्री। महाराष्ट्री सम्भवतः शौर-सेनी का ही उत्तरकालीन विकसित रूप है, ऐसा कुछ विद्वानों का मत है। प्राकृत के वैयाकरणों ने महाराष्ट्री को अधिक महत्त्व दिया है।[२] महाराष्ट्री प्राकृत (सामान्य प्राकृत, परिनिष्ठित साहित्यिक प्राकृत) का विस्तृत विवेचन करने के बाद प्रसिद्ध प्राकृत-वैयाकरण वररुचि ने अपने 'प्राकृत-प्रकाश' में अन्य प्राकृतों (पैशाची, मागधी और शौरसेनी) का विवरण दिया है। बारहवें (अन्तिम) परिच्छेद में उन्होंने शौरसेनी की केवल कुछ विशेषताओं का दिग्दर्शन कर अन्त में 'शेष महाराष्ट्रीवत्' लिखकर छोड़ दिया है।

भाषा-तत्त्व की दृष्टि से पालि और प्राकृतों में अनेक समानताएँ हैं। उप-युक्त विकास-विवरण से स्पष्ट है कि मागधी, अर्द्धमागधी, शौरसेनी और पैशाची प्राकृत ही पालि के तुलनामक अध्ययन में अधिक ध्यान देने योग्य हैं। पहले हम सामान्यतः पालि में पाये जानेवाले प्राकृत-तत्त्वों का निर्देश करेंगे और फिर मागधी, अर्द्धमागधी, शौरसेनी और पैशाची के साथ उसका संक्षिप्त तुलनात्मक अध्ययन करेंगे।

पालि और प्राकृत भाषाओं का ध्वनि-समूह प्रायः एक-सा ही है। ऋ, ॠ, ऌ, ऐ और औ का प्रयोग पालि और प्राकृतों में समान रूप से ही नहीं पाया जाता। केवल अपभ्रंश में ऋ ध्वनि अवश्य मिलती है। पालि और प्राकृतों में ऋ ध्वनि अ, इ, उ स्वरों में से किसी एक में परिवर्तित हो जाती है। ह्रस्व ए और ह्रस्व ओ का प्रयोग पालि और प्राकृत दोनों में ही मिलता है। विसर्ग का प्रयोग पालि और प्राकृत दोनों में ही नहीं मिलता श्, ष् की जगह मागधी को छोड़कर और सब प्राकृतों और पालि में 'स्' ही हो जाता है। मूर्द्धन्य ध्वनि 'ळ' पालि और प्राकृत दोनों में ही पायी जाती है।

विशेष रूप से प्राकृत-तत्त्व पालि में व्यंजन-परिवर्तनों में ही पाये जाते हैं। ये परिवर्तन इस प्रकार हैं---(१) शब्द के अन्तःस्थित अघोष स्पर्श की जगह य् या व् का आगमन। (२) शब्द के अन्तःस्थित घोष महाप्राण की जगह ह् हो जाना।

---

१. मागध्यवन्तिजा प्राच्या शूरसेन्यर्द्धमागधी।
वाह्लीका दाक्षिणात्या च सप्त भाषाः प्रकीर्तिताः॥ नाट्यशास्त्र १७।४८।

२. महाकवि दण्डी ने भी कहा है---"महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृत विदुः"। काव्यादर्श १।३४।

(३) शब्द के अन्तःस्थित अघोष स्पर्शों का घोष हो जाना। (४) महाप्राणत्व (ह-कार) का आकस्मिक आगमन या लोप। (५) आकस्मिक वर्ण-व्यत्यय। ये परिवर्तन पालि में अनियमतः कहीं-कहीं और प्रायः अन्य सब प्राकृतों में नियमतः पाये जाते हैं। आगे पालि के ध्वनि-समूह के विवेचन में इनका सोदाहरण विवरण दिया जायगा। वास्तव में बात यह है कि जिन ध्वनि-परिवर्तनों का पालि में सूत्र-पात ही हुआ है, उन्हीं का विकास हमें प्राकृतों में देखने को मिलता है। यही इन समानताओं का कारण है। इसका कुछ विस्तार से विवेचन हम आगे पालि के 'व्यंजन-परिवर्तन' पर विचार करते समय करेंगे। यहाँ इतना ही कह देना आवश्यक है कि पालि के जिस रूप के साथ प्राकृत की समानता है अथवा उसके जिस रूप में प्राकृत-तत्त्व मिलते हैं, वह पालि का प्राचीन रूप न होकर उसका विकसित रूप है। इसीलिए पालि-भाषा के विकास में भी हम तारतम्य देखते हैं, जिसका वर्णन हम अभी आगे करेंगे।

मागधी और पालि के सम्बन्ध का विवेचन हम पहले कर चुके हैं। अर्द्ध-मागधी के सम्बन्ध में भी कुछ कह चुके हैं। यहाँ केवल इतना ही कहना है कि जिस रूप में अर्द्धमागधी के स्वरूप का साक्ष्य हमें जैन आगमों में मिलता है, उसकी ध्वनि और रूप की दृष्टि से पालि से समानताएँ तो हैं, किन्तु अर्द्धमागधी को पालि का उद्गम या आधार स्वीकार नहीं किया जा सकता, प्रत्युत् उसका विकास पालि के बहुत बाद हुआ है। पालि और अर्द्धमागधी की कुछ समानताएँ इस प्रकार हैं—(१) संस्कृत 'अस्' और 'अर्' के स्थान में 'ए' हो जाना अर्द्धमागधी भाषा की यह एक बड़ी विशेषता है। इस प्रकार पुंल्लिग अकारान्त शब्दों के प्रथमा के एकवचन के रूप वहाँ प्रायः एकारान्त होते हैं। पालि के पुरे (पुरः); सुवे (श्वः); भिक्खवे (भिक्षवः); पुरिसकारे (पुरुषकारः); दुक्खे (दुःखं) जैसे शब्दों में यह अर्द्धमागधीपन की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। परन्तु पुंल्लिग अकारान्त शब्दों के प्रथमा के एकवचन के रूप वहाँ अधिकतर ओकारान्त ही होते हैं और एकारान्त का होना प्राचीनता का द्योतक माना गया है। यह प्रवृत्ति मागधी भाषा की भी विशेषता और प्राचीन वैदिक भाषा के प्रभावस्वरूप भी इसे माना जा सकता है। यह हम पहले सोदाहरण दिखा चुके हैं। 'भदन्त' (या 'भवन्त') शब्द के आलपन (सम्बोधन) का एकवचन का रूप 'भन्ते' (जो 'भदन्ते' का संकुचित रूप है) 'भगवती वियाहपन्नत्ति' (भगवती-सूत्र) आदि जैन आगमों में बहुल रूप में पाया जाता है। पालि में इसका पाया जाना पालि के 'मागधीपन' या 'अर्द्धमागधीपन' का एक लक्षणीय सबूत ही है। (२) संस्कृत 'तद्' के स्थान पर 'स' हो जाना। यह प्रवृति 'सेय्यथा' (तद्यथा) जैसे पालि के प्रयोगों में रूढ़

हो गयी है। (३) अर्द्धमागधी में समास के उत्तर शब्द के पहले अनुस्वार का आगम होता है, यथा 'निरयं गामी' 'अदुक्खमसुहा'। पालि में यह प्रवृत्ति 'सजंपति' 'सहम्पति' जैसे शब्दों में विद्यमान है।[1] (४) र् का ल् हो जाना अर्द्धमागधी की एक बड़ी विशेषता है। रकार का लकार में परिवर्तन समान रूप से मागधी-भाषा में भी पाया जाता है, यह हम पहले दिखा चुके हैं। जैसा हम पहले कह चुके हैं, पालि में भी यह प्रवृत्ति कहीं-कहीं दृष्टिगोचर होती है, नियमानुसार नहीं। (५) स्वरों और अनुनासिक स्वरों के बाद आने पर 'एवं' का अर्द्धमागधी में 'येव' हो जाता है। पालि में भी यह प्रवृत्ति कहीं-कहीं दृष्टिगोचर होती है। (६) अर्द्धमागधी में भूतकाल के बहुवचन में 'इंसु' प्रत्यय लगता है और 'पुच्छिंसु' 'गच्छिंसु' जैसे रूप बनते हैं। पालि में ये प्रयोग समान रूप से पाये जाते हैं। (७) अर्द्धमागधी में शब्द के मध्य में स्थित अघोष स्पर्श (क्, च्, त्, प्) उसी वर्ग के घोष स्पर्श (ग्, ज्, द्, व्) हो जाते हैं। यह प्रवृत्ति पालि में काफी हद तक पायी जाती है, यह हम आगे मध्य-व्यञ्जन सम्बन्धी परिवर्तनों में देखेंगे। परन्तु अनेक शब्द ऐसे हैं जहाँ इस प्रकार का परिवर्तन नहीं भी होता और इस प्रकार पालि की अर्द्धमागधी से भिन्नता हो जाती है। उदाहरणतः संस्कृत 'आकाश' अर्द्धमागधी में 'आगास' है, परन्तु पालि में यह 'आकास' ही है। इसी प्रकार 'प्रकार' अर्द्धमागधी में 'पगार' है, परन्तु पालि में 'पकार' ही है, अर्द्धमागधी में 'श्रावक' के लिए 'सावग', परन्तु पालि में 'सावक' ही। (८) अर्द्ध-मागधी में शब्द के मध्य में स्थित घोष या अघोष स्पर्श 'य्' ध्वनि में परिवर्तित हो जाते हैं, जैसे 'उपयार' से 'उवयार',' आचार्य' से 'आयरिय', 'वाचना' से 'वायना' और 'सागर' से 'सायर'। पालि में इनके रूप क्रमशः 'उपचार', 'आचरिय',

---

१. इस दृष्टि से कितना सार्थक और भावात्मक महत्त्व लिये हुए भदन्ताचार्य बुद्धदत्त का 'मधुरत्थविलासिनी' ('बुद्धवंस' की अट्ठकथा) में 'सहम्पति' शब्द के निर्वचन को लेकर यह कथन कि "सहकपती'ति वत्तब्बे अनुस्सारागमं कत्वा रूळ्हिवसेन सहम्पती'ति वदन्ती"ति। हम पहले देख चुके हैं कि 'उदानट्ठकथा' में धम्मपालाचरिय ने 'नेलञ्जला'ति वत्तब्बे लकारस्स रकारं कत्वा नेरञ्जराया'ति वुत्तं" कहकर अन्तर्हित रूप से यही कहा था कि पालि 'नेरञ्जरा' में उसके मूल मागधी रूप 'नेलञ्जला' को ग्रहण न कर उसके रकार वाले शौरसेनी रूप को ही ग्रहण किया गया है। उसी प्रकार भदन्ताचार्य बुद्धदत्त अपने उपर्युक्त कथन में पर्याय से यह कहते दिखायी पड़ते हैं कि 'सहकपति' के स्थान पर पालि में 'सहम्पति' होना उसके अर्द्धमागधी रूप की सूचना देता है।

'वाचना' और 'सागर' ही रहते हैं। इस प्रकार यह भिन्नता है और अर्द्धमागधी की अपेक्षा पालि के संस्कृत से अधिक समीप होने का साक्ष्य है। (६) कहीं-कहीं वर्ण-परिवर्तन का विधान पालि में अर्द्धमागधी के समान है। उदाहरणतः—

संस्कृत	पालि	अर्द्धमागधी
साक्षं (आँखों के सामने)	सक्खि (सक्खिं भी)	सक्खं
त्सरु (मूँठ, तलवार)	थरु	थरु (छरु भी)
वेणु (बाँस)	वेळु	वेळु
लांगल (हल)	नंगळ	नंगळ

लूडर्स ने अर्द्धमागधी के प्राचीन स्वरूप को पालि का आधार माना है, अतः उन्होंने उपर्युक्त समानताओं पर अधिक जोर दिया है। किन्तु इन समानताओं की एक मर्यादा है। केवल कुछ छुटपुटे उदाहरणों को छोड़ पालि में ये प्रवृत्तियाँ नियमित दृष्टिगोचर नहीं होतीं। उदाहरणतः सं० अस् की जगह 'ए' हो जाना, 'र्' की जगह 'ल्' हो जाना आदि प्रवृत्तियाँ जो अर्द्धमागधी की अनिवार्य विशेषताएँ हैं, पालि में कहीं-कहीं पायी जाती हैं।

शौरसेनी प्राकृत सूरसेन अर्थात् ब्रज-मंडल या मध्य-मंडल की भाषा थी। इसके प्राचीनतम रूप के दर्शन हमें अश्वघोष के नाटकों में होते हैं। भास और कालिदास के नाटकों में प्रायः इसी प्राकृत का प्रयोग मिलता है। भरत के 'नाट्य-शास्त्र' (१७।५१) के अनुसार शौरसेनी प्राकृत का प्रयोग संस्कृत नाटकों में नायिकाएँ और उनकी सखियाँ करती हैं। एक जैन शौरसेनी भी है, जिसका प्रयोग कुन्दकुन्दाचार्य कृत 'प्रवचनसार' ('पवयणसार') के ग्रन्थों में हुआ है। वररुचि और हेमचन्द्र के प्राकृत-व्याकरणों में हमें इस प्राकृत के उदाहरण बहुल रूप से मिलते हैं। बल्कि वररुचि ने 'प्राकृत-प्रकाश' में शौरसेनी को ही मागधी की मूल प्रकृति माना है,, 'प्रकृतिः शौरसेनी"। यह कहना सही रूप में ठीक नहीं है। यह प्राकृत संस्कृत के अधिकतम समीप है। उत्तरकालीन पालि में भी यही प्रवृत्ति दिखायी देती है। पालि भी मध्य-मंडल की ही लोक-भाषा रही थी, अतः उसका प्रभाव शौरसेनी पर आवश्यक रूप से पड़ा है। जिन विद्वानों ने पालि का आधार कोई पूर्वी बोली (मागधी या अर्द्धमागधी) न मानकर किसी पश्चिमी बोली को माना है, उन्होंने शौरसेनी प्राकृत के साथ उसकी सर्वाधिक समानताएँ दिखाने का प्रयत्न किया है।[1] शौरसेनी की एक सबसे बड़ी विशेषता तो है पुंल्लिग अकारान्त

---

१. ऐसे विद्वानों में डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या मुख्य हैं। उन्होंने दिखाया है कि पालि के ध्वनि-समूह और रूप-विधान की सर्वाधिक समानताएँ शौरसेनी

शब्दों के प्रथमा एकवचन का रूप ओकारान्त होना, यथा पुरिसो, बुद्धो, नरो आदि; हम जानते हैं कि उसकी यह प्रवृत्ति पूरी तरह पालि में विद्यमान है। दूसरी बात है शकार और षकार के स्थान में सकार का होना। यह बात भी पूरी तरह हमें पालि में मिलती है। 'शब्द' के 'सद्द' और 'पुरुष' के 'पुरिसो' रूप पालि और शौरसेनी में समान हैं। कुछ अन्य समानताएँ इस प्रकार हैं। (३) शौरसेनी में शब्द के मध्य में स्थित अघोष स्पर्शों का घोष स्पर्शों में परिवर्तन कुछ हद तक दिखायी पड़ता है। इस प्रकार 'माकन्दिक' से 'मागन्दिय' और 'कचंगला' से 'कजंगला' जैसे ध्वनि-परिवर्तन पालि और शौरसेनी में समान हैं। परन्तु पालि में ठीक इसके विपरीत प्रवृत्ति भी दिखायी पड़ती है, अर्थात् शब्द के मध्य में स्थित घोष स्पर्शों का अघोष हो जाना, यथा 'अगुरु' से 'अकलु', 'मृदंग' से 'मुतिंग'; 'अजिरवती' से 'अचिरवती' 'कुसीद' से 'कुसीत' आदि। वास्तव में शब्द के मध्य में स्थित वर्णों का परिवर्तन शौरसेनी में पालि की अपेक्षा अधिक विकसित अवस्था में दिखायी पड़ता है। उदाहरणतः संस्कृत 'रजत' पालि में 'रजत' ही है, परन्तु शौरसेनी में यह 'रअद' हो गया है। इस प्रकार शौरसेनी की अपेक्षा पालि संस्कृत के अधिक समीप है। 'शौरसेनी' में संस्कृत 'र्य' के स्थान पर 'य्य' या 'ज्ज' होता है। आर्य के स्थान पर वहाँ 'अय्य' या 'अज्ज' है, 'सूर्य' के स्थान पर 'सुय्य' या 'सुज्ज'। पालि में 'आर्य' के लिए 'अरिय' 'अयिर' या 'अय्य' तो है, परन्तु 'अज्ज' नहीं। सूर्य के लिए केवल 'सुरिय' है, 'सुय्य' या 'सुज्ज' नहीं। इस प्रकार भी शौरसेनी की अपेक्षा पालि के अधिक निकट है। (४) पूर्वकालिक अव्यय में शौरसेनी में 'दूण' प्रत्यय लगता है, यथा 'पठित्वा' के लिए 'पढिदूण'। यह इसी अर्थ में प्रयुक्त पालि 'तून' प्रत्यय के समान है यथा, 'सोतून', 'गन्तून', 'कातून', 'निक्खमितून', 'छड्डून', 'आपुच्छितून' आदि। परन्तु पालि की यह विशेषता केवल शौरसेनी के सदृश ही नहीं है, पैशाची में भी यह पायी जाती है। वहाँ पूर्वकालिक अव्यय में इसी के सदृश 'तून' प्रत्यय लगता है, यथा, 'गन्तून', 'रन्तून', 'हसितून'। 'पेक्ख', 'गच्छिस्सति', 'सक्किति' जैसे रूपों में पालि की शौरसेनी से समानता है। इन समानताओं के विषय में

के साथ हैं, यद्यपि उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि पालि में उत्तर-पश्चिमी तथा अन्य अनेक प्राचीन आर्य बोलियों के तत्त्व भी सम्मिलित हैं। देखिए, उनकी 'दि ऑरीजिन एण्ड डेवेलपमेण्ट ऑव दि बंगाली लैंग्वेज' कलकत्ता यूनिवर्सिटी प्रेस, १९२६, प्रथम भाग, पृष्ठ ५५-५६।

हमें यही कहना है, जैसा ऊपर के उदाहरणों में हम कुछ दिखा भी चुके हैं, कि इनमें बहुत-सी केवल पालि और शौरसेनी में ही नहीं मिलतीं बल्कि अन्य प्राकृतों में भी पायी जाती हैं और कहीं पर पालि शौरसेनी से नहीं भी मिलती, यह भी हमने देखा है। एक भिन्नता यह भी है कि शौरसेनी में वर्तमान काल के प्रथम पुरुष एकवचन के क्रिया रूपों के अन्त में 'दि' आता है, जैसे 'करेदि', 'गच्छेदि' जबकि पालि में ये रूप 'करोति', 'गच्छति' होते हैं। डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने शौरसेनी के साथ पालि की समानताओं पर जोर देते हुए पालि के शौरसेनी आधार को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है और उसे एक पश्चिमी बोली बताने का भी।[1] यह एक अपूर्ण और एकांगी मत ही है। यहाँ यह अनुभव नहीं किया गया कि पालि मगध की भाषा होते हुए भी पश्चिमी बोली या बोलियों के तत्त्वों को ग्रहण कर सकती है।[2]

इसी प्रकार पालि और पैशाची प्राकृत के सम्बन्ध का सवाल है। जैसा हम आगे तीसरे अध्याय में देखेंगे, लामा तारानाथ (चौदहवीं शताब्दी ईसवी) ने बौद्ध धर्म के चार प्रमुख प्राचीन सम्प्रदायों का उल्लेख किया है जिनमें से एक स्थविरवाद के सम्बन्ध में उन्होंने कहा है कि उसका त्रिपिटक 'पैशाची' भाषा में था। इसी प्रकार की बात लामा तारानाथ से पूर्व भारतीय बौद्ध आचार्य विनीत-

---

१. दि ओरीजिन एण्ड डेवेलपमेण्ट ऑव दि बंगाली लैंग्वेज, प्रथम भाग, पृष्ठ ५४-५६ (कलकत्ता यूनीवर्सिटी प्रेस, १९२६)।

२. ध्वन्यात्मक और रूपात्मक दृष्टि से शौरसेनी से अधिक समानता रखते हुए भी पालि मगध की भाषा या मागधी हो सकती है। इसे हम मैथिल कोकिल विद्यापति (चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी) की पदावली की भाषा से सिद्ध कर सकते हैं। विद्यापति के पदों की भाषा मिथिला की लोक-भाषा है, वहाँ की 'देसिल बअना' है, जिसके मागधी से विकसित होने के सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता। भौगोलिक दृष्टि से भी यह स्पष्ट ही है। परन्तु विद्यापति की उक्त भाषा में ल् की जगह र् है, श् की जगह स् है: 'ग्वाल' के लिए वे 'गोआर' कहते हैं, 'शंकर' के लिए 'संकर', 'शिवसिंह' के लिए 'सिव-सिंह'। यह ब्रजभाषा या उसकी पूर्वगामिनी शौरसेनी अपभ्रंश के प्रभाव के कारण है। ऐसा ही पश्चिमी बोली या बोलियों का प्रभाव पालि पर माना जा सकता है जो मूलतः मगध-भाषा थी और बाद में सारे भारत की—मध्यमण्डल की—राष्ट्र-भाषा बनी।

देव (आठवीं शताब्दी ईसवी) ने भी कही थी। इस प्रकार महायान बौद्धधर्म की आचार्य-परम्परा में यह मान्यता दृढ़मूल मिलती है कि स्थविरवादियों का त्रिपिटक पैशाची भाषा में था। परन्तु स्वयं स्थविरवादी आरम्भ से ही मानते आये हैं कि उनका तिपिटक मागधी भाषा में है, जिसे ही बाद में पालि भाषा कह-कर पुकारा गया। ऊपर से विपरीत दिखायी देनेवाली ये दोनों मान्यताएँ वास्तव में एक-दूसरे से उतनी विभिन्न नहीं हैं जितनी वे दिखायी देती हैं और अन्ततः वे दोनों मागधी और पैशाची में पायी जानेवाली समानताओं की ओर ही संकेत करती हैं। अतः इस सन्दर्भ में पालि और पैशाची का सम्बन्ध हमारे लिए और भी अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है और इस सम्बन्ध में (मागधी को भी यहाँ तक कि पूर्वोक्त बातों के सन्दर्भ में शौरसेनी को भी ध्यान में रखते हुए) हम पैशाची प्राकृत के साथ पालि के सम्बन्ध की खोज में लगे बिना नहीं रह सकते।

पैशाची प्राकृत, जैसा हम पहले स्पष्ट कर चुके हैं, केकय और गन्धार प्रदेश की भाषा थी, अर्थात् भारत के उत्तर-पश्चिमी भाग की। प्रथम शताब्दी ईसवी में गुणाढ्य ने अपनी कथात्मक रचना 'वड्डकहा' (जो साधारणतः 'बृह-त्कथा' नाम से जानी जाती है) पैशाची प्राकृत में ही लिखी थी। परन्तु यह रचना आज प्राप्त नहीं है और कदाचित् नष्ट हो चुकी है। हेमचन्द्र के 'सिद्ध हैम शब्दा-नुशासन' उनके ही 'कुमारपालचरित' 'वररुचि', के 'प्राकृत-प्रकाश' और मार्कण्डेय-कृत 'प्राकृत-सर्वस्व' में हमें पैशाची प्राकृत के उदाहरण मिलते हैं।

पालि और पैशाची में पायी जानेवाली मुख्य समानताएँ इस प्रकार हैं—

(१) घोष स्पर्शों (ग्, ज्, द्, ब्) के स्थान पर अघोष स्पर्शों (क्, च्, त्, प्) का हो जाना। यह परिवर्तन आदि और मध्य दोनों ही स्थितियों में पैशाची में देखा जाता है। उदाहरणतः 'मदन' की जगह पैशाची में 'मतन' है, 'देव' की जगह 'तेव' है, 'राजा' की जगह 'राचा' और 'मेघ' की जगह 'मेख'। पालि में इसके रूप क्रमशः 'मदन', 'देव', 'राजा' और 'मेघ' ही बने रहते हैं। परन्तु पालि में ही अन्य शब्दों में 'अजिरवती' के स्थान पर 'अचिरवती' है, 'उपगा' की जगह 'उपक' है और 'आदुमा' की जगह 'आतुमा' है। ये प्रयोग पैशाची की उपर्युक्त वृत्ति के समान हैं। परन्तु ठीक इसके विपरीत प्रवृत्ति भी हमें पालि में मिलती है, अर्थात् अघोष स्पर्शों (क्, च्, त्, प्) का घोष स्पर्शों (ग्, ज्, द्, ब् में परिवर्तित हो जाना) जैसे कि 'शाकल' यहाँ 'सागल' है, 'कचङ्गला' 'कजङ्गला' हो गया है और 'रोच' 'रोज' बन गया है। इस प्रकार के परिवर्तन पैशाची प्राकृत में ढूँढ़ने से भी नहीं मिल सकते। परन्तु मागधी, अर्द्धमागधी और शौरसेनी में इस प्रकार के परिवर्तन मिलते हैं। इस प्रकार उक्त दोनों प्रकार की स्थितियाँ, जो एक-दूसरे

के विपरीत हैं और क्रमशः एक ओर पैशाची प्राकृत की तो दूसरी ओर मागधी, अर्द्धमागधी और शौरसेनी की प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करती हैं, समान रूप से पालि में पायी जाती हैं और उसमें नाना बोलियों के सम्मिश्रण का साक्ष्य देती हैं।

(२) शब्द के मध्य में स्थित व्यञ्जन का सुरक्षित रहना। इस प्रकार संस्कृत और पालि का 'लोक' यहाँ 'लोक' ही है, जबकि शौरसेनी और मागधी दोनों में वह 'लोअ' हो गया है। इसी प्रकार संस्कृत और पालि का 'वचन' पैशाची प्राकृत में 'वचन' ही है, परन्तु शौरसेनी और मागधी में वह 'वअण' हो गया है। इसी प्रकार पालि 'कत' पैशाची में 'कत' ही है जब कि वह शौरसेनी में 'कद' और मागधी में 'कउ' है। इस प्रकार जहाँ तक इस प्रवृत्ति का सम्बन्ध है, पालि और पैशाची की समान अवस्था है, जबकि मागधी और शौरसेनी इससे दूर हैं। (३) कहीं-कहीं शब्दों में संयुक्त वर्णों का विश्लेषण (युक्त-विकर्ष) पाया जाना, जैसे 'मारिय', 'सिनान', 'कसट' आदि शब्दों में, जो पालि और पैशाची प्राकृत में समान रूप वाले हैं। (४) ज्ञ्, ण्य् और 'न्य्' का 'ञ्ञ्' में परिवर्तन होना। जैसे प्रज्ञा से पञ्ञा; कन्यका से कञ्ञका; अभिमन्यु से अभिमञ्ञु। ये रूप पालि और पैशाची में समान हैं। (५) य् का ज् में परिवर्तन न होकर सुरक्षित रहना। उदाहरणतः पैशाची में 'आर्य' का रूप पालि के समान 'अय्य' ही रहता है। जैसा हम ऊपर देख चुके हैं। शौरसेनी में यह 'अय्य' या 'अज्ज' भी होता है। इस प्रकार भी पालि पैशाची के अधिक निकट है, बनिस्बत शौरसेनी के।

(६) पैशाची प्राकृत में प्रत्येक लकार का ळकार हो जाता है। इस प्रकार यहाँ 'शील' की जगह 'सीळ' है, 'कुल' की जगह 'कुळ' है। पालि में यह प्रवृत्ति प्रायः नहीं पायी जाती। 'सील' और 'कुल' ही हैं। परन्तु छुटपुट रूप में कहीं-कहीं उक्त प्रवृत्ति के दर्शन हो जाते हैं जैसे 'नालक'—'नाळक' में एवं 'मुखेलुवन'—'मुखेळुवन' आदि में। परन्तु कुछ विद्वान् तो स्वयं 'पालि' शब्द के लिए 'पाळि' शब्द का प्रयोग करते हैं और इसे ही सही मानते हैं। भाषाशास्त्रीय दृष्टि से 'पाळि' 'पालि' शब्द का पैशाची प्रयोग ही है। (७) अकारान्त पुंल्लिग शब्दों के रूप का प्रथमा एकवचन में ओकारान्त हो जाना। पालि का 'रुक्खो' पैशाची में 'रुक्खो' ही है, जबकि मागधी में वह 'लुक्खे' हो गया है। यह लक्षणीय है कि शौरसेनी में भी वह 'रुक्खो' ही है। अतः यहाँ मागधी की अपेक्षा पैशाची और शौरसेनी के ही अधिक समीप पालि है। (८) धातु-रूपों में समानताएँ। पैशाची प्राकृत में भविष्यत्काल में और विधि लिङ्ग में भी 'एय्य' प्रत्यय लगता है। इस प्रकार यहाँ पालि के 'भविस्सति' 'हेस्सति', 'हेहिस्सति' या 'भवेय्य' के स्थान पर 'हुवेय्य' है। विनय-पिटक के महावग्ग में

उपक आजीवक (जो बुद्धगया के पास नाला नामक गाँव का निवासी था) जब भगवान् के मुख से यह सुनकर कि "मैं जिन हूँ" कुछ अवज्ञापूर्वक 'हुवेय्या वुसो' या 'हुवेय्य पावुसो' "होओगे आयुष्मन् !" कहता है, तो यह निश्चयतः पैशाची भाषा का ही प्रयोग है। हम पहले पालि और शौरसेनी के पारस्परिक सम्बन्ध के विवेचन में देख चुके हैं कि पूर्वकालिक अर्थ में शौरसेनी में 'दूणं' प्रत्यय लगता था और 'पठित्वा' के स्थान पर 'पढिदूण' रूप बनता था। यह प्रवृत्ति पालि में भी कहीं-कहीं पायी जाती है और इसके उदाहरण हम ऊपर दे चुके हैं। पैशाची प्राकृत में भी उक्त प्रवृत्ति पायी जाती है और इसके उदाहरण पठितून', 'गन्तून' जैसे अनेक धातु-रूप हैं। अतः इस दृष्टि से पालि की शौरसेनी और पैशाची, इन दोनों प्राकृतों से ही समानता दिखायी देती है। (९) रकार का लकार में परिवर्तन न होकर सुरक्षित रहना। मागधी और अर्द्धमागधी में रकार का लकार हो जाता है और अशोक के कुछ अभिलेखों में भी। परन्तु पालि और पैशाची में यह (रकार) सुरक्षित है। पालि के कुछ रूपों में ही जैसे 'पारिलेय्यक'-'पालिलेय्यक' आदि में केवल वैकल्पिक रूप से यह परिवर्तन होता है। पालि में 'नेरञ्जरा' शब्द ही आया है परन्तु मूल मागधी भाषा में इसका रूप 'नेलञ्जला' होता और लकार का रकार करके ही 'नेरञ्जरा' रूप बना है और उसे ही पालि में ग्रहण किया गया है, इस प्रकार के धम्मपालाचार्य (उदानट्ठकथा के लेखक) के मत का हम पहले उद्धरण दे ही चुके हैं। इस प्रकार इस दृष्टि से हम देखते हैं कि मागधी और अर्द्ध-मागधी की अपेक्षा पैशाची और शौरसेनी के ही अधिक है समीप पालि।

उपसंहार-स्वरूप हम कह सकते हैं कि पालि की जो भी समानताएँ पैशाची प्राकृत के साथ हैं, वे केवल पैशाची प्राकृत तक ही सीमित नहीं हैं। अन्य प्राकृतों में भी वे पायी जाती हैं। उदाहरणतः 'ञ्'; 'ण्य्' और 'न्य्' की जगह 'ञ्ञ्' मागधी और अन्य प्राकृतों में भी पाया जाता है। 'राज्ञा' से 'रञ्ञा'; 'पुण्य' से 'पुञ्ञ' और 'अन्य' से 'अञ्ञ' जैसे ध्वनि-परिवर्तन पालि, मागधी और पैशाची में समान रूप से पाये जाते हैं। 'तून' प्रत्यय का उल्लेख हम ऊपर कर ही चुके हैं। इसी प्रकार य् का ज् में परिवर्तन न होकर 'य्' ही बने रहना मागधी तथा अन्य प्राकृतों में पाया जाता है। इसी प्रकार अकारान्त शब्दों का ओकारान्त हो जाना केवल पैशाची प्राकृत में ही नहीं, किन्तु सभी पश्चिमी बोलियों में पाया जाता है और संस्कृत के मिथ्या-सादृश्य के आधार पर उद्भूत है। शौरसेनी का उदाहरण हम ऊपर दे ही चुके हैं। इसी प्रकार पालि का धातु-रूप-विधान न केवल पैशाची से ही अपितु सामान्यतः सभी पश्चिमी बोलियों से समानता रखता है। यही हाल

'र्' के पालि में परिवर्तित न होने का है। शौरसेनी आदि पश्चिमी बोलियों में भी ऐसा ही पाया जाता है। पैशाची प्राकृत के सब रूपों में 'र्' सुरक्षित मिलता ही हो, ऐसी भी बात नहीं है। शब्द के मध्य में स्थित व्यंजन का सुरक्षित बने रहना प्राचीनता का लक्षण अवश्य है, किन्तु पैशाची के साथ पालि के घनिष्ठ सम्बन्ध का द्योतक नहीं। घोष स्पर्शों के स्थान पर अघोष स्पर्श हो जाना पालि में यत्र-तत्र ही अनियमित रूप से पाया जाता है और पैशाची में भी यह नियम अनिवार्य नहीं है। फिर भी पैशाची की अपेक्षा पालि में यह बहुत कम है। 'मधुरा' का पैशाची रूप 'मथुरा' है, परन्तु पालि में यह 'मधुरा' ही है। अतः पैशाची प्राकृत के साम्य के आधार पर हम पालि के स्वरूप के सम्बन्ध में कोई निश्चित सिद्धान्त स्थापित नहीं कर सकते। डॉ० नलिनाक्ष दत्त ने पालि के पैशाची आधार को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है[1] परन्तु पालि की विभिन्नरूपता उनके प्रयत्नों पर पानी फेर देती है।

उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि किसी एक प्राकृत या उसके प्राचीन स्वरूप से पालि को सम्बद्ध कर देना कितना एकांगी और भ्रामक सिद्धान्त है। डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या और नलिनाक्ष दत्त के प्रयत्नों को, जो क्रमशः शौरसेनी और पैशाची को पालि का आधार बताना चाहते हैं, डॉ० बड़ुआ ने गाड़ी को घोड़े के आगे कर देने के समान कहा है,[2] जो बिलकुल ठीक ही है। इन प्राकृत भाषाओं का विकास पालि के बाद हुआ है। पालि के सम्बन्ध में वास्तविक तथ्य यही है कि वह एक मिश्रित साहित्यिक भाषा है जिसमें अनेक प्राचीन बोलियों के सम्मिश्रण के चिन्ह मिलते हैं। उसके ध्वनि-समूह का विस्तृत विवरण, प्राकृतों के साथ उसके सम्बन्ध को, जिसे हमने अभी तक अत्यन्त संक्षिप्त रूप से ही निर्दिष्ट किया है, अधिक स्पष्टता से व्यक्त करेगा।

पालि के ध्वनि-समूह का परिचय

पालि के ध्वनि-समूह को समझने के लिए पहले वैदिक और संस्कृत भाषा के ध्वनि-समूह को समझ लेना आवश्यक है। वैदिक ध्वनि-समूह में ५२ ध्वनियाँ थीं, जिनमें १३ स्वर थे और ३९ व्यंजन। इनका वर्गीकरण इस प्रकार है—

१. देखिए, उनकी 'अर्ली हिस्ट्री ऑव दि स्प्रैड ऑव बुद्धिज्म एण्ड दि बुद्धिस्ट स्कूल्स' पृष्ठ २५६ (लन्दन, १९२५)।

२. अशोक एण्ड हिज इन्स्क्रिप्शन्स, द्वितीय भाग, पृष्ठ ६१ (कलकत्ता, १९४६)।

स्वर—

(१) नौ मूल स्वर : अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ,
(२) चार संयुक्त स्वर : ए, ऐ, ओ, औ,

व्यंजन—

(१) सत्ताईस स्पर्श व्यंजन—

कंठ्य	क्, ख्, ग्, घ्, ङ
तालव्य	च्, छ्, ज्, झ्, ञ्
मूर्द्धन्य	—ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्, ळ्, ळ्ह्
दन्त्य	—त्, थ्, द्, ध्, न्
ओष्ठ्य	—प्, फ्, ब्, भ्, म्
(२) चार अन्तःस्थ	—य्, र्, ल्, व्
(३) तीन ऊष्म	—श्, ष्, स्
(४) प्राणध्वनि	—ह्
(५) अनुस्वार	
(६) तीन अघोष ऊष्म	
	विसर्जनीय या विसर्गः
	जिह्वामूलीय[1]
	उपध्मानीय[2]

वैदिक ध्वनि-समूह ही प्रायः संस्कृत में उपलब्ध होता है। कुछ विशेष परिवर्तन इस प्रकार हैं—(१) ळ् ळ्ह, जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय ध्वनियों का प्रयोग संस्कृत में नहीं मिलता। (२) कुछ स्वरों और व्यंजनों के उच्चारणों में भी परिवर्तन हुआ है। इस पृष्ठभूमि को ध्यान में रखकर अब हम पालि के ध्वनि-समूह पर विचार करें। पालि में ४३ ध्वनियाँ हैं, जिनमें १० स्वर हैं और ३३ व्यंजन। इनका वर्गीकरण इस प्रकार है—

स्वर

अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ह्रस्व, ए, ए, ह्रस्व ओ, ओ

---

१. क् से पहले आनेवाला विसर्ग। 'ततः किं' में विसर्ग की ध्वनि इसका उदाहरण है।
२. 'प्' से पहले आनेवाला विसर्ग। 'पुनः पुनः' में प्रथम विसर्ग की ध्वनि इसका उदाहरण है।

व्यंजन

कंठ्य	—क्, ख्, ग्, घ्, ङ
तालव्य	—च्, छ्, ज्, झ्, ञ्
मूर्द्धन्य	—ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्
दन्त्य	—त्, थ्, द्, ध, न्
ओष्ठ्य	—प्, फ्, ब्, भ्, म्
अन्तःस्थ	—य्, र्, ल्, व्
ऊष्म	—स्
प्राणध्वनि	—ह्
अनुस्वार	—अं (जिसे पालि में 'निग्गहीत' कहते हैं)

संस्कृत से मिलान करने पर उपर्युक्त पालि ध्वनि-समूह में ये विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं–(१) ऋ, ॠ, ऌ, ऐ, औ स्वरों का प्रयोग पालि भाषा में नहीं मिलता। (२) पालि में दो नये स्वर ह्रस्व ए और ह्रस्व ओ मिलते हैं। (३) विसर्ग पालि में नहीं मिलता। (४) श्, ष् पालि में नहीं मिलते। (५) 'ळ्' व्यंजन का प्रयोग पालि में होता है, संस्कृत में नहीं। मिथ्या-सादृश्य के कारण 'ळ्' का प्रयोग 'ल्' के स्थान पर भी देखा जाता है। (६) स्वतंत्र स्थिति में 'ह्' प्राणध्वनि व्यंजन है, किन्तु य्, र्, ल्, व् या अनुनासिक से संयुक्त होने पर इसका उच्चारण एक विशेष प्रकार से होता है, जिसे पालि वैयाकरणों ने 'ओरस' या 'हृदय से उत्पन्न' कहा है। इस संक्षिप्त निर्देश के बाद अब उन ध्वनि-परिवर्तनों का उल्लेख करना आवश्यक होगा, जो संस्कृत की तुलना में पालि में होते हैं। पहले हम स्वर-परिवर्तनों को लेंगे, बाद में व्यंजन-सम्बन्धी परिवर्तनों को। स्वर-परिवर्तनों में भी क्रमशः ह्रस्व स्वर, दीर्घ स्वर, संयुक्त स्वर, विसर्ग आदि का विवेचन किया जायगा। इसी प्रकार व्यंजन-सम्बन्धी परिवर्तनों में असंयुक्त और संयुक्त व्यंजनों की दृष्टि से शब्द में उनकी स्थिति के अनुसार विवेचन करेंगे, यथा आदि-व्यंजन, मध्य-व्यंजन और अन्त्य-व्यंजन। इसके साथ ही स्वर और व्यंजन-सम्बन्धी कुछ विशेष ध्वनि-परिवर्तनों का दिग्दर्शन करना भी आवश्यक होगा।

स्वर-परिवर्तन

ह्रस्व स्वर (अ, इ, उ, ए, ओ)

(१) साधारणतया संस्कृत ह्रस्व स्वर अ, इ, उ, पालि (एवं प्राकृतों) में सुरक्षित रहते हैं।

उदाहरण—

संस्कृत	पालि	
वधूः	वधू	(प्राकृत बहू)
अग्नि	अग्गि	प्राकृत में पालि के समान ही रूप
अर्थ	अट्ठ	
प्रिय	पिय	
मुखम्	मुखं	(प्राकृत मुहं)

(२) यदि संस्कृत में अ संयुक्त व्यंजन से पहले होता है, तो पालि में उसका कहीं-कहीं ए (ह्रस्व ए) हो जाता है।

उदाहरण—

संस्कृत	पालि
फल्गु (सारहीन)	फेग्गु
शय्या	सेय्या (प्राकृत सेज्जा)

(३) इकारान्त और उकारान्त पालि शब्दों के रूपों में विभक्त्यन्त इकार और उकार दीर्घ होकर क्रमशः ईकार और ऊकार हो जाता है, यथा ईहि, ऊहि, ईसु, ऊसु। इस प्रकार 'अग्गि' (अग्नि) और 'भिक्खु' (भिक्षु) शब्दों के रूपों में क्रमशः अग्गीहि, भिक्खूहि (तृतीया बहुवचन) एवं अग्गीसु, भिक्खूसु, (सप्तमी बहुवचन) रूप होते हैं।

(४) यदि संस्कृत में इ और उ संयुक्त व्यंजन से पहले होते हैं, तो पालि में वे क्रमशः ए और ओ (ह्रस्व ए और ह्रस्व ओ) हो जाते हैं।

उदाहरण—

संस्कृत	पालि
विष्णु	वेण्हु (कहीं-कहीं विण्हु भी)
निष्क	नेक्ख
उष्ट्र	ओट्ठ
उल्कामुख	ओक्कामुख
पुष्कर	पोक्खर

(५) संस्कृत में जहाँ संयुक्त व्यंजन से पहले दीर्घ स्वर होते हैं, वहाँ पालि में उनका रूप ह्रस्व हो जाता है, यह पालि भाषा का एक प्रसिद्ध नियम है, जिसका

विवेचन हम दीर्घ स्वरों के परिवर्तन का विवरण देते समय आगे करेंगे। यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि इस नियम के कारण संस्कृत के ए, ऐ तथा ओ, औ, जब संयुक्त व्यंजनों से पहले आते हैं तो पालि में उनके रूप क्रमशः ह्रस्व ए तथा ह्रस्व ओ हो जाते हैं। उदाहरण—

श्लेष्मन	सेम्ह
चैत्य	चेतिय
ओष्ठ	ओट्ठ
मौर्य	मोरिय

(६) जब उपर्युक्त स्वर संयुक्त व्यंजनों से पहले न आकर अ-संयुक्त व्यंजनों के भी पहले आते हैं तो भी पालि में उनका परिवर्तन उपर्युक्त ह्रस्व स्वरूपों में ही हो जाता है, किन्तु प्राकृत में, कभी-कभी, वैकल्पिक रूप से, उनके आगे आने वाला व्यंजन संयुक्त हो जाता है। उदाहरण—

एक—पालि में 'एकं' ही, परन्तु प्राकृत में 'एकं' के साथ-साथ 'एक्कं' भी।

एवम्—पालि में 'एवं' ही, परन्तु प्राकृत में 'एवं' के साथ-साथ 'एव्वं' भी।

ऋ और लृ के पालि प्रतिरूप

(अ) ऋ का परिवर्तन पालि में त्रिविध होता है। कहीं अ, कहीं इ, कहीं उ। समीपी ध्वनियों पर यह अधिक निर्भर करता है कि कब क्या परिवर्तन हो। ओष्ठ्य अक्षरों के बाद अक्सर उ होता है। फिर भी प्रयोगों के अनुसार विविधता पायी जाती है, जिसे नियमों में नहीं बाँधा जा सकता। ऋ का परिवर्तन बहुत प्राचीन है। ऋग्वेद में भी यह पाया जाता है। विद्वानों का अनुमान है कि संस्कृत 'अवट' शब्द पहले 'अवृत' था। 'विकट' और 'विकृत' शब्द दोनों साथ-साथ ऋग्वेद में मिलते हैं। यास्क भी इस तथ्य से अवगत हैं। उन्होंने 'कुटस्य', 'कृतस्य' जैसे समानार्थवाची शब्दों के उदाहरण दिये हैं। उत्तरकालीन युग में इस परिवर्तन की मुख्यतः दो प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। प्रथम में ऋ का परिवर्तित स्वरूप 'अ' हो जाता है और दूसरी में 'इ' या 'उ'। प्रथम प्रवृत्ति के परिचायक सामान्यतः पालि, अशोक के गिरनार-शिलालेख, महाराष्ट्री प्राकृत एवं अर्द्धमागधी प्राकृत हैं। दूसरी प्रवृत्ति के परिचायक विशेषतः अशोक के पूर्व और उत्तर-पश्चिम के शिलालेख एवं शौरसेनी प्राकृत हैं।

उदाहरण—

(१) ऋ की जगह 'अ' हो जाता है—

संस्कृत	पालि
ऋक्ष	अच्छ
वृक	वक
हृदय	हदय
दृढ़	दळ्ह (गिरनार शिलालेख)
मृग	मग (गिरनार शिलालेख)

(२) ऋ की जगह 'इ' हो जाता है—

ऋषि	इसि
कृत	कित (अशोक पालि) (शौरसेनी किड)
मृत	मित (अशोक पालि) (शौरसेनी मुद)
ऋक्ष	इक्क
ऋण	इण
वृश्चिक	विच्छिक

(३) ऋ की जगह 'उ' हो जाता है—

ऋतु	उतु
ऋजु	उजु या उज्जु
ऋषभ	उसभ
पृच्छति	पुच्छति
मृणाल	मुळाल

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि ऋ के पालि प्रतिरूपों में अनेक विभिन्नताएँ हैं। कहीं-कहीं एक ही शब्द के दो परिवर्तित स्वरूप दृष्टिगोचर होते हैं। जैसे 'कृत' से 'कत' और 'कित'; 'मृत' से 'मत' और 'मित'; 'ऋक्ष' से 'अच्छ' और 'इक्क'। कहीं-कहीं इस प्रकार के समान प्रयोगों में अर्थ की कुछ भिन्नता भी हो गयी है, यथा 'वड्ढि' और 'बुद्धि' ('वुड्ढि' भी) दोनों सं० 'वृद्धि' के ही परिवर्तित स्वरूप हैं, किन्तु प्रथम का प्रयोग होता है वृद्धि, लाभ का ब्याज के अर्थ में और दूसरे का वृद्धि, विकास, वैपुल्य या उन्नति के अर्थ में। इसी प्रकार 'मृग' के दो परिवर्तित

रूप 'मग' और 'मिग' हैं। 'मग' का प्रयोग होता है सामान्य पशु मात्र के लिए, किन्तु 'मिग' का केवल हिरन के लिए। अन्य भी अनेक विचित्रताएँ हैं। 'ऋण' का पालि में 'इण' होता है, किन्तु 'स-ऋण' के लिए 'स+इण' न होकर 'स+अण' अर्थात् 'साण' होता है। इसी प्रकार 'अनण' होता है, 'अनिण' नहीं। सम्भवतः यह परिवर्तन स्वर-अनुरूपता के कारण है। 'पितृ' और 'मातृ' शब्दों के परिवर्तन एक जगह तो 'पितिपक्खतो', 'मातिपक्खतो' इस प्रकार होते हैं, किन्तु दूसरी जगह 'पितुघातक', 'मातुघातक' इस प्रकार होते हैं। 'पृथिवी' शब्द के पालि प्रतिरूप तो और भी अधिक आश्चर्यमय हैं—पथवी, पठवी, पुथवी, पुथुवी, पुठुवी।[1] ये सब पालि के भिन्नतामयी लोक-भाषा होने के साक्षी हैं।

(४) कहीं-कहीं ऋ व्यंजन भी हो जाता है—

संस्कृत	पालि
बृंहयति	ब्रूहेति
वृक्ष	रुक्ख
प्रावृत	पारुत
अपावृत	अपारुत

(आ) 'ऌ' का 'उ' हो जाता है—

संस्कृत	पालि
क्लृप्त	कुत्त
क्लृप्ति	कुत्ति

दीर्घ स्वर (आ, ई, ऊ)

(१) पद के अन्त में या संयुक्त व्यंजन के पूर्व की स्थिति को छोड़कर संस्कृत दीर्घ स्वर पालि में प्रायः सुरक्षित रहते हैं।

---

१. प्राकृत में पुढवी, पुहवी, पुहुवी, पुहुई, पुहई। इनमें से प्राकृत रूप 'पुहवी' विद्यापति की भाषा में भी पाया जाता है "चम्पके कएल पुहुवि निर मान।" अपभ्रंश या पुरानी हिन्दी (अवहट्ट) में होता हुआ यही 'पुहुमी' के रूप में गोस्वामी तुलसीदास तक आया है—"तुलसी परबस हाड़ पर परिहै पुहुमी नीर" (दोहावली)।

उदाहरण—

संस्कृत	पालि
काल	काल
प्रहीण	पहीण
क्षीरं	खीरं
मूल	मूल या मूळ

(२) पद के अन्त में जहाँ संस्कृत में दीर्घ स्वर होते हैं, पालि में वे ह्रस्व कर दिये जाते हैं।

उदाहरण—

देवानां	देवानं
गणनायां	गणनायं
नदीं	नदिं

(३) संयुक्त व्यंजन से पूर्व संस्कृत में दीर्घ स्वर होने पर पालि में उसका प्रतिरूप ह्रस्व हो जाता है और उसके बाद भी संयुक्त व्यंजन रहता है। इसका सीधा अभिप्राय यह है कि संयुक्त व्यंजन में से पूर्व ह्रस्व स्वर का ही प्रयोग पालि में हो सकता है।

उदाहरण—

जीर्ण	जिण्ण
मार्दवं	मद्दवं
तीर्थं	तित्थं

(४) संयुक्त व्यंजन से पूर्व संस्कृत में दीर्घ स्वर रहने पर कभी-कभी पालि में उसका प्रतिरूप भी दीर्घ ही बना रहता है और इस दशा में संयुक्त व्यंजन असंयुक्त हो जाता है। इसका भी सीधा अभिप्राय यह है कि दीर्घ स्वर केवल असंयुक्त व्यंजन से पूर्व ही पालि में आ सकता है।

उदाहरण—

लाक्षा	लाखा
दीर्घ	दीघ

ए और ओ रहने पर संयुक्त व्यंजन विकल्प से असंयुक्त होता है, अर्थात् कहीं-कहीं वह असंयक्त होता है और कहीं-कहीं नहीं भी।

उदाहरण—

अपेक्षा	अपेखा, अपेक्खा भी
उपेक्षा	उपेखा, उपेक्खा भी
विमोक्ष	विमोख, विमोक्ख भी

उपर्युक्त (३) और (४) ध्वनि-परिवर्तनों के आधार पर प्रसिद्ध जर्मन भाषा-तत्त्वविद् डॉ० गायगर ने एक नियम खोज निकाला है। इस नियम का नाम 'ह्रस्व मात्रा-काल का नियम' या 'लघ्वक्षरोच्चारण-काल का नियम' (दि लॉ ऑव मोरा) है। इस नियम के अनुसार पालि में प्रत्येक शब्दांश के आरम्भ में या तो (१) ह्रस्व स्वर हो सकता है (एक ह्रस्व मात्रा-काल), या (२) दीर्घ स्वर हो सकता है (दो ह्रस्व मात्रा-काल), या (३) उसके अन्त में ह्रस्व स्वर हो सकता है (दो ह्रस्व मात्रा-काल)। इस प्रकार किसी भी शब्दांश में दो से अधिक ह्रस्व मात्रा-काल या लघ्वक्षरोच्चारण-काल नहीं हो सकते। दीर्घ सानुनासिक स्वर पालि में नहीं हो सकते। इस नियम के आधार पर ही उपर्युक्त (३) व (४) ध्वनि-परिवर्तनों की सिद्धि डॉ० गायगर ने की है। इस नियम के अनुसार अन्य परिवर्तनों का भी उन्होंने उल्लेख किया है, जो इस प्रकार है—

(१) जहाँ संस्कृत में संयुक्त व्यंजन से पहले ह्रस्व स्वर होता है, वहाँ पालि में साधारण व्यंजन से पहले दीर्घ स्वर हो जाता है।

उदाहरण—

सर्षप (सरसों)	सस्सप के बजाय सासप
वल्क (छाल)	वक्क के बजाय वाक
निर्याति (बाहर चला जाता है)	नीयाति

(२) जहाँ साधारण व्यंजन से पूर्व संस्कृत में दीर्घ स्वर होता है, वहाँ पालि में संयुक्त व्यंजन से पूर्व ह्रस्व स्वर होता है। उदाहरण—

आबृहति	अब्बहति
नीड	निड्ड (नेड्ड भी)
उदूखल	उदुक्खल
कूवर	कुब्बर

(३) जहाँ उपर्युक्त नियम (१) के अनुसार संस्कृत में संयुक्त व्यंजन से पहले (ह्रस्व) स्वर होने पर पालि में उसका साधारण व्यंजन से पहले दीर्घ स्वर हो जाता है, वहाँ इस नियम के अनुसार कहीं-कहीं उसके दीर्घ

स्वर के स्थान पर सानुनासिक ह्रस्व स्वर भी हो जाता है। इस नियम का कारण यह है कि ह्रस्व सानुनासिक स्वर में भी दीर्घ स्वर के समान दो ह्रस्व मात्रा-काल होते हैं।

उदाहरण—

मत्कुण	माकुण के बजाय मंकुण
शर्वरी	सावरी (सब्बरी) के बजाय संवरी
शुल्क	सूक (सुक्क) के बजाय सुंक

(४) उपर्युक्त नियम का विपर्यय भी देखा जाता है, अर्थात् संस्कृत अनुनासिक ह्रस्व स्वर का परिवर्तन पालि में दीर्घ स्वर भी हो जाता है।

सिंह	सीह
विंशति	वीसति, वीसं

(५) कभी-कभी संस्कृत में संयुक्त व्यंजन से पूर्व आनेवाला दीर्घ स्वर पालि में भी बना रहता है। ऐसा अधिकतर सन्धियों में होता है, जैसे साज्ज= सा+अज्ज; यथाज्झासयेन=यथा+अज्झासयेन आदि।

(६) पालि में स्वर-भक्ति का प्रयोग प्रचुरता से मिलता है। इसका विवेचन हम आगे करेंगे। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि जब स्वर-भक्ति के कारण संयुक्त व्यंजन असंयुक्त किये जाते हैं, तो संयुक्त व्यंजन से पहले आनेवाला दीर्घ स्वर पालि में ह्रस्व कर दिया जाता है।

उदाहरण—

सूर्य	सुरिय
प्रकीर्य	पकिरिय
मौर्य	मोरिय
चैत्य	चेतिय

(७) विवृत स्वर ई और ऊ पालि में क्रमश. ए और ओ हो जाते हैं।

उदाहरण—

ईदृश्	एदिस (एरिस)
ईदृक्षा	एदिसक
जम्बूनद	जम्बोनद

संयुक्त स्वर (ए, ऐ, ओ, औ) और उनके पालि प्रतिरूप

ए और ओ पालि में ह्रस्व और दीर्घ दोनों ही हैं। ह्रस्व ए और ह्रस्व ओ का विवेचन हम पहले कर चुके हैं। दीर्घ ए और दीर्घ ओ भी पालि में पाये जाते हैं।[1]

(१) पालि में ए और ओ का आगमन संस्कृत संयुक्त स्वरों ऐ और औ से हुआ है।[1]

ऐरावण	एरावण
मैत्री	मेत्ता
वै	वे
औरस	ओरस
पौर	पोर

(२) कभी-कभी ए, ऐ तथा ओ औ संस्कृत में संयुक्त व्यंजनों से पहले आने पर, पालि में लघु होकर क्रमशः इ और उ रह जाते हैं। उदाहरण—

प्रतिवेश्यक	पटिविस्सक
प्रसेवक	पसिब्बक
ऐश्वर्य	इस्सरिय
सैन्धव	सिन्धव
श्रोष्यामि	सुस्सं
औत्सुक्य	उस्सुक
क्षौद्र	खुद्द (शहद)
रौद्र	लूद्द

विसर्ग

पालि में आते-आते विसर्ग का लोप हो गया है। प्राकृतों में भी वह नहीं मिलता। इसका परिवर्तन प्रायः तीन प्रकार से हुआ है।

(१) शब्द के मध्यस्थित विसर्ग का समावेश उसके आगे आनेवाले व्यंजन में हो गया; जैसे

---

१. सं० अय से पालि ए; अव से ओ; आव से ओ; अयि, आयि, अवि से ए; इन परिवर्तनों के लिए देखिए आगे अक्षर-संकोच का विवरण।

दुःखं	दुक्खं
दुःसह	दुस्सहो
निःशोक	निस्सोको

(१) अकारान्त शब्दों के परे विसर्ग का ओ हो गया।

देवः	देवो
कः	को

(३) इकारान्त तथा उकारान्त शब्दों के परे विसर्ग का लोप हो गया।

अग्निः	अग्गि
धेनुः	धेनु

स्वर-अनुरूपता अर्थात् एक स्वर का दूसरे समीपवर्ती स्वर के अनुरूप हो जाना

समीपवर्ती स्वरों का प्रभाव पालि में दूसरे स्वरों पर भी पड़ता है। इस प्रकार पालि में हम 'स्वर-अनुरूपता' का आरम्भ देखते हैं। समीपवर्ती स्वरों के कारण स्वर-विपर्यय के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

(अ) पूर्ववर्ती स्वर का परवर्ती स्वर के अनुरूप हो जाना—

(१) संस्कृत में 'इ' के बाद जहाँ 'उ' होता है, तो पालि में 'इ' की जगह भी 'उ' हो जाता है—

इषु	उसु
इक्षु	उच्छु (अर्द्धमागधी में इक्खु)
शिशु	सुसु

(२) अ के बाद जहाँ संस्कृत में उ या ऊ होता है, तो पालि में अ की जगह भी उ हो जाता है।

समुद्‌ग	सुमुग्ग
असूया	उसूया (असुय्या भी)

(३) अ के बाद जहाँ संस्कृत में इ या ई होता है, तो पालि में अ की जगह भी इ हो जाता है।

तमिस्रा	तिमिस्सा
सरीसृप	सिरिंसप

(आ) परवर्ती स्वर का पूर्ववर्ती स्वर के अनुरूप हो जाना।

(१) उ के बाद जहाँ संस्कृत में अ होता है, तो पालि में अ की जगह भी उ हो जाता है।

कुरंग	कुरुंग
उदंक	उळुंक

(२) अ या आ के बाद जहाँ संस्कृत में इ होता है, तो पालि में इ की जगह भी अ हो जाता है।

अलिंजर	अरंजर
काकिणिका	काकणिका
पुष्करिणी	पोक्खरणी

(३) अ या आ के बाद जहाँ संस्कृत में उ होता है, तो पालि में उ की जगह भी अ हो जाता है।

आयुष्मान्	आयस्मा
शष्कुली	सक्खली (सक्खलिका)

(४) इ के बाद जहाँ संस्कृत में अ होता है, तो पालि में अ की जगह भी इ हो जाती हैं।

शृंगवेर	सिंगिवेर
विषण्ण	निसिन्न

समीपवर्ती व्यंजनों का स्वरों पर प्रभाव

(१) ओष्ठ्य व्यंजनों के समीप विशेषतः उ आता है।

संमार्जनी	सम्मुज्जनी (कहीं-कहीं सम्मज्जनी भी)
मतिमान्	मुतीमा

(२) मूर्द्धन्य व्यंजनों के समीप विशेषतः इ आता है।

मज्जा	मिञ्जा
जुगुप्सते	जिगुच्छति

स्वराघात के कारण स्वर-परिवर्तन

पालि में स्वराघात का क्या स्वरूप था, इसका निर्णय अभी नहीं हो सका है। किन्तु यह निश्चित है कि प्राचीन भारतीय आर्य-भाषा-काल के बाद ही स्वराघात के चिन्ह को लगाने का प्रयोग उठ गया था। जेकोबी और गायगर का मत है कि पालि में स्वराघात का वही रूप था, जो संस्कृत में। यह तथ्य नीचे लिखे परिवर्तनों से स्पष्ट होता है।

(१) तीन-चार अक्षरों के शब्द में, जिसमें संस्कृत के साक्ष्य पर प्रथम अक्षर में स्वराघात होता था, स्वराघात वाले अक्षर के बाद के अक्षर में अर्थात् दूसरे अक्षर में पालि में स्वर-परिवर्तन पाया जाता है।

(अ) स्वराघात वाले अक्षर के बाद अ का इ हो जाता है—

चन्द्रमा	चन्दिमा
चरम	चरिम
परम	परिम
पुत्रमान्	पुत्तिमा
मध्यम	मज्झिम
अहंकार	अहिंकार (अहंकार भी)

(आ) स्वराघात वाले अक्षर के बाद अ का उ भी हो जाता है—

नवति	नवुति
प्रावरण	पापुरण
सम्मति (संवृति भी)	सम्मुति

(इ) कभी-कभी स्वराघात वाले अक्षर के बाद इ का उ और उ का इ हो जाता है—

राजिल	राजुल
गैरिक	गेरुक
प्रसित	पसुत
मृदुता	मुदिता (मुदुता भी)

(२) स्वराघात वाले अक्षर के बाद आने पर अनुदात्त लघु स्वर कभी-कभी लुप्त भी कर दिये जाते हैं।

उदक	ओक[1]
अगार	अग्ग[2]

(३) स्वराघात के प्रभाव के कारण ही अनुदात्त अन्त्य अक्षर ह्रस्व कर दिये जाते हैं। इस प्रकार 'ओ' का 'उ' हो जाता है—

असौ	असु (प्रथम 'असो' हुआ; मागधी में यही रूप)
उताहो	उदाहु
सद्यः	सज्जु (प्रथम 'सज्जो' हुआ)

(४) कहीं-कहीं शब्द का दूसरा दीर्घ अक्षर ह्रस्व कर दिया जाता है। यह परिवर्तन पालि में स्वराघात के दूसरे अक्षर से हटाकर प्रथम अक्षर पर कर देने से होता है।

अलीक	अलिक
गृहीत	गहित
पानीय	पानिय (अर्द्धमागधी पाणिय, पाणिअ)
बोधिपक्षीय	बोधिपक्खिय
भागीय	भागिय

(५) कहीं-कहीं प्रथम अक्षर के स्वर को दीर्घ कर दिया जाता है। यह परिवन भी उस अक्षर पर स्वराघात कर देने के कारण होता है।

---

१. पालि में 'ओक' शब्द का प्रयोग 'उदक' के संकुचित रूप में भी होता है और 'निकेत' या 'आलय' के अर्थ में भी। 'ओकपुण्णेहि चीवरेहि' (विनय-पिटक—महावग्ग—कठिनकबन्धक) में 'ओक' का अर्थ 'उदक' है। परन्तु 'ओकं पहाय अनिकेतसारी' (हालिद्दिकानि सुत्त—संयुत्त-निकाय) में 'ओक', 'निकेत' या 'आलय' के अर्थ में आया है। "ओकमोकतो" (धम्मपद ३।२) में 'उदक' और 'निकेत' या 'आलय', ये दोनों अर्थ समाविष्ट हैं, जिसके विशदीकरण के लिए देखिए 'धम्मपदट्ठकथा' में उपर्युक्त गाथा-भाग की व्याख्या।

२. यह परिवर्तन प्रायः उसी अवस्था में होता है जब कि 'अगार' शब्द समास के अन्तिम पद के रूप में हो। उदाहरणतः दानागार का संक्षिप्त रूप 'दानग्ग' है। इसी प्रकार भत्तागार=भत्तग्ग; उपोसथागार=उपोसथग्ग; सलाकागार=सलाकग्ग।

अजिर	आजिर
अलिन्द	आलिन्द
अरोग	आरोग (अरोग भी)

सम्प्रसारण और अक्षर-संकोच

(अ) सम्प्रसारण—

(१) उदात्त 'य' का 'ई' हो जाता है—

स्त्यान	थीन
द्व्यह	द्वीह
त्र्यह	तीह
व्यतिवृत्त	वीतिवत्त

कहीं-कहीं 'य' सुरक्षित भी रहता है।

व्यसन	व्यसन
व्याघ	व्याघ

(२) सम्प्रसारण के कारण ही कहीं-कहीं 'व' का 'ऊ' हो जाता है।

श्वन्	सून

यदि 'व' संस्कृत में संयुक्त व्यंजनों से पहले है, तो पालि में उसका रूप ऊ न होकर पहले उ होता है और फिर ओ में सम्प्रसारण—

स्वस्ति	सुवत्थि—सोत्थि
स्वप्न	सुपिन—सोप्प

असंयुक्त व्यंजनों से पहले 'व' होने पर 'ऊ' की जगह ओ होता है—

श्वपाक	सोपाक (अर्द्धमागधी सोवाग)

(३) कुछ सम्प्रसारण विचित्र भी होते हैं, जैसे सं० 'द्वेष' और 'दोष' दोनों के प्रतिरूप पालि में 'दोस' में मिल गये हैं।

(आ) अक्षर-संकोच

(१) अय और अव क्रमशः ए और ओ हो जाते हैं। बीच में स्वराघात के कारण क्रमशः अयि, ऐ, अवु, औ की अवस्थाओं में होकर ये परिवर्तन होते हैं, ऐसा कहा जा सकता है।

जयति	जेति (जयति भी)
अध्ययन	अज्झेन
मोचयति	मोचेति
कथयति	कथेति
अवधि	ओधि
प्रवण	पोण
लवण	लोण

(२) अय और आय का आ हो जाता है।

प्रतिसंलयन	पटिसल्लान
स्वस्त्ययन	सोत्थान
कात्यायन	कच्चान (कच्चायन भी)
मौद्गल्यायन	मोग्गल्लान (मोग्गल्लायन भी)

(३) आव का ओ हो जाता है।

अतिधावन	अतिधोन

(४) अवा का आ हो जाता है।

यवागू	यागु

(५) अयि और अवि ए हो जाते हैं—

आश्चर्य	अच्छयिर, अच्छरिय से होकर अच्छेर
आचार्य	आचरिय-आचेर
मात्सर्य	मच्छेर
स्थविर	थेर

(६) प्राकृतों के समान पालि में भी कहीं-कहीं उप और अप उपसर्ग क्रमशः उव और अव स्वरूपों में होकर ऊ और ओ हो जाते हैं।

उपहदति	ऊहादेति
अपवरक	ओवरक
अपत्रप	ओत्तप्प

(७) कहीं-कहीं अनियमित अक्षर-संकोच भी दिखाई पड़ते हैं।

मयूर	मोर (मयूर भी)

स्वर-भक्ति के कारण स्वरागम

पालि में स्वरागम अधिकतर शब्द के मध्य में होता है। स्त्री से इत्थी; स्मयते से उम्हयति, उम्हयते जैसे शब्द अपवाद हैं। शब्द के मध्य में स्थित केवल उन्हीं संयुक्त व्यंजनों के बीच में स्वर का आगमन होता है, जिनमें य्, र्, ल्, व्, में से कोई एक व्यंजन हो या जो सानुनासिक हो। 'कष्ट' जैसे शब्द का 'कसट' रूप होना एक अपवाद है। यह पालि में पाया जानेवाला पैशाची प्राकृत का प्रयोग है। इसकी व्याख्या हम पहले कर चुके हैं। पालि में पाये जानेवाले कुछ स्वरागम इस प्रकार हैं--

(अ) इ का आगमन, जो पालि में अधिकता से होता है।

(१) संयुक्त व्यंजन 'र्य्' में

ईर्यते	इरियति
मर्यादा	मरियादा

(२) ऐसे संयुक्त-व्यंजनों में, जिनमें एक य् हो

कालुष्य	कालुसिय
ज्या	जिया
ह्यः	हिय्यो
	(अर्द्धमागधी हिज्जो)

(३) ऐसे संयुक्त व्यंजनों में, जिनमें एक ल् हो

प्लक्ष	पिलक्ख (पिलखन का पेड़)
ह्लाद	हिलाद

(४) ऐसे संयुक्त व्यंजनों में, जिनमें एक र् हो

वज्र	वजिर

(५) सानुनासिक संयुक्त व्यंजनों में,

स्नेह	सिनेह
तृष्णा	तसिणा

निम्नलिखित अपवाद भी हैं,

कृष्ण	कण्ह
नग्न	नग्ग

(आ) अ का आगमन;

प्रायः ऐसे संयुक्त व्यंजनों के मध्य में होता है, जिनके पूर्व और पश्चात् अ स्वर हो।

गर्हा	गरहा
गर्हति	गरहति

(इ) उ का आगमन,

प्रायः म् और व् से पूर्व होता है,

ऊष्मन्	उसुमा
सूक्ष्म	सुखुम
द्वे	दुवे

छन्द और समास के कारण स्वरों के मात्रा-काल में परिवर्तन

(अ) छन्द की आवश्यकता के कारण

(१) कहीं-कहीं ह्रस्व स्वर का दीर्घ कर दिया जाता है, जैसे 'नदति' की जगह गाथा में लय को ठीक करने के लिए 'सीहो व नदती वने' में कर दिया गया है। 'सतिमती' से 'सतीमती', 'तुरियं' से 'तूरियं' आदि परिवर्तन भी इसी प्रकार कर दिये जाते हैं।

(२) कहीं-कहीं दीर्घ स्वर को ह्रस्व कर दिया जाता है, जैसे भुम्मानि वा यानि व अन्तलिक्खे'। यहाँ 'व' की जगह 'वा' होना चाहिए था। किन्तु छन्द की गति के लिए उसे ह्रस्व कर दिया गया है। इसी प्रकार 'पच्चनीका' से 'पच्चनिका' जैसे प्रयोग भी छन्द में कर दिये जाते हैं।

(३) सानुनासिक स्वरों को अननुनासिक कर दिया जाता है, जैसे 'दीघमद्धान सोचति' में। यहाँ वैसे 'दीघमद्धानं' होना चाहिए था। इसी प्रकार 'जीवन्तो' से 'जीवतो' जैसे प्रयोग भी दिखायी देते हैं।

(४) संयुक्त व्यंजनों को सरल बनाकर उनमें से केवल एक रख लिया जाता है, जैसे 'दुक्खं' से 'दुखं'। यह भी ह्रस्व कर देने के समान ही है।

(आ) समास में होनेवाले स्वर-परिवर्तन

(१) समास के प्रथम पद के अन्त में होने पर ह्रस्व स्वर बहुधा दीर्घ कर दिया जाता है, जैसे सखिभाव से सखीभाव; अप्पमत्त से अप्पामत्त; रजपथ से रजापथ। उपसर्ग-युक्त शब्दों में भी यह स्वरों को दीर्घ करने की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर

होती है, जैसे सं० प्रवचन से पालि पावचन (अर्द्धमागधी पावयन); प्रकट से पालि पाकट (अर्द्धमागधी पागड)।

(२) जब समास के प्रथम पद में आकारान्त, ईकारान्त या ऊकारान्त शब्द होते हैं, तो इनको ह्रस्व कर दिया जाता है, जैसे दासिगण (दासी+गण); उपाहनदान (उपाहना+दान)।

कुछ विचित्र स्वर-परिवर्तन

(१) एक ही सं० शब्द 'पुनः' के पालि में दो रूप-परिवर्तन हैं। 'पुन' और 'पन'। किन्तु इन दोनों के अर्थ भिन्न-भिन्न हैं। 'पुन' का अर्थ तो सं० 'पुनः' के समान ही है, किन्तु 'पन' का अर्थ है 'किन्तु', 'प्रत्युत'।

(२) कहीं-कहीं पालि के स्वर-परिवर्तन संस्कृत की अपेक्षा अधिक प्राचीन हैं। इस प्रकार पालि का 'गरु' शब्द समानार्थवाची संस्कृत 'गुरु' शब्द से अधिक प्राचीन है। इसी प्रकार संस्कृत अगुरु' की अपेक्षा समानार्थवाची पालि शब्द 'अगरु', 'अगलु' या 'अकलु' अधिक प्राचीन है। कहीं-कहीं पालि शब्दों का मूल रूप संस्कृत में न मिलकर प्राचीन वैदिक भाषा में मिलता है। 'अम्ब' शब्द का उदाहरण हम पहले दे चुके हैं। 'सिम्बल' या 'सिम्बलि' (सेमल का पेड़) शब्द भी ऐसा है। यह संस्कृत के 'शाल्मली' से नहीं लिया गया, किन्तु वैदिक भाषा (ऋ० ३।५३।२२) के 'शिम्बल' (सेमल वृक्ष का फूल) से उद्भूत है। पालि 'मुचलिन्द' (कदम्ब का पेड़) को डॉ० गायगर ने संस्कृत 'मुचिलिन्द' से अधिक प्राचीन माना है।[1] इसी प्रकार अन्य अनेक पालि शब्दों के मूल रूप भी संस्कृत में न मिलकर वैदिक भाषा में मिलते हैं।

स्वर-सन्धि

स्वर-संधि के नियमों का विवेचन करना यहाँ हमारा उद्देश्य नहीं है। यह तो व्याकरण का विषय है। यहाँ हम केवल स्वर-परिवर्तन की दृष्टि से कुछ महत्त्वपूर्ण विशेषताओं का ही उल्लेख करेंगे।

(१) एक पद के अन्तिम स्वर का दूसरे पद के प्रारम्भिक स्वर के साथ मिलना पालि में अनिवार्य नहीं है। इस प्रकार 'से अज यदा अयं धम्मलिपि

---

१. देखिए उनका पालि लिटरेचर एण्ड लैंग्वेज, पृष्ठ ८०।

२. अधिक उदाहरणों के लिए देखिए, गायगर : पालि लिटरेचर एण्ड लैंग्वेज, पृष्ठ ८०-८१।

लिखिता ति एव प्राणा आरभरे' (गिरनार शिलालेख) जैसे प्रयोग पालि में दिखायी पड़ते हैं। फिर भी जहाँ समान स्वर मिलते हैं तो संस्कृत के समान ही दोनों मिलकर दीर्घ हो जाते हैं, जैसे वुद्ध+अनुस्सति=बुद्धानुस्सति; सम्मन्ति +इध=सम्मन्तीध; बहु+उपकारं=बहूपकारं; दुग्गता+अहं=दुग्गताहं।

(२) अ अथवा आ से परे इ और उ आने पर क्रमशः ए और ओ होना भी पालि में संस्कृत के समान ही दृष्टिगोचर होता है। यह परिवर्तन अधिकांश पालि के प्राचीनतम रूप—गाथाओं की भाषा—में दृष्टिगोचर होता है। अव+इच्च=अवेच्च; उप+इतो=उपेतो; मुख+उदकं=मुखोदकं; मच्चुस्स+इव+उदके=मच्चुस्सेवोदके; च+इमे=चेमे।

(३) इ से परे असवर्ण स्वर रहने पर इ का य और उ अथवा ओ से परे असवर्ण स्वर रहने पर उ का व हो जाता है। वि+आकतो=व्याकतो; यो+अयं=य्वायं; सु+आगतं=स्वागतं।

(४) असवर्ण स्वरों के मिलने पर कहीं-कहीं (१) पूर्व स्वर का लोप हो जाता है, (२) पर स्वर का लोप हो जाता है, (३) पर स्वर का दीर्घ हो जाता है, (४) पूर्व स्वर का दीर्घ हो जाता है।

उदाहरण (१) यस्स+इन्द्रियाणि=यस्सिन्द्रियाणि; मे+अत्थि=मत्थि। (२) चत्तारो+इमे=चत्तारो मे; ते+इमे=तेमे। (३) सचे+अयं=सचायं। (४) देव+इति=देवाति; लोकस्स+इति=लोकस्साति।

(५) अनेक स्वर-सन्धियों में व्यंजनों का आगम होता है, जैसे न+इदं=नयिदं; लघु+एस्सति=लघुमेस्सति; यथा+एव=यथरिव; तथा+एव=तथरिव; गिरि+इव=गिरिमिव; सम्मा+अत्थो=सम्मदत्थो, आदि आदि।

(६) कभी-कभी अनुस्वार से परे स्वर का लोप हो जाता है, जैसे इदं+अपि=इदंपि; दातुं+अपि=दातुंपि; अभिनंदुं+इति=अभिनंदुंति। इस प्रकार की सन्धियों के आधार पर गायगर ने अनुमान किया है कि पालि में स्वतंत्र रूप में प्रयुक्त होनेवाले 'व' (सं० 'इव' के लिए), 'पि' (सं० 'अपि' के लिए); 'ति' (सं० 'इति' के लिए), 'दानि' (सं० 'इदानीं' के लिए), 'गिनि' (सं० 'अग्नि' के लिए), 'दक' (सं० 'उदक' के लिए, 'पोसथ' ('उपोसथ') भी, सं० (वेद-भाषा) ('उपवसथ' के लिए)[1] आदि शब्द लुप्त सन्धियों के स्मारक स्वरूप

---

१. पालि के 'पोसथ' या 'उपोसथ' शब्द के अन्य प्राचीन विकार भी लक्षणीय ही हैं। वेद की भाषा में यह 'उपवसथ' है, बौद्ध संस्कृत ग्रन्थों में साधारणतः 'पोषध', परन्तु 'महावस्तु' और 'अवदान-कल्पलता' में 'उपोषध', जैन संस्कृत में "पौषध' और अर्द्धमागधी भाषा में निबद्ध जैनागमों में 'पोसह'।

हैं, अर्थात् इन शब्दों में जो आदि स्वर का लोप हुआ है वह ऐसे सन्धि-रूपों का अवशेष है जो अब प्रयोग में नहीं आते।

व्यंजन-परिवर्तन

व्यंजनों का परिवर्तन पालि में प्रधानतः शब्द में उनकी स्थिति के अनुसार हुआ है। सामान्यतः संस्कृत आदि व्यंजन पालि में सुरक्षित रहते हैं। मध्य-व्यंजनों का विकास मध्य-कालीन भारतीय आर्य-भाषा-युग में तीन अवस्थाओं में हुआ है। पहली अवस्था में अघोष स्पर्श घोष हो जाते हैं। दूसरी अवस्था में घोष स्पर्श 'य्' ध्वनि में परिवर्तित हो जाते हैं। तृतीय अवस्था में 'य्' ध्वनि का भी लोप हो जाता है। पालि में प्रधानतः प्रथम दो अवस्थाएँ ही पायी जाती हैं। तीसरी अवस्था का विकास प्राकृत भाषाओं में हुआ है। अन्त्य व्यंजन पालि और प्राकृतों में समान रूप से ही लुप्त कर दिये जाते हैं। व्यंजन-परिवर्तनों का विस्तृत अध्ययन इस प्रकार है।

असंयुक्त व्यंजन

(अ) आदि व्यंजन

(१) सामान्यतः, शब्द के आदि में अवस्थित संस्कृत असंयुक्त व्यंजन (अल्पप्राण क्, त्, प्, ग्, द्, ब् आदि और महाप्राण ख्, घ्, थ्, फ्, ध्, भ् आदि) पालि में सुरक्षित रहते हैं। उदाहरण—

संस्कृत	पालि
करोति	करोति (प्राकृत करइ)
गच्छति	गच्छति (प्राकृत गच्छइ)
चौरः	चोरो
जनः	जनो
ताडयति	तालेति (प्राकृत ताडइ)
पुत्रः	पुत्तो
दन्तः	दन्तो
बधिरः	बधिरो
खनति	खनति
घटः	घटो
फलं	फलं

(२) पाँच सानुनासिक व्यंजनों (ङ्, ञ्, ण्, न्, म्) में से संस्कृत में भी केवल न् और म् ही शब्द के आदि में आते हैं, अन्य नहीं। यही नियम पालि में भी

है। अतः संस्कृत शब्द के आदि में अवस्थित न् और म् पालि में भी सुरक्षित रहते हैं। प्राकृतों में चलकर न् का परिवर्तन ण् में हो गया है। 'म्' तो वहाँ भी सुरक्षित रहा है।

नाशयति	नासेति (प्रा० णासइ)
मुखं	मुखं
मन्त्रयति	मन्तेति (प्रा० मन्तइ)

(३) शब्द के आदि में अवस्थित अन्तःस्थ य्, र्, ल्, व् भी सुरक्षित रहते हैं। रकार के विषय में यह विशेषता अवश्य ध्यान देने योग्य है कि रकार का लकार में परिवर्तन होना पालि में छुटपुट और प्रायः अनियमित रूप से ही पाया जाता है। परन्तु मागधी प्राकृत का तो यह एक नियम ही है और अन्य प्राकृतों में भी यह नियम कहीं-कहीं पाया जाता है। य् के विषय में भी यह विशेषता ध्यान देने योग्य है कि पालि में तो वह सुरक्षित रहता है (कहीं-कहीं उसके साथ ही ल् में परिवर्तित स्वरूप भी दिखायी पड़ता है); किन्तु प्राकृतों में चलकर बाद में उसका ज् में परिवर्तन हो गया है। उदाहरण—

रूपानि	रूपानि (लूपानि भी, विशेषतः अशोक के धौली और जौगड़ के लेखों में)
रुज्यते	लुज्जति
राजा	राजा (लाजा, विशेषतः अशोक के पूर्व के लेखों में)
रोहित	लोहित (रोहित भी)
रौद्र	लुद्द
यावत्	याव (प्राकृत जाव)
यष्टिका	यट्ठिका (लट्ठिका भी)

(४) संस्कृत ऊष्म श्, ष्, स् का अन्तर्भाव पालि में केवल 'स्' में हो गया है। अतः पालि में केवल दन्त्य स् है। पश्चिमी प्राकृतों की भी यही विशेषता है। इसके विपरीत पूर्वी प्राकृतों में केवल एक तालव्य 'श्' रह गया है। अशोक के शिलालेखों में हम इस विकास-परम्परा के सभी रूप देखते हैं। इस प्रकार मगध के शिलालेखों में केवल दन्त्य स् पाया जाता है। गिरनार के शिलालेख में भी केवल स् ही पाया जाता है। उत्तर-पच्छिम के शिलालेखों में तीनों ही श्, ष् और स् पाये जाते हैं। बोलियों के मिश्रण के कारण फिर भी इस सम्बन्ध में कोई नियम नहीं बाँधा

जा सकता। यह परिवर्तन आदि और मध्य दोनों ही स्थितियों में दिखायी पड़ता है।

शोण	सोण
शिशुमार (शिंशुमार)	सुंसुमार
श्मशान	सुसान
श्रवणीय	सवनीय
सार्थवाह	सत्थवाहो
षोडश	सोळस
शेष	सेस
देशः	देसो
पुरुष	पुरिस
ऊषर	ऊसर

(५) उपर्युक्त नियम (१) के अपवाद-स्वरूप निम्नलिखित तथ्य दृष्टिगोचर होते हैं, जो ध्यान देने योग्य हैं—

(अ) कहीं-कहीं शब्द के आदि में पालि में प्राणध्वनि (ह्) का आगमन होता है। इसे यों भी कहा जा सकता है कि शब्द के आदि में अवस्थित संस्कृत अघोष अल्पप्राण व्यंजन (क्, त्, प् आदि) पालि में उसी वर्ग के अघोष महाप्राण व्यंजन (ख्, थ्, फ् आदि) हो जाते हैं। उदाहरण—

कील	खील
कुब्ज	खुज्ज
कृत्वः	खत्तु
परुष	फरुस
प्रांशु	फासु
तुष	थुस

(आ) कहीं-कहीं, किन्तु अपेक्षाकृत कम संख्या में, उपर्युक्त नियम का विपर्यय देखा जाता है, अर्थात् संस्कृत अघोष महाप्राण व्यंजनों के स्थान पर पालि में उसी वर्ग के अघोष अल्पप्राण व्यंजन भी दिखायी पड़ते हैं।

झल्ल (झल्लिका)	जल्ल (जल्लिका) (मैल, पसीने का मैल)

(इ) वर्णों के उच्चारण स्थान में परिवर्तन भी पालि में बहुत पाया जाता है। आदि और मध्य दोनों ही स्थितियों में यह होता है। शब्द के आदि में होनेवाले कुछ परिवर्तनों के उदाहरण आगे दिये जाते हैं।

(१) कहीं-कहीं कंठ्य स्पर्शों की जगह तालव्य स्पर्श हो जाते हैं।

कुन्द	चुन्द

(२) कहीं-कहीं दन्त्य स्पर्शों की जगह मूर्द्धन्य स्पर्श हो जाते हैं।

दहति	डहति
दाह	डाह
दसति	डसति

(आ) मध्य-व्यंजन

पालि में मध्य-व्यंजन सम्बन्धी परिवर्तनों का विचार करते समय हम उन प्रवृत्तियों की सूचना पाते हैं, जिन्हें 'प्राकृतत्व' या 'प्राकृतपन' कहा गया है। वास्तव में बात यह है कि जिन परिवर्तनों का पालि में सूत्रपात ही हुआ है, उनका अन्तिम विकास प्राकृतों में चलकर हुआ है। इस विकास की तीन अवस्थाओं का निर्देश हम पहले कर चुके हैं। प्राकृतों के साथ मिलनेवाली पालि की ये विशेषताएँ अनेक बोलियों के सम्मिश्रण के आधार पर व्याख्यात की जा सकती हैं और ये उन्हें नाना वैदिक बोलियों के उत्तराधिकार-स्वरूप मिली हैं। ये समानताएँ विशेषतः मध्य-व्यंजन-सम्बन्धी परिवर्तनों में पालि में कहीं-कहीं दृष्टिगोचर होती हैं, उदाहरणतः—

(१) शब्द के मध्य में स्थित संस्कृत अघोष स्पर्श पालि में उसी वर्ग के घोष स्पर्श हो जाते हैं। इस प्रकार क्, च्, ट्, त्, प्, थ् आदि क्रमशः ग्, ज्, ळ्, द्, व्, घ् आदि हो जाते हैं। उदाहरण—

प्रतिकृत्य	पटिगच्च (पटिकच्च[1] भी) (पहले ही)
शाकल	सागल
माकन्दिक	मागन्दिय
स्रुच्	सुजा
कचङ्गला	कजङ्गला
कक्खट	कक्खळ (निर्दयी)
रोच (एक मल्ल सरदार का नाम)	रोज

१. 'महापरिनिब्बाण-सुत्त (दीघ-निकाय) तथा 'दुतिय-अनागत भयसुत्त' 'अङ्गुत्तर-निकाय—पञ्चक निपात) आदि अनेक स्थलों पर तिपिटक में 'पटिगच्चेव' शब्द 'पटिकच्चेव' के पाठान्तर के सहित आया है। विशेषतः सिंहली संस्करणों में 'पटिगच्चेव' पाठ है और बरमी संस्करणों में 'पटिकच्चेव'।

उताहो	उदाहु
अलापु	अलावु
पृषत	पसद
कपित्थ	कविट्ठ
ग्रथित	गधित (गथित भी)

इस प्रकार के परिवर्तन अर्द्धमागधी आदि कई प्राकृतों और अपभ्रंश में भी पाये जाते हैं।[1]

(२) उपर्युक्त परिवर्तन से एक अधिक विकसित अवस्था वह है जिसमें अघोष स्पर्शों का लोप हो जाता है और वे 'य्' या 'व्' ध्वनि में परिवर्तित हो जाते हैं। इसके बाद ही वह अवस्था होती है जिसमें 'य्' या 'व्' व्यंजन का भी बिलकुल लोप हो जाता है। सं० 'शत' शब्द के विकृत या विकसित रूपों में हम इस विकास का अच्छा अध्ययन कर सकते हैं। पहले इसका पालि में 'सत' होता है, फिर अघोष स्पर्श 'त्' का घोष स्पर्श 'द्' होता है और इस प्रकार शौरसेनी प्राकृत में 'सद' रूप बनता है। इसका भी आगे विकसित रूप अर्द्धमागधी में 'सय' बनता है और फिर मागधी में 'सय' और अन्त में हिन्दी में 'सौ'। अन्य भी उदाहरण हैं। पालि का 'कत' शौरसेनी में 'कद' है और मागधी में 'कउ'। कहीं-कहीं घोष और अघोष, दोनों स्पर्शों का 'य्' ध्वनि में परिवर्तित हो जाना प्राकृतों में पाया जाता है, जबकि पालि में ये स्पर्श प्रायः सुरक्षित रहते हैं। पालि में 'सागर' ही है, परन्तु अर्द्धमागधी में वह 'सायर' हो गया है। इसी प्रकार 'उपचार' पालि में 'उपचार' ही है, परन्तु अर्द्धमागधी में वह 'उवयार' है। इसी प्रकार पालि 'आच-रिय' अर्द्धमागधी में 'आयरिय' है। 'संस्कृत' पालि में 'सक्कत' ही है, परन्तु प्राकृत में 'सक्कय'। फिर भी कहीं-कहीं अघोष स्पर्श का लुप्त होकर 'य्' या 'व्' में परिवर्तित होना प्राकृतों के समान पालि में भी पाया जाता है। अतः यह भी पालि का एक 'प्राकृतपन' है। उदाहरण—

शुक	सुव (सुक भी)
खादित	खायित
स्वादते	सायति (सादियति भी)
अपरगोदान	अपरगोयान
कुशीनगर	कुसिनारा[2]

---

१. देखिए पीछे अर्द्धमागधी और पालि के सम्बन्ध का विवेचन।

२. प्राकृत में कुसिणगर, कुसिणकर, कुसिणयर, कुसिणअर।

धार्मिक	धम्मिक (धम्मिय भी)
धनिक	धनिक (धनिय भी)

(३) शब्द के मध्य में स्थित घोष महाप्राण व्यंजनों (घ्, ध्, भ्) आदि का 'ह्' में परिवर्तित हो जाना प्राकृतों की एक विशेषता है। यह प्रवृत्ति पालि में भी यत्र-तत्र पायी जाती है।

लघु	लहु
रुधिर	रुहिर (रुधिर भी)
साधु	साहु (अधिकतर तो साधु ही परन्तु कहीं-कहीं 'साहु'[1] भी, (प्राकृत में केवल 'साहु')
प्रभूत	पहूत (पहुत भी—प्राकृत में 'बहुत्त'—हिन्दी 'बहुत')

इसके विपरीत कहीं-कहीं पालि वैदिक भाषा के घोष महाप्राण व्यंजनों को सुरक्षित रखती है, जब कि संस्कृत में उसके स्थान में 'ह' हो जाता है। इसका उदाहरण पालि 'इध' (यहाँ) शब्द है। अवेस्ता (जिसमें भी इसका रूप 'इध' होता है) के आधार पर हम जान सकते हैं कि इसका वैदिक स्वरूप 'इध' ही था। किन्तु संस्कृत में यह 'इह' हो गया है।

(४) शब्द के आदि में अवस्थित व्यंजनों में प्राण-ध्वनि के आगम और लोप का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। शब्द के मध्य में स्थित व्यंजनों में भी यह परिवर्तन होता है अर्थात् मध्य में स्थित संस्कृत अघोष अल्पप्राण व्यंजन (क्, च्, त्, प् आदि) पालि में उसी वर्ग के अघोष महाप्राण व्यंजन (ख्, ज्, थ्, फ् आदि) हो जाते हैं—

शुनक (कुत्ता)	सुनख (प्रा० सुनह)
सुकुमार	सुखुमाल
पिप्पली (पीपर)	पिप्फली

इसी प्रकार कहीं-कहीं, किन्तु आदि स्थित व्यंजनों की तरह ही बहुत कम, प्राण-ध्वनि का लोप भी हो जाता है—

कफोणि	कपोणि (कुहनी)
क्षुत्रा	खुदा

---

१. जैसे 'साहू' ति (महावग्ग पालि); "साहु ते कुटिका नत्थि"। (कुटिका-सुत्त, संयुत्त निकाय)।

(५) कहीं-कहीं नियम(१) के विपरीत सं० घोष स्पर्श पालि में उसी वर्ग के अघोष स्पर्श हो जाते हैं। ये परिवर्तन बोलियों की विभिन्नताओं के कारण हुए हैं।

उपग	उपक
अगुरु	अकलु (अगलु भी)
छगल	छकल
अजिरवती	अचिरवती
परिघ	पलिख (पलिघ भी)
कुसीद	कुसीत
आदुमा (नगर का नाम)	आतुमा
मृदंग	मुतिंग
उपधेय (तकिया)	उपथेय्य
पिधीयते (ढाँका जाता है)	पिथीयति
शावक (जानवर का बच्चा)	छापक
प्रावरण	पापुरण

(६) व्यंजनों के उच्चारण-स्थान में परिवर्तन। यह परिवर्तन मध्य-स्थित व्यंजनों में आदि-स्थित व्यंजनों की अपेक्षा बहुत अधिक हुआ है। इस सम्बन्ध में सब में अधिक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन सं० दन्त्य व्यंजनों का पालि में मूर्द्धन्यीकरण है। सं० दन्त्य व्यंजन त्, थ्, द्, ध्, न् पालि में क्रमशः ट्, ठ्, ड्, ल्ह्, ण् हो जाते हैं। यह नियम सामान्यतः आदि और मध्य दोनों ही स्थितियों के लिए ठीक है।

पतंग	पटंग
हृत	हट
व्यापृत	व्यावट
प्रतिमा	पटिमा
प्रथम	पठम
पृथिवी	पठवी (पथवी भी)
दाह	डाह
द्वैध (सन्देह)	द्वेल्हक
शकुन	सकुण

(७) पालि में मध्य-स्थित व्यंजनों के अन्य उच्चारण-सम्बन्धी परिवर्तन इस प्रकार हैं—

(अ) कहीं-कहीं सं० तालव्य स्पर्शों के स्थान पर पालि में दन्त्य स्पर्श होते हैं।

चिकित्सति	तिकिच्छति
जाज्वल्यते	दद्दल्लति

(आ) कहीं-कहीं मूर्द्धन्य के स्थान पर दन्त्य होते हैं—

डिंडिम	देण्डिम (दिण्डिम भी)

(इ) कहीं-कहीं द् के स्थन पर र् होता है—

एकादस	एकारस (एकादस भी)
ईदृश	एरिस (एदिस भी)
ईदृक्षा	एरिक्खा (एदिक्खा भी)

(ई) कहीं-कहीं त् के स्थान पर ल् या र् होता है—

एनः (अपराध, मैल)	एल
नैरंजना	नेरंजरा

(उ) कहीं-कहीं ण् के स्थान पर ळ् होता है—

वेणु	वेळु
मृणाल	मुळाल

(ऊ) र् के स्थान पर ल् अधिकतर होता है। आदि-स्थित र् के ल् में परिवर्तन के उदाहरण पहले दिये जा चुके हैं। मध्य-स्थित र् के ल् में परिवर्तन के कुछ उदाहरण ये हैं—

एरंड	एलण्ड
तरुण	तलुण (तरुण भी)
परिष्वजते	पलिस्सजति
परिखनति	पलिखनति
कुम्भीर	कुम्भील
भगन्दर	भगन्दल

पालि में यह परिवर्तन यद्यपि अधिकतर पाया जाता है, किन्तु नियमतः यह मागधी प्राकृत की ही विशेषता है। कुछ अन्य प्राकृतों में भी इसके स्फुट उदाहरण मिलते हैं।

(ए) कहीं-कहीं सं० ल् के स्थान पर पालि में र् पाया जाता है।

अलिंजर	अरंजर
आलम्बन	आरम्मण

इसके अपवाद-स्वरूप कहीं-कहीं ल् के स्थान पर न् भी पाया जाता है—

देहली	देहनी

आदि में भी इसी प्रकार

लांगल (हल)	नंगल

(ऐ) सं० य् के स्थान पर पालि व्—

आयुध	आवुध
आयुष्मन्	आवुसो
कषाय	कसाव (कसाय भी)
काषाय	कासाव (कासाय भी)

(ओ) सं० व् के स्थान पर पालि य्—

दाव	दाय (दाव भी)

(औ) सं० व् के स्थान पर पालि म् और सं० म् के स्थान पर पालि व्—

द्रविड़	दमिळ
मीमांसते	वीमंसति

कुछ अनियमित प्रयोग भी मिलते हैं, जैसे—

पिपीलिका	किपिल्लिका (पिपिल्लिका, पिपीलिका भी)

(८) वर्ण-विपर्यय। शब्द के मध्य में स्थित व्यंजनों में पारस्परिक एक दूसरे की जगह ग्रहण कर लेना भी प्रायः देखा जाता है। यह विपर्यय अधिकतर 'र्' व्यंजन में होता है।

आरालिक	आलारिक
करेणु	कणेरु
ह्रद	रहद
प्रावरण	पारुपण (पापुरण भी)

किन्तु अन्य व्यंजनों में भी;

मशक	मकस

संयुक्त-व्यंजन

(अ) आदि संयुक्त-व्यंजन

संस्कृत में भी शब्द के आदि में संयुक्त व्यंजनों का प्रयोग प्रायः सीमित होता है। प्रायः दो प्रकार के संयुक्त व्यंजन संस्कृत में शब्द के आदि में पाये जाते हैं, (१) व्यंजन+अन्तःस्थ (य्, र्, ल्, व्); (२) व्यंजन+ऊष्म (श्, ष्, स्)। व्यंजन+अन्तःस्थ में अन्तःस्थ कभी पहले न आकर व्यंजन ही पहले आते हैं। इस प्रकार शब्द के आदि में क्र्, त्य्, प्र्, ग्य् जैसे संयुक्त व्यंजन ही हो सकते हैं, ल्क्, र्च् जैसे नहीं। अन्तःस्थ+ऊष्म में ऊष्म पहले भी आ सकते हैं; जैसे स्त्, श्च् आदि में और पीछे भी जैसे क्ष् (क्+श्) में

(१) व्यंजन+अन्तःस्थ—इस अवस्था में व्यंजन के बाद की ध्वनि लुप्त होकर व्यंजन का ही रूप धारण कर लेती है—

प्रशान्त	पसन्तो
प्रज्ञा	पञ्ञा
ग्राम	गाम

कहीं-कहीं स्वर-भक्ति के कारण बीच में स्वर आने के कारण संयुक्त व्यंजन केवल असंयुक्त कर दिये जाते हैं—

क्लेश	किलेसो
क्लान्त	किलन्तो

कहीं-कहीं, जब व्यंजन+य् का संयोग होता है, तो य् का पूर्ववर्ती व्यंजन तालव्य हो जाता है—

त्यजति	चजति

(२) ऊष्म+व्यंजन—इस अवस्था में ऊष्म का लोप हो जाता है और वह परवर्ती व्यंजन का रूप धारण कर लेता है तथा वह व्यंजन, यदि वह अल्प प्राण होता है, तो महाप्राण हो जाता है।

स्कम्भः	खम्भो
स्तूपः	थूपो

स्थापयति	ठापेति
स्थितः	ठितो

(३) शब्द के आदि में क्ष् होने पर पालि में उसका ख् या छ् हो जाता है। मध्य-स्थिति में यही क्ख् या च्छ् परिवर्तन होता है। यहाँ दोनों के ही उदाहरण दे देने ठीक होंगे—

क्षीरिका	खीरिका
क्षुधा	खुदा (प्राकृत खुहा)
क्षारिका	छारिका
दक्षिणा	दक्खिणा
मक्षिका	मक्खिका (प्राकृत मच्छिआ)
कक्ष	कच्छ
तक्षति	तच्छति (प्राकृत तच्छइ)
अक्षि	अक्खि (अच्छि भी, प्राकृत में केवल अच्छि)[1]

कहीं-कहीं 'क्ष्' का परिवर्तित रूप "ग्घ्' या 'ज्झ्' या झ् भी होता है। गायगर का मत है कि इस दशा में संस्कृत अक्षर क्ष् एक विशेष भारत-यूरोपियन ध्वनि का विकसित रूप है—

प्रक्षरति	पग्घरति
क्षाम	झाम[2]

(अ) मध्य-संयुक्त-व्यंजन

मध्य-संयुक्त-व्यंजनों के परिवर्तन में पालि में व्यंजन-अनुरूपता, व्यंजन-विपर्यय, व्यंजनों के उच्चारण-स्थान में परिवर्तन, प्राणध्वनि का आगमन और लोप, आदि सभी प्रवृत्तियाँ पायी जाती हैं। विशेषतः व्यंजन-अनुरूपता और व्यंजन-विपर्यय अधिक पाये जाते हैं। आगे के विवरण से यह स्पष्ट होगा।

---

१. वैसे साधारणतः प्राकृत भाषाओं में संस्कृत 'क्ष्' के स्थान पर 'ख्' ही होता है। यथा 'क्षय' के लिए 'खय', 'लक्षण' के लिए 'लक्खण' आदि। परन्तु देखिए नीचे की पाद-टिप्पणी भी।

२. प्राकृत में भी कभी-कभी 'क्ष्' का परिवर्तन 'झ्' में होता है, यथा 'क्षीण' से 'झीण' ('छीण' या 'छीन' भी)। पालि में यह 'खीण' ही है।

(१) व्यंजन-अनुरूपता

(अ) पूर्ववर्ती व्यंजन का लुप्त होकर परवर्ती व्यंजन का रूप धारण कर लेना—

(१) स्पर्श+स्पर्श में, यथा

उक्त	उत्त
सप्त	सत्त
शब्द	सद्द
उत्कल	उक्कल
उत्पद्यते	उप्पज्जति
मुद्ग (मूंग)	मुग्ग

(२) ऊष्म+स्पर्श में, यथा

आश्चर्य	अच्छेर (अच्छरिय भी)
निष्क	निक्ख, नेक्ख

यहाँ पर साथ-साथ प्राण-ध्वनि का आगमन भी हो गया है।

(३) अन्तःस्थ+स्पर्श, या ऊष्म, या अनुनासिक व्यंजन में, यथा

कर्क	कक्क
किल्विष	किब्बिस
वल्क	वाक
कर्षक	कस्सक
कल्माष	कम्मास

(४) अनुनासिक+अनुनासिक में, यथा

निम्न	निन्न
उन्मूलयति	उम्मूलेति

(५) र+ल्, या य्, या व् में, यथा

दुर्लभ	दुल्लभ
आर्य	अय्य (अरिय भी)
उदार्यते	उदिय्यति
निर्याति	निय्याति
कुर्वन्ति	कुब्बन्ति

(आ) परवर्ती व्यंजन का लुप्त होकर पूर्ववर्ती व्यंजन का रूप धारण कर लेना—

(१) स्पर्श+अनुनासिक में, यथा

लग्न	लग्ग
अग्निः	अग्गि
उद्विग्न	उव्विग्ग
स्वप्न	सोप्प

(२) स्पर्श+र् या ल् में, यथा

तक्र	तक्क
श्वभ्र	सोब्भ
शुक्ल	सुक्क

(३) स्पर्श+अन्तःस्थ में, यथा

शक्य	सक्क
उच्यते	वुच्चति
प्रज्वलति	पज्जलति
शाद्वल	सद्दल

परन्तु कभी-कभी पालि में यह परिवर्तन नहीं भी होता है और स्पर्श+अन्तःस्थ उसी रूप में बने रहते हैं—

वाक्य	वाक्य
आरोग्य	आरोग्य

(४) ऊष्म+अन्तःस्थ में, यथा

मिश्र	मिस्स
अवश्यम्	अवस्सं
अश्व	अस्स
श्लेष्मन्	सेम्ह

(५) अनुनासिक या ल्+अन्तःस्थ में, यथा

किण्व	किण्ण
रम्य	रम्म
कल्य	कल्ल (स्वस्थ, योग्य, उचित, तैयार)
विल्व	बिल्ल

(६) व्य्, व्र् जैसे संयुक्त व्यंजनों में, जो ब्ब् हो जाते हैं,

परिव्यय	परिब्बय
तीव्र	तिब्ब

(२) व्यंजन-विपर्यय

(१) ह्+अनुनासिक, या 'य', या 'व्'—इस व्यंजन-संयोग में विपर्यय होता है, अर्थात् 'ह्ण', 'ह्न्', 'ह्म्', 'ह्य्', 'ह्व्', इन संयुक्त व्यंजनों के क्रमशः 'ण्ह्', 'न्ह्', 'म्ह्', 'य्ह्', 'व्ह्' रूप हो जाते हैं—

पूर्वाह्ण	पुब्बण्ह
अपराह्ण	अपरण्ह
जिह्म	जिम्ह
सह्य	सय्ह
मह्यं	मय्हं
चिह्न	चिन्ह
जिह्वा	जिव्हा

मह्यं—मय्हं के सादृश्य के आधार पर तुभ्यं का भी पालि प्रतिरूप तुय्हं हो गया है।

(२) ऊष्म+अनुनासिक—इस संयोग-दशा में भी व्यंजन-विपर्यय होता है। पहले ऊष्म का ह् में परिवर्तन होता है और फिर दोनों का विपर्यय। इस प्रकार 'श्न्', 'श्म्', 'ष्ण्', 'ष्म्', 'स्न्', 'स्म्' क्रमशः 'न्ह्', 'म्ह्', 'ण्ह्', 'म्ह 'म्ह्' म्ह् हो जाते हैं—

प्रश्न	पञ्ह (अर्द्धमागधी पण्ह)
अश्मना (पत्थर के द्वारा)	अम्हना
उष्ण	उण्ह
कृष्ण	कण्ह
तृष्णा	तण्हा
ग्रीष्म	गिम्ह
सुस्नात	सुन्हात
विस्मय	विम्हय

(३) 'क्ष्ण्', 'क्ष्म्', 'त्स्न्'—इन संयुक्त व्यंजनों के स्वरूप-विपर्यय के कारण क्रमशः 'ण्ह्', 'म्ह्', 'न्ह्' हो जाते हैं। इस विकास का क्रम

यह है कि पहले 'क्ष्ण्, 'क्ष्म्', 'त्स्न्' के क्रमशः रूप 'ष्ण्', 'ष्म्' 'स्न्' होते हैं और फिर इनका विपर्यय होकर उपर्युक्त नियम (२) के अनुसार इनके क्रमशः 'ण्ह', 'म्ह', 'न्ह रूप बनते हैं—

श्लक्ष्ण (सुन्दर, कोमल)	सण्ह
पक्ष्म (पलक)	पम्ह
ज्योत्स्ना	जुण्हा (पहले 'जुन्हा' रूप बना और फिर न् का मूर्द्धन्य होकर 'जुण्हा' हो गया)

(२) व्यंजनों के उच्चारण-स्थान में परिवर्तन—

(१) दन्त्य स्पर्श+य—इस संयोग-दशा में दन्त्य स्पर्शों का तालव्यीकरण हो जाता है—

सत्य	सच्च
छिद्यते	छिज्जति
जात्या	जच्चा

'ण्य्' संयुक्त व्यंजनों में भी—

कर्मण्य	कम्मञ्ञ

(२) संस्कृत तालव्य संयुक्त व्यंजनों के स्थान पर पालि में कहीं-कहीं कंठ्य संयुक्त व्यंजन हो जाते हैं, कहीं-कहीं मूर्द्धन्य संयुक्त व्यंजन और कहीं-कहीं दन्त्य संयुक्त व्यंजन।

(अ) तालव्य के स्थान पर कंठ्य

भिसज्	भिसक्क

(आ) तालव्य के स्थान पर मूर्द्धन्य

आज्ञा	आणा

(इ) तालब्य के स्थान पर दन्त्य

उच्छिष्ठ	उत्तिट्ठ (उच्छिट्ठ भी)

(३) मध्यस्थित दन्त्य संयुक्त व्यंजनों का मूर्द्धन्यीकरण। यह एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन है। इस परिवर्तन के कारण 'र्त्', 'र्थ्', 'र्द्', 'र्ध्', क्रमशः 'ट्ट', 'ट्ठ', 'ड्ड', 'ड्ढ' हो जाते हैं। 'स्थ्' का 'ट्ठ' हो जाता है—

आर्त	अट्ट
कैवर्त	केवट्ट
अर्थ	अट्ठ
आर्द्र	अड्ड
वर्धते	वड्ढति
प्रस्थाय	पट्ठाय
कूटस्थ	कूटट्ठ

(४) प्राण-ध्वनि का आगमन और लोप—

आगमन, यथा

शृङ्गाटक (चौराहा)	सिंघाटक
पिप्पली	पिप्फली

लोप, यथा

लोध्र	लोद्द
बभ्रु	बब्बु (बिल्ली)

अन्त्य-व्यंजन

संस्कृत के अन्त्य-व्यंजन पालि में लुप्त हो जाते हैं—

भगवान्	भगवा
सम्यक्	सम्मा
विद्युत्	विज्जू

पालि का शब्द-साधन और वाक्य-विचार

पालि के ध्वनि-समूह की अपेक्षा उसका रूप-विधान संस्कृत के और भी अधिक समीप है। मिथ्या-सादृश्य के आधार पर संस्कृत रूपों का सरलीकरण पालि रूप-विधान की एक मुख्य विशेषता है। पहले कहा चुका है कि एक ही प्राचीन आर्य-भाषा से संस्कृत और पालि दोनों का विकास हुआ है। संस्कृत व्याकरण का जन्म वैदिक भाषा की विभिन्नताओं को एकरूपता देने के लिए हुआ। अतः संस्कृत में ऐसे अनेक नियम व्याकरण के नियमानुसार वर्जित कर दिये गये, जो वैदिक भाषा में प्रचलित थे। पालि चूंकि लोक-भाषा थी, उसमें ये प्रयोग चले आये हैं। यह पालि के रूप-विचार की एक मुख्य विशेषता है। उदाहरणों से यह स्पष्ट होगा।

पहले मिथ्या-सादृश्य के आधार पर रूपों के सरलीकरण को लें। पालि में संस्कृत की अपेक्षा वर्ण कम हैं, यह हम पहले निर्देश कर ही चुके हैं। संस्कृत में तीन वचनों का प्रयोग होता है, एक-वचन, द्वि-वचन और बहुवचन। पालि में केवल दो वचन हैं। एक वचन और अनेक वचन। वहाँ द्विवचन नहीं है। उसका भी काम वहाँ अनेक-वचन से ही निकाल लिया जाता है। यद्यपि कहने को पालि में भी सात विभक्तियाँ हैं, किन्तु उनके रूपों में बड़ी सरलता है। चतुर्थी और षष्ठी के रूपों में प्रायः कोई भेद नहीं होता। तृतीया और पंचमी के अनेक-वचन के रूप भी प्रायः समान ही होते हैं। पालि में व्यंजनान्त पदों का प्रयोग भी नहीं होता। वहाँ सभी पद स्वरान्त हैं। संस्कृत के व्यंजनान्त पद भी पालि में स्वरान्त हो जाते हैं। इसी प्रकार संज्ञा और सर्वनाम के रूपों में यही सरलीकरण की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। क्रिया-विभाग के विषय में भी यही बात ठीक है। संस्कृत के समान यद्यपि पालि में भी परस्मैपद (परस्स पद) और आत्मने पद (अत्तनो-पद) ये दो पद हैं, किन्तु व्यवहार में आत्मनेपद का प्रयोग कदाचित् ही कभी होता है। यहाँ तक कि कर्मवाच्य आदि प्रयोगों में भी जहाँ संस्कृत में आत्मनेपद आवश्यक रूप से होना चाहिए, पालि में उसका प्रयोग प्रायः विकल्प से ही होता है। संस्कृत के दस गण पालि में केवल सात रह जाते हैं। इसी प्रकार संस्कृत के दस लकारों के स्थान पर पालि में केवल आठ लकार हैं। लिट् लकार का प्रयोग पालि में नहीं के बराबर होता है। लङ और लुङ वहाँ भूतकाल को द्योतित करने के लिए हैं, किन्तु इनमें भी प्रायः लुङ का ही प्रयोग पालि में अधिकता से होता है। इस प्रकार संस्कृत की अपेक्षा सरलीकरण की प्रवृत्ति पालि में अधिकता से पायी जाती है।

वैदिक भाषा से प्राप्त रूपों की अनेकता पालि में सुरक्षित है, जबकि संस्कृत ने उसे व्यवस्थित कर उसमें एकरूपता ला दी है। वेद की भाषा में पुंल्लिग अकारान्त शब्दों के बहुवचन के रूप में 'असुक' प्रत्यय भी लगता था। इस प्रकार 'देव' शब्द का प्रथमा बहुवचन का रूप वहाँ 'देवासः' मिलता है। संस्कृत ने इस रूप को ग्रहण नहीं किया है। किन्तु पालि में, विशेषतः गाथाओं में, 'देवासे', 'धम्मासे', 'बुद्धासे', 'पण्डितासे', 'ब्राह्मणासे', 'अरियासे', 'दुट्ठासे', 'सावकासे', जैसे प्रयोगों में वह सुरक्षित है। इसी प्रकार 'देव' शब्द का तृतीया बहुवचन का रूप वैदिक भाषा में 'देवेभिः' है। पालि में यह 'देवेभिः' के रूप में सुरक्षित है। संस्कृत ने इस रूप को भी ग्रहण नहीं किया है। वैदिक भाषा में प्रायः चतुर्थी विभक्ति के लिए षष्ठी का प्रयोग और षष्ठी विभक्ति के लिए चतुर्थी का प्रयोग पाया जाता है। संस्कृत ने इसे निश्चित नियम में बाँधकर रोक दिया है। किन्तु पालि में यह व्यत्यय 'ब्राह्मणस्स धनं ददाति' जैसे चतुर्थी के लिए षष्ठी के प्रयोग में मिलता है। निश्चयतः

पालि में चतुर्थी और षष्ठी विभक्तियों के रूप ही प्रायः समान होते हैं। वैदिक भाषा में पञ्चमी के एकवचन में, 'उच्चा', 'नीचा' जैसे प्रयोग प्रचलित थे। पालि में ये पाये जाते हैं, परन्तु संस्कृत में नहीं मिलते। वैदिक भाषा में 'गो' और 'पति' शब्दों के षष्ठी बहुवचन और तृतीया एकवचन के रूप क्रमशः 'गोनाम्' और 'पतिना' होते थे। पालि में ये क्रमशः 'गोनं' या 'गुन्नं' तथा 'पतिना' के रूप में सुरक्षित हैं। किन्तु संस्कृत ने इन्हें भी स्वीकार नहीं किया है। इसी प्रकार वैदिक भाषा में नपुंसक लिंग की जगह बहुधा पुंल्लिग का भी प्रयोग होता था। संस्कृत में यह प्रवृत्ति नहीं पायी जाती। किन्तु पालि में बहुधा ऐसा हो जाता है। उदाहरणतः 'फलं' शब्द के प्रथमा के बहुवचन में 'फला' और 'फलानि' दोनों ही रूप होते हैं। यही प्रवृत्ति क्रिया-रूपों में भी दृष्टिगोचर होती है। वैदिक भाषा में आत्मनेपद और परस्मैपद का भेद उतना स्पष्ट नहीं था। वहाँ 'इच्छति', 'इच्छते', 'युध्यति', 'युध्यते' जैसे दोनों प्रयोग दृष्टिगोचर होते हैं। पालि में यह प्रवृत्ति समान रूप से ही दृष्टिगोचर होती है। संस्कृत में आत्मनेपद और परस्मैपद का अधिक निश्चित विधान कर दिया गया है। 'श्रु' धातु का वैदिक भाषा में अनुज्ञा-काल का मध्यम-पुरुष का एकवचन का रूप 'श्रृणुधी' और अनुज्ञा-काल का मध्यम-पुरुष का बहुवचन का रूप 'श्रृणोति' होता था। पालि में ये क्रमशः सुणुहि' और 'सुणोथ' के रूपों में सुरक्षित हैं। किन्तु संस्कृत व्याकरण ने इन्हें भी स्वीकार नहीं किया है। वैदिक भाषा में 'हन्' धातु का लङ लकार का उत्तम-पुरुष का एकवचन का रूप 'बधी' होता था। संस्कृत ने इसे भी स्वीकार नहीं किया है। किन्तु पालि में यह 'वधि' के रूप में सुरक्षित है। कृदन्त के प्रयोग में भी संस्कृत और पालि में उपर्युक्त प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। वेद में निमित्तार्थक अनेक प्रत्ययों का प्रयोग होता है, यथा से, सेन, असे, असेनं, कसे, कसेन, अध्यै, अध्यैन, कध्यै, कध्यैन, शध्यै, शध्यैन, तवे, तवै, तवेन, तुं। संस्कृत ने इनमें से केवल 'तुं' प्रत्यय को ले लिया है। पालि ने इसके साथ-साथ 'तवे', 'तवै', प्रत्ययों को भी लिया है। वैदिक 'दातवे' या 'दातवै' पालि के 'दातवे' में पूरी तरह सुरक्षित है। इसी प्रकार 'कातवे', 'विप्पहातवे', 'निधातवे' 'नेतवे', 'सोतवे', 'मरितुये, 'लपेतवे' जैसे प्रयोग भी पालि में दृष्टिगोचर होते हैं, जो संस्कृत में नहीं मिलते। 'ल्यप्' के स्थान पर वेद में 'त्वा' का भी प्रयोग मिलता है, जैसे 'परिधापयित्वा'। संस्कृत-व्याकरण के अनुसार यह रूप अशुद्ध है। वहाँ उपसर्ग-पूर्वक धातु में अनिवार्यतः 'ल्यप्' होता है, किन्तु पालि में वैदिक भाषा की तरह विकल्प से 'त्वा' देखा जाता है, यथा अभिवदित्त्वा, (अभिवन्दिय भी), उपनेत्वा (उपनीय भी), निस्सित्वा (निस्साव भी) आदि। वेद की भाषा में पूर्वकालिक अर्थ में 'त्वाय', 'त्वीन,

आदि प्रत्यय लगाकर 'गत्वाय', 'इष्ट्वीन' जैसे शब्द बनते थे। पालि में 'गत्वान', 'कातून', 'आपुच्छितून', 'छड्डून' जैसे प्रयोगों में ये सुरक्षित हैं, किन्तु संस्कृत में ये नहीं मिलते। वैदिक भाषा के क्रिया-रूपों में 'मसि' और 'रे' प्रत्ययों का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। ये क्रमशः 'मसे' और 'रे' के रूप में पालि में सुरक्षित हैं। उदाहरणतः, क्रमशः 'महेमसे' (महामसे), 'वदेमसे', 'लमेमसे' (लभामसे), 'चरामसे', 'सरेम्हसे', 'अभिनन्दामसे', 'करोमसे', तथा 'सोचरे' (वे सोचते हैं); 'जायरे' (वे उत्पन्न होते हैं), 'मिय्यरे' (वे मरते हैं); 'खादरे, 'लभरे' आदि। वेद की भाषा में विभक्ति, वचन, वर्ण और काल के अनेक व्यत्यय पाये जाते हैं। पालि में भी ये सब पाये जाते हैं। 'एकस्मि समयस्मि' के लिए 'एकं समयं' (विभक्ति-व्यत्यय) 'सन्ति इमस्मि काये केसा, लोमा नखा' के लिए 'अत्थि इमस्मि काये केसा, लोमा नखा' (वचन-व्यत्यय); 'बुद्धेभि' के लिए 'बुद्धेहि', दुक्कटं' के लिए 'दुक्कतं' (वर्ण-व्यत्यय); 'अनेक जाति-संसारं सन्धाविस्सं' (भूतकाल के अर्थ में भविष्यत् काल—काल-व्यत्यय) जैसे व्यत्यय पालि में वैध हैं। किन्तु संस्कृत व्याकरण ने इन्हें ग्रहण नहीं किया है। इस प्रकार संस्कृत भाषा की अपेक्षा पालि ही वैदिक भाषा की अधिक सच्ची उत्तराधिकारिणी ठहरती है।

पालि-भाषा के विकास की अवस्थाएँ

ऊपर पालि के ध्वनि-समूह और रूप-विचार का जो निर्देश किया गया है, उससे यह स्पष्ट है कि पालि एक ऐसी मिश्रित भाषा है जिसमें अनेक बोलियों के तत्त्व विद्यमान हैं। अनेक दुहरे रूपों का होना उसके इस तथ्य को प्रमाणित करता है। पालि के विकास में चार ऐसी क्रमिक विकास वाली अवस्थाएँ उपलक्षित होती हैं, जिनकी अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं और जिनके आधार पर हम पालि के पूर्वापर रूपों को समझ सकते हैं और उनकी संगति लगा सकते हैं। पालि-भाषा के विकास की ये चार अवस्थाएँ इस प्रकार हैं—(१) तिपिटक में आनेवाली गाथाओं की भाषा। यह भाषा अत्यन्त प्राचीन है और वैदिक भाषा की-सी ही अनेकरूपता इसमें मिलती है: प्राचीन आर्यभाषा अर्थात् वैदिक भाषा से कहीं-कहीं तो इस भाषा की, ध्वनि-परिवर्तन के कारण, केवल अल्प विभिन्नताएँ ही मिलती हैं और कहीं-कहीं पालि का अपना विशेष रूप-विधान भी दृष्टिगोचर होता

---

१. विषय की अधिक सुगमता के लिए देखिए—भिक्षु जगदीश काश्यप-कृत 'पालि-महाव्याकरण' पृष्ठ तेईस-उन्तीस (वस्तुकथा) पर दी हुई तालिकाएँ।

है। इस प्रकार यह भाषा बुद्धकालीन मध्यदेश की लोक-भाषा होने के साथ-साथ प्राचीन वैदिक स्मृतियों से भी अनुविद्ध है। सुत्त-निपात की गाथाओं की भाषा इस प्रकार की भाषा का सर्वोत्तम उदाहरण मानी जाती है। (२) तिपिटक के गद्य-भाग की भाषा। गाथाओं की भाषा की अपेक्षा इसमें एकरूपता अधिक है। गाथाओं की भाषा की अपेक्षा प्राचीन रूपों की कमी और नये रूपों की अभि-वृद्धि इसका एक प्रधान लक्षण है। सुत्तों के गद्य और विनय-पिटक के महावग्ग के गद्य की भाषा इसका उदाहरण है। (३) उत्तरकालीन पालि गद्य-साहित्य की भाषा। इस भाषा के रूप के दर्शन हमें मिलिन्द-प्रश्न और अट्ठकथा-साहित्य में होते हैं। इस भाषा का आधार तिपिटक की गद्य-भाषा ही है। इसमें आलं-कारिकता और कृत्रिमता की मात्रा कुछ अधिक पायी जाती है। विशेषतः मिलिन्द-प्रश्न और बुद्धघोष की अर्थकथाओं में हमें एक विकसित, प्रशस्त और उदात्त गद्य-शैली के दर्शन होते हैं। (४) उत्तरकालीन पालि-काव्य और गद्य की भाषा। यह भाषा बिलकुल पूर्वकालीन साहित्य के अनुकरण पर लिखी गयी है। लेखकों ने अपनी-अपनी रुचि के अनुसार कहीं तो प्राचीन रूपों का ही अनुकरण किया है, या कहीं-कहीं अपेक्षाकृत नवीन स्वरूपों को स्वीकार किया है। इस भाषा में एक जीवित भाषा के लक्षण नहीं मिलते और प्रायः पाण्डित्य पूर्ण कृत्रिमता पायी जाती है। संस्कृत का बढ़ता हुआ प्रभाव भी इस युग की साहित्य-रचना का एक विशेष लक्षण है। 'महावंस', 'दीपवंस', 'दाठावंस', 'तेलकटाहगाथा', 'जिना-लङ्कार' और 'जिनचरित' जैसे ग्रन्थों में इस भाषा के स्वरूप के दर्शन होते हैं। यहाँ तक कि 'थूपवंस', 'गन्धवंस', 'सासनवंस' और 'सासनवंसदीप' जैसी अपेक्षाकृत आधुनिक रचनाओं के पद्य और गद्य में भी हमें इसी भाषा का अनुकृत रूप मिलता है।

पालि भाषा और साहित्य के अध्ययन का महत्त्व

पालि के अध्ययन का अनेक दृष्टियों से बड़ा महत्त्व है। आज अपनी अनेक प्रादेशिक बोलियों के, यहाँ तक कि कुछ अंशों में राष्ट्र-भाषा हिन्दी के भी; ध्वनि-समूह आदि का पूरा ज्ञान हमें नहीं हो पाया है। भाषाविज्ञान सम्बन्धी अनेक बातें अभी अनिश्चित ही पड़ी हुई हैं। इसका कारण यही है कि मध्यकालीन आर्य-भाषाओं का, जिनमें पालि प्रथम और मुख्य है, हमारा अभी अध्ययन ही अधूरा पड़ा है।[1] अपनी भाषा के वर्तमान स्वरूप को समझने के लिए हमें पालि भाषा का

१. डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, सन् १९४० में प्रकाशित अपने 'हिन्दी भाषा का इतिहास'

वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन करना ही होगा। फिर पालि भाषा ने न केवल हमारी आधुनिक भारतीय भाषाओं को ही प्रभावित किया है। उसका प्रभाव सिंहल; ब्रह्मदेश, स्याम, कम्बोदिया (कम्पूचिया) और लाओस की भाषाओं के विकास पर भी पर्याप्त रूप से पड़ा है। भारतीय विद्यार्थी के लिए अध्ययन का इसमें अधिक सुखकर और क्या विषय हो सकता है कि वह इस प्रभाव को खोजे, ढूंढ़े और इन देशों के साथ व्यापक भारतीय संस्कृति के समन्वित सम्बन्धों को और अधिक दृढ़ करे। यही बात पालि-साहित्य के विषय में भी है। उसने विश्व के एक बड़े भू-भाग को शान्ति प्रदान की है, क्योंकि वह प्रधानतः तथागत के सन्देश का वाहक है। उसका अध्ययन कर हम उस विशाल जन-समुदाय से नाता जोड़ते हैं, जिसके साथ हमारे सांस्कृतिक और राजनैतिक सम्बन्ध नव युग में और भी अधिक दृढ़ होंगे। यदि इस ऊपरी उद्देश्य को छोड़ दें तो भी विशुद्ध साहित्य की दृष्टि से पालि-साहित्य के अध्ययन का प्रभूत महत्त्व है। उसकी उदात्त प्रतिपाद्य वस्तु और गम्भीर, मनोरम शैली किसी भी साहित्य से टक्कर ले सकती है। शाक्यसिंह ने जिन गुफाओं में निनाद किया है, वे साधारण नहीं हैं। यदि मनुष्यता-धर्म से ही अन्त में संसार को मुक्ति मिलनी है, तो तथागत के सन्देश का व्यापक प्रचार होना ही चाहिए। इतिहास की दृष्टि से भी पालि-साहित्य का प्रभूत महत्त्व है। जो सांस्कृतिक निधि हमारी इस साहित्य में निहित है, उसका अभी पूरा महत्त्वांकन ही नहीं किया गया है। भारतीय इतिहास के काल-क्रम के निश्चय करने में सबसे अधिक सहायता पालि साहित्य से ही मिली है। तिपिटक और अनुपिटक साहित्य में प्राचीन भारतीय इतिहास की जो अमूल्य सामग्री भरी पड़ी है, उसका अभी तक पूरा उपयोग नहीं किया गया है। उसके सम्यक् अध्ययन से हम बुद्धकालीन इतिहास और भौगोलिक तथ्यों का बहुत अधिक ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। धर्म और दर्शन की दृष्टि से भी पालि का अधिक महत्त्व है। वास्तव में विचार की दृष्टि से पालि तिपिटक या बुद्ध-वचनों के समान अन्य कोई वस्तु पूरे भारतीय साहित्य में है ही नहीं। आचार्य मातृचेट ने 'शत पञ्चाशतिकस्तोत्र' में बुद्ध के वचनों को "योग (समाधि) की ओर ले जानेवाले" कहा है—"योगवाहि वचस्तव।" जिन्हें ज्ञान, उपशम या जीवन

में लिखते हैं, "हिन्दी संयुक्त स्वरों का इतिहास प्रायः अपभ्रंश तथा प्राकृत भाषाओं तक हो जाता है....अपभ्रंश तथा प्राकृत के संयुक्त स्वरों का पूर्ण विवेचन सुलभ न होने के कारण हिन्दी संयुक्त स्वरों का इतिहास भी अभी ठीक नहीं दिया जा सकता।"—पृष्ठ १४२। बाद के संस्करणों में भी डॉ० वर्मा ने यह बात दुहरायी है।

में मार्ग की तलाश है, उनके लिए परमार्थ रूप बुद्ध-वचन अपनी पैतृक गोचर-भूमि के सदृश ही हैं। परन्तु साधारण लोग भी बुद्ध-वचनों का स्वाध्याय कर आसानी से इस सत्य को समझ सकते हैं कि बुद्ध भगवान् ने जो कुछ कहा है, सब सुभाषित है और वे भगवान् बोलनेवालों में श्रेष्ठ (वदतां वरः) हैं।

हमने अभी तक प्रायः संस्कृत ग्रन्थों से ही बौद्ध-धर्म और दर्शन का परिचय प्राप्त किया है, जो कुछ हालतों में एकांगदर्शी और अधिकांशतः उसके मौलिक स्वरूप से बहुत दूर है। वैदिक पररम्परा के उत्तरकालीन आचार्यों ने इसी को लक्ष्य कर प्रायः बौद्ध दर्शन की समालोचना की है। इस प्रकार बुद्ध-धर्म के मौलिक स्वरूप से हम प्रायः अनभिज्ञ हो रहे हैं। यही हमारी उस विचार-प्रणाली के प्रति, जो वास्तव में अपनी प्रभावशीलता के लिए विश्व में अद्वितीय है, उदासीनता का कारण है। पालि-साहित्य के प्रकाश में हम देख सकेंगे कि भगवान् गौतम बुद्ध का वास्तविक व्यक्तित्व क्या था और उन्होंने जन-समाज को क्या सिखाया था। पालि-साहित्य का सबसे बड़ा महत्त्व वास्तव में उसकी प्रेरणादायिका शक्ति ही है। यह प्रेरणा अनेक रूपों में आ सकती है। साधना के उत्साह के रूप में भी, ऐतिहासिक गवेषणा के रूप में भी और रचनात्मक साहित्य की सृष्टि के रूप में भी। साधना के अक्षर तो मौन हैं। ऐतिहासिक गवेषणा के विषय में हम काफी कह ही चुके हैं। यहाँ अन्तिम प्रेरणा के विषय में यही कहना है कि पालि साहित्य में इतनी सामग्री भरी पड़ी है कि वह अभी हिन्दी साहित्य में अनेक विधायक लेखकों और विचारकों को प्रेरणा और आधार दे सकती है। अभी हमने 'बुद्धचरित', 'सिद्धार्थ', 'यशोधरा' और 'प्रसाद' के कतिपय नाटकों के अतिरिक्त हिन्दी में विशाल बौद्ध-साहित्य से प्रेरणा ही क्या ग्रहण की है और विशेषतः पालि से विषय ही क्या चुने हैं? जो कुछ भी रचनात्मक साहित्य बौद्ध प्रेरणाओं को लेकर अब तक हिन्दी में लिखा भी गया है, वह सब बौद्ध संस्कृत ग्रन्थों या उनके अंग्रेजी अनुवादों पर ही आधारित है और पालि-भावित मन को उन्हें देखकर जरा भी सन्तुष्टि नहीं होती। फीके और अर्थ-गौरव से शून्य जैसे लगते हैं। पालि तिपिटक और उसका विशाल अट्ठकथाओं का क्षेत्र अभी सृजनात्मक प्रतिभा के लिए अछूता पड़ा है। निश्चय ही प्रत्येक दिशा में उपयोग के लिए यहाँ एक कभी समाप्त न होनेवाली सामग्री भरी पड़ी है। यदि पालि की समुचित आराधना की जाय तो निश्चय ही वह बहुफलसाधिका हो सकती है।

●

दूसरा अध्याय

पालि-साहित्य का विस्तार, वर्गीकरण और काल-क्रम

पालि-साहित्य का उद्भव और विकास

जिस तेजस्वी व्यक्तित्व से संसार ने सबसे पहले मनुष्यता सीखी, जिसकी दीप्ति से भारत के निश्चयात्मक इतिहास पर सर्वप्रथम आलोक पड़ा, उसी से पालि-साहित्य का भी उदय हुआ। तथागत की सम्यक् सम्बोधि ही पालि-साहित्य का आधार है! जिस दिन भगवान् ने बुद्धत्व प्राप्त किया और जिस दिन उन्होंने परिनिर्वाण में प्रवेश किया, उसके बीच उन्होंने जो कुछ जहाँ कहीं, जिस किसी से कहा, उसी के संग्रह का प्रयत्न पालि-तिपिटक में किया गया है। तिपिटक (सं० त्रिपिटक) का अर्थ है तीन पिटक या पिटारियाँ। इन तीन पिटारियों में बुद्ध-वचन संगृहीत किये गये हैं, जो कालानुक्रम से आज के युग को भी प्राप्त हैं। ये बुद्ध-वचनों की भाजन-स्वरूप हैं, जिन्होंने उन्हें (बुद्ध-वचनों को) एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुँचाया है। उपर्युक्त तीन पिटकों या पिटारियों के नाम हैं—सुत्त-पिटक, विनय-पिटक और अभिधम्म-पिटक। भगवान् बुद्ध ने जो कुछ अपने जीवन-काल में कहा या सोचा, वह सभी तिपिटक में संगृहीत है, ऐसा दावा तिपिटक का नहीं है। कौन जानता है कि भगवान् के अन्तर्मन के कुछ उद्‌गार केवल उरुवेला की पहाड़ियों ने ही सुने, नेरंजरा की शान्त धारा ने ही धारण किये! केवल मन से ही बोलकर, वाणी से न बोलकर ("मनसा व वुत्तनयेन न वचाभेदं कत्वा वुत्तनयेन") तथागत ने कुछ उद्‌गार किये, यह आचार्य बुद्धघोष के 'खुद्दपपाठट्‌ठकथा' की सरणत्रयवण्णना में स्वीकार किया है। यहाँ स्पष्ट रूप से उन्होंने कहा है कि "अनेक जाति संहार" आदि रूप से 'धम्मपद' (११।८-९) आयी हुई दो गाथाएँ प्रथम बुद्ध-वचन हैं अर्थात् बुद्ध होकर सर्वप्रथम भगवान् ने इन्हीं दो गाथाओं का उद्‌गार किया, परन्तु मन के द्वारा ही इनका उद्‌गार किया, वाणी के रूप में बोलकर नहीं। तो फिर मन के द्वारा ही बोलकर ("मनसा व वुत्तनयेन") उन भगवान् के अन्य भी उद्‌गार हो सकते हैं जिनकी अभिव्यक्ति

उन्होंने वाणी के द्वारा नहीं की ("न वचोमेदं कत्वा वुत्तनयेन ?) किसने भगवान् के इन मन से, न कि वाणी से, किये गये उद्गारों को सुना ? किसमें समर्थता थी इनको सुनने की ? फिर सहस्रों ने जो कुछ सुना, उन सबने ही आ-आकर तिपिटक में उसे संगृहीत करवा दिया हो, ऐसा भी नहीं माना जा सकता। अतः ऐतिहासिक रूप से बुद्ध के मुख से निकले हुए अनेक ऐसे भी वचन हो सकते हैं, जो तिपिटक में हमें नहीं मिलते और जिन्हें अन्यत्र हम कहीं पा भी नहीं सकते। इसी प्रकार तिपिटक में जो कुछ सुरक्षित है, वह सब बिना किसी अपवाद के बुद्ध-वचन हैं, ऐसा भी नहीं माना जा सकता। 'विभज्यवादी' (विभाग कर बतलाने वाला, बुद्ध) को समझने के लिए हमें सब प्रकार 'विभज्यवादी' ही होना पड़ेगा। हाँ, यह आश्वासन अवश्य प्राप्त है कि पालि तिपिटक में विश्वस्ततम रूप से बुद्ध-वचन अपने मौलिक रूप में सुरक्षित हैं, जैसा कि नीचे के विवरण से स्पष्ट होगा।

भगवान् बुद्ध के सभी उपदेश मौखिक थे। यद्यपि लेखन-कला का आविष्कार भारत में बुद्ध-युग के बहुत पहले ही हो चुका था और पत्र-लेखन तक बुद्ध के जीवन-काल में चलता था। स्वयं राजा बिम्बिसार ने तक्षशिला के राजा पुक्कसाति को पत्र लिखा था और उसे बुद्ध के अभिव्यक्ति के बारे में सूचना दी थी। ऐसे अन्य कई उदाहरण भी हैं। फिर भी बुद्ध-उपदेश भगवान् बुद्ध के समय में ही लेखबद्ध कर लिये गये हों, इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। भगवान् बुद्ध के सभी शिष्य उन्हें स्मृति में ही रखने का प्रयत्न करते थे, इस बात के अनेक प्रमाण स्वयं तिपिटक में ही मिलते हैं। उदाहरणतः एक बार दूर से आये हुए सोण नामक भिक्षु को जब भगवान् पूछते हैं—"कहो भिक्षु ! तुमने धर्म को कैसे समझा है ?" तो उसके उत्तर में वह सोलह अष्टक वर्गों को पूरा-पूरा स्वर के साथ पढ़ देता है। भगवान् अनुमोदन करते हुए कहते हैं—"साधु भिक्षु ! सोलह अष्टक वर्गों को तुमने अच्छी प्रकार याद कर लिया है, अच्छी प्रकार धारण कर लिया है। तुम्हारे कहने का प्रकार बड़ा अच्छा है, खुला है, निर्दोष है, अर्थ को साफ-साफ दिखा देनेवाला है।"[1] इसी प्रकार एक अन्य बार (अंगुत्तर-निकाय सुत्तक-विमर्शी) के 'नन्दमाग सुत्त' में अपने वर्णन के अनुसार हम वेलुकण्टकी नन्दमाता को प्रत्यूष काल में उठकर पारायण का प्रखर पाठ करते देखते हैं। इसी प्रकार 'सन्व्याद सुत्त' में एक साधु को अपनी सन्व्या को पूर्णवच में 'धर्म पढ़ो' की साधना करते देखे, बुद्ध-वचनों को अधिक विस्तृत रूप से धारण करनेवाले भी अनेक बहुश्रुत, स्मृति-

---

१. उदान, पृष्ठ ७९ (भिक्षु जगदीश काश्यप का अनुवाद)।

मान् भिक्षु थे। उनमें से अनेक धर्म-धर, सुत्तन्तिक (धर्म या सुत्त-पिटक को धारण करनेवाले) थे, अनेक विनय-धर (विनयपिटक या विनय-सम्बन्धी उपदेशों को धारण करनेवाले) थे, अनेक मातृका-धर (मातृकाओं—तात्त्विक उपदेश-सम्बन्धी सूचियों या अनुक्रमणियों, जिसमें बाद में अभिधम्मपिटक का विकास हुआ, को धारण करनेवाले) थे।[1] इनके विषय में तिपिटक में अनेक बार प्रशंसापूर्वक कहा गया है—"ये ते भिक्खू बहुस्सुता आगतागमा धम्मधरा विनयधरा मातिकाधरा।"[2] बाद के 'पंचनेकायिका', 'भाणक', 'सुत्तन्तिक', 'पेटको' जैसे शब्द भी इसी पूर्व परम्परा को प्रकट करते हैं। 'सुमङ्गलविलासिनी' (दीघ-निकाय का अट्ठकथा) का निदान-कथा से पता चलता है कि प्रथम सङ्गीति की समाप्ति पर उन-उन योग्यतासम्पन्न भिक्षुओं के संरक्षण में पाँचों निकायों में से एक-एक के पाठ-प्रवर्तन का काम सौंपा गया था। उदाहरणतः अङ्गुत्तर-निकाय के संरक्षण का भार स्थविर अनुरुद्ध को सौंपा गया जिन्होंने इसे अपने शिष्यों को सिखाया। इसी प्रकार महाकाश्यप और उनके शिष्यों को संयुत्त-निकाय के संरक्षण का भार सौंपा गया। यहीं से भाणक-परम्परा शुरू हुई। 'सुमङ्गल विलासिनी', 'समन्तपासादिका' आदि अनेक अट्ठकथाओं में जहाँ-तहाँ दीघभाणक;

---

१. देखिए विनय-पिटक—चुल्लवग्ग।

२. "वे भिक्षु जो बहुश्रुत, शास्त्रज्ञ और धर्म, विनय और मातृकाओं को धारण करनेवाले हैं।" विनय-पिटक—महावग्ग, चुल्लवग्ग भी; महापरिनिब्बाण-सुत्त (तृतीय भाणवार)। महापदेस-सुत्त (चतुक्क निपात-अङ्गुत्तर-निकाय); ततिय सद्धम्मसम्मोस-सुत्त (पञ्चक निपात-अङ्गुत्तर-निकाय) आदि। न केवल स्थविरवादी पालि साहित्य में बल्कि बौद्ध संस्कृत-साहित्य की परम्परा में भी, विशेषतः मूल सर्वास्तिवाद की परम्परा में, हमें धर्मधर विनयधर और मातृकाधर भिक्षुओं के निर्देश मिलते हैं। उदाहरणतः 'चीवर-वस्तु' में "बहवः भिक्षवः सूत्रधरा विनयधरा मातृकाधराः।" 'पोषध-स्थापनवस्तु' में "यत्र न सूत्रधरो, न विनयधरो, न मातृकाधरः"। 'शयना-सनवस्तु' में, "सूत्रधरो, विनयधरो, मातृकाधरो"। "दिव्यावदान' (कोटि-कर्णावदान) में "तेन प्रव्रज्या मातृकाधीप" यहीं "सूत्रस्य विनयस्स मातृकायाः"। इसी प्रकार तिब्बती परम्परा में भी हमें सूत्रान्त, विनय और मातृका के निर्देश मिलते हैं। देखिए, रॉकहिल : 'दि लाइफ ऑव दि बुद्ध, पृष्ठ १३५। बल्कि महायानी परम्परा में भी 'बोधिसत्त्व पिटक मातृका' नाम से एक ग्रन्थ मिलता है, जो उसके सूचीबद्ध रूप को प्रकट करता है।

मज्झिम भाणक भिक्षुओं की मान्यताओं के उल्लेख हैं। इसी प्रकार बुद्ध-वचन बाद भी जनता को मिले। स्वयं अंगुत्तर-निकाय के 'एतदग्गवग्ग' में हम भगवान् बुद्ध के उन प्रमुख भिक्षु-भिक्षुणी एवं उपासक-उपासिकाओं की एक लम्बी सूची देखते हैं, जिन्होंने साधना की विशिष्ट शाखाओं में दक्षता प्राप्त करने के अतिरिक्त भगवान् के वचनों को स्मरण करने में भी विशेषता प्राप्त कर ली थी।[१] इन्हीं व्रती साधकों के प्रति हम आज बुद्ध-वचनों के दायाद्य के लिए ऋणी हैं।

शास्ता के समीप रहते भिक्षुओं को ज्ञान और दर्शन का बड़ा सहारा था। किन्तु उनके अनुपाधि-शेष-निर्वाण धातु में प्रवेश कर जाने के बाद उन्हें चारों ओर अन्धकार ही दिखायी देने लगा। यह ठीक है कि बुद्ध के समान ही उन्हें धम्म का सहारा था, किन्तु साधारण जनता बहिर्मुखी थी। अन्तरात्मा की अपेक्षा वह बाहर ही अधिक देखती थी। फिर जिस 'धम्म' की शरण में शास्ता ने भिक्षुओं को छोड़ा था, उसका भी अस्तित्व अन्ततः उनके वचनों पर निर्भर था। उससे मात्र उन भिक्षुओं और अर्हतों का गुजारा हो सकता था, जिनको स्वयं शास्ता से सुनने का अवसर मिला था। किन्तु बाद की जनताओं के लिए क्या होगा? जो भिक्षु भगवान् बुद्ध के जीवन-काल में अपना अधिकतर समय और ध्यान बुद्ध-वचनों के स्मरण और संग्रह करने के बजाय उनके व्यावहारिक अभ्यास में ही लगाते थे, उन्हें भी अब यह चिन्ता होने लगी कि हमारे बाद इस थाती को कौन सँभालेगा, इस प्रकार के दीपक को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक कौन पहुँचायेगा? उनका इस प्रकार चिन्तित होना भावुकता पर आधारित नहीं था। स्वयं भिक्षु-संघ में इस प्रकार के लक्षण प्रकट हो रहे थे, जिनसे संयमी भिक्षुओं को दुःख होना स्वाभाविक था। अभी भगवान् के परिनिर्वाण को सात दिन भी नहीं हुए थे कि सुभद्र नामक बूढ़ा भिक्षु[२] कहता हुआ सुना गया था, "बस आयुष्मानो! मत शोक करो! मत विलाप करो! हम उस महाश्रमण से अच्छी तरह मुक्त

---

१. उदाहरणतः आनन्द स्थविर भगवान् बुद्ध के बहुश्रुत भिक्षु-शिष्यों में अग्रणी थे और वे परम स्मृतिवान् भी थे, जिन्हें बुद्ध के अधिकांश वचन कण्ठस्थ थे। इसी प्रकार उपासिका खुज्जुत्तरा (कुब्जोत्तरा) को भी उपासिका और वेलवकण्टकी नन्दमाता को भी तिपिटक कण्ठस्थ था। उपालि प्रथम विनयाचार्य थे ही। भिक्षु शोण का उदाहरण हम ऊपर दे ही चुके हैं।

२. सुभद्दो नाम वुड्ढ पब्बजितो। यह भिक्षु इसी नाम के उस (सुभद्र) परिव्राजक से भिन्न था, जिसने भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के समय प्रव्रज्या प्राप्त की थी और इस प्रकार जो उनका अन्तिम साक्षात् शिष्य था।

हो गये। वह हमें सदा ही यह कहकर पीड़ित किया करता था "यह तुम्हें विहित है, यह तुम्हें विहित नहीं है। अब हम जो चाहेंगे, करेंगे; जो नहीं चाहेंगे, सो नहीं करेंगे।"[१] सुभद्र जैसे अवीतराग अनेक भिक्षु भी उस समय संघ में हो सकते थे।

इस मैल को धो डालने के लिए और शास्ता की स्मृति के प्रति सम्मान प्रकट करने के लिए बुद्ध के प्रमुख शिष्यों ने उनके वचनों का संगायन करना आवश्यक समझा। सुभद्र जैसे भिक्षुओं के असंयम को देखकर आर्य महाकाश्यप की मानसिक व्यथा के दर्शन हम उनके इन शब्दों में करते हैं—"आयुष्मानो! आज हमारे सामने अधर्म बढ़ रह है, धर्म का ह्रास हो रहा है। अ-विनय बढ़ रहा है, विनय का ह्रास हो रहा है। आओ आयुष्मानो! हम धम्म और विनय का संगायन करें।"[२] इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए एक सभा की गयी। यह सभा बुद्ध-परिनिर्वाण के तीसरे मास (श्रावण) के समाप्त होने और चौथे मास (भाद्रपद) आरम्भ होने पर हुई। बुद्ध-परिनिर्वाण वैशाख-पूर्णिमा को हुआ था, अतः यह सभा सम्भवतः भाद्रपद मास के आरम्भ में हुई। श्रावण का मास तैयारी में लगा। राजगृह में वैभार गिरि के उत्तरी पार्श्व में स्थित सप्तपर्णी के द्वार पर निर्मित एक मण्डप में इस सभा की कार्यवाही चली। इस सभा में ५०० अर्हत् भिक्षु सम्मिलित हुए, अतः बौद्ध जनश्रुति में यह सभा 'पंचशतिका' नाम से भी

---

१. "अलं आवुसो! मा सोचित्थ! मा परिदेवित्थ! सुमुत्ता मयं ते महा-समणेन! उपद्दुता च होम। इदं वो कप्पति, इदं वो न कप्पतीति। इदानि पन मयं यं इच्छिस्साम तं करिस्साम। यं न इच्छिस्साम तं न करिस्साम।" महापरिनिब्बाण-सुत्त (दीघ० २।३); विनय-पिटक-चुल्लवग्ग, पंचसतिक खन्धक।

२. पुरे अधम्मो दिप्पति, धम्मो पटिबाहियति। अविनयो दिप्पति, विनयो पटिबाहियति। हन्द मयं आवुसो धम्मं च विनयं च संगायाम। विनय-पिटक—चुल्लवग्ग।

३. यद्यपि भिक्षु लोग महाकाश्यप के आदेश पर आषाढ़ मास की पूर्णिमा के दिन ही राजगृह में इकट्ठे हो गये थे और इसके दूसरे दिन ही उन्होंने वर्षावास भी आरम्भ कर दिया था, जब से यह सभा शुरू होनी थी। परन्तु सावन का महीना विहारों की मरम्मत के काम में लग गया, अतः भाद्रपद मास की द्वितीया के दिन ही यह सभा आरम्भ हुई और उसके बाद लगातार सात माह तक चलती रही।

विख्यात है। बुद्धघोषाचार्य ने 'समन्तपासादिका' (विनयट्ठकथा) की 'वाहिर निदान कथा' में इसे 'पठम महासङ्गाति' कहकर पुकारा है, जबकि बाद की दो सङ्गातियों को उन्होंने केवल 'सङ्गाति' कहा है। यह इसके महत्त्व के अनुरूप ही है। बुद्ध-वचनों को उनके मूल रूप में प्रथम बार संग्रह करने का काम इसी सङ्गाति में किया गया और बाद का सङ्गातियों का यही आधार बना। इस प्रथम सङ्गाति के सभासदों में एक आनन्द भी थे। सभापतित्व का कार्य महाकाश्यप को सौंपा गया। सभा की कार्यवाही में, जैसा स्पष्ट है, बुद्ध-वचनों का संगायन और संग्रह ही मुख्य था। संघ प्रमुख (सभापति) महाकाश्यप ने उपालि से विनय-सम्बन्धी और आनन्द से धर्म-सम्बन्धी प्रश्न पूछे और उनके उत्तरों का दूसरे भिक्षुओं ने संगायन किया। उदाहरणतः महाकाश्यप ने उपालि से पूछा—"आवुस उपालि! प्रथम पाराजिक का उपदेश कहाँ दिया गया?" "भन्ते! वैशाली में।" "किस व्यक्ति के प्रसंग में?" "कलन्द के पुत्र सुदिन्न के प्रसंग में।" "किस बात को लेकर?" "मैथुन को लेकर।" इसी प्रकार आनन्द से बुद्ध-उपदेशों (सुत्तों) के विषय में प्रश्न पूछे गये, जिनके उन्होंने उत्तर दिये। इस प्रकार निश्चित धम्म और विनय का सारी सभा ने संगायन (गण-स्वाध्याय) किया, महाकाश्यप के प्रस्ताव पर—"धम्मञ्च विनयञ्च संगायेय्याम।"

उपर्युक्त सभा का ऐतिहासिक आधार और महत्त्व क्या है, और उसमें जिस 'धम्म' और 'विनय' का स्वरूप निश्चित किया गया, उसका हमारे आज प्राप्त सुत्त और विनयपिटक से क्या सम्बन्ध है, ये प्रश्न पालि-साहित्य के विद्यार्थी के लिए बड़े महत्त्व के हैं। राजगृह की इस प्रथम संगीति का वर्णन, जिसमें धम्म और विनय का संगायन किया गया, इन ग्रन्थों में उपलब्ध होता है—(१) विनय-पिटक-चुल्लवग्ग, (२) दीपवंस, (३) महावंस, (४) बुद्धघोष-कृत समन्तपासादिका (विनय-पिटक का अट्ठकथा) का वाहिर निदान-कथा, (५) बुद्धघोष-कृत 'सुमङ्गलविलासिनी' (दीघ निकाय का अट्ठकथा) का निदानकथा, (६) बुद्धघोष-कृत 'अट्ठसालिनी' (धम्मसङ्गणि प्रकरण का अट्ठकथा) की निदान कथा, (७) महाबोधिवंस, (८) सद्धम्म सङ्गह, (९) महावस्तु और (१०) तिब्बती विनय या 'दुल्व'। इन सभी ग्रन्थों में छोटी-मोटी अनेक विभिन्नताएँ हैं। उदाहरणतः सभा के बुलाने के उद्देश्यों में ही कोई किसी बात पर जोर देता है और कोई किसी बात पर। 'चुल्लवग्ग' में सुभद्र वाले प्रकरण को ही प्रधानता देकर उसे सभा बुलाने का कारण दिखलाया गया है, जब कि 'दीपवंस' में इस प्रसंग का कोई उल्लेख नहीं है। 'महावंस' में कुछ अन्य साधारण कारण

भी दिये गये हैं।[1] हम आसानी से देख सकते हैं कि ये कोई मौलिक विभिन्नताएँ नहीं हैं। इसी प्रकार सभा में भाग लेने वाले सदस्यों की संख्या के विषय में भी विभिन्न मत हैं। ऐसा होना भी बहुत सम्भव है। हम आसानी से इतना निश्चित तथ्य तो निकाल ही सकते हैं कि यह संख्या ५०० के लगभग थी। इसी प्रकार सम्मिलित सदस्यों में से धम्म और विनय के स्वरूप के निश्चित करने में किसने कितना योग दिया, इसके विषय में भी उपर्युक्त ग्रन्थों में विभिन्न मत हैं। 'चुल्लवग्ग' के अनुसार तो सारा काम महाकाश्यप, आनन्द और उपालि ने ही किया। किन्तु 'दीपवंस' के वर्णन के अनुसार अन्य भिक्षुओं ने भी काफी योग दिया। इन अन्य भिक्षुओं में अनुरुद्ध (अनिरुद्ध), वंगीश (वागीश), पूर्ण, महाकात्यायन, महाकोट्ठित (महाकौष्ठिल) आदि मुख्य थे। यहाँ भी कोई मौलिक भेद दिखायी नहीं पड़ता। प्रत्यक्षतः महाकाश्यप, आनन्द और उपालि के ही प्रधान भाग लेने पर भी अन्य अनेक भिक्षुओं का भी उनके काम में पर्याप्त सहयोग हो सकता था। अतः उपर्युक्त ग्रन्थों के विवरणों में, जिनमें 'चुल्लवग्ग' का विवरण ही प्राचीनतम जान पड़ता है, कोई मौलिक विभिन्नताएँ नहीं हैं; बल्कि वे एक-दूसरे के पूरक हैं। उनमें से अधिकांश 'चुल्लवग्ग' के वर्णन को ही विस्तृत रूप देते हैं। उपर्युक्त वर्णनों के आधार पर बौद्ध अनुश्रुति राजगृह की सभा को एक ऐतिहासिक तथ्य के रूप में मानता है। आधुनिक विद्यार्थी भी इसमें सन्देह करने का कोई कारण नहीं देखता। ओल्डनबर्ग ने अवश्य इसमें सन्देह प्रकट किया था। उनका कहना था कि सुभद्र वाला प्रकरण, जिसे 'चुल्लवग्ग' में राजगृह की सभा

---

१. "उस महास्थविर (महाकाश्यप) ने शास्ता (बुद्ध) के धर्म की चिरस्थिति की इच्छा से लोकनाथ, दशबल भगवान् के परिनिर्वाण के एक सप्ताह बाद, बढ़े सुभद्र के दुर्भाषित वचन का, भगवान् द्वारा चीवरदान तथा अपनी समता देने का, और सद्धर्म की स्थापना के लिये किये गये भगवान् (मुनि) के अनुग्रह का स्मरण करके, सम्बुद्ध से अनुमत संगीति करने के लिये, नवाङ्ग बुद्धोपदेश को धारण करने वाले, सर्वाङ्गयुक्त, आनन्द स्थविर के कारण पाँच सौ से एक कम महाक्षीणास्रव भिक्षु चुने।" महावंस, ३/५-९ (भदन्त आनन्द कोसल्यायन का अनुवाद)। प्रथम धर्म-संग्रह करने के लिये महाकाश्यप की समर्थता दिखाने और इस सम्बन्ध में बुद्ध के द्वारा उनको चीवर-दान के रूप में निमित्त (संकेत) करने की भी बात समानरूप से 'सारत्थप्पकासिनी' (संयुत्त निकाय की अट्ठकथा) की 'चीवरसुत्तवण्णना' में तथा 'समन्त-पासादिका' (विनयट्ठकथा) की 'बाहिर निदान कथा' में भी कही गयी है।

के बुलाने का कारण बतलाया गया है, 'महापरिनिब्बाण-सुत्त' (दीघ० २।३) में भी उन्हीं शब्दों में रखा हुआ है, किन्तु वहाँ इस सभा का कोई उल्लेख नहीं है। इस मौन का कारण उन्होंने यह माना है कि 'महापरिनिब्बाण-सुत्त' के संग्राहक या सम्पादक को इसी सभा का कुछ पता नहीं था। यदि यह सभा हुई होती, तो 'महापरिनिब्बाण-सुत्त' के संग्राहक को भी इसका अवश्य पता होता और उस हालत में सुभद्र वाले प्रकरण के साथ-साथ उसने इस सभा का भी अवश्य उल्लेख किया होता। चूंकि यह उल्लेख वहाँ नहीं है, इसलिये हम मान ही सकते हैं कि यह सभा हुई ही नहीं।[१] कितना भयावह और इतिहास की प्रणाली से असिद्ध है डॉ० ओल्डनबर्ग का यह तर्क। किन्तु यह भी बहुत दिनों तक विद्वानों को भ्रम में डाले रहा। वास्तव में डॉ० ओल्डनबर्ग के तर्क का कोई आधार नहीं है। 'महापरिनिब्बाण-सुत्त' का विषय भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के दृश्य का वर्णन करना है, संघ के इतिहास का निर्देश करना नहीं। संघ के इतिहास का सम्बन्ध विनय से है। अतः भगवान् के परिनिर्वाण के बाद भिक्षुओं की विह्वल दशा का वर्णन करते हुए 'महापरिनिब्बाण-सुत्त' के संगायक या संगायकों ने सुभद्र जैसे असंयमी भिक्षु के विपरीत व्यवहार का तो उल्लेख कर दिया है, किन्तु उससे आगे जाना वहाँ ठीक नहीं समझा गया। इसके विपरीत 'विनय-पिटक' ने संघ-शासन की दृष्टि से इस तथ्य को लेकर संघ के इतिहास पर भी उसका प्रभाव दिखलाया गया है। यदि यह भी समाधान पर्याप्त न माना जाय, तो यह भी द्रष्टव्य है कि 'दीपवंस' में भी सुभद्र वाले प्रकरण का उल्लेख नहीं है, किन्तु वहाँ प्रथम संगीत का वर्णन उपलब्ध है। इसलिये 'दीपवंस' के लेखक को जब हम सुभद्र के प्रकरण में मौन रखते हुए भी प्रथम संगीति के विषय में अभिज्ञात देखते हैं, तो 'महापरिनिब्बाण-सुत्त' के विषय में ही हम ऐसा क्यों मानें कि उसका मौन इस संगीत के वास्तविक रूप से न होने का सूचक है।[२] अतः 'महापरिनिब्बाण-सुत्त' के मौन से हम उस प्रकार का निषेधात्मक निष्कर्ष नहीं निकाल सकते, जैसा ओल्डनबर्ग ने निकाला है, जब कि अनेक ग्रन्थों की भारी परम्परा उसके विपक्ष

---

१. विनय टैक्सट्स, जिल्द पहली, पृष्ठ २६ (भूमिका—सेकेंड बुक्स ऑव दि ईस्ट, जिल्द तेरहवीं)।

२. तिब्बती दुल्व की भी परिस्थिति 'दीपवंस' के समान ही है—अर्थात् वहाँ सुभद्र का प्रकरण नहीं है, किन्तु प्रथम संगीति का वर्णन है। देखिये 'बुद्धिस्टिक स्टडीज' (डॉ० लाहा द्वारा सम्पादित), पृष्ठ ४०-४१।

में है। गायगर[1] और विण्टरनित्ज[2] जैसे विद्वानों ने भी इसी कारण राजगृह की सभा को ऐतिहासिक तथ्य माना है। विण्टरनित्ज ने कुछ यह अवश्य कहा है कि भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद इतने शीघ्र इस सभा का बुलाया जाना हमसे कुछ अधिक विश्वास करने की अपेक्षा रखता है।[3] इसी प्रकार मिनयेफ ने इस सभा की ऐतिहासिकता स्वीकार करके भी यह स्वीकार करने में कुछ हिचकिचाहट की है कि बुद्ध-वचनों का संगायन भी इस सभा की कार्यवाही का एक अंग था।[4] हमारी समझ में ये दोनों ही शंकाएँ निर्मूल हैं। भारतीय साधना की आत्मा को यहाँ नहीं समझा गया। अनुकम्पक शास्ता के चले जाने पर उनके 'धम्मदायाद' भिक्षुओं के लिये इससे अधिक आवश्यक और अवश्यम्भावी कार्य क्या हो सकता था कि वे जल्दी-से-जल्दी एक जगह मिल कर भगवान् के वचनों की स्मृति करें। ब्राह्मण और क्षत्रिय गृहस्थों ने तो भगवान् के शरीर के प्रति अद्भुत आदर प्रदर्शित किये, चक्रवर्ती के समान उसका दाह-संस्कार किया और भगवान् की अस्थियों को बाँट कर उनकी पूजा की। भिक्षु क्या करते? उनके लिये तो पूजा का अन्य ही विधान शास्ता छोड़ गये थे। उनके लिये तो एक ही उपदेश था। तथागत के अन्तिम पुरुष मत बनो। 'बुद्ध' के बाद 'धम्म' की शरण लो ऐसी अवस्था में 'धम्म' की अनुस्मृति करना उनका प्रथम और एकमात्र कर्त्तव्य था। यदि वे ऐसा न करते तो हम आज यही कहते कि भगवान् का भिक्षु-संघ ही उस समय नहीं था। चूंकि हम निश्चित रूप से जानते हैं कि भिक्षु-संघ उस समय था, इसलिये उससे भी अधिक निश्चित रूप से हमें यह जानना चाहिये कि उन्होंने एक जगह मिलकर 'बुद्ध' और 'धम्म' की अनुस्मृति भी अवश्य की होगी, भगवान् के वचनों का संगायन भी अवश्य किया होगा, फिर चाहे वह किसी रूप में क्यों न हो। बुद्ध-संघ की आत्मा और उसका सारा विधान इस तथ्य की ओर निर्देश करता है, जो इतिहास के साक्ष्य से कहीं अधिक दृढ़ है; और इस विषय में

---

१. पालि लिटरेचर एण्ड लैंग्वेज, पृष्ठ ९, पद-संकेत ३।
२. इण्डियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ४।
३. वही।
४. देखिये—बुद्धिस्टिक स्टडीज (डॉ० लाहा द्वारा सम्पादित), पृष्ठ ४३।
५. ये अक्षरशः उद्धरण नहीं हैं। इन भावनाओं के लिये देखिये धम्मदायाद-सुत्त (मज्झिम० १।१।३); गोपक-मोग्गल्लान सुत्त (मज्झिम० ३।१।८); मखादेव-सुत्त (मज्झिम० २।४।३) एवं महापरिनिब्बाण-सुत्त (दीघ० २।३) आदि।

तो इतिहास का साक्ष्य भी, जैसा हम ऊपर निर्देश कर चुके हैं, बहुत अधिक पर्याप्त है।

राजगृह की सभा की ऐतिहासिकता सिद्ध हो जाने पर भी यह प्रश्न रह ही जाता है कि धम्म और विनय के जिस रूप का बुद्ध के इन प्रथम शिष्यों ने संगायन और संकलन किया, वह कहाँ तक हमारे वर्तमान रूप में प्राप्त 'सुत्त-पिटक' और 'विनय-पिटक' में मिलता है। इस प्रश्न का उत्तर अत्यन्त संयत वाणी में और क्रमशः ही दिया जा सकता है, यद्यपि आचार्य बुद्धघोष ने सुत्त-पिटक और विनय-पिटक के विभिन्न भागों के नाम ले-लेकर यह दिखाया है कि उनका संगायन प्रथम सगीति में ही किया था, फिर भी आधुनिक विद्यार्थी तो उनके इस साक्ष्य को सावधानी से ही ग्रहण करेगा। प्रथम संगीति के 'चुल्लवग्ग' केवल 'विनय-सङ्गायन' और 'धम्मसङ्गायन' का निर्देश वहाँ है—वर्णन में एक ध्यान देने योग्य बात यह है कि वहाँ विनय और धम्म (सुत्त) के संगायन की ही बात कही गयी है। अभिधम्म के संगायन की बात वहाँ नहीं है। इसी प्रकार पूर्वकालीन 'वंस' ग्रन्थ 'दीपवंस, में भी कहा गया है कि धर्म और विनय का संग्रह ही उन पाँच सौ भिक्षुओं ने किया और यही 'थेरवाद' के नाम से पुकारा जाता है। 'पञ्च सतेहि थेरेहि धम्मविनय सङ्गहो। थेरेहि कत सङ्गहो थेयवादो'ति वुच्चति।"—४।६। इस प्रकार यही ४।२७ में कहा गया है—"महाकस्सप पामोक्ख थेरा पञ्चसता च ते। कतं धम्मं च विनयसङ्गहं अविनासनं।" अभिधम्म के संगायन की बात यहाँ भी नहीं है। बल्कि 'महावंस' (३।३३) में पहले कहा गया है "सब्बें सज्झायमकरुं विनयं विनय कोविदा" और फिर उसके बाद वहीं ३।३६ में कहा गया है "सब्बें सज्झाय मकरुं धम्मं धम्मकोविदा।" यहाँ भी 'अभिधम्म' के स्वाध्याय या पाठ का कोई उल्लेख नहीं है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अभिधम्म-पिटक की रचना प्रथम संगीति के बाद के काल की है। किन्तु यह निष्कर्ष बौद्ध परम्परा को मान्य नहीं है। वह 'अभिधम्म' को 'धम्म' में ही संगृहीत मानते हैं। विशदतर रूप से आचार्य बुद्धघोष ने प्रथम संगीति के अवसर पर ही अभिधम्म के भी संगायन का उल्लेख किया है।[1] यूआन् चुआङ को भी यह बात मान्य थी। बुद्धघोष या

---

१. "ततो अनन्तरं—धम्मसंगणि-विभंगञ्च, कथवत्थुञ्च पुग्गलं, ध तुयमक-पट्ठानं, अभिधम्मोति बुच्चतीति। एवं संवण्णितं सुखुपम णगोचरं, तन्ति संगायित्वा इदं अभिधम्मपिटकं नामाति वत्वा पञ्चअरहन्तसतानि सज्झ य-मकंसु।" 'सुमंगलविलासिनी' की निदान-कथा मिलाइये समन्तपासादिका की बाहिरनिदान कथा भी। 'अट्ठसालिनी' की निदान-कथा में भी आचार्य

यूआन्-चुआङ के साथ इस हद तक सहमत न हो सकने पर भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि बुद्ध-वचन का जो स्वरूप राजगृह की सभा में स्वीकार और संग्रह किया गया, उसी पर वर्तमान पालि तिपिटक आधारित है। इस सभा के एक महत्त्वपूर्ण प्रसंग का उल्लेख कर देना और आवश्यक होगा। जिस समय यह सभा हो ही रही थी या समाप्त हो चुकी थी, पुराण नामक एक भिक्षु वहाँ विचरता हुआ आ निकला। उससे जब संगायन में भाग लेने के लिये कहा गया तो उसने कहा, "आवुस! स्थविरों ने धम्म और विनय को सुन्दर तौर से संगायन किया है। किन्तु जैसा मैंने स्वयं शास्ता के मुख से सुना है, मुख से ग्रहण किया है, मैं तो वैसा ही धारण करूँगा।"[1] पुराण स्थविर का इस उक्ति में राजगृह के सभासदों के द्वारा संगायन किये हुए धम्म और विनय के प्रति अप्रामाणिकता का भाव नहीं है, जैसा कुछ विद्वानों ने भ्रमवश सोचा है। संघ के लिये यह कोई खतरे की घंटी भी नहीं था, जैसा एक विद्वान् को भ्रम हुआ है।[2] पुराण तो एक साधक पुरुष था। एकान्त-साधना का भाव उसमें अवश्य अधिक था, जिसके कारण वह अपनी उस ध्यान-भावना में, जो उसे शास्ता के प्रत्यक्ष सम्पर्क से मिली थी, किसी प्रकार का विक्षेप नहीं आने देना चाहता था। दूसरों ने बुद्ध-मुख से जो कुछ सुना है, वह सब ठीक रहे; सत्य रहे। किन्तु पुराण को तो अपना जीवन-यापन उसी से करना, जो उसकी आवश्यकता को देखते हुए स्वयं भगवान् ने उसे दिया है। इस दृष्टि से न तो

बुद्धघोष ने कहा है कि तीन पिटकों, पाँच निकायों, नव अंगों और ८४००० धर्म स्कन्धों के रूप में बुद्ध-वचनों का विभाजन इस प्रथम संगीति में ही किया गया। एवमेतं सब्बं पि बुद्धवचनं पंचसतिकसंगीतिकाले संगायन्तेन महाकस्सपपमुखेन वसोगणेन विनयपिटकं इदं सुत्तन्तपिटकं, इदं अभिधम्मपिटकं, अयं दीघनिकायो. . .खुद्दकनिकायो, इमानि सुत्तादीनि नवङ्गानि, इमानि चतुरासीति धम्मक्खन्धसहस्सानीति इमं पभेदं ववत्थपेत्वा व संगीतं। —अट्ठसालिनी, पृष्ठ २३ (देवनागरी संस्करण, पूना १९४२)। बुद्धघोषाचार्य की इस मान्यता का अक्षरशः ,बल्कि कुछ विस्तार से, अनुमोदन सद्धम्मसङ्गह' (प्रथम परिच्छेद) में किया गया है। देखिये, आगे पाँचवें परिच्छेद में (अभिधम्म-पिटक) का विवेचन भी।

१. विनय-पिटक—चुल्लवग्ग; देखिये बुद्धचर्या, पृष्ठ ५५२ भी।

२. डॉ० रमेशचन्द्र मजूमदार ने लिखा है "This was a danger signal for the Church बुद्धिस्टिक स्टडीज (डॉ० लाहा द्वारा सम्पादित), पृष्ठ ४४।

पुराण की उक्ति में राजगृह की सभा में संगायन किये हुए बुद्ध-वचनों की अप्रामाणिकता की ओर संकेत है और न वह भिक्षु-संघ के लिये कोई खतरे की घंटी ही थी। इस प्रकार के स्वतन्त्र विचारों के प्रकाशन पर भिक्षु-संघ ने कभी प्रतिबन्ध नहीं लगाया, यह उसकी एक विशेषता है। अतः हम यह कह सकते हैं कि धर्मवादी भिक्षुओं ने धर्म का वैसा ही संगायन किया, जैसा उन्होंने स्वयं भगवान् से सुना था और जो उन्होंने संगायन किया उसके ही दर्शन हमें पालि सुत्त और विनय पिटकों में मिलते हैं; यद्यपि उसके साथ कुछ और भी मिल गया है।[1]

भगवान् के परिनिर्वाण के १०० वर्ष बाद (वस्सतपरिनिब्बुते भगवति—विनय-पिटक चुल्लवग्ग)[2] किन्तु यूआन् चुआङ्ग द्वारा निर्दिष्ट परम्परा के अनुसार ११० वर्ष बाद, वैशाली के वालुकाराम (वालिकाराम) में 'धम्म' और 'विनय' का, जैसा कि वह प्रथम संगीति में संगृहीत किया गया था, पुनः संगायन किया गया। यह बौद्ध भिक्षुओं की दूसरी संगीति थी, जिसमें ७०० भिक्षुओं ने भाग लिया। इसीलिए यह 'सप्तशतिका' भी कहलाती है। यह सभा वास्तव में विनय-सम्बन्धी कुछ विवाद-ग्रस्त प्रश्नों का निर्णय करने के लिये बुलायी गयी थी। वैशाली के भिक्षु दस बातों (दस वत्थुनि) में विनय-विपरीत आचरण' करने लगे थे, जो इस प्रकार थी।—(१) सिंगिलोणकप्प (शृगिलवण-कल्प) अर्थात् सींग में नमक भर कर ले जाना, (२) द्वंगुलकप्प (द्वयंगुल कल्प) अर्थात् दो अगुल छाया बिताकर दोपहर के बाद भी भोजन कर लेना, (३) गामन्तरकप्प (ग्राम्यन्तर-कल्प) अर्थात् किसी दूसरे गाँव में जाकर उसी दिन पुनः भोजन कर लेना, (४) आवासकप्प (आवास कल्प) अर्थात् एक ही सीमा के अन्दर बहुत-से आवासों में उपोसथ करना, (५) अनुमतिकप्प (अनुमतिकल्प) अर्थात् कर्म करने के उपरान्त स्वीकृति लेना, (६) अचिण्णकप्प (आचीर्णाकल्प) अर्थात् अपने

---

१. बुद्धघोष को भी यह मत आंशिक रूप से मान्य था। देखिये, बुद्धिस्टिक स्टडीज, पृष्ठ २२१-२२२।

२. वस्ससतम्हि निब्बुते भगवति वेसालिका वज्जिपुत्तका वेसालियं दस वत्थूनि दीपेन्ति। —दीपवंस ४।५२। सम्बुद्धपरिनिब्बाणा एवं वस्ससतं अहु, तदा वेसालिका भिक्खू.....। महावंस ४।८-९। "वस्ससतपरिनिब्बुते भगवति वेसालिका वज्जिपुत्तका भिक्खू वेसालियं दस वत्थूनि दीपेसुं।" सद्धम्मसङ्गह (द्वितीय परिच्छेद)। "वस्ससतपरिनिब्बुते भगवति।"—सासनवंसो, पृष्ठ ५ (देवनागरी संस्करण); "परिनिब्बानतो हि भगवती वस्ससतानं उपरि।" वही, पृष्ठ १२।

आचार्य या उपाध्याय के किसी भी आचरण को अपने लिये उदाहरण बना लेना, (७) अमथितकप्प (अमथितकल्प) अर्थात् भोजन के बाद ऐसे दूध को पीना जो अभी दही नहीं बना है, परन्तु जो दूध भी नहीं रहा है, (८) जळोगा-पान अर्थात् ताड़ी पीना, (९) अदसक निसिदन (अदशक निषीदन) अर्थात् बिना मगजी, का आसन प्रयोग करना और (१०) जातरूप-रजत अर्थात् सोना-चाँदी ग्रहण करना। अनेक भिक्षुओं के मत में इन दस बातों का आचरण करना विनय-विपरीत और निषिद्ध था। भिक्षुओं के दो दळ हो गये—'पाचानक' (प्राचानक) या पूर्व वाले और 'पावेय्यक' या 'पाठेय्यक' अर्थात् पश्चिम वाले। पूर्व वाले भिक्षु वैशाली के 'वज्जिपुत्तक' भिक्षु ही थे। ये अधर्मवादी थे और उपर्युक्त रूप से दस निषिद्ध बातों का सेवन करते थे। पश्चिम वाले भिक्षु, जिन्हें 'पावेय्यक' या (बरमी पाठ में) 'पाठेय्यक' कहा गया है कदाचित् पावा के निवासी थे। इन्हें पश्चिम वाले ('पच्छिमिक') इसलिये कहा गया है क्योंकि ये कोसल देश के पश्चिम में रहने वाले थे। ये धर्मवादी भिक्षु थे और इनके नेता स्थविर रेवत, सम्भूत साणवासी और यस काकण्डपुत्त जैसे अधिगमसम्पन्न भिक्षु थे। इस प्रकार पूर्व वाले भिक्षु वैशाली के विनय-विपरीत आचरण करने वाले भिक्षुओं के पक्ष में थे और पश्चिम वाले उनके विपक्ष में थे। इनमें से कौन ठीक है, इसका निर्णय करने के लिये वैशाली में यह सभा हुई, जो आठ मास तक चलती रही। पालि साहित्य के विकास की दृष्टि से भी इस सभा का बड़ा महत्त्व है। एक बात इस सभा से यह निश्चित हो जाती है कि इस समय तक भिक्षु-संघ के पास एक ऐसा सुनिश्चित संगृहीत साहित्य अवश्य था जिसके आधार पर भिक्षु विवाद-ग्रस्त प्रश्नों का निपटारा कर सकते थे, फिर चाहे वह साहित्य मौखिक परम्परा के रूप में ही भले क्यों न हो।[1] वैशाली की सभा ने वैशालिक

---

१. ऐसा ही आधार स्वयं भगवान् बुद्ध के समय में भी विद्यमान था। "भिक्षुओ" यदि कोई भिक्षु ऐसा कहे 'मैंने इसे भगवान् के मुख से सुना है, ग्रहण किया है, यह धर्म है, यह विनय है, यह शास्ता का शासन है, तो भिक्षुओ! उस दिन उस भिक्षु के भाषण का न अभिनन्दन करना, न निन्दा करना। बल्कि......सूत्र से तुलना करना, विनय में देखना। यदि वह सूत्र से तुलना करने पर, विनय में देखने पर, न सूत्र में उतरे, न विनय में दिखाई दे, तो विश्वास करना कि यह भगवान् का वचन नहीं है। किन्तु यदि वह सूत्र में भी उतरे, विनय में भी दिखाई दे, तो विश्वास करना कि अवश्य यह भगवान् का वचन है।"

भिक्षुओं के दस वातों सम्बन्धी व्यवहार को विनय-विपरीत ठहराया। इससे एक महत्त्वपूर्ण समस्या पालि साहित्य, विशेषतः विनय-पिटक के सम्वन्ध में उत्पन्न हो जाता है। आज जिस रूप में विनय-पिटक पाया जाता है, उससे उन दस वातों में से, जिनके निर्णय के लिये वैशाली की सभा बुलायी गयी थी, अधिकांश वातें स्पष्टतः बुद्ध-मन्तव्य के विपरीत ठहरायी गयी है।[१] इससे कुछ विद्वानों के द्वारा यह निष्कर्ष निकाला गया है कि आज जिस रूप में विनय-पिटक हमें प्राप्त है, वह वैशाली की सभा से पूर्व का नहीं हो सकता।[२] यदि ऐसा होता तो, इन विद्वानों के मतानुसार स्थविरों को इतना वाद-विवाद करने की आवश्यकता ही नहीं होती, क्योंकि वहाँ तो स्पष्टतः उन्हें निषिद्ध वतलाया ही गया है। अतः इन विद्वानों के द्वारा ऐसा माना गया है कि पहले विनय-पिटक का रूप कुछ और रहा होगा और वाद में वैशाली की सभा के वाद उसके निर्णयों को उसमें उचित स्थानों में समाविष्ट कर दिया होगा।[३] हम यह अस्वीकार नहीं करते कि वैशाली की सभा के परिणाम-स्वरूप विनय-पिटक के स्वरूप में कुछ संशोधन या परिवर्द्धन न किया गया हो, किन्तु हम यह नहीं मान सकते कि तत्त्वतः वैशाली की सभा से पूर्व के विनय और आज वह जिस रूप में पाया जाता है, उसमें कोई भेद है। यदि वैशालिक भिक्षुओं के व्यवहार को विनय-विपरीत वताने वाले विनय-पिटक के अंश वैशाली की सभा के पूर्व भी विद्यमान होते तो वे इन भिक्षुओं को उनके व्यवहार से किस प्रकार रोक सकते थे और किस प्रकार इस ववादं

महापरिनिब्बाण-सुत्त (दीघ० २।३); मिलाइये पठम-दुतिय-ततिय-सद्धम्म-सम्मोस-सुत्त (अंगुत्तर-निकाय—पञ्चक निपात); सङ्खित्त-सुत्त (अंगुत्तर-निकाय-अट्ठक निपात)।

१. उदाहरणतः सिंगिलोणकप्प ३८वें पाचित्तिय-सम्बन्धी नियम के विरुद्ध है, जिसके अनुसार भोजन संग्रह करना मना है। इसी प्रकार 'द्वंगुल कप्प' ३७वें पाचित्तिय के विपरीत है, जिसके अनुसार दोपहर के बाद भोजन करना मना है। 'गामन्तर कप्प' ३५वें पाचित्तिय के विपरीत है, जिसमें अतिरिक्त खाना वर्जित है। इसी प्रकार जलोगी-पान पाचित्तिय ५१ से वर्जित है और सोने-चाँदी का ग्रहण करना निस्सग्गिय-पाचित्तिय सम्बन्धी १८वें नियम के विपरीत है।

२. यह निष्कर्ष डॉ० रमेशचन्द्र मजूमदार ने प्रोफेसर पुसे के अनुसरण पर निकाला है। देखिये, बुद्धिस्टिक स्टडीज (डॉ० लाहा द्वारा सम्पादित) पृष्ठ ६२ में उनके 'बुद्धिस्ट काउंसिलस' शीर्षक लेख का अंश।

३. देखिए, बुद्धिस्टिक स्टडीज, पृष्ठ ६३-६४।

का होना या उसका निपटारा होना रुक सकता था ? यह सब तो पूर्व से चले आते हुए विनय-पिटक के स्पष्ट निषेध में भी सम्भव था और ऐसा ही हुआ भी और तभी इन भिक्षुओं के व्यवहार का संघ के द्वारा निषेध भी हो सका। वास्तव में बात यह है कि वैशाली की सभा से पूर्व और उसके कुछ शताब्दियों के बाद तक भी 'विनय', जैसे कि अन्य बुद्ध-वचन, मौखिक अवस्था ही में रहे। अतः यदि विनय-पिटक का स्वरूप वैशाली की सभा से पहले का भी यदि आज का सा ही होता, तो भी उन दस बातों पर विवाद चल सकता था, जिन पर वैशाली की सभा में वह चला और जिनमें से बहुतों के ऊपर विनय का आज स्पष्ट साक्ष्य उपलब्ध है। अतः यह मानने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होता कि वर्तमान विनय-पिटक वैशाली की सभा से पहले का नहीं है। हाँ, वैशाली की सभा ने एक बात पहली बार स्पष्ट कर दी है। वह यह कि जिस भिक्षु-सभा ने वैशाली में मिल कर अपने मतानुसार प्रामाणिक बुद्ध-मन्तव्य के अनुसार वैशाखी के वज्जि-पुत्त क भिक्षुओं के अनाचार की निन्दा की, उनका ही एकमात्र संग्रह बुद्ध-वचनों का नहीं है। जिन भिक्षुओं की इस सभा में पराजय हो गयी, उन्होंने अपनी अलग एक भारी सभा (महा-संगीति) का, जिसमें उन्होंने अपने मतानुसार नये बुद्ध-वचनों की सृष्टि की। इनके विषय में 'दीपवंस' में कहा गया है, "महा-संगीति के भिक्षुओं ने बुद्ध-शासन को बिलकुल विपरीत कर डाला। मूल संघ में भेद उत्पन्न कर उन्होंने एक नया संघ खड़ा कर दिया। मौलिक 'धम्म' को नष्ट कर उन्होंने एक नया ही सुत्तों का संग्रह किया।"[1] आदि। इन महासंगीति-कारों ने जो कुछ भी संग्रह किया हो या उनका जो कुछ भी अंश अवशेष रहा हो, हम यह निर्विवाद रूप से कह सकते हैं कि बुद्ध-वचनों के पालि-संस्करण के सामने उसका कोई प्रमाणवत्ता नहीं है। वैशाली की सभा में विनय-सम्बन्धी दस बातों के विषय में निर्णय हो जाने के बाद ७०० भिक्षुओं ने महास्थविर के सभापतित्व में

---

१. महासंगीतिका भिक्खू विलोमं अकंसु सासनं। भिन्दित्वा मूलसंघं अञ्ञं अकंसु संघं। अञ्ञत्थ संगहितं सुत्तं अञ्ञत्थ अकरिंसु ते। अत्थं धम्मं च भिन्दिसु ये निकायेसु पंचसु। यहीं आगे कहा गया है कि महासंगीति के इन भिक्षुओं ने परिवार, अभिधम्म, पटिसम्भिदा, निद्देस और जातकों के कुछ अंशों को स्वीकार नहीं किया है—परिवारं अत्थुद्धारं अभिधम्मप्पकरणं पटिसम्भिदं च निद्देसं एकदेसं च जातकं, एत्तकं निस्सज्जेत्वान अञ्ञं अकरिंसु ते। ५।३२-३८ (ओल्डनबर्ग का संस्करण)।

महाकश्यपादि क्षीणास्रव अर्हत् भिक्षु जिन्होंने राजगृह में प्रथम धर्म-संगीति की, ऐतिहासिक सन्दर्भ में 'स्थविर' कह कर पुकारे गये हैं और उन्होंने जो कुछ धर्म और विनय का विनिश्चय किया वही 'थेरवाद' (स्थविरवाद) के नाम से बाद में प्रसिद्ध हुआ। इस सम्बन्ध में 'दीपवस' ४।६ वैसे साधारणत: उस बुद्ध-शिष्य भिक्षु को स्थविर' कहा जाता है, जिसने बुद्ध-शासन में स्थिरता प्राप्त कर ली है। 'परमत्थजोतिका' (सुत्तनिपात की अट्ठकथा) की निग्रोधकप्प सुत्तवण्णना' में कहा गया है, "सासने थिरभावं पत्ती'ति थेरो।" इस प्रकार प्रत्येक अर्हत् क्षीणास्रव भिक्षु स्थविर है। परन्तु विशेषत: प्रथम संगीति के समान ही, 'धम्म' का संगायन और संकलन किया। अकरुं धम्मसगहं, । आचार्य बुद्धघोष के वर्णनानुसार बुद्ध-वचनों का तीन पिटकों, पाँच निकायों, नौ अंगों और ८४००० धर्म-स्कन्धों में पुन: अनुसंगायन इस समय किया गया। इस संगीति का ऐतिहासिकता विद्वानों को पहली की अपेक्षा अधिक मान्य है। इस संगीति का वर्णन भी प्राय: उन सब ग्रन्थों में मिलता है जिनमें प्रथम संगीति का। इनका उल्लेख पहले किया जा चुका है।

वैशाली की संगीति के बाद एक तीसरी संगीति समाट् अशोक के समय में उस राजा के राज्याभिषेक के सत्रहवें वर्ष में, बुद्ध-परिनिर्वाण के २३५ वें वर्ष में पाटलिपुत्र के अशोकाराम में हुई। इस संगीति का वर्णन दीपवंस, महावंस और

---

१. महावंस (पञ्चम परिच्छेद) में निर्दिष्ट पालि-परम्परा के अनुसार बुद्ध-परिनिर्वाण के २१८वें वर्ष में राजा धर्माशोक का राज्याभिषेक हुआ और इसके सत्रहवें वर्ष में यह सभा हुई अर्थात् बुद्ध-परिनिर्वाण के २१८वें वर्ष में। यही बात 'सासनवंस' में तृतीय सङ्गीति के समय के सम्बन्ध में कही गयी है, अर्थात् यहाँ आये कथन के अनुसार उस समय (तृतीय सङ्गीति के समय) अशोक के राज्याभिषेक को अठारह वर्ष हो चुके थे। "तदा सिर धम्मासोकरञ्ञो रज्जं पत्वा अट्ठरसवस्सानि अहेसुं।"—पृष्ठ ८, देवनागरी संस्करण। परन्तु 'अट्ठसालिनी' की निदानकथा में आचार्य बुद्धघोष ने इस सङ्गीति का समय बुद्ध-परिनिर्वाण के २१८ वर्ष बाद दिखाया है। वहाँ बुद्ध भगवान् यह भविष्यवाणी करते दिखाये गये हैं, "मेरे परिनिर्वाण के २१८ वर्ष बाद मौद्गलिपुत्र तिष्य स्थविर नामक भिक्षु 'कथावत्थु' नामक प्रकरण-ग्रन्थ का विभाजन (विश्लेषण) करेगा। "मम परिनिब्बानत्तो अट्ठारस-वस्साधिकानं द्विन्नं वस्ससतानं मत्थके मोग्गलिपुत्ततिस्सत्थेरो नाम

समन्तपासादिका (विनय-पिटक की बुद्धघोष-रचित अट्ठकथा) में मिलता है। बाद में 'सद्धम्मसङ्गह' (चौदहवीं शताब्दी) में भी और आधुनिक 'सासनवंस' (उन्नीसवीं शताब्दी) में भी। विनय-पिटक के चुल्लवग्ग में इस संगीति का निर्देश नहीं किया गया है। तिब्बत और चीन के महायानी बौद्ध-साहित्य में भी इस संगीति का निर्देश नहीं मिलता और न यूआन्-चुआङ ने ही इसके विषय में कुछ लिखा है।[1] अशोक के किसी अभिलेख में भी इस संगीति का स्पष्टतः कोई उल्लेख नहीं मिलता। अतः कुछ विद्वानों ने इसकी ऐतिहासिकता में सन्देह किया है।[2] वास्तव में बात यह है कि अशोक के समय तक बौद्ध संघ १८ सम्प्रदायों में विभक्त

भिक्खु कथावत्थुप्पकरणं भाजेस्सती" ति। यह बात यहाँ कुछ खटकने वाली लगेगी कि धम्मकित्ति महासामि थेर ने, जिन्होंने अपने ग्रन्थ 'सद्धम्मसङ्गह' में प्रायः सर्वत्र आचार्य बुद्धघोष द्वारा निर्दिष्ट स्थविरवादी मान्यताओं का ही अनुगमन किया है, यहाँ इस संगीति के समय को उक्त ग्रन्थ के तृतीय परिच्छेद में बुद्ध-परिनिर्वाण के २२८ वर्ष बाद बताया है। "सम्भासम्बुद्धपरिनिब्बानतो द्विन्नं वस्ससत्तानं उपरि अट्ठवीसतिमें (अड्ढवीसतिमे वस्से)।" बौद्ध संस्कृत परम्परा के इससे सम्बन्धित वर्णन तो और भी असामञ्जस्यपूर्ण और विभ्रमकारी हैं। उदाहरणतः 'अवदानशतक' (पृष्ठ २६१, दरभंगा संस्करण) में कहा गया है, "वर्षशतपरिनिर्वृते बुद्धे भगवति पाटलिपुत्रे नगरे राजा अशोको राज्यं कारयति"। सी प्रकार 'दिव्यावदान' (पांशुप्रदानावदान तथा कुणालावदान) में अशोक के समकालीन स्थविर उपगुप्त के सम्बन्ध में बुद्ध द्वारा भविष्यवाणी की गयी है, "मेरे परिनिर्वाण के सौ वर्ष बाद उपगुप्त होगा, जो बुद्ध-कार्य करेगा"।"..... भविष्यति उपगुप्तो यो मम वर्षशतपरिनिर्वृन्तस्य बुद्धकार्यं करिष्यति"। इस प्रकार यहाँ इस विषय को लेकर स्थविरवादी और बौद्ध संस्कृत परम्पराओं में भारी मतभेद है और ऐतिहासिक रूप से स्थविरवादी परम्परा ही प्रामाणिक है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं।

१. नवें शिलालेख में कुछ 'कथावत्थु' के समान शैली अवश्य दृष्टिगोचर होती है। देखिये, भण्डारकर और मजूमदार—इन्सक्रिप्शन्स ऑव अशोक, पृष्ठ ३४-३६।

२. जिनमें मुख्य मिनयेफ, कीथ, मैक्स वेलेसर, बार्थ, फ्रैंक और लेवी हैं। डॉ० टी० डब्ल्यू० रायस डेविड्स, श्रीमती रायस डेविड्स, विण्टरनित्ज,

हो चुका था और इनमें से जिस सम्प्रदाय का पक्ष ग्रहण कर यह सभा बुलायी गयी थी अथवा जिस सम्प्रदाय की इस सभा के बाद बुद्ध-धर्म का वास्तविक प्रतिनिधि माना गया था, वह विभज्यवादी या स्थविरवादी सम्प्रदाय था।[1] अतः यह बहुत सम्भव है

और गायगर इस सभा को ऐतिहासिक रूप से प्रामाणिक मानते हैं। देखिये, विण्टरनित्ज; हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १६९-७०, पद-संकेत, ५ एवं गायगर: पालि लिटरेचर एण्ड लैंग्वेज पृष्ठ ९, पद-संकेत २ में निर्दिष्ट साहित्य।

१. स्थविरवाद (थेरवाद) का अर्थ है स्थविरों अर्थात् वृद्ध, ज्ञानी पुरुषों और तत्त्वदर्शियों का मत। बुद्ध के प्रथम शिष्यों के लिये 'स्थविर' शब्द का प्रयोग किया गया है। इसका लक्षणीय उद्धरण हम पहले दे चुके हैं। यही ४।२९ में थेरवाद की प्रशंसा में कहा गया है—"अनञ्ञवादो सारत्थो सद्धम्मानुरक्खनो ठिति सासअद्धानं थेरवादी सहेतुका"। इसी प्रकार 'महावंस' (३।४०) में भी 'थेरेहेव कतत्ता च थेरियायं परम्परा' कहकर स्थविरवादी परम्परा के नामकरण का कारण बताया गया है। इस प्रकार अर्थ स्पष्ट है। बुद्ध-मन्तव्य के विषय में स्थविरवादियों का मत ही सर्वाधिक प्रामाणिक माना गया था, अतः स्थविरवाद का अर्थ 'प्रामाणिक मत' भी हो गया। 'दीपवंस' (४।३०) में कहा गया है—"जितने भी आर्य (भिक्षु) शासन में हैं, या कि बुद्ध शिष्य हैं, वे सब प्रथम संग्रह से सहमत हैं। ("यावता अरिया अत्थि सासने बुद्ध सादे का सब्बेपि ससनुञ्ञन्ति पठमं धम्मसङ्गहं"।) यही आगे थेरवाद को मूल 'निदान' भी कहा गया है। जो सर्वथा ठीक है। अब स्थविरवादी भिक्षु 'विभज्यवाद' के अनुयायी थे। अतः 'विभज्यवाद' (पालि, विभज्जवाद) और स्थविरवाद (पालि, थेरवाद) दोनों एक ही वस्तु के द्योतक हैं। 'विभज्यवाद' का अर्थ है विभाग कर, विश्लेषण कर, प्रत्येक वस्तु के अच्छे अंश को अच्छा और बुरे अंश को बुरा बतलाना। इसका उल्टा एकांशवाद (पालि, एकंसवाद) है, जो सोलहो आने किसी वस्तु को अच्छी या बुरी कह डालता है। भगवान् बुद्ध ने सुभ-सुत्त (मज्झिम० २।५।९) में अपने को उपर्युक्त अर्थ में विभज्यवादी कहा है। यहाँ शुभ नामक माणव (ब्राह्मण विद्यार्थी) द्वारा यह पूछे जाने पर कि ब्राह्मण ऐसा कहते हैं कि गृहस्थ ही न्याय, धर्म और कुशल का आराधक होता है, प्रव्रजित नहीं, इसमें आपका मत क्या

कि दूसरे सम्प्रदाय वालों ने इसे स्थविरवादी या विभज्यवादी भिक्षुओं की ही अपनी सभा मानकर इसका उल्लेख सामान्य बौद्ध संगीतियों के रूप में न किया हो। अशोक के अभिलेखों का इस सम्बन्ध में मौन रखने का यह कारण हो सकता है कि अशोक ने वास्तव में इस सभा में कोई महत्त्वपूर्ण भाग नहीं लिया था। केवल बाहरी व्यवस्था सम्बन्धी कार्य किया था। अथवा उसके सारे श्रेय को वह एक विनम्र उपासक के रूप में उस समय के सबसे अधिक प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् और साधक मोग्गलिपुत्त तिस्स को ही देना चाहता था, जिन्होंने यह सभा बुलायी थी और जो ही इस सभा के सभापति थे। अनेक प्रान्तों के भिक्षुओं ने इस सभा में भाग लिया।

है, आपके गौतम इस विषय में क्या कहते हैं—("इध भवं गोतमो किमाहा'ति) तो भगवान् उससे कहते हैं, "माणव! यहाँ मैं विभज्यवादी हूँ, एकांशवादी नहीं"—"विभज्जवादो खो अहमेत्थ, माणव, नाहमेत्थ एकंसवादो।" कदाचित् इसी बुद्ध-वचन को ध्यान में रखकर तृतीय सङ्गीति के प्रसंग में एक विस्तृत अर्थ में 'महावंस' (५।२७१) में कहा गया है, "विभज्जवादी सम्बुद्धो होति"। इस अर्थ में वे 'विभत्तवा' भी कहलाते हैं अर्थात् विवेकपूर्वक प्रत्येक वस्तु का विभाजन कर, विश्लेषण कर, सत्यांश को सत्य और मिथ्यांश को मिथ्या कहने वाले स्थविरवादी भिक्षु भी यही दृष्टिकोण रखते थे। विभज्यवाद का एक सूक्ष्म और तात्त्विक अर्थ भी है, जिसका उपदेश भगवान् बुद्ध ने दिया था। इस अर्थ के अनुसार मानसिक और भौतिक जगत् की सम्पूर्ण अवस्थाओं का स्कन्ध, आयतन और धातु आदि में विश्लेषण किया जाता है, किन्तु फिर भी उसमें 'अत्ता' (आत्मा) या स्थिर तत्त्व जैसा कोई पदार्थ नहीं मिलता। विभज्यवाद के इस सूक्ष्म अर्थ के विवेचन के लिये देखिये—भिक्षु जगदीश काश्यप : अभिधम्म फिलॉसफी, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १९-२२; विभज्यवाद आत्मा, अनात्मा, शाश्वत, अशाश्वत आदि विकल्प में डालने वाले से प्रश्नों में भी केवल विभाग कर-करके कहता है, एकांशवाद के रूप में हठ करके कुछ नहीं कहता। स्थविरवाद और विभज्यवाद के पारस्परिक सम्बन्ध के अधिक निरूपण के लिए देखिए—गायगर; पालि लिटरेचर एण्ड लैंग्वेज, पृष्ठ ९, पद-संकेत १, तथा विण्टरनित्ज : इण्डियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६, पद-संकेत २ में निर्दिष्ट साहित्य। देखिये विसुद्धि मग्ग दीपिका (विसुद्धिमग्ग) पर धर्मानन्द कौसाम्बी कृत टीका, पृष्ठ १२५ भी।

इस सभा का मुख्य उद्देश्य यह था कि बौद्ध संघ में जो अनेक अ-बौद्ध लोग सम्राट् अशोक के बौद्ध संघ सम्बन्धी दानों से आकृष्ट होकर घुस गये थे; उनका निष्कासन किया जाय और बुद्ध-उपदेशों का प्रकाशन किया जाय। सभा की कार्यवाही में यही काम किया गया। साथ ही, पाटलिपुत्र की इस सभा में अन्तिम रूप से बुद्ध-वचनों के स्वरूप का निश्चय किया गया और ९ महीनों के अन्दर भिक्षुओं ने मोग्गलिपुत्त तिस्स के सभापतित्व में बुद्ध-वचनों का संगायन और पारायण किया। इसी समय मोग्गलिपुत्त तिस्स ने, जिनकी आयु इस समय बहत्तर वर्ष की थी, मिथ्यावादी १७ बौद्ध सम्प्रदायों का निराकरण करते हुए 'कथावत्थु' नामक ग्रन्थ की रचना की, जिसे 'अभिधम्म-पिटक' में स्थान मिला।[१] जैसा पहले कहा जा चुका है, बुद्धघोष और यूआन्-चुआङ के वर्णन के अनुसार अभिधम्म-पिटक का भी संगायन महाकाश्यप ने प्रथम संगीति के अवसर पर ही किया था। किन्तु उसकी इतनी प्राचीनता अपने वर्तमान रूप में विद्वानों को मान्य नहीं है। कम-से-कम इस तीसरी संगीति के वर्णन से इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि 'कथावत्थु' की रचना महास्थविर मोग्गलिपुत्त तिस्स ने अशोक के समय में की। इतना भी निश्चित है कि सम्पूर्ण अभिधम्म-पिटक के स्वरूप का निश्चय अन्तिम रूप से इस संगीति के समय तक हो गया था। इस सभा के परिणामस्वरूप एक महत्त्वपूर्ण निश्चय विदेशों में बुद्ध-धर्म के प्रचार करने के लिये उपदेशकों को भेजने का भी किया गया। अशोक के तेरहवें और द्वितीय शिलालेखों से यह स्पष्ट होता है कि उसने न केवल अपने विशाल साम्राज्य के विभिन्न प्रान्तों में ही बल्कि सीमान्त देशों में बसने वाली यवन, काम्बोज, गान्धार, राष्ट्रिक, पितनिक, भोज, आन्ध्र, पुलिन्द आदि जन-जातियों में और केरलपुत्र, सत्यपुत्र, चोल, पाण्ड्य नामक दक्षिणी भारत के स्वाधीन राज्यों में तथा सिंहल द्वीप में भी बुद्ध-धर्म के प्रचारार्थ धर्मोपदेशकों को भेजा था। 'दीपवंस'[२], महावंस[३] और समन्तपासादिका[४] (बाहिरनिदान-कथा) में उन भिक्षुओं का नामावली सुरक्षित है, जिन्हें भिन्न-भिन्न देशों में बुद्ध-धर्म का प्रचार करने के लिये भेजा गया था। इसी का अनुगमन सद्धम्म सङ्गह (चतुर्थ परिच्छेद) में भी किया गया है। किस-किस भिक्षु को किस-किस प्रदेश में भेजा गया, इसकी यह सूची इस प्रकार है—

---

१. महावंश ५।२७८-२८०।
२. परिच्छेद ८।
३. ५।२८०; १२।१-८।
४. प्रथम भाग, पृष्ठ ५५ (देवनागरी संस्करण)।

१. स्थविर माध्यन्तिक (मज्झन्तिक) —कश्मीर और गन्धार प्रदेश को।
२. स्थविर महादेव —महिष मंडल (महिंसक मंडल) को। (नर्मदा के दक्षिण् का प्रदेश)
३. स्थविर रक्षित (रक्खित) —वनवासि-प्रदेश को। (वर्तमान उत्तरी कनारा)
४. यूनानी भिक्षु धर्मरक्षित (योनक धम्मरक्खित) —अपरान्तक प्रदेश को। (वर्तमान बम्बई से लेकर गुजरात तक का समुद्री तट से लगा प्रदेश)
५. स्थविर महाधर्मरक्षित (महाधम्मरक्खित) —महाराष्ट्र (महारट्ठ) को।
६. स्थविर महारक्षित (महारक्खित) —यवन-देश (योनक लोक) को। (बैक्ट्रिया)
७. स्थविर मध्यम (मज्झिम) —हिमालय-प्रदेश (हिमवन्त) को।
८. स्थविर शोण और उत्तर (दोनों भाई) —सुवर्णभूमि (सुवण्णभूमि) को। (वरमा)
९. महेन्द्र (महिन्द), ऋष्ट्रिय (इट्ठिय), उत्त्रिय (उत्तिय), शम्वल (सम्वल) और भद्रशाल (भद्दसाल), ये पाँच भिक्षु —ताम्रपर्णी (तम्वपण्णि) को। (लंका)

उपर्युक्त सूची ऐतिहासिक रूप से प्रामाणिक है। साँची-स्तूप में इन आचार्यों में से कुछ के नाम उत्कीर्ण हैं।[१] अजन्ता की चित्रकारी में भी एक चित्र महेन्द्र और संघपित्रा (अशोक के प्रव्रजित पुत्र और पुत्री, जो अन्य भिक्षुओं के साथ लंका में धर्म प्रचारार्थ गये) का सिंहल-यात्रा को अमर बनाता है। फिर लंका में आज तक महेन्द्र और संघमित्रा तथा उनके साथी-अन्य भिक्षुओं की स्मृति के लिये जो जीवित श्रद्धा विद्यमान है, वह केवल कल्पना पर ही आश्रित नहीं हो सकती। अशोक का धर्म-प्रचार का कार्य यहीं तक सीमित नहीं था। उसने अपने धर्म-

---

१. देखिये, बुद्धिस्टिक स्टडीज, पृष्ठ २०८ और ४६१; मिलाइये, अशोक की धर्मलिपियाँ, प्रथम भाग, पृष्ठ १६१-६२।

२. स्थविर मज्झिम को वहाँ 'हिमवान् प्रदेश का उपदेशक' (हिमवताचरिय') कह कर स्मरण किया गया है।

प्रचारक उस समय के प्रसिद्ध पाँच यूनानी (यवन) राज्यों में भी भेजे। इस प्रकार सिरिया और बैक्ट्रिया के राजा अन्तियोक (एंटियोकस थियोस—ई० पू० २६१-२४६ ई० पू०); मिस्र के राजा तुरमय (टॉलेम फिलाडेल्फस—ई० पू० २८५-२४७ ई० पू०), मेसिडोनिया के राजा अन्तकिन (ऐंटिगोनस गोनटस—ई० पू० २७८-२३९ ई० पू०), सिरीन (मिश्र के पश्चिम में) के राजा मग (मेगस—ई० पू० २८५-२५८ ई० पू०) और एपिरस के राजा अलिकसुन्दर या अलिकसुन्दर (एलेक्जेण्डर ई० पू० २७२-२५८ ई० पू०) के देशों तक अशोककालीन बौद्ध भिक्षु और भिक्षुणियाँ बुद्ध का सन्देश लेकर गये।[1] इस सब विस्तृत धर्म-प्रचार के इतिहास में से हमें यहाँ लंका-सम्बन्ध प्रचार कार्य से ही अधिक सम्बन्ध है। श्री लंका में स्थविर महामहेन्द्र और उनके अन्य साथी बुद्ध-धर्म को ले गये। वहाँ के राजा देवानंपिय तिस्स ने भारतीय भिक्षुओं का बड़ा सत्कार किया और उनके सन्देश को स्वीकार किया। स्थविर महेन्द्र और उनके साथी भिक्षु लंका में उस तिपिटक को भी ले गये थे जिसके स्वरूप का अन्तिम निश्चय पाटलिपुत्र की संगीति में हो चुका था। लंका में अनुराधपुर नगर में 'महा-विहार' की स्थापना हुई और तिपिटक के अध्ययन का क्रम चलता रहा। परन्तु यह अध्ययन-क्रम अभी कुछ और शताब्दियों तक केवल मौखिक परम्परा (मुखपाठेन) में ही चलता रहा।[2] बाद में लंका के राजा वट्टगामणि अभय (२९-१७ ई० पू०) के समय में प्रथम शताब्दी ईस्वी-पूर्व में, बुद्ध-परिनिर्वाण के ४३३ वर्ष बाद, एक और चौथ-धर्म-संगीति हुई और जिस तिपिटक को स्थविर महामहेन्द्र और उसके साथ भिक्षु अशोक और देवानंपिय तिस्स के समय में लंका ले गये थे, उसे ताड़पत्रों पर लेख-बद्ध कर दिया गया।[3] तब से वह उसी रूप में चला आ रहा है। स्थविर महा-

---

१. देखिये, शिलालेख १३ तथा २।

२. इस बात का अनेक 'दश' ग्रन्थों में उल्लेख है। उदाहरणतः "मुखपाठेन आनेसुं पुब्बे भिक्खू महामतो"। दीपवंस २०।२०; महावंस ३३।१००; मुखपाठेन परम्पराय आनीतं ते पिटकं बुद्धवचनं मुखपाठेसु टिट्ठति'। सद्धमसङ्गह (छठा परिच्छेद)। "भगवतो धरमानकालतो पभुति चिरकालं यथावुत्त महाथेरपरम्परा परियत्ति मुखपाठेनेव धरेसुं।" सासनवंसो, पृष्ठ २२ (देवनागरी संस्करण)। "यथवुत्तथेरपरम्परा पन भगवतो धरमानकालतो पठ्ठाय याव पोत्थकारूल्हा मुखपाठेनेव पिटकत्तयं धारेसु"। वही, पृष्ठ २०।

३. दीपवंस २०।२०-२१ (ओल्डनबर्ग का संस्करण), महावंस ३३।१००

महेन्द्र के लंका-गमन और वट्टगामणि अभय के समय में चौथी धर्म-संगीति के परिणामस्वरूप तिपिटक के लेखबद्ध होने के समय के बीच में दो और धर्म-संगीतियाँ क्रमशः देवानंपिय तिस्स (२४७-२०७ ई० पू०) और दुट्ठगामणि (१०१-७७ ई० पू०) नामक लंकाधिपों के समयों में हुई, परन्तु उनको अधिक महत्त्व नहीं दिया जाता और गिनती भी प्रायः नहीं की जाती।[1] यह निश्चित है कि इन संगीतियों में तिपिटक के स्वरूप में कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नहीं किया गया और वट्टगामणि अभय के समय में जिस तिपिटक को लेखबद्ध किया गया, वह वही था जिसे पाटलिपुत्र की संगीति में अन्तिम रूप से सुनिश्चित किया जा चुका था और जिसे ही स्थविर महेन्द्र और अन्य भिक्षु वहाँ ले गये थे।[2]

---

१०१ (गायगर का संस्करण)। देखिए महावंश, पृष्ठ १७८-७९ (भदन्त आनन्द कौसल्यायन का अनुवाद)।

१. स्थविर महेन्द्र की इच्छा थी कि श्रीलंका में बुद्ध-शासन प्रतिष्ठित हो और उसकी परम्परा वहाँ चले। इस कार्य के लिये उन्होंने राजा देवानंपिय तिस्स के शासन-काल में ही बुद्ध-परिनिर्वाण के २३८ वर्ष बाद, अनुराधपुर के थूपाराम में स्थविर महाअरिट्ठ की अध्यक्षता में एक 'धर्म संगीति' करवाई जिसमें तिपिटक का संगायन किया गया। 'समन्तपासादिका' में इस संगायन का उल्लेख है, परन्तु धर्म-संगीति के रूप में इसकी गिनती प्रायः नहीं की जाती। केवल उत्तरकालीन वंश-ग्रन्थ 'सद्धम्मसङ्गह' के पाँचवें परिच्छेद में इसे चतुर्थ संगीति अवश्य माना गया है और इस रूप में इसका वर्णन किया गया है। दुट्ठगामणि के समय में हुई धर्म-संगीति को स्वतंत्र महत्ता प्रायः कहीं नही दी गयी।

२. ऊपर हम कह चुके हैं कि राजा वट्टगामणि अभय के समय में जो धर्मसङ्गीति हुई उसे चौथी धर्मसङ्गीति माना जाता है और उसके परिणामस्वरूप ही पालि तिपिटक को लेखबद्ध किया गया। इस चतुर्थ सङ्गीति के सम्बन्ध में 'सासनवंस' (पृष्ठ २२, देवनागरी संस्करण) में लक्षणीय रूप से कहा गया है, "पञ्चमत्ता महाथेरसता वट्टगामणि राजानं निस्साय तम्बपण्णिदीपे अट्ठकथाय सह पिटकत्तयं पोत्थके आरोपेसुं तं च चतुत्थसङ्गीति येव नामा' ति वेदितब्बा।" 'सद्धमसङ्गह' के छठे परिच्छेद ('पिटकत्तयलेखवण्णना') में इसी सङ्गीति का वर्णन है, और इसके परिणामस्वरूप ही तीनों पिटकों के लेखन-कार्य का वर्णन है, परन्तु इसे वहाँ पञ्चम धर्मसङ्गीति के समान (पंचमं धम्मसङ्गीति

इस प्रकार बुद्ध के परिनिर्वाण-काल से लेकर प्रथम शताब्दी ईस्वी-पूर्व तक पालि साहित्य के विकास को हमने देखा। इससे आगे पालि साहित्य के उस अंश के विकास की कहानी है जो प्रथम शताब्दी ईस्वी-पूर्व तक अन्तिम रूप से सुनिश्चित

सदिसं) माना गया है, क्योंकि इससे पूर्व वहाँ पाँचवें परिच्छेद में लंकाधिराज देवानं पिय तिस्स के समय में हुई सङ्गीति को चतुर्थ सङ्गीति की मान्यता दे दी गयी है। कुछ भी हो, 'सद्धमसङ्गह' में यह महत्त्वपूर्ण अतिरिक्त सूचना भी दी गयी है कि राजा वट्टगामणि के समय में हुई सङ्गीति में तीनों पिटकों के लेखबद्ध किये जाने का काम एक वर्ष में पूरा हुआ। इसके बाद पालि तिपिटक के केवल सम्पादन और पाठ संशोधन की कहानी भर रह जाती है, जिसे बाद की संगीतियों में पूरा किया गया। इस प्रकार की दो संगीतियों का उल्लेख कर देना यहाँ आवश्यक होगा। एक संगीति, जिसे साधारणतः स्थविरवाद परम्परा की पाँचवीं संगीति माना जा सकता है, बरमा में माण्डले (रतनपुण्ण नगर) में सन् १८७१ ई० में वहाँ के राजा मिन्दोन-मिन् (१८५२-१८७७ ई०) के संरक्षण में हुई। इसके परिणामस्वरूप पालि तिपिटक का तीन वर्षों तक पाठ और सम्पादन किया गया और विनय-पिटक, सुत्त-पिटक और अभिधम्म पिटक को क्रमशः १११, ४१० और २०८ संगमरमर की पट्टियों पर बर्मी अक्षरों में लिखा गया। ये पट्टियाँ अभी तक माण्डले के पास कुथो-दाच् नामक विहार में सुरक्षित हैं। अभी सन् १९५४-५६ में फिर एक छठा संगायन (छट्ठ सङ्गायनं) पालि तिपिटक का रंगून (बरमा) में हुआ जिसके परिणामस्वरूप पालि तिपिटक का एक अन्तिम रूप से संशोधित रूप बर्मी अक्षरों में छापा गया। हमारा देवनागरी तिपिटक संस्करण, जिसे भिक्षु जगदीश काश्यप ने योग्यता-पूर्वक संपादित किया है, बर्मा में हुए इस छट्ठ संगायन के पाठ पर ही मुख्यतः आधारित है। स्थविरवाद-परम्परा के अन्तर्गत ही कुछ अन्य धर्म-संगीतियाँ भी, विशेषतः थाई-देश (स्याम) में, उत्तरकालीन युगों में हुई। इसका अधिक साहित्यिक महत्त्व नहीं है, यद्यपि बौद्धधर्म के वहाँ पुनरुत्थान की दृष्टि से ये बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। संगीति-वंस में, जो स्याम में सन् १७८९ में लिखित एक रचना है, नौ धर्म-संगीतियों का उल्लेख है, जिनमें दो थाई-देश (स्याम) में हुई। स्थविरवाद से बाहर हुई प्रभावशाली बौद्ध संगीतियों का उल्लेख करना तो यहाँ अप्रासंगिक ही होगा।

और लिखित उपर्युक्त तिपिटक को आधार मान कर लिखा गया है। स्वभावतः यहाँ हम पालि-साहित्य के विस्तार और विभाजन के प्रश्न पर आते हैं।

पालि-साहित्य का विस्तार--दो मोटे भागों में उसका वर्गीकरण--पालि या पिटक साहित्य एवं अनुपालि या अनुपिटक साहित्य

विषय की दृष्टि से पालि साहित्य उतना विस्तृत और पूर्ण नहीं है, जितने संस्कृतादि अन्य साहित्य। अनेक प्रकार की ज्ञान-शाखाओं पर उसमें साहित्य नहीं मिलता। ठीक बात तो यह है कि बौद्ध धर्म—स्थविरवादी बौद्ध धर्म—के अलावा उसमें ज्ञातव्य ही अल्प है। विभिन्न ज्ञान-शाखाओं की वह बहुमूल्य सम्पत्ति उसमें नहीं मिलती जो एक सर्वविध समृद्ध साहित्य से सम्बन्ध रखती है। फिर भी पालि-साहित्य के अन्य अनेक बड़े आकर्षण हैं। उसके साहित्य का विकास न केवल भारत में ही, अपितु लंका, बरमा और स्याम में भी हुआ है और स्वभावतः उसने इन सब देशों की भाषाओं और विचार-परम्परा को भी प्रभावित किया है। पालि-साहित्य की रचना बुद्ध-काल से लेकर आज तक निरन्तर होती चली आ रही है। अतः उसके विकास का २५०० वर्ष का इतिहास है। कालानुक्रम और प्रवृत्तियाँ, दोनों की ही दृष्टि से पालि-साहित्य को दो मोटे भागों में विभक्त किया जा सकता है—(१) पालि या पिटक साहित्य, (२) अनुपालि या अनुपिटक साहित्य। पालि या पिटक साहित्य का विकास, जैसा ऊपर दिखाया जा चुका है, बुद्ध-निर्वाणकाल से लेकर प्रथम शताब्दी ई० पू० तक है। अनुपालि या अनुपिटक साहित्य के विकास का इतिहास प्रथम शताब्दी ई० पू० से लेकर वर्तमान काल तक चला आ रहा है।

पिटक-साहित्य के ग्रन्थों का संक्षिप्त विश्लेषण और काल-क्रम

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, पालि या पिटकसाहित्य तीन भागों में विभक्त है—सुत्त-पिटक, विनय-पिटक और अभिधम्म-पिटक। सुत्त-पिटक पाँच निकायों या शास्त्रों में विभाजित है, जिनके नाम हैं, दीघ-निकाय, मज्झिम-निकाय, संयुत्त-निकाय, अंगुत्तर-निकाय और खुद्दक-निकाय विनय-पिटक अपने आप में एक परिपूर्ण ग्रन्थ है, किन्तु उसकी विषयवस्तु तीन भागों में विभक्त है—सुत्त-विभंग; खंधक और परिवार। सुत्त-विभंग के दो विभाग हैं—पाराजिक और पाचित्तिय। इसी प्रकार खंधक के भी दो भाग हैं—महावग्ग और चुल्लवग्ग। अभिधम्म-पिटक में सात बड़े-बड़े ग्रन्थ हैं, जिनके नाम हैं धम्मसंगणि, विभंग, धातुकथा, पुग्गलपञ्ञत्ति, कथावत्थु, यमक और पट्ठान। सुत्त-पिटक

के पाँच निकायों का कुछ अधिक विश्लेषण कर देना यहाँ आवश्यक जान पड़ता है। दीघ-निकाय में कुल ३४ सुत्त हैं, जो तीन वर्गों में विभाजित हैं। पहले सीलक्खन्ध-वग्ग में १३ सुत्त हैं, दूसरे महावग्ग में १० सुत्त हैं और तीसरे पाटिक-वग्ग या पाथिक-वग्ग में ११ सुत्त हैं। यह वर्गीकरण इस प्रकार दिखाया जा सकता है—

दीघ-निकाय

(अ) सीलक्खन्ध-वग्ग

१. ब्रह्मजाल-सुत्त
२. सामञ्ञफल-सुत्त
३. अम्बट्ठ-सुत्त
४. सोणदंड-सुत्त
५. कूटदन्त-सुत्त
६. महालि-सुत्त
७. जालिय-सुत्त
८. कस्सपसीहनाद-सुत्त
९. पोट्ठपाद-सुत्त
१० सुभ-सुत्त
११. केवड्ढ (या केवट्ट)-सुत्त
१२. लोहिच्च-सुत्त
१३. तेविज्ज-सुत्त

(आ) महावग्ग

१४. महापदान-सुत्त
१५. महानिदान-सुत्त
१६. महापरिनिब्बाण-सुत्त (महापरिनिव्वान-सुत्त भी)
१७. महासुदस्सन-सुत्त
१८. जनवसभ-सुत्त
१९. महागोविन्द-सुत्त
२०. महासमय-सुत्त
२१. सक्कपञ्ह-सुत्त

२२. महासतिपट्ठान-सुत

२३. पायासि-राजञ्ञ-सुत्त (पायासि-सुत्त भी)

(इ) पाटिक-वग्ग

२४. पाटिक-सुत्त (पाथिक-सुत्त भी)
२५. उदुम्बरिक-सीहनाद-सुत्त (उदुम्बरिक-सुत्त भी)
२६. चक्कवत्ति-सीहनाद-सुत्त (चक्कवत्ति-सुत्त भी)
२७. अगञ्ञ-सुत्त
२८. सम्पसादनीय-सुत्त (सम्पसादनिय-सुत्त भी)
२९. पासादिक-सुत्त
३०. लक्खण-सुत्त
३१. सिंगालोवाद (या सिगालोवाद)-सुत्त
३२. आटानाटिय-सुत्त
३३. सङ्गीति-परियाय-सुत्त (संगीति-सुत्त)
३४. दसुत्तर-सुत्त

मज्झिम-निकाय में १५२ सुत्त हैं, जो १५ वर्गों में इस प्रकार विभाजित हैं—

मज्झिम-निकाय

१. मूल-परियाय-वग्ग

१. मूलपरियाय-सुत्त
२. सब्बासव-सुत्त
३. धम्मदायाद-सुत्त
४. भयभेरव-सुत्त
५. अनंगण-सुत्त
६. आकंखेय्य-सुत्त
७. वत्थूपम-सुत्त
८. सल्लेख-सुत्त
९. सम्मादिट्ठि-सुत्त
१०. सतिपट्ठान-सुत्त

२. सीहनाद-वग्ग

११. चूलसीहनाद-सुत्त
१२. महासीहनाद-सुत्त
१३. महादुक्खक्खन्ध-सुत्त
१४. चूलदुक्खक्खन्ध-सुत्त
१५. अनुमान-सुत्त
१६. चेतोखिल-सुत्त
१७. वनपत्थ-सुत्त
१८. मधुपिण्डिक-सुत्त
१९. द्वेधावितक्क-सुत्त
२०. वितक्कसण्ठान-सुत्त

३. ओपम्म-वग्ग

२१. ककचूपम-सुत्त
२२. अलगद्दूपम-सुत्त
२३. वम्मिक-सुत्त
२४. रथविनीत-सुत्त
२५. निवाप-सुत्त
२६. अरियपरियेसन-सुत्त (या पासरासि-सुत्त)
२७. चूलहत्थिपदोपम-सुत्त
२८. महाहत्थिपदोपम-सुत्त
२९. महासारोपम-सुत्त
३०. चूलसारोपम-सुत्त

४. महायमक-वग्ग

३१. चूलगोसिंग-सुत्त
३२. महागोसिंग-सुत्त
३३. महागोपालक-सुत्त
३४. चूलगोपालक-सुत्त
३५. चूलसच्चक-सुत्त
३६. महासच्चक-सुत्त

६३. चूलमालुंक्य-सुत्त
६४. महामालुंक्य-सुत्त
६५. भद्दालि-सुत्त
६६. लटुकिकोपम-सुत्त
६७. चातुम-सुत्त
६८. नलकपान-सुत्त
६९. गुलिस्सानि-सुत्त (गोलियानि-सुत्त—नालन्दा संस्करण। गोलिस्सानि-सुत्त—सिंहली संस्करण)।
७०. कीटागिरि-सुत्त

८. परिब्बाजक-वग्ग

७१. तेविज्जवच्छगोत्त-सुत्त
७२. अग्गिवच्छगोत्त-सुत्त
७३. महावच्छगोत्त-सुत्त
७४. दीघनख-सुत्त
७५. मागन्दिय-सुत्त
७६. सन्दक-सुत्त
७७. महासकुलुदायि-सुत्त
७८. समणमण्डिका-सुत्त
७९. चूलसकुलुदायि-सुत्त
८०. वेखनस-सुत्त (वेखनस्स-सुत्त भी)

९. राज-वग्ग

८१. घटिकार-सुत्त (या घटीकार-सुत्त)
८२. रट्ठपाल-सुत्त
८३. मखादेव-सुत्त
८४. मधुर-सुत्त
८५. बोधिराजकुमार-सुत्त
८६. अंगुलिमाल-सुत्त
८७. पियजातक-सुत्त
८८. बाहितिक-सुत्त (बाहितिय-सुत्त भी)

१०. ब्राह्मण-वग्ग

११. देवदह-वग्ग

१२. अनुपद-वग्ग

१५. सलायतन-वग्ग

१४३. अनाथपिण्डिकोवाद-सुत्त
१४४. छन्नोवाद-सुत्त
१४५. पुण्णोवाद-सुत्त
१४६. नन्दकोवाद-सुत्त
१४७. चूल-राहुलोवाद-सुत्त
१४८. छछक्क-सुत्त
१४९. महासफ्रायतिनक-सुत्त
१५०. नगरविन्देय्य-सुत्त
१५१. पिण्डपातपारिसुद्धि-सुत्त
१५२. इन्द्रियभावना-सुत्त

संयुत्त-निकाय में कुल ५६ संयुत्त हैं; जो ५ वर्गों में इस प्रकार विभाजित हैं।

संयुक्त-निकाय

(१) सगाथ-वग्ग, जिसमें ११ संयुत्त है।

१. देवता-संयुत्त
२. देवपुत्त-संयुत्त
३. कोसल-संयुत्त
४. मार-संयुत्त
५. भिक्खुणी-संयुत्त
६. ब्रह्मा-संयुत्त
७. ब्राह्मण-संयुत्त
८. वंगीय-संयुत्त
९. वन-संयुत्त
१०. यक्ख-संयुत्त
११. सक्क-संयुत्त

(२) निदान-वग्ग, जिसमें १० संयुत्त हैं।

१. निदान-संयुत्त
२. अभिसमय-संयुत्त

३. धातु-संयुत्त
४. अनमतग्ग-संयुत्त
५. कस्सप-संयुत्त
६. लाभ-सक्कार-संयुत्त
७. राहुल-संयुत्त
८. लक्खण-संयुत्त
९. ओपम्म-संयुत्त
१०. भिक्खु-संयुत्त

(३) खन्ध-वग्ग, जिसमें १३ संयुत्त हैं।

१. खन्ध-संयुत्त
२. राध-संयुत्त
३. दिट्ठि-संयुत्त
४. ओक्कन्तिक-संयुत्त
५. उप्पाद-संयुत्त
६. किलेस-संयुत्त
७. सारिपुत्त-संयुत्त
८. नाग-संयुत्त
९. सुपण्ण-संयुत्त
१०. गन्धब्बकाय-संयुत्त
११. वलाह-संयुत्त
१२. वच्छगोत्त-संयुत्त
१३. झान-संयुत्त

(४) सलायतन-वग्ग, जिसमें १० संयुत्त हैं।

१. सळायतन-संयुत्त
२. वेदना-संयुत्त
३. मातुगाम-संयुत्त
४. जम्बुखादक-संयुत्त
५. सामण्डक-संयुत्त
६. मोगल्लान-संयुत्त
७. चित्त-संयुत्त

८. गामणि-संयुत्त
९. असंखत-संयुत्त
१०. अव्याकत-संयुत्त

(५) महावग्ग, जिसमें १० संयुत्त हैं।

१. मग्ग-संयुत्त
२. वोज्झंग-संयुत्त
३. सतिपट्ठान-संयुत्त
४. इन्द्रिय-संयुत्त
५. सम्मप्पधान-संयुत्त
६. वल-संयुत्त
७. इद्धिपाद-संयुत्त
८. अनुरुद्ध-संयुत्त
९. झान-संयुत्त
१०. आनापाण-संयुत्त
११. सोतापत्ति-संयुत्त
१२. सच्च-संयुत्त

अंगुत्तर-निकाय का विभाजन बिलकुल संख्यावद्ध है। एक-एक, दो-दो, तीन-तीन, इस प्रकार क्रमानुसार ग्यारह तक उतनी ही उतनी संख्या से सम्बन्ध रखने वाले बुद्ध-उपदेशों का संग्रह है। इस प्रकार यह महाग्रन्थ ११ निपातों (समूहों) में विभक्त हैं—

१. एकक-निपात
२. दुक-निपात
३. तिक-निपात
४. चतुक्क-निपात
५. पंचक-निपात
६. छक्क-निपात
७. सत्तक-निपात
८. अट्ठक-निपात
९. नवक-निपात

१०. दसक-निपात
११. एकादसक-निपात

खुद्दक-निकाय में स्वतन्त्र १५ ग्रन्थ हैं, जो इस प्रकार हैं—

१. खुद्दक-पाठ
२. धम्मपद
३. उदान
४. इतिवृत्तक
५. सुत्तनिपात
६. विमान-वत्थु
७. पेत-वत्थु
८. थेर-गाथा
९. थेरी-गाथा
१०. जातक
११. निद्देस
१२. पटिसम्भिदामग्ग
१३. अपदान
१४. बुद्धवंस
१५. चरियापिटक

पालि-साहित्य अपने वर्गीकरण के लिये प्रसिद्ध है। बुद्ध-वचनों के तिपिटक और उसके उपर्युक्त उपविभागों के अतिरिक्त अन्य भी विभाजन किये गये हैं। धम्म और विनय का द्विविध विभाजन प्रथम संगीति के समय से ही विदित है। इस अर्थ में विनय तो विनय-पिटक है ही, अवशेष (सम्पूर्ण) बुद्ध-वचन 'धम्म' हैं। 'सद्धम्मसङ्गह' में इसी अभिप्राय से कहा गया है, "विनयपिटकं विनयो, अवसेसबुद्धवचनं धम्मो" ति। इस प्रकार सम्पूर्ण बुद्ध-वचनों को पाँच निकायों में बाँटा गया है। 'सुमङ्गलविलासिनी' की निदान कथा 'समन्तपासादिका' की बाहिरनिदनिकथा और 'अट्ठसालिनी' की निदानकथा में कहा गया है कि निकायों के रूप में बुद्ध-शासन पाँच प्रकार का है। "निकायवसेन पञ्चविधं" या "निकायतो पञ्च निकाया"। यहाँ चार निकाय तो सुत्त-पिटक के प्रथम चार निकायों के समान ही हैं, किन्तु पंचम निकाय (खुद्दक-निकाय) में स्वभावतः ही उसके पन्द्रह ग्रन्थों के अलावा विनयपिटक और अभिधम्म-पिटक के सारे ग्रन्थ

भी सम्मिलित कर लिये गये हैं।[1] कहने की आवश्यकता नहीं कि यह वर्गीकरण प्रथम के समान स्वाभाविक नहीं है। बुद्ध-वचनों का एक और वर्गीकरण नौ अंगों के रूप में किया गया है[2] जिनके नाम हैं, सुत्त, गेय्य, वेय्याकरण, गाथा, उदान, इतिवुत्तक, जात्तक, अब्भुतधम्म और वेदल्ल। 'समन्तपासादिका' की बाहिरनिदानकथा में कहा गया है—"अङ्गवसेन नवविधं। सब्बमेव हिदं सुत्तं, गेय्यं, वेय्याकरणं, गाथा, उदानं, इतिवुत्तकं, जातकं, अब्भुतधम्मं, वेदल्लं'ति नवप्पभेदं होती"ति। सुत्त (सूत्र) का अर्थ है सामान्यतः तथागत-वचन या बुद्ध-वचन—

---

१. देखिये आगे पाँचवें अध्याय में अभिधम्म-पिटक का विवेचन।

२. नौ अंगों एवं अधिकतर १२ धर्म-प्रवचनों के रूप में बुद्ध-वचनों का विभाजन महायान बौद्ध धर्म के संस्कृत-साहित्य में भी पाया जाता है। उदाहरणतः सद्धर्मपुण्डरीक-सूत्र (पृष्ठ ३४, डॉ० नलिनाक्ष दत्त का देवनागरी संस्करण, रॉयल एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता, १९५३) में "नवांगमेतन्मम शासनं च" ही कहा गया है। इसी प्रकार बौद्ध संस्कृत ग्रन्थ 'धर्म-संग्रह' में भी 'नवांग प्रवचनानि' का उल्लेख है। देखिये महायानसूत्रसंग्रह, प्रथम खण्ड, पृष्ठ ३३२ (मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, १९६१)। महायान के अनुसार बुद्ध-वचनों का द्वादशाङ्ग विभाजन इस प्रकार है—(१) सूत्र, (२) गेय, (३) गाथा, (४) निदान, (५) इतिवृत्तक, (६) जातक, (७) अद्भुत धर्म, (८) अवदान, (९) उपदेश, (१०) उदान, (११) वैपुल्य और (१२) व्याकरण। हरिभद्र (नवीं-दसवीं शताब्दी ईसवी) के 'अभिसमयालंकारलोक' में बुद्ध-वचनों के बारह अंगों का उल्लेख इस प्रकार है—"सूत्रं गेयं व्याकरणं गाथोदानावदानकम् इतिवृत्तकं निदानं वैपुल्यं च सजातकम्। उपदेशाद्भुतौ धर्मौ द्वादशांगमिदं वचः।" पृष्ठ ३५ (गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज, बासठ में बड़ौदा से सन् १९३२ में डॉ० जी० तुशी के सम्पादकत्व में प्रकाशित संस्करण), बड़ौदा, १९३२। चीन में ध्यान-सम्प्रदाय के छठे धर्मनायक हुइ-नेंग् ने भी बौद्ध-शास्त्रों के बारह भागों का उल्लेख किया है। देखिए 'दि सूत्र ऑव वे-लेंग् (हुइ नेंग्, पृष्ठ ३३ (वोंग् मो लम् का अनुवाद, नया संस्करण क्रिसमस हम्फ्रेज द्वारा, लुजाक एण्ड कं०, लन्दन, १९४४)। अपने मूल संस्कृत रूप में विनष्ट, किन्तु चीनी भाषा में अनुवाद के रूप में सुरक्षित 'अमितायुर्ध्यानसूत्र' में भी महादान-शास्त्रों के बारह अङ्गों का निर्देश है।

जैसा कि 'समन्त-पासादिका' की वाहिरनिदानकथा में कहा गया है, "सुत्तनामकं तथागतवचनं सुत्तं" ति, वेदितब्बं।" दीघ-निकाय, सुत्त-निपात आदि में गद्य में रखे हुए भगवान् बुद्ध के उपदेश 'सुत्त' हैं। गद्य-पद्य-मिश्रित अंश (सगाथकं) गेय्य कहलाते हैं। "सब्बं पि सगाथकं सुत्तं गेय्यं'ति वेदितब्बं।" अर्थात् संयुत्त-निकाय का सम्पूर्ण 'सगाथक वग्ग' गेय्य है। 'वेय्याकरण' (व्याकरण, विवरण, विवेचन) वह व्याख्यापरक साहित्य है, जो अभिधम्म पिटक तथा अन्य ऐसे ही अंशों में सन्निहित है। अनेक सुत्तों में भी भगवान् के उपदेशों की स्वयं उनके द्वारा या उनके अधिगमसम्पन्न भिक्षु-शिष्यों के द्वारा की हुई भी बुद्ध-वचनों की व्याख्याएँ आयी हैं। वे भी 'वेय्याकरण' के ही अन्तर्गत हैं। सिर्फ पद्य में रचित अंग 'गाथा' (पालि-श्लोक) कहलाते हैं। यथा थेरगाथा, थेरीगाथा, सुत्तनिपात और धम्मपद आदि की गाथाएँ। 'उदान' का अर्थ है बुद्ध-मुख से निकले हुए भावमय प्रीति-उद्गार या ऊर्ध्व वचन। ये उद्गार सौमनस्य की अवस्था में बुद्ध-मुख से निकली हुई ज्ञानमयिक ८२ गाथाओं के रूप में हैं, जैसा कि 'समन्तपासादिका' की वाहिरनिदानकथा और अट्ठसालिनी की निदान कथा में समानरूप से कहा गया है, "सोमनस्सञाणमयिकगाथापटिसंयुत्ता द्वे असीति सुत्तन्ता उदानं' ति वेदितब्बा।"[1] 'इतिवुत्तक' का अर्थ है 'ऐसा कहा गया' या 'ऐसा तथागत ने कहा।' "वुत्तं हेतं भगवता" से आरम्भ होने वाले बुद्ध-वचन 'इतिवुत्तक' हैं। 'जातक' का अर्थ है (बुद्ध के पूर्व) जन्म-सम्बन्धी (कथाएँ)। ये जातक में संगृहीत हैं और कुछ अन्यत्र भी तिपिटक में पायी जाती है। 'अब्भुत-धम्म' (अद्भुतधर्म) वे सुत्त हैं जो अद्भुत वस्तुओं, आश्चर्यमय कृत्यों या योग-सम्बन्धी विभूतियों का निरूपण करते हैं। अंगुत्तर-निकाय के "चत्तारों में भिक्खवे अच्छरिया अब्भुतधम्मा आनन्दे" जैसे अंश 'अब्भुत धम्म हैं। इसी प्रकार अंगुत्तर-निकाय के अट्ठक निपात के पठम उग्ग-सुत्त आदि जिन सुत्तों में उग्ग गहपति (उग्र गृहपति) आदि के आश्चर्याद्भुत धर्मों का स्वयं बुद्ध भगवान् के द्वारा वर्णन किया गया है, वे सब 'अब्भुत धम्म' के अन्तर्गत आयेंगे। बल्कि इसी निकाय के इसी निपात के पहाराद-सुत्त की भी गणना 'अब्भुत

१. इस प्रकार यहाँ बुद्ध-वचनों के नव अङ्गों के अन्तर्गत 'उदान' के अन्दर आने वाले सुत्तों की संख्या ८२-'द्वे असीति)'—बतायी गयी है। परन्तु खुद्दक-निकाय के अन्तर्गत एक ग्रन्थ के रूप में प्राप्त 'उदान' में सुत्तों की संख्या इससे भिन्न है। देखिये आगे तीसरे अध्याय में 'उदान' का विवरण।

धम्म' सुत्त के रूप में ही की जायगी, क्योंकि इसमें पहाराद (प्रहाराद) नामक असुरेन्द्र के प्रति स्वयं भगवान् ने धम्म-विनय के आठ आश्चर्याद्भुत धर्मों या आश्चर्यजनक गुणों का वर्णन किया है। 'वेदल्ल' वे उपदेश हैं जो प्रश्न और उत्तर के रूप में लिखे गये हैं, "जिनमें आध्यात्मिक प्रसन्नता और सन्तोष प्राप्त कर-करके प्रश्न पूछे जायँ।" "सब्बे पि वेदं च तुट्ठिं च लद्धा लद्धा पुच्छितसुत्तन्ता वेदल्लं ति वेदितब्बा।" चुल्ल-वेदल्ल-सुत्तन्त महा-वेदल्ल-सुत्तन्त, सम्मादिट्ठि-सुत्तन्त, सक्कपञ्ह-सुत्तन्त, सङ्खार भाजनिय-सुत्तन्त (सङ्खारुप्पत्ति-सुत्त) और महापुण्णम-सुत्तन्त, आदि इसके उदाहरण हैं। बुद्ध-वचनों का यह नौ प्रकार का विभाजन उनके शैली-स्वरूपों या नमूनों की दृष्टि से ही है, ग्रन्थों की दृष्टि से नहीं। इतने प्रकार के बुद्ध-उपदेश होते थे, यही इस वर्गीकरण का अभिप्राय है। अतः कहा जा सकता है कि यह केवल औपचारिक ही है और व्यावहारिक उपयोग में प्रायः नहीं आता। बुद्ध-वचनों का एक और वर्गीकरण ८४००० धर्म-स्कन्धों के रूप में है। किन्तु यह भी बौद्धों की विश्लेषण-प्रियता का ही एक उदाहरण है। प्रयोग में यह भी अक्सर नहीं आता। साधारणतः हम तिपिटक और उसके उप-विभागों के रूप में ही बुद्ध-वचनों का अध्ययन करते हैं।

यह कहना ऐतिहासिक रूप से कुछ आश्चर्यजनक भले ही जान पड़े, किन्तु परम्परागत रूप से यह मान्यता प्रचलित है कि बुद्ध-वचनों के उपर्युक्त चारों प्रकार के वर्गीकरणों का निश्चय तिपिटक के अन्तिम रूप से प्रथम शताब्दी ईस्वी-पूर्व में लेखबद्ध होने से बहुत पहले ही हो चुका था। तीनों पिटकों का निर्देश स्वयं तिपिटक में ही मिलता है, यह हम इस अध्याय के आरम्भ में ही कह आये हैं। अशोक के अभिलेखों ने यह बात अन्तिम रूप से प्रमाणित कर दी है कि तीसरी शताब्दी ईस्वी-पूर्व से भी पहले बुद्ध-वचनों का कुछ उसी प्रकार का वर्गीकरण प्रचलित था, जैसा कि वह आज पालि तिपिटक में मिलता है। अशोक के अभिलेखों का पालि-साहित्य के विकास के सम्बन्ध में क्या साक्ष्य है, इसका विस्तृत विवेचन तो हम दसवें अध्याय में पालि के अभिलेख-साहित्य का विवरण देते समय करेंगे। यहाँ इतना कहना पर्याप्त है कि अशोक के भाब्रू-अभिलेख में राहुलोवाद (लाघुलोवादे) सुत्त आदि शीर्षकों से यही निश्चित होता है कि तीसरी शताब्दी ई० पू० में तिपिटक प्रायः अपने उसी वर्गीकरण और नामकरण के साथ विद्यमान था, जैसा वह आज है। कम-से-कम तिपिटक के प्राचीनतम अंशों (सुत्त-पिटक और विनय-पिटक) के विषय में तो ऐसा कहा ही जा सकता है। अशोक के अभिलेखों के बाद साँची और भरहुत (तीसरी या दूसरी शताब्दी ई०

पू०) के स्तूपों के लेखों का साक्ष्य भी यही है। इन लेखों में 'पंचनेकायिक' (पाँच निकायों का ज्ञाता), 'भाणक' (पाठ करने वाला), 'सुत्तन्तिक' (सुत्त-पिटक का ज्ञाता), 'पेटकी' (पिटकों का ज्ञाता) आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है और जातक के कुछ दृश्य भी दिखाये गये हैं; जिनसे विद्वानों ने ठीक ही यह निष्कर्ष निकाला है कि बुद्ध-वचनों का तीन पिटकों और पाँच निकायों में आज का-सा विभाजन इन अभिलेखों के युग से पहले ही निश्चित हो चुका था।[१] भाणकों और निकायों एवं तिपिटक के उपर्युक्त विभाजन की जो परम्परा अशोक के काल से बहुत पहले से चली आ रही थी, उसके बाद भी अबाध गति से चलती रही। साँची के लेखों के अलावा मिलिन्द-प्रश्न[२] (प्रथम शताब्दी ईस्वी पूर्व) और बाद में बुद्धघोष की अट्ठकथाओं,[३] दीपवंस,[४] महावंस[५] आदि में उसके पूर्ण साक्ष्य मिलते हैं। बुद्ध-वचनों का नौ अंगों में विभाजन स्वयं तिपिटक को भी ज्ञात है[६] और बाद में न केवल मिलिन्द-प्रश्न[७] अपितु

---

१. रॉयस डेविड्स : बुद्धिस्ट इण्डिया, पृष्ठ १६७।
२. तेपिटकं बुद्धवचनं, पृष्ठ १९; तेपिटका भिक्खु पंचनेकायिका पि च, चतुनेकायिका चेव, पृष्ठ २३ (बम्बई विश्वविद्यालय का संस्करण)।
३. धम्मपदट्ठकथा, जिल्द पहली, पृष्ठ १२९ पालि टैक्स्ट सोसायटी का (संस्करण)। देखिये, विण्टरनित्ज : इण्डियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १७, पद-संकेत ३ भी।
४. ८।६; १२।८४; १३।७ (ओल्डन बर्ग का संस्करण)।
५. १२।२९; १४।५८; १४।६३, १५।४ (गायगर का संस्करण)।
६. देखिये, अलगद्दूपम-सुत्तन्त (मज्झिम, १।३।२), अप्पस्सुत-सुत्त (अंगुत्तर-निकाय—चतुक्क-निपात), दुतियवलाहक-सुत्त (अंगुत्तर-निकाय-चतुक्क-निपात); मूसिक-सुत्त (अंगुत्तर-निकाय, चतुक्क-निपात), दुतिय-सद्धम्मसम्मोस-सुत्त (अंगुत्तर-निकाय-पञ्चक-निपात) पठम-दुतिय धम्मविहारी-सुत्त (अंगुत्तर-पञ्चक-निपात)। पाराजिक पालि, पृष्ठ १० (श्री नालन्दा देवनागरी संस्करण, १९५८)।
७. नवंगजिनसासनं, पृष्ठ २२, नवंगे बुद्ध-वचने, पृष्ठ १६३, नवंगमनुमज्जन्तो, पृष्ठ ९३ (बम्बई विश्वविद्यालय का संस्करण)।

बुद्धघोष की अट्ठकथाओं,[1] गन्धवंस,[2] दीपवंस,[3] महावंस,[4] आदि में भी उनका उल्लेख हुआ है। इसी प्रकार बुद्ध-वचनों का ८४००० धर्म-स्कन्धों में विभाजन भी बहुत प्राचीन है। "चतुरासीति धम्मक्खन्ध-सहस्सानि" का उल्लेख जहाँ-तहाँ पालि साहित्य में हुआ है। थेरगाथा (गाथा १०२९) में आनन्द ने कहा है कि ८४००० बुद्धोपदेशों का ज्ञान उन्हें है, जिनमें से ८२००० उन्होंने बुद्ध से और २००० संघ से सीखे हैं।[5] बुद्धघोष ने प्रथम संगीति में ही उनका संगायन होना दिखलाया है[6] और अशोक के द्वारा उनके सम्मान में ८४००० विहारों का बनवाया जाना (चतुरासीति विहार-सहस्सानि कारापेसि) भी बौद्ध परम्परा में अति प्रसिद्ध है।[7] ये सभी तथ्य पालि तिपिटक के वर्गीकरण के साथ-साथ उसके काल-क्रम और प्रामाणिकता पर भी काफी प्रकाश डालते हैं।

हम पहले कह ही चुके हैं कि आचार्य बुद्धघोष ने प्रथम महासङ्गीति के अवसर पर ही न केवल धर्म और विनय के सङ्गायन की बात कही है बल्कि माना है कि

---

१. सुमंगलविलासिनी की निदानकथा; अट्ठसालिनी, पृष्ठ २२-२३ (देवनागरी संस्करण, १९४२); समन्तपासादिका की बाहिर निदानकथा भी।

२. पृष्ठ ५५, ५७ (जर्नल ऑव पालि टैक्सट् सोसायटी १८८६ में प्रकाशित संस्करण)।

३. "सुत्तं गेय्यं वेय्याकरणं गाथुदानितिवुत्तकं।" जातकब्भुतवेदल्लं, नवङ्गं सत्थुसासनं। ४।१५ (ओल्डनवर्ग का संस्करण)।

४, "नवङ्ग सासनधरे"। महावंस ३।८ (देवनागरी संस्करण)।

५. "द्वासीतिं बुद्धतो गण्हिं द्वे सहस्सानि भिक्खुतो। चतुरासीति सहस्सानि ये मे धम्मा पवत्तिनो" ति।

६. समन्तपासादिका की बाहिरनिदानकथा में भी और अट्ठसालिनी की निदानकथा में भी। देखिये, पीछे प्रथम संगीति का विवरण।

७. "राजा (अशोक) ने स्थविर मोग्गलिपुत्त तिस्स से पूछा, 'बुद्ध के दिये गये उपदेश कितने हैं?' स्थविर ने उत्तर दिया, 'धर्म के चौरासी हजार स्कन्ध (विभाग) हैं।' यह सुनकर राजा ने कहा, "मैं प्रत्येक के लिये विहार बनवाकर उन सबकी पूजा करूँगा।' तदनन्तर राजा ने चौरासी हजार नगरों में विहार बनवाने आरम्भ किये।" महावंश ५।७६-८० (भदन्त आनन्द कौसल्यायन का अनुवाद)। इस प्रकार का उल्लेख सुमंगल विलासिनी' में भी है, 'थूपवंस' में भी और बौद्ध संस्कृत ग्रन्थ 'दिव्यावदान' (पांशुप्रदानावदान) में भी तथा अन्य अनेक वंश-जातिक पालि-संस्कृत ग्रन्थों में भी।

तीनों पिटकों, पञ्च निकायों, नव अङ्गों और चौरासी हजार धर्मस्कन्धों के रूप में बुद्ध-वचनों का विभाजन-व्यवस्थापक भी इसी समय हुआ। 'सुमङ्गल-विलासिनी' की निदानकथा में उन्होंने लक्षणीय रूप से कहा है, "अयं धम्मो, अयं विनयो . . . इदं विनयपिटकं, इदं सुत्तपिटकं, इदं अभिधम्मपिटकं, अयं दीघनिकायो, अयं मज्झिमनिकायो, अयं संयुत्तनिकायो, अयं अङ्गुत्तरनिकायो, अयं खुद्दकनिकायो, इमानि सुत्तादीनि नवङ्गानि, इमानि चतुरासीति धम्मक्खन्धसहस्सानी' ति इमं पभेदं ववत्थपेत्वा व सङ्गीत' ति। इस बात को उन्होंने 'समन्तपासादिका' की बाहिरनिदानकथा में तथा 'अट्ठसालिनी' की निदानकथा में भी दुहराया है। 'सद्धम्मसङ्गह' (चौदहवीं शताब्दी ईसवी) के प्रथम परिच्छेद में बुद्धघोषाचार्य की उक्त मान्यता का विस्तार से अनुगमन किया गया है। अतः स्थविरवाद-परम्परा की यह दृढ़ मान्यता है कि बुद्ध-वचनों के उपर्युक्त विभाजन प्रथम संगीति के समय ही किये गये। परन्तु आधुनिक विद्वान्, जो वैज्ञानिक विधि का अनुसरण करते हैं, पूर्णतः स्थविरवाद-परम्परा की उक्त मान्यता को मानने के लिए तैयार नहीं।

ऊपर पालि साहित्य के उद्‌भव और विकास का वर्णन करते हुए यह दिखाया जा चुका है कि किसी प्रकार तीन बौद्ध संगीतियाँ भारत में और बाद में दो मुख्य संगीतियाँ लंका में क्रमशः राजा देवानंपिय तिस्स और वट्ठगामणि अभय के शासन-कालों में पालि तिपिटक के स्वरूप और पाठ के सम्बन्ध में हुई थी, जिनमें बुद्ध-वचनों का संगायन किया गया था। डॉ० विमलाचरण लाहा ने इन संगीतियों के अनुसार पालि तिपिटक के विभिन्न ग्रन्थों के काल-क्रम को पाँच क्रमिक अवस्थाओं में विभक्त करने का प्रयत्न किया है जो इस प्रकार है—

प्रथम युग (४८३ ई० पू०—३८३ ई० पू०)
द्वितीय युग (३८३ ई० पू०—२६५ ई० पू०)
तृतीय युग (२६५ ई० पू०—२३० ई० पू०)
चतुर्थ युग (२३० ई० पू०—८० ई० पू०)
पंचम युग (८० ई० पू०—२० ई० पू०)[१]

इस प्रकार हम देखते हैं कि डॉ० लाहा के मतानुसार तिपिटक के जो प्राचीन अंश हैं, उनके स्वरूप का निश्चय ४८३ ई० पू० अर्थात् शास्ता के परिनिर्वाण के

१. हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द पहली, पृष्ठ १२-१३। स्पष्ट है कि डॉ० लाहा ने ४८३ ईसवी-पूर्व को ही बुद्ध-परिनिर्वाण की तिथि मानकर यहाँ ऐसा उल्लेख किया है। यहाँ यह ध्यान में रखना आवश्यक होगा कि सिंहली परम्परा के अनुसार यह तिथि ५४४ ईसवी-पूर्व है।

समय ही हो गया था, और जो अर्वाचीन से अर्वाचीन है वे भी २० ई० पू० के बाद के नहीं हैं, क्योंकि उस समय वे लेखबद्ध ही हो चुके थे, तब से वे उसी रूप में आज तक चले आ रहे हैं। इस प्रकार समष्टि रूप में तिपिटक की रचना की, उपरली और निचली कोटियों का पूर्ण अनुमापन हो जाने पर भी उसके अलग-अलग ग्रन्थों के आपेक्षिक काल-क्रम का सवाल अभी रह ही जाता है। इसके लिए न केवल ऐतिहासिक विवेचन की ही, किन्तु अलग-अलग ग्रन्थों की विषयवस्तु के विवेचन की भी बड़ी आवश्यकता है, जिसे हम इस स्थल पर नहीं कर सकते। अतः जब हम आगे के अध्यायों में तिपिटक के भिन्न-भिन्न ग्रन्थों या अंशों का विवेचन करेंगे, तो उस समय उनके काल-क्रम का विवेचन भी हमारे अध्ययन का एक विशेष अंग होगा। हाँ, इस सम्बन्ध में जो पूर्व अध्ययन हो चुका है उसके परिणामों को यहाँ रख देना आवश्यक होगा। सबसे पहले डॉ० रॉयस डेविड्स ने तिपिटक के काल-क्रम का विवेचन किया था। उन्होंने अपने अध्ययन के परिणामस्वरूप पालि तिपिटक का बुद्ध-परिनिर्वाण-काल से लेकर अशोक के काल तक इन दस काल-क्रमिक अवस्थाओं में विभाजन किया था—[1]

१—वे बुद्ध-वचन, जो समान शब्दों में ही तिपिटक के प्रायः सब ग्रन्थों की गाथाओं आदि में मिलते हैं।

२—वे बुद्ध-वचन, जो समान शब्दों में केवल दो या तीन ग्रन्थों में ही मिलते हैं।

३—शील, पारायण, अट्ठकवग्ग, पातिमोक्ख।

४—दीघ, मज्झिम, अंगुत्तर और संयुत्त निकाय।

५—सुत्त-निकाय, थेर-गाथा, थेरी-गाथा, उदान, खुद्दक-पाठ।

६—सुत्त-विभंग, खन्धक।

७—जातक, धम्मपद।

८—निद्देस, इतिवुत्तक, पटिसम्भिदा।

९—पेतवत्थु, विमानवत्थु, अपदान, चरियापिटक, बुद्धवंस।

१०—अभिधम्म-पिटक के ग्रन्थ, जिनमें पुग्गलपञ्ञति प्रथम और कथावत्थु अन्तिम है।

इस क्रम का कुछ परिवर्तन डॉ० विमलाचरण लाहा ने किया है। उनके मतानुसार तिपिटक के ग्रन्थों का काल-क्रम की दृष्टि से यह तारतम्य ठहरता है—

१—वे बुद्ध-वचन, जो समान शब्दों में तिपिटक के प्रायः सब ग्रन्थों की गाथाओं आदि में मिलते हैं।

---

१. बुद्धिस्ट इण्डिया, पृष्ठ १८८।

२—वे बुद्ध-वचन, जो समान शब्दों में केवल दो या तीन ग्रन्थों में ही मिलते हैं।
३—शील, पारायण, अट्ठकवग्ग, सिक्खापद।
४—दीघ-निकाय, (प्रथम स्कन्ध), मज्झिम-निकाय, संयुत्त-निकाय, अंगुत्तर-निकाय, पातिमोक्ख जिसमें १५२ नियम हैं।
५—दीघ-निकाय (द्वितीय और तृतीय स्कन्ध), थेरगाथा, थेरीगाथा, ५०० जातकों का संग्रह, सुत्त-विभंग, पटिसम्भिदामग्ग, पुग्गलपञ्ञत्ति, विभंग।
६—महावग्ग, चुल्लवग्ग, पातिमोक्ख (२२७ नियमों का पूर्ण होना), विमान-वत्थु, पेतवत्थु, धम्मपद, कथावत्थु।
७—चुल्लनिद्देस, महानिद्देस, उदान, इतिवुत्तक, सुत्त-निपात, धातुकथा, यमक, पट्ठान।[1]
८—बुद्धवंस, चरियापिटक, अपदान।
९—परिवार-पाठ।
१०—खुद्दक-पाठ।

तिपिटक के विभिन्न ग्रन्थों या अंशों के काल-क्रम सम्बन्धी उपर्युक्त निष्कर्ष अपर्याप्त ही नहीं, स्वेच्छापूर्ण भी हैं। डॉ० रायस डेविड्स द्वारा सुत्त-निपात जैसे प्राचीन ग्रन्थ को काल-क्रम की दृष्टि से थेर-थेरी गाथाओं के साथ पाँचवें स्थान पर रखना और डॉ० लाहा द्वारा उसे उदान और इतिवुत्तक के साथ सातवें स्थान पर रखना ही नहीं, बल्कि धातुकथा, यमक और पट्ठान जैसे आभिधम्मिक ग्रन्थों के साथ उसे वर्गबद्ध करना भारी स्वेच्छामय कार्य है। इसी प्रकार अन्य असंगतियाँ भी दिखाई जा सकती हैं। रायस डेविड्स और लाहा दोनों ही विद्वानों ने भाषा-सम्बन्धी विकास को आधार मानकर, जिसका साक्ष्य कभी स्वतः प्रमाण नहीं माना जा सकता, अपना काल-क्रम स्थापित किया है। वास्तव में तिपिटक के ग्रन्थों में पूर्वापरता स्थापित करने के लिए हमें पहले निश्चित करना होगा कि उसके कौन से अंश मूल प्रामाणिक बुद्ध-वचन हैं और कौन से वाद के परिवर्तन या दोनों के मिश्रित स्वरूप। इसी प्रकार यह भी देखना पड़ेगा कि कौन से सुत्त बुख-भाषित हैं और कौन से उनके शिष्यों के द्वारा भाषित, जिनका अनुमोदन बुद्ध ने किया। मूल प्रामाणिक बुद्ध-वचनों में भी हमें बुद्ध के वर्षावासों के अनुसार उनके काल-क्रम का तारतम्य निश्चित करना पड़ेगा। यह कार्य उपर्युक्त दो विद्वानों ने नहीं किया है। केवल महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने 'बुद्धचर्या' में इस ढंग पर बुद्ध के कतिपय उपदेशों का कालक्रमानुसार वर्गीकरण किया है।

---

१ हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द पहली, पृष्ठ ४२।

किन्तु 'बुद्धचर्या' में सभी सुत्तों का उद्धरण शक्य न होने के कारण यह कार्य वहाँ अपर्याप्त रूप से ही हो सका है। पालि साहित्य के इतिहासकार के लिए बुद्ध-वचनों के काल-क्रम के निश्चय के लिए इससे अच्छा मार्ग-दर्शन नहीं मिल सकता। वास्तव में सद्धर्म के प्रथम संग्रहकार काल-चिन्तक थे ही नहीं। वे धर्म-चिन्तक थे। इसलिये काल-गणना के अनुसार उन्होंने सुत्तों का संग्रह नहीं किया है। न तो सुत्त-पिटक के सुत्त और न विनय-पिटक के विभिन्न भाग कालक्रमानुसार ग्रथित हैं। अभिधम्म के ग्रन्थों का तो कुछ कहना ही नहीं। मज्झिम-निकाय के गोपक-मोग्गल्लान-सुत्त में हम आनन्द को भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के कुछ समय बाद गोपक-मोग्गल्लान नामक ब्राह्मण से वार्तालाप करते देखते हैं और इसके ठीक बाद के सुत्त में (महापुण्णम-सुत्त में) हम देखते हैं कि भगवान् श्रावस्ती में मृगारमाता के प्रासाद पूर्वाराम में विहार कर रहे हैं। इसी प्रकार मज्झिम-निकाय के मधुर-सुत्त और घोटमुख-सुत्त बुद्ध के परिनिर्वाण के कुछ बाद के काल से सम्बद्ध हैं, परन्तु वे ऐसे सुत्तों के बीच में रखे हुए हैं जिनका सम्बन्ध बुद्ध के जीवन-काल से है। इस प्रकार के सुत्तों में हम मोटा काल-क्रम स्थापित कर सकते हैं, परन्तु स्वयं बुद्ध के उपदेशों का कालक्रमपरक वर्गीकरण हम उनके वर्षावासों के आधार पर ही कर सकते हैं, जिनका वर्णन अट्ठकथाओं में है। अट्ठकथाओं में उन-उन सुत्तों के देशना काल के सम्बन्ध में जहाँ-तहाँ महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ आनुपूर्वी कथा के रूप में भी दी गयी है और कहीं-कहीं वैसे भी इस सम्बन्ध में बड़े महत्त्वपूर्ण निर्देश दिये गये हैं। यदि उन सबका संकलन किया जाय, तो किस-किस सुत्त का उपदेश भगवान् ने अपनी आयु की किस भाग में दिया, इसका बहुत कुछ स्पष्ट निर्णय हो सकता है। इसका कुछ सांकेतिक वर्णन हम आगे सातवें अध्याय में अट्ठकथाओं के प्रसंग में करेंगे। मोटे तौर पर हम भगवान् की बोधि-प्राप्ति के बाद प्रथम बीस वर्षों ('पठमबोधियं वीसति वस्सानि') की घटनाओं के सम्बन्ध में बहुत कुछ अवगत हो सकते हैं और इसी प्रकार इस तथ्य से भी कुछ सहायता ले सकते हैं कि बुद्ध के जीवन के अन्तिम आठ वर्ष अजातशत्रु के शासनकाल में बीते और उसके पूर्व के बिम्बिसार के शासनकाल में। इस प्रकार अंशतः हम तिपिटक के कुछ भागों या ग्रन्थों में काल-तारतम्य स्थापित कर सकते हैं। भाषा-साक्ष्य से भी कुछ सहायता ले सकते हैं, किन्तु अत्यन्त सावधानीपूर्वक। तिपिटक के जो अंश बुद्ध-वचन नहीं हैं, उनके काल-क्रम का निर्णय बाह्य साक्ष्य के आधार पर ही विशेषतः किया जा सकता है। उनमें वर्णित प्रसंग उनके कालक्रम पर अच्छा प्रकाश डालते हैं। इन सब तथ्यों का विवेचन करते हुए हमने तिपिटक के विभिन्न ग्रन्थों के कालक्रम का निश्चय करने का प्रयत्न किया है, जो आगे के अध्ययन से स्पष्ट होगा।

अनुपिटक-साहित्य का काल-विभाग

तिपिटक के कालक्रम की समस्या को मोटे रूप से समझने के बाद हमें अनुपिटक-साहित्य के भी काल-विभाग की रूपरेखा को समझ लेना चाहिए, वह उतनी दुरूह या विवादग्रस्त नहीं है। उसकी रेखाएँ बिलकुल स्पष्ट हैं। जैसा पहले कहा जा चुका है, अनुपिटक-साहित्य की रचना तिपिटक के पूर्ण हो जाने के बाद से प्रारम्भ होकर वर्तमान काल तक चली आ रही है। इस इतने सुदीर्घ विकास में भी उसमें इतनी विभिन्नरूपता दिखाई नहीं पड़ती, जितनी कि किसी भी साहित्य के सम्बन्ध में हो सकती थी। इसका कारण यह है कि इस साहित्य का केन्द्रीय विन्दु बौद्ध धर्म—स्थविरवाद बौद्ध धर्म—का अध्ययन और विवेचन ही रहा है। फिर भी कालानुक्रम और प्रवृत्तियों के विकास की दृष्टि से इस सुदीर्घ काल के साहित्यिक इतिहास को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है। पहला भाग प्रथम शताब्दी ईस्वी-पूर्व से लेकर चौथी शताब्दी ईस्वी तक अर्थात् बुद्धघोष के आविर्भाव-काल तक चलता है।

इस युग में नेत्तिपकरण, पेटकोपदेस, सुत्तसंग्रह और मिलिन्दपञ्ह की रचना हुई, जिनमें मिलिन्दपञ्ह सब से अधिक प्रसिद्ध है। इतिहास का प्रसिद्ध ग्रन्थ दीपवंस भी इसी युग में लिखा गया। चूँकि 'बुद्धघोष' अनुपिटक-साहित्य में सब से बड़ा नाम है और बुद्धघोष ने एक युग-विधायक साहित्य की रचना का, अतः उनके काल के पहले इस दिशा में जितना काम हो चुका था उसे द्योतित करने के लिए इस युग के साहित्य को 'पूर्व-बुद्धघोष' युगीन साहित्य नाम दिया जा सकता है। अनुपिटक-साहित्य के इतिहास का दूसरा युग बुद्धघोष के आविर्भाव-काल से आरम्भ होता है। बुद्धघोष के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'विसुद्धिमग्ग' और उनकी अट्ठकथाओं के अतिरिक्त बुद्धदत्त, धम्मपाल आदि की अर्थकथाएँ भी इसी युग में लिखी गईं। पालि तिपिटक पर अर्थकथाओं की रचना इस युग की प्रधान विशेषता है, जिसे प्रेरणा देने वाले आचार्य बुद्धघोष ही हैं। अतः इस युग का नाम 'बुद्धघोष-युग' दिया जा सकता है। इस युग की रचना ५वीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक चलती है। विशाल अर्थकला-साहित्य के अतिरिक्त लंका का प्रसिद्ध इतिहास-ग्रंथ 'महावंस' भी इसी युग में रचा गया। व्याकरण के क्षेत्र में कच्चायन का व्याकरण और दर्शन एवं मनोविज्ञान के क्षेत्र में अनिरुद्ध (अनुरुद्ध) का प्रसिद्ध 'अभिधम्मत्थसंगह' भी इसी युग की रचनाएँ हैं। इस युग में जो अर्थकथा-साहित्य लिखा गया, उसी की टीकाएँ-अनुटीकाएँ बाद की शताब्दियों में लिखी जाती रहीं। यह बारहवीं शताब्दी से लेकर अब तक का सुदीर्घ युग है। प्रायः बुद्धघोष और उनके समकालीन आचार्यों के दिखाये गये ढंग पर ही और उनके ही ग्रंथों के उपजीवी स्वरूप साहित्य की रचना

इस युग में होती रही है। अतः इस युग को 'बुद्धघोष-युग की परम्परा अथवा टीकाओं का युग' नाम दिया जा सकता है। बारहवीं शताब्दी में राजा पराक्रमबाहु के समय में लंका में आचार्य बुद्धघोष आदि की अट्ठकथाओं पर मगध-भाषा (पालि) में टीकाएँ लिखने का आयोजन शुरू किया गया। प्रसिद्ध सिंहली भिक्षु सारिपुत्त और उनकी शिष्य-मंडली ने इस दिशा में बारहवीं और तेरहवीं शताब्दी में बड़ा काम किया। मूल 'महावंस' का 'चूलवंस' के नाम से आगे परिवर्द्धन भी इसी युग की घटना है। १५वीं शताब्दी से बरमा में बौद्ध-साहित्य के अध्ययन की बड़ी प्रगति हुई। बरमी भिक्षुओं के अध्ययन का प्रधान विषय 'अभिधम्म' रहा। इस दिशा में उन्होंने अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ दिये हैं, जिनमें 'अभिधम्मत्थसंगह' का एक लम्बा सहायक साहित्य है। व्याकरण-सम्बन्धी अनेक ग्रन्थ भी इसी युग में लिखे गये। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि ठीक वर्तमान समय तक लंका, बरमा, स्याम और भारत में ही नहीं, बल्कि कम्बोदिया (कम्पूचिया) और लाओस तक में अनुपिटक साहित्य की रचना होती चली आ रही है। इसका कुछ परिचय हम आठवें अध्याय में देंगे। भारत में हम अभी हाल में (सन् १९४७ में) परिनिर्वृत्त पूज्य आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी के नाम से सुपरिचित हैं। उन्होंने अनुपिटक-साहित्य की दो महत्त्वपूर्ण टीका-ग्रन्थ दिये हैं, एक 'विसुद्धिमग्गदीपिका' नामक 'विसुद्धि-मग्ग' की टीका और दूसरा 'अभिधम्मत्थसंगह' पर 'नवनीत-टीका' इस वर्तमान काल में रचित साहित्य में भी यद्यपि बहुत-सी बातों को आधुनिक ढंग से रखने का प्रयत्न किया गया है जो बहुत आवश्यक है, फिर भी आलोक और प्रामाणिक आधार तो बुद्धघोष की रचनाओं से ही लिया गया है और उनकी शैली भी प्रायः उन्हीं के अनुसरण पर है। अतः बारहवीं शताब्दी से लेकर इस इतने अभिनव साहित्य को भी 'बुद्धघोष-युग की परम्परा अथवा टीकाओं का युग' कहना अनुचित नहीं है।

⊙ ⊙

तीसरा अध्याय

सुत्त-पिटक

पालि-तिपिटक कहाँ तक मूल, प्रामाणिक बुद्ध-वचन है ?

पालि-तिपिटक कहाँ तक मूल, प्रामाणिक बुद्ध-वचन है, इस प्रश्न का अंशतः उत्तर पालि-भाषा के स्वरूप पर विचार करते समय (प्रथम अध्याय में) दिया जा चुका है। यदि पालि मागधी भाषा का वही स्वरूप है जिसे मध्य देश में विचरण करते हुए भगवान् बुद्ध ने प्रयुक्त किया था, तो फिर इसमें कोई सन्देह ही नहीं रह जाता कि पालि-तिपिटक बुद्ध-वचनों का सर्वाधिक प्रामाणिक रूप है। यदि आरम्भ से ही अनेक प्रान्तीय भाषाओं में बुद्ध-वचन सीखे जाते रहे हों, तो भी हमारे पालि-माध्यम को प्राचीनतम होना ही चाहिए। पालि-तिपिटक का किसी दूसरी उपभाषा से अनुवाद हुआ है, लेवी के इस मत का खंडन पहले किया जा चुका है। इसी प्रकार लूडर्स के उस मत का भी निराकरण किया जा चुका है जिसके अनुसार प्राचीन अर्द्धमागधी से, जिसके स्वरूप की अवतारणा स्वयं उनकी बुद्धि ने की है, पालि-तिपिटक का अनुवाद हुआ है। डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या का यह मानना कि बुद्ध के उपदेश (जो मूलतः एक प्राच्य बोली में थे) बाद में पश्चिमी बोली में अनुवादित किये गये और उनका यह अनुवादित रूप ही पालि है,[1] लेवी और लूडर्स के मतों का ही अन्धानुकरण मात्र है, जिनका निराकरण हम पहले कर चुके हैं। किसने यह अनुवाद किया, कब किया, किसने करवाया, आदि प्रश्नों का उत्तर न तो लेवी, न लूडर्स और न सुनीति बाबू ने ही दिया है। न बौद्ध-धर्म के इतिहास में ही इसका कोई उत्तर है। अतः पालि-तिपिटक

---

१. "This Western dialect into which Buaddha's teachings were translated came to be known as Pali." दि ऑरीजिन एण्ड डिवेलपमेंट ऑव दि बंगाली लैंग्वेज, भाग प्रथम, पृष्ठ ५७ (कलकत्ता यूनीवर्सिटी प्रेस, १९२६)।

मूल बुद्ध-वचनों का एक प्राच्य बोली से पश्चिमी बोली में अनुवाद है, यह मत सर्वथा निराधार और अग्राह्य है। यह निर्विवाद है कि अशोक के समय अर्थात् तृतीय शताब्दी ईसवी-पूर्व पालि-तिपिटक का भाषा और शैली की दृष्टि से वही स्वरूप था जो आज है। अशोक के अभिलेखों से यह बात स्पष्ट हो जाती है। उनकी भाषा, उनमें निर्दिष्ट कुछ 'धम्म-पलियायों' के नाम, सब इसी तथ्य की ओर संकेत करते हैं कि तृतीय शताब्दी ईसवी-पूर्व भारतीय जनता बुद्ध-वचनों के नाम से प्रायः उसी संग्रह को पहचानती थी और आदरपूर्वक उसका श्रवण और मनन करती थी, जिसे हम आज पालि-तिपिटक के नाम से पुकारते हैं। छन्द की दृष्टि से भी पालि-तिपिटक की प्राचीनता असंदिग्ध है। ओल्डनवर्ग ने कहा है कि पालि-तिपिटक की गाथाओं में प्रयुक्त छन्द वाल्मीकि-रामायण से अधिक प्राचीन होना चाहिए।[1] अतः भाषा और शैली के साक्ष्य के आधार पर पालि-तिपिटक बुद्ध-मुख से निःसृत वचनों का प्रामाणिकतम माध्यम ही हो सकता है।

विषय की दृष्टि से भी कोई बात उपर्युक्त साक्ष्य के विपरीत जाने वाली दिखाई नहीं पड़ती। पालि-तिपिटक में छठीं और पाँचवीं शताब्दी ईसवी-पूर्व के भारतीय जीवन की पूरी झलक मिलती है। गौतम बुद्ध का ऐतिहासिक व्यक्तित्व, उनका मानवीय रूप, वहाँ स्पष्टतम शब्दों में अंकित मिलता है। इस विषय में उसकी उत्तरकालीन महायान-ग्रन्थों में से एक अद्भुत विशेषता है। उत्तरकालीन बौद्ध संस्कृत साहित्य में बुद्ध के लोकोत्तर स्वरूप पर जोर दिया गया है, जो इतिहास की दृष्टि से बाद का निर्माण ही हो सकता है। पालि-तिपिटक में मध्य-देश की ही प्रधानता है और उसी में चारिकाएँ करते हुए शास्ता को दिखाया गया है, जब कि महायानी ग्रन्थों में इसके अतिरिक्त उनका कश्मीर-गमन और नागदास (नेपाल देश) गमन तक दिखा दिया गया है, जो लोकोत्तर तथ्यों पर ही आश्रित हो सकता है। इसके अलावा पालि-तिपिटक में यथार्थवाद और विवेकवाद की प्रधानता है, जब कि महायानी

---

१. उनके मत के निर्देश के लिए देखिये, विण्टरनित्ज हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ३, पद-संकेत २; मिलाइये रायस डेविड्स और कालपेण्टर द्वारा सम्पादित दीघ-निकाय, जिल्द दूसरी, प्रस्तावना, पृष्ठ ८ (पालि टैक्सट् सोसायटी, लन्दन, द्वारा प्रकाशित); देखिये, 'सुत्त-निपात' का विवेचन भी।

साहित्य में अतिरंजनाओं और कल्पनाओं से भी बहुत काम लिया गया है। पालि में बुद्ध का मानव-रूप है परन्तु उत्तरकालीन बौद्ध संस्कृत साहित्य में उनको एक लोकोत्तर और दैवी रूप दे दिया गया है। उदाहरणतः संयुत्त-निकाय के एक सुत्त (जरा-सुत्त) में हम बुद्ध को एक क्षीणकाय वृद्ध पुरुष के रूप में देखते हैं जो वात-पीड़ित हैं और संध्या समय पूर्वाराम विहार में पश्चिम की ओर पीठ किये धूप ले रहे हैं। महापरिनिब्बाण-सुत्त में हम उन्हें उदर-रोग से पीड़ित भी देखते हैं। एक बार बुद्ध को एक गाँव में भिक्षा भी नहीं मिली थी। बौद्ध संस्कृत साहित्य में बुद्ध का यह रूप नहीं मिलता। यहाँ बुद्ध सदा ही देव, नाग, यक्ष, गरुड़, किन्नर आदि से सत्कृत, गुरुकृत पूजित हैं। 'अवदानशतक' में सहस्रों सूर्यों से अधिक उनके तेज को बताया गया है और कहा गया है कि चलते हुए वे एक संचरणशील रत्न-पर्वत के समान लगते हैं। "सूर्यसहस्रातिरेकप्रभं जंगममिव रत्नपर्वतम्।" अतः अपेक्षाकृत महत्त्व की दृष्टि से पालि-तिपिटक को ही बुद्ध के जीवन और उपदेशों को समझने का प्राचीनतम और प्रामाणिकतम साधन मानना पड़ता है।

इतिहास की दृष्टि से पालि-तिपिटक को एकमात्र सच्चा बुद्ध-वचन मानने में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि बुद्ध-धर्म के विकास की प्रथम शताब्दी में ही उसके अनेक विभाग हो गये थे। अशोक के काल तक ही कम-से-कम १८ सम्प्रदायों का उल्लेख है।[१] इन सभी सम्प्रदायों के अपने-अपने साहित्य थे, जिन्हें वे प्रामाणिक बुद्ध-वचन मानते थे।[२] पालि-तिपिटक इन्हीं प्राचीन सम्प्रदायों में से एक (स्थविरवाद—थेरवाद) की मूल साहित्यिक निधि है। पालि-तिपिटक में निहित बुद्ध-वचन और उनकी अट्ठकथाएँ—इतना ही स्थविरवाद बौद्ध धर्म का साहित्यिक आधार है—"तिपिटकसंगहितं साट्ठकथं सब्बं थेरवादं"ति।[३] अन्य सम्प्रदाय वालों का बहुत कुछ साहित्य लुप्त हो चुका है। मूल तो प्रायः किसी का भी मिलता ही नहीं। चीनी और तिब्बती अनुवादों से ही आज हमें उनकी कुछ जानकारी होती है। जिन सम्प्रदायों के त्रिपिटक साहित्य का इस प्रकार

---

१. देखिये, आगे पाँचवें अध्याय में 'कथावस्तु' का विवेचन।

२. लामा तारानाथ का कहना है कि मूल सर्वास्तिवाद का त्रिपिटक संस्कृत में था, महासंघिकों का प्राकृत में, स्थविर-सम्प्रदाय का पैशाची में और महासम्मितिय सम्प्रदाय का अपभ्रंश में।

३. समन्तपासादिका की बाहिरनिदानकथा। समन्तपासादिका, प्रथम भाग, पृष्ठ ४५ (नवनालन्दा महाविहार संस्करण)।

कुछ परिचय मिलता है, उनमें सर्वास्तिवादी (सब्बत्थिवादी) मुख्य है। यह एक प्रभावशाली सम्प्रदाय था जिसका आविर्भाव अशोक के समय से पहले ही हो चुका था। इस सम्प्रदाय के सूत्र, विनय और अभिधर्म, तीनों पिटक मिलते हैं; किन्तु उनके चीनी और तिब्बती अनुवाद ही आज उपलब्ध हैं, मूल रूप में वे संस्कृत में थे, किन्तु आज उनका वह रूप उपलब्ध नहीं है। पालि-तिपिटक से इन सर्वास्तिवादी ग्रन्थों की तुलना की गयी है, जिसके परिणाम-स्वरूप इन दोनों के विषय के सम्बन्ध में मूलभूत समानताएँ पायी गयी हैं, केवल विषय-विन्यास में कहीं कुछ थोड़ा-बहुत अन्तर पाया जाता है।[1] यह बात सुत्त और विनय पिटक के सम्बन्ध में तो सर्वांश में सत्य है, किन्तु अभि-धम्म-पिटक के विषय में दोनों परम्पराओं में ग्रन्थ-संख्या समान (सात) होते हुए भी उनमें से प्रत्येक की विषयवस्तु की दूसरे की विषयवस्तु के साथ कोई विशेष समता नहीं है। इस प्रकार—

स्थविरवाद का सुत्त-पिटक	सर्वास्तिवाद का सूत्र-पिटक	
दीघ-निकाय (३४ सूत्र)	दीर्घागम	(३० सूत्र—प्रधानतः बुद्धयशस् तथा चू-फो-नियन् द्वारा चौथी-पाँचवीं शताब्दी ई० में अनुवादित)
मज्झिम-निकाय (१५२ सूत्र)	मध्यमागम	(२२२ सूत्र—गौतम संघदेव द्वारा चौथी शताब्दी ई० में अनुवादित)
संयुत्त-निकाय (पांच मुख्य)	संयुक्तागम या संयुक्तकागम	(५० अध्याय-पाँचवीं शताब्दी में गुणभद्र द्वारा अनुवादित)

---

१. स्थविरवादी और सर्वास्तिवादी सुत्त-पिटक के तुलनात्मक अध्ययन के लिये देखिये, प्रसिद्ध जापानी विद्वान् मसाहरु अनेसाकि का "दि फोर बुद्धिस्ट आगम्स इन चाइनीज" शीर्षक निबन्ध, ट्रांजेक्शन्स ऑव दि एशियाटिक सोसायटी ऑव जापान, जिल्द पैंतीसवीं (१९०८), भाग तृतीय में। केवल चीनी सर्वास्तिवादी मध्यमागम को लेकर उसके साथ पालि मज्झिम-निकाय के तुलनात्मक अध्ययन को अभी हाल में वियत-नाम के विद्वान् भिक्षु थिच् मिन्ह चाउ ने अपने शोध-प्रबन्ध का विषय बनाया है, जिस पर उन्हें बिहार विश्वविद्यालय की ओर से पी-एच० डी० की उपाधि मिल चुकी है। अभी यह शोध-प्रबन्ध अप्रकाशित है।

अंगुत्तर-निकाय (ग्यारह निपात)	अंकोत्तरागम या एकोत्तराम (५२ अध्याय)—चौथी शताव्दी ईसवी में धर्मनन्दी द्वारा अनुवादित
खुद्दक-निकाय	क्षुद्रकागम

पालि-तिपिटक में भी यद्यपि कभी-कभी दीघ-निकाय आदि के लिये दीघागम आदि शब्दों का प्रयोग होता है, किन्तु प्रधानतः 'निकाय' शब्द का ही प्रयोग होता है।[1] सर्वास्तिवादियों के त्रिपिटक में 'आगम' शब्द का ही प्रयोग होता है। अर्थात् वहाँ संगृहीत सुत्तन्त ही 'आगम' शब्द कहलाते हैं। इसी का चीनी भाषा में 'अगोन्' हो गया है। यह लक्षणीय है कि मूल सर्वास्तिवादियों के 'विनयवस्तु' में 'मध्यमागम' और 'दीर्घागम' आदि का निर्देश आया है, बल्कि इसी सम्प्रदाय से सम्बद्ध 'दिव्यावदान' (पृष्ठ २०६, मिथिला विद्यापीठ संस्करण) में तो 'संयुक्तकागम', 'मध्यमागम', 'दीर्घागम' और 'एकोत्तरिका' ('एकोत्तरागम'), इन चारों आगमों ('आगम चतुष्टयं') का ही उल्लेख आया है। मध्य-एशिया में प्राप्त आगमों के खण्डित अंशों में 'दीर्घागम' के अन्तर्गत 'संगीति-सूत्र' (=पालि संगीति-सुत्त) और 'आतनातिय-सूत्र' (=पालि आटानाटिय-सुत्त) मिले हैं। इसी प्रकार मध्यमागम में 'उपालि-सूत्र' और 'शुक-सूत्र' मिले हैं, जिनमें से उपालि-सूत्र तो पालि के उपालि-सुत्त के समान ही है और 'शुक-सूत्र' मज्झिम-निकाय के 'चुल्लकम्मविभंग-सुत' के समान है, जिसे ही लक्षणीय और परम सामंजस्यमय रूप से आचार्य बुद्धघोष ने 'सुभ-सुत्तदही' कहकर पुकारा है, जो बिलकुल 'शुक-सूत्र' के समान ही है। इसी प्रकार 'संयुक्तकागम' में 'श्रोण-सूत्र' हैं जो पालि में संयुत्त-निकाय के अन्दर पाये जाने वाले सोणगहपतिपुत्त सम्बन्धी दो सुत्तों के समान हैं। सर्वास्तिवाद में यद्यपि प्रधानता प्रथम चार निकायों की ही है, किन्तु वहाँ पाँचवाँ

---

१. 'मनोरथपूरणी' में 'आगतागमा' शब्द की व्याख्या करते हुए आचार्य बुद्धघोष ने यह स्पष्ट कर दिया है कि 'आगम' शब्द 'निकाय' शब्द का पर्यायवाची ही है—"एको निकायो एको आगमो।" यह लक्षणीय है कि सुत्त-पिटक के लिए, जिसमें पाँचों निकाय संगृहीत हैं, और जिसका संगायन प्रथम संगीति के समय ही किया गया, 'दीपवंस' में 'आगम-पिटक' शब्द का प्रयोग किया गया है। "आगमपिटकं" नाम अकंसु सुत्तसम्मतं।" ४/१६ (ओल्डनबर्ग का संस्करण)। इस प्रकार स्थविरवाद-परम्परा इस सम्बन्ध में सर्वास्तिवादियों से मिलती है। "अंकम भेटि गहन्त।"

निकाय भी मिलता है। उसका नाम पालि खुद्दक-निकाय के अनुरूप ही क्षुद्रकागम' है। पालि खुद्दक-निकाय के कितने ग्रन्थ सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय में मिलते हैं, यह निम्नांकित सूची से विदित होगा।

स्थविरवादी खुद्दक-निकाय के ग्रन्थ	सर्वास्तिवादी परम्परा में प्राप्त ग्रन्थ
१. खुद्दकपाठ	
२. धम्मपद	धर्मपदम्
३. उदान	उदानम्
४. इतिवुत्तक	
५. सुत्तनिपात	सूत्रनिपातः (विशेषतः : अट्ठक और पारायण वग्ग)
६. विमानवत्थु	विमानवस्तु
७. पेतवत्थु	
८. थेरगाथा	स्थविरगाथा[1] (खण्डित)
९. थेरीगाथा	
१०. जातक	
११. निद्देस	
१२. पटिसम्भिदामग्ग	
१३. अपदान	
१४. बुद्धवंस	बुद्धवंशम्
१५. चरियापिटक	

दोनों परम्पराओं के विनय-पिटक का विभाजन इस प्रकार है—

	स्थविरवादी विनय-पिटक	सर्वास्तिवादी विनय-पिटक
सुत्त-विभंग	१. पाराजिका (भिक्खु-विभंग)	पाराजिका (भिक्षु-विभंग)
	२. पाचित्तिय (भिक्खुनी-विभंग	प्रायश्चित्तिकं (भिक्षुणी-विभंग)
विनय-वस्तु	३. महावग्ग	महावस्तु या विनय-महावस्तु
	४. चुल्लवग्ग	क्षुद्रक वस्तु या विनय-क्षुद्रक या विनय-क्षुद्रक-वस्तु
	५. परिवार-पाठ	विनय-उत्तर-ग्रन्थ

---

१. मूल सर्वास्तिवाद विनय के अङ्गभूत 'भैषज्यवस्तु' में खण्डित रूप से संगृहीत।

पालि अभिधम्म-पिटक के ७ ग्रन्थों के साथ सर्वास्तिवादी अभिधर्म-पिटक के सात ग्रन्थों की, जहाँ तक उनके नामों का सम्बन्ध है, पर्याप्त समानता है, किन्तु विषय समान नहीं हैं। यथा——

स्थविरवादी अभिधम्म-पिटक के ग्रन्थ	सर्वास्तिवादी अभिधर्म-पिटक के ग्रन्थों के साथ उनके नामों की समानता
१. धम्मसंगणि	धर्मस्कन्धपाद-शास्त्र
२. विभंग	विज्ञानकायपाद-शास्त्र
३. पुग्गलपञ्ञत्ति	प्रज्ञप्तिपाद-शास्त्र
४. धातुकथा	धातुकायपाद-शास्त्र
५. पट्ठान	ज्ञानप्रस्थान-शास्त्र
६. यमक	संगीतिपर्यायपाद-शास्त्र
७. कथावत्थुप्पकरण	प्रकरणपाद-शास्त्र

ऊपर स्थविरवाद और सर्वास्तिवादी सम्प्रदायों के साहित्य की समानताओं का दिग्दर्शन मात्र किया गया है। पालि-तिपिटक के प्रत्येक पिटक या उसके अंशों का विवेचन करते समय आवश्यकतानुसार हम उनकी तुलना सर्वास्तिावादी पिटक के अंशों के साथ करेंगे। अभी जो कहा जा चुका है, उससे इतना स्पष्ट है कि दोनों सम्प्रदायों के सुत्त और विनय-पिटक में काफी समानता है और जो विभिन्नताएँ हैं, वे प्रायः उसी प्रकार की हैं जैसी वेद की विभिन्न शाखाओं के पाठों में पायी जाती हैं। केवल अभिधम्म-पिटक की विषय-वस्तु में अन्तर है। अतः स्पष्ट है कि पालि-तिपिटक के कम-से-कम वे अंश जो सर्वास्तिवादी त्रिपिटक से समानता रखते हैं, अर्थात् सुत्त-पिटक और विनयपिटक के अनेक महत्त्वपूर्ण अंश, सर्वांश में प्रामाणिक हैं और उनके बुद्ध-वचन होने में कोई सन्देह नहीं हो सकता। इसी अध्ययन से यह भी स्पष्ट है कि पालि-अभिधम्म-पिटक की प्रमाणवत्ता निश्चय ही सुत्त और विनय के बाद की ही रह जाती है, कम-से-कम उसके विषय में सन्देह तो दृढ़मूल हो ही जाता है। इस विषय का विस्तृत विवेचन हम पाँचवें अध्याय में अभिधम्म-पिटक की समीक्षा करते समय करेंगे। सर्वास्तिवादी और स्थविरवादी परम्पराओं में जिन बातों पर मतभेद है अथवा उनके साहित्य में जहाँ विभिन्नता है, वहाँ हमें यह सोचना पड़ेगा कि किस का साक्ष्य अधिक प्रभावशाली और मानने योग्य है। हम पहले देख चुके हैं कि स्थविरवादी तिपिटक के स्वरूप का अन्तिम निश्चय और स्थिरीकरण अशोक के काल में अर्थात् तृतीय शताब्दी ईसवी-पूर्व हो चुका था और उसी समय से वह लंका में उसी रूप में सुरक्षित रहा है। कम-से-

कम प्रथम शताब्दी ईसवी-पूर्व (वट्टगामणि अभय का समय)—मिलिन्दपञ्ह का समय भी) के बाद तो उसमें एक अक्षर का कहीं परिवर्तन-परिवर्द्धन हुआ ही नहीं है। इसके विपरीत सर्वास्तिवादी साहित्य की परिस्थिति बड़ी संकटग्रस्त और असमंजसमय रही है। पहले तो अशोक ने ही स्थविरवादियों के अतिरिक्त सारे बौद्ध सम्प्रदायों के अनुयायियों को मिथ्यावादी समझ कर प्रव्रज्या-हीन कर दिया था।[1] फिर शुंग राजाओं के काल में उन पर जो आपत्तियाँ ढाई गयीं, उनसे तो अपनी मूल परम्परा से उनका कदाचित् विच्छेद ही हो गया। सम्भवतः यही कारण है कि उनके मूल विशाल साहित्य का, जो संस्कृत में था, आज कोई पता नहीं चलता और वह केवल चीनी अनुवादों में सुरक्षित है। आज पुरातत्त्व का कोई भी भारतीय विद्यार्थी धार्मिक कट्टरता के परिणामस्वरूप उत्पन्न इस ज्ञान-विलुप्ति के लिए लज्जित हुए बिना नहीं रह सकता। सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय की साहित्य-विलुप्ति के अन्य चाहे जो कारण दिये जा सकें, वह भारतीय संस्कृति की उदारता और धर्म-सहिष्णुता की एक कटु टिप्पणी भी अवश्य है। 'पुष्यमित्र'[2] नाम तक के प्रति चीनी बौद्ध साहित्य में जो गहरी अवज्ञा का भाव विद्यमान है, वह इस साहित्य-विलुप्ति से असम्बन्धित नहीं हो सकता। यहाँ कहने का तात्पर्य यही है कि अपनी मूल परम्परा से विच्छिन्न होकर ही सर्वास्तिवाद बौद्ध धर्म चीन, तिब्बत और अन्य देशों में गया, अतः उसकी प्रामाणिकता स्थविरवाद के सामने कुछ नहीं हो सकती। सर्वास्तिवादी ग्रन्थों के चीनी और तिब्बती अनुवाद भी ईसवी सन् के कई सौ वर्ष बाद हुए, अतः इस दृष्टि से भी उनमें परिवर्तन-परिवर्द्धन की काफी सम्भावना हो सकती है। फिर बौद्ध धर्म जहाँ-जहाँ गया, वह अपनी समन्वय-भावना को भी अपने साथ लेता गया और जिन-जिन देशों में उसका प्रसार हुआ, उनके लोकगत विश्वासों का भी उसके अन्दर समावेश होता गया। अतः इस प्रवृत्ति के कारण भी सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय के साहित्य में विभिन्नताएँ आ सकती हैं, जिनके मौलिक या उत्तरकालीन परिवर्द्धित होने का निर्णय हम उनके मूल के अभाव में नहीं कर

---

१. देखिये, महावंश ५।२६८-२७०।

२. प्रसिद्ध शुंगवंशीय राजा, जिसने बौद्धों पर बड़े अत्याचार किये, जिनके कारण अनेक बौद्धों को देश छोड़कर बाहर भाग जाना पड़ा। केवल आन्ध्र, सौराष्ट्र, पंजाब, कश्मीर और काबुल में बौद्ध धर्म इस समय रह गया। चीनी बौद्ध-साहित्य में बिना अभिशाप के 'पुष्यमित्र' का नाम नहीं लिया जाता। देखिये, बुद्धिस्टिक स्टडीज (डॉ० लाहा द्वारा सम्पादित), पृष्ठ ८२०।

सकते। भाषा के साक्ष्य पर भी हम उसे पालि-माध्यम के साथ मिलाकर किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकते। अतः दोनों के तुलनात्मक महत्त्व और प्रामाण्य का अंकन अभी हम अनिश्चित रूप से ही कर सकते हैं। फिर भी जो कुछ तथ्य उपलब्ध हैं, उनसे यही विदित होता है कि सर्वास्तिवाद माध्यम की अपेक्षा स्थविर-वादी माध्यम ने ही बुद्ध-वचनों की अधिक सच्ची और प्रामाणिक अनुरक्षा की है। मूल सर्वास्तिवादियों[1] का जो विनय या उसका एक बड़ा अंश कश्मीर में गिलगित पाण्डुलिपियों (गिलगित मेनुस्क्रिप्ट्स्) के रूप में मिला है और अन्य तिब्बती और मध्य-एशिया के स्रोतों से भी जिसकी प्राप्ति हुई है, उसके अध्ययन से यही विदित होता है कि वह पालि विनय-पिटक की तुलना में बौद्ध धर्म और संघ की एक अपेक्षाकृत बाद की अवस्था का प्रतिनिधित्व करता है। सर्वास्तिवादियों के अतिरिक्त अन्य बौद्ध सम्प्रदायों के विषय में, जिनकी उत्पत्ति अशोक के काल तक हो चुकी थी और जिनके साथ ही स्थविरवादियों से जीवित सम्बन्ध की कल्पना हम कर सकते हैं, हमें महत्त्वपूर्ण कुछ भी ज्ञात नहीं है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उनकी भी परम्पराएँ थीं अवश्य, किन्तु आज वे हमारे लिए प्राप्त नहीं हैं। सातवीं शताब्दी ईसवी के चीनी यात्री इ-त्सिंग ने (जिसके यात्रा-विवरण में बौद्ध साहित्य सम्बन्धी ही नहीं, बल्कि सामान्यतः प्राचीन भारतीय साहित्य सम्बन्धी दुर्लभ सामग्री भरी पड़ी है) लिखा है कि उसके समय में बौद्ध धर्म के

---

१. मूल सर्वास्तिवादी भिक्षु सर्वास्तिवादियों की ही—एक शाखा थे। 'महाव्युत्पत्ति' में सर्वास्तिवाद के दो भेद किये गये हैं, आर्य सर्वास्तिवाद और मूल सर्वास्तिवाद। मूल सर्वास्तिवादी विनय में बुद्ध कनिष्क के सम्बन्ध में भविष्यवाणी करते दिखाये गये हैं। इससे यह प्रकट होता है कि मूल सर्वास्तिवाद की उत्पत्ति ईसवी सन् के कुछ बाद ही हुई और लगभग तीसरी शताब्दी ईसवी तक उसका विकास होता रहा। चीनी परम्परा के अनुसार सर्वास्तिवाद आरम्भ में एक हीनयानी बौद्ध सम्प्रदाय ही था और बुद्ध-परिनिर्वाण के तीन सौ वर्ष बाद स्थविरवाद की एक शाखा के रूप में ही सर्वास्तिवाद की उत्पत्ति हुई। इसे पालि-परम्परा भी मानती है। बाद में सर्वास्तिवाद परम्परा, चीनी मान्यता के अनुसार, पाँच शाखाओं में बँट गयी—(१) मूल सर्वास्तिवाद, (२) धर्मगुप्त, (३) काश्यपीय, (४) महीशासक, और (५) वात्सीपुत्रीय। देखिये, आगे 'कथावत्थुप्पकरण' में अशोक के काल तक उत्पन्न अठारह बौद्ध सम्प्रदायों का विभिन्न बौद्ध परम्पराओं के अनुसार कुछ वर्णन भी।

प्राचीन अठारह सम्प्रदाय मुख्य चार निकायों में संगठित हो गये थे, जिनकी अपनी अलग-अलग साहित्य परम्पराएँ थीं। ये चार मुख्य निकाय थे, (१) आर्य महासांघिक निकाय, (२) आर्य स्थविर निकाय, (३) आर्य मूलसर्वास्तिवाद निकाय, और (४) आर्य सम्मितिय निकाय। इन चारों में क्रमशः सात, तीन, चार और चार पूर्वकालीन निकाय अन्तर्भावित थे। अर्थात् कुल अठारह। इन चारों के अपने अलग-अलग त्रिपिटक थे, ऐसा इ-त्सिग् ने लिखा है। इ-त्सिग् के अनुसार आर्य महासांघिक निकाय के त्रिपिटक में तीन लाख श्लोक थे, अर्थात् प्रत्येक पिटक में एक-एक लाख। आर्य स्थविर निकाय के त्रिपिटक में इतने ही श्लोक थे और इतने ही थे आर्य मूलसर्वास्तिवाद के त्रिपिटक में भी। आर्य सम्मितिय निकाय के त्रिपिटक में दो लाख श्लोक थे, जिनमें से ६०,००० श्लोक केवल विनय-पिटक में थे। इन चारों निकायों का भौगोलिक विवरण भी इ-त्सिग् ने दिया है। मगध में सामान्यतः चारों निकायों के अनुयायी पाये जाते थे, फिर भी सर्वास्तिवाद का बोलबाला था। लाट (गुजरात) और सिन्धु देश में सम्मितिय निकाय की बहुसंख्या थी, यद्यपि अन्य निकायों के भी कुछ अनुयायी पाये जाते थे। उत्तर भारत के प्रायः सब निवासी सर्वास्तिवाद निकाय के अनुयायी थे, यद्यपि कहीं-कहीं महासांघिक निकाय के अनुयायी भी पाये जाते थे। दक्षिण में सर्वत्र स्थविर-निकाय का प्रचार था, यद्यपि कुछ अनुयायी दूसरे निकायों के भी थे। पूर्वी सीमान्त के प्रदेश में चारों निकायों के अनुयायी साथ-साथ मिलते थे।[1] आज इन निकायों के त्रिपिटकों की हमारी कोई जानकारी नहीं है। हाँ, चीनी अनुवादों में इनके क्षीण साक्ष्य अवश्य सुरक्षित हैं। इस प्रसंग में यह बात लक्ष्य करने योग्य है कि लामा तारानाथ (चौदहवीं शताब्दी) ने भी उपर्युक्त चारों सम्प्रदायों का उल्लेख किया है और कहा है कि सर्वास्तिवाद सम्प्रदाय का त्रिपिटक संस्कृत में था, महासांघिक का प्राकृत में, स्थविर सम्प्रदाय का पैशाची में और महासम्मितिय सम्प्रदाय का अपभ्रंश है।

सर्वास्तिवादी साहित्य के अलावा यह महासांघिकों का कुछ क्षीण अवशिष्ठ साहित्य ही है, जिसका कुछ उल्लेख हम पालि तिपिटक की प्रमाणवत्ता के प्रसंग में कर सकते हैं। महासांघिक भिक्षु महायानिक परम्परा के पूर्वतम रूप थे। उनकी ही एक शाखा लोकोत्तरवादियों के रूप में सामने आयी। यह तथ्य अशोक के समय से कुछ पूर्व ही हुआ, ऐसा 'कथावत्थु' के साक्ष्य पर कहा जा सकता है।

---

१. जे० तकाकुसुः ए रिकार्ड ऑव दि बुद्धिस्ट रिलिजन ऐज प्रेक्टिज्ड इन इण्डिया एण्ड दि मलाया आर्किपेलेगो, पृष्ठ ७-९ (आक्सफर्ड, १८९६)।

महासाङ्घिकों के शाखाभूत लोकोत्तरवादियों का एक महान् ग्रन्थ 'महावस्तु' अवदान सुरक्षित है। यह सम्मिश्रित संस्कृत भाषा में लिखा गया है अर्थात् इसकी भाषा विशुद्ध संस्कृत न होकर पालि-भावित है और वह पाणिनि के व्याकरण का पूरा अनुसरण नहीं करती, बल्कि उसके कदाचित् व्यावहारिक प्रयोगों को अधिक ग्रहण करती है और स्वभावतः पालि के अधिक समीप है। तो महासांङ्घिकों के शाखाभूत लोकोत्तरवादियों ("आर्यमहासाङ्घिकानां लोकोत्तरवादिनाम्") का यह महान् ग्रन्थ 'महावस्तु' उनके अवदान-साहित्य का एक अंग है या इसे उनका विनय-पिटक भी माना जा सकता है, या उस सम्प्रदाय की मान्यता के अनुसार बुद्ध की जीवनी भी। बुद्ध भगवान् के परिनिर्वाण के बाद जिन अनेक बातों को लेकर बौद्ध भिक्षु-संघ में विवाद चले, उनमें विनय के नियमों (शिक्षापदों) को लेकर मतभेद तो थे ही, बुद्ध के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में भी नाना धारणाएँ थीं। 'महावस्तु अवदान' जिसका रचना-काल प्रायः २०० ई० पूर्व से लेकर ४०० ई० तक आँका गया है, मानता है कि बुद्ध एक लोकोत्तर पुरुष थे, लौकिक व्यवहारों का उन्होंने अनुगमन किया, यह केवल दिखाने के लिए था, वास्तव में वे सभी लौकिक प्रज्ञप्तियों से अतीत थे, परमार्थ पुरुष थे और परमार्थतः वे धर्मकाय थे। इस मान्यता का प्रतिपादन इस ग्रन्थ में है। ऐसा लगता है कि पालि के स्थविर 'वङ्गीस', जिन्हें 'महावस्तु' में 'वागीश' कहकर पुकारा गया है, बुद्ध के लोकोत्तर रूप की प्रतिष्ठा करने वाले प्रथम बुद्ध-शिष्य भिक्षु थे और उन्हीं की दृष्टि पूरे 'महावस्तु' में प्रतिपादित है। वैसे 'महावस्तु' का अन्तिम भाग अर्थात् 'कुश जातक' और उससे आगे का भाग पालि विनय-पिटक के 'महावग्ग' के प्रायः समान ही है। वही बोधि-प्राप्ति और उसके बाद की घटनाएँ, ऋषिपतन मृगदाव में धर्मचक्र-प्रवर्तन, यशोद कुलपुत्र (पालि के यश स्थविर) की प्रव्रज्या, नालक-प्रश्न, शारिपुत्र, मौद्गल्यायन की प्रव्रज्या, महाकाश्यप की प्रव्रज्या, भगवान् का प्रथम कपिलवस्तुगमन, राहुल-प्रव्रज्या आदि प्रसंग यहाँ विनय-पिटक के 'महावग्ग' के समान वर्णित हैं, जिनसे विनय-पिटक के 'महावग्ग' की ऐतिहासिक प्रमाणवत्ता को बहुत बल मिलता है। इसी प्रकार 'महावस्तु' में आये अनेक जातकों की पालि जातक से समानता भी उक्त तथ्य को ही अधिक सुप्रकाशित करती है और उसके साथ-साथ 'महावस्तु' की भी प्राचीनता सिद्ध होती है।

जहाँ तक महायान के प्राचीन सूत्रों का सम्बन्ध है, उन्हें महायानिक परम्परा 'बुद्ध-भाषित' ही मानती है। इस प्रकार 'सद्धर्मपुण्डरीक-सूत्र', 'लङ्कावतारसूत्र',

सुखावती व्यूह-सूत्र (विस्तार मातृका और संक्षिप्त मातृका दोनों) और 'अमिता-युर्ध्यानसूत्र' आदि 'बुद्ध-भाषित' ही माने जाते हैं। इन्हें अर्थशः या अभिप्राय की दृष्टि से बुद्ध-भाषित माना जा सकता है, जैसे कि पालि अभिधम्म-पिटक को। महायान-सूत्रों और त्रैपिटिक बुद्ध-वचनों में नाना लक्षणीय समानताएँ हैं जो बुद्ध द्वारा अनेक पर्यायों से धर्म की देशना करने का साक्ष्य देती हैं और महायान-परम्परा स्वीकार करती है कि जो कुछ भी आगमों या पालि निकायों में निहित है, वह सब बुद्ध भगवान् के द्वारा अपनी बोधि-प्राप्ति के बाद के बारह वर्षों में दिया गया उपदेश है और उसके अलावा भी उन्होंने बहुत कुछ कहा जो केवल महायान की पूरी परम्परा में ही सम्प्रेषित हुआ है। महायान के तियेन्-ताइ मत में (जो जापान में 'तेन्दाइ' नाम से चला) आरम्भ से ही अर्थात् छठी शताब्दी ईसवी से ही बौद्धधर्म के स्थविरवादी (हीनयानी) और महायानी सब सूत्र-ग्रन्थों को बुद्धोपदिष्ट ही माना गया है और बड़े समन्वयात्मक ढंग से उनके उपदेश-काल को पाँच भागों में बाँटा गया है जिनमें आगम या निकाय दूसरे भाग में आते हैं, जिनका उपदेश इस सम्प्रदाय की मान्यता के अनुसार बुद्ध द्वारा अपनी बोधि-प्राप्ति के बाद बारह वर्षों में दिया गया। इस प्रकार महायान में भी स्थविरवाद और उसके साहित्य का निराकरण बिल्कुल नहीं है, बल्कि वह उसके अन्दर ही अवस्थित है और स्वयं उसकी अनेक मान्यताओं को पालि-परम्परा भी अद्भुत रूप से समर्थित करती है, जिस पर यहाँ विस्तार करने की आवश्यकता नहीं। कहने का अभिप्राय यही है कि सम्पूर्ण बौद्धधर्म और उसका साहित्य एक ओर अभिन्न है, उसका एक रूप दूसरे में छिपा पड़ा है जिसको समग्र रूप में देखना ही सच्चा बुद्ध-धर्म है और उसका सम्पूर्ण साहित्य चाहे पालि में हो या संस्कृत में या अन्य किसी भाषा में, उसकी अविच्छिन्नता और मूलभूत एकता को ही दिखाता है, जो बुद्ध के उपदेशों में ही स्वभावतः निहित है। परन्तु इसके साथ ही हम बाहरी छोटे-छोटे भेदों की भी उपेक्षा नहीं कर सकते।

द्वितीय संगीति के अवसर पर ही, जैसा हम पहले देख चुके हैं,[1] महासंगीतिक भिक्षुओं ने पालि सुत्त और विनय के कुछ अंशों के अतिरिक्त सम्पूर्ण अभिधम्म पिटक की ही प्रमाणवत्ता स्वीकारे नहीं की थी। उन्होंने विनय-पिटक के परिवार और सुत्त-पिटक के पटिसम्भिदामग्ग, निद्देस और जातकों के कुछ अंशों को भी प्रामाणिक नहीं माना था। अभिधम्म-पिटक के अस्वीकार में सर्वास्तिवादी और महासंगीतिक भिक्षु समान ही थे। अतः हमें उसके विषय में गम्भीरतापूर्वक

---

१. दूसरे अध्याय में।

सोचना पड़ेगा कि उसे कहाँ तक बुद्धवचन के रूप में प्रामाणिक माना जाय। यही स्थिति जातक, निद्देस और पटिसम्भिदामग्ग की भी है। इस सूची को और भी काफी बढ़ाया जा सकता है। उदाहरणतः थेरगाथा और पेतवत्थु जैसे ग्रन्थों में ऐसे आन्तरिक साक्ष्य हैं,[1] जिसके आधार पर उन अंशों को बुद्ध-परिनिर्वाण से दो या तीन शताब्दी बाद की रचना ही माना जा सकता है। अतः यह स्पष्ट है कि पालि-तिपिटक की प्रमाणवत्ता का एकांशेन उत्तर नहीं दिया जा सकता। उसके कतिपय अंश (जैसे महापरिनिब्बाण-सुत्त, धम्मचक्कपवत्तन-सुत्त आदि, आदि) अत्यन्त प्राचीन हैं और उनमें बुद्ध के प्रत्यक्ष जीवन और उपदेशों की सजीव और सर्वांश में सच्ची प्रतिमूर्ति मिलती है। कुछ शास्ता के परिनिर्वाण के ठीक बाद के हैं (जैसे मज्झिम-निकाय के गोपक-मोग्गल्लान-सुत्त, घोट-मुख-सुत्त और मधुर-सुत्त तथा दीघ-निकाय का सुम-सुत्त) और कुछ एक-दो शताब्दियों बाद की परम्पराओं को भी अंकित करते हैं, किन्तु ऐसे स्थल बहुत कम हैं। सुत्त और विनय-पिटक का अधिकांश भाग तो बुद्ध और उनके शिष्यों के जीवन और उपदेशों तक ही सीमित है। जो अंश बाद के भी हैं, वे भी अशोक के काल तक ही अपना अन्तिम स्वरूप प्राप्त कर लेते हैं। भाषा-शैली एवं पारस्परिक तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर हम पूर्ववर्ती और परवर्ती तत्त्वों को अलग-अलग कर सकते हैं। उदाहरणतः सुत्तों का पारस्परिक मिलान कर के हम जान सकते हैं कि किस मौलिक नमूने का आश्रय लेकर किस सुत्त को किस प्रकार परिवर्द्धित स्वरूप प्रदान किया गया है। यही हाल विनय के नियमों का है। उनमें परिवर्द्धन हुआ है। विनय के सभी नियम शास्ता के मुख से निकले हुए नहीं हो सकते। कुछ मौलिक आधारों को लेकर शेष की सृष्टि कर ली गयी है और उनको प्रामाणिकता देने के लिए बुद्ध-वचन को इतने में प्रख्यापित कर दिया गया जान पड़ता है। अन्यथा मानवीय विचार को रूप अधिक स्वतन्त्रता देने वाले व्यक्ति के द्वारा जीवन की छोटी से छोटी क्रियाओं में विधान प्रज्ञापन करना संगत नहीं बैठता। शिष्यों पर उनके प्रभाव को देखते हुए भी उनकी आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। अतः वे बुद्ध-धर्म के विकास से सम्बन्धित हैं, यह हम आसानी से जान सकते हैं। बौद्ध संगीतियों के इतिहास ने भी हमें यही बताया है कि उसके स्वरूप का पूर्ण निर्धारण द्वितीय संगीति के समय ही हुआ, जो बुद्ध-परिनिर्वाण से १०० वर्ष बाद हुई। अतः एक सीमित किन्तु निश्चित अर्थ में ही हम पालि-तिपिटक (विशेषतः सुत्त और विनय) को बुद्ध-वचन कह सकते हैं जिन्हें ढूँढ़ने के लिए हमें काफी समालोचना-बुद्धि और साथ ही श्रद्धा-बुद्धि की भी आवश्यकता है।

---

१. देखिये, आगे इसी अध्याय में खुद्दक-निकाय का विवेचन।

समालोचना-बुद्धि के साथ-साथ श्रद्धा-बुद्धि की आवश्यकता इसलिए है कि हम भारतीयों को पालि-साहित्य का परिचय विद्वानों ने ही प्रारम्भिक रूप से कराया है और पश्चिमी विद्वानों को भारतीय ज्ञान और साहित्य को जानने की इच्छा उस समय हुई जब वहाँ उन्नीसवीं शताब्दी में सन्देहवाद का बोलबाला था। इसमें सन्देह नहीं कि बिना सन्देह का ज्ञान नहीं हो सकता और प्रत्येक ज्ञान के पहले सन्देह होना आवश्यक है। किन्तु सन्देह ही ज्ञान का रूप धारण कर ले, तो यह ज्ञान का अपलाप है। अधिकांश पाश्चात्य विद्वान् इस स्थिति से शायद ही ऊपर उठ पाये हैं। उनकी प्रत्येक अभिज्ञा और जानकारी में सन्देह समाया हुआ है। पालि-स्वाध्याय के प्राथमिक युग में बुद्ध के ऐतिहासिक अस्तित्व तक के सम्बन्ध में उनमें से कई ने (उदाहरणतः फ्रैंक, सेनाँ, बार्थ आदि ने), सन्देह प्रकट किया था। तिपिटक के वर्णनों में थोड़े-बहुत विरोध पाये जाते हैं। इन विरोधों का संग्रह फ्रैंक के द्वारा किया गया है। पर उनमें से कई वास्तविक विरोध नहीं भी हैं। अस्तु, जो भी विरोध हैं, उनका कारण क्या है? जैसा पहले दिखाया जा चुका है, बुद्ध-धर्म के प्राथमिक विकास में बुद्ध-वचनों की परम्परा बुद्धपरिनिर्वाण के बाद कई शताब्दियों तक मौखिक रूप में चलती रही। अतः अनेक विरोध (बुद्ध-वचनों का संगायन करने वाले भिक्षुओं की) स्मृति-हानि के कारण ही है। उन पर अनावश्यक जोर देना बुद्ध-वचनों के संरक्षण से ही अपनी अनभिज्ञता बताना है। एक ही उपदेश को बुद्ध या उनके किसी शिष्य के मुख से दिया गया दिखलाने में या भिन्न-भिन्न स्थानों में दिया हुआ दिखलाने में कोई विरोध नहीं है। यह तो ऐतिहासिक रूप से सत्य भी हो सकता था। भगवान् अपनी चारिकाओं में चतुरार्य सत्य जैसे प्रमुख उपदेशों की पुनरावृत्ति भिन्न-भिन्न स्थानों में करते ही रहे होंगे और फिर उनके शिष्य भी इसी प्रकार करते हुए विचरते होंगे, यह समझना कठिन नहीं है। भिन्न-भिन्न स्थानों के भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा ही बुद्ध-वचनों का संगायन और संकलन हुआ है, अतः इसमें अस्वाभाविक क्या है? बल्कि यह तो उनके सत्य और ऐतिहासिक रूप से प्रामाणिक होने का एक प्रबल साक्ष्य है। कौन-सा उपदेश किस स्थान पर दिया गया, किसके प्रति दिया गया, किस अवसर पर दिया गया, इतनी छानबीन के साथ बुद्ध-वचनों को उनके उसी रूप में संरक्षित रखना भिक्षुओं की महती ऐतिहासिक बुद्धि का साक्ष्य देता है। निश्चय ही इतने अधिक ब्यौरों के साथ बुद्ध-वचनों का संरक्षण करने में कुशल भिक्षुओं ने जो दक्षता दिखाई है, वह उनके समय को देखते हुए आश्चर्यजनक है। इसके लिए हमें उनका कृतज्ञ होना चाहिए। उनके द्वारा दी हुई सूचना पर सन्देह करना ही मात्र ऐतिहासिक प्रणाली नहीं होगी। कम-से-कम

यह मानना पड़ेगा कि वे धर्मवादी थे और भगवान् बुद्ध के वचनों की रक्षा करना ही उनका प्रधान उद्देश्य था। अतः उनके द्वारा संगृहीत वचनों में मानवीय स्मरण-शक्ति की स्वाभाविक अल्पता के कारण ही अशुद्धि या अपूर्णता भले ही रह गयी हो, किन्तु जो कुछ उन्होंने सुना था उसी का अत्यन्त सावधानी के साथ उन्होंने संगायन किया था, इतना तो हमें मानना ही पड़ेगा। जो उन्होंने संगायन किया था, उसी का संगृहीत रूप आज हमें पालि तिपिटक में मिलता है, यह भी निःसन्देह ही है। सर्वांश में पालि-तिपिटक बुद्ध-वचन है, ऐसी मान्यता तो स्वयं पालि-तिपिटक की भी नहीं है। वहाँ स्पष्टतम रूप से दिखा दिया गया है कि कौन से वचन सम्यक् सम्बुद्ध के हैं, कौन से वचन उनके शिष्यों के हैं, अथवा कौन से वचन अन्य व्यक्तियों के भी हैं। हम पहले देख चुके हैं कि स्वयं आनन्द ने ८४,००० धर्म-स्कन्धों में से ८२,००० बुद्ध से और २००० भिक्षु-संघ से अपने द्वारा प्राप्त किये बताये हैं। "द्वासीतिं बुद्धतो गण्हि द्वे सहस्सानि भिक्खुतो।" आचार्य बुद्धघोष ने भी 'अट्ठसालिनी' की निदान-कथा में आनन्द की इस उक्ति को उद्धृत किया है। सब सुत्त बुद्धोपदिष्ट नहीं हैं। अनेक उनके शिष्यों के हैं। बाहितिय-सुत्त का उपदेश आनन्द ने प्रसेनजित् को दिया था। मधुर-सुत्त का आयुष्मान् कात्यायन ने मथुरा के राजा अवन्तिपुत्र को। घोटमुख-सुत्त स्थविर उदगन का घोटमुख ब्राह्मण को दिया गया उपदेश है। चूल-वेदल्ल-सुत्त में हम उपासक विशाख को भिक्षुणी धम्मदिन्ना से धार्मिक संलाप करते देखते हैं। दीघ-निकाय के सुभ-सुत्त में आनन्द का माणवक सुभ तोदेय्यपुत्त से संलाप है। महावेदल्ल-सुत्त में धर्मसेनापति सारिपुत्र और महाकोट्ठित का संलाप है। इस सूची को और भी बढ़ाया जा सकता है। स्फुट सुत्त ही नहीं, थेर-थेरी गाथाएँ, पटिसम्भिदामग्ग, निद्देस और कथावत्थु जैसे पूरे-के-पूरे ग्रन्थ श्रावक-भाषित हैं और उन्हें ऐसा ही पालि-परम्परा आरम्भ से मानती आयी है। अतः जब हम पालि-तिपिटक को बुद्ध-वचन कहते हैं, तो उसका अर्थ यही होता है कि वहाँ बुद्ध कालीन भारत के देश-काल की पृष्ठभूमि में बुद्ध के जीवन और उपदेशों का सजीव और मौलिक चित्र मिलता है और जो बुद्ध-वचन वहाँ बुद्ध-मुख से निःसृत दिखाये गये हैं, वे प्रायः वैसे ही हैं। अशोक उन्हें ऐसा ही मानता था और अशोक बुद्धिवादी व्यक्ति नहीं था, ऐसा हम नहीं कह सकते। जब बुद्ध-परिनिर्वाण की तीसरी शताब्दी में उत्पन्न होकर अशोक को बुद्ध-वचनों के निश्चित स्वरूप के विषय में पूर्ण सन्तोष हो गया था, तो उसकी कई शताब्दियों के बाद आने वाले हम, जब काल ने बहुत से पुरावृत्त को और भी ढँक लिया है, अशोक की सम्पत्ति के ही साझीदार क्यों न बन जायँ? यहाँ कुछ भय नहीं है। अभी तक

हमने संस्कृत के आधार पर बौद्ध धर्म का अध्ययन किया है। उसके तात्त्विक दर्शन के विषय में चाहे जो कुछ कहा जाय, परन्तु बुद्ध के ऐतिहासिक मानवीय व्यक्तित्व के प्रभावशाली सम्पर्क से तो हम अभी तक प्रायः वञ्चित ही रहे हैं। आज हमने महामहिन्द (महामहेन्द्र) के द्वारा सिंहल को जो दिया था, सिंहल उसका प्रतिदान करने को प्रस्तुत है। उसने बड़े प्रयत्न और गौरव से हमारे दान को सुरक्षित रखा है। आज उसकी थाती हमारे लिये खुली हुई है। यहाँ हम बुद्ध और उनके पाद-मूल में वैठने वाले शिष्यों के साक्षात् दर्शन कर सकते हैं, उनके उपदेश सुन सकते हैं, जिस प्रकार के देश-काल में वे विचरते थे, उसका दिग्दर्शन कर सकते हैं। बुद्ध-वचनों की स्मृतियों के साथ यद्यपि यहाँ वहुत-कुछ और भी अंकित है, और कहीं-कहीं कुछ बुद्ध-परिनिर्वाण के वाद का भी है, किन्तु उसका सब का उपयोग बुद्ध-वचनों के लिए ही है जो स्वयं वहाँ अपनी पूर्ण विभूति और मौलिक गौरव में उपस्थित हैं और काफी हद तक उसका अनुमोदन भी करते हैं। पालि-तिपिटक के इस गौरवमय अंश के कारण ही हम उसके सारे रूप को भी 'बुद्ध-वचन' कहते हैं, जो यद्यपि अक्षरशः सत्य नहीं किन्तु सत्य की महिमा और अनुभूति से व्याप्त अवश्य है।

सुत्त-पिटक का विषय, शैली और महत्त्व

पालि-तिपिटक का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण भाग सुत्त-पिटक ही है। बुद्ध के धम्म का यथातथ्य रूप में परिचय कराना ही सुत्त-पिटक का एकमात्र विषय है। हम जानते हैं कि बुद्ध के परिनिर्वाण तक धम्म और विनय अथवा अधिक ठीक कहें तो सामासिक 'धम्म-विनय' की ही प्रधानता थी। उसी की शरण में शास्ता ने भिक्षुओं को छोड़ा था।[1] वही उनका धम्मकाय है। बुद्ध-परिनिर्वाण के वाद उनके शिष्यों ने बुद्ध-वचनों के नाम से जिनका संगायन किया, वह धम्म और विनय ही थे। "धम्मं च विनयं च संगायेय्याम"। ऐसा ही मूल प्रस्ताव था। अतः पालि-तिपिटक में अधिक महत्त्वपूर्ण तो धम्म और विनय ही हैं। इनमें भिक्षु-संघ के अनुशासन की दृष्टि से विनय मुख्य है, किन्तु साहित्य और इतिहास की दृष्टि से सुत्त-पिटक का ही महत्त्व अधिक मानना पड़ेगा। सम्पूर्ण विनय और उसके शिक्षाप्रद धम्म में अन्तर्हित हैं। वल्कि जव धर्म का व्यतिक्रम हुआ, तभी शिक्षाप्रद प्रज्ञप्त किये गये। बुद्ध के जीवन-काल में, जव उनके शिष्यों की संख्या अधिक नहीं थी, उनके सभी शिष्य स्वयं धर्म के आचरण में

---

१. "आनन्द ! मैंने जो धर्म और विनय उपदेश किये हैं, प्रज्ञप्त किये हैं, वही मेरे बाद तुम्हारे शास्ता होंगे।" महापरिनिब्बाण-सुत्त (दी० २।३)

स्थित रहते थे और कोई प्रमाद नहीं करते थे। उस समय बुद्ध को शिक्षाप्रद प्रज्ञप्त करने की आवश्यकता ही नहीं पड़ी, क्योंकि संघ स्वयं उस समय अपनी स्वाभाविक विमलता में स्थित था। उस समय सुविशुद्ध, शंखलिखित ब्रह्मचर्य संघ में अपनी परिपूर्णता में मूर्तिमन्त था। परन्तु जैसे-जैसे भगवान् की अनुकम्पा का लाभ उठाकर अयोग्य व्यक्ति भी भिक्षु बनने लगे, तो उनके नियमन के लिए, विनयन के लिए, शिक्षापद बनाने पड़े और इस प्रकार विनय का आरम्भ हुआ। बाद में बुद्ध-परिनिर्वाण के बाद जब हालत और भी बिगड़ी और कुछ भिक्षु बुद्ध द्वारा प्रज्ञप्त को उच्छिन्न करने लगे और अप्रज्ञप्त को प्रज्ञप्त बताने लगे, तो और अधिक कठिन अनुशासन की आवश्यकता पड़ी और यहीं स्थविर महाकाश्यप सामने आये और उन्होंने विनय को पूरा महत्त्व देकर भिक्षु-संघ में उसकी परिपूर्ण स्थापना का प्रयत्न किया। परन्तु अन्ततः विनय के नियम बाहरी नियम ही, साधारण व्यवहार के नियम ही बने रहे और उन पर अत्यधिक जोर देना और उन्हें ही सर्वस्व मानना भिक्षु-संघ के लिए तो शोभनीय रहा, परन्तु अन्य लोग उसमें प्रज्ञा की कमी भी देखते रहे। उत्तरकाल में हालत यहाँ तक पहुँची कि चीन-महादेश के महान् ध्यानाचार्य भिक्षु युंग्-चिआ (सातवीं-आठवीं शताब्दी ईसवी) ने अपने 'बोधि-गीत' में प्रथम विनयाचार्य उपालि तक को प्रज्ञा में हीन बताया, उसकी प्रज्ञा को उन्होंने खद्योत के समान बताया जब कि उसके मुकाबिले विमल-कीर्ति जैसे उपासक को प्रज्ञा की, उन्होंने मध्याह्न के सूर्य से उपमा दी और उसकी उद्धार-शक्ति को भी बहुत बड़ी बताया। विनय का सम्बन्ध भिक्षुओं के नियमों से ही है। हम बुद्ध, धर्म, संघ की शरण जाते हैं। इस प्रकार सबसे पहले बुद्ध हैं, फिर उनके मूल से उत्पन्न धर्म है और उसके अभ्यास के लिए उत्पन्न संघ है। इस प्रकार बुद्ध-धर्म संघ यही क्रम है। हालाँकि धर्म के मूल बुद्ध हैं। परन्तु उन्होंने उसे अपना गुरु भी बताया है। संघ को कभी अपना गुरु नहीं कहा, बल्कि संघ सदा बुद्ध के दिखाये, बुद्ध के द्वारा निर्मित, मार्ग पर ही चलने वाला है, उसका ही अनुगमन करने वाला है, सर्वत्र यही कहा गया है। कौशाम्बी के भिक्षुओं के व्यवहार से खिन्न होकर स्वयं बुद्ध एक बार एकान्त में चले गये, प्रातिमोक्ष में जाना भी उन्होंने बन्द कर दिया और अपने बाद किसी भी एक भिक्षु को संघ का नेता नहीं बनाया। ये सब बातें किस ओर संकेत करती हैं। बुद्ध कभी भी उस चीज को पसन्द नहीं करते थे जिसे हम आज संगठित या व्यवस्थित धर्म कहते हैं। सङ्गणिकारामता को वे ध्यान का बड़ा प्रतिपक्ष मानते थे और संघ का अर्थ सङ्गणिकारामता

नहीं था। बुद्ध के बाद महाकाश्यप ने अपने अद्वितीय आचार-बल से किसी प्रकार संघ को अनुशासन में रक्खा और उसकी विशुद्धि को क्षति नहीं आने दी। उत्तर काल में कहीं संघ रहा, कहीं नहीं भी, कहीं विकृत अवस्था में रहा, परन्तु प्राधिकार या प्रभुत्व की वही भावना भिक्षुओं में बनी रही जिसे बुद्ध नहीं लाना चाहते थे और स्थविरवाद का एक अन्य ही रूप हो गया जिससे खिन्न होकर ही युंग-चिआ को उक्त बात कहनी पड़ी, जिसे हम उद्धृत कर चुके हैं। जहाँ तक भारतीय मनीषा का सम्बन्ध है, वह बुद्ध भगवान् को सर्वोपरि महत्त्व देती है, उसके बाद उनके धर्म को और तत्पश्चात् संघ को। यदि वह विद्यमान रहता है, और अपने विशुद्ध रूप में यदि नहीं भी विद्यमान रहता है, बल्कि केवल हिन्दू साधुओं के 'मठ' के ही रूप में या ईसाइयों के 'चर्च' के रूप में भी रहता है, तो भी वह उसकी ओर अधिक गौर नहीं करती हुई बुद्ध भगवान् के साक्षात्, सुविशुद्ध, भिक्षु-संघ की ही याद करती हुई और उसी वेश को देखती हुई उसे नमस्कार अवश्य कर देती है और उसकी ओर हाथ भी जोड़ देती है। परन्तु वास्तव में जब तक संघ सत्य और न्याय के मार्ग पर आरूढ़ है और बुद्ध के अनुशासन के अनुसार बरतता है, तभी तक वह वन्दनीय, पूज्यनीय है, अन्यथा नहीं।

इस प्रकार विनय का ऐतिहासिक गौरव तो है, परन्तु वह किसी भी समय विद्यमान भिक्षु-संघ के आचार-गौरव से भी उस समय के लिए बँधा है और चूँकि वह सब सत्वों के हितार्थ न होकर केवल भिक्षुओं के बाहरी संघ-गत जीवन के नियमन के लिए ही है, अतः उसका महत्त्व धम्म के बाद ही हो सकता है जो निर्विशेष सत्य-स्वरूप है, तथता का जिसमें प्रकाशन है और सूर्य और चन्द्र के समान जो सब सत्वों के हित के लिए है, जिसके सम्बन्ध में किन्ही भी दो व्यक्तियों तक में मतभेद नहीं और किन्हीं दो सत्त्वों में जो स्वयं भी कोई भेद नहीं करता, सब पर अपनी अमृत-वर्षा समान रूप से बरसाता है। पालि-साहित्य के कुछ विवेचकों ने विनय-पिटक को ही अपने अध्ययन में पहले स्थान दिया है।[1] यह भिक्षु-संघ की परम्परा के सर्वथा अनुकूल है। आचार्य बुद्धघोष ने तिपिटक के प्रसंग में प्रायः सर्वत्र विनय का उल्लेख पहले किया है। 'सुमङ्गलविलासिनी' को निदानकथा, 'समन्तपासा-

---

१. गायगर, विंटरनित्ज और लाहा ने विनय-पिटक को ही पहले लिया है। पूज्य भदन्त आनन्द जी के आदेशानुसार मैंने यहाँ सुत्त-पिटक को पहले लिया है, जो साहित्यिक दृष्टि से अधिकसमुचित भी है।

दिका' की बाहिरनिदानकथा तथा 'अट्ठसालिनी' की निदानकथा में सर्वत्र "इदं विनयपिटकं नाम, इदं सुत्तन्तपिटकं नाम, इदं अभिधम्मपिटकं नाम" आदि रूप से ही उन्होंने कहा है। किन्तु यहाँ हम सुत्त-पिटक के विवेचन को पहले ले रहे हैं। इसका कारण उसका साहित्यिक, ऐतिहासिक और अन्य सभी दृष्टियों से प्रभूत महत्त्व ही है। जिन पाश्चात्य विद्वानों ने पालि तिपिटक की प्रामाणिकता में सन्देह किया है, उनमें मिनयेफ, वार्थ, स्मिथ और कीथ के नाम अधिक प्रसिद्ध हैं।[1] इनमें भी मिनयेफ सब से अधिक उग्र हैं। उन्होंने दीघ और मज्झिम जैसे निकायों को भी एक-एक रचयिता की रचना बताकर उनके बुद्ध-वचनत्व और बौद्ध संगीतियों की सारी परम्परा को एक साथ ही फूंक मार कर उड़ाने की कोशिश की थी। किन्तु इतने सन्देहवाद तक यूरोपीय विद्वान् भी जाने को तैयार नहीं थे। अतः उनमें से बहुत ने मिनयेफ की गलत धारणा का कड़ा प्रतिवाद किया, जिसके फलस्वरूप स्वयं मिनयेफ को अन्त में अपना मत कुछ हद तक बदलना पड़ा। हमें इन यूरोपीय विद्वानों के मतों या उनके प्रतिवादों के संग्रह करने का यहाँ प्रलोभन नहीं है। हमें केवल यह देखना है कि अन्ततः किन कारणों के आधार पर इन्होंने पालि-तिपिटक की प्रामाणिकता में सन्देह किया था और वे कारण किस हद तक उस परिणाम पर पहुँचने में सही या गलत हैं। ये कारण अपने संगृहीत रूप में इस प्रकार गिनाये जा सकते हैं, (१) अशोक के काल के बाद भी तिपिटक में संशोधन और परिवर्तन होते रहे, (२) अतः पालि-तिपिटक में प्राचीन और अर्वाचीन काल की परम्पराएँ मिल गयी हैं, (३) पालि-तिपिटक के वर्णनों में अनेक विरोध हैं, जैसे संयुत्त-निकाय के चुन्द-सुत्त में भगवान् बुद्ध के जीवन-काल में ही उनके प्रधान शिष्य सारिपुत्र का परिनिर्वाण होना दिखलाया गया है, किन्तु दीघ-निकाय के महापरिनिब्बाण-सुत्त में भगवान् के महापरिनिर्वाण के ठीक पहले वे (सारिपुत्र) उनके विषय में उद्गार करते दिखाये गये हैं। यदि पहला वर्णन ठीक है, तो दूसरे अवसर पर सारिपुत्र जीवित नहीं हो सकते थे। अतः दोनों वर्णनों में स्पष्ट विरोध है। आचार्य बुद्धघोष ने इनमें सङ्गति बैठाने के लिए बुद्ध को अन्तिम चारिका के रूप को लेकर काफी भौगोलिक व्यायाम किया है। (४) एक जगह जो उपदेश बुद्धमुख

---

१. इनके ग्रन्थ-संकेतों के लिए देखिये, विंटरनित्ज : हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १, पद-संकेत १; गायगर : पालि लिटरेचर एण्ड लैंग्वेज, पृष्ठ ९, पद-संकेत २।

से दिलवाया गया है, वही उपदेश दूसरी जगह उनके किसी शिष्य के मुख से दिलवा दिया गया है। अथवा एक जगह जिस उपदेश को किसी एक ग्राम, नगर या आवास में दिया गया दिखाया गया है, दूसरी जगह उसी उपदेश को किसी दूसरे ग्राम, नगर या आवास में दिया हुआ दिखा दिया गया है। इस प्रकार तिपिटक के वर्णनों में सामंजस्य का अभाव दिखाया गया है। जहाँ तक प्रथम आपत्ति का प्रश्न है, वह सर्वथा निराधार है। मुख्य रूप से तिपिटक के स्वरूप में अशोक के काल के बाद कोई परिवर्तन-परिवर्द्धन नहीं हुआ है, इस पर हम भाषा और इतिहास आदि के साक्ष्य से इतना जोर दे चुके हैं कि इस सम्बन्ध में अधिक निरूपण करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। स्थविर महामहेन्द्र और उसके साथी भिक्षु जिस रूप में तिपिटक को लंका में ले गये, उसको उसी रूप में संरक्षित रखना वहाँ के भिक्षु-संघ ने सदा अपना कर्त्तव्य और गौरव माना है। यह तथ्य कितना सार्थक है कि वट्टगामणि अभय के समय में तिपिटक को ताड़-पत्रों पर लेखबद्ध करते समय एक सौ बार साव-धानीपूर्वक लेख का निरीक्षण किया गया था। लंका के देश-काल का थोड़ा-सा भी प्रभाव तिपिटक पर उपलक्षित नहीं है, यह एक विस्मयकारी वस्तु है। यदि थोड़े-बहुत परिवर्तन कहीं हुए भी हों, तो वे इतने महत्त्वपूर्ण कभी नहीं कहे जा सकते कि उसके प्राचीन रूप को ही ढँक लें। पालि-तिपिटक में अशोक से पहले की परम्पराओं का तारतम्य तो हो सकता है, किन्तु उसके बाद की परम्पराओं का भी उसके अन्दर समावेश हो, यह तो पहले आक्षेप का निराकरण हो जाने के बाद ही नहीं माना जा सकता। तृतीय संगीति के समय ही हमें पालि-तिपिटक के स्वरूप को अन्तिम रूप से निश्चित और पूर्ण समझ लेना चाहिए, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं। अस्तु, सुत्त-पिटक में भगवान् के उपदेश निहित हैं। 'सुत्त-पिटक' शब्द का क्या अर्थ है यह भी हमें यहाँ समझ लेना चाहिए। पहले हम इस सम्बन्ध में कुछ साधारणतः और संक्षिप्त रूप में कहेंगे और उसके बाद अर्थ को कुछ विस्तार से विवृत करेंगे। तो संक्षिप्त और मूल बात यह है कि बौद्ध परिभाषा में 'सुत्त' (संस्कृत 'सूत्र') तथागत-वचन को कहते हैं। जैसा बुद्धघोषाचार्य ने 'समन्तपासादिका' (विनयट्ठकथा) का बाहिरनिदान-कथा में कहा है "सुत्तनामकं तथागतवचनं सुत्तंति वेदितब्बं।" इसी का अनुगमन करते हुए 'सद्धमसङ्गहो'[1] में भी कहा कहा गया है, "सुत्तनामकं तथागतवचनं।" इसी प्रकार 'पिटक' शब्द का साधारण

---

१. पृष्ठ ८ (देवनागरी संस्करण)।

अर्थ पिटारी या भाजन है। जो तथागत वचन भी है और उसकी पिटारी या भाजन भी है, वही, सुत्त-पिटक है। "सुत्तं च तं पिटकं चाति सुत्त पिटकं।"[1] दूसरे शब्दों में, तथागत-वचन 'सुत्त' हैं और जिस भाजन या पात्र में वे रखे हुए हैं, उसी का नाम 'सुत्त-पिटक' है। यह साधारण अर्थ-निर्वचन है।

अब हम विस्तार से कुछ देखें। पहले 'सुत्त' शब्द को ही लें। आचार्य बुद्धघोष ने 'समन्तपासादिका' की बाहिरनिदानकथा में तथा 'अट्ठसालिनी' की निदानकथा में भी 'सुत्त' शब्द के अन्दर छह अर्थ सन्निहित माने हैं, जैसे कि "(१) अत्थानं सूचनतो (२) सुवुत्ततो (३) सवनतो' थ (४) सूदनतो। (५) सुत्ताणा (६) सुत्तसभागतो च सुत्तं सुत्तं'ति अक्खातं।" अर्थात् (१) "अर्थों की सूचना देने के कारण, (२) सुन्दर रूप से उक्त होने के कारण, (३) अर्थों को जन्म देने के कारण, (४) अर्थों को स्रवित करने के कारण, (५) सुन्दर रूप से अर्थों की रक्षा करने के कारण और (६) 'सुत्त' (सूत) के समान होने के कारण ही सुत्त को सुत्त कहा गया है। इसकी व्याख्या भी उन्होंने स्वयं की है, जो इस प्रकार है—(१) "तं हि अत्थे सूचेति, (२) सुवुत्ता चेत्थ अत्था वेनेय्य-ज्झासयानुलोमेन वुत्तत्ता, (३) सवति चेतं अत्थं, (४) सूदति चेतं, (५) सुट्ठु च ने तायति रक्खती' ति। (६) सुत्तसभागं चेतं। यथा हि तच्छकानं सुत्तं पमाणं होति, एवमेतं पि विञ्ञूनं। यथा च सुत्तेन सङ्गहितानि पुप्फानि न विकिरियन्ति विद्धसियन्ति एवमेतेन सङ्गहिता अत्था"ति। इसका यह अर्थ है "(१) यह (सुत्त) अर्थों को सूचित करता है (अर्थों की सूचना देता है), (२) इसमें अर्थ सुन्दर रूप से कहे गये हैं अर्थात् वे (अर्थ), वैनेय (विनय के योग्य, विनयन के योग्य, संयमशील) जनों के आशय के अनुकूल ही कहे गये हैं, (३) यह (सुत्त) अर्थों को उत्पन्न करता है, (४) यह (सुत्त) अर्थों को टप-काता (स्रवित करता) है, (५) यह (सुत्त) सुन्दर रूप से अर्थों का त्राण करता है, उनकी रक्षा करता है और (६) यह (सुत्त) सूत के समान है, अर्थात् जिस प्रकार बढ़इयों के लिए सूत पैमाना (प्रमाण) होता है, उसी प्रकार यह (सुत्त) विज्ञजनों के लिए पैमाना (प्रमाण)-स्वरूप है, और जैसे कि सूत (धागे) में संग्रथित फूल बिखरते नहीं और न विध्वस्त होते हैं, उसी प्रकार 'सूत्र' में संगृहीत अर्थ भी विकीर्ण या विध्वस्त नहीं होते।" अब 'पिटक' शब्द को लें। पिटक का साधारण अर्थ पिटारी या भाजन है, यह हम ऊपर कह ही चुके हैं। किसकी पिटारी, किसकी भाजन? बुद्ध-वचनों की, तिपिटक की या

---

१. 'अट्ठसालिनी' की निदानकथा।

'परियत्ति' की, पर्याप्ति की, परमार्थ-स्वरूप तिपिटक की ! इसी अर्थ को लेकर आचार्य बुद्धघोष ने 'अट्ठसालिनी' की निदानकथा में कहा है "पिटकं पिटकत्थविदू परियत्तिभाजनत्थतो आहु।"

मज्झिम-निकाय के 'अनुरुद्ध-सुत्त' में 'पिटक' शब्द का प्रयोग पेटी, पिटारी या टोकरी के अर्थ में किया गया है। "मक्खिकानं पिटकेन वाहरियमानानं।" इसी प्रकार इसी निकाय के 'ककचूपम-सुत्त' में तथा अङ्गुत्तर-निकाय (चतुक्क-निपात) के 'वप्प-सुत्त' में इसी अर्थ में 'कुद्दालपिटक' जैसा शब्द-प्रयोग है। 'वीहि-पिटक' (व्रीहि-पिटक) और 'धञ्ज-पिटक' (धान्य-पिटक) जैसे सामासिक शब्द भी पालि साहित्य में मिलते हैं। 'पिटक' शब्द का पेटी या टोकरी के रूप में प्रयोग 'विसुद्धिमग्ग' (प्रथम परिच्छेद) में भी मिलता है। "पिटके लोणमच्छफाले" अर्थात् "पेटी में रखे हुए नमक और मछली की फाकें।" मज्झिम-निकाय के 'चङ्की-सुत्त' तथा 'सन्दक-सुत्त' में 'पिटक-सम्पदाय' (पिटक-सम्प्रदाय) शब्द का प्रयोग है, जिसका अर्थ पिटकों की परम्परा या शास्त्र-परम्परा ही है। इसी प्रकार अङ्गुत्तरनिकाय के 'केसपुत्तिय-सुत' में "मा पिटकसम्पदानेन" शब्द-प्रयोग है। आचार्य बुद्धघोष ने अङ्गुत्तर-निकाय के 'केसपुत्तिय सुत्त' के मा पिटक-सम्पदानेन' में पिटक के 'परियत्ति' अर्थ को माना है और मज्झिम-निकाय के 'ककचूपम-सुत्त' और अङ्गुत्तर निकाय के 'वप्प-सुत्त' के 'कुद्दाल-पिटक' में उसके 'भाजन' अर्थ को। वास्तव में ये दोनों अर्थ एक दूसरे से घनिष्ठ रूप से जुड़े हुए और अभिन्न ही हैं। पिटक बुद्ध-वचनों के भाजन-स्वरूप हैं और उनकी 'परम्परा' को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुँचाने वाले भी। चूंकि पिटारी का प्रयोग लिखित ग्रन्थों को रखने के लिए ही हो सकता है और बुद्ध-वचन ईसवी-पूर्व प्रथम शताब्दी से पहले लिखे नहीं गये थे, अतः इस समय से पहले उनके लिए 'पिटारी' शब्द का प्रयोग उपयुक्त नहीं हो सकता था, ऐसा कीथ का मत है।[1] और यह ठीक भी लगता है। मौलिक रूप में इस अर्थ में बुद्ध-वचनों के विशिष्ट ग्रन्थों के लिए 'पिटक' शब्द का प्रयोग नहीं हो सकता था। पूर्व काल में वास्तव में लाक्षणिक अर्थ में 'पिटक' शब्द का प्रयोग परम्परा के लिए भी होता था। जैसे पिटारी में रखकर कोई वस्तु एक हाथ से दूसरे हाथ में पहुँचायी जाती है, उसी प्रकार पहले धार्मिक सम्प्रदाय अपने विचार और सिद्धान्तों को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुँचाया करते थे। मज्झिम-निकाय के चंकीसुत्त

---

१. देखिये, उनकी बुद्धिस्ट फिलासफी, पृष्ठ २४, पद-संकेत २।

(मज्झिम २/५/५) तथा सन्दकसुत्त (मज्झिम २/३/६) में वैदिक शास्त्रों की परम्परा के लिए इसी अर्थ में 'पिटक-सम्पदाय' (पिटक-सम्प्रदाय) शब्द का प्रयोग हुआ है। अङ्गुत्तर-निकाय के 'केसपुत्तिय-सुत्त' के 'मा पिटकसम्पदानेन' में भी यही भाव है। यहाँ 'पिटक' शब्द का अर्थ 'परम्परा' या 'ग्रन्थ-परम्परा, ही किया जा सकता है। अतः 'सुत्तपिटक' शब्द का अर्थ, इस लाक्षणिक प्रयोग के अनुसार होगा, सूत के धागे रूपी (बुद्ध-वचनों की) परम्परा, अर्थ के धागे में पिरोई हुई बुद्ध-वचनों की परम्परा जिस प्रकार सूत के गोले को फेंक देने पर वह खुलता हुआ चला जाता है, उसी प्रकार बुद्ध-वचन सुत्त-पिटक में प्रकाशित होते हैं, जो अर्थ-संयुक्त हैं, परमार्थ से भरे हैं। अतः 'सुत्त-पिटक' की यह संज्ञा सार्थक ही है। संस्कृत बौद्ध-धर्म की परम्परा में आचार्य असंग (चौथी शताब्दी ईसवी), ने महायान- सूत्रालंकार' में 'सूचनात् सूत्रम्' के रूप में 'सूत्र' शब्द की व्युत्पत्ति की है। इस प्रकार उनके मतानुसार सूचना देने के कारण ही सूत्र 'सूत्र' कहलाते हैं। असंग की यह व्युत्पत्ति बिलकुल बुद्धघोष के समान है। हम देख ही चुके हैं कि 'अट्ठसालिनी' की निदान-कथा में उन्होंने कहा है, "अत्थानं सूचनतो.....सुत्तं ति अक्खातं।" पालि 'सुत्त' का संस्कृत अनुरूप 'सूत्र' है। वैसे 'सूक्त' भी कर सकते हैं, परन्तु संस्कृत बौद्ध ग्रन्थों में पालि सुत्तों के प्रतिरूपों को 'सूत्र' ही कह कर पुकारा गया है, यथा अवतंसक-सूत्र, लंकावतार-सूत्र, सद्धर्मपुण्डरीक-सूत्र, आदि। वैदिक साहित्य की परम्परा में 'सूत्र' शब्द से तात्पर्य ऐसे स्वल्पाक्षर कथन से होता है जिसमें से सूत के धागे की तरह महान् अर्थ की परम्परा निकलती चली जाय। इस प्रकार के सूत्र-साहित्य का उद्भावन वैदिक साहित्य के विकास के अन्तिम युग की घटना है, जब कि बढ़ते हुए विशाल वैदिक वाङ्गमय को संक्षिप्त रूप देने की आवश्यकता प्रतीत हुई। परिणामतः प्रत्येक ज्ञान-शाखा पर सूत्र-साहित्य की रचना हुई। श्रोत-सूत्र, गृह्य-सूत्र, धर्म-सूत्र, व्याकरण-सूत्र, नाट्य-सूत्र, अलंकार-सूत्र, न्याय-सूत्र, वैशेषिक-सूत्र, सांख्य-सूत्र, योग-सूत्र, मीमांसा-सूत्र, ब्रह्म-सूत्र आदि इस विशाल सूत्र-साहित्य के कुछ उदाहरण हैं। संस्कृत का सूत्र साहित्य विश्व-साहित्य के इतिहास में निश्चय ही एक विस्मयकारी वस्तु है। शब्द-संक्षेप किस हद तक जा सकता है, यह उसमें देखा जा सकता है। संस्कृत भाषा की अपूर्व शक्ति वहाँ दृष्टिगोचर होती है। 'सूत्र' की परि-

---

१. स्वल्पाक्षरमसंदिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम्।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥—शब्दकल्पद्रुम।

भाषा संस्कृत-साहित्य में इस प्रकार की गयी है। 'सूत्रज्ञ पुरुष, उस स्वल्पाक्षर कथन को, जो असंदिग्ध, महत्त्वपूर्ण अर्थ का प्रख्यापक, विश्वजनीन उपयोग वाला और विस्तार और व्याकरण की अशुद्धि से रहित हो, सूत्र कहते हैं।'' पालि के 'सुत्त' इस अर्थ में सूत्र कभी नहीं कहे जा सकते। वे विस्तार में काफी लम्बे हैं। कुछ तो छोटी-छोटी पुस्तकों के समान ही हैं। उनके पुनरावृत्तिमय विस्तारों को देखकर कौन उन्हें 'सूत्र' कहेगा? पालि के सुत्तों से भी अधिक लम्बे महायानी संस्कृत-साहित्य के सूत्र हैं। वहाँ जिन्हें 'सूत्र' कहा गया है, वे तो अनावश्यक विस्तारपूर्ण सहस्रों पृष्ठों के विशालकाय ग्रन्थ हैं। अतः बौद्ध और वैदिक परम्परा के इस 'सूत्र' सम्बन्धी अर्थ विभेद को हमें समझ लेना चाहिए।

सुत्त-पिटक का विषय, जैसा अभी कहा गया है, भगवान् बुद्ध के उपदेश ही हैं। साथ ही भगवान् के कुछ प्रधान शिष्यों के उपदेश भी सुत्त-पिटक में सन्निहित हैं, जिनके आधार भी स्वयं बुद्ध-वचन ही हैं। अक्सर ऐसा होता था कि भगवान् द्वारा उपदिष्ट किसी विषय को लेकर भिक्षुओं में संलाप हो उठता था। बाद में वे अपने संलाप की सूचना भगवान् को देते थे। यदि उनको कोई तथ्य स्पष्ट नहीं होता था, तो भगवान् उसे स्पष्ट करते थे। कभी-कभी उनमें से भी किसी महाप्रज्ञ भिक्षु के कथन का अनुमोदन कर भगवान् उसे साधुवाद देते थे। विरोधी सम्प्रदाय वालों के साथ भी भिक्षुओं के इस प्रकार के संलाप अक्सर चला करते थे। उनकी भी सूचना अक्सर भिक्षु भगवान् को देते थे। भगवान् या तो उनका अनुमोदन करते थे या उन्हें समझाते थे। कभी-कभी (भगवान् के जीवन के अन्तिम काल में) ऐसा होता था कि बहुत रात गये तक उपदेश देते-देते भगवान् की पीठ पीड़ित हो उठती थी (पहले शीत काल में चौड़े में कठिन तपस्या करने और दिन में तीन बार जल में प्रवेश करने के कारण भगवान् को वृद्धावस्था में वातरोग हो गया था)। उस समय उपदेश के बीच में ही भगवान् सारिपुत्र, मौद्गल्यायन या आनन्द जैसे किसी शिष्य को उपदेश को पूरा कर देने का आदेश देते थे, बाद में वे इस प्रकार दिये हुए उपदेश का अनुमोदन भी कर देते थे। कभी-कभी भगवान् संक्षिप्त रूप में उपदेश कर छोड़ देते थे और तब उनकी अनुमति से उनके महाकात्यायन या सारिपुत्र या अन्य कोई अधिगमसम्पन्न भिक्षु भगवान् के द्वारा संक्षिप्त रूप में कहे हुए अर्थ को विस्तार से अपने ब्रह्मचारियों को या अन्य प्रश्नकर्त्ताओं को समझाते थे और सबसे अन्त में भगवान् अपने शिष्य-भाषित उपदेश का अनुमोदन भी करते थे। स्वतन्त्र रूप से भी अनेक भिक्षुओं ने एक

दूसरे के प्रति या गृहस्थ शिष्यों के प्रति अनेक उपदेश दिये हैं। इस प्रकार बुद्ध-उपदेशों के साथ-साथ उनके शिष्यों के उपदेश भी सुत्त-पिटक में सम्मिलित हैं। भगवान् ने अपने मुख से जो-जो उपदेश दिये, अपने जीवन और अनुभवों के विषय में उन्होंने जो-जो कहा, जिन-जिन व्यक्तियों से उनका या उनके शिष्यों का सम्पर्क या संलाप हुआ, जिन-जिन प्रदेशों में उन्होंने भ्रमण किया, संक्षेप में बुद्धत्व-प्राप्ति से लेकर निर्वाण-प्राप्ति तक के अपने ४५ वर्षों में भगवान् की जो-जो भी जीवनचर्या रही, उसी का यथावत् चित्र हमें सुत्तपिटक में मिलता है।

बुद्ध और उनके शिष्यों के उपदेशों के अतिरिक्त हमें आकस्मिक रूप से छठीं और पाँचवीं शताब्दी ईसवी-पूर्व के भारत के सामाजिक जीवन का पूरा परिचय भी सुत्त-पिटक में मिलता है। बुद्ध के समकालीन श्रमणों, ब्राह्मणों और परिव्राजकों के जीवन और सिद्धान्तों के विवरण, गौतम बुद्ध के विषय में उनके मत और दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध, साधारण जनता में प्रचलित उद्योग और व्यवसाय, मनोरंजन के साधन, कला और विज्ञान, तत्कालीन राजनैतिक परिस्थिति और राजन्यगण, ब्राह्मणों के धार्मिक सिद्धान्त, जातिवाद, वर्णवाद, यज्ञवाद, भौगोलिक परिस्थितियाँ, यथा ग्राम, निगम, नगर, जनपद आदि के विवरण और उनके निवासियों के जीवन की साधारण अवस्था, नदी, पर्वत आदि के विवरण, साहित्य और ज्ञान की अवस्था, कृषि और वाणिज्य, सामाजिक रीतियाँ, जीवन का नैतिक स्तर, स्त्रियों, दास-सासियों और भृत्यों की अवस्था आदि के विवरण सुत्त-पिटक में भरे पड़े हैं, जो बुद्ध और उनके शिष्यों के जीवन और उपदेशों के साथ-साथ तत्कालीन भारतीय सामाजिक और राजनैतिक परिस्थिति आदि का भी अच्छा दिग्दर्शन कराते हैं।

सुत्तों के आकार के सम्बन्ध में प्रायः कोई नियम दृष्टिगोचर नहीं होता। उनमें कई बहुत छोटे भी हैं और कई बहुत बड़े भी। इसी प्रकार गद्यमय या पद्यमय होने का भी कोई निश्चित नियम नहीं है। कुछ बिल्कुल गद्य में हैं और कुछ गद्य-पद्य मिश्रित भी, कुछ थोड़े से बिलकुल पद्य में भी हैं, बीच-बीच में कहीं-कहीं गद्य के छिटके के साथ।[1] प्रत्येक सुत्त अपने आप में पूर्ण है और वह बुद्ध-उपदेश या बुद्ध-जीवन सम्बन्धी किसी घटना का पूरा परिचय देता है। प्रायः प्रत्येक सुत्त के आरम्भ में उसकी एक ऐतिहासिक भूमिका रहती है। यह

---

१. जैसे दीघ-निकाय के महासमय-सुत्त, लक्खण-सुत्त, आटानाटिय-सुत्त आदि।

भूमिका हमें बतला देती है कि जिस उपदेश का विवरण दिया जा रहा है, वह भगवान् ने कहाँ दिया। उदाहरणतः 'एक समय भगवान् श्रावस्ती में अनाथ-पिंडिक के आराम जेतवन में विहार करते थे' 'एक समय भगवान् राजगृह में गृध्रकूट पर्वत पर विहार करते थे' जैसे वाक्य प्रायः प्रत्येक सुत्त के आदि में आते हैं। सुत्तों की अनेक छोटी-मोटी विशेषताएँ और भी देखी जा सकती हैं। उदाहरणतः भगवान् के उपदेश के बाद प्रायः (सदा नहीं) उपदेश सुनने वालों का इस प्रकार कृतज्ञतापूर्ण उद्गार होता है "आश्चर्य है गौतम ! अद्-भुत है गौतम ! जैसे औंधे को सीधा कर दे, ढँके को उघाड़ दे, भूले को रास्ता बतला दे, अन्धकार में तेल का प्रदीप रख दे, जिससे कि आँखवाले रूप को देखें, ऐसे ही आप गौतम ने अनेक प्रकार से धर्म को प्रकाशित किया। यह मैं भगवान् गौतम की शरण जाता हूँ, धर्म की शरण जाता हूँ, संघ की भी शरण जाता हूँ। आप गौतम आज से मुझे अंजलिबद्ध शरणागत उपासक स्वीकार करें।" कहीं-कहीं सुत्तों के अन्त में भिक्षुओं की कृतज्ञता केवल इन शब्दों में भी व्यक्त कर दी जाती है "भगवान् ने यह कहा। सन्तुष्ट हो भिक्षुओं ने भगवान् के उस कथन का अनुमोदन किया।" मिलने-जुलने, बिदा लेने, कृतज्ञता प्रका-शित करने, कुशल-मंगल पूछने आदि साधारण अवसरों पर जिस प्रकार का शिष्टाचार उस समय प्रचलित था, उसका वर्णन प्रायः समान शब्दों में सुत्त-पिटक में अनेक स्थलों पर किया गया है। ऐसे स्थल बार-बार आने के कारण स्वयं कण्ठस्थ हो जाते हैं। जब कोई भिक्षु भगवान् के दर्शनार्थ दूर से आता था, तो भगवान् उससे अक्सर पूछा करते थे, 'कहो भिक्षु ! कुशल से तो हो ? रास्ते में कोई बड़ी हैरानी-परेशानी तो नहीं हुई ? भिक्षा के लिए कष्ट तो नहीं उठाना पड़ा ?' आदि। भगवान् को जब कोई व्यक्ति निमंत्रण देने आता है, तो प्रायः यही वाक्य रहता है "भन्ते ! भिक्षु-संघ सहित आप कल के लिए मेरा भोजन स्वीकार करें।" उसके बाद "भगवान् ने मौन से स्वीकार किया।" भगवान् के भिक्षाचर्या के लिए जाने का प्रायः इन शब्दों में वर्णन रहता है 'तब भग-वान् पूर्वान्ह समय चीवर पहन, भिक्षा-पात्र ले, जहाँ······था, वहाँ गये। जाकर भिक्षु-संघ सहित बिछे आसन पर बैठे।·······ने अपने हाथ से बुद्ध-प्रमुख भिक्षु-संघ को उत्तम खाद्य-भोज्य से सन्तर्पित किया। खाकर पात्र से हाथ हटा लेने पर······एक नीचा आसन ले, एक ओर बैठ गया। भग-वान् ने उपदेश से समुत्तेजित, सम्प्रहर्षित किया। धर्म-उपदेश कर भगवान् आसन से उठकर चल दिये।" जब कोई महाप्रभावशाली व्यक्ति भगवान् के दर्शनार्थ जाता है तो "जितनी यान की भूमि थी, उतनी यान से जाकर, यान

से उतर, पैदल ही जहाँ भगवान् थे, वहाँ गया। जाकर भगवान् को अभिवादन कर एक ओर बैठ गया। एक ओर बैठे· · ·को भगवान् ने धर्म सम्बन्धी कथा से समुत्तेजित किया" आदि। इस प्रकार बुद्धकालीन भारतीय समाज के रीति-रिवाज और शिष्टाचार आदि का पूरा चित्र हमें सुत्त-पिटक में मिलता है।

भगवान् बुद्ध के उपदेश करने का क्या ढंग था, यह भी सुत्तों से स्पष्ट दिखाई पड़ता है। पहले भगवान् दान, शील, सदाचार-प्रशंसा, दुराचार-निन्दा आदि सम्बन्धी साधारण प्रवचन देते थे। फिर 'बुद्धों को उठाने वाली आदेशना' (बुद्धानं—सामुक्कंसिका धम्मदेसना) आरम्भ होती थी, जिनमें चार आर्य सत्यों आदि का गम्भीर धर्मोपदेश होता था। दीघनिकाय के अम्बट्ठ-सुत्त, कूटदन्त-सुत्त आदि में इसी तरह उपदेश का विधान किया गया है। भगवान् एक मनोवैज्ञानिक की तरह उपदेश करते थे। उन्हें पर-चित ज्ञान प्राप्त था। पहले वे देख लेते थे कि जो व्यक्ति उनके पास दर्शनार्थ आया है, वह किसान है, या सिपाही है, या राजा है या परिव्राजक है। फिर उसके परिचित जीवन से ही उपमाएँ आदि लेकर वे उसे धर्म का स्वरूप समझाते थे। परिव्राजकों या अन्य मतावलम्वी साधुओं के साथ वार्तालाप करते समय वे उनके मान्य सिद्धान्तों से ही आरम्भ करते थे और उत्तरोत्तर विचार पर उन्हें अग्रसर करते हुए अपने मन्तव्य तक लाते थे। दीघ-निकाय के सामञ्ज-फल-सुत्त, सोणदंड-सुत्त, पोट्ठपाद-सुत्त और तेविज्ज-सुत्त तथा मज्झिम-निकाय के वेखगस-सुत्त, सुभ-सुत्त, चंकी-सुत्त, आदि इसके अच्छे उदाहरण हैं। भगवान् बुद्ध के उपदेश करने के ढंग या उनकी आदेशना-विधि का बड़ा अच्छा विश्लेषण 'पेटकोपदेव' नामक ग्रन्थ में किया गया है, जो तिपिटक के संकलन के बाद किन्तु बुद्धघोष के काल से पहले, लिखा गया था। छठे अध्याय में हम उसका विवरण देते समय इस विषय का भी कुछ दिग्दर्शन करेंगे।

सुत्तों की शैली की ये विशेषताएँ और द्रष्टव्य हैं। (१) पुनरुक्तियों की अतिशयता, (२) संख्यात्मक, परिगणन की प्रणाली का प्रयोग, (३) उपमाओं के प्रयोग की बहुलता, (४) संवादों का प्रयोग, (५) इतिहास और आख्यानों का उपदेशों के बीच में समावेश और (६) सुत्तों में नाटकीय क्रियात्मकता की अभिव्याप्ति। चूंकि सुत्तों का संकलन विभिन्न स्रोतों से, विभिन्न व्यक्तियों के द्वारा और विभिन्न कालों में हुआ, अतः उनमें पुनरुक्तियों का होना अवश्यम्भावी है। भिक्षुओं के निरन्तर अभ्यास के लिए स्वयं भगवान् का भी एक ही उपदेश को बार-बार देना, कहीं संक्षिप्त रूप से, कहीं विस्तृत रूप से, उसे दुहराना, आसानी

से समझा जा सकता है। फिर अध्ययन-अध्यापन की मौखिक परम्परा के कारण इस पुनरुक्तिमय वर्णन-प्रणाली को और भी अधिक प्रश्रय मिला है। अतः सुत्तों में पुनरुक्तियों का होना एक तथ्य है और वह उनकी प्राचीनता और प्रामाणिकता का ही सूचक है, अप्रामाणिकता का अर्वाचीनता का नहीं। सुत्तों में इतनी पुनरुक्तियाँ भरी पड़ी हैं कि उनका सामान्य दिग्दर्शन सम्भव नहीं है। सुत्तों का 'पेय्यालं' अति प्रसिद्ध है।[1] पूरे वाक्यों और वाक्यांशों की पुनरावृत्ति केवल एक-दो शब्दों के हेर-फेर के साथ अनेक सुत्तों में पायी जाती है। सोणदंड-सुत्त का अन्तिम भाग हूबहू कूटदन्त-सुत्त में रखा हुआ है। चार ध्यानों का वर्णन बिल्कुल समान शब्दों में अनेक सुत्तों में रखा हुआ है, यथा सामञ्जफल-सुत्त (दीघ० १/२)। अम्बट्ठ-सुत्त (दीघ० १/३), शोणदंड-सुत्त (दीघ० १/४), कूटदन्त-सुत्त (दीघ० १/५), महा-लि-सुत्त (दीघ० १/६), पोट्ठपाद-सुत्त (दीघ० १/९), केवट्ट-सुत्त (दीघ० १/११), सुभ-सुत्त (दीघ० १/१२), चक्कवत्ति-सीहनाद-सुत्त (दीघ० ३/३), संगीति-परियाय-सुत्त (दीघ० ३/१०), भयभेरव-सुत्त (मज्झिम० १/१/४), द्वेधावितक्क-सुत्त (मज्झिम० १२/९), महाअस्सपुर-सुत्त (मज्झिम० १/४/९), चूलहत्थिपदोपम-सुत्त (मज्झिम० १/३/७), देवदह-सुत्त (मज्झिम० ३/१/१), वेरंज-सुत्त (अंगुत्तर०), ज्ञान-संयुत्त (संयुत्त-निकाय) आदि। चार आर्य सत्य, आर्य अष्टांगिक मार्ग आदि के विषय में भी इसी प्रकार की पुनरुक्तियाँ दृष्टिगोचार होती हैं। संयुत्त-निकाय के सळायतन-संयुत्त में चक्षुरादि इन्द्रियों, उनके विषयों और विज्ञानों आदि को लेकर विस्तृत पुनरुक्तियाँ की गयी हैं। अतः पुनरुक्तियों की अतिशयता सुत्तों

---

१. चूंकि पालि-तिपिटक में, विशेषतः सुत्त-पिटक में, पुनरुक्तियाँ अधिक हैं, अतः पाण्डुलिपियों और मुद्रित संस्करणों में भी जहाँ कहीं एक पूरे वाक्य या वाक्यांश की पुनरावृत्ति हुई, तो उसे पूरा न लिख कर केवल एक-दो आरम्भ के शब्द लिख दिये जाते हैं और फिर उसके बाद कुछ बिन्दु लगाकर लिख दिया जाता है 'पेय्यालं' या संक्षिप्त रूप में केवल 'पे'—जिसका अर्थ यह है कि कुछ अंश छोड़ दिये गये हैं और उन्हें इतने संकेत से ही पूर्वागत प्रसंग से समझा जा सकता है। 'पेय्यालं' शब्द का अर्थ ही है 'पातुं अलं' अर्थात् इतने से वाक्य समझ लिया जा सकता है और यह पाठ को बचाये रखने के लिए पर्याप्त है। देखिये भिक्षु जगदीश काश्यप : पालि महाव्याकरण, पृष्ठ तैंतालीस (वस्तुकथा)।

की शैली की एक प्रधान विशेषता है। जिस कारण वह उत्पन्न हुई है, उसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। संख्यात्मक परिगणन की प्रणाली का प्रयोग भी बुद्ध-वचनों के मौखिक रूप से प्राप्त होने की परम्परा पर आधारित है। केवल स्मृति की सहायता के लिए ही भगवान् बुद्ध भी इसका प्रयोग करते थे। पूरा-का-पूरा अंगुत्तर-निकाय इसी संख्यात्मक प्रणाली पर संकलित किया गया है। अन्य निकायों में भी चार आर्य सत्य, पाँच नीवरण, ३२ महापुरुष-लक्षण, ६२ मिथ्या-दृष्टियों तथा ३७ वोधिपक्षीय धर्मों आदि के संख्यात्मक निरूपण भरे पड़े हैं। सांख्य दर्शन और जैन-साहित्य (विशेषतः जैन आगम 'ठाणङ्ग') तथा महाभारत आदि में भी संख्यात्मक वर्गीकरणों का प्रयोग दिखाई पड़ता है। पालि सुत्तों में इसका प्रयोग बहुलता से किया गया है, किन्तु वह अस्वाभाविक नहीं होने पाया है। पालि सुत्तों की उपमाएँ बड़ी मर्मस्पर्शी हुई हैं। जीवन के अनेक क्षेत्रों से ये उपमाएँ ली गयी हैं और उनकी स्वाभाविकता और सरलता बड़ी आकर्षक है। दीघ और मज्झिम निकायों के हिन्दी-अनुवाद में महापण्डित राहुल सांस्कृत्यायन ने इन निकायों में आयी हुई उपमाओं की सूची दी है। अन्य निकायों में आयी हुई उपमाओं की सूचियाँ मिलती हैं। वे प्रायः अनगिनत ही हैं। कुछ को देखकर ही हम पूरे सुत्त-पिटक में आयी हुई उपमाओं का कुछ अनुमान लगा सकते हैं। जहाँ भी सुत्तों में कोई जटिल प्रश्न आया कि हम यह वचन देखते हैं, 'ओपम्मं' ते करिस्सामि, उपमाय हि इधेकच्चे पुरिसा भासितस्स अत्थं आजानन्ति।' अर्थात् "मैं तुम्हें एक उपमा कहूँगा। उपमा से भी कुछ एक मनुष्य कहे हुए अर्थ को समझ जाते हैं।" बुद्ध भी इस प्रकार कभी-कभी अर्थ को समझाते थे और उनके शिष्य भी। द्वेधावितक्क-सुत्त, तिस्स-सुत्त, अनुरुद्ध-सुत्त, पादासि-राज-सुत्त, कन्दरक-सुत्त, सन्दक-सुत्त, सुनकदत्त-सुत्त, उपालि-सुत्त, रथविनीत-सुत्त, आदि में इन्हें देखा जा सकता है। उपमाओं की प्रणाली का अनुपिटक साहित्य पर भी इतना प्रभाव पड़ा है कि हम 'मिलिन्दपञ्ह' और 'विसुद्धि-मग्ग' जैसे ग्रन्थों तथा बुद्धघोष आदि की अट्ठकथाओं में भी उनका बहुत प्रयोग देखते हैं। निश्चय ही पालि साहित्य अपनी उपमाओं के लिए विशेष गौरव कर सकता है। विषय को सुगम बनाने की दृष्टि से ही भगवान् स्वयं उपमाएँ दिया करते थे। दीघ-निकाय के पोट्ठपाद-सुत्त में जनपद-कल्याणी की सुन्दर उपमा उन्होंने दी है।[1] इसी प्रकार स्वानुभव-शून्य त्रैविद्य ब्राह्मण

---

१. देखिये आगे इस सुत्त का विवरण।

पंडितों की पंक्ति-बद्ध अन्धों से उपमा,[1] अतिप्रश्न करने वाले की उस वाण-विद्ध व्यक्ति से उपमा जो वाण को निकलवाने का प्रयत्न न कर वाण-मारने वाले के विषय में असंगत प्रश्न कर रहा है,[2] विषय-भोगों के दुष्परिणामों को दिखानेवाली उपमाएँ,[3] विमुक्ति-सुख को दिखानेवाली उपमाएँ[4], आदि अनेक प्रकार की उपमाएँ भगवान् बुद्ध के मुख से निकली हैं, जो काव्य की ही वस्तु नहीं किन्तु उनके अन्तस्तल से निकली हुई अनुभव सिद्ध वाणियाँ हैं। वीणा की उपमा तो बहुत ही मार्मिक है और उसे उद्धृत करने के लोभ का संवरण नहीं किया जा सकता। सोण कोळिविस बहुत धनी बाप के बेटे थे, अत्यन्त सुकुमार, परन्तु भिक्षु होकर उन्होंने अत्यन्त कठिन साधना आरम्भ कर दी। ध्यान में नंगे पैर घूमते हुए उनके पैर फट गये और उनसे खून निकलने लगा। बुद्ध उन्हें समझाते हैं, सोण ! गृहस्थ होते समय तुम वीणा बजाने में तो चतुर थे न ?" "हाँ, भन्ते !" "तो क्या मानते हो सोण ! जब तुम्हारी वीणा के तार बहुत जोर से खिंचे होते थे, उस समय तुम्हारी वीणा स्वर वाली होती थी, काम लायक होती थी ?" "नहीं भन्ते !" "जब तुम्हारी वीणा के तार अत्यन्त ढीले होते थे, उस समय...?" "नहीं भन्ते !" "जब तुम्हारी वीणा के तार न बहुत जोर से खिंचे होते थे, न अत्यन्त ढीले होते थे, क्या उस समय तुम्हारी वीणा स्वर वाली होती थी, काम लायक होती थी ?" "हाँ भन्ते !" "इसी प्रकार सोण ! अत्यधिक उद्योग-परायणता औद्धत्य को उत्पन्न करती है, अत्यधिक शिथिलता शारीरिक आलस्य को उत्पन्न करती है। इसलिए सोण ! उद्योग करने में समता ग्रहण करो, इन्द्रियों के सम्बन्ध में समता ग्रहण करो, और वहाँ कारण को ग्रहण करो।"[5] यही बुद्ध का वीनूपमोवाद-सुत्त (वीणा की उपमा के रूप में उपदेश) है, जिसकी याद सदा सोण कोळि-

---

१. अन्धवेणि परम्परासंसता (अन्धों को लकड़ी का ताँता)—चंकी-सुत्त (मज्झिम० २/५/५)। यह उपमा मज्झिम-निकाय के सुभ-सुत्त तथा दीघ-निकाय के तेविज्ज-सुत्त में भी आयी है।

२. चूलमालुंक्य-सुत्त (मज्झिम० २/२/३)।

३. पोतलिय-सुत्त (मज्झिम० २/१/४)।

४. सामञ्जफल-सुत्त (दीघ० १/२) में।

५. विनय-पिटक (हिन्दी अनुवाद), पृष्ठ २०१-२०२; देखिये थेरगाथा, गाथा ६३८ (भिक्षु उत्तम द्वारा प्रकाशित संस्करण) जहाँ बुद्ध द्वारा की गयी इस उपमा को सोण कोलिविस कृतज्ञतापूर्वक स्मरण करते हैं।

विस करते रहे और जो साधकों को सदा चेताने वाला है। अनेक बार साहित्य में इसका उल्लेख हुआ है। इसी प्रकार मनुष्ययोनि की सुदुर्लभता को लेकर काने की कछुए की उपमा है, कामगता स्मृति को समझाने के लिए तेलपात्र की उपमा और धर्म को समझाने के लिए नाव और नाविक की जैसी उपमाएँ भरी पड़ी हैं संवादों के रूप में सुत्तों के उदाहरण के लिए दीघ-निकाय के अम्बट्ठ-सुत्त, सोणदंड-सुत्त, पोट्ठपाद-सुत्त, तेविज्ज-सुत्त आदि विशेष द्रष्टव्य हैं। अन्य निकायों में भी संवाद भरे पड़े हैं। पौराणिक आख्यान भी सुत्तों में कहीं-कहीं समाविष्ट हैं, जैसे महाविजित का आख्यान दीघ-निकाय के कूट-दत्त-सुत्त में आदि, आदि। उपनिषदों और महाभारत में भी ऐसे आख्यान पाये जाते हैं। संयुत्त-निकाय के भिक्खुनी-संयुत्त में भिक्षुणियों के आख्यान बड़े ही मार्मिक हैं। सुत्तों की एक बड़ी विशेषता उनकी नाटकीय द्रुत गति एवं क्रियाशीलता भी है। इस दृष्टि से दीघ-निकाय के महापरिनिब्बाण सुत्त और संयुत्त निकाय के भिक्खुनी-संयुत्त विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं। परिप्रश्नात्मक शैली का जैसा पूर्ण परिपाक सुत्तों में हुआ है, वैसा भारतीय साहित्य में अन्य कहीं पाना असम्भव है। बाद में उनका विकसित रूप ही 'मिलिन्दपञ्ह' में प्रस्फुटित हुआ है, जिसके संवादों को लेकर ही कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने उसके ऊपर ग्रीक प्रभाव का कल्पना कर ली है, जिसका निराकरण हम छठे अध्याय में उस सम्बन्धी विवरण पर आते समय करेंगे। दीघ-निकाय के 'पायासि-सुत्त' जैसे सुत्तों में संवादात्मक शैली का जो परिष्कृत रूप दिखाई पड़ता है,[1] उसी के अधार पर बाद में 'मिलिन्दपञ्ह' में इस कला में पूर्णता प्राप्त की गयी है।

जैसा पहले कहा जा चुका है, सुत्त-पिटक बुद्ध-वचनों का सबसे अधिक महत्वपूर्ण भाग है। न केवल बुद्ध-उपदेशों को जानने के लिए ही बल्कि छठीं और पाँचवीं शताब्दी ईस्वी-पूर्व के भारत के सब प्रकार के ऐतिहासिक, सामाजिक और भौगोलिक ज्ञान का वह एक अपूर्व भांडार है। इतिहास और साहित्य के विद्यार्थी के लिए भी वह उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना बौद्ध धर्म और दर्शन के विद्यार्थी के लिए। गम्भीर विचारों की दृष्टि से उसका स्थान केवल उपनिषदों के साथ है। उपनिषदों से भी उसकी एक बड़ी विशेषता यह है कि उपनिषदों में जब कि विशुद्ध, निर्वैयक्तिक ज्ञान है, सुत्त-पिटक में उसके साथ-साथ जीवन भी है। उपनिषदों में ब्रह्मवेत्ता ऋषि इकट्ठे होते हैं और

---

१. इसके दर्शन के लिए देखिए आगे इस सुत्त का विवरण।

आपस में विचार-विनिमय करते हैं, परन्तु उनके विचार का विषय आत्मा या ब्रह्म ही होता है और वे वहुलतर रूप से परिकल्पनात्मक चिन्तन करते हैं। बुद्ध की तरह जीवन के अन्तर में व्याप्त दुःख की मूल समस्या को वे नहीं देखते और न उसका कोई व्यावहारिक समाधान ही खोजते हैं। बुद्ध की सी अन्तर्वेधिनी प्रज्ञा किसी वैदिक ऋषि में नहीं मिलती और न उनमें से कोई उस मार्ग को ही निकाल सकता है जिसका अन्वेषण और निर्माण बुद्ध ने अपनी अनुत्तर सम्यक् सम्वोधि से किया। बुद्ध के संलापों में उनकी स्वयं की अभिज्ञा साफ तौर पर झलकती है और ऐसा साफ विदित होता है कि यह आदमी स्वयं जानकर देखकर कह रहा है, जव कि औपनिषद ऋषियों के संवादों में यह बात उतनी हद तक नहीं मिलती और लगता है कि जो अचिन्त्य है, चिन्ता का अविषय है, उसी का चिन्तन किया जा रहा है। यही उपनिषदों और बुद्ध-वचनों में मूल भेद हैं। फिर उपनिषदों में बुद्ध के समान ज्ञानी की जीवनचर्या कहाँ है? उपनिषदों में प्रतिनिधि ऋषि याज्ञवल्क्य की बुद्ध की तुलना में कहाँ ठहरते हैं? सुत्त-पिटक में निहित बुद्ध-वचनों की गम्भीरता की तुलना रायस डेविड्स ने प्लेटो के संवादों से की है।[1] प्लेटो के ज्ञान-गौरव की रक्षा करते हुए भी यह कहा जा सकता है कि तथागत की साधनामयी वाणी का तो शतांश गौरव भी उसके अन्दर नहीं है। प्लेटो के संवादों में यही नहीं पता चल पाता कि कहाँ वह अपनी बात कह रहा है या कहाँ वह अपने गुरु (सुकरात) की। वस्तुतः निज मुख से वह कुछ कहता ही नहीं। पाठक अन्त तक जिज्ञासा करता रहता है और सन्देह में वना रहता है। इसके विपरीत बुद्ध केवल वही कहते हैं जो उन्होंने स्वयं जाना है, स्वयं देखा है (साम नातं, सामं दिट्ठं)। उन्होंने जो कुछ कहा है, सत्त्वों की शुद्धि के लिए कहा है, वह सब मनुष्यों के 'अर्थ' के लिए है। बुद्ध अपनी अभिज्ञा से (अच्छी प्रकार जानकर) बोलते हैं, उनकी अभिज्ञापूर्वक धर्म का उपदेश दिया है। "धम्मा अभिञ्जा देसिता।" उनकी अनुत्तरा सम्यक् सम्वोधि उनके वचनों के पीछे है। इसीलिए कहा जाता है कि बुद्ध ने जो कुछ कहा है, सब सुन्दर कहा है। प्लेटो के संवाद अन्त तक अपूर्ण हैं। वह पूर्ण सुनिश्चित बात नहीं कह पाता। बुद्ध का प्रत्येक संवाद अपने आप में पूर्ण और सुनिश्चित है। बुद्ध 'अवितथवादी'

---

१. दि डायलाग्स ऑव दि बुद्ध, जिल्द पहली, पृष्ठ २०६; हिस्ट्री एण्ड लिटरेचर ऑव बुद्धिज्म, पृष्ठ ४१ (चतुर्थ भारतीय संस्करण, कलकत्ता, १९५२)।

(सत्यवादी) है, 'तथवचन' (तथावचन) हैं और सुनिश्चितदर्शी ('अञ्जदत्थदसो') हैं। दुविधा उनकी बातों में कहीं नहीं है। वे सच्चे रूप में अद्वैयवादी हैं, परमार्थवादी हैं। इसके अतिरिक्त बुद्ध में सन्तुलन अधिक है। उनका सब कुछ कहा हुआ 'मध्यमा प्रतिपदा' पर आधारित है। परन्तु प्लेटो अपने जीवन में ही यह निश्चित नहीं कर सका कि साधना या व्यवहार (लोकव्यवहार, राजनीपि) में से उसे कहाँ जाना चाहिए। फलतः जीवन-दृष्टि की अनिश्चितता उसके संवादों में बनी हुई है। परन्तु बुद्ध एक 'सम्यक् सम्बुद्ध' व्यक्ति की हैसियत से वोलते हैं और उनके सुननेवाले उनके भाषण का अन्तस्तल से अभिनन्दन करते हैं। उनके उपदेशों में सर्वत्र अन्विति है; जो प्लेटो के संवादों में कहीं-कहीं नहीं मिलती।[१] बुद्ध-वचन अपनी गम्भीरता में सर्वथा निरुपमेय हैं। व्यंजन से भी और अर्थ से भी उनकी उपमा नहीं है। 'सुत्तनिपात' में धर्म सेनापति सारिपुत्र ने कहा है, "मैंने इससे पूर्व न कभी देखा न सुना कि तुषित-लोक से मनुष्य-समाज के बीज कोई ऐसा मधुरभाषी शास्ता आया हो। उनकी यह बात बिलकुल ठीक है। बुद्ध की सी अमृत-वाणी अन्य किसी महात्मा या महापुरुष की नहीं है। निश्चय ही बुद्ध बोलने वालों में श्रेष्ठ हैं। 'संयुत्त-निकाय के बुद्धि-सुत्त में भी कहा गया है, "बुद्धो पवदतं वरो।" यही बात महावस्तु में भी कही गयी है। और भगवान् बुद्ध को वहाँ "वदतां वरः" कहा गया है। इसी प्रकार 'लङ्कावतार-सुत्त' (तृतीय परिवर्तन) में उन भगवान् को, 'वदतां वरिष्ठ' कहकर पुकारा गया है। महामति नागार्जुन भी इस बात को स्वीकार करते हुए 'मूलमध्यमकारिका' में उनकी वन्दना करते हुए कहते हैं, "तं वन्दे वदतां वरम्"। बुद्ध और उनकी विचारमयी वाणी की इससे अधिक और क्या स्तुति की जा सकती है और इसके लिए नागार्जुन से अधिक और किस मनीषी पुरुष का

---

१. प्लेटो के संवादों की यह कुछ विपरीत समीक्षा यद्यपि मेरे स्वतः अध्ययन से उद्भूत है, परन्तु यह सर्वथा मेरी कल्पना का विजृम्भण नहीं कही जा सकती। कुछ दूसरे मिलते-जुलते विचारों के लिए देखिये, ए० आर० वाडिया का लेख "सोक्रेटीज, प्लेटो एण्ड एरिस्टोटल" शीर्षक, "हिस्ट्री ऑव फिलासफी : ईस्टर्न एण्ड वैस्टर्न (डॉ० राधाकृष्णन् के प्रधान सम्पादकत्व में सम्पादित), जिल्द दूसरी, पृष्ठ ५३ (जार्ज एलिन एण्ड अनविन्, लन्दन १९५३); देखिये राहुल सांकृत्यायन : दर्शन-दिग्दर्शन, पृष्ठ १६-१७ भी (किताब महल, इलाहाबाद, १९४७)।

साक्ष्य लाया जा सकता है ? (परमत्थजोतिका) ('सुत्त-निपात' की अट्ठकथा) की विजयसुत्तवण्णना' में आचार्य बुद्धघोष ने कहा है कि बुद्ध की वाणी के गुण मानव-मन को अपनी ओर खींचने वाले हैं। यह बात सदा सत्य है और सदा ऐसी ही रहेगी। अमृत से सनी, अमृत की ओर ले जाने वाली और अमृतपर्यवसना बुद्ध-वाणी और आकर्षणशीलता अपनी प्रासादिकता में अद्वितीय ही है। जब सम्यक्-सम्बुद्ध जैसा वरदान ही प्रकृति ने मानव को नहीं दिया, तो उनके जैसे वचन भी कहाँ से हों? अतः धर्म, दर्शन, साहित्य, जीवन, इतिहास, प्राचीन भूगोल आदि सभी दृष्टियों से सुत्त-पिटक का अध्ययन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

सुत्त-पिटक जैसा पहले भी दिखाया जा चुका है, पाँच भागों में विभक्त है, (१) दीर्घ-निकाय, (२) मज्झिम-निकाय, (३) संयुत-निकाय, (४) अंगुत्तर-निकाय और (५) खुद्दक-निकाय। इसमें से प्रथम चार निकाय संग्रह-शैली की दृष्टि से समान हैं। पाँचवाँ निकाय छोटे-छोटे (जिनमें कुछ बड़े भी हैं) स्वतन्त्र ग्रन्थों का संग्रह है। विषय तो सबका बुद्ध-वचनों का प्रकाशन ही है। केवल सुत्तों के आकारों या विषय के विन्यास में कहीं कुछ अन्तर है। प्रत्येक निकाय की विषयवस्तु का अब हम संक्षिप्त परिचय देंगे और साथ ही उनके साहित्यिक और ऐतिहासिक महत्त्व का भी अनुमापन करना हमारे अध्ययन का एक अंग होगा।

अ—दीघ निकाय[1]

दीघ-निकाय दीर्घ आकार के सुत्तों का संग्रह है। इसे 'दीघागम' या 'दीघ-सङ्गह' भी कहा गया है। आकार की दृष्टि से जो सुत्त या बुद्ध-उपदेश बड़े हैं; वे इस निकाय में संगृहीत हैं। इसीलिए इसका नाम दीघ-निकाय है। आचार्य

---

१. महापंडित राहुल सांकृत्यायन तथा भिक्षु जगदीश काश्यप द्वारा अनुवादित, महाबोधि सभा, सारनाथ, १९३७। दीघ-निकाय के १-२३ सुत्त दो भागों में देवनागरी लिपि में प्रो० एन० के० भागवत के द्वारा सम्पादित होकर बम्बई विश्वविद्यालय से निकले थे। प्रथम भाग, सुत्त १-१३ (सन् १९४२); द्वितीय भाग, सुत्त १४-२३ (सन् १९३६)। अब पूरा दीघ-निकाय देवनागरी लिपि में आ गया है। इसके प्रधान सम्पादक हैं भिक्षु जगदीश काश्यप। यह तीन भागों में है, जिन्हें सन् १९५८ में बिहार राज्य के पालि प्रकाशन मण्डल ने प्रकाशित किया है। पहली जिल्द में सीलक्खन्ध वग्ग (सुत्त १-१३) है, दूसरी में महावग्ग (सुत्त १४-२३) और तीसरी में पाथिक वग्ग (सुत्त २४-३४)।

बुद्धघोष ने 'सुमङ्गलविलासिनी' और 'अट्ठसालिनी' की निदान कथाओं में तथा समन्तपासादिका की बाहिर निदान कथा में समान रूप से यह "प्रश्न उठाते हुए कि 'दीघ-निकाय' को क्यों इस नाम से पुकारा जाता है ?" कस्मा-पनेस दीघनिकायों' ति वुच्चति ?' इसका इस प्रकार उत्तर दिया है--'दीर्घ आकार के सुत्तों के समूह या निवास होने के कारण।"--"दीघ श्रमाणानं, सुत्तानं समूहतो च निवासतो चा" ति। इस प्रकार निकाय का अर्थ उन्होंने 'समूह' या 'निवास' किया है। 'खुद्दकपाट्ठकथा' की सरणत्रयवण्णना में भी 'निकाय' शब्द का यही अर्थ किया गया है। दीघ-निकाय तीन भागों में विभक्त है। (१) सीलक्खन्ध (२) महावग्ग और (३) पाथेय या पाथिक या पाटिक-वग्ग। इनमें कुल मिलाकर ३४ सुत्त हैं, जिनमें सीलक्खन्ध में १-१३, महावग्ग में १४-२३ और पाथेय या पाटिक वग्ग (पाथिक वग्ग) में २४-३४ सुत्त हैं। जिस क्रम से इन सुत्तों का विन्यास किया गया है, वह कालक्रम के अनुसार पूर्वापरता का सूचक नहीं है। कुछ घटनाएँ या उपदेश तो कालक्रमानुसार बाद के हैं पहले रख दिये गये हैं और इसी प्रकार जिन्हें पहले होना चाहिए वे बाद में रखे हुए हैं। इसका कारण यही है कि कालक्रम के अनुसार सुत्तों को यहाँ विन्यस्त न कर आकार आदि की दृष्टि से किया गया है। पिटक और अनु-पिटक (विशेषतः अट्ठकथा) साहित्य के साक्ष्य से महापंडित राहुल सांकृत्या-यन ने दीघ-निकाय के कुछ सुत्तों के कालानुक्रम का निश्चय कर उन्हें उस ढंग से अपने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'बुद्धचर्या' में अनूदित किया है। यह एक स्तुत्य कार्य है। पश्चिमी विद्वान् अट्ठकथाओं के साक्ष्य पर इतना अधिक विश्वास न कर केवल शैली और भाषा आदि के साक्ष्य से ही दीघ-निकाय या पूरे सुत्त-पिटक के विभिन्न अंशों की पूर्वापरता निश्चित करना चाहते हैं, जो अन्त में केवल उनकी कल्पना का विलास मात्र रह जाता है। फ्रैंक नामक विद्वान् ने तो इसी आधार पर अपने विचित्र मत भी पूरे तिपिटक और दीघ-निकाय के सम्बन्ध में प्रकाशित कर दिये हैं। उन्होंने दीघ-निकाय के विषय में कहा है कि यह किसी एक लेखक या साहित्यकार का काम है। चूँकि ओल्डनवर्ग[1], रायस डेविड्स[2], विंटरनित्ज, गायगर[3], आदि विद्वानों[4] द्वारा उनके मत का पर्याप्त

---

१. २. ३. ४. देखिये विशेषतः विण्टरनित्ज : हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ४४-४५; गायगर : पालि लिटरेचर एण्ड लैंग्वेज, पृष्ठ १७, पदसंकेत ४; रायस डेविड्स और ओल्डनबर्ग के ग्रन्थों के संकेत भी यही दोनों जगह दिये हुए हैं।

निराकरण कर दिया गया है, अतः उनके अ-महत्वपूर्ण कल्पना-विलास को, जिसे उन्होंने दीघ-निकाय की प्रामाणिकता के विरुद्ध रखा था, यहाँ उद्धृत और फिर से निराकृत कर, उसे अनावश्यक महत्त्व देने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। दीघ-निकाय के सुत्त कलात्मक एकात्मकता के अनुसार विन्यस्त होने पर भी बुद्ध-वचनों के रूप में प्रामाणिक हैं। यदि उन सब का आधारभूत विचार एक ही है, तो इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि वे किसी एक ही लेखक की कृतियाँ हैं। बुद्ध के उपदेशों के रूप में भी उनमें एकात्मकता तो होनी ही चाहिए। पालि दीघ-निकाय के ३४ सुत्तों में से २७ चीनी दीर्घागम में मिलते हैं। शेष सात में से ३ मध्यमागम में मिलते हैं और ४ का पता नहीं लगा है।[१] विषय का विन्यास यहाँ भिन्न होते हुए भी विषयवस्तु तो प्रायः समान ही हैं। दूसरी शताब्दी से लेकर चौथी-पाँचवीं शताब्दी तक इन सब सुत्तों का अनुवाद चीनी भाषा में हो गया था। चूँकि इसके पूर्व प्रथम शताब्दी ईसवी-पूर्व के 'मिलिन्दपञ्ह' में भी इनमें से अनेक का नामतः उल्लेख है, अतः इनकी प्रामाणिकता के विषय में सन्देह नहीं किया जा सकता। बाहरी आकार की दृष्टि से दीघ निकाय के सब सुत्तों में समानता नहीं है। सीलक्खन्ध के सब सुत्त प्रायः गद्य में हैं, केवल कुछ पंक्तियाँ मात्र गाथाओं के रूप में हैं। महावग्ग और पाथेय या पाटिक-वग्ग में अधिकांश सुत्त गद्य-पद्य-मिश्रित हैं। पाथेय या पाटिक-वग्ग के महासमय-सुत्त और आटानाटिय सुत्त तो बिलकुल पद्य में ही हैं। सीलक्खन्ध के सूत्रों की यह प्रधान विशेषता है कि वे शील, समाधि और प्रज्ञा सम्बन्धी बुद्ध-उपदेशों का विवरण देते हैं और उनमें बुद्धकालीन भारतीय समाज का भी पर्याप्त शील-निरूपण मिलता है, उसके सामाजिक और धार्मिक जीवन का पूरा चित्र, आदि। यही उसके 'सीलक्खन्ध' नामकरण का भी कारण है। 'महावग्ग' के प्रत्येक सुत्त के नाम का आरम्भ 'महा' शब्द से होता है। विंटरनित्ज ने इस 'महा' शब्द में क्षेपकों का रहस्य निहित माना है। उनका कहना है कि पहले इस वर्ग के उपदेश संक्षिप्त आकार के रहे होंगे और बाद में उन्हें बढ़ा कर 'महा' कर दिया गया है।[२] चूँकि स्वयं

---

१. पूरे विवरण के लिए देखिये दीघ-निकाय (महापंडित राहुल सांकृत्यायन का हिन्दी अनुवाद) का प्राक्कथन।

२. विशेषतः 'महापरिनिब्बाण-सुत्त' में इस प्रकार के उत्तरकालीन परिवर्द्धनों का विवेचन डॉ॰ विण्टरनित्ज ने किया है। देखिये उनकी हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ३८-४२। परन्तु विण्टर-

भगवान् बुद्ध भी एक ही विषय पर अवसर और पात्रों के अनुसार संक्षिप्त और दीर्घ उपदेश साथ-साथ दे सकते थे और संकलन के समय भिन्न-भिन्न व्यक्तियों और स्रोतों से आने के कारण उन्हें वैसा ही संकलित भी कर दिया गया है, अतः एक ही विषय-सम्बन्धी दो अल्प और बड़े आकार वाले सुत्तों को देखकर बड़े आकार वाले सुत्तों को बाद के परिवर्द्धन ही नहीं माना जा सकता। उपर्युक्त तथ्य के प्रकाश में हम 'महावग्ग' के सब सुत्तों को मौलिक बुद्ध-वचन ही मानने के पक्षपाती हैं। 'पाथिक' या 'पाटिक' वग्ग का यह नामकरण इसलिए है कि इस वर्ग के सुत्तों के आदि में 'पाथिक-सुत्त' या 'पाटिक-सुत्त' नामक सुत्त है। दीघ निकाय का अधिक साहित्यिक और ऐतिहासिक मूल्यांकन करने के लिए पहले हम उसके सुत्तों की विषयवस्तु का अलग-अलग संक्षिप्त निदर्शन करेंगे।

सीलक्खन्ध-वग्ग

ब्रह्मजाल-सुत्त (दीघ०१।१)

ब्रह्मजाल-सुत्त दीघ-निकाय का प्रथम और अत्यन्त महत्वपूर्ण सूत्र है। प्राग्बुद्धकालीन भारतीय धार्मिक और सामाजिक परिस्थिति का एक अच्छा चित्र यहाँ मिलता है। विशेषतः उस धार्मिक विचिकित्सा का, जो उस समय भारतीय वायुमंडल में सर्वत्र फैली हुई थी, और उसके सम्पूर्ण अतिवादों का एक अच्छा विश्लेषण यहाँ मिलता है। ब्रह्मजाल-सुत्त का अर्थ है श्रेष्ठ (ब्रह्म) जालरूपी बुद्ध-उपदेश। बुद्ध-उपदेश को यहाँ श्रेष्ठ जाल कहा गया है। जिसे पकड़ने के लिए फिसलकर निकल जानेवाली मछलियाँ रूपी मिथ्या दृष्टियों को पकड़ने के लिए। इस सुत्त के उपदेश के अन्त में आनन्द ने, जो पीछे से

नित्ज का यह कहना ठीक नहीं जान पड़ता। 'महा' शब्द का अर्थ हम यहाँ केवल 'महान्' ही क्यों न लें? और इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं कि संगीतकारों का यही अर्थ अभिप्रेत था। 'महामोग्गल्लान' और 'महाकात्यायन' जैसे नामों में भी यही अर्थ ध्वनित है। अतः 'महा' शब्द के आधार पर तो ऐसे सुत्त, जिनके आदि में 'महा' लगा हुआ है, मौलिक और आदरणीय ही ठहरते हैं। इस आधार पर उन्हें बाद की रचना या बढ़ाये हुए (जो अर्थ विण्टरनित्ज ने लिया है') नहीं माना जा सकता।

भगवान् को पंखा झल रहे थे, पूछा, "भन्ते ! इस उपदेश को क्या कहकर पुकारा जाय ?" "आनन्द ! तुम इस धर्म-उपदेश को 'अर्थ-जाल' भी कह सकते हो। 'धर्म-जाल' भी, 'ब्रह्मजाल' भी, 'दृष्टि-जाल' भी, लोकोत्तर संग्राम-विजय' भी"[1] मिथ्या-दृष्टियों को पकड़ने के लिए भगवान् ने ब्रह्मजाल-सुत्त का उपदेश दिया।

न मिथ्या दृष्टियों का विवरण ब्रह्मजाल-सुत्त में दिया गया है, उनकी संख्या ६२ है। इनमें १८ मिथ्या धाराणाएँ जीवन और जगत् के आदि सम्बन्धी हैं और ४४ अन्त सम्बन्धी। १८ मिथ्या धारणाओं को पाँच भागों में बाँटा गया है, यथा (१) शाश्वतवाद, (२) नित्यता-अनित्यतावाद, (३) सान्त-अनन्तवाद, (४) अमराविक्षेपवाद और (५) अकारणवाद। इनमें से प्रथम चार की सिद्धि में प्रत्येक में चार-चार हेतु दिये गये हैं और अन्तिम सिद्धान्त (अकारणवाद) की सिद्धि में दो। इस प्रकार १८ हेतुओं से नाना श्रमण, ब्राह्मण और परिव्राजक प्राग्बुद्धकालीन भारत में आत्मा और लोक के आदि सम्बन्धी, (पूर्वान्त कल्पित) उपर्युक्त पाँच मतों का प्रख्यापन किया करते थे। इन्हीं को यह मिथ्या दृष्टि कहा गया है। आत्मा और लोक के अन्त सम्बन्धी (अपरान्तकल्पिक) ४४ मिथ्या-धारणाएँ थीं। कुछ श्रमण, ब्राह्मण और परिव्राजक १६ हेतुओं के आधार पर मानते थे कि 'मरने के बाद भी आत्मा संज्ञी (होश वाला) रहता है', कुछ ८ हेतुओं के आधार मानते थे कि 'मरने के बाद आत्मा असंज्ञी हो जाता है' (अर्थात् वह होश वाला नहीं रहता), कुछ आठ हेतुओं के आधार पर मानते थे कि 'मरने के बाद आत्मा न संज्ञी न संज्ञी रहता है', कुछ ७ हेतुओं के आधार पर मानते थे कि 'आत्मा का पूर्ण उच्छेद ही हो जाता है।' ये उच्छेदवादी थे। कुछ ५ हेतुओं के आधार पर मानते थे कि इसी जन्म में निर्वाण या मोक्ष है। इस प्रकार इन परस्पर विरोधी ४४ हेतुओं से आत्मा और लोक के अन्त सम्बन्धी सिद्धान्त कल्पित किये जाते थे। यही ४४ अपरान्तकाल्पिक मिथ्या-दृष्टियाँ थीं। इस प्रकार कुल मिलाकर ६२ परस्परविरोधिनी, मानसिक आयासों से पूर्ण, मिथ्या-दृष्टियाँ भारतीय दार्शनिक वायुमंडल में भगवान् बुद्ध के उदय से पूर्व प्रचलित थी, जिनका निदर्शन इस सुत्त में किया गया है।

---

१. "को नामो अयं भन्ते धम्मपरियायोति"। 'तस्मातिह त्वं, आनन्द, इमं धम्मपरियायं अत्थजालं ति पि नं धारेहि, ब्रह्मजालं ति पि नं धारेहि, दिट्ठिजालं ति पि नं धारेहि, अनुत्तरो संगाम-विजयो ति पि नं धारेहि।"

ब्रह्मजाल-सुत्त की मुख्य विषयवस्तु उपर्युक्त ६२ मिथ्या-दृष्टियों का विवरण ही है, किन्तु उसमें प्रसंगवश और भी बहुत सी बातें आ गयी हैं। आरम्भ ही में हम भगवान् को भिक्षुओं के सहित राजगृह और नालन्दा के बीच के रास्ते पर जाते देखते हैं। "भगवा अन्तरा च राजगहं अन्तरा च नालन्दं अद्धान-मग्ग-पटिपन्नो होति।" वे भिक्षुओं को निन्दा और स्तुति में समान रहने का उपदेश करते हैं। उसके बाद मूल (आरम्भिक), मज्झिम (मध्यम) और महा के रूप में शील की तीन भूमियों का विवरण है। यही प्रसंगवश उन अनेक प्रकार के उद्योगों, शिल्पों, व्यवसायों तथा मनुष्यों के रहन-सहन सम्बन्धी ढंगों का विवरण मिलता है, जिनसे विरत रहने का भिक्षुओं को उपदेश दिया गया है। उस समय के समाज के जीवन की दशा का इससे बड़ा अच्छा पता लगता है। उस समय के मनोरंजन के साधनों को लीजिए, तो नृत्य, गीत, बाजे, नाटक, लीला, ताली, ताल देना, घड़े पर तवला बजाना, गीत-मंडली, लोहे की गोली का खेल, बाँस का खेल, हस्ति-युद्ध, अश्व-युद्ध, महिष-युद्ध, वृषभ-युद्ध, बकरों का युद्ध . . . लाठी का खेल, मुष्टि-युद्ध, कुश्ती, मारपीट का खेल, सैन्य-प्रदर्शन आदि के विवरण मिलते हैं। मनुष्यों के आमोद-प्रमोद के साधनों को देखें तो दीर्घ आसन, पलंग, बड़े-बड़े रोयें वाले आसन चित्रित आसन . . . फूलदार बिछावन . . . सिंह, व्याघ्र आदि के चित्र वाले आसन, झालरदार आसन आदि के विवरण, दर्पण, अंजन, माला, लेप मुख-चूर्ण (पाउडर), मुख-लेपन, हाथ के आभूषण, छड़ी, तलवार, छाता, सुन्दर जूता, टोपी, मणि, चँवर आदि के विवरण पाते हैं। अनेक प्रकार की कथाएँ जैसे, राजकथा, चोरकथा, ग्राम, निगम, नगर, जनपद, स्त्री, पनघट और भूत-प्रेत आदि की कथाएँ, अनेक प्रकार के फलित ज्योतिष के विधान, अनेक प्रकार के मिथ्या सामाजिक विश्वास और जीवन निर्वाह के ढंग भी विवृत किये गये हैं। यज्ञयागादि की परम्परा कितनी विकृत हो चली थी, इसका एक संकेत अनेक प्रकार के होमों की सूची में ही देखिये 'अग्नि-हवन, दर्वी-होम, तुष-होम, कण-होम, तंडुल-होम, घृत-होम, तैल-होम, मुख में घी लेकर कुल्ले से होम, रुधिर-होम' आदि। अनेक प्रकार की विद्याओं यथा वास्तु-विद्या, क्षेत्र-विद्या, मणि-लक्षण, वस्त्र-लक्षण आदि के विवरण यहाँ दिये गये हैं। सारांश यह कि प्राग्बुद्धकालीन भारत का सारा सामाजिक और धार्मिक जीवन यहाँ चित्रित हो उठा है। दार्शनिक दृष्टि से इस सुत्त का यह महत्त्व है कि वह भगवान् बुद्ध के शासन के उस स्वरूप की ओर इंगित करता है। जो मध्यमा-प्रतिपदा पर आधारित है और जिसमें जीवन के सत्य का साक्षात्कार (सच्छि-

किरिया) ही मुख्य है, शाश्वतवाद या अशाश्वतवाद आदि के पचड़ों में पड़ना नहीं। अतः प्राग्बुद्धकालीन भारतीय विचार की विचिकित्साओं और उनकी पृष्ठभूमि में बुद्ध-शासन का सन्देश तथा प्रसंगवश तत्कालीन भारतीय समाज के उद्योग-व्यवसायों आदि के चित्रण की दृष्टि से यह सुत्त अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

चीनी भाषा में अनुवाद के रूप में 'ब्रह्मजाल-सूत्र, मिलता है। यह अनुवाद कुमारजीवी ने सन् ४०६ ई० में किया।

सामञ्जफल-सुत्त (दीघ० १।२)

सामञ्जफल-सुत्त (श्रामण्य-फल-सम्बन्धी बुद्ध-उपदेश) में हम पितृ-वध के पश्चाताप से संतप्त मगध-राज अजातशत्रु को चित्त-शान्ति प्राप्त करने के हेतु जीवक के राजगृह-स्थित आम्रवन में भगवान् के पास आता देखते हैं, जहाँ भगवान् उस समय ठहरे हुए थे। पहले वह अन्य आचार्यों के पास भी जा चुका है, किन्तु शान्ति नहीं मिली। इसी कारण यहाँ प्रसंगवश बुद्धकालान उन छह प्रसिद्ध आचार्यों के मतों का भी निदर्शन कर दिया गया है। जिनका जानना बौद्ध धर्म के प्रत्येक विद्यार्थी के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इन छह आचार्यों के नाम थे, पूर्ण काश्यप, मक्खलि, गोसाल, अजित केस कम्बलि, प्रक्रुद्ध कात्यायन, निगण्ठ नाटपुत्त और संजय बेलट्ठिपुत्त। पूर्ण काश्यप का मत अक्रियावाद था। उनके मत में पाप-पुण्य कुछ नहीं था। 'छुरे के समान तेज चक्र से कोई इस पृथिवी के प्राणियों के मांस का एक खलियान, मांस का एक पुंज बना दे, तो भी इसके कारण उसे पाप नहीं लगेगा।' दान, दम, संयम, तप में कोई पुण्य नहीं है, हिंसा, चोरी आदि में कोई पाप नहीं है, यही उनका मत था। मक्खलि गोसाल पूरे दैववादी थे। वे कहते थे, 'सत्वों के क्लेश का कोई हेतु नहीं है। बिना हेतु के ही सत्व क्लेश पाते हैं। सत्वों की शुद्धि का भी कोई हेतु नहीं है। विना हेतु के ही सत्व शुद्ध होते हैं। पुरुष कुछ नहीं कर सकता। बल नहीं है, वीर्य नहीं है, पुरुष का कोई पराक्रम नहीं है। सभी प्राणी अपने वश में नहीं हैं। निर्बल, निर्वीर्य, भाग्य और संयोग के फेर से उधर-उधर उत्पन्न हो दुःख भोगते हैं। अजित केस कम्बलि का मत था जड़वाद या उच्छेदवाद। वह कहता था, 'न दान है, न यज्ञ है, न होम है। न पुण्य या पाप का अच्छा-बुरा फल होता है, न यह लोक है, न परलोक है, न माता है, न पिता है' आदि आदि। प्रक्रुध कात्यायन का मत था अकृतता-वाद। वह पृथ्वी, जल, तेज, वायु, सुख, दुःख और जीवन, इन सब को अकृत, अनिर्मित, कूटस्थ और अचल मानता था। 'यहाँ न हन्ता है, न घातयिता, न

सुनने वाला, न सुनाने वाला, न जानने वाला, न जतलाने वाला।' निगण्ठ नाटपुत्त (निग्रंन्थ ज्ञातृपुत्र, भगवान् महावीर, जैन-तीर्थंकर) के मत में चार प्रकार के संयमों का विवरण दिया गया है "निग्रंन्थ ज्ञातृपुत्र किस प्रकार के संयमों से संयत रहते हैं? (१) निग्रंन्थ ज्ञातृपुत्र जल का वारण करते हैं (जिसमें जल के जीव न मारे जायँ), (२) सभी पापों का वारण करते हैं। (३) सभी पापों के वारण करने से पाप-रहित होते हैं और (४) सभी पापों के वारण करने में लगे रहते हैं।" संजय बेलट्ठिपुत्त का मत अनिश्चिततावाद था। उनका कहना था "मैं यह भी नहीं कहता, मैं वह भी नहीं कहता, मैं दूसरी तरह से भी नहीं कहता। मैं यह भी नहीं कहता 'यह है'। मैं यह भी नहीं कहता 'यह नहीं है, मैं ऐसा भी नहीं कहता, मैं वैसा भी नहीं कहता।' बुद्धकालीन धार्मिक वातावरण को जानने के लिए इन छह आचार्यों के मतों को जानना अत्यन्त आवश्यक है। भगवान् ने अज्ञातशत्रु को श्रमणता (श्रामण्य) या प्रव्रज्या का फल नैतिक मूल्यों के द्वारा बतलाया है। संसार के मूल्यों में उसे नहीं मापा जा सकता। पहले यहाँ भी शील का प्रारम्भिक, मध्यम और महा इन तीन भूमियों में विवरण है, फिर इन्द्रिय-संयम, स्मृति-सम्प्रजन्य, सन्तोष आदि के अभ्यास का विवरण है। अन्त में पश्चात्ताप से अभिभूत राजा कहता है "भन्ते! मैंने......धार्मिक, धर्मराज पिता की हत्या की। भन्ते! भविष्य में सँभल कर रहने के लिए मुझ अपराधी पापी को आप क्षमा करें।" इस सुत्त में अनेक प्रकार के शिल्पस्थानों (सिप्पायतनानि) का वर्णन किया गया है जिनसे उस समय की दस्तकारी की अवस्था और व्यापारिक भूगोल पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। जिन दृष्टियों से ब्रह्मजाल सुत्त का महत्त्व है, उन्हीं दृष्टियों से यह सुत्त भी महत्त्वपूर्ण है। वास्तव मे कुछ हद तक यह उसका पूरक ही है।

अम्बट्ठ-सुत्त (दीघ० १।३)

पौष्करसाति नामक ब्राह्मण के अम्बष्ठ (अम्बट्ठ) नामक शिष्य के साथ भगवान् बुद्ध का संवाद है। अम्बष्ठ अपने उच्च वर्ण के घमंड के कारण भगवान् के पास जाकर अशिष्टतापूर्वक बातें करता है। शाक्यों पर अनुचित आक्षेप भी करता है। जब भगवान् उसके अशिष्ट व्यवहार का उसे स्मरण दिलाते हैं, तो वह कहता है 'हे गौतम! जो मुंडक' श्रमण, इभ्य (नीच), काले, ब्रह्मा के पैर की सन्तान हैं, उनके साथ ऐसे ही कथा-संलाप किया जाता है, जैसा मेरा आप गौतम के साथ।' भगवान् उसे मिथ्या जातिवाद के अभिमान को छोड़ देने को कहते हैं। "अम्बष्ठ! जहाँ आवाह-विवाह होता है, वहीं यह कहा जाता है 'तू मेरे

योग्य हैं', 'तू मेरे योग्य नहीं है।' वहीं यह जातिवाद, गोत्रवाद, मानवाद भी चलता है 'तू मेरे योग्य हैं', 'तू मेरे योग्य नहीं है।' अम्बष्ठ ! जो कोई जाति-में फँसे हैं, गोत्रवाद में फँसे हैं, अभिमानवाद में फँसे हैं, आवाह-विवाह में फँसे हैं, वे अनुपम विद्या और आचरण की सम्पदा से दूर हैं। अम्बष्ठ ! जातिवाद के बन्धन, गोत्रवाद-बन्धन, मानवाद-बन्धन और आवाह-विवाह-बन्धन छोड़कर ही अनुपम विद्या और आचरण की सम्पदा का साक्षात्कार किया जाता है। इस प्रकार इस सुत्त को जातिवाद के विरुद्ध भगवान् का सिंहनाद ही समझना चाहिए। इस सुत्त का एक ऐतिहासिक महात्त्व यह है कि यहाँ कृष्ण को एक प्राचीन ऋषि के रूप में स्मरण किया गया है। "वह कृष्ण महान् ऋषि थे। उन्होंने दक्षिण देश में जाकर ब्रह्ममन्त्र पढ़कर, राजा इक्ष्वाकु के पास जा उसकी क्षुद्ररूपी कन्या को माँगा तब राजा इक्ष्वाकु ने कहा, 'अरे ! यह मेरी दासी का पुत्र होकर मेरी कन्या को माँगता है, कुपित हो, असन्तुष्ट हो, बाण चढ़ाया।'. . .इक्ष्वाकु ने ऋषि को कन्या प्रदान की। ......वह कृष्ण महान् ऋषि थे।" शाक्यों की उत्पत्ति के विषय में भी यहाँ वर्णन किया गया है। यह सुत्त कोसल देश के इच्छानंगल ब्राह्मण-ग्राम में उपदिष्ट किया गया।

सोणदण्ड-सुत्त (दीघ० १।४)

सोणदण्ड (स्वर्णदण्ड) नामक ब्राह्मण के साथ भगवान् का संवाद। विषय वही पूर्ववत् जातिवाद का खंडन। ब्राह्मण बनाने वाले धर्मों, अर्थात् सदाचार और ज्ञान का आचरण करने वाला व्यक्ति ही सच्चा ब्राह्मण है, न कि केवल ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न। इस सुत्त में अंग की राजधानी चम्पा का उल्लेख है। राजा बिम्बिसार द्वारा प्रदत्त चम्पा नगरी की आय का उपभोग सोणदण्ड ब्राह्मण करता था यहीं गग्गरा पुष्करिणी के तीर पर बुद्ध का इस ब्राह्मण से संलाप हुआ।

कूटदन्त-सुत्त (दीघ० १।५)

कूटदन्त नामक ब्राह्मण के साथ भगवान् का संवाद। बड़ी सामग्रियों वाले एवं हिंसामय यज्ञ के स्थान पर यहाँ ज्ञान-यज्ञ का आदर्श रखा गया है। कूट-दन्त ब्राह्मण एक महायज्ञ करना चाहता था। उसने भगवान् से जाकर पूछा, "भन्ते ! मैं महायज्ञ करना चाहता हूँ। मैंने सुना है आप सोलह परिष्कार-सहित त्रिविध यज्ञ-सम्पदा को जानते हैं। कृपा कर, आप मुझे उसे बतावें।" भगवान् ने पूर्वकालीन महाविजित के आख्यान को कहकर उसे यह तत्त्व बताया है। वास्तव में महाविजित का यह आख्यान एक प्रकार का जातक-

कथानक ही है। महाविजित नामक राजा ने भी प्राचीन युग में एक यज्ञ किया था। "ब्राह्मण ! उस यज्ञ में गायें नहीं मारी गयीं, बकरे-भेड़ें नहीं मारे गये, मुर्गे-सूअर नहीं मारे गये। न यज्ञ-स्तम्भ के लिए वृक्ष काटे गये, न पर-हिंसा के लिए कुश काटे गये। जो भी उसके दास और नौकर थे, उन्होंने भी दण्ड के भय से रहित होकर, जिन्होंने चाहा, किया, जिन्होंने नहीं चाहा, नहीं किया। अश्रु-मुख, रोते हुए उन्हें सेवा नहीं करनी पड़ी। जिसे चाहा, उसे किया, जिसे नहीं चाहा, उसे नहीं किया। घी, तेल, मक्खन, दही, मधु और खाँड़ से ही वह यज्ञ समाप्ति को प्राप्त हुआ।" इस प्रकार द्रव्य-यज्ञ में भी भगवान् सेवकों से बेगार न लेने के विशेषतः पक्षपाती हैं। किन्तु जिस यज्ञ का उन्होंने विधान किया है, वह तो इससे भी बहुत ऊपर है। वह यज्ञ है दान-यज्ञ, त्रिशरण-यज्ञ, शिक्षापद-यज्ञ, शील-यज्ञ, समाधि-यज्ञ, प्रज्ञा-यज्ञ। तथागत इसी यज्ञ के पक्षपाती हैं। मगध में खाणुमत्त नामक ग्राम की अम्ब-लट्ठिका (आम्रयष्टिका) में कूटदन्त ब्राह्मण के साथ बुद्ध का यह संलाप हुआ।

महालि-सुत्त (दीघ० १/६)

सुनक्षत्र नामक लिच्छवि-पुत्र भगवान् के शिष्यत्व को छोड़कर चला गया है। उसे आशा थी कि भगवान् के पास रहते मैं दिव्य शब्द सुनूँगा, योग की विभूतियों को प्राप्त करूँगा, आदि। जब ऐसा न हुआ तो उसने उन्हें छोड़ दिया। इसी के बारे में प्रश्न करने केलिए महालि (ओट्ठद्ध—आधे ओठ वाला) नामक एक अन्य लिच्छवि सरदार भगवान् के पास आया है "भन्ते ! क्या सुनक्षत्र लिच्छवि-पुत्र ने विद्यमान ही दिव्य-शब्द नहीं सुने या अविद्य-मान।" भगवान् उसे समझाते हैं कि ब्रह्मचर्य का उद्देश्य दिव्य शब्द सुनना या योग की विभूतियों को प्राप्त करना नहीं है, बल्कि उसका एकमात्र उद्देश्य तो सदाचार के जीवन के अभ्यास के द्वारा सत्य का साक्षात्कार करना है। निर्वाण के साक्षात्कार केलिए ही ब्रह्मचर्य को ग्रहण किया जाता है और उसी के द्वारा दुःख का अन्त होता है। "यही है महालि ! अधिक उत्तम धर्म जिसके साक्षात्कार करने केलिए भिक्षु मेरे पास आकर ब्रह्मचर्य-पालन करते हैं।" आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग के अभ्यास एवं सदाचार, समाधि और प्रज्ञा के जीवन से ही निर्वाण का साक्षात्कार किया जा सकता है, यह भी अन्त में अन्य सुत्तों की तरह उपदिष्ट किया गया है। महालि लिच्छवि के साथ बुद्ध का यह संलाप वैशाली की महावन-कूटागारशाला में हुआ। इस सुत्त के आरम्भ में

जव हम महालि लिच्छवि तथा कुछ अन्य व्यक्तियों को बुद्ध से मिलने के लिए आया देखते हैं तो उन्हें बुद्ध के एक सेवक-शिष्य के द्वारा वताया जाता है कि "इस समय भगवान् ध्यान में हैं। यह समय उनसे मिलने का नहीं है।" बाद में कुछ समय वाद बुद्ध को सूचना दी जाती है और वे विहार की छाया में आकार वैठते हैं और वहीं धर्म-संलाप शुरू होता है।

जालिय-सुत्त (दीघ० १/७)

जालिय नामक परिव्राजक से भगवान् का संवाद। यह परिव्राजक भगवान् के पास आकर उनसे पूछता है "आवुस![1] गौतम! जीव और शरीर अलग-अलग वस्तु है या एक ही?" भगवान् उसे समझाते हैं कि जीव और शरीर का भेद-अभेद कथन ही व्यर्थ है। जीवन का तत्त्व साक्षात्कार में है। अतः शील, समाधि और प्रज्ञा का निरन्तर अभ्यास करना चाहिए।

कस्सप-सीहनाद-सुत्त (दीघ० १/८)

काश्यप (कस्सप) नामक अचेल (नग्न) साधु के साथ भगवान् का संवाद, उजुञ्ञा के कण्णकत्थल नामत्थक मृगदाव में। अचेल काश्यप ने कहीं से सुन लिया है कि भगवान् बुद्ध सब प्रकार की तपस्याओं की निन्दा करते हैं। वह अपनी शंका लेकर भगवान् के पास आता है। भगवान् उसे कहते हैं कि सब प्रकार की तपस्याओं की निन्दा करने वाला उन्हें कहना तो उनकी असत्य से निन्दा करना है। "काश्यप! मैं सब तपश्चरणों की निन्दा कैसे करूँगा?" सच्ची धर्मचर्या में भगवान् का अन्य साधु-सम्प्रदायों से कोई वैमत्य नहीं है। किन्तु सभी आचार-विचार छोड़ देना या अन्य सैकड़ोंप्रकार के कायिक क्लेश देना जिनका विस्तृत विवरण इस सुत्त में है और जो उस समय की भारतीय साधना का अच्छा परिचय देते हैं, उनसे भगवान् की सहमति नहीं है। "काश्यप! जो आचार-विचार को छोड़ देता है, वह शील-सम्पत्ति, समाधि-सम्पत्ति और प्रज्ञा-सम्पत्ति की भावना नहीं कर सकता और न उनका साक्षात्कार ही कर पाता है। अतः वह श्रामण्य और ब्राह्मणत्व से बिलकुल दूर है। काश्यप! जब भिक्षु वैर और द्रोह से रहित होकर मैत्री-भावना करता है और

१. 'आयुष्मन्'; जैसे कि मानो गौतम उससे छोटे हों! संभवतः परिव्राजक की आयु भगवान् से अधिक थी और इस सुत्त का सम्बन्ध भगवान की तरुण अवस्था से है।

चित्त-मलों के क्षय होने से निर्मल चित्त की मुक्ति और प्रज्ञा की मुक्ति को इसी जन्म में स्वयं जानकर, स्वयं साक्षात्कार कर विहरता है, तो वही यथार्थतः श्रमण कहलाता है और वही ब्राह्मण भी।" वास्तव में उसी की तपस्या भी सच्ची है। शील, समाधि और प्रज्ञा का तथा अतिवाद पर आश्रित काय-क्लेशमयी तपस्याओं को छोड़कर मध्यम-मार्ग रूपी आर्य अष्टांगिक मार्ग के अभ्यास का भी उपदेश यहाँ दिया गया है।

पोट्ठपाद-सुत्त (दीघ० १/९)

पोट्ठपाद नामक परिव्राजक से भगवान् का संवाद, श्रावस्ती के जेतवनाराम में। आत्मा और लोक के आदि और अन्त सम्बन्धी प्रश्नों को उठाना ब्रह्मचर्य के लिए सहायक नहीं, यही यहाँ पोट्ठपाद परिव्राजक को भगवान् ने बताया है और शील, समाधि और प्रज्ञा की साधना करने का उपदेश दिया है। क्या लोक शाश्वत है या अशाश्वत, सान्त है या अनन्त, आदि प्रश्नों को भगवान् ने क्यों अव्याकृत अर्थात् अनिर्वचनीय या अकथनीय कह कर छोड़ दिया है, इसका भी समाधान करते हुए भगवान् ने कहा है, "पोट्ठपाद ! न ये अर्थ-युक्त, न धर्म-युक्त, न ब्रह्मचर्य के लिए उपयुक्त, न निर्वेद के लिए, न विराग के लिए, न निरोध के लिए, न शान्ति के लिए, न ज्ञान के लिए, न संबोधि के लिए, न निर्वाण के लिए हैं, इसलिए मैंने इन्हें अव्याकृत कहा है।"

सुभ-सुत्त (दीघ० १/१०)

भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के अचिर पश्चात् ('सुमंगलविलासिनी' के अनुसार बुद्ध-परिनिर्वाण के लगभग एक मास पश्चात्) यह प्रवचन उनके उपस्थाक शिष्य आनन्द के द्वारा दिया गया। सुभ तोदेय्यपुत्त नामक माणवक को एक प्रश्न का उत्तर देते हुए आनन्द बताते हैं कि भगवान् बुद्ध शील, समाधि और प्रज्ञा इन तीन धर्म-स्कन्धों के बड़े प्रशंसक थे और इन्हें ही वे जनता को सिखाते थे। आनन्द द्वारा इन तीनों धर्मों का बुद्ध-मन्तव्य के अनुसार यहाँ विवरण दिया गया है। सुभ तोदेय्यपुत्त के साथ आनन्द का यह संलाप श्रावस्ती के जेतवनाराम में हुआ।[1]

---

१. देखिये आगे 'मज्झिम-निकाय' के अन्तर्गत 'सुभ-सुत्त' का वर्णन भी तथा वहीं 'चूलकम्मविभङ्ग-सुत्त' की विषय-वस्तु का कुछ निर्देश भी।

केवट्ट-सुत्त (दीघ० ११/१)

केवट्ट नामक गृहपति-पुत्र के साथ भगवान् का संवाद, नालन्दा के प्रावारिक आम्रवन में। ऋद्धियों का दिखाना भगवान् को पसन्द नहीं और उन्होंने इसे निषिद्ध कर दिया है। उनके मतानुसार सबसे बड़ा चमत्कार तो उपदेश का ही चमत्कार है, आदेसना-प्रातिहार्य या अनुशासनी-प्रातिहार्य (अनुशासन रूपी चमत्कार)! देवताओं और ब्रह्मा को भी यहाँ उस तत्त्व के विषय में, जहाँ पृथ्वी, जल, तेज और वायु का निरोध हो जाता है, अनभिज्ञ बताया गया है, जब कि बुद्ध उससे अभिज्ञ हैं। अर्हत् के मन में जब 'विज्ञान' शान्त हो जाता है, तो 'नाम-रूप' शान्त हो जाते हैं, यह विचार यहाँ है।

लोहिच्च-सुत्त (दीघ० १/१२)

लोहिच्च (लौहित्य) नामक ब्राह्मण के साथ भगवान् का संवाद। झूठे और सच्चे शास्ताओं के विषय में भगवान् ने लोहिच्च को उपदेश दिया है। बुद्ध ने कहा है कि दूसरों को सिखाने के पहले अपने को सिखाना चाहिए और ज्ञात-प्राप्ति के अवसर सबको मिलने चाहिए। लोहिच्च ब्राह्मण कोसल देश में शालवतिका का निवासी था और वहीं उसका बुद्ध से संलाप हुआ।

तेविज्ज-सुत्त (दीघ० १/१३)

वाशिष्ठ और भारद्वाज नामक दो ब्राह्मणों के साथ भगवान् का संवाद। यह संवाद कोसल देश में मनसाकट नामक ग्राम के समीप अचिरवती नदी के तीर पर एक आम्रवन में हुआ। अपरोक्ष-अनुभूति और सत्य-साक्षात्कार के विना तीनों वेदों का ज्ञान व्यर्थ है, यह इस सुत्त की मूल भावना है। इस सुत्त में ऐतरेय ब्राह्मण, तैत्तिरीय ब्राह्मण, छन्दोग ब्राह्मण, छन्दावा ब्राह्मण, इन ग्रन्थों या परम्पराओं का उल्लेख हुआ है, जो सम्भवतः उस नाम की उपनिषदों की ओर संकेत करते हैं। अट्टक (अट्ठक भी), वामक, वामदेव, विश्वामित्र, यमदग्नि, अंगिरा, भारद्वाज, वशिष्ठ, काश्यप और भृगु, इन दस ऋषियों को यहाँ मन्त्रों का कर्ता या वेदों का रचयिता बताया गया है।[1] तीनों वेदों के ज्ञाता ब्राह्मण ब्रह्मा की सलोकता के मार्ग का उपदेश करते हैं, किन्तु ब्रह्मा को अपने अनुभव से, अपने साक्षात्कार से, जानते कोई नहीं। भग-

---

१. ये किन-किन मन्त्रों के द्रष्टा या रचयिता हैं, इसके लिए देखिये राहुल-सांस्कृत्यायनः दर्शन-दिग्दर्शन, पृष्ठ ५२७-५२८।

वान् बुद्ध एक मधुर व्यंग्यमयी उपमा करते हैं, 'वशिष्ठ ! त्रैविद्य ब्राह्मण जिसे न जानते हैं, जिसे न देखते हैं, उसकी सलोकता के लिए मार्ग उपदेश करते हैं। जैसे कि वाशिष्ठ ! कोई पुरुष ऐसे कहे—इस जनपद की जो सुन्दरतम स्त्री (जनपद-कल्याणी) है, मैं उसको चाहता हूँ, उसकी कामना करता हूँ। उससे यदि लोग पूछें 'हे पुरुष ! जिस जनपद-कल्याणी को तू चाहता है, तू क्या जानता है कि वह क्षत्राणी है या ब्राह्मणी है या वैश्य स्त्री है या शूद्र स्त्री है ?' ऐसा पूछने पर वह 'नहीं' कहे। तब उससे पूछें 'हे पुरुष ! जिस जनपद-कल्याणी को तू चाहता है वह किस नाम वाली, किस गोत्र वाली, लम्बी, छोटी या मझोली है ? काली, श्यामा......किस ग्राम या नगर में रहती है ?......वाशिष्ठ ! त्रैविद्य ब्राह्मणों ने ब्रह्मा को अपनी आँखों से नहीं देखा...उसकी सलोकता के लिए मार्ग उपदेश करते हैं !' उपास्य और उपासक के गुणों के अभेद की ओर भी भगवान् ने संकेत किया है। उपास्य (ब्रह्मा) अ-परिग्रही, उपासक (ब्राह्मण) परिग्रही; उपास्य अवैर-चित्त, उपासक वैर-बद्ध, उपास्य वशवर्ती, उपासक अवशवर्ती। "वाशिष्ठ ! सपरिग्रह त्रैविद्य ब्राह्मण काया छोड़, मरने के बाद, परिग्रह-रहित ब्रह्मा के साथ सलोकता को प्राप्त कर सकेंगे, यह सम्भव नहीं।" मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा की भावना के द्वारा साधक तथागत-प्रवेदित मार्ग का साक्षात्कार कर ब्रह्म-विहार में स्थित हो जाय, तो फिर "वह अपरिग्रह भिक्षु काया छोड़, मरने के बाद, अपरिग्रह ब्रह्मा की सलोकता को प्राप्त होगा, इसमें सन्देह नहीं।" आचरण की सभ्यता को यहाँ भगवान् ने सदा के लिए स्मरणीय शब्दों में रख दिया है।

महावग्ग

महापदान-सुत्त (दीघ० २।१)

भगवान् के पूर्ववर्ती छह बुद्धों, यथा विपस्सी (विपश्यी), सिखी (शिखी), वेस्सभू (विश्वभू), ककुसन्ध (क्रकुच्छन्द), कोणागमन (कनकमुनि, कोणाकमुनि) और कस्सप (काश्यप) की जीवनियों का वर्णन। इनमें विशेषतः विपस्सी बुद्ध की जीवनी का विस्तार से वर्णन। सातवें बुद्ध-गौतम बुद्ध—की जीवनी के आधार पर ही ये गढ़ लिये गये हैं, जिनमें ऐतिहासिक तत्त्व कुछ नहीं। श्रावस्ती में जेतवनाराम की करेरि-कुटिका या कररिमण्डल माल (करेरिमण्डलमाड) में उपदिष्ट। एक दिन भिक्षु लोग भोजनोपरान्त भगवान् के पूर्व जन्मों के सम्बन्ध में नाना प्रकार से चर्चा करते दिखाई पड़ते हैं, "इति पि पुब्बे

निवासो, इति पि पुब्बे निवासो" ति। तब भगवान् वहाँ आते हैं और उनको इस प्रकार चर्चा में रत देखकर उन्हें 'पुब्बे निवासपटिसंयुत्ताधम्मी कथा' के रूप में इस सुत्त का उपदेश देते हैं। इस प्रकार बुद्ध शाक्यमुनि के एक पूर्व जन्म के रूप में ही यहाँ विशेषत: विपश्यी बुद्ध की जीवन-कथा विस्तार से वर्णित की गयी है। हम जानते ही हैं कि सब जातक-कथाएँ भगवान् के पूर्व निवास-प्रतिसंयुक्त धार्मिक कथाएँ ही हैं। उन्हीं का प्राचीन रूप इस सुत्त को समझना चाहिए। 'चुल्ल निद्देस' में इस सुत्त के सम्बन्ध में ऐसी ही बात कही गयी है। विस्तार में भी यह सुत्तन्त अत्यन्त बड़ा है। आचार्य बुद्ध-घोष ने 'सुमङ्गलविलासिनी' में इस सुत्त की 'वण्णना' में कहा है कि सम्पूर्ण त्रैपिटक बुद्ध-वचनों में एक सौ छब्बीस भाणवारों के परिणाम वाला कोई अन्य सूत्र नहीं है, इसलिए इसे 'सूत्रान्त-राजा' ही समझना चाहिए।" तं तेपिटके बुद्ध-वचने अञ्ञं सुत्तं छब्बीस भाणवारसतपरिमाणं नाम नत्थि। सुत्तन्तराजा नाम अयं सुत्तन्तो वेदितब्बो।" इस प्रकार इस सुत्त का महत्त्व स्पष्ट है।

महानिदान-सुत्त (दीघ० २।२)

प्रतीत्यसमुत्पाद का इस सुत्त में विस्तृततम विवरण है। सुत्त के प्रारम्भ में आनन्द यह कहते दिखाई पड़ते हैं "आश्चर्य है भन्ते ! अद्भुत है भन्ते ! कितना गम्भीर है और गम्भीर-सा दीखता भी है यह प्रतीत्यसमुत्पाद, किन्तु मुझे यह साफ-साफ दिखाई पड़ता है।" भगवान् उन्हें समझाते हैं "ऐसा मत कहो आनन्द ! यह प्रतीत्यसमुत्पाद गम्भीर है और गम्भीर-सा दिखाई भी देता है। आनन्द ! इस धर्म के न जानने से ही यह प्रजा उलझे सूत-सी, गाँठें पड़ी रस्सी सी, मूँज-वल्वज सी, अपाय, दुर्गति और पतन को प्राप्त होती है और संसार से पार नहीं हो सकती।" इसके बाद प्रतीत्यसमुत्पाद का विस्तृत विवरण है, उसके विभिन्न १२ अंगों की व्याख्या के साथ। दार्शनिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सुत्त, कुरुओं के कम्मासदम्म नामक कस्बे में उपदिष्ट।

महापरिनिब्बाण-सुत्त (दीघ० २।३)

महापरिनिब्बाण-सुत्त दीघ-निकाय का सम्भवत: सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण सुत्त है। यहाँ हम भगवान् के अन्तिम जीवन का बड़ा मार्मिक और सच्चा चित्र पाते हैं। इस सुत्त में प्रधानत: इतनी घटनाओं की सूचना हमें मिलती है : (१) वज्जियों के विरुद्ध अजातशत्रु के अभियान का इरादा, (२) बुद्धि की अन्तिम यात्रा, (३) अम्बपाली गणिका का भोजन, (४) भगवान् को

कड़ी बीमारी, (५) चुन्द का दिया अन्तिम भोजन, (६) जीवन का अन्तिम समय, (७) स्त्रियों के प्रति भिक्षुओं के कर्त्तव्य, (८) चक्रवर्ती की दाह-क्रिया, (९) सुभद्र की प्रव्रज्या, (१०) अन्तिम उपदेश, (११) भगवान् का परि-निर्वाण, (१२) दाह-क्रिया, (१३) स्तूप-निर्माण। इन सब घटनाओं का संक्षिप्त निदर्शन भी यहाँ नहीं किया जा सकता। केवल एक-दो प्रसंग लेख-बद्ध किये जा सकते हैं। परिनिर्वाण से पूर्व आनन्द ने भगवान् से पूछा, "भन्ते! तथागत के शरीर को हम कैसे करेंगे।" भगवान् ने उत्तर दिया, "आनन्द! तथागत की शरीर-पूजा से तुम बेपर्वाह रहो। तुम तो आनन्द! सच्चे पदार्थ के लिए ही प्रयत्न करना, सच्चे पदार्थ के लिए ही उद्योग करना। सच्चे अर्थ के लिए ही अप्रमादी, उद्योगी, आत्मसंयमी हो विहरना।" आनन्द ने पूछा, "भन्ते! स्त्रियों के साथ हम कैसा वर्ताव करेंगे?" "अ-दर्शन आनन्द!" वास्तव में बुद्ध के अन्तिम जीवन से परिचित होने के लिए और उनके सेवक-शिष्य आनन्द के साथ उनकी इस समय की चारिकाओं के लिए इस सुत्त का पढ़ना अत्यन्त आवश्यक है। महापरिनिर्वाण प्राप्त करने से पूर्व भगवान् ने भिक्षुओं को आश्वासित किया "आनन्द! शायद तुम को ऐसा हो—हमारे शास्ता चले गये, अब हमारे शास्ता नहीं हैं। आनन्द! ऐसा मत समझना। मैंने जो धर्म और विनय तुम्हें उपदेश किये हैं, वे ही मेरे बाद तुम्हारे शास्ता होंगे।" यो वो आनन्द, मया धम्मो च विनयो च देसितो पञ्ञत्तो, सो वो ममच्चयेन सत्था।" अनुकम्पक शास्ता ने अन्तिम बार भिक्षुओं को सम्बोधित किया, "हन्त! भिक्षुओ! अब तुम्हें कहता हूँ—सभी संस्कार (कृत वस्तुएँ) व्ययधर्मा (नाशवान्) हैं, अप्रमाद के साथ (जीवन के लक्ष्य को) सम्पादन करो"—"वयधम्मा संखारा अप्पमादेन सम्पादेथ"—यही तथागत का अन्तिम वचन था। राजगृह से लेकर कुसिनारा तक की बुद्ध-यात्रा का वर्णन, जहाँ-जहाँ भगवान् रुके उनके पूर्ण विवरण के साथ, हमें यहाँ मिलता है। इस प्रकार अम्बलट्ठिका, नालन्दा, पाटलिग्राम, कोटिग्राम, नादिका, वैशाली, भंडगाम, हत्थिगाम और पावा आदि स्थानों का वर्णन आया है। वैशाली गणतन्त्र के सात गुणों की प्रशंसा भी भगवान् ने इस सुत्त में की है।

चीनी भाषा में अनुवाद के रूप में "महापरिनिर्वाण-सूत्र' (संक्षेप में 'निर्वाण-सूत्र') नामक महायान-सूत्र प्राप्त है, जिसका मूल संस्कृत रूप नष्ट हो गया है और नहीं मिलता। यह चीनी महापरिनिर्वाण-सूत्र हमारे पालि 'महापरिनिब्बाण-सुत्त' से भिन्न है।

महासुदस्सन-सुत्त (दीघ० २।४)

भगवान् बुद्ध अपने एक पूर्वजन्म में महासुदर्शन नामक चक्रवर्ती राजा थे। उसी समय की उनकी जीवनी का विस्तृत विवरण है। 'महासुदस्सन जातक' के कथानक से यहाँ समानता और असमानता दोनों ही है।

कुसिनारा (कुशीनगर) में मल्लों के उपवत्तन (उपवर्तन) नामक शालवन में भगवान् शरीर छोड़ने वाले हैं। आनन्द उनसे कहते हैं कि इस छोटे से नगले में भगवान् क्यों परिनिर्वाण प्राप्त करना चाहते हैं, जबकि चम्पा, राजगृह, श्रावस्ती, साकेत, कौशाम्बी और वाराणसी जैसे महानगर इसके लिए अधिक उपयुक्त हैं। इस पर भगवान् उन्हें कुशावती नगर के रूप में कुसिनारा के प्राचीन इतिहास को सुनाते हैं जबकि वह एक महानगर था और महासुदर्शन नामक चक्रवर्ती राजा की राजधानी थी। महासुदर्शन भगवान् बुद्ध के ही एक पूर्वजन्म का नाम था। इस प्रकार 'महासुदस्सन-सुत्त' का भी रूप एक जातक-कथा का सा ही है, उनके एक पूर्वजन्म से सम्बद्ध जबकि वे महासुदर्शन नामक राजा थे।

मूल सर्वास्तिवादियों के 'विनय-वस्तु' से पता चलता है कि उनके 'दीर्घागम' में भी महासुदर्शन राजा की यह कथा विद्यमान थी।

जनवसभ-सुत्त (दीघ० २।५)

बिम्बिसार मरने के बाद जनवसभ नामक यक्ष के रूप में स्वर्गलोक में उत्पन्न हुआ। उसने इस सुत्त में अपने गुरु से बुद्ध-धर्म की प्रशंसा की है। देवेन्द्र शक्र और सनत्कुमार ब्रह्मा[1] भी इस सुत्त में बुद्ध-धर्म की प्रशंसा करते दिखाये गये हैं। इस सुत्त में काशी, कोसल, वज्जि, मल्ल, चेति (चेदि), कुरु, पंचाल, मच्छ (मत्स्य) और शूरसेन जनपदों का उल्लेख है।

महागोविन्द-सुत्त (दीघ० २।६)

भगवान् बुद्ध अपने एक पूर्वजन्म में महागोविन्द नामक ब्राह्मण थे। उसी का यहाँ प्रधानतः वर्णन है। अतः इस अंश को एक जातक ही समझना चाहिए,

---

१. सनत्कुमार (सनंकुमार) ब्रह्मा मज्झिम, संयुत्त और अंगुत्तर निकायों में भी आये हैं। "सतत कुमार" इन ब्रह्मा के रूप में रायस डेविड्स ने यूरोपीय कथा-साहित्य के गेलेहेड (Galahad) से समता देखी है। छान्दोग्य-उपनिषद् और महाभारत के सनत्कुमार से तो उनकी समता असंदिग्ध ही है।

जैसे कि 'महापदान-सुत्त' और 'महासुदस्सन-सुत्त' के सम्बन्ध में भी हम पहले कह चुके हैं। इस सुत्त में भी पूर्व सुत्त (जनवसभ-सुत्त) की तरह देवराज इन्द्र और सनत्कुमार ब्रह्मा द्वारा बुद्ध-धर्म की प्रशंसा करवायी गयी है। बुद्धकालीन भारत के राजनैतिक भूगोल का वर्णन इस सुत्त की एक प्रधान विशेषता है। यहाँ बताया गया है कि अत्यन्त प्राचीन काल में राजा रेणु के ब्राह्मण मंत्री महागोविन्द ने सम्पूर्ण जम्बुद्वीप (भारत) को सात भागों में बाँटा और उनकी अलग-अलग राजधानियाँ स्थापित कर दीं। सात राज्यों के नाम हैं—कलिंग, अस्सक (अश्मक), अवन्ती, सोवीर (सौवीर), विदेह, अंग और काशी। इनकी राजधानियाँ बतायी गयी हैं क्रमशः दन्तपुर, पोतन, माहिष्मती (माहिस्सति), रोरुक, मिथिला, चम्पा और वाराणसी।

महासमय-सुत्त (दीघ० २/७)

इस सुत्त में बुद्ध के दर्शनार्थ अनेक लोकों से देवताओं का आगमन दिखाया गया है। यह तथ्य कपिलवस्तु के समीप महावन में घटित हुआ।

सक्कपञ्ह-सुत्त (दीघ० २/८)

देवराज शक्र (इन्द्र) द्वारा बुद्ध से अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का पूछा जाना। उस समय भगवान् राजगृह नगर की पूर्व दिशा में स्थित 'अम्बसण्डा' (आम्रषण्ड) नामक ब्राह्मण-ग्राम के उत्तर में वेदियक (आधुनिक गिर्यक्) नामक पर्वत पर इन्द्रशाल-गुहा में विहर रहे थे। तभी देवेन्द्र शक्र उनसे मिलने और कुछ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक प्रश्न पूछने वहाँ आया। परन्तु समाधिस्थ ध्यानलीन तथागत तुरारूढ़ हैं? मेरे जैसों के लिए, ऐसा न सोचकर वह कुछ हतोत्साहित हो रहा था। इसलिए उपायपूर्वक उसने पहले अपने परिचारक पञ्चशिख नामक गन्धर्वदेवपुत्र को भगवान् के पास भेजा, जिसने अपनी वीणा पर एक प्रेम-गीत भगवान् के सामने जाकर गाया, जो धर्म की भावना से ही प्रतिसंयुक्त था। भगवान् ने उसके संगीत के सामंजस्यकारी रूप का अभ्यनुमोदन किया और तत्पश्चात् देवेन्द्र शक्र अनुकूल अवसर जान भगवान् से मिला और उनसे अनुमति लेकर उसने उनसे यह पूछा कि इस जगत् में यद्यपि सब प्राणी, देव-मनुष्य, असुर, नाग, गन्धर्व आदि वैर, दण्ड, शत्रुता और हिंसा-भाव को छोड़कर वैर-रहित होकर ही रहना चाहते हैं, फिर भी वे सदा दण्डसहित, शत्रुता और हिंसा-भाव से युक्त होकर ही रहते हैं। ऐसा कौन-सा बन्धन है जिसके कारण वे निर्वैर और मित्रता से न रहकर आपस

में शत्रुता और हिंसा-भाव से ही बर्ताव करते हैं। बुद्ध ने उसे बताया कि यह वन्धन ईर्ष्या और मात्सर्य के कारण ही है। ईर्ष्या और मात्सर्य का क्या निदान है, क्या समुदय है, यह प्रश्न इन्द्र की ओर से आया। भगवान् ने इसके उत्तर में कहा कि प्रिय और अप्रिय के कारण ईर्ष्या और मात्सर्य होते हैं और इनके न होने पर नहीं होते। प्रिय और अप्रिय क्यों ? ये 'छन्द' (चाह, इच्छा) के कारण है। छन्द किसके कारण ? वितर्क के कारण। वितर्क किसके कारण ? प्रपंचसंज्ञा संख्या के कारण। इसके बाद सौमनस्य, दौर्मनस्य, प्रातिमोक्ष, इन्द्रिय-संयम आदि कई बातों को लेकर देवेन्द्र शक्र ने प्रश्न पूछे और भगवान् ने उनके उत्तर दिये। प्रश्नों की संख्या महत्त्वपूर्ण नहीं है। पालि में वे चौदह हैं। अस्तु, भगवान् के उत्तरों से प्रसन्न होकर इन्द्र ने अपने हाथ से धरती को छुआ और तीन बार 'नमो तस्स भगवतो प्ररहतो सम्मा सम्बुद्धस्स' का उद्धार किया।

इन्द्र के द्वारा भगवान् से प्रश्नों के पूछे जाने पर और भगवान् के द्वारा उनके उत्तर दिये जाने का उक्त प्रसंग जो 'सक्कपञ्ह-सुत्त' में वर्णित है, सम्पूर्ण बौद्ध साहित्य में सुविदित और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना जाता है। संयुत्त-निकाय के 'दुतिय हालिद्दिकानि-सुत्त' में आर्य महाकात्यायन ने "वुत्त-मिदं, भन्ते, भगवता सक्कपञ्हे" कहकर इस सुत्त को उद्धृत किया है। इसी प्रकार 'मिलिन्दपञ्ह' में भी 'सक्कपञ्ह ससागमे' के रूप में इसका उल्लेख है। 'महावस्तु' में भी इसे उद्धृत किया गया है और चीनी यात्रियों ने भी इन्द्र द्वारा भगवान् से पूछे गये प्रश्नों और भगवान् के द्वारा दिये गये उनके उत्तरों का उल्लेख किया है। फाह्यान के वर्णनानुसार देवेन्द्र शक्र ने ४२ विषयों पर भगवान् से प्रश्न पूछे जिनके उत्तर भगवान् ने अपनी उँगलियों से एक पाषाण-शिला पर लिखे। यूआन्-चुआङ ने भी ऐसी ही बात कही है और जब दोनों यात्रियों ने भगवान् के द्वारा दिये गये उत्तरों को एक शिला पर खुदे हुए देखा, ऐसे उनके वर्णन हैं। मथुरा में और पाकिस्तान राज्य में 'सीकरी'-स्तूप में मूर्तिकार के रूप में इन्द्र को भगवान् से मिलते और प्रश्न पूछते दिखाया गया है। यूआन्-चुआङ ने 'इन्द्रशाल-गुहा' का नामोल्लेख 'इन्द्रशैल-गुहा' के रूप में किया है। इस प्रकार 'सक्कपञ्हसुत्त' की विषय-वस्तु सम्पूर्ण बौद्ध साहित्य में सुविदित है और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मानी जाती है, जैसा कि वास्तव में वह है भी, क्योंकि यहाँ मानवता का एक महान् आधार-भूत प्रश्न ही उठाया गया है और भगवान् ने इसका सहेतुक समाधान किया कि मानव जाति प्रेम और सद्भाव से रहना चाहती हुई भी ऐसा क्यों नहीं

कर सकती ? और सुख और शान्ति के मार्ग को दिखाया है जिसे निष्प्रपंच जीवन से ही प्राप्त किया जा सकता है, जिनका मणेन्द्र ही बुद्ध-धर्म है। हाँ, इन्द्र ने भगवान् से यह भी पूछा था कि सभी श्रमण और ब्राह्मण एक ही सिद्धान्त के क्यों नहीं हैं ? भगवान् ने इसे अनिवार्य मानते हुए उत्तर दिया; "संसार के सभी लोगों के अनेक और भिन्न-भिन्न धातु के वने रहने के कारण जो जीव जिस धातु का वना रहता है, उसी को हठपूर्वक, दृढ़तापूर्वक ग्रहण कर लेता है, यही सच्च है और दूसरे सभी झूठ।" यदि इसे हम समझ लें तो संसार के तमाम धार्मिक विवाद उसी समय शान्त हो जाते हैं।

महासतिपट्ठान-सुत्त (दीघ० २/९)

इस सुत्त में चार स्मृति-प्रस्थानों यथा कायानुपश्यना, वेदनानुपश्यना, चित्तानुपश्यना और धर्मानुपश्यना का विशद् विवरण दिया गया है। ये चार स्मृति-प्रस्थान "सत्वों की विशुद्धि के लिए, शोक—परिदेवों के समतिक्रम के लिए, दुःख और दौर्मनस्य के अस्तंगमन के लिए न्याय, एवं सत्य, की प्राप्ति के लिए और निर्वाण के साक्षात्कार के लिए यह एकायन (अकेला, एकान्तिक) मार्ग है, यह जो कि चार "स्मृति-प्रस्थान" ऐसा भगवान् ने यहाँ कहा है। इस सुत्त का उपदेश कुरु जनपद के कम्मासदम्म नामक कस्बे में दिया गया। दार्शनिक तथा साधनात्मक दृष्टि से इस सुत्त का बड़ा महत्त्व है। यह सुत्त दो भागों में मज्झिम-निकाय के दो सुत्तों में भी आया है, सतिपट्ठान-सुत्त के रूप में और सच्चविभंग-सुत्त के रूप में भी।

पायासि-राजञ्ञ-सुत्त (दीघ० २/१०)

पायासि राजन्य के साथ भगवान् बुद्ध के शिष्य कुमार काश्यप के संवाद का वर्णन है। पायासि राजन्य परलोक में विश्वास नहीं करता। वह यह मानता है कि मरने के साथ जीवन उच्छिन्न हो जाता है। उसका तर्क स्पष्ट है। (१) मरे हुओं को किसी ने लौट कर आते नहीं देखा। (२) धर्मात्मा आस्तिकों को भी मरने की इच्छा नहीं होती। (३) जीव के निकल जाने पर मृत शरीर का न तो वजन ही कम होता है और न जीव को कहीं से निकलते जाते देखा जाता है। भौतिकवादी पायासि का कुमार काश्यप ने समाधान करने का प्रयत्न किया है। पायासि के मतानुसार "यह भी नहीं है, परलोक भी नहीं है। जीव मरने के वाद फिर नहीं पैदा होते और अच्छे-वुरे कर्मों का कोई फल भी नहीं होता।" इस मत के अनुसार ब्रह्मचर्य का अभ्यास ही व्यर्थ

है। बुद्ध का मन्तव्य अनात्मवाद होते हुए भी कर्म-फल को और उसके आधार पर पुनर्जन्म को स्वीकार करता है। वह पुरुषार्थवादी है और मनुष्य को सच्चा आश्वासन देने वाला है। पायासि के भौतिकवाद से बुद्ध-मत सर्वथा भिन्न है। कुमार काश्यप और पायासि राजन्य का यह संलाप सेतव्या के शिंशपा-वन में हुआ। कुमार काश्यप ने उपमाओं के द्वारा जिस ढङ्ग से बुद्ध के मन्तव्य को एक भौतिकवादी के प्रति प्रकाशित किया है वह लक्षणिक ही है। ऐसा लगता है कि इस सुत्त से, मिलिन्दपञ्हकार ने भी स्पष्ट प्रेरणा ली।

पाथिक-वग्ग

पाथिक-सुत्त (दीघ० ३/१)

सुनक्षत्र लिच्छविपुत्र के बौद्ध धर्म-त्याग की बात फिर इस सुत्त में आयी है। वह इसलिए रुष्ट होकर भिक्षु-संघ को छोड़कर चला गया था कि भगवान् ने उसे ऋद्धिबल नहीं दिखाया। "सुनक्खत्त ! क्या मैंने तुझसे कभी कहा था—सुनक्खत्त ! आ ! मेरे धर्म को स्वीकार कर ! मैं तुझे अलौकिक ऋद्धिबल दिखाऊँगा ? "नहीं भन्ते !" "मूर्ख ! यह तेरा ही अपराध है।" ईश्वर के जगत्कर्तृत्व का भी इस सुत्त में खण्डन किया गया है।

उदुम्बरिक-सीहनाद-सुत्त (दीघ० ३/२)

राजगृह के समीप उदुम्बरिका नामक परिव्राजकाराम में भगवान् ने यह सिंहानाद किया, अतः इसका यह नाम है। यह सिंहानाद भगवान् ने न्यग्रोध नामक परिव्राजक के प्रति किया। यहाँ भगवान् ने झूठी और सच्ची तपस्याओं के सम्बन्ध में उपदेश दिया है और बुद्ध-धर्म की साधना से इसी जन्म में शान्ति की प्राप्ति को दिखाया है। यह सुत्त संक्षेप में 'उदुम्बरिक-सुत्त' के नाम से विदित है। आचार्य बुद्धघोष ने 'सुमङ्गलविलासिनी' में इसका इसी नाम से उल्लेख किया है।

चक्कवत्ति–सीहनाद–सुत्त (दीघ० ३/३)

स्वावलम्बन, व्रत-पालन एवं चार स्मृति-प्रस्थानों के अभ्यास का उपदेश भिक्षुओं के कर्त्तव्यों सम्बन्धी उपदेश भी।

अग्गञ्ञ–सुत्त (दीघ० ३/४)

इस सुत्त में वर्ण-व्यवस्था का खण्डन किया गया है। जन्म की अपेक्षा यहाँ कर्म को ही प्रधान माना गया है। मनुष्य और उसके समाज के विकास का

भी वर्णन है। वैशाली के पूर्वाराम में यह उपदेश वाशिष्ठ और भारद्वाज नामक दो ब्राह्मणों को दिया गया।

सम्पसादनिय–सुत्त (दीघ० ३/५)

नालन्दा के प्रावारिक आम्रवन में सारिपुत्र ने कहा कि परम ज्ञान में बुद्ध के समान आज तक कोई नहीं हुआ, न इस समय है और न आगे होगा। परन्तु बुद्ध अत्यन्त विनम्र और निरहंकार हैं। वे सारिपुत्र को ताड़ना देते हैं कि उन्हें न तो अतीत के बुद्धों का ज्ञान है, न अनागत बुद्धों का और न वे वर्तमान बुद्ध के बारे में ही पूरी तरह जानते हैं। फिर बुद्ध के बारे में ऐसा परम उदार सिंहनाद क्यों ? सारिपुत्र द्वारा बुद्ध में संप्रसाद (श्रद्धा) प्रकट करने के कारण इस सुत्त का 'सम्पसादनिय' नाम पड़ा है। वैसे यह सदा सबको सम्प्रसादित करने वाला है।

पासादिक-सुत्त (दीघ० ३।६)

निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र (तीर्थंकर भगवान् महावीर) की पावा में हुई मृत्यु की इस सुत्त में सूचना है। बुद्ध के उपदिष्ट धर्म, अव्याकृत और व्याकृत बातें, पूर्वान्त और अपरान्त दर्शन, चार स्मृति-प्रस्थान आदि विषय जो पूर्व के सुत्तों में आ चुके हैं, यहाँ फिर विवृत किये गये हैं। साथ ही यहाँ यह भी बताया गया है कि बुद्ध-धर्म चित्त की शुद्धि के लिए है और यही उसका प्रमुख उद्देश्य और उपयोग है। प्रसादकारी उपदेश !

लक्खण-सुत्त (दीघ० ३।७)

इस सुत्त में ३२ महापुरुष-लक्षणों[1] का विवरण है। साथ ही किस-किस कुशल-मूल के परिणामस्वरूप, किस-किस शुभ कर्म के विपाक से किस-किस

---

१. ऐसा लगता है कि महापुरुष के बत्तीस लक्षणों सम्बन्धी धारणा बुद्धपूर्व काल से प्रचलित थी। कई ब्राह्मणों को हम बुद्ध की परीक्षा के लिए उनमें ३२ महापुरुष-लक्षणों को ढूंढ़ते देखते हैं और बुद्ध की प्रशंसा के प्रसंग में भी वे उनके ३२ महापुरुष-लक्षणों का उल्लेख करते हैं। अम्बट्ठ-सुत्त (दीघ० १।३) तथा ब्रह्मायु-सुत्त (मज्झिम० २।५।१) में ब्राह्मण कहते दिखाये गये हैं, "हमारे मंत्रों में ३२ महापुरुष-लक्षण आये हैं।" यह ध्यान देने योग्य है कि हिन्दी के आदि-काव्य 'पृथ्वीराजरासो' में पृथ्वीराज के बाल्यकाल का वर्णन करते हुए उसके महापुरुष-सम्बन्धी 'बतिस लखिन' का उल्लेख किया गया है।

शुभ लक्षण की प्राप्ति होती है, यह भी दिखाया गया है। इस प्रकार नैतिक उद्देश्य स्पष्ट है। 'ललित-विस्तर' और 'महावस्तु' आदि बौद्ध संस्कृत-ग्रन्थों में भी बुद्ध के बत्तीस महापुरुष-लक्षणों को उनके पूर्वकृत शुभ कर्मों से जोड़ा गया है। 'लक्खणसुत्त' श्रावस्ती के जेतवनाराम में उपदिष्ट किया गया। बुद्ध के बत्तीस महापुरुष-लक्षणों का निर्देश पालि-तिपिटक के अन्य कई अंशों में भी पाया जाता है।

सिंगालोवाद-सुत्त[1] (दीघ० ३।८)

सिंगाल (शृगाल) नामक गृहपति-पुत्र को भगवान् द्वारा पूरे गृहस्थ-धर्म का उपदेश। चार पाप के स्थान, छह सम्पत्ति-नाश के कारण, मित्र और अमित्र की पहचान तथा छह दिशाओं की पूजा करने का बौद्ध विधान आदि बातों का विवरण है। आचार्य बुद्धघोष ने कहा है कि गृहस्थ-सम्बन्धी कर्त्तव्यों में कोई ऐसा नहीं है जो यहाँ छोड़ दिया गया हो। यह सुत्त बौद्ध-धर्म में गृहस्थ धर्म के स्वरूप और महत्त्व को समझने के लिए अत्यन्त आवश्यक है। अशोक ने इस सुत्त की भावना को अपने अभिलेखों में बार-बार ग्रहण किया है। इस सुत्त का उपदेश राजगृह के वेणुवन कलन्दक निवाप में दिया गया।

'महाकर्म विभङ्ग' नामक महायान-सूत्र में 'सिंगालोवाद-सुत्त को 'शिवालक सूत्र' के नाम से पुकारा गया है।

आटानाटिय-सुत्त (दीघ० ३।९)

बौद्ध रक्षा-मंत्र। 'आटानाटा' उत्तरकुरु में एक नगर है। उससे सम्बद्ध होने के कारण इस सुत्त का यह नाम पड़ा है। भगवान् गृध्रकूट पर्वत पर विहर रहे हैं। चार महाराज देव (वैश्रवण, धृतराष्ट्र; विरुढक और विरुपाक्ष) अन्य अनेक देव-गणों के सहित भगवान् के पास आते हैं। उनके प्रतिनिधि-स्वरूप वैश्रवण (कुबेर) महाराज पहले छह पूर्व बुद्धों की स्तुति करता है और उसके बाद अङ्गिरस (शाक्यमुनि) बुद्ध की। ये स्तुतियाँ ही बुद्ध के सब शिष्यों के लिए यक्ष-भूत-प्रेतादि से रक्षा के लिए मंत्र जैसी हैं। यक्ष-भूत-प्रेत के ही नाम हैं। इनसे बचाने के लिए ही ये बुद्ध-स्तुतियाँ हैं। अतः इन्हें बौद्ध

---

१. 'सिङ्गालोवाद-सुत्त' भी। आचार्य बुद्धघोष ने 'सुमङ्गलविलासिनी' में इसे संक्षिप्त रूप में 'सिगालक-सुत्त' कहकर पुकारा है। 'सिगालक-सुत्त' भी यह कहलाता है।

रक्षामंत्री भी कहा जा सकता है। बौद्धधर्म में शील ही, काया, वाणी और मन का संयम ही, त्रिशरण ही, सबसे बड़ी रक्षा है, सबसे बड़ा त्राण है। यहाँ केवल बुद्धानुस्मृति के रूप में रक्षा-मंत्र दिया गया है, अतः असंगत कुछ नहीं है। 'आटानाटिय-सुत्त' का 'आटानाटिय-परित्त' के रूप में 'मिलिन्दपञ्ह' में उल्लेख है, अतः इसकी प्राचीनता असन्दिग्ध है। 'परित्त' में जिन सुत्तों का पाठ किया जाता है; उनमें एक 'आटानाटिय-सुत्त' भी है।[1] इस सुत्त का एक खण्डित संस्कृत रूप मध्य-एशिया में 'आटानादिय-सूत्र' या 'आटानाटिक सूत्र' नाम से मिला है, जहाँ यह सर्वास्तिवादी साहित्य के अन्तर्गत 'मध्यमागम' के एक अंग के रूप में है। इस प्रकार भी इसकी प्राचीनता और महत्त्व स्पष्ट हैं। परन्तु कुछ विद्वानों का विचार है कि यह सुत्त बुद्ध की शिक्षाओं से मेल नहीं खाता और वाद का परिवर्द्धन ही जान पड़ता है।[2] मुझे यह बात अधिक नहीं जँचती। किसी भी रूप में हो-बुद्ध को याद करना या उनकी वन्दना करना सदा ही मङ्गलकारी है। और इसे मंत्र कहने में क्या हर्ज है?

संगीति—परियाय-सुत्त (दीघ० ३।१०)

एक संख्या से लेकर दस संख्या तक के वर्गीकरणों में बुद्ध-मन्तव्यों की सूची। धर्म सेनापति सारिपुत्र ने यह उपदेश भगवान् की सन्निधि में दिया। पावा में मल्लों के हाल में बने संस्थागार में, बहुत रात बीत जाने पर। संक्षिप्त रूप में 'संगीति-सुत्त' के नाम से विदित और इसी रूप में 'सुमंगल-विलासिनी' में निर्दिष्ट। इस सुत्त के आरम्भ में यह सूचना दी गयी है कि अभी-अभी निर्गन्थ ज्ञातपुत्र (भगवान् महावीर) की पावा में मृत्यु हो चुकी है।

दसुत्तर—सुत्त (दीघ० ३।११)

एक से लेकर दस तक के (दशोत्तर) धर्मों में कौन-कौन से उपकारक, भावनीय, परिज्ञेय, महातव्य, हानभागीय (यतनकारक), विशेषभागीय, दुष्प्रति-वेध्य, उत्पादनीय, अभिज्ञेय या साक्षात्करणीय हैं, इसका विवरण। धर्म-सेना-पति से सारिपुत्र द्वारा उपदिष्ट, चम्पा में गग्गरा पोक्खरणी (गर्गरा पुष्करिणी) के तीर पर, भगवान् की सन्निधि में।

---

१. देखिये आगे इसी अध्याय में 'खुद्दक-पाठ' के अन्तर्गत 'परित्त' या 'परित्तपाठ' पाठ का विवेचन।

२. केवल मज्झिम-पण्णासक अर्थात् सुत्त ५१-१०० पहले देवनागरी लिपि में दो भागों में बम्बई विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित किये गये थे,

अ—मज्झिम-निकाय[1]

मज्झिम-निकाय में मध्यम आकार के सुत्तों का संग्रह है। इसलिए इसका यह नाम पड़ा है। सुत्त-पिटक में इस निकाय का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। 'पपञ्चसूदनी' में इसे 'मज्झिम संगीति' भी कहा गया है। महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने इस निकाय को 'बुद्धवचनामृत' कहा है, जो इसमें निहित बुद्ध-वचनों की सर्वविध महत्ता को देखते हुए बिलकुल ठीक ही है। फ्रैंक जैसे सन्देहवादी विद्वान् को भी मज्झिम-निकाय की मौलिक सुगन्ध के सामने नत-मस्तक होना पड़ा है और उन्होंने भी यह स्वीकार किया है कि मज्झिम-निकाय में हम निश्चय ही धर्म-स्वामी के कुछ महत्त्वपूर्ण उद्‌गार पाते हैं। जर्मन विद्वान् डॉ० ढालके ने मुख्यतः इसी एक ग्रन्थ के आधार पर अपने गम्भीर बौद्ध धर्म सम्बन्धी निबन्धों की रचना की है। मज्झिम-निकाय का वर्गीकरण १५ वर्गों में है, जिनमें कुल मिलाकर १५२ सुत्त हैं। "दियड्ढ-सुत्तन्ता द्वे च सुत्तानि"। हम इस वर्गीकरण की रूपरेखा पहले दिखा चुके हैं। अतः यहाँ अति संक्षिप्त रूप में केवल मज्झिम-निकाय के सुत्तों के विषय की ओर इंगित मात्र करेंगे।

(१९३७-३८), प्रथम भाग, सुत्त ५१-७०; भाग द्वितीय, सुत्त ७१-१०० (डॉ० भागवत द्वारा संपादित)। अब भिक्षु जगदीश काश्यप के प्रधान सम्पादकत्व में मज्झिम-निकाय का पूरा देवनागरी संस्करण तीन जिल्दों में निकला है, जिसे बिहार राज्य के पालि प्रकाशन मण्डल ने सन् १९५८ में प्रकाशित किया है। पहली जिल्द में मूल पण्णासक है, अर्थात् सुत्त १-५०, दूसरी में मज्झिम-पण्णासक, अर्थात् सुत्त ५१-१०० और तीसरी में उपरिपण्णासक, अर्थात् सुत्त १०१-१५२। हिन्दी में महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने इसे अनुवादित किया है। यह अनुवाद महाबोधि सभा, सारनाथ, द्वारा सन् १९३३ में प्रकाशित किया गया है।

१. सद्धम्मसङ्गहो, पृष्ठ ७ (देवनागरी संस्करण)। मिलाइये "मूलपरियाय-सुत्तादीनि दियड्ढसतं द्वे च।" खुद्दकपाठट्ठकथा (सरणत्तयवण्णना)।

(१) मूल-परियाय-वग्ग

१. मूल-परियाय-सुत्त—बुद्ध के सम्पूर्ण धर्म का मूल नामक उपदेश—न मैं, न मेरा, न मेरी आत्मा—अनात्मवाद-अनासक्तिवाद। यह उल्लेखनीय है कि श्रोता भिक्षुओं ने इस उपदेश का अभिनन्दन नहीं किया। अधिक दुरुह होने के कारण वे इसे समझ नहीं सके। अट्ठकथा में उल्लेख है कि बुद्ध ने इस पर उन्हें 'मूल परियाय जातक' का उपदेश दिया।

२. सब्बासव-सुत्त—"भिक्षुओ! सारे चित्त-मलों के संवर (रोक) नामक उपदेश को मैं तुम्हें देता हूँ, ध्यान से सुनो।"

३. धम्मदायाद-सुत्त—"भिक्षुओ! तुम मेरे धर्म के वारिस बनो, धनादि भोगों (आमिष) के दायाद नहीं। भिक्षुओ! तुम पर मेरी अनुकम्पा है।"

४. भयभेरव-सुत्त—वन-खंड और सूनी कुटियों में रहने वाले अशुद्ध कायिक कर्म संयुक्त भिक्षुओं को कभी-कभी भय हो उठता है। इसे कैसे दूर किया जाय, इसका जानुस्सोंणि नामक ब्राह्मण को भगवान् का उपदेश है, स्वकीय पूर्व अनुभव के आधार पर। "ब्राह्मण! शायद तेरे मन में ऐसा हो—आज भी श्रमण गौतम अ-वीतराग, अ-वीत-द्वेष, अ-वीत-मोह है, इसीलिये अरण्य, वन-खंड तथा सूनी कुटिया का सेवन करता है!" ब्राह्मण! मैं दो बातों के लिए आज भी अरण्य सेवन करता हूँ। (१) इसी शरीर में अपने सुख-विहार के विचार से, (२) आगे आने वाली जनता पर अनुकम्पा करने के लिए, ताकि मेरा अनुगमन कर वह भी सुफल की भागी हों।"

५. अनंगण-सुत्त—राग, द्वेष और मोह से रहित (अनंगण) और उनसे युक्त व्यक्तियों के चार प्रकार—सारिपुत्र, मौद्गल्यायन और अन्य भिक्षुओं के धार्मिक संलाप।

६. आकखेय्य-सुत्त—"भिक्षुओ! शील-सम्पन्न होकर विहरो, प्रातिमोक्ष रूपी संयम से संयमित होकर विहरो.. ध्यान और विपश्यना से युक्त हो सूने घरों की शरण लो।"

७. वत्थ-सुत्त—मैले वस्त्र पर रंग नहीं चढ़ता। किन्तु साफ वस्त्र पर रंग चढ़ जाता है। चित्त के निर्मल होने पर सुगति भी अनिवार्य है। वह नदियों के स्नानादि से प्राप्त नहीं होती। "ब्राह्मण! तू यदि झूठ नहीं बोलता, प्राणियों को नहीं मारता, बिना दिया लेता नहीं, तो गया जाकर क्या करेगा, क्षुद्र जलाशय भी तेरे लिए गया है।"

८. सल्लेख-सुत्त—तप-विहार का उपदेश ! महाचुन्द को उपदेश दिया है। "चुन्द ! जो स्वयं गिरा हुआ है, वह दूसरे गिरे हुए को उठायेगा, यह सम्भव नहीं है। किन्तु चुन्द ! जो स्वयं गिरा हुआ नहीं है, वह दूसरे गिरे हुए को उठायेगा, यह सम्भव है।"

९. सम्मादिट्ठि-सुत्त—सम्यक् दृष्टि पर धर्मसेनापति सारिपुत्र का प्रवचन।

१०. सतिपट्ठान्-सुत्त—चार स्मृति-प्रस्थानों का उपदेश। यही विषय दीघ-निकाय के महासपिट्ठान-सुत्त का भी है। केवल कुछ अंश वहाँ अधिक है।

(२) सीहनाद-वग्ग

११. चूल-सीहनाद-सुत्त—चार बातों में बौद्ध भिक्षुओं की अन्य धर्मावलम्बियों से विशेषता।

१२. महा-सीहनाद-सुत्त—सुनक्खत्त लिच्छविपुत्त यह कहकर भिक्षु-संघ को छोड़कर चला गया है "श्रमण गौतम के पास आर्य ज्ञान-दर्शन की पराकाष्ठता नहीं है, उत्तर-मनुष्य धर्म नहीं है। वह केवल अपने ही चिन्तन से सोचे, अपनी प्रतिभा से जाने, तर्क से प्राप्त, धर्म का उपदेश करते हैं।" इसी प्रसंग को लेकर भगवान् बुद्ध और धर्मसेनापति सारिपुत्र में संलाप। तथागत के दस बल तथा चार वैशारद्यों का वर्णन। इसी प्रसंग में भगवान् ने अपनी पूर्व तपस्याओं का वर्णन भी किया है, "सारिपुत्र ! यह मेरा रुक्षाचार था। पपड़ी पड़े अनेक वर्ष के मैल को शरीर में संचित किये रहता था...भीषण वन-खंड में प्रवेश कर विहरता था—मुर्दे की हड्डियों का सिरहाना बना श्मशान में शयन करता था—सारिपुत्र ! जब मैं पेट के चमड़े को पकड़ता तो पीठ के काँटे को ही पकड़ लेता था, पीठ के काँटे को पकड़ते समय पेट के चमड़े को ही पकड़ लेता था—इस दुष्कर तपस्या से भी मैं उत्तर मनुष्य-धर्म नहीं पा सका...आज सारिपुत्र ! मेरी आयु अस्सी को पहुँच गयी है...सारिपुत्र ! अशन, पान, शयन को छोड़, मल-मूत्र त्याग के समय को छोड़, तथागत की धर्म-देशना सदा अखंड ही चलती रहेगी।" बुद्ध-जीवनी की दृष्टि से यह सुत्त अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसका उपदेश परिनिर्वाण-संवत्सर (बुद्ध भगवान् के जीवन के अन्तिम वर्ष) में दिया गया, ऐसी सूचना बुद्ध घोषाचार्य ने 'पपञ्चसूदनी' में इस सुत्त की 'वण्णना' में दी है।

१३. महादुक्खक्खन्ध-सुत्त—दुःख, उसका हेतु और निरोध।

१४. चूलदुक्खक्खन्ध-सुत्त—उपर्युक्त के समान ही विषय ।

१५. अनुमान-सुत्त—महामौद्गल्यायन का प्रवचन । सावधानीपूर्वक आत्म-प्रत्यवेक्षण करते हुए सदाचारी जीवन बिताने का उपदेश । आचार्य बुद्ध-घोष ने अपनी व्याख्या में कहा है कि 'पोराणो' को यह सुत्त 'भिक्खु पातिमोक्ख' के नाम से विदित था । "इदं हि सुत्तं', भिक्खुपातिमोक्खं नामांति । पोराणा वदन्ति" । आगे उन्होंने कहा है कि प्रत्येक भिक्षु को दिन में तीन बार आत्मप्रत्यवेक्षण करना चाहिए । 'इदं दिवसस्स तिक्खत्तुं पच्चवेक्खितब्बं ।"

१६. चेतोखिल-सुत्त—चित्त के पाँच काँटों का भगवान् के द्वारा वर्णन ।

१७. वनपत्थ-सुत्त—वनप्रस्थ या ग्राम, या निगम, या नगर, कहीं भी रहते हुए स्मृति की साधना करनी चाहिए ।

१८. मधुपिंडिक-सुत्त—भगवान् के द्वारा धर्म की रूपरेखा का वर्णन । महा-कच्चान (महाकात्यायन) द्वारा उसकी विस्तार से व्याख्या । मधुपिण्ड (लड्डू) के समान मधुर उपदेश ।

१९. द्वेधावितक्क-सुत्त—भगवान् द्वारा अपने पूर्व अनुभवों का वर्णन । चित्त-मलों का शमन, ध्यान आर्य अष्टांगिक मार्ग, अभिसम्बोधि-प्राप्ति का वर्णन ।

२०. वितक्क-सण्ठान-सुत्त—राग, द्वेष, मोह, सम्बन्धी बुरे वितर्कों को रोकने के पाँच उपाय ।

(३) ओपम्म-वग्ग

२१. ककचूपम-सुत्त—आरे (ककच) से चीरे जाने पर भी जो चित्त को विना दूषित किये शान्त न रह सके, वह बुद्ध का शिष्य नहीं है ।

२२. अलगद्दूपम-सुत्त—धर्म के विषय में मिथ्या धारणाएँ रखना सर्प (अलगद्द) को पूँछ से पकड़ना है ।

२३. वम्मिक-सुत्त—नर-देह की असारता एवं निर्वाण-प्राप्ति की बाधाएँ । कुछ पहेलीमय शब्दों की बुद्ध के मन्तव्य के अनुसार व्याख्या ।

२४. रथनीत-सुत्त—ब्रह्मचर्य के उद्देश्य और विशुद्धियाँ ।

२५. निवाप-सुत्त—मार के जालों से कैसे बचें ?

२६. अरियपरियेसन-सुत्त—(या पासरासि-सुत्त)—बुद्ध के द्वारा अपने महाभि-निष्क्रमण एवं अभिसम्बोधि-प्राप्ति का वर्णन । धर्म-चक्र-प्रवर्तन का भी वर्णन । बुद्ध की आर्य-पर्येषणा । इस सुत्त में ऐन्द्रिय विषयों को पाश

कहा गया है। इसलिए अट्ठकथा में इसका नाम 'पासरासि-सुत्त' दिया गया है। श्री नालन्दा संस्करण में यही स्वीकृत पाठ।

२७. चूलहत्थिपदोपम-सुत्त—सत्य-प्राप्त मुनि के आश्चर्य।

२८. महाहत्थिपदोपम-सुत्त—उपादान-स्कन्धों से विमुक्ति, प्रतीत्यसमुत्पाद। सभी कुशल धर्म चार आर्य सत्यों में निहित हैं।

२९. महासारोपम-सुत्त—देवदत्त के संघ को छोड़ जाने के वाद भगवान् का भिक्षु-जीवन के उद्देश्यों पर उपदेश।

३०. चूलसारोपम-सुत्त—पूर्वोक्त के समान ही। इस सुत्त में छह तैर्थिकों या तत्कालीन अन्य मतावलम्वी आचार्यों का भी वर्णन है।

(४) महायमक-वग्ग

३१. चूलगोसिंग-सुत्त—अनुरुद्ध, किंविल और नन्दिय की प्रव्रज्या एवं सिद्धि-प्राप्ति।

३२. महा गोसिंग-सुत्त—गोसिंग शालवन किस प्रकार के भिक्षु से सुशोभित होगा ?

३३. महा-गोपालक-सुत्त—भिक्षु के लिए आवश्यक ग्यारह वातें।

३४. चूल-गोपालक-सुत्त—अच्छे और बुरे शास्ताओं के अनुयायियों की दशा।

३५. चूल-सच्चक-सुत्त—सच्चक नामक आजीवक को पञ्चस्कन्ध और अना-त्मवाद का उपदेश।

३६. महा-सच्चक-सुत्त—भगवान् बुद्ध का अभिसंवोधि और समाधि पर प्रवचन। काया की साधना के ऊपर मन की साधना की स्थापना।

३७. चूल-तण्हासंखय-सुत्त—तृष्णा का क्षय कैसे हो ?

३८. महा-तण्हासंखय-सुत्त—अनात्मवाद का तृष्णा-क्षय के रूप में उपदेश। धर्म में भी अनासक्ति आवश्यक।

३९. महा-अस्सपुर-सुत्त—
४०. चूल-अस्सपुर-सुत्त— } भिक्षुओं के कर्त्तव्यों का वर्णन।

(५) चूल-यमक-वग्ग

४१. सालेय्यक-सुत्त—कुछ प्राणी क्यों सुगति और कुछ क्यों दुर्गति प्राप्त करते हैं ?

४२. वेरंजक-सुत्त—उपर्युक्त के समान विषय। वेरंजा के ब्राह्मणों को उपदिष्ट।

४३. महा-वेदल्ल-सुत्त—संज्ञा, शील, समाधि, प्रज्ञा, आयु, उष्मा और विज्ञान पर धर्मसेनापति सारिपुत्र का प्रवचन।

४४. चूल-बेदल्ल-सुत्त—आर्य अष्टांगिक मार्ग, संज्ञावेदयित-निरोध, स्पर्श, वेदना तथा अनुशयों पर भिक्षुणी धम्मदिन्ना का प्रवचन ।

४५. चूल-धम्मसमादान-सुत्त—धर्मानुयायियों के चार प्रकार ।

४६. महा-धम्मसमादान-सुत्त—उपर्युक्त के समान ही ।

४७. वीमंसक-सुत्त—ठीक विमर्श कैसे हो ?

४८. कोसम्बिय-सुत्त—कौशाम्बी के भिक्षुओं को मेल-जोल के लिए उपयोगी छह बातों का उपदेश ।

४९. ब्रह्मनिमन्तनिक-सुत्त—ब्रह्मा को सृष्टिकर्ता मानना ठीक नहीं ।

५०. मार-तज्जनिय-सुत्त—महामौद्गल्यायन का मार को तर्जन ।

(६) गहपति-वग्ग

५१. कन्दरक-सुत्त—आत्म-निर्यातन के विरुद्ध प्रवचन । मनुष्य वही श्रेष्ठ है, जो न अपने को पीड़ा पहुँचाये, न दूसरों को । कन्दरक नामक परिव्राजक एक अन्य साथी के साथ भगवान् के पास पहुँचा और उन दोनों ने भगवान् से बातचीत की । इस सुत्त में भगबान् यह स्वीकार करते दिखाई पड़ते हैं कि मनुष्य 'गहन' हैं और (उनकी अपेक्षा) पशु सरल हैं । "गहनं यदिदं मनुस्सा, उत्तानकं यदिदं पसवो ।" इस प्रकार मनुष्य पशुओं से अधिक कपटी है, जटिल है, छली और कुटिल है और उसको समझना कठिन है । उसको विश्रित करना भी इसलिए कठिनतर है । बुद्ध-शासन मनुष्य में ऋजुता लाने के लिए ही है ।

५२. अट्ठक-नागर-सुत्त—ग्यारह अमृत-द्वार (ध्यान) । आनन्द निर्वाण-मार्ग पर स्थित ।

५३. सेख-सुत्त—शैक्ष्य जनों के कर्त्तव्यों पर आनन्द का प्रवचन ।

५४. पोतलिय-सुत्त—आर्य-मार्ग क्या है ? सच्चा संन्यास क्या है ? पोतलिय नामक गृहपति के साथ बुद्ध का संलाप ।

५५. जीवक-सुत्त—मांस-भक्षण पर बुद्ध-मत । जीवक के साथ बुद्ध का संलाप ।

५६. उपालि-सुत्त—दीर्घ तपस्वी निर्ग्रन्थ और बाद में उपालि गृहपति के साथ भगवान् का संवाद । निगण्ठ नाटपुत्त के चातुर्याम-संवर का उल्लेख है । "निगण्ठो नाटपुत्तो चातुयामसंवरसंवुतो ।"

५७. कुक्कुरवतिक-सुत्त—निरर्थक व्रत । अचेल सेनिय 'कुक्कुरवतिक' का अर्थात् कुत्ते की तरह रहने का उसने व्रत लिया हुआ था । इसी प्रकार

पूर्ण कोलिय-पुत्र गोव्रतिक था। इन व्रतों से शुद्धि की प्राप्ति की आशा करना व्यर्थ है। कर्म पर भी प्रवचन।

५८. अभयराजकुमार-सुत्त—उपकारी अप्रिय सत्य को भी बोलना कर्त्तव्य है। राजगृह के वेणुवन में इस सुत्त का उपदेश भगवान् ने अभयराज कुमार को दिया।

५९. बहुवेदनिय-सुत्त—वेदनाओं का वर्गीकरण।

६०. अपण्णक-सुत्त—द्विविधा-रहित, सच्चे, निर्दोष (अपर्णक) धर्म का उपदेश।

(७) भिक्खु-वग्ग

६१. अम्बलट्ठिक-राहुलोवाद-सुत्त—"राहुल! तुझे सीखना चाहिए कि मैं प्रत्यवेक्षण कर काय-कर्म, वचन-कर्म, मन-कर्म का परिशोधन करूंगा।" अम्बलट्ठिका (वेणुवन के किनारे वास-स्थान) में राहुल के प्रति भगवान् का उपदेश। इस सुत्त के आरम्भ में बुद्ध ने एक लोटे में थोड़ा-सा जल लिया और उसे धरती पर गिराकर राहुल से प्रश्नोत्तर करते हुए उसे समझाया कि जिन्हें जानबूझ कर झूठ बोलने में लज्जा नहीं, उनका श्रमणपन डाली गयी बूंद के समान थोड़ा है, खाली लोटे के समान रिक्त और तुच्छ है। अशोक ने इस सूत्र पर मनन करने की प्रेरणा अपने प्रसिद्ध भाब्रू-अभिलेख में दी है।

६२. महाराहुलोवाद-सुत्त—रूपादि में अनित्य भावना, दुःख भावना और अनात्म भावना करनी चाहिए, ऐसा राहुल को उपदेश प्रधानतः आनापान सति (प्राणायाम के साथ स्मृति) के अभ्यास का भी उपदेश। इसी प्रकार "राहुल! तू पृथ्वी-समान ध्यान की भावना कर।......जैसे राहुल! पृथ्वी में शुचि वस्तु भी फेंकते हैं, अशुचि वस्तु भी फेंकते हैं... उससे पृथ्वी दुःखी नहीं होती, ग्लानि नहीं करती, घृणा नहीं करती। इसी प्रकार राहुल! पृथ्वी-समान भावना करते तेरे चित्त को अच्छे लगने वाले स्पर्श न चिपटेंगे।....राहुल! तू मैत्री-भावना का अभ्यास कर। जो द्वेष है; उससे छूट जायेगा। राहुल! करुणा-भावना का अभ्यास कर। जो तेरी पर-पीड़ा-करण इच्छा है, वह हट जायगी। राहुल! उपेक्षा-भावना का अभ्यास कर! जो तेरी प्रतिहिंसा है, वह हट जायगी। राहुल! अशुभ-भावना का अभ्यास कर। जो तेरा राग है, वह हट जायगा।"

६३. चूल-मालुंक्य-सुत्त—लोक शाश्वत है या अशाश्वत, आदि दस प्रश्न मालुंक्यपुत्त ने भगवान् से किये। भगवान् ने उन्हें अव्याकृत (अव्याकृत-अकथनीय) करार दे दिया, क्योंकि इनका उत्तर या कथन सार्थक नहीं, ब्रह्मचर्य-उपयोगी नहीं और न यह वैराग्य, निरोध, शान्ति, उत्तम, परम, ज्ञान एवं निर्वाण के लिए ही आवश्यक है।

६४. महा-मालुंक्य-सुत्त—पाँच संयोजनों (सत्काय दृष्टि, विचिकित्सा, शील-व्रत-परामर्श, काम-राग, व्यापाद) के प्रहाण का मार्ग।

६५. भद्दालि-सुत्त—भद्दालि नामक भिक्षु को आचार-मार्ग का उपदेश।

६६. लटुकिकोपम-सुत्त—स्थविर उदायी को भगवान् का धर्मोपदेश। "उदायी! कोई-कोई मूर्ख पुरुष मेरे 'यह छोड़ो' कहने पर ऐसा कहते हैं "क्या इस छोटी बात के लिए, तुच्छ बात के लिए, यह श्रमण जिद कर रहा है" और वे उसे नहीं छोड़ते। किन्तु जो भिक्षु सीखने वाले होते हैं, उन्हें यह होता है "यह बलवान् बन्धन है, दृढ़ बन्धन है, स्थिर बन्धन है, स्थूल कलिंगर (पशुओं के गले में बाँधने का काष्ठ) है। जैसे उदायी! पोय-लता के बन्धन से बँधी लटुकिका (गौरैय्या) पक्षी वहीं वध, बन्धन या मरण की प्रतीक्षा करती है। उदायी! जो आदमी यह कहे 'चूंकि यह लटुकिका पक्षी पोयलता के बन्धन से बँधा है, वह वहीं वध, बन्धन या मरण की प्रतीक्षा कर रहा है किन्तु उसका वह निर्बल बन्धन है, सड़ा बन्धन है, कमजोर बन्धन है। क्या उदायी! ऐसा कहते वह ठीक कह रहा है?" "नहीं भन्ते! वह लटुकिका पक्षी जिस पोय-लता के बन्धन से बँधा है, वह उसके लिए बलवान् बन्धन है, स्थूल कलिंगर (पशु के गले में बाँधने का काष्ठ) है"।

६७ चातुम-सुत्त—चातुमा के भिक्षुओं को आचार-तत्त्व का उपदेश।

६८ नलकपान-सुत्त—नलकपान के पलाश-वन में भगवान् का भिक्षु अनुरुद्ध से धर्म-संलाप।

६९. गुलिस्सानि-सुत्त—गुलिस्सानि नामक आरण्यक भिक्षु को लक्ष्य कर धर्म-सेनापति सारिपुत्र का भिक्षुओं को सद्व्यवहार पर उपदेश।

७०. कीटागिरि-सुत्त—भिक्षु-नियमों सम्बन्धी उपदेश, विशेषतः दिन में एक बार भोजन करने के प्रसंग को लेकर। कीटागिरि (काशी राज्य में) के दो भिक्षु इसके विपरीत आचरण करते थे। भगवान् के एकाहार सम्बन्धी अनुभव को सुनकर भी वे उनकी बात मानने को तैयार नहीं हुए।

(८) परिब्बाजक-वग्ग

७१. तेविज्जवच्छगोत्त-सुत्त—भगवान् बुद्ध त्रैविद्य हैं। परन्तु कि सअर्थ में? इसकी व्याख्या।

७२. अग्गिवच्छगोत्त-सुत्त—वच्छगोत्त (वत्सगोत्र) नामक परिव्राजक को भगवान् की शिष्यत्व-प्राप्ति।

७३. महावच्छगोत्त-सुत्त—उपासकों और भिक्षुओं के कर्त्तव्य। परिव्राजक वच्छगोत्र को ही उपदेश।

७४. दीघनख-सुत्त—दीघनख परिव्राजक से भगवान् का संलाप। 'वेदना-परिग्गह-सुत्त' नाम से भी ज्ञात।

७५. मागन्दिय-सुत्त—मागन्दिय नामक परिव्राजक को कामनाओं के त्याग का उपदेश।

७६. सन्दक-सुत्त—सन्दक नामक परिव्राजक को आनन्द का उपदेश।

७७. महासकुलुदायि-सुत्त—सकुलुदायि परिव्राजक को उपदेश। बुद्ध का वास्तविक महत्त्व किस बात में है?

७८. समणमंडिका-सुत्त—शुद्ध आचरण पर भगवान् बुद्ध का उपदेश।

७९. चूल-सकुलुदायि-सुत्त—निगणठ नाटपुत्त और उनके मत का निर्देश है।

८०. वेखनस-सुत्त (वेखनस्स-सुत्त)—वेखनस (या वेखनस्स) नामक परिव्राजक के साथ बुद्ध का संलाप, पूर्णता पर।

(९) राजवग्ग

८१. घटिकार-सुत्त (या घटीकार-सुत्त)—भगवान् बुद्ध के द्वारा अपने एक पूर्व-जन्म के विवरण-प्रसंग में काश्यप बुद्ध के परम सेवक वेहलिंग-निवासी घटिकार (घटीकार) नामक कुम्हार के गुणों का वर्णन।

८२. रट्ठपाल-सुत्त—राष्ट्रपाल की प्रव्रज्या का विवरण। कुरुदेश की राजधानी थुल्लकोट्ठित का उल्लेख है। राष्ट्रपाल यहीं के निवासी थे।

८३. मखादेव-सुत्त—बुद्ध के एक पूर्व-जन्म की कथा, जब कि मिथिला का राजा मखादेव था। निमि और उसके पुत्र कराल जनक (कलार जनक) का भी मिथिला (विदेह) के राजाओं के रूप में वर्णन।

८४. मधुर-सुत्त—चारों वर्णों की समता का उपदेश आयुष्मान् महाकात्यायन द्वारा। बुद्ध-निर्वाण के बाद आयुष्मान् महाकात्यायन का मथुरा के राजा अवन्तिपुत्र से मथुरा के गुन्दावन में संवाद। एक मधुर-सुत्त या

(मथुरा-सुत्त) अंगुत्तर-निकाय में भी है, जिसमें बुद्ध द्वारा मथुरा (मधुरा) के पाँच दोषों का वर्णन है।

८५. बोधिराजकुमार-सुत्त—भगवान् बुद्ध की जीवनी, स्वयं उनके शब्दों में, गृहत्याग से लेकर बुद्धत्व-प्राप्ति तक।

८६. अंगुलिमाल-सुत्त—डाकू अंगुलिमाल का जीवन-परिवर्तन।

८७. पियजातिक-सुत्त—सम्पूर्ण दुःख प्रेम से उत्पन्न होने वाले हैं।

८८. बाहितिक-सुत्त—शुभ और अशुभ आचरण। बुद्ध अशुभ आचरण नहीं कर सकते। आनन्द का प्रसेनजित् को उपदेश। इस सुत्त में प्रसेनजित् आनन्द को बाहित राष्ट्र में बना वस्त्र भेंट करते हैं।

८९. धम्मचेतिय-सुत्त—प्रसेनजित् कोसलराज बुद्ध से मिलने शाक्यों के निगम मेदलुम्प में आया। बुद्ध और धर्म के प्रति गहरी निष्ठा प्रकट की। बाद में राजा के चले जाने पर बुद्ध ने उसके शब्दों को 'धर्म-चैत्य' (धम्म-चेतिय') कहा और भिक्षुओं से उनको धारण करने को कहा।

९०. कण्णकत्थल-सुत्त—कण्णकत्थल मृगदाव में प्रसेनजित् की बुद्ध से मुलाकात। क्या बुद्ध सर्वज्ञ हैं?

(१०) ब्राह्मण-वग्ग

९१. ब्रह्मायु-सुत्त—मिथिला के १२० वर्षीय ब्राह्मण ब्रह्मायु ने पहले अपने शिष्य उत्तर को बुद्ध की पहचान करने के लिए भेजा। बाद में वह स्वयं उनसे मिला। ३२ महापुरुष-लक्षण बुद्ध में ढूँढ़े। तथागत के ईर्यापथ का विवरण। ब्राह्मण, वेदगू आदि शब्दों की बुद्धमतानुसार व्याख्या।

९२. सेल-सुत्त—सेल ब्राह्मण की प्रव्रज्या।

९३. अस्सलायन-सुत्त—आश्वलायन के जातिवाद का निराकरण। श्रावस्ती-निवासी इस आश्वलायन ब्राह्मण को विद्वानों ने प्रश्न-उपनिषद् के आश्वलायन से मिलाया है।

९४. घोटमुख-सुत्त—आयुष्मान् उदयन (उदेन) का धर्मोपदेश, घोटमुख ब्राह्मण को, बुद्ध-परिनिर्वाण के बाद। आत्म-पीड़ा की निन्दा।

९५. चंकी-सुत्त—चंकी ब्राह्मण के साथ बुद्ध का संलाप। सत्य की रक्षा और प्राप्ति के उपाय।

९६. एसुकारी-सुत्त—एसुकारी ब्राह्मण के साथ बुद्ध का संलाप। जातिवाद की निन्दा।

९७. धानंजानि-सुत्त—धर्मसेनापति सारिपुत्र का धानंजानि ब्राह्मण को उपदेश—गृहस्थ-बन्धन अशुभ कर्म करने का बहाना नहीं है और परिस्थितियों के नाम पर अशुभ कर्मों के फल से नहीं बचा जा सकता। ब्रह्मा की सहव्यता का मार्ग।

९८. वासेट्ठ—वास्तविक ब्राह्मण कौन? जातिवाद पर बुद्ध की देशना, वासेट्ठ और भारद्वाज नामक ब्राह्मणों को, जिनमें से एक कर्म और दूसरा जन्म से ब्राह्मणत्व को मानता था।

९९. सुभ-सुत्त—सुत्त तोदेय्यपुत्त नामक ब्राह्मण विद्यार्थी बुद्ध से मिलने आया। गार्हस्थ्य और संन्यास के आपेक्षिक महत्त्व पर प्रश्न पूछा। बुद्ध ने इस सम्बन्ध में अपने को विभज्जवादी (विभज्जवादो) बताया। चार ब्रह्म-विहारों के रूप में बुद्ध ने उसे ब्रह्मा की सहव्यता का मार्ग भी सिखाया।

१००. संगारव-सुत्त—ब्राह्मण विद्यार्थी संगारव का बुद्ध से संलाप। बुद्ध-जीवनी का विवरण। बुद्ध द्वारा देवताओं के अस्तित्व की स्वीकृति।

(११) देवदह-वग्ग

१०१. देवदह-सुत्त—शाक्यों के निगम देवदह में बुद्ध द्वारा भिक्षुओं को उपदेश। निगंठों के मत का विवरण।

१०२. पञ्चत्तय-सुत्त—आत्मवाद आदि नाना मतवादों का खंडन।

१०३. किन्ति-सुत्त—"भिक्षुओ! तुम्हें मेरे विषय में क्या होता है—क्या (किंति) श्रमण गौतम चीवर के लिए धर्म उपदेश करते हैं, आदि? भिक्षुओं को एकता का उपदेश।

१०४. सामगाम-सुत्त—शाक्यों के निगम सामगाम में बुद्ध का आनन्द के साथ संलाप। बुद्ध के मूल उपदेश। संघ में शान्ति सम्बन्धी उपदेश। इस सुत्त में निगण्ठ नाटपुत्त (निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र-जैन तीर्थंकर भगवान् महावीर) की मृत्यु की सूचना आनन्द ने बुद्ध को दी है।

१०५. सुनक्खत्त-सुत्त—सुनक्षत्र लिच्छविपुत्र को बुद्ध द्वारा ध्यान और चित्त-संयम पर प्रवचन।

१०६. आणञ्जसप्पाय-सुत्त—(आनेञ्जसप्पायसुत्त) सच्ची निश्चलता, अविक्षुब्धता या ध्रुवता क्या है? "अनुपादा चित्तस्स विमोक्खो" अर्थात् आसक्ति को छोड़ देने पर चित्त की विमुक्ति। इसके अनुकूल (सप्पाय) मार्ग को यहाँ बताया गया है।

१०७. गणकमोग्गल्लान-सुत्त—आचरण की शिक्षा का क्रमिक विकास। गणक

सोग्गल्लान ब्राह्मण को बुद्ध ने बतलाया कि उनके धर्म-विनय में क्रमिक शिक्षा और क्रमिक साधना का विधान है। उसमें 'अनुपुब्बसिक्खा' और 'अनुपुब्बकिरिया' विद्यमान है।

१०८. गोपकमोग्गल्लान-सुत्त—बुद्ध के बाद धर्म ही भिक्षुओं का एकमात्र प्रतिशरण। गोपक मोग्गल्लान ब्राह्मण के साथ आनन्द का संलाप, बुद्ध-परिनिर्वाण के कुछ समय बाद। इस सुत्त से हमें यह सूचना मिलती है कि राजा प्रद्योत के भय से मगधराज अजातशत्रु नगर सुरक्षित करवा रहा था।

१०९. महापुण्णम-सुत्त—पञ्चस्कन्ध एवं अनात्मवाद सम्बन्धी उपदेश।

११०. चुलपुण्णम-सुत्त—अच्छे और बुरे मनुष्य।

(१२) अनुपद-वग्ग

१११. अनुपद-सुत्त—भगवान् बुद्ध द्वारा सारिपुत्र के शील, समाधि और प्रज्ञा आदि की प्रशंसा।

११२. छब्बिसोधन-सुत्त—अर्हत् की पहचान क्या है ?

११३. सप्पुरिस-सुत्त—सत्पुरुष और असत्पुरुष की पहचान।

११४. सेवितब्ब-असेवितब्ब-सुत्त—क्या सेवनीय और क्या असेवनीय है ?

११५. बहुधातुक-सुत्त—धातुओं का निरूपण।

११६. इसिगिल-सुत्त—प्रत्येक बुद्ध-सम्बन्धी उपदेश।

११७. महाचत्तारीसक-सुत्त—सम्यक समाधि सम्बन्धी प्रवचन।

११८. आनापानसति-सुत्त—श्वास के आने-जाने के साथ स्मृति का अभ्यास और ध्यान सम्बन्धी बुद्ध-प्रवचन।

११९. कायगतासति-सुत्त—काये कायानुपश्यना क्या है ?

१२०. संखारुप्पत्ति-सुत्त—संस्कारों की उत्पत्ति कैसे ?

(१३) सुञ्ञता-वग्ग

१२१. चूल-सुञ्ञता-सुत्त—चित्त की शून्यता का योग जंगल में रहने से नहीं सधता और न अपने मन को सब विचारों से खाली कर देने से। परन्तु जिसका मन आस्रवों से विमुक्त है, उसने परम अनुत्तर शून्यता-विहार को पाया है। बुद्ध शून्यता-विहार से विहरते हैं।

१२२. महा-सुञ्ञता-सुत्त—एकान्तवास के गुण और लोगों से अधिक मिलने-जुलने से दोष। उठते, बैठते, चलते या लेटते, प्रत्येक अवस्था में, जो

स्मृति-सम्प्रजन्य से युक्त होता है और बुरे विचारों को अपने अन्दर नहीं आने देता, वह शून्यता-ध्यान में रहता है। सब धर्मों को मन में न करने से जो चेतो विमुक्ति होती है, वही शून्यता-ध्यान है। उसे प्राप्त करने के लिए सदा प्रत्यवेक्षण करते रहना चाहिए कि मेरे अन्दर कहीं से बुराइयाँ प्रवेश तो नहीं कर रही हैं।

१२३. अच्छरियब्भुतधम्म-सुत्त—(अच्छरियब्भुत-सुत्त, अच्छरियधम्म-सुत्त) आश्चर्य-पुरुष भगवान् बुद्ध का जन्म कहाँ व कैसे ?

१२४. बक्कुल-सुत्त—स्थविर बक्कुल की एकान्त साधनामयी जीवनचर्या।

१२५. दन्तभूमि-सुत्त—संयम का उपदेश।

१२६. भूमिज-सुत्त—कौन-सा ब्रह्मचर्य सफल है ?

१२७. अनुरुद्ध-सुत्त—भिक्षु अनिरुद्ध (अनुरुद्ध) द्वारा अ-प्रमाणा चेतो-विमुक्ति पर उपदेश।

१२८. उपक्किलेस-सुत्त—कलह रोकने के उपाय। योग-साधन।

१२९. बाल-पंडित सुत्त—काल (मूर्ख) और पण्डित के तीन-तीन लक्षण। मनुष्य जीवन को पाना बहुत दुर्लभ है। इसलिए काया, मन, वाणी से सदाचार का पालन करना चाहिए। 'धम्मपद' के 'बाल-वग्ग' और 'पण्डित-वग्ग' की गाथाओं के आदेश भी इसी उद्देश्य से दिये गये हैं।

१३०. देवदूत-सुत्त—यम का भय ? महानिरय के दुःखों का वर्णन। विपाक-कर्मफल अनिवार्य है। इसलिए कि प्राणी सोचे कि मैं अपने कर्मों के अनुसार ही सुख-दुःख पाऊँगा। "हन्त ! मैं कल्याण (कर्म) करूँ, काया से, वाणी से, मन से।"

(१४) विभंग-वग्ग

१३१. भद्देकरत्त-सुत्त—भूत और भविष्यत् की चिन्ता छोड़ वर्तमान में कर्त्तव्य कर्म करना ही सर्वोत्तम मंगल है।

१३२. आनन्द-भद्देकरत्त-सुत्त—उपर्युक्त के समान ही।

१३३. महाकच्चान-भद्देकरत्त-सुत्त—उपर्युक्त का ही अधिक विस्तृत वर्णन।

१३४. लोमसकंगिय-भद्देकरत्त-सुत्त—उपर्युक्त के समान ही।

१३५. चूल-कम्मविभंग-सुत्त—(चुल्ल कम्मविभंग-सुत्त)—संसार में असमानता क्यों ? कर्म-फल।[1]

---

१. शुभ नामक माणवक (तरुण ब्राह्मण-विद्यार्थी) भगवान् से पूछता है "हे गौतम ! क्या हेतु है, क्या प्रत्यय है कि मनुष्यों में, सबके मनुष्य

होते हुए भी, हीनता और उत्कृष्टता पायी जाती है ? कोई अल्प आयु वाला है तो कोई दीर्घजीवी, कोई बहुत रोगी तो कोई स्वस्थ (अल्पाबाध), कोई दुर्वर्ण, कोई वर्णवान्, कोई अल्पशक्ति वाला, कोई बड़ी शक्ति वाला, कोई दुष्प्रज्ञ, कोई प्रज्ञावान् ! हे गौतम ! क्या हेतु है, क्या प्रत्यय है, इस सबका ?" भगवान् इन सबको कर्महेतुक बताते हुए कहते हैं कि "कम्मस्सका, माणव, सत्ता कम्मदायादा कम्मयोनी कम्मबन्धू कम्म-पटिसरणा, कम्मं सत्ते विभजति यदिदं हीनप्पणीतताया" ति"। अर्थात् 'हे माणव ! कर्म ही सत्वों का अपना है, सत्व (अपने) अपने कर्म के उत्तराधिकारी हैं" कर्म ही उनकी योनि है, कर्म ही उनका बन्धु है, कर्म ही उनकी प्रतिशरण है और कर्म ही सत्वों को हीन और प्रणीत (उत्कृष्ट) के रूप में विभाजित करता है।" शुभ माणवक भगवान् के उत्तर को सुनकर सन्तुष्ट हो जाता है और कृतज्ञतापूर्वक उनका उपासक-शिष्य बन जाता है। यह सुत्त इस प्रकार बुद्ध-विचार की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। बुद्धघोषाचार्य ने 'पपञ्चसूदनी' में 'चूलकम्मविभङ्ग-सुत्त' की व्याख्या 'सुभ-सुत्त-वण्णना' के नाम से की है, अतः प्रकारान्तर से वे चूल-कम्मविभङ्ग-सुत्त' को सुभ-सुत्त के नाम से ही पुकारते हैं। स्पष्टतः वे कहते हैं "सुभ सुत्तं चुलकम्मविभङ्गसुत्तं" ति पि वुच्चति।" देखिये पीछे दीघ-निकाय के अन्तर्गत 'सुभ-सुत्त' का वर्णन और मज्झिम-निकाय के अन्तर्गत भी आये 'सुभ-सुत्त' का वर्णन।

'चुल्लकम्मविभङ्ग-सुत्त' के समान ही विषय-वस्तु 'महाकर्म-विभङ्ग' नामक महायान-सूत्र की है, बल्कि मूल सर्वास्तिवाद-परम्परा के 'मध्यमागम' के अन्तर्गत भी, जिसके खण्डित अंश मध्यएशिया में मिले हैं, पालि का 'चुल्लकम्मविभङ्ग-सुत्त' ही 'शुक-सूत्र' के नाम से रखा हुआ है। इस प्रकार पालि का सुभ माणवक ही बौद्ध संस्कृत का 'शुक माणवक है और चुल्लकम्मविभङ्ग-सुत्त ही महाकर्मविभङ्गसूत्र-शुक-सूत्र।

१४०. धातु-विभंग-सुत्त—छह धातुओं (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, चित्त) का निरूपण।

१४१. सच्चविभंग-सुत्त—चार आर्य सत्यों का विवरण।

१४२. दक्खिण-विभंग-सुत्त—संघ को दिया हुआ दान व्यक्ति को दिये हुए दान से बढ़कर है।

(१५) सलायतन-वग्ग

१४३. अनाथपिण्डिकोवाद-सुत्त—अनाथपिंडिक की बीमारी और मृत्यु का वर्णन। अन्तिम समय में धर्मसेनापति सारिपुत्र का उसको उपदेश।

१४४. छन्नोवाद-सुत्त—छन्न की आत्महत्या।

१४५. पुण्णोवाद-सुत्त—स्थविर पूर्ण की सहिष्णुता।

१४६. नन्दकोवाद-सुत्त—अनात्मवाद एवं सात बोध्यंगों का वर्णन।

१४७. चूलराहुलोवाद-सुत्त—अनात्मवाद-सम्बन्धी उपदेश। सभी संस्कार अनित्य, दुःख और अनात्म है। इके सुनकर राहुल को अर्हत्व की प्राप्ति हुई। यही सुत्त साधारणतः 'राहुलोवाद-सुत्त' के नाम से विदित है।[1]

१४८. छछक्क-सुत्त—अनात्मवाद का विस्तृत विवेचन।

१४९. महासलायतनिक-सुत्त—तृष्णा और दुःख का निरूपण।

१५०. नगरविन्देय्य-सुत्त—आदरणीय श्रमण-ब्राह्मण कौन हैं?

१५१. पिंडपात-पारिसुद्धि-सुत्त—भिक्षा की शुद्धि कैसे? स्मृति-प्रस्थान आदि की भावना का उपदेश।

१५२. इन्द्रिय-भावना-सुत्त—इन्द्रिय-संयम कैसे हो?

दीघ-निकाय के समान मज्झिम-निकाय में भी छठी और पाँचवीं शताब्दी ईसवी-पूर्व के भारतीय समाज की सामान्य अवस्था का अच्छा पता चलता है। उसके अनेक वर्णनों में तत्कालीन भौगोलिक और ऐतिहासिक तथ्यों की महत्त्वपूर्ण सूचना मिलती है। मज्जिम-निकाय में वर्णित भगवान् के उपदेश जिन-जिन प्रदेशों, नगरों, निगमों (कस्बों), ग्रामों या वन-प्रदेशों में हुए, उनकी एक सूची बनायी जाय तो उस समय की भौगोलिक परिस्थितियों को समझने

---

१. भगवान् ने राहुल को समय-समय पर उसकी योग्यता के अनुसार कई उपदेश दिये जो तिपिटक उन-उन सुत्तों के रूप में निहित हैं। अम्बलट्ठिक-राहुलोवाद-सुत्त और महाराहुलोवाद-सुत्त को हम देख ही चुके हैं। अन्य भी ऐसे कई उपदेश हैं।

में हमारी बड़ी सहायक होगी। अंग, मगध, विदेह, सूनापरान्त (सुनापरन्त), योन-कम्बोज, भग्ग, काशी, कुरु, कोसल जैसे प्रदेश, वैशाली, चम्पा, पाटलिपुत्र, कपिलवस्तु, राजगृह, नालन्दा, श्रावस्ती, कौशाम्बी, वाराणसी जैसे नगर, शाक्यों के मेदलुम्प, कोलियों के हलिद्दवसन, कुरुओं के थुल्लकोट्ठित आदि कस्बे तथा दण्डकारण्य, कलिंगारण्य जैसे वन-प्रदेश, जो बुद्ध-चरणों की रज से पावन हुए थे, हमारे लिए एक गौरवमयी स्मृति का सन्देश देते हैं। कोसल-प्रदेश के दो मुख्य नगरों श्रावस्ती और साकेत के बीच डाक (रथ-विनीत) का सम्बन्ध था, यह हम रथविनीत-सुत्तन्त (मज्झिम, १।३।४ से जानते हैं। बुद्धकालीन भारत का पूरा धार्मिक वातावरण मज्झिम-निकाय में उपस्थित है। ब्राह्मणों के जीवन, कर्मकांड और सिद्धान्त, उनके मन्त्रकर्ता ऋषि, वाद-परम्परा और पौरोहित्य सभी का मूर्तिमान चित्र हमें यहाँ मिलता है। इस दृष्टि से पूरा ब्राह्मण-वग्ग अर्थात् ९१वें सुत्त से लेकर १००वें सुत्त तक का भाग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। ब्राह्मायु, शैल, आश्वलायन, घोटमुख, चंकी, एसुकारी, धानंजानि, वासेट्ठ, भारद्वाज, सुभ, संगाराव, मागन्दिय, आदि तत्कालीन ब्राह्मण-दार्शनिकों का पूरा व्यक्तित्व, उनके मत और बुद्ध-धर्म के साथ उनके सम्बन्ध का पूरा चित्र हमें इन सुत्तों से मिल जाता है। इसी प्रकार तत्कालीन परिव्राजकों का चित्र हमें अग्गिवच्छगोत्त-सुत्त जैसे सुत्तों में मिल जाता है। दीघनख, सन्दक, सकुलादायि, वेखनस आदि परिव्राजकों के साथ भगवान् के संवाद जो मज्झिम-निकाय में दिए हुए हैं, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। तत्कालीन छह प्रसिद्ध आचार्यों (पूरण कस्सप, मक्खलि गोसाल, अजित केस कम्बलि आदि) तथा अन्य सम्प्रदायों के मतों को जानने की दृष्टि से अपण्णक-सुत्त, तेविज्ज-वच्छगोत्त-सुत्त तथा महावच्छगोत्त-सुत्त आदि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। कन्दरक-सुत्त, उपालि-सुत्त तथा अभयराजकुमार सुत्त में निर्गन्थ ज्ञातृपुत्र (निगण्ठ नाटपुत्त, नातपुत्त या नाथपुत्त-भगवान् महावीर) के मत के संबंध में भी कुछ सूचना मिलती है। तत्कालीन साधकों में जो नाना प्रकार की पीड़ाजनक तपश्चर्याएँ प्रचलित थीं और जिनका अभ्यास गौतम ने भी अपने ज्ञान की खोज में किया था, महासीहनाद-सुत्त, कुक्कुरवतिक-सुत्त, बोधि-राजकुमार-सुत्त और कन्दरक-सुत्त में वर्णित हैं। पासरासि-सुत्त (अरियपरियेसन-सुत्त), बोधि-राजकुमार-सुत्त और महासच्चक-सुत्त में भगवान् बुद्ध की आत्म-कथा है, जो बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। ब्रह्मायु-सुत्त में उनके ईर्यापथ का वर्णन है जो उनकी दैनिक चर्या तथा साधारण शारीरिक चाल-ढाल को समझाने के-लिए बहुत आवश्यक है। इसी प्रकार महाराहुलोवाद-सुत्त, महावच्छगोत्त-सुत्त

तथा महासकुलुदायि-सुत्त में संघ के नियम और जीवन सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण सामग्री है। कन्दरक-सुत्त और धानंजानि-सुत्त भी इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। पियजातिक-सुत्त, धम्मचेतिय-सुत्त, तथा कण्णकत्थल-सुत्त में तत्कालीन राजाओं का कुछ विवरण है। मागन्दिय-सुत्त में तत्कालीन आयुर्वेद की अवस्था का कुछ परिचय मिलता है। यहाँ ऊर्ध्व विरेचन, अधो विरेचन आदि का वर्णन है। बाहितिय-सुत्त (बाहितिक-सुत्त भी) में बायहित देश में बने महीन कपड़े का उल्लेख है और उपालि-सुत्त में रँगने की कला का निर्देश आया है। सारांश यह कि मज्झिम-निकाय में तत्कालीन समाज, धर्म, कला-कौशल आदि का एक अच्छा चित्र हमें मिलता है।

इ—संयुक्त-निकाय[1]

संयुत्त-निकाय (संयुक्त-निकाय) छोटे-बड़े सभी प्रकार के सुत्तो का संग्रह है। इसीलिए इसका यह नाम पड़ा है।[2] विशेषतः संयुत्त-निकाय में छोटे आकार के सुत्त ही अधिक हैं। संयुत्त-निकाय के सुत्तों की कुल संख्या परम्परा-

---

१. लिरोन फियर द्वारा पाँच जिल्दों में रोमन-लिपि में सम्पादित एवं पालिटैक्स्ट् सोसायटी, लन्दन, १८८४-९८, द्वारा प्रकाशित। अमरसिंह का सिंहली संस्करण, वलीतारा, १८१८, प्रसिद्ध है। देवनागरी लिपि में भिक्षु जगदीश काश्यप के प्रधान संपादकत्व में सम्पादित एवं बिहार राज्य के पालि प्रकाशन मण्डल द्वारा सन् १९५९ में चार जिल्दों में प्रकाशित। इस निकाय का हिन्दी अनुवाद, भिक्षु जगदीश काश्यप और भिक्षु धर्मरक्षित ने दो जिल्दों में किया है, जिसे महाबोधि सभा, सारनाथ, ने सन् १९५४ में प्रकाशित किया है।

२. दीघ और मज्झिम शब्दों की पृष्ठभूमि में तो 'संयुत्त' (संयुक्त, मिश्रित) शब्द का यही अर्थ हो सकता है। आचार्य बुद्धघोष ने 'अट्ठसालिनी' की निदान-कथा में दीघ और मज्झिम निकायों को क्रमशः दीर्घ और मध्यम आकार के सुत्तों का संग्रह बताते हुए संयुत्त-निकाय के सम्बन्ध में कहा है, "एसो संयुत्त-संगहो।" अट्ठसालिनी, पृष्ठ २२ (देवनागरी संस्करण, पूना, १९४२)। 'समङ्गलविलासिनी' की निदानकथा में भी उन्होंने इसी प्रकार कहा है और 'संयुत्त' शब्द की अधिक व्याख्या करनी आवश्यक नहीं समझी। गायगर ने 'संयुत्त' शब्द की सार्थकता को इस निकाय में विषय-वार सुत्तों के संयुक्त या

गत मान्यता के अनुसार ७७६२ है। "सत्तसुत्तसहस्स-सत्तसतद्वासट्ठिसुत्तसंगहो संयुत्तनिकायो।"[१] प्रायः प्रत्येक सुत्त संक्षिप्त गद्यात्मक बुद्ध प्रवचन के रूप में है। बुद्धकालीन भारतीय ग्रामीण जीवन का इस निकाय में बड़ा सुंदर चित्र मिलता है। साथ में काव्यात्मक अंश भी हैं और लोक-आख्यान भी कहीं-कहीं समाविष्ट हैं। यक्ष, यक्षिणी, देवता और गन्धर्वों का इस निकाय में कुछ अधिक निर्देश मिलता है। किन्तु इससे पृष्ठभूमि की स्वाभाविकता में कोई अन्तर नहीं आने पाया। भगवान् बुद्ध के स्वभाव और जीवन की विशेषताएँ, उनकी गम्भीरता, प्राणि-मात्र के प्रति उनकी करुणा, इसी कारण मनुष्य-समाज के अज्ञानों पर उनके मृदुल व्यंग्य, उनका विनम्रता, मानवीयता, सभी इस निकाय में उसी प्रकार प्रस्फुटित होती हैं जैसे कि पूर्व के दो निकायों में। शैली की दृष्टि से भी इस निकाय की दीघ और मज्झिम की अपेक्षा कोई विशेषता नहीं है। पुनरुक्तियाँ वहीं दोनों निकायों की-सी हैं। 'सळायतन वग्ग' इसका एक अच्छा उदाहरण है। यद्यपि संयुत्त-निकाय का अधिकांश भाग गद्य में है, किन्तु प्रथम वर्ग 'सगाथ-वग्ग' (गाथा-युक्त वर्ग) में बड़ी सुन्दर, भावात्मक गाथाएँ भी मिलती हैं। मार-संयुत्त और भिक्खुनी-संयुत्त, आख्यात्मक काव्य के सर्वोत्तम उदाहरण हैं। गद्य और पद्य दोनों में ही यह आख्यान-साहित्य संयुत्त-निकाय में मिलता है। 'भिक्खुनी-संयुत्त' जैसे

पुंजबद्ध करने के कारण माना है। देखिए उनका 'पालि लिटरेचर एण्ड लैंग्वेज', पृष्ठ १८। मिलाइए भिक्षु जगदीश काश्यप द्वारा सम्पादित संयुक्त-निकाय-पालि के प्रथम भाग में लिखा हुआ उनका 'आमुख', पृष्ठ ४ भी।

१. अट्ठसालिनी, पृष्ठ १६ (देवनागरी संस्करण, पूना, १९४२। देखिये वहीं "सद्य सुत्तसहस्सानि सत्त सुत्तसतानि द्वासट्ठि चेव सुत्तानी" ति। पृष्ठ २२। मिलाइये खुद्दकपाठट्ठकथा (सरणत्तयवण्णना) "सत्त सुत्त-सहस्सानि सत्त च सुत्तसतानि द्वासट्ठि च सुत्तानि संयुत्तनिकायो" ति। इसी प्रकार "सत्तसुत्तसहस्सानि सत्तसुत्तसतानि च। द्वासट्ठि च सुत्तानि, एसो संयुत्तसङ्गहो।" सद्धम्मसंगहो, पृष्ठ ७ (देवनागरी संस्करण)। लिटरेचर एण्ड लैंग्वेज, पृष्ठ १८। भिक्षु जगदीश काश्यप और धर्मरक्षित त्रिपिटकाचार्य ने संयुक्त-निकाय का जो हिन्दी अनुवाद किया है, उसमें गणना करने पर मालूम होता है कि २४३१ सुत्त अनुवादित हैं, प्रथम भाग में १०६६ और द्वितीय भाग में पृष्ठ १३६५)

आख्यानों में नाटकीय तत्त्व भी अपनी विशेषता लिए हुए हैं, जो इन रचनाओं को एक विशेष गति और क्रियाशीलता प्रदान करता है।

जैसा पहले दिखाया जा चुका है, संयुक्त-निकाय पाँच वर्गों में विभक्त है, जिनमें क्रमशः ११, १०, १३, १०, १२ अर्थात् कुल मिलाकर ५६ संयुत्त हैं।[१] यह विभाजन पूर्णतया विषय की दृष्टि से नहीं है। जैसा विण्टरनित्ज ने कहा है, संयुत्त-निकाय के वर्गीकरण में तीन सिद्धान्तों का अनुवर्तन किया गया मालूम होता है। (१) बुद्ध-धर्म के किसी मुख्य-पहलू का विवेचन करनेवाले सुत्तों को एक संयुक्त में वर्गीकृत कर दिया गया है, जैसे बोज्झङ्ग-संयुत्त, आदि। (२) मनुष्य, देवता या यक्ष आदि के निर्देश के आधार पर उनका अलग-अलग वर्गों में विभाजन कर दिया गया है, जैसे देवता-संयुत्त, आदि। (३) वक्ता या उपदेष्टा के रूप में जो प्रधान व्यक्ति अनेक सुत्तों में दृष्टि-गोचर होता है, उस सम्बन्धी उपदेशों को एक संयुत्त में सम्मिलित कर दिया गया है, जैसे सारिपुत्त-संयुत्त आदि।[२] वर्गवार इन सुत्तों की विषय-वस्तु का यहाँ कुछ संक्षिप्त परिचय देना आवश्यक होगा।

---

१. भिक्षु जगदीश काश्यप और भिक्षु धर्मरक्षित द्वारा हिन्दी में अनुवादित संयुत्त-निकाय (दो भाग) में ५४ संयुत्तों के ही शीर्षक दिये गये हैं और संयुत्त-सूची में भी ५४ ही संयुत्त दिखाये गये हैं। निदान-संयुत्त और सलायतन-संयुत्त उल्लिखित होने से रह गये हैं। प्रथम को यहाँ अभिसमय-संयुत्त में ही सम्मिलित कर दिया गया है और दूसरे को वेदना-संयुक्त में। यह आश्चर्य है कि त्रिपिटकाचार्य भिक्षु धर्मरक्षित ने अपनी ओर से लिखते हुए भी संयुत्त-निकाय के संयुत्तों की संख्या ५४ ही बतायी है। देखिये संयुत्त-निकाय (हिन्दी अनुवाद) के प्रथम भाग के आरम्भ में उनके द्वारा लिखा हुआ प्राक्कथन, पृष्ठ १। पता नहीं उन्होंने किस आधार पर ऐसा लिखा है? सामान्यतः संयुत्त-निकाय के संयुत्तों की संख्या ५६ ही मानी जाती है। श्री नालन्दा संस्करण में इतनी ही है। रायस डेविड्स, विण्टरनित्ज, गायगर, लाहा, मललसेकर, सब इतनी ही मानते हैं।

२. हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ५६; मिलाइये गायगर : पालि लिटरेचर एण्ड लैंग्वेज, पृष्ठ १८।

१. सगाथ[1] वग्ग

१. देवता-संयुत्त—देवताओं ने भगवान् से कुछ प्रश्न पूछे हैं जिनका उन्होंने उत्तर दिया है। काम-वासना, पुनर्जन्म, मिथ्या मतवाद और अविद्या-श्रित इच्छाओं का किस प्रकार भगवान् ने दमन किया है, यह यहाँ बताया गया है। पाप और आसक्ति से मुक्ति पाने का मार्ग भी भगवान् ने यहाँ बताया है।

२. देवदत्त-संयुत्त—देव-पुत्रों के कुछ प्रश्नों का उत्तर भगवान् ने दिया है। उन्होंने कहा है कि सुख-प्राप्ति का एकमात्र उपाय क्रोध-त्याग और सत्संगति ही है।

३ कोसल-संयुत्त—यह सम्पूर्ण संयुत्त कोसलराज प्रसेनजित् (पसेनदि) के विषय में है। प्रसेनजित् पहले बावरि नामक ब्राह्मण का शिष्य था। बाद में वह बुद्ध-धर्म में गृहस्थ-शिष्य (उपासक) के रूप में प्रविष्ट हो गया। मगधराज अजातशत्रु (अजातसत्तु) और प्रसेनजित् के बीच युद्ध होने का भी उल्लेख इस संयुत्त में मिलता है। यह युद्ध काशी-प्रदेश के ऊपर हुआ। प्राथमिक विजय अजातशत्रु की हुई, किन्तु बाद में वह पराजित किया गया और प्रसेनजित् उसे बन्दी बनाकर कोसल ले गया। वहाँ उसने अपनी पुत्री वज्रा (वजिरा) का उसके साथ पाणि-ग्रहण कर काशी-प्रदेश उसे भेंट-स्वरूप प्रदान किया।

४. मार-संयुत्त—बुद्ध और उनके शिष्यों की मार-विजय का वर्णन है। बुद्धत्व-प्राप्ति के बाद भी मार ने बुद्ध को ब्रह्मचर्य के जीवन से विचलित करने के लिए प्रभूत प्रयत्न किया। ढेले बरसाये, पत्थर फेंके, अनेक प्रकार के भय दिखलाये, यहाँ तक कि मगध के 'पंचशाला' नामक गाँव के गृहस्थों को कहा कि इस महाश्रमण को भोजन मत दो। एक दिन भगवान् को भिक्षा भी

---

१. अर्थात् गाथा-युक्त वर्ग। इसमें संगृहीत कुछ सुत्त पूरे गाथाओं में हैं, कुछ में गद्य-भाग भी सम्मिलित हैं। बौद्ध संस्कृत ग्रन्थ लंकावतार-सूत्र में, जो एक गद्य-पद्य मिश्रित रचना है, एक 'सगाथकम्' है। यह इस ग्रन्थ के अन्तिम (दसवें) परिच्छेद के रूप में है और इसमें केवल ८८४ गाथाएँ हैं। संयुक्त-निकाय के सगाथ-वग्ग के समान लंकावतार-सूत्र के इस 'सगाथकम्' का भी विषय गहन रूप से दार्शनिक है, यद्यपि दोनों जगह दार्शनिक विषयों के स्वरूप और शैली में विभिन्नता है।

नहीं मिली। धुला-धुलाया रीता पात्र लेकर लौट आये। किन्तु मार के ये सब प्रयत्न विफल हुए और वह बुद्ध और उनके शिष्यों को ब्रह्मचर्य के जीवन से विचलित नहीं कर सका।

५. भिक्खुनी-संयुत्त—दस भिक्षुणियों के सुन्दर काव्यमय आख्यान हैं। किस प्रकार गौतमी, उत्पलवर्णा (उप्पलवण्णा), वज्रा (वजिरा) आदि भिक्षुणियाँ बुद्ध-मार्ग का अनुगमन करती हुई मार पर विजय प्राप्त करती हैं, इसी का सुन्दर काव्यमय वर्णन है।

६. ब्रह्मा-संयुत्त—बुद्धत्व-प्राप्ति के बाद बुद्ध को उपदेश करने की इच्छा नहीं हुई। तृष्णा-विनाश का यह स्वाभाविक परिणाम था। विमुक्ति-सुख का अनुभव करते हुए सप्ताहों तक समाधि में बैठे रहे। ब्रह्मा को चिन्ता हुई, इस प्रकार तो लोक नष्ट हो जायेगा। जाकर भगवान् से प्रार्थना की—भन्ते! लोक के हित के लिए धर्मोपदेश करें। भगवान् ने कहा कि जनता काम-वासनाओं में लिप्त है। वह उनके गम्भीर उपदेश को नहीं समझेगी। ब्रह्मा ने भगवान् से अनुनय की कि संसार में कुछ अल्प-मल प्राणी भी हैं और उनको भगवान् के उपदेश से अवश्य लाभ होगा। तथागत ने उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। उसके बाद भगवान् ने धर्म-चक्र-प्रवर्तन करने के लिए वाराणसी की ओर प्रस्थान किया।[1]

७. ब्राह्मण-संयुक्त—एक भारद्वाज गोत्रीय ब्राह्मण की प्रव्रज्या का वर्णन है। अपनी पत्नी के मुख से बुद्ध-प्रशंसा सुनकर वह भगवान् बुद्ध के दर्शन के लिए गया। वहाँ उनके उपदेश से प्रभावित होकर उसने त्रिशरण (बुद्ध, धम्म और संघ की शरण) ली और प्रव्रजित हो गया।

---

१. हम पहले देख चुके हैं कि 'देवता-संयुत्त' में अनेक देवता समय-समय पर भगवान् के पास जाते हैं और उनसे प्रश्न पूछते हैं। इसी प्रकार कई ब्रह्मा भी उनसे मिलने तिपिटक में आते हैं। पूज्य भिक्षु अमृतानन्द जी ने 'बुद्धकालीन ब्रह्मादिदेव' (प्रथम भाग) में ४० पालि-सुत्तों के आवश्यक अंशों के नेपाली भाषा में अनुवाद देते हुए तथा विभिन्न अट्ठकथाओं के आधार पर अपने विषय को विशदतर करते हुए विद्वत्तापूर्ण ढंग से अनेक यक्षों, ब्रह्माओं और देवों के भगवान् के पास आने और उनसे प्रश्न पूछने आदि का मनोरम वर्णन किया है। आनन्दकुटी, काठमाण्डू, नेपाल, बुद्धाब्द २५२० (१९७६)।

८. वंगीस-संयुत्त—वंगीश नामक भिक्षु की काम-वासना पर विजय-प्राप्ति का वर्णन है। एक बार विहार में आयी हुई कुछ सुन्दर, आभूषित स्त्रियों को देखकर उनके मन में काम उत्पन्न हो गया। काम-दुष्परिणाम का पर्यवेक्षण कर किस प्रकार इस भिक्षु ने काम-वासना से विमुक्ति पायी, इसका सुन्दर भावनामय वर्णन है।

९. वन-संयुत्त—किस प्रकार वन-देवता भी पथ-भ्रष्ट भिक्षुओं को सम्यक् मार्ग पर लगा देते हैं, इसका कुछ भिक्षुओं के उदाहरणों के साथ वर्णन है।

१०. यक्ख-संयुत्त—इन्द्रकूट और गृध्रकूट पर्वतों पर विचरते हुए भगवान् से कुछ यक्षों ने प्रश्न पूछे हैं, जिनका उन्होंने उत्तर दिया है। अनेक प्रश्नों में एक यह भी है, "भन्ते! बताइये कहाँ से काम-वासना, द्वेष, असन्तोष, भय आदि उत्पन्न होते हैं ?" भगवान् कहते हैं, "हे यक्ष ! कहता हूँ। ध्यान से सुन। जो आत्मा और उसकी उत्पत्ति को जानते हैं, वे इस दुस्तर भव-बाढ़ को तर जाते हैं, वे फिर इस संसार में जन्म प्राप्त नहीं करते।" इसी प्रकार वैर से कौन मुक्त है, इसका उत्तर देते हुए भगवान् कहते हैं, "जिसका चित्त दिन-रात वैर-साधन में लगा है, वह वैर से मुक्त नहीं होता। किन्तु जो सब प्राणियों के प्रति अहिंसा और मैत्री-भावना का आचरण करता है, वह वैर से विमुक्त हो जाता है।" इसी संयुत्त में एक यक्षिणी को अपने प्रिय पुत्र को यह कहकर चुप करते हुए हम देखते हैं "चुप हो जा प्रियंकर ! प्रिय वत्स चुप हो जा; देख यह भिक्षु कुछ कह रहा है। मुझे इसके वचन सुन लेने दे। यह मेरे लिए हितकर होगा।" इसी प्रकार एक और यक्षिणी कहती है "चुप हो जा उत्तरा ! पुनर्वसु! शोर बन्द कर दे।" देख मुझे इन शास्ता के वचन सुन लेने दे।" यक्ष और यक्षिणियों के रूप में यहाँ उस प्रभाव को ही अंकित किया गया है जो न केवल बुद्ध बल्कि तत्कालीन भिक्षु-भिक्षुणियों के भी पवित्र जीवन ने साधारण जनता के हृदय पर डाला था। साधारण गृहिणियाँ भी उनके वचन को सुनने के लिए कितना उत्सुक रहती थीं और उसे अपने लिए कितना कल्याणकारी मानती थीं, यह इस सुत्त में द्रष्टव्य है। इसी संयुत्त के अंत में एक यक्ष आकर भगवान् से कहता है, "भिक्षु ! मैं तुमसे एक प्रश्न पूछता हूँ। तू इसका उत्तर दे। यदि न दे सका तो मैं तेरी खोपड़ी को फोड़ दूँगा या तुझे पकड़ कर गंगा में फेंक दूँगा।" भगवान् कहते हैं, "मेरी खोपड़ी को तोड़ने वाला या मुझे पकड़ कर गंगा में फेंकने वाला इस संसार में कोई नहीं है। हाँ, तू इच्छानुसार प्रश्न पूछ

सकता है।" यक्ष भगवान् के उत्तरों से सन्तुष्ट हो जाता है और अन्त में बुद्ध, धम्म और संघ की शरण में जाता है। इतना ही नहीं, वह कृतज्ञता-पूर्वक कहता है, "अब मैं गाँव से गाँव, कस्बे (निगम) से कस्बे और नगर से नगर जाकर बुद्ध द्वारा उपदिष्ट धर्म का जनता (लोगों) के कल्याण के लिए प्रचार करूँगा।" यक्ष और बुद्ध के उपर्युक्त संवाद की तुलना विण्टरनित्ज ने महाभारत (वन-पर्व) के यक्ष और युधिष्ठिर के संवाद से की है।[1] किन्तु दोनों में बहुत अन्तर है। महाभारत में प्रारम्भ से लेकर अन्त तक युधिष्ठिर यक्ष की कृपा से भिक्षुक हैं और अपने उत्तरों द्वारा उसे प्रसन्न कर के ही वे अपनी विमुक्ति प्राप्त करते हैं। इसके विपरीत यहाँ यक्ष पहले ही बुद्ध पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने में असफल हो जाता है। बुद्ध-गौरव से पराजित होकर ही वह प्रश्न पूछता है और अन्त में तो वह उनका अंजलिबद्ध शिष्य ही हो जाता है।

११. सक्क-संयुत्त—देवराज शक्र की बुद्ध द्वारा प्रशंसा है। ऋग्वेद का वज्रधारी इन्द्र बौद्ध प्रभाव में आकर क्षमाशील बन गया है। वह वैसा असं-यमी भी नहीं रहा। भगवान् की प्रशंसा में इन्द्र की क्षमाशीलता और उसकी संयम-परायणता का ही विशेष वर्णन किया है। अपने इन्हीं गुणों के कारण उसने ३३ देवताओं के ऊपर आधिपत्य प्राप्त किया है। इसी प्रसंग में देवासुर-संग्राम का भी इस संयुत्त में वर्णन आया है।

२. निदान-वग्ग

१. निदान-संयुत्त—प्रतीत्य समुत्पाद का विशद वर्णन है। किस प्रकार अविद्या से संस्कार, संस्कार से विज्ञान, विज्ञान से नाम-रूप, नाम-रूप से सळा-यतन, सळायतन से स्पर्श और इस प्रकार क्रमशः वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति और जरा-मरण-शोक-परिदेव-दुःख आदि की उत्पत्ति होती है और किस प्रकार इनका क्रमशः निरोध होता हैं, इसी का उपदेश यहाँ भगवान् ने

---

१. हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ५८। विस्तृत उद्धरणों के लिए देखिये भिक्षु जगदीश काश्यप द्वारा सम्पादित संयुत्त-निकाय-पालि के प्रथम भाग के आरम्भ में उनके द्वारा लिखा हुआ 'आमुख' पृष्ठ १७-२०। भागवत और गीता से भी उद्धरण देते हुए यहाँ सगाथ-वग्ग के कुछ अन्य अंशों को मिलाया गया है।

भिक्षुओं को दिया है। विषय-निरूपण प्रायः महानिदान-सुत्त (दीघ २/२) के समान ही है।

२. अभिसमय-संयुत्त—अणुमात्र भी चित्त-मलिनता रहते निर्वाण की प्राप्ति सम्भव नहीं है। अतः भिक्षु को उत्तरोत्तर अनवरत अध्यवसाय करते हुए अ-प्रहीण चित्त-मलों को नष्ट करना चाहिए और सदाचरण की वृद्धि करनी चाहिए।

३. धातु-संयुत्त—चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा काय, मन, आदि इन्द्रियों, रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पृष्टव्य और धर्म उनके विषयों एवं चक्षु-विज्ञान, श्रोत्र-विज्ञान, घ्राण-विज्ञान, जिह्वा-विज्ञान, काय-विज्ञान एवं मनोविज्ञान उनके विज्ञानों, इस प्रकार इन अठारह धातुओं का यहाँ विवरण दिया गया है।

४. अनमतग्ग-संयुत्त—"भिक्षुओ! इस संसार का आदि पूर्णतः अज्ञात (अनमतग्ग) है। तृष्णा और अविद्या से संचालित, भटकते-फिरते प्राणियों के आरम्भ (पूर्व कोटि) का पता नहीं चलता।" यही इस संयुत्त की मूल भावना है। इस संयुत्त का ऐतिहासिक महत्त्व यह है कि स्थविर महेन्द्र ने इसका उपदेश लंका पहुँचने पर वहाँ के निवासियों को दिया। तृतीय संगीति के बाद स्थविर रक्षित ने इस संयुत्त का उपदेश वनवास प्रदेश में दिया।

५. कस्सप-संयुत्त—भगवान् बुद्ध ने महाकाश्यप की सन्तोष-वृत्ति की प्रशंसा की है। महाकाव्य यथा-प्राप्त भोजन, यथा-प्राप्त वस्त्र, यथा-प्राप्त शयनासन (निवास-स्थान) और यथा-प्राप्त पथ्य-औषध आदि की सामग्री से सन्तुष्ट हो जाने वाले हैं। भगवान् ने दूसरे भिक्षुओं को भी ऐसा ही होने का उपदेश दिया है।

५. लाभ-सक्कार-संयुत्त—लाभ और सत्कार से विरत रहने का भिक्षुओं को भगवान् के द्वारा उपदेश दिया गया है। उन्होंने कहा है कि लाभ और सत्कार को चाहने वाले भिक्षु का पतन हो जाता है और उसकी वही गति होती है जो अंकुश को निगलने वाली मछली की।

७. राहुल-संयुत्त—राहुल को संयम का उपदेश। शब्द, स्पर्श, रूप, रस गन्ध, सभी अनित्य और दुःख-रूप हैं। वनमें 'मैं' या 'मेरा' की भावना करने से दुःख ही हो सकता है। उनमें से किसी के विषय में 'यह मैं हूँ', 'यह मेरा आत्मा है' ऐसी भावना करना उपयुक्त नहीं। आचार्य बुद्धघोष का कहना है कि राहुल के संघ-प्रवेश से लेकर उनकी अर्हत्त्व-प्राप्ति तक के समय में ये उपदेश बुद्ध ने उन्हें दिये। इस संयुत्त के अन्तिम दो सुत्त, अनुसय-सुत्त और अपगत-सुत्त, अलग से 'पठम राहुल-सुत्त' और 'दुतिय राहुल-सुत्त' नाम से आगे

खन्ध-संयुत्त में भी आते हैं। इन दोनों में राहुल ने भगवान् से पूछा है कि क्या जान लेने पर इस जीवन के अहंकार-ममकार छूट जाते हैं। बुद्ध ने कहा है कि सब वस्तुओं को उनके यथाभूत रूप में देखना चाहिए और पंचस्कन्धों में कहीं भी 'मैं' या 'मेरा' नहीं है, ऐसा मानसिक अभ्यास करना चाहिए। यही सम्यक् विपश्यना (विदर्शना) है। आचार्य बुद्धघोष ने इन दोनों सुत्तों को 'राहुलोवाद-विपस्संना' कहा है। इस संयुत्त के सुत्तों के अतिरिक्त राहुल को दिया गया एक अन्य उपदेश भी संयुत्त-निकाय के सळायतन-संयुत्त में संगृहीत है, जो भी राहुल-सुत्त (या राहुलोवाद सुत्त—श्री नालन्दा पाठ) के नाम से ही प्रसिद्ध है। यहाँ बुद्ध राहुल को अन्धवन में ले जाते हैं और उन्हें सिखाते हैं कि चक्षु, रूप, चक्षु-विज्ञान, चक्षु-संस्पर्श, चक्षु-वेदना, इसी प्रकार श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काया, मन, इनके विज्ञान, संस्पर्श और वेदनाएँ सब अनित्य, दुःख और अनात्म हैं। इसे सुनकर ही राहुल को अर्हत्व की प्राप्ति हो जाती है। यही सुत्त मज्झिम-निकाय में चूल-राहुलोवाद-सुत्तन्त के नाम से भी आया है।

८. लक्खण-संयुत्त—एक दिन धर्मसेनापति सारिपुत्र और एक अन्य भिक्षु जिसका नाम लक्खण (लक्षण) था, साथ-साथ भिक्षा-चर्या को जा रहे थे। अचानक सारिपुत्र को हँसी आ गयी। भिक्षा से लौट आने के बाद लक्षण ने उनकी इस हँसी का कारण पूछा। धर्मसेनापति ने भगवान् बुद्ध और अन्य भिक्षुओं की उपस्थिति में उसका कारण बताया।

९. ओपम्म-संयुत्त—भगवान् ने भिक्षुओं को सचेत और जागरूक रहने का उपदेश दिया है। यहाँ उन्होंने उपमा (ओपम्म) की है। जिस प्रकार यदि लिच्छवि गणतन्त्र के लोग सतत जागरूक और सचेत नहीं रहेंगे, तो अजातशत्रु (मगधराज) उन्हें दबा लेगा, पराजित कर देगा, इसी प्रकार यदि भिक्षु अपने आचरण में थोड़ा सा भी प्रमाद करेंगे, तो उन्हें मार अपने फन्दे में दबा लेगा।

१०. भिक्ख-संयुत्त—महामोग्गल्लान (महामौद्गल्यायन) का भिक्षुओं को 'आर्य-मौन' पर उपदेश। उन्होंने बताया कि 'आर्य-मौन' का वास्तविक आचरण द्वितीय ध्यान की अवस्था में होता है। भगवान् बुद्ध नन्द और तिष्य (तिस्स) नामक भिक्षुओं को भिक्षु-नियमों का पूरा पालन करने को कहते हैं।

३. खन्ध-वग्ग

१. खन्ध-संयुत्त—पञ्चस्कन्धों का वर्णन है। रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान अनित्य, परिवर्तनशील और दुःख-रूप है। इनमें 'यह मैं हूँ', 'यह

मेरा है' या यह मेरा आत्मा है' इस प्रकार की भावना साधक को नहीं करनी चाहिए। बल्कि इनके उदय (उत्पत्ति) और व्यय (विनाश) का प्रत्यवेक्षण करना चाहिए और इनमें मन को आसक्त नहीं करना चाहिए। पञ्चस्कन्धों की अनित्यता और दुःखभयता का चिन्तन करने से काम-वासना रह ही नहीं सकती और पुनर्जन्म, अविद्या, आत्माभिनिवेश, सभी नष्ट हो जाते हैं। इसी 'संयुत्त' में 'सोण-सुत्त' और 'दुतिय सोण-सुत्त' में भगवान् ने सोण गृहपति-पुत्र को उपदेश दिया है। इन दोनों सुत्तों के संस्कृत प्रतिरूप हमें मूल सर्वास्तिवाद के अन्तर्गत 'श्रोण-सुत्त' में मिलते हैं जिसकी प्राप्ति गत शताब्दी में खण्डित रूप में मध्यएशिया में हुई।

२. राध-संयुत्त—स्थविर राध ने भगवान् से मार, तृष्णा, अनित्यता आदि पर प्रश्न पूछे हैं। भगवान् के उत्तर बड़े मार्मिक हैं।

३. दिट्ठि-संयुत्त—मिथ्या मतवादों की उत्पत्ति का कारण भगवान् ने बताया है। रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान में 'मैं' या 'मेरा' की भावना करना, इस प्रकार के चिन्तनों में लगे रहना जैसे कि क्या यह लोक शाश्वत है या अशाश्वत है, सान्त है या अनन्त है, क्या जीव और शरीर दो अलग-अलग हैं या एक हैं, आदि, इस प्रकार के विचारों की आसक्ति ही मिथ्या मतवादों का कारण है।

४. ओक्कन्तिक-संयुत्त—चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, शरीर और मन, ये सभी अनित्य, परिवर्तनशील और दुःख रूप हैं, इनमें 'आत्मा' (अत्ता) की उपलब्धि नहीं होती, इस प्रकार जिसकी स्मृति सदा उपस्थित रहती हैं, वही धर्म-मार्ग में विचरण करनेवाला भिक्षु है।

५. उप्पाद-संयुत्त—चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काव्य और मन का उत्पन्न होना ही जन्म, जरा, मरण, दुःख और शोक का उत्पन्न होना है—बुद्ध-उपदेश।

६. किलेस-संयुत्त—क्लेश या चित्त-मलों का विवरण है। चक्षु और दृश्य पदार्थ में, श्रोत्र और शब्द में, घ्राण और गन्ध में, जिह्वा और रस में, काय और स्पृष्टव्य में, मन और धर्मों (पदार्थों) में इच्छा और आसक्ति का होना ही चित्त का मल है।

७. सारिपुत्त-संयुत्त—आनन्द ने धर्मसेनापति सारिपुत्र से पूछा है कि उन्होंने अपनी इन्द्रियों को किस प्रकार शमित किया है? धर्मसेनापति ने उत्तर-स्वरूप कहा है "एकान्त-वास (प्रविवेक) से उत्पन्न, सुख और सौमनस्य से युक्त, प्रथम ध्यान में स्थित रहकर, विषयों से दूर रहकर, 'यह मैं हूँ, 'यह

मेरा है' इस प्रकार के विचारों को त्याग कर, मैंने अपनी इन्द्रियों को शमित किया है।"

८. नाग-संयुत्त—नागों की चार प्रकार की उत्पत्तियाँ हैं, जैसे कि अंडे से उत्पत्ति, माँ के पेट से उत्पत्ति, स्वेद से उत्पत्ति, माता-पिता से उत्पत्ति।

९. सुपण्ण-संयुत्त—सुपर्ण नामक पक्षियों की भी चार प्रकार की उत्पत्तियाँ हैं, अंडे से उत्पत्ति, माँ के पेट से उत्पत्ति, स्वेद से उत्पत्ति, बिना माता-पिता के उत्पत्ति।

१०. गन्धब्ब-काय-संयुत्त—गन्धर्व जाति के देवताओं का वर्णन है।

११. वलाह-संयुत्त—'वलाहक कायिक' अर्थात् बादल रूपी काया वाले देवताओं का वर्णन है।

१२. वच्छगोत्त-संयुत्त—वच्छगोत्त नामक परिव्राजक की मिथ्या-धारणाओं का भगवान् के द्वारा निवारण। क्या लोक शाश्वत है या अशाश्वत है, सान्त है या अनन्त है, जीव और शरीर एक ही हैं या अलग-अलग हैं, आदि मिथ्या धारणाओं का कारण भगवान् ने पंच स्कन्धों (रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान) के वास्तविक स्वरूप (अनित्य, दुःख, अनात्म) का अज्ञान ही बताया है। वच्छगोत्त परिव्राजक का भगवान् से संवाद मज्झिम-निकाय के तेविज्जवच्छगोत्त-सुत्त (२।३।१) में भी हुआ है।

१३. झान (या समाधि) संयुत्त—ध्यान या समाधि का विवरण है। भगवान् ने कहा है कि जो पुरुष ध्यान और उसकी प्राप्ति की रक्षा करने में कुशल है, वही सर्वोत्तम ध्यानी है।

४. शळायतन-वग्ग

१. सळायतन-संयुत्त—चक्षु और रूप, श्रोत्र और शब्द, घ्राण और गन्ध, काया और स्पर्श, मन और धर्म, सभी अनित्य, दुःख और अनात्म हैं। इन सब में, 'मैं' और 'मेरा' की भावना करना उपयुक्त नहीं। इनमें जब आसक्ति को मनुष्य नष्ट कर देता है, तो वह बन्धन से छूट जाता है। उच्चतम संयम भी यही है। इस संयुत्त में भगवान् का यह संप्रहर्षक उपदेश बार-बार आता है, "भिक्षुओ ! आँख तुम्हारी नहीं है। रूप तुम्हारा नहीं है। चक्षु-विज्ञान, चक्षु-संस्पर्श, चक्षु-वेदना, तुम्हारी नहीं हैं। श्रोत्र···घ्राण···जिह्वा···काया ···मन···तुम्हारे नहीं हैं, इन्हें छोड़ो, इनके छोड़ने से तुम्हारा हित, सुख होगा।" "न-तुम्हाकं-सुत्त"—अद्भुत ज्ञानमय उपदेश।

२. वेदना संयुत्त—सुखा, दुःखा और न-सुखा-न-दुःखा, ये तीन वेदनाएँ हैं। इनमें सुख की वेदना को दुःख के रूप में देखना चाहिए, दुःख की वेदना को शूल के रूप में देखना चाहिए और न-सुख-न-दुःख की वेदना को अनित्य के रूप में देखना चाहिए। वेदनाओं को छोड़ देने वाला अनासक्त भिक्षु ही 'सम्यक्‌दृष्टि'-सम्पन्न कहलाता है।

३. मातुगाम-संयुत्त—स्त्रियों-सम्बन्धी बुद्ध-प्रवचन है। भगवान् ने स्त्रियों को पुरुषों की अपेक्षा अधिक दुःखभागिनी माना है। अतः ब्रह्मचर्य-जीवन की उनके लिए उतनी ही अधिक आवश्यकता भी है। स्त्रियों को पाँच विशेष कष्ट उठाने पड़ते हैं—बाल्य-काल में माता-पिता का घर छोड़ना पड़ता है। उसे छोड़कर दूसरे (पति) के घर जाना पड़ता है, गर्भ धारण करना पड़ता है, प्रसव करना पड़ता है, पुरुष की सेवा करनी पड़ती है। संसार में रूप, धन, चरित्र और परिश्रमी स्वभाव वाली एवं सन्तान प्रसविनी स्त्री का आदर होता है। यदि स्त्री पतिव्रता, विनीत, लज्जाशील और ज्ञानवती हो तो वह मरने के बाद सद्‌गति प्राप्त करती है। दुराचारिणी, मूर्खा और निर्लज्जा होने पर वह मरने के बाद दुर्गतियों में पड़ती है।

४. जम्बुखादक-संयुत्त—जम्बुखादक नामक परिव्राजक के प्रति धर्मसेना-पति सारिपुत्र का बुद्ध-धर्म पर उपदेश है। निर्वाण और अर्हत्व का अर्थ सारि-पुत्र ने राग, द्वेष और मोह से विमुक्ति कहा है। इसे प्राप्त करने का उपाय अष्टांगिक मार्ग ही है। जिसने राग-द्वेष को छोड़ दिया, वही मनुष्य सुखी है। आस्रवों (चित्त-मलों) से विमुक्ति पाने का आर्य अष्टांगिक मार्ग से अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है।

५. सामंडक-संयुत्त—सामंडक नामक परिव्राजक के प्रति सारिपुत्र का 'निब्बाण' (निर्वाण) पर उपदेश है। विषय-वस्तु उपर्युक्त संयुक्त के समान ही है।

६. मोग्गल्लान-संयुत्त—महामोग्गल्लान (महामौद्‌गल्यायन) द्वारा भिक्षुओं को चार ध्यानों का उपदेश है। दीघ और मज्झिम निकायों के इस सम्बन्धी वर्णन से यहाँ कोई विशेषता नहीं है। बिलकुल उन्हीं शब्दों में यहाँ भी चार ध्यानों का विवरण दिया गया है। अरूपावचर भूमि के आकाशानन्त्यायतन, विज्ञानानन्त्यायतन, आकिंचन्यायतन और नैवसंज्ञानासंज्ञायतन नामक ध्यान-अवस्थाओं का भी यहाँ वर्णन किया गया है।

७. चित्त-संयुत्त—चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, काय और मन रूपी इन्द्रियाँ बन्धन की कारण नहीं हैं। रूप, शब्द, गन्ध, स्पर्श और मानसिक धर्म भी बन्धन के

कारण नहीं हैं। बन्धन का कारण तो वह वासना है, तृष्णा है, जो चक्षु और रूप के संयोग से उत्पन्न होती है, श्रोत्र और शब्द के संयोग से पैदा होती है, घ्राण और गन्ध के संयोग से पैदा होती है, काय और स्पर्श के संयोग से पैदा होती है, मन और धर्मों के संयोग से पैदा होती है। अतः इस वासना या तृष्णा का निरोध ही बन्धन-विमुक्ति का कारण है।

८. गामणि-संयुत्त—भोगवाद और तपश्चरण की अतियों को छोड़कर मध्यम मार्ग पर चलने का उपदेश गामणि को दिया गया है। क्रोध को छोड़कर क्षमाशील होने का भी यहाँ उपदेश दिया गया है।

९. असंखत-संयुत्त—निर्वाण असंस्कृत अर्थात् अकृत है। राग, द्वेष और मोह का सम्पूर्ण निरोध ही 'निर्वाण' कहा जाता है, कायिक-मानसिक जागरूकता (स्मृति-सम्प्रजन्य), चित्त-शान्ति (शमथ), आंरिक ज्ञान-दर्शन (विपश्यना), चार स्मृति-प्रस्थान और आर्य-अष्टांगिक मार्ग, यही उसकी प्राप्ति के सर्वोत्तम साधन हैं।

१०. अव्याकत-संयुत्त—कोशलराज प्रसेनजित् ने क्षेमा (खेमा) नाम की भिक्षुणी से पूछा है "क्या मृत्यु के बाद तथागत रहते हैं या नहीं रहते? या रहते भी हैं और नहीं भी रहते?" क्षेमा ने इसके उत्तर-स्वरूप केवल यह कहा है कि तथागत ने इसे अ-व्याकृत कर दिया है अर्थात् उन्होंने इसे ब्रह्मचर्य के लिए आवश्यक न समझकर अकथनीय कर दिया है। साथ में वह यह भी कहती है कि तथागत का ज्ञान गम्भीर समुद्र के समान है, जिसकी थाह नहीं ली जा सकती। जब अनिरुद्ध, सारिपुत्र और मौद्गल्यायन जैसे बुद्ध के अन्य शिष्यों से यह प्रश्न पूछा जाता है, तो वे भी उसका उसी प्रकार उत्तर देते हैं जैसे क्षेमा भिक्षुणी ने दिया है। दीघ और मज्झिम निकायों के 'दस अव्याकृत' (अकथनीय) धर्मों के समान यहाँ भी बुद्ध-मन्तव्य विमल-जल के समान स्वच्छ दिखलाई पड़ता है। पासादिक-सुत्त (दीघ० ३।६) और चूलमालुक्य-सुत्त (मज्झिम० २।२।३) के समान ही इस संयुत्त की विषयवस्तु हैं।

५. महावग्ग

१. मग्ग-संयुत्त—आर्य अष्टांगिक मार्ग (सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाणी, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति, सम्यक् समाधि) का पूरे विवरण के साथ वर्णन किया गया है।

२. बोज्झंग-संयुत्त—परम ज्ञान (बोधि) के सात अंगों यथा स्मृति, धर्म-

गवेषणा (धम्मविचय) वीर्य, प्रीति, प्रश्रब्धि (चित्त-प्रसाद), समाधि और उपेक्षा का विस्तृत वर्णन किया गया है।

३. सतिपट्ठान-संयुत्त—काया में कायानुपश्यी होना, वेदनाओं में वेदनानुपश्यी होना, चित्त में चित्तानुपश्यी होना और धर्मों (पदार्थों) में धर्मानुपश्यी होना, इन चार स्मृति-प्रस्थानों (सतिपट्ठान) का यहाँ दीघ[1] और मज्झिम[2] निकायों के समान शब्दों में विस्तृत वर्णन किया गया है।

४. इन्द्रिय-संयुत्त—श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा, इन पाँच इन्द्रियों अथवा ज्ञान-शक्तयों का वर्णन है।

५. सम्मप्पधान-संयुत्त—जो चित्त-मल अभी उत्पन्न नहीं हुए हैं, उनकी उत्पत्ति को रोकना, जो चित्त-मल उत्पन्न हो चुके हैं उनको नष्ट करना, जो शुभ कर्म अभी उत्पन्न नहीं हुए हैं उनको उत्पन्न करना, जो उत्पन्न हो चुके हैं उनको बढ़ाना, इन चार सम्यक्-प्रधानों या शुभ प्रयत्नों का यहाँ विस्तृत वर्णन किया गया है।

६. बल-संयुत्त—श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा, इन पाँच बलों का वर्णन है।

७. इद्धिपाद-संयुत्त—इच्छा-शक्ति (छन्द), वीर्य, चित्त और मीमांसा (वीमंसा), इन चार ऋद्धिपादों या योग-सम्बन्धी विभूतियों का वर्णन है।

८. अनुरुद्ध-संयुत्त—शरीर, वेदना, मन और मानसिक धर्म, इन सब पर अद्भुत संयम प्राप्त कर किस प्रकार स्थविर अनिरुद्ध ने योग की विभूतियों को प्राप्त किया है, इसका वर्णन है।

९. ज्ञान-संयुत्त—ध्यान की चार अवस्थाओं का वर्णन है। वर्णन की भाषा बिलकुल वही है जो प्रथम दो निकायों में। किस प्रकार शील और सदाचार में प्रतिष्ठित होकर, एकान्त-वास का सेवन कर, साधक क्रमशः ध्यान की प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ अवस्थाओं को प्राप्त करता है, इसका तिपिटक में प्रायः समान शब्दो में अनेक बार वर्णन किया है।[3] संक्षेप में हम यही कह सकते हैं कि प्रथम ध्यान की अवस्था में वितर्क, विचार, प्रीति, सुख और एकाग्रता रहते हैं। द्वितीय ध्यान की अवस्था में वितर्क और विचार का प्रहाण हो जाता है और केवल समाधि से उत्पन्न प्रीति और सुख रहते हैं। तृतीय

---

१. देखिये महासतिपट्ठान-सुत्त (दीघ० २।९)
२. सतिपट्ठान-सुत्त (मज्झिम० १।१।१०)
३. मिलाइये आनापान-सति-सुत्त (मज्झिम० ३।२।८)

ध्यान की अवस्था में प्रीति और सुख से भी उपेक्षा हो जाती है और साधक उपेक्षा और स्मृति के साथ ध्यान करने लगता है। चतुर्थ ध्यान में चूंकि सुख-दुःख, सौमनस्य, दौर्मनस्य पहले से ही अस्त हुए रहते हैं, अतः साधक न दुःख और न सुख वाले स्मृति और उपेक्षा से शुद्ध, इस ध्यान को प्राप्त करता है।

१०. आनापान-संयुत्त--भगवान् ने या श्वास-प्रश्वास के आने-जाने के साथ स्मृति की भावना करने का उपदेश दिया है और उसे मार्गप्राप्ति का सहायक माना है।[1]

११. सोतापत्ति-संयुत्त--सोतापत्ति अवस्था अर्थात् धर्म रूपी नदी की धारा में पड़ना, इसका वर्णन किया गया है। बुद्ध-धर्म और संघ में जिसकी श्रद्धा और निष्ठा है, वह सांसारिक लाभों की चिन्ता नहीं करता। वह इच्छा और द्वेष को छोड़कर फिर इस लोक में नहीं आता।

१२. सच्च-संयुत्त--चार आर्य सत्यों का वर्णन है। दुःख, दुःख-समुदय, दुःख-निरोध और दुःख-निरोध-गामिनी प्रतिपद्, इन चार आर्य सत्यों का उपदेश बुद्ध-धर्म की प्रतिष्ठा है। प्रायः समान शब्दों में इन सम्बन्धी उपदेश का वर्णन तिपिटक में अनेक बार आया है।

उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण में यद्यपि वर्गों और संयुक्तों के क्रम से उनकी विषयवस्तु का संक्षिप्त दिग्दर्शन करा दिया गया है, किन्तु उनके असंख्य सुत्तों की वह सामग्री अभी बाकी ही बच रहती है जो उन्होंने बुद्ध, उनके जीवन, उनके उपदेश, इसी प्रकार बुद्ध-शिष्यों के जीवन और उपदेश, तत्कालीन अन्य धर्मोपदेष्टाओं और धार्मिक विचारों के साथ बुद्ध और उनके धम्म का सम्बन्ध तत्कालीन ऐतिहासिक और भौगोलिक परिस्थिति, एवं इसी प्रकार के अन्य महत्त्वपूर्ण विषय के सम्बन्ध में दी है। इन सम्बन्धी स्मृतियों का कुछ

---

१. आनापान-सति के विवरण के लिए मिलाइये विशेषतः भयभेरव-सुत्त (मज्झिम० १।१।४); द्वेधा-वितक्क-सुत्त (मज्झिम० १।२।९), महाअस्सपुर-सुत्त (मज्झिम० १/४/९); चूलहत्थिपदोपम-सुत्त (मज्झिम० १/३/७); सामञ्ज फल-सुत्त (दीघ० १/२); अम्बट्ठ-सुत्त (दीघ० १/३); सोणदंड-सुत्त (दीघ० १/४); कूटदन्त-सुत्त (दीघ० १/५); महालि-सुत्त (दीघ० १/६); पोट्ठपाद-सुत्त (दीघ० १/९); केवट्ठ-सुत्त (दीघ० १/११); सुभ-सुत्त (दीघ० १/१०); चक्कवत्तिसीहनाद-सुत्त (दीघ० ३/३), संगीतिपरियाय-सुत्त (दीघ० ३/१०) आदि, आदि।

संक्षिप्त दिग्दर्शन करना यहाँ आवश्यक होगा। संयुत्त-निकाय के 'धम्म-चक्क-पवत्तन-सुत्त' में (जो विनय-पिटक—महावग्ग के इस सम्बन्धी वर्णन की पुनरुक्ति ही है) हम बुद्ध को वाराणसी के ऋषिपतन मृगदाव (वर्तमान सारनाथ) में पञ्चवर्गीय भिक्षुओं को उपदेश करते देखते हैं। काम-वासनाओं में काम-लिप्त होना और काय-क्लेश में लगना, इन दो अतियों के त्याग एवं आर्य अष्टांगिक मार्ग रूपी मध्यम-मार्ग के आचरण तथा चार आर्य सत्यों का उपदेश देते यहाँ हम प्रथम बार भगवान् को देखते हैं। सळायतन-संयुत्त में (यहाँ भी विनय-पिटक-महावग्ग के समान ही) हम तथागत को भिक्षुओं को इस प्रकार सम्बोधित करते हुए देखते हैं "भिक्षुओं! जितने भी मानुष और दिव्य पाश हैं, मैं उन सब से मुक्त हूँ। तुम भी दिव्य और मानुष पाशों से मुक्त होओ। भिक्षुओं! बहुत जनों के हित के लिए, बहुत जनों के सुख के लिए, लोक पर दया करने के लिए, देवताओं और मनुष्यों के प्रयोजन के लिए, हित के लिए, सुख के लिए, विचरण करो। एक साथ दो मत जाओ! भिक्षुओं! आदि में कल्याणकारी, मध्य में कल्याणकारी, अन्त में कल्याणकारी धर्म का उसके पूरे शब्दों और अर्थों के साथ उपदेश करते हुए सम्पूर्ण, परिशुद्ध ब्रह्मचर्य का प्रकाश करो। संसार में अल्प दोष वाले प्राणी भी हैं। धर्म के न श्रवण करने से उनकी हानि होगी। सुनने से वे धर्म के जानने वाले होंगे। भिक्षुओं! मैं भी जहाँ उरुवेला और सेवानी गाँव है, वहाँ धर्म-देशना के लिए जाऊँगा।" सतिपट्ठान-संयुत्त के जरा-सुत्त में भगवान् की वृद्धावस्था का सजीव चित्र है। भगवान् अपरान्ह में ध्यान से उठकर धूप में बैठे हैं। आनन्द भगवान् को देखकर कहते हैं "आश्चर्य भन्ते! अद्भुत भन्ते! भगवान् के चमड़े का रंग उतना परिशुद्ध, उतना पर्यवदात (उज्ज्वल) नहीं है। अंग भी शिथिल हो गये हैं। पूरी काया में झुर्रियाँ पड़ी हुई हैं। शरीर आगे की ओर झुका है। आँख, कान, नाक आदि इन्द्रियों में भी विपरिणाम दिखाई पड़ता है।" "आनन्द! यह ऐसा ही होता है। यौवन में जरा-धर्म है, आरोग्य में व्याधि-धर्म है। जीवन में मरण-धर्म है।" हम भगवान् और उनके उपस्थापक शिष्य के विमल मनुष्य-रूप को यहाँ देखते हैं। इसी निकाय के सकलित-सुत्त में हम सूचना पाते हैं कि भगवान् का पैर पत्थर के टुकड़े से विक्षत हो गया है और वे स्मृति-सम्प्रजन्य के साथ उसको सहन कर रहे हैं। इसी प्रकार सक्क-संयुत्त में अनाथपिंडिक की दीक्षा एवं जेतवन-दान का वर्णन है। विनय-पिटक के चुल्लवग्ग में भी यही वर्णन आया है। संयुत्त-निकाय के भिक्खु-संयुत्त में हम सूचना पाते हैं कि कौशाम्बिक भिक्षुओं के दुर्व्यवहार के कारण भगवान्

पात्र-चीवर ले विना किसी भिक्षु को कहे अकेले ही पारिलेय्यक (पालिलेय्यक) नामक स्थान में एकान्त-वास के लिए चले गये हैं। संयुत्त-निकाय के 'उदायि-सुत्त' में हम भगवान् और स्थविर उदायी का संवाद देखते हैं, जो शास्ता और शिष्य के सम्बन्ध के अलावा बुद्ध-धर्म के प्रारम्भिक स्वरूप पर भी पर्याप्त प्रकाश डालता है।" "भन्ते! पहले गृहस्थ होते समय मुझे धर्म से बहुत लाभ न मिला था। किन्तु भन्ते! आज मैंने धर्म को जान लिया। मुझे वह मार्ग मिल गया!" "साधु उदायी! तुझे वह मार्ग मिल गया। जैसे-जैसे तू इसकी भावना करेगा, वृद्धि करेगा, यह तुझे वैसे ही भाव को ले जायगा जिससे कि तू जानेगा "आवागमन का क्षय हो गया, ब्रह्मचर्य-वास पूरा हो चुका, करना था सो कर लिया, अब कुछ करने को बाकी नहीं है।" भगवान् का अपने शिष्य भिक्षुओं के साथ कैसा अनुकम्पामय सम्बन्ध था, इसका एक और उदाहरण इसी निकाय में देखिये। मग्ग-संयुत्त के चुन्द-सुत्त में हम चुन्द समणुद्देस को भगवान् के पास धर्मसेनापति के परिनिर्वाण का सन्देश लाते देखते हैं। इसे सुनते ही आनन्द की क्या हालत होती है, यह उन्हीं के शब्दों में सुन लीजिए "आयुष्मान् सारिपुत्र परिनिर्वृत्त हो गये, यह सुनकर मेरा शरीर ढीला पड़ गया है, मुझे दिशाएँ नहीं सूझतीं, बात भी नहीं सूझ पड़ती।" भगवान् सचेत करते हैं "क्यों आनन्द! क्या मैंने पहले ही नहीं कह दिया है कि सभी प्रियों से जुदाई होती है। इसलिये आनन्द! आत्मदीप, आत्म-शरण, अ-परालम्बी होकर विहरो। धम्मदीप, धम्म-शरण, अपरालम्बी होकर विहरो।" इसी संयुत्त के उक्काचेला-सुत्त में सारिपुत्र के परिनिर्वाण के थोड़े दिन बाद ही भगवान् को अपने द्वितीय प्रधान शिष्य महामौदगल्यायन के भी परिनिर्वाण की सूचना मिलती है। सभी शिष्य अपने शास्ता के सहित-स्मृति-सम्प्रजन्य के साथ इस दुःख को सहते हैं। एक दिन भगवान् गङ्गा की रेती में उक्काचेल नामक स्थान पर विहर रहे हैं। भिक्षु-परिषद् को विज्ञापित करने के लिए बैठते हैं, किन्तु सर्वप्रथम ध्यान आता है अपने सद्यः परिनिवृत्ति शिष्य सारिपुत्र और मौद्‌गल्यायन का। बुद्ध का मानवीय रूप फूट पड़ता है "भिक्षुओ! सारिपुत्र और मौद्‌गल्यायन के बिना मुझे यह परिषद् शून्य सी जान पड़ती है। जिस दिशा में सारिपुत्र-मौद्‌गल्यायन विहरते थे, वह दिशा किसी और की न चाहने वाली होती थी।" इतना ही कह पाते हैं कि भगवान् का मानवीय रूप उनके बुद्ध-रूप में परिवर्तित हो जाता है और "भिक्षुओ! आश्चर्य है तथागत को! अद्‌भुत है तथागत को! इस प्रकार के शिष्यों की जोड़ी के परिनिवृत्त हो जाने पर भी तथागत को शोक-परिदेव नहीं है। भिक्षुओ!

जैसे महान् वृक्ष के खड़े रहते भी उसकी सारवाली शाखाएँ टूट जायें, उसी प्रकार भिक्षुओ ! तथागत को भिक्षु-संघ के रहते भी सार वाले सारिपुत्र और महामौद्गल्यायन का परिनिर्वाण है। सो वह भिक्षुओ ? कहाँ से मिले ! जो कुछ उत्पन्न होने वाला है, सब नष्ट होने वाला है। इसलिये भिक्षुओ ! आत्म-दीप, आत्म-शरण, अनन्यशरण होकर विहरो, धर्म-दीप, धर्म-शरण, अनन्य-शरण होकर विहरो।" शास्ता का मानवीय रूप और साथ-साथ उनका बुद्धत्व यहाँ स्पष्टतम रूप में दिखाई पड़ता है। बुद्ध-धर्म की साधना इसी जन्म की साक्षात् अनुभूति के लिए है, यह तथ्य इस निकाय के संवहुल-सुत्त से भली प्रकार हृदयंगम किया जा सकता है। एक ब्राह्मण आकर भिक्षुओं से कहता है "आप लोग वर्तमान को छोड़कर कालान्तर की ओर दौड़ रहे हैं। इससे तो यही अच्छा हो कि आप मानुष कामों का भोग करें।" भिक्षु उत्तर देते हैं 'ब्राह्मण ! हम वर्तमान को छोड़कर कालान्तर की चीज के पीछे नहीं दौड़ रहे। वल्कि कालान्तर की चीज को छोड़कर ब्राह्मण ! हम वर्तमान के पीछे दौड़ रहे हैं। ब्राह्मण ! भगवान् ने कामों को बहुत दुःख वाले, बहुत प्रयास वाले, वहुत दुष्परिणाम वाले, कालिक (कालान्तर) कहा है। किन्तु यह धर्म तो सांदृष्टिक (वर्तमान में फल देने वाला), अ-कालिक, यहीं साक्षात्कार किया जाने वाला, सत्य की तह तक पहुँचाने वाला और प्रत्येक शरीर में अनुभव करने योग्य है।" अत्त-दीप-सुत्त में हम आत्मनिर्भर होने का उपदेश पाते हैं, जिसकी पुनरावृत्ति भगवान् ने अनेक स्थलों पर की है और जो उनके धर्म के स्वरूप को समझने के लिए अति आवश्यक है। भगवान् सब को प्रव्रज्या का ही उपदेश नहीं देते थे। बल्कि गृहस्थाश्रम में रह कर भी प्रमाद-रहित जीवन की सम्भावना मानते थे। ऐसा ही उन्होंने राजों (मकान बनाने वाले मजदूरों) से इसी निकाय के थपति-सुत्त (या थपतयो-सुत्त) में कहा भी है; "स्थपतियो ! गृहवास बाधापूर्ण है, मल का मार्ग है। प्रव्रज्या खुली जगह है। किन्तु स्थपतियो ! तुम्हारे लिये अप्रमाद से रहना ही उपयुक्त है।" ऐसा मालूम पड़ता है कि भगवान् के इस अप्रमाद-उपदेश को स्मरण करके ही अशोक अपनी प्रजाओं को इतनी पुनरावृत्ति के साथ अ-प्रमाद का जीवन बिताने को कहता है।[1] संयुत्त-निकाय में बुद्धकालीन भारत में प्रचलित धार्मिक सम्प्रदायों और उनके प्रधान आचार्यों एवं बुद्ध और उनके धर्म के साथ उनके सम्बन्धों पर भी प्रकाश डालने वाले काफी वर्णन हैं। इस प्रकार संयुत्त-निकाय

---

१. देखिये आगे दसवें अध्याय में अशोक के अभिलेखों का विवरण।

के खन्ध-संयुत्त में हम उस काल के छह प्रसिद्ध आचार्यों यथा पूर्ण काश्यप, मक्खली (मस्करी) गोशाल, संजय वेलट्ठिपुत्त, प्रक्रुध-कात्यायन[1] आदि का वर्णन पाते हैं। इसी प्रकार मोग्गल्लान-संयुत्त के असिबन्धकपुत्त-सुत्त और निगंठ-सुत्त से हमें बुद्ध-धर्म और तत्कालीन जैन धर्म के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में पर्याप्त सूचना मिलती है। नाना-तित्थिय-सुत्त तथा पाटलि-सुत्त में भी तत्कालीन अन्य मतों का वर्णन मिलता है। तत्कालीन याज्ञिक ब्राह्मणों के यज्ञवाद और बुद्ध के नैतिक आदर्शवाद में क्या ऐतिहासिक सम्बन्ध है, और किस प्रकार एक के सामने दूसरे को झुकना पड़ा, यह देखने के लिए संयुत्त-निकाय का सुन्दरिक-भारद्वाज सुत्त अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। कोसल-देश में सुन्द-रिका नदी पर भारद्वाज नामक ब्राह्मण हवन कर रहा है। भगवान् भी उधर चारिका करते हुए निकल पड़ते हैं। वह उन्हें देखकर यज्ञ से बचा हुआ, अन्न देना चाहता है, किन्तु पहले पूछता है "आप कौन जाति हैं ?" भगवान् का ज्ञान उभाड़ पाता है "जाति मत पूछ। आचरण पूछ। काठ से आग पैदा होती है। नीच कुल का पुरुष भी धृतिमान्, ज्ञानी, पाप-रहित, मुनि हो सकता है। जो सत्य का आचरण करने वाला, जितेन्द्रिय और ज्ञान के अन्त को पहुँचा हुआ है और जिसने ब्रह्मचर्य-वास समाप्त कर लिया है, वह यज्ञ में उपनीत ही है और वह काल से दक्षिणा देने योग्य है। जो उसे देता है, वह दक्षिणाग्नि में ही हवन करता है।" भारद्वाज को ऐसे उदारातिशय वचन सुनकर श्रद्धा उत्पन्न होती है। वह कहता है, "निश्चय ही यह मेरा यज्ञ सुहुत है जो ऐसे ज्ञान को प्राप्त (वेदगू) पुरुष को मैंने देखा। तुम्हारे जैसे को न देखने से ही दूसरे जन हव्य-शेष खाते हैं। हे गौतम ! आप भोजन करें। आप ब्राह्मण हैं।" भारद्वाज ब्राह्मण की यह बुद्ध-प्रशंसा दिखलाती है कि यज्ञवादी होते हुए भी ब्राह्मण ज्ञान और सदाचार की प्रतिष्ठा को समझते थे और उसे देखकर उसके सामने नतमस्तक होना भी जानते थे। भारद्वाज ब्राह्मण का बुद्ध को ब्राह्मण तक मानने को उद्यत हो जाना और उनकी प्रशंसा करना उसकी उदारता का सूचक है। कुछ भी हो, यज्ञ को ही सर्वस्व मानने वाले ब्राह्मणों को भी बुद्ध के ज्ञान-यज्ञ का लोहा अवश्य मानना पड़ा। भारद्वाज को उद्बोधित करते

---

१. सुत्त-पिटक के प्रक्रुध कात्यायन (पकुध कच्चायन) को डॉ० हेमचन्द्र राय चौधरी ने प्रश्न-उपनिषद् के कबन्धी कात्यायन से मिलाया है। देखिये उनका पोलिटिकल हिस्ट्री ऑव एन्शियेन्ट इण्डिया, पृष्ठ ३४ (छठा संस्करण, १९५३)।

हुए भगवान् उससे कहते हैं, ब्राह्मण ! लकड़ी जला कर शुद्धि मत मानो। यह तो बाहरी चीज है। पंडित लोग उससे शुद्धि नहीं बतलाते जो बाहर से भीतर की शुद्धि है। ब्राह्मण ! मैं दारु-दाह छोड़ भीतर की ज्योति जलाता हूँ। नित्य आग वाला, नित्य एकान्त-चित्त वाला हो, मैं ब्रह्मचर्य पालन करता हूँ। ब्राह्मण ! यह तेरा अभिमान खरिया का भार है, क्रोध धुँवा है, मिथ्या-भाषण भस्म है, जिह्वास्रुवा है और हृदय ज्योति का स्थान है। आत्मा के दमन करने पर पुरुष की ज्योति प्राप्त होती है। ब्राह्मण ! शील तीर्थ वाला, सन्त जनों से प्रशंसित, निर्मल धर्म रूपी सरोवर है। इसी में वेद को जानने वाले (वेदगू) पुरुष नहाकर बिना भीगे गात्र के पार उतरते हैं। ब्रह्म-प्राप्ति, सत्य, धर्म, संयम और ब्रह्मचर्य पर आश्रित है। तू ऐसे हवन किये हुओं को नमस्कार कर। मैं उनको पुरुषों को संयमी बनाने के लिये सारथी-स्वरूप कहता हूँ।" इस प्रकार इस निकाय में हमें बुद्ध-जीवन, बुद्ध और उनके शिष्य, एवं बुद्धधर्म और तत्कालीन अन्य धार्मिक साधनाओं के साथ तथा उसके सम्बन्ध आदि के विषय में प्रभूत जानकारी मिलती है।

ऐतिहासिक और भौगोलिक परिस्थितियों का भी इस निकाय में प्रथम दो निकायों की तरह काफी परिचय मिलता है। जहाँ तक राजनैतिक इतिहास का सम्बन्ध है, इस निकाय में कोसलराज प्रसेनजित का वर्णन आया है और मगध-राज अजातशत्रु के साथ उसके युद्ध, अजातशत्रु की पराजय और बाद में प्रसेनजित् की पुत्री वज्रा (वजिरा) का उससे विवाह और भेंट-स्वरूप काशी-प्रदेश की प्राप्ति, इन घटनाओं का विवरण पहले किया ही जा चुका है। कौशाम्बी-नरेश उदयन (उदेन) का भी यहीं वर्णन आया है। इसके अतिरिक्त लिच्छवि, कोलिय आदि क्षत्रिय राजाओं के जहाँ-तहाँ वर्णन भरे पड़े हैं। भौगोलिक दृष्टि से राजगृह में वेळुवन, सुंसुमारगिरि में भेसकलावन, वैसाली में माहावन, साकेत में कण्टकीवन और अंजन-वन, कौशाम्बी में सिंसपावन, काशी में अम्बाटक वन, आदि वनों; नेरंजरा, (नैरञ्जना), गंगा, यमुना, अचिरवती, सरभू (सरयू), मही, सुतनु, सुन्दरिका, सप्पिणी (सर्पिणी) आदि नदियों; हिमवन्त, मगध में गृध्रकूट और अवन्ती में कुररधर आदि पर्वतों; न्यग्रोधाराम (कपिलवस्तु), कुक्कुटाराम (पाटलिपुत्र) आदि आरामों, नालक (मगध), शाला (कोसल), एकशाला (कोसल), इच्छानंगल (कोसल), वेळुद्वार (कोसल), अन्धकविन्द (मगध), पंचशाला (मगध), सेनानी गाम (मगध), कोटिगाम (वज्जि जनपद) और उक्काचेला (वज्जि जनपद) जैसे गाँवों; मगध, कोसल, वज्जि, काशी जैसे प्रदेशों; कपिलवस्तु, साकेत, राजगृह,

चम्पा जैसे नगरों और आपण (अंगुत्तराप), उरुवेलकप्प (मल्ल जनपद) और उत्तर (कोलिय) जैसे अनेक कस्बों (निगमों) के वर्णन भरे पड़े हैं, जो तत्कालीन भारतीय प्रदेशों और उनके निवासियों के जीवन-सम्बन्धी काफी महत्त्वपूर्ण ज्ञान को हमें प्रदान करते हैं।

ई--अंगुत्तर-निकाय[1]

अंगुत्तर-निकाय सुत्त-पिटक का चौथा बड़ा भाग है। बुद्ध-धर्म के जिस स्वरूप का ज्ञान हमें प्रथम तीन निकायों में मिलता है, वही अंगुत्तर-निकाय का भी विषय है। केवल अंगुत्तर-निकाय की शैली में कुछ भिन्नता है। संख्याबद्ध शैली इस निकाय की सबसे बड़ी विशेषता है। जैसा पहले दिखाया जा चुका है, सम्पूर्ण निकाय ग्यारह निपातों में विभक्त है, यथा एक-निपात या एकक-निपात, दुक-निपात, तिक-निपात, चतुक्क-निपात, पञ्चक-निपात, छक्क-निपात, सत्तक-निपात, अट्ठक-निपात, नवक-निपात, दसक-निपात तथा एकादसक-निपात। प्रत्येक निपात वर्गों में विभक्त है। ग्यारह निपातों की वर्ग-संख्या क्रमशः इस प्रकार है (१) २१ वर्ग, (२) १६ वर्ग, (३) १६ वर्ग, (४) २६ वर्ग, (५) २६ वर्ग, (६) १२ वर्ग, (७) ९ वर्ग, (८) ९ वर्ग, (९) ९ वर्ग, (१०) २२ वर्ग और (११) ३ वर्ग। इस प्रकार ग्यारह निपात कुल १६९ वर्गों में विभक्त हैं। प्रत्येक वर्ग में अनेक सुत्त हैं, जिनकी कम-से-कम संख्या ७ और अधिक-से-अधिक २६२ है। कुल मिलाकर अंगुत्तर-निकाय में २३०८ सुत्त हैं। परन्तु परम्परागत रूप से यह संख्या ९५५७ मानी जाती है।

---

१. मॉरिस तथा हार्डी द्वारा पाँच जिल्दों में रोमन लिपि में सम्पादित, पालिटैक्स्ट सोसायटी द्वारा प्रकाशित, लन्दन १८८५-१९००। छठी जिल्द में मेबिल हण्ट ने अनुक्रमणियाँ दी हैं। सिंहली लिपि में देवमित्त का संस्करण, कोलम्बो, १८८३, प्रसिद्ध है। बरमी और अन्य सिंहली संस्करण भी उपलब्ध हैं। देवनागरी लिपि में भिक्षु जगदीश काश्यप के प्रधान संपादकत्व में सम्पादित एवं बिहार राज्य के पालि प्रकाशन मण्डल द्वारा चार जिल्दों में सन् १९६० में प्रकाशित। अंगुत्तर-निकाय के प्रथम तीन निपातों का हिन्दी अनुवाद भदन्त आनन्द कौसल्यायन ने किया है, जिसे महाबोधि सभा, कलकत्ता, ने सन् १९५७ में प्रकाशित किया है। बाद में उन्होंने दूसरे, तीसरे और चौथे भागों में सम्पूर्ण अङ्गुत्तर निकाय के अनुवाद को ही पूरा कर दिया है, जिसे उस सभा ने ही प्रकाशित किया है।

अट्ठसालिनी की निदान-कथा में आचार्य बुद्धघोष ने कहा है "नवसुत्तसहस्स-पंचसत-सत्तपण्णाससुत्तसंग ही अंगुत्तर-निकायो ।" इसी प्रकार (सद्धम्मसंग्रह"[1] में भी कहा गया है, "नवसुत्तसहस्सानि पञ्च सुत्तसतानि च । सत्तापञ्चास-सुत्तानि सङ्गा अंगुत्तर अयं ।' आकार में अंगुत्तर-निकाय के सूत्र प्रायः संयुत्त-निकाय के सुत्तों के समान ही छोटे हैं और उन्हीं के समान उनका विषय भी कोई बुद्ध-प्रवचन या किसी के साथ हुआ बुद्ध-संवाद है । "एकं समय" की भूमिका भी पूर्व के निकायों के समान है । अंगुत्तर निकाय के प्रत्येक निपात में ऐसी संख्याओं से सम्बद्ध उपदेशों का संग्रह किया गया है, जिनकी समता उक्त निपात की संख्या से है । इस प्रकार एकक-निपात में केवल उन उपदेशों का संग्रह है जिनका सम्बन्ध संख्या एक से है । इस प्रकार उत्तरोत्तर बढ़ती हुई यह संख्या एकादसक-निपात तक पहुँच जाती है, जिसमें भगवान् बुद्धदेव के उन उपदेशों का संग्रह है जिनके विषय का सम्बन्ध किसी-न-किसी प्रकार संख्या ग्यारह से है । यही कारण इस निकाय के अंगुत्तर निकाय (अंकोत्तर-निकाय) नामकरण का भी है । 'मिलिन्दपञ्ह'[2] में इसी निकाय का नाम 'एकुत्तर-निकाय'—एकोत्तर-निकाय) भी कहा गया है । उसका भी यही अर्थ है । सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय के संस्कृत-त्रिपिटक में भी यह निकाय 'एकोत्त-रागम' के नाम से ही प्रसिद्ध था, यह उसके चीनी अनुवाद से विदित होता है । अंगुत्तर-निकाय की संख्या-बद्ध शैली उसके लिये कोई नयी नहीं है । थोड़ी-बहुत यह प्रत्येक निकाय में पायी जाती है । अतः उसके आधार पर इस संग्रह को प्रथम तीन निकायों की अपेक्षा कालक्रम में बाद का ठहराना ठीक नहीं माना जा सकता । वास्तव में तो प्रत्येक निकाय में ही, बल्कि कहीं-कहीं प्रत्येक सुत्त में ही, पूर्व और उत्तरकालीन परम्पराओं के साक्ष्य साथ-साथ दिखाई पड़ते हैं । यही बात अंगुत्तर-निकाय में भी है । अतः गणनात्मक शैली की बहुलता होने के कारण ही अंगुत्तर-निकाय को बाद का संग्रह नहीं माना जा सकता । जैसा अभी कहा गया, गणनात्मक प्रणाली थोड़ी-बहुत मात्रा में प्रत्येक निकाय में पायी जाती है । दीर्घ-निकाय के संगीति-परियाय-सुत्त और दसुत्तर-सुत्त एवं खुद्दक-निकाय के खुद्दक-पाठ (कुमारपञ्ह), थेरगाथा, थेरी-गाथा, इतिवुत्तक आदि से वस्तु-विन्यास संख्यात्मक वर्गीकरण की शैली के आधार पर ही किया गया है । बाद में चल कर अभिधम्म-पिटक में तो यह

---

१. पृष्ठ ८ (देवनागरी संस्करण) ।

२. पृष्ठ ३५४ (बम्बई विश्वविद्यालय का देवनागरी संस्करण) ।

प्रणाली पूरे सात महाग्रंथों का ही आधार बन जाती है। चूँकि अंगुत्तर-निकाय की अभिधम्म-पिटक से इस विषय में सबसे अधिक समानता है, बल्कि उसके ग्यारह निपातों से अभिधम्म-पिटक के एक ग्रन्थ (पुग्गल-पञ्ञत्ति) की तो सारी विषयवस्तु ही निकाली जा सकती है, अंगुत्तर-निकाय के इस प्रकार वर्गीकृत बुद्ध-वचनों को उत्तरकालीन संग्रह नहीं लाना जा सकता। जैसा हम पहले भी दिखा चुके हैं, बुद्ध-वचनों का संरक्षण, उस युग में, सुनने वालों की स्मृति में ही किया जाने के कारण, उसकी सहायतार्थ संख्यात्मक संविधान की आवश्यकता पड़ती थी। इसलिये कभी-कभी स्वयं शास्ता भी अपने उपदेशों में इस प्रकार के तत्त्व का सम्मिश्रण कर देते थे। यह हम अंगुत्तर-निकाय के एकक-निपात के 'कजंगला-सुत्त' में अच्छी प्रकार देख सकते हैं। कुछ उपासक कजंगला नामक भिक्षुणी के पास जाकर पूछते हैं, "अय्या! भगवान् ने यह कहा है 'महा प्रश्नों में एक प्रश्न एक उद्देश, एक उत्तर; दो प्रश्न, दो उद्देश, दो उत्तर · दस प्रश्न, दस उद्देश, दस उत्तर! भगवान् के इस संक्षिप्त कथन का उत्तर किस प्रकार समझना चाहिए?" कजंगला भिक्षुणी ने कहा, "एक प्रश्न, एक उद्देश, एक उत्तर! यह जो भगवान् ने कहा, वह इस कारण कहा। आवुसो! एक वस्तु में भिक्षु भली प्रकार निर्वेद को प्राप्त हो, भली प्रकार विराग को प्राप्त हो, भली प्रकार विरक्त हो, अच्छी प्रकार अन्तर्दर्शी हो, इसी जन्म में दुःख का अन्त करने वाला हो। किस एक धर्म में? 'सभी सत्य आहार पर निर्भर है।' आवुसो! भगवान् ने जो यह कहा, एक प्रश्न, एक उद्देश, एक उत्तर! वह इसी कारण कहा!" इसी प्रकार उत्तरोत्तर क्रम से बढ़ती हुई कजंगला भिक्षुणी दस प्रश्न, दस उद्देस, दस उत्तर (व्याकरण) तक की व्याख्या करती हैं। गणनात्मक विधान होते हुए भी स्वयं उपदेश की गम्भीरता में कोई अन्तर यहाँ नहीं आता। यही बात विस्तार से हम अंगुत्तर-निकाय में भी देखते हैं। चार आर्य सत्य, आर्य-अष्टाङ्गिक मार्ग, सात बोध्यङ्ग, चार सम्यक प्रधान, पाँच इन्द्रिय आदि सभी मौलिक बुद्ध-उपदेश इसी संख्यात्मक तत्त्व की सूचना देते हैं। अंगुत्तर-निकाय में केवल इसे उनके वर्ग-बद्ध स्वरूप में प्रस्तुत करने का आधार मान लिया गया है। अतः निश्चित है कि इसके अनेक सुत्त या अंश जो पिछले निकायों में अनेक प्रसंगों में आ चुके हैं, यहाँ संख्यात्मक प्रणाली को पूर्णता देने के लिए फिर रख दिये गये हैं।[1] उदाहरणतः चार

---

१. इनकी सूची के लिए देखिये पालि टैक्स्ट सोसायटी द्वारा प्रकाशित अंगुत्तर-निकाय, जिल्द पाँचवीं, पृष्ठ ८ (भूमिका)।

आर्य सत्यों और आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग सम्बन्धी उपदेश विनय-पिटक के महावग्ग तथा संयुत्त-निकाय के 'धम्मचक्कपवत्तन-सुत्त' में स्वभावतः वाराणसी में दिये हुए उपदेश के रूप में अंकित हैं, किन्तु अंगुत्तर-निकाय में चार आर्य सत्यों सम्बन्धी उपदेश चतुक्क-निपात और आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग सम्बन्धी उपदेश अट्ठक-निपात में संगृहीत हैं। अतः यह बहुत सम्भव है कि कुछ स्थलों में अंगुत्तर-निकाय के सुत्त दीघ और मज्झिम निकायों के परिवर्तित, विभक्त अथवा संक्षिप्त स्वरूप ही हों। किन्तु अधिकतर स्थलों में वे मौलिक ही हैं और उनकी उपयुक्तता उनके संख्यात्मक स्वरूप में वहाँ असंदिग्ध भी है। अंगुत्तर-निकाय में सुत्त-निपात का पारायणवग्ग उद्धृत है, इस आधार पर उसे एक बाद का संकलन मानना उचित नहीं, क्योंकि इस प्रकार के पारस्परिक उद्धरण प्रथम तीन निकायों में भी मिलते हैं। अंगुत्तर-निकाय, जैसा हम अभी देखेंगे, बुद्ध और उनके धम्म और विनय के संबंध में कुछ ऐसी भी सूचना देता है जो प्राचीन भी और साथ-ही-साथ अन्य निकायों में भी नहीं मिलती। पुनरुक्तियाँ और संख्यात्मक विवरण विशेषतः पाश्चात्य विद्वानों को बड़े अरुचिकर प्रतीत हुए हैं, अतः उन्होंने अंगुत्तर-निकाय के वास्तविक मूल्यांकन करने में बड़ी कृपणता दिखाई है। साहित्यिक और ऐतिहासिक दृष्टियों से अंगुत्तर-निकाय का स्थान दीघ, मज्झिम और संयुत्त निकायों के साथ ही है और उसमें भी, केवल कुछ कृत्रिम वर्गीकरण में, बुद्ध के जीवन और उपदेशों की वही साक्षात् सम्पर्क से प्राप्त स्मृतियाँ उपलब्ध होती हैं, जैसी प्रथम तीन निकायों में। यह हम उसकी विषयवस्तु के विवरण से अभी देखेंगे।

अंगुत्तर-निकाय की विषयवस्तु का चाहे जितना विस्तृत विवरण दिया जाय, वह उसकी वास्तविक विभूति को नहीं दिखा सकता। इसका कारण यह है कि केवल संख्यात्मक सूचियों का संकलन ही अंगुत्तर-निकाय नहीं है। अंगुत्तर-निकाय को केवल संगीति-परियाय-सुत्त (दीघ, ३।१०) या दसुत्तर-सुत्त (दीघ० ३।११) का ही विस्तृत रूप समझ लेना एक भारी भ्रम होगा। इसमें सन्देह नहीं कि अंगुत्तर-निकाय के एक से लेकर ग्यारह निपातों की विषयवस्तु का स्वरूप वहाँ किसी-न-किसी प्रकार उनके अनुरूप संख्या से सम्बन्धित है, जैसे कि—

१. एकक-निपात—एक धर्म क्या है? इस प्रकार के प्रश्नोत्तर के अनेक रूप।

२. दुक-निपात—दो त्याज्य वस्तुएँ, दो प्रकार के ज्ञानी पुरुष, दो प्रकार के बल, दो प्रकार की परिषदें, दो प्रकार की इच्छाएँ, आदि, आदि।

३. तिक-निपात---तीन प्रकार के दुष्कृत्य (कायिक, वाचिक, मानसिक) तीन प्रकार की वेदनाएँ (सुखा, दुःखा, न-सुखा-न-दुःखा), आदि-आदि ।

४. चतुक्क-निपात---चार आर्यसत्य, चार ज्ञान, चार श्रामण्य-फल, चार समाधि, चार योग, चार आहार, आदि, आदि ।

५. पञ्चक-निपात---पाँच अङ्गों वाली समाधि, पाँच उत्पादन-स्कन्ध, पाँच इन्द्रियाँ, पाँच निस्सरणीय धातु, पाँच धर्मस्कन्ध, पाँच विमुक्ति-आयतन आदि, आदि ।

६. छक्क-निपात---छह अनुस्मृति-स्थान, छह आध्यात्मिक आयतन, छह अभिज्ञेय, आदि, आदि ।

७. सत्तक-निपात---सात सम्बोध्यङ्ग, सात अनुशय, सात सद्धर्म, सात संज्ञाएँ, सात सत्पुरुष-धर्म, आदि, आदि ।

८. अट्ठक-निपात---आठ अष्टाङ्गिक-मार्ग, आठ आरब्ध वस्तु, आठ अभिभू-आयतन, आठ विमोक्ष, आदि, आदि ।

९. नवम-निपात---नव तृष्णामूलक, नव सत्वावास, आदि, आदि ।

१०. दसक-निपात---दस तथागत-बल, दस आर्य-वास, आदि, आदि ।

११. एकादसक-निपात---निर्वाण-प्राप्ति के ग्यारह उपाय, आदि, आदि ।

किन्तु इस उपर्युक्त सूची मात्र से अंगुत्तर-निकाय के विषय या उसके महत्त्व को नहीं समझा जा सकता । उसके लिये हमें उद्धरणों से उसके विषय की मूल बुद्ध-वचनों के रूप में प्रामाणिकता और बुद्धकालीन इतिहास के लिए उसके महत्त्व को हृदयङ्गम करना होगा । पहले एकक-निपात को ही लीजिये । धम्म-विनय की दृष्टि से ही अंगुत्तर-निकाय के प्रथम निपात में उद्धृत इस बुद्ध-वचन को देखिये, "नाहं भिक्खवे ! अञ्ञं एक धम्मंपि समनुपस्सामि यो एवं महतो अनत्थाय संवत्तति, यदिदं भिक्खवे पापमित्तता । पापमित्तता भिक्खवे महतो अनत्थाय संवत्तति ।" इसका अर्थ है "भिक्षुओ ! मैं किसी भी दूसरी चीज को नहीं देखता जो इतनी अधिक अनर्थकर हो, जितनी पाप-मित्रता । भिक्षुओ ! पाप-मित्रता बहुत अनर्थकारी है ।" जो दीघ, मज्झिम और संयुत्त निकायों में निहित बुद्ध-वचनों की आत्मा और बाह्याभिव्यक्ति से परिचित हैं, वे यहाँ उनकी अपेक्षा कुछ विभिन्नता नहीं देख सकते । अतः केवल इसीलिये कि संगीतिकारों ने कुछ बुद्ध-वचनों को संख्याबद्ध वर्गीकरण में बाँधकर रख दिया है, उनकी मौलिकता या महत्ता में कोई अन्तर नहीं आता । अंगुत्तर-निकाय की सब सामग्री अन्य निकायों से भी ली हुई नहीं है,

बल्कि उसमें बहुत सी ऐसी भी सूचना है जो अन्यत्र कहीं नहीं मिलती। इसका भी एक उदाहरण एकक-निपात के ही 'एतदग्गवग्ग' के उस महत्त्वपूर्ण विवरण में पाते हैं, जिसमें बताया गया है कि भगवान् बुद्ध के किस-किस भिक्षु, भिक्षुणी, उपासक, या उपासिका ने साधना के किस-किस विभाग में दक्षता या विशेषता प्राप्त की थी। एतदग्गवग्ग के इस अंश को, उसके ऐतिहासिक महत्त्व के कारण, यहाँ पूर्णतः उद्धृत करना ही उपयुक्त होगा, "ऐसा मैंने सुना—एक समय भगवान् श्रावस्ती में अनाथपिंडिक के आराम जेतवन में विहार करते थे।.. ...भगवान् ने भिक्षुओं को सम्बोधित किया, (१) भिक्षुओ! मेरे रक्तज्ञ (ज्येष्ठ) भिक्षु श्रावकों में यह आज्ञा-कौण्डिन्य अग्र (श्रेष्ठ) है। (२) महाप्रज्ञों में यह सारिपुत्र अग्र है। (३) ऋद्धि—मानों में यह महामौद्गल्यायन अग्र है। (४) धुतवादियों (अवधूत-व्रतों का अभ्यास करने वालों) में यह महाकाश्यप अग्र है। (५) दिव्यचक्षुओं में यह अनिरुद्ध अग्र है। (६) उच्च-कुलीनों में यह भद्दिय कालिगोधा-पुत्र अग्र है। (७) मंजु-स्वर से धर्म उपदेश करने वालों में यह लकुण्टक-भद्दिय अग्र है। (८) सिंहानाद करने वालों में यह पिंडोल भारद्वाज अग्र है। (९) धर्म-उपदेश करने वालों में यह पूर्ण मैत्रायणीपुत्र अग्र है। (१०) संक्षिप्त धर्मोपदेश को विस्तृत रूप से समझाने वालों में यह महाकात्यायन अग्र है। (११) मनोमय काय (चित्तविवट्ट) निर्माण करने वालों में यह चुल्ल पंथक अग्र है। (१२) संज्ञा-विवर्त-चतुरों में यह महापंथक अग्र है। (१३) अरण-विहारियों (निष्कामता से रहने वालों) में यह सुभूति अग्र है; दान-पात्रों में यह भी सुभूति अग्र है। (१४) आरण्यकों में यह रेवत खदिरवनिय अग्र है। (१५) ध्यानियों में यह कंखा-रेवत अग्र है। (१६) आरब्ध-वीर्यों में यह सोण कोलिवीस (शोण कोटि विंश) अग्र है। (१७) सुवक्ताओं में यह सोण कुटिकण्ण अग्र है। (१८) लाभ पाने वालों में यह सीवली अग्र है। (१९) श्रद्धावानों में यह वक्कलि अग्र है। (२०) शिक्षा-कामों (शिक्षा लेने की इच्छा करने वालों) में यह राहुल अग्र है। (२१) श्रद्धा से प्रव्रजितों में यह राष्ट्रपाल अग्र है। (२२) प्रथम शलाका ग्रहण करने वालों में यह कुंडधान अग्र है। (२३) प्रतिभा वालों में यह वंगीश अग्र है। (२४) समस्त प्रासादिकों (सब ओर से प्रसन्नों) में यह उपसेन वंगन्तपुत्त अग्र है। (२५) शयनासन-प्रज्ञापकों (गृह-प्रबन्धकों) में यह दब्ब मल्लपुत्त अग्र है। (२६) देवताओं के प्रियों में यह पिलिन्द वात्स्य-पुत्र अग्र है। (२७) शिप्राभिज्ञी (क्षिप्र अभिज्ञा प्राप्त करने वालों) में यह वाहिय दारुचीरिय अग्र है। (२८) चित्र कथिकों (विचित्र वक्ताओं) में यह कुमार काश्यप अग्र है। (२९)

प्रति-संवित्-प्राप्तों में यह महाकोट्ठित (महाकोष्ठित) अग्र है। (३०) बहु-श्रुतों में, स्मृतिमानों में, गतिमानों में, धृतिमानों में, उपस्थाकों में, यह आनन्द अग्र है। (३१) महापरिषद् वालों में यह उरुवेल-काश्यप अग्र है। (३२) कुल-प्रासादकों (कुलों को प्रसन्न करने वालों) में यह काल-उदायी अग्र है। (३३) अल्पाबाधों (निरोगों) में यह बक्कुल अग्र है। (३४) पूर्व-जन्म स्मरण करने वालों में यह शोभित अग्र है। (३५) विनय-धरों में यह उपालि अग्र है। (३६) भिक्षुणियों के उपदेशकों में यह नन्दक अग्र है। (३७) जितेन्द्रियों में यह नन्द अग्र है। (३८) भिक्षुओं के उपदेशकों में यह महाकप्पिन अग्र है। (३९) तेज-धातु-कुशलों में यह स्वागत अग्र है। (४०) प्रतिभाशालियों में यह राध अग्र है। (४१) रुक्ष चीवरधारियों में यह मोघराज अग्र है। (४२) भिक्षुओ! मेरी रक्तज्ञ (ज्येष्ठ) भिक्षुणी श्राविकाओं में महाप्रजावती गौतमी अग्र है। (४३) महाप्राज्ञाओं में खेमा अग्र है। (४४) ऋद्धिमतियों में उत्पल-वर्णा अग्र है। (४५) विनय धारण करने वालियों में पटाचारा अग्र है। (४६) धर्मकथिकाओं में धम्मदिन्ना अग्र है। (४७) ध्यानियों में नन्दा अग्र है। (४८) आरब्धवीर्यायों में सोणा अग्र है। (४९) क्षिप्राभिज्ञाओं में भद्रा कुन्डलकेशा अग्र है। (५०) पूर्व-जन्म की अनुस्मृति करने वालियों में भद्रा कापिलायिनी अग्र है। (५१) महा-अभिज्ञा-प्राप्तों में भद्रा कात्यायनी। (५२) रुक्ष चीवर-धारिणियों में कृशा गौतमी। (५३) श्रद्धा-युक्त भिक्षुणियों में शृगाल-माता। (५५-५६) भिक्षुओ! मेरे उपासक श्रावकों में प्रथम शरण आने वालों में तपस्सु और भल्लिक वणिक् अग्र है। (५७) दायकों में अनाथ-पिंडिक सुदत्त गृहपति अग्र है। (५८) धर्मकथिकों (धर्मोपदेष्टाओं) में मच्छिकाषण्डवासी चित्र गृहपति अग्र है। (५९) चार संग्रह-वस्तुओं से परिषद् को मिलाकर रखने वालों में हस्तक आलवक अग्र है। (६०) उत्तम दायकों में महानाम शाक्य अग्र है। (६१) प्रियदायकों में वैशाली का निवासी उग्र गृहपति अग्र है। (६२) संघ-सेवकों में उद्गत (उग्गत) गृहपति अग्र है। (६३) अत्यन्त प्रसन्नों में शूर अम्बष्ठ अग्र है। (६४) व्यक्तिगत प्रसन्नों में जीवक कौमारभृत्य अग्र है। (६५) विश्वासकों में नकुल-पिता गृहपति अग्र है। (६६) भिक्षुओ! मेरी उपासिक श्राविकाओं में प्रथम शरण आने वालियों में सेनानी दुहिता सुजाता अग्र है। (६७) दायिकाओं में विशाखा मृगारमाता अग्र है। (६८) बहुश्रुताओं में खुज्जुत्तरा (कुब्जा उत्तरा) अग्र है। (६९) मैत्री विहार प्राप्त करने वालियों में सामावती (श्यामावती) अग्र है। (७०) ध्यानियों में उत्तरा नन्द-माता अग्र है। (७१) प्रणीत दायिकाओं में सुप्रवासा कोलिय-दुहिता अग्र है।

(७२) रोगी की सेवा करने वालियों में सुप्रिया उपासिका अग्र है। (७३) अतीव प्रसन्नों में कात्यायनी अग्र है। (७४) विश्वासिकाओं में नकुल-माता गृहपत्नी अग्र है। (७५) अनुश्रव-प्रसन्नों में कुररघर (नगर) में ब्याही काली उपासिका अग्र है। भगवान् बुद्धदेव के प्रधान शिष्य-शिष्याओं का यह विवरण, जिसमें उनके भिक्षु, भिक्षुणी, उपासक और उपासिका सभी कोटि के पुरुष और स्त्री साधक-साधिकाओं के नाम हैं, बुद्ध-धर्म और संघ के इतिहास की दृष्टि से कितना महत्त्वपूर्ण है, इसके कहने की आवश्यकता नहीं। धर्म, साहित्य और इतिहास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण इस प्रकार की प्रभूत सामग्री अंगुत्तर-निकाय में भरी पड़ी है। दुक-निपात के इस सुन्दर भाव-पूर्ण बुद्ध-वचन को लीजिये, "द्वे मे भिक्खवे असनिया फळन्तिया न सन्तसन्ति। कतमे द्वे? भिक्खू च खीणासवो, सीहो च मिगराजा। इमे खो भिक्खवे द्वे असनिया फळन्तिया न सन्तसन्तीति।" अर्थात् "भिक्षुओ! बिजली कड़कने पर दो ही प्राणी नही चौंक पड़ते हैं। कौन से दो? क्षीणास्रव भिक्षु और मृगराज सिंह। भिक्षुओ! यही दो बिजली कड़कने पर नहीं चौंक पड़ते।"[1] इस प्रकार के अर्थ-गर्भित उपदेश जिनकी मौलिकता और स्वाभाविकता में उनका संख्याबद्ध विन्यास कोई क्षति नहीं पहुँचाता, अंगुत्तर-निकाय में भरे पड़े हैं। तिक-निपात के भरंडु-सुत्त में हम भगवान् को, बुद्धत्व-प्राप्ति के बाद अपने पन्द्रहवें वर्षा-वास में, कपिलवस्तु में विचरते देखते हैं। महानाम शाक्य उनका सत्कार करता है। भगवान् नगर से बाहर भरंडु-कालाम नामक अपने पूर्व के सब्रह्म-चारी के आश्रम में एक रात भर ठहरते हैं। रात के बीतने पर महानाम शाक्य फिर उनकी सेवा में उपस्थित होता है। भगवान् उसे उपदेश देते हैं, "महानाम! लोक में तीन प्रकार के शास्ता विद्यमान हैं। कौन से तीन? (१) यहाँ एक शास्ता महानाम! कामों के त्याग का उपदेश करते हैं, किन्तु रूपों और वेदनाओं के त्याग को प्रज्ञापित नहीं करते। (२) कामों और रूपों के त्याग का उपदेश करते हैं, किन्तु वेदनाओं के त्याग को प्रज्ञापित नहीं

---

१. "क्षीणाश्रव भिक्षु नहीं चौंक पड़ता है, क्योंकि उसका 'अहंभाव' बिलकुल निरुद्ध हुआ रहता है। मृगराज सिंह नहीं चौंक पड़ता है, क्योंकि उसका 'अहंभाव' अत्यन्त प्रबल होता है; चौंकने के बदले वह और गरज उठता है कि कौन दूसरा उसकी बराबरी करने आ रहा है।" भिक्षु जगदीश काश्यप: पालि महाव्याकरण, पृष्ठ चवा-लीस (वस्तुकथा) में।

करते। (३) कामों के त्याग को भी, रूपों के त्याग को भी और वेदनाओं के त्याग को भी प्रज्ञापित करते हैं। महानाम ! लोक में यही तीन प्रकार के शास्ता हैं।" अंगुत्तर-निकाय के तिक-निपात के केसपुत्तिय-सुत्त में हम बुद्ध के बुद्धिवादी दृष्टिकोण को स्पष्टतः देखते हैं। कोसल-प्रदेश में चारिका करते हुए भगवान् केसपुत्त नामक निगम (कस्बे) में, जो कालाम नामक क्षत्रियों का निवास-स्थान था, पहुँचते हैं। कालाम क्षत्रिय भगवान् को हाथ जोड़-जोड़ कर एक ओर चुपचाप बैठ जाते हैं। वे भगवान् से विनम्रता के साथ पूछते हैं, "भन्ते ! कोई-कोई श्रमण-ब्राह्मण केसपुत्त में आते हैं। वे अपने ही मत की प्रशंसा करते हैं, दूसरे के मत की निन्दा करते हैं, उसे छुड़वाते हैं। भन्ते ! दूसरे भी कोई-कोई श्रमण-ब्राह्मण केसपुत्त में आते हैं और वे भी वैसा ही करते हैं। तब भन्ते ! हमको संशय अवश्य होता है, कौन इन आप श्रमण-ब्राह्मणों में सच कहता है, कौन झूठ ?" कालामों का प्रश्न ऐसा है जो दुनिया के धार्मिक इतिहास में हर युग में और हर व्यक्ति के हृदय में आता है। अतः कालामों के प्रश्न का महत्त्व सब काल के मनुष्य के लिए समान रूप से है। भगवान् ने जो उत्तर दिया है, वह उससे भी अधिक विश्वजनीन महत्ता लिये हुए है। भगवान् कहते हैं, "कालामों ! तुम्हारा संशय ठीक है। संशय-योग्य स्थान में ही तुम्हें संशय उत्पन्न हुआ है। जाओ कालामो ! मत तुम अनुश्रव से विश्वास करो, मत परम्परा से विश्वास करो। 'यह ऐसा ही है' इससे भी तुम मत विश्वास करो। कालामो ! मान्य शास्त्र की अनुकूलता (पिटक-सम्प्रदाय) से भी तुम विश्वास मत करो। मत तर्क से, मत न्याय-हेतु से, मत वक्ता के आकार के विचार से, मत अपने चिर-धारित विचार के होने से, मत वक्ता के भव्य रूप होने से, मत 'श्रमण हमारा गुरु है' इस भावना से, कालामो ! मत इन सब कारणों से तुम विश्वास करो। बल्कि कालामो ! जब तुम अपने ही आप जानो कि ये धर्म अकुशल हैं, ये धर्म सदोष हैं, ये धर्म विज्ञ-निन्दित हैं, ये ग्रहण करने पर अहित, दुःख के लिए होंगे, तो कालामो ! तुम उन्हें छोड़ देना।···इस प्रकार कालामो ! जब तुम अपने ही आप जानो कि ये धर्म कुशल हैं, ये धर्म निर्दोष हैं, ये धर्म विज्ञ-प्रशंसित हैं, ये ग्रहण कर लेने पर सुख और कल्याण के लिए होंगे, तो कालामो ! तुम उन्हें प्राप्त कर विहरना।" इस प्रकार पात्रता की उपयुक्त भूमि तैयार कर बाद में तथागत कालामों को विज्ञापित करते हैं, "तो क्या मानते हो कालामो ! पुरुष के भीतर उत्पन्न हुआ लोभ (राग) हित के लिए है, या अहित के लिए ?" 'अहित के लिए, 'भन्ते।" "पुरुष के भीतर उत्पन्न हुआ द्वेष ···हित के लिए या

अहित के लिए ?" "अहित के लिए, भन्ते !" "मोह ?" "अहित के लिए भन्ते !" "तो क्या मानते हो कालामो ! ये धर्म (राग, द्वेष, मोह) सदोष हैं या निर्दोष ? "सदोष, भन्ते !" "प्राप्त करने पर अहित के लिए, दुःख के लिए हैं या नहीं ?" "ग्रहण करने पर भन्ते ! अहित के लिए हैं, ऐसा हमें लगता है।" बुद्ध की उठाने वाली आदेशना आरम्भ होती है "तो कालामो ! तुम इन्हें छोड़ दो।" इसी प्रकार अलोभो, अद्वेष, अमोह को हित, सुख का कारण समझा कर भगवान् कालामों को उन्हें ग्रहण करने की प्रेरणा करते हैं। किसी भी विश्वास को मानने या न मानने की अपेक्षा के बिना ही स्वयं सदाचार का जीवन सम्पूर्ण आश्वासनों से किस प्रकार आश्वस्त है, इसे समझाते हुए भगवान् कहते हैं, "कालामो ! जो आर्य श्रावक अ-वैर-चित्त, अ-व्यापन्न-चित्त, अ-संक्लिष्ट-चित्त (विशुद्धि-चित्त) हैं, उसको इसी जन्म में चार आश्वासन (आश्वासन) मिले रहते हैं, (१) यदि परलोक है, यदि सुकृत-दुष्कृत कर्मों का फल है, तो निश्चय ही मैं काया छोड़, मरने के बाद, सुगति, स्वर्ग-लोक में उत्पन्न होऊँगा, यह उसे प्रथम आश्वासन प्राप्त रहता है। (२) यदि परलोक नहीं है, यदि सुकृत-दुष्कृत कर्मों का फल नहीं है, तो इसी जन्म में, इसी समय, अ-वैर-चित्त, अ-व्यापन्न-चित्त, अ-संक्लिष्ट-चित्त, अपने को रखता हूँ, यह उसको द्वितीय आश्वासन प्राप्त रहता है। (३) यदि किसी काम को करते पाप किया जाये, तो भी किसी का बुरा नहीं चाहता, बिना किये फिर पाप-कर्म मुझे क्यों दुःख पहुँचायेगा। यह उसे तीसरा आश्वासन प्राप्त रहता है। (४) याद करते हुए पाप न किया जाय, तो इस समय मैं दोनों से ही मुक्त अपने को देखता हूँ। यह उसे चौथा आश्वासन प्राप्त हुआ रहता है।" यह उपदेश न केवल बुद्ध के नैतिक आदर्शवाद और विचार-स्वातन्त्र का, बल्कि भगवान् की उपदेश-प्रणाली का भी अच्छा सूचक है। अंगुत्तर-निकाय की एक बड़ी विशेषता यह है कि यहाँ भिक्षु-धर्म (भिक्खु-विनय) के साथ-साथ गृहस्थ-धर्म (गिहि-विनय) का भी उपदेश दिया गया है। चतुक्क-निपात के पठम-संवास-सुत्त में भगवान् मथुरा और वेरंजा के बीच के रास्ते में गृहस्थों को विज्ञापित करने दिखाई पड़ते हैं, "गृहपतियो ! चार प्रकार के संवास होते हैं। कौन से चार ? (१) शव शव के साथ संवास करता है (२) शव देवी के साथ संवास करता है। (३) देव शव के साथ संवास करता है (४) देव देवी के साथ संवास करता है। कैसे गृहपतियो ! शव शव के साथ संवास करता है ? यहाँ गृहपतियो ! पति हिंसक, चोर, दुराचारी, झूठा, नशाबाज दुःशील, पाप-धर्मा, कंजूसी की गन्दगी से लिप्त चित्त वाला, श्रमण-ब्राह्मणों को दुर्वचन कहने

वाला हो, इस प्रकार गृह में वास करता हो और उसकी भार्या भी उसी के समान हिंसक, चोर, दुराचारिणी···श्रमण-ब्राह्मणों को दुर्वचन कहने वाली हो। उस समय गृहपतियो! शव शव के साथ संवास करता है। कैसे गृहपतियो! शव देवी के साथ संवास करता है? गृहपतियो! पति हिंसक, चोर, दुराचारी···श्रमण-ब्राह्मणों को दुर्वचन कहने वाला हो, किन्तु उसकी भार्या अ-हिंसा-रत, चोरी-रहित, सदाचारिणी, सच्ची, नशा-विरत, सुशीला, कल्याण-धर्म-युक्त, मल-मात्सर्य-रहित, श्रमण-ब्राह्मणों को दुर्वचन न कहनेवाली हो, तो गृहपतियो! शव देवी के साथ संवास करता हो। कैसे गृहपतियो! देव शव के साथ संवास करता है? गृहपतियो! पति हो अहिंसारत, चोरी-रहित, सदाचारी···उसकी भार्या हो हिंसा-रत चोर, दुराचारिणी··· गृहपतियो! देव शव के साथ संवास करता है। कैसे गृहपतियो! देव देवी के साथ संवास करता है? गृहपतियो! पति अहिंसा-रत, चोरी-रहित, सदाचारी ·····उसकी भार्या भी अहिंसा-रत, चोरी-रहित, सदाचारिणी····· गृहपतियो! देव देवी के साथ संवास करता है।" इसी प्रकार एकादसक-निपात में वर्णन है कि एक बार भगवान् बुद्ध अनाथपिण्डिक के घर पर भिक्षा करने जाते हैं और वहाँ देखते हैं कि उसके घर के अन्दर बड़ा शोरगुल हो रहा है। पूछने पर अनाथपिण्डिक बताता है कि उसके घर में एक बड़ी कलहप्रिय पुत्र-वधू आ गयी है, जो किसी की बात नहीं सुनती और निरन्तर झगड़ा करती रहती है। बुद्ध के सामने बुलायी जाती है। बुद्ध उसे 'सुजाता' कहकर पुकारते हैं, "आ सुजाता!" वह पानी-पानी हो जाती है। बाद में बुद्ध उसे बताते हैं कि सात प्रकार की पत्नियाँ होती हैं (१) हत्यारी के समान, (२) चोर के समान, (३) स्वामिनी के समान, (४) माता के समान, (५) बहिन के समान, (६) मित्र के समान और (७) दासी के समान। 'सुजाता' बुद्ध को वचन देती है कि वह आगे दासी के समान बनकर रहेगी। इसी प्रकार एकादसक-निपात के महानाम-सुत्त (पठन और दुतिय) में हम भगवान् को महानाम शाक्य के प्रति, जो गृहस्थ था, बुद्ध, धर्म, संघ आदि की अनु-स्मृति करने का उपदेश देते हुए देखते हैं "महानाम! तुम चलते भी भावना करो, खड़े भी, बैठे भी, कर्मान्तिक (खेती आदि) का अधिष्ठान (प्रबंध) करते भी, पुत्रों से घिरी शय्या पर भी।" बुद्ध ने गृहस्थ, भिक्षु, सब के लिए अ-प्रमाद या सतत पुरुषार्थ पर कितना अधिक जोर दिया, यह हमने दीघ, मज्झिम और संयुत्त निकायों के विवरण में देखा है। अंगुत्तर-निकाय के चतुक्क-निपात के पधान-सुत्त में भी हम भगवान् को भिक्षुओं के प्रति यही उपदेश करते देखते हैं। श्रावस्ती में

अनाथपिंडिक के जेतवन-आराम में कुछ नये प्रविष्ट भिक्षु सूर्योदय तक खर्राटे ले सो रहे हैं। भगवान् भिक्षुओं को विज्ञापित करते हैं, 'भिक्षुओ ! सूर्योदय तक खर्राटे मारकर सोते हो। तो क्या मानते हो भिक्षुओ ! क्या तुमने देखा या सुना है मूर्धाभिषिक्त (अभिषेक-प्राप्त) क्षत्रिय राजा को इच्छानुसार शयन-सुख, स्पर्श-सुख, आलस्य-सुख के साथ विहार करते और जीवन-पर्यन्त राज्य करते या देश का भला होते ?" "नहीं भन्ते !" "साधु भिक्षुओ ! मैंने भी नहीं देखा। तो क्या मानते हो भिक्षुओ ! क्या तुमने देखा है या सुना है, शयन-सुख, स्पर्श-सुख, आलस्य-सुख से युक्त, इन्द्रियों के द्वारों को सुरक्षित न रखने वाले, भोजन की मात्रा को न जानने वाले, जागरण में अतत्पर, कुशल धर्मों की भावना न करने वाले, रात के पहले और पिछले पहर में जगकर बोधि-पक्षीय धर्मों की भावना न करने वाले, किसी भी श्रमण या ब्राह्मण को चित्त-मलों के क्षय से प्राप्त निर्मल चित्त की विमुक्ति या प्रज्ञा-विमुक्ति को इसी जन्म में स्वयं साक्षात्कार कर, स्वयं जानकर, स्वयं प्राप्त कर विहरते !" "नहीं भन्ते !" "साधु भिक्षुओ ! मैंने भी नहीं देखा। तो भिक्षुओ ! तुम्हें ऐसा सीखना चाहिए—इन्द्रिय-द्वार को सुरक्षित रखूंगा। भोजन की मात्रा को जानने वाला, कुशल धर्मों की भावना करने वाला, रात के पहले और पिछले पहरों में बोधिपक्षीय धर्मों की भावना करने वाला, इस प्रकार मैं साधना में लग्न रहकर विहरूँगा। भिक्षुओ ! तुम्हें ऐसा सीखना चाहिए।" अंगुत्तर-निकाय के अट्ठक-निपात के गोतमी-सुत्त में महा-पजापती गौतमी (महाप्रजावती गौतमी) की प्रव्रज्या का बिलकुल उन्हीं के शब्दों में वर्णन है, जैसा विनय-पिटक के चुल्लवग्ग में। कपिलवस्तु के न्यग्रोधाराम में भगवान् के विहार करते समय महाप्रजावती गौतमी भगवान् के पास जाकर उनसे प्रार्थना करती है, "भन्ते ! अच्छा हो, यदि मातृग्राम (मातृ-समूह-स्त्रियाँ) भी तथागत-प्रवेदित धर्म-विनय में प्रव्रज्या पावें।" भगवान् ने उत्तर दिया, "गौतमी ! मत तुझे यह रुचे कि स्त्रियाँ तथागत-प्रवेदित धर्म-विनय में प्रव्रज्या पावे।" महापजापती दुःखी, दुर्मना, अश्रुमुखी होकर चली गयी। बाद में वह वैशाली में भगवान् के पास पहुँची। वहाँ आनन्द ने स्त्री-जाति की ओर बोलते हुए भगवान् से निवेदन किया, "भन्ते ! महापजापती गौतमी फूले पैरों, धूल भरे शरीर से, दुःखी, दुर्मना, अश्रुमुखी रोती हुई द्वार-कोष्ठक से बाहर खड़ी है। भन्ते ! स्त्रियों को प्रव्रज्या की आज्ञा मिले।" 'आनन्द ! मत तुझे यह रुचे।" आनन्द ने तथागत-प्रवेदित धर्म की मूल आत्मा को लेकर ही कहा भन्ते ! क्या तथागत-प्रवेदित धर्म में घर से बेघर प्रव्रजित हो, स्त्रियाँ स्रोत-आपत्ति-फल, सकृदागामि-फल, आनागामि-फल, अर्हत्व-फल को साक्षात् कर सकती है ?"

भगवान् को क़हते देर न लगी, साक्षात् कर सकती हैं, आनन्द ।" बस पजापती गौतमी और आनन्द की इच्छा को पूरी होते देर न लगी। भगवान् ने आठ गुरु-धम्मों (जिनके कारण ही इस प्रसंग को यहाँ अंगुत्तर-निकाय के इस निपात में स्थान मिला है) के पालन करने की शर्त लेकर महापजापाती को प्रव्रज्या ग्रहण करने की आज्ञा दे दी। उसी समय से अन्य भी स्त्रियाँ भिक्षुणियाँ हुईं और बाद में एक अलग भिक्षुणी-संघ ही बन गया। किन्तु स्त्रियों को प्रव्रज्या की अनुमति देते समय भगवान् ने चेतावनी भी दी, जिसे बुद्ध-धर्म के बाद के इतिहास ने सम्भवतः सच्चा भी प्रमाणित कर दिया है, "आनन्द ! यदि तथागत-प्रवेदित धर्म-विनय में स्त्रियाँ प्रव्रज्या न पातीं, तो यह ब्रह्मचर्य चिरस्थायी होता, सद्धर्म सहस्र वर्ष ठहरता। किन्तु चूंकि आनन्द ! स्त्रियाँ प्रव्रजित हुईं, अब सद्धर्म चिरस्थायी न होगा, सद्धर्म अब पाँच सौ वर्ष ही ठहरेगा। ··· आनन्द ! जैसे आदमी पानी की रोकथाम के लिए, बड़े तालाब को रोकने के लिए, मेंड़ बाँधे, उसी प्रकार आनन्द ! मैंने रोकथाम के लिए भिक्षुणियों को जीवन-भर अनुल्लंघनीय आठ गुरु-धर्मों में प्रतिष्ठापित किया।" इसी प्रसंग में यहाँ यह भी कह देना अप्रासंगिक न होगा कि आनन्द किस प्रकार स्त्री-जाति के समर्थन में अपने युग से बहुत आगे थे, इसकी भी सूचना हमें इस निकाय में मिलती हैं। स्त्रियों को प्रव्रज्या दिलाने में उन्होंने महापजापती गौतमी की किस कुशलता के साथ सहायता की, यह हम अभी देख ही चुके हैं। एक बार हम उन्हें (चतुक्क-निपात में) भगवान् से यह पूछते देखते हैं, भन्ते ! क्या कारण है कि स्त्रियाँ परिषदों में स्थान नहीं पातीं, स्वतन्त्र उद्योग नहीं करतीं, स्वावलम्बन का जीवन नहीं बितातीं ?" हम जानते हैं कि आनन्द को अपने इन सब विचारों के कारण ही प्रथम संगीति में क्षमा याचना करनी पड़ी। मनुष्यता के नाते आज आनन्द इसीलिये हमारे लिये अधिक प्रिय बन गये हैं, उस समय के लोगों ने चाहे जो सोचा हो। अंगुत्तर-निकाय में इस प्रकार बुद्ध के शिष्यों के स्वभाव और जीवन पर प्रकाश डालने वाली प्रभूत सामग्री मिलती है। प्रव्रज्या ग्रहण करने के बाद पजापती गौतमी इसी निकाय के अट्ठक-निपात के संखित्त-सुत्त में भगवान् से पूछती है, "भन्ते ! अच्छा हो यदि भगवान् संक्षेप में मुझे धर्म का उपदेश करें ताकि मैं उसे सुनकर प्रमाद-रहित हो आत्म-संयम कर जीवन में विचरूँ।" भगवान् का उत्तर बुद्ध-धर्म के उदार मन्तव्य को समझने के लिए इतना महत्त्वपूर्ण है कि उसको उद्धृत करने का लोभ संवरण नहीं किया जा सकता। "गौतमी ! जिन बातों को तू जाने कि ये बातें सराग के लिए हैं, विराग के लिए नहीं, संयोग के लिए

हैं, वियोग के लिए नहीं, संग्रह के लिए हैं, असंग्रह के लिए नहीं, इच्छाओं को बढ़ाने के लिए हैं, घटाने के लिए नहीं, असन्तोष के लिए हैं, सन्तोष के लिए नहीं, भीड़ के लिए हैं, एकान्त के लिए नहीं, अनुद्योगिता के लिए हैं, उद्योगिता के लिए नहीं, कठिनाई के लिए हैं, सुगमता के लिए नहीं, तो तू गौतमी ! सोलहो आने जानना कि वह न धर्म है, न विनय है, न शास्ता का शासन है। किन्तु गौतमी ! जिन बातों को तू जाने कि ये विराग के लिए हैं, सराग के लिए नहीं....इच्छाओं के घटाने के लिए हैं, बढ़ाने के लिए नहीं....सुगमता के लिए हैं, कठिनाई के लिए नहीं, तो गौतमी ! तू सोलहो आने जानना कि वही धर्म है, वही विनय है, वही शास्ता का शासन है।"

सत्तक-निपात में भगवान् बुद्ध का ब्रह्मचर्य-सम्बन्धी गम्भीर उपदेश है जो अपनी सूक्ष्मता और मार्मिकता में अद्वितीय हैं। उसे यहाँ उद्धृत करना उपयोगी सिद्ध होगा। "ब्राह्मण ! यहाँ कोई एक श्रमण या ब्राह्मण सम्यक् ब्रह्मचारी होने का दावा करता है और वह स्त्री के साथ प्रत्यक्ष सहवास नहीं भी करता, किन्तु वह स्त्री के द्वारा (स्नान-चूर्ण आदि) उबटन किये जाने, मले जाने, स्नान कराये जाने और मालिश किये जाने को स्वीकार करता है। वह उसमें रस लेता है, उसकी इच्छा करता है, उसमें प्रसन्नता अनुभव करता है। ब्राह्मण ! यह भी ब्रह्मचर्य का टूटना है, छिद्रयुक्त होना है, चितकबरा होना है, धब्बेदार होना है। ब्राह्मण ! इस पुरुष के लिये कहा जायगा कि वह मैथुन (स्त्री-सहवास) से युक्त होकर ही मलिन ब्रह्मचर्य का सेवन कर रहा है। वह मनुष्य जन्म से, जरा से, मरण से नहीं छूटता.....नहीं छूटता दुःख से भी—मैं कहता हूँ। पुनः ब्राह्मण ! यहाँ एक श्रमण या ब्राह्मण सम्यक् ब्रह्मचारी होने का दावा करता है और वह स्त्री के साथ प्रत्यक्ष सहवास नहीं भी करता और न स्त्री के द्वारा अपने उबटन आदि किये जाने को ही स्वीकार करता है, किन्तु वह स्त्री के साथ हँसी-मजाक करता है, क्रीड़ा करता है, खेलता है, वह उसमें रस लेता है ....दुःख से नहीं छूटता—मैं कहता हूँ। पुनः ब्राह्मण ! यहाँ एक श्रमण या ब्राह्मण सम्यक् ब्रह्मचारी होने का दावा करता है और वह स्त्री के साथ प्रत्यक्ष सहवास नहीं भी करता, उसके द्वारा उबटन आदि किये जाने को भी स्वीकार नहीं करता, उसके साथ हँसी-मजाक भी नहीं करता, किन्तु वह स्त्री को आँख गड़ाकर देखता है, नजर भर कर देखता है, वह उसमें रस लेता है.....दुःख से नहीं छूटता, मैं कहता हूँ। पुनः ब्राह्मण ! यहाँ एक श्रमण या ब्राह्मण सम्यक् ब्रह्मचारी होने का दावा करता है और वह न प्रत्यक्ष स्त्री के साथ सहवास करता है, न उससे उबटन

आदि लगवाता, न उसके साथ हँसी-मजाक करता, न उसे आँख गड़ाकर देखता, किन्तु वह दीवार या चहारदीवारी की ओट से छिपकर स्त्री के शब्दों को सुनता है जब कि वह हँस रही हो या बात कर रही हो या गा रही हो या रो रही हो वह उसमें रस लेता है.....दुःख से नहीं छूटता—मैं कहता हूँ। पुनः ब्राह्मण ! यहाँ एक श्रमण या ब्राह्मण सम्यक् ब्रह्मचारी होने का दावा करता है और वह न स्त्री के साथ प्रत्यक्ष सहवास करता, न स्त्री से उबटन लगवाता, न उसके साथ हँसी-मजाक करता, न उसको नजर भरकर देखता है, जब कि वह गा रही हो या रो रही हो; किन्तु वह अपने उन हँसी-मजाकों, सम्भाषणों और क्रीड़ाओं को स्मरण करता है जो उसने पहले स्त्री के साथ की थीं वह उनमें रस लेता है......दुःख से नहीं छूटता—मैं कहता हूँ। पुनः ब्राह्मण ! यहाँ एक श्रमण या ब्राह्मण सम्यक् ब्रह्मचारी होने का दावा करता है और वह न स्त्री के साथ प्रत्यक्ष सहवास करता, न स्त्री से उबटन लगवाता, न उसके साथ हँसी-मजाक करता, न उसको आँख गड़ा कर देखता, न उसके साथ किए हुए अपने पुराने हँसी-मजाकों, सम्भाषणों और क्रीडाओं आदि को ही स्मरण करता है, किन्तु वह किसी गृहस्थ या गृहस्थ-पुत्र को पूरी तरह पाँच प्रकार के (शब्द, स्पर्श रूप, रस, गन्ध, सम्बन्धी) विषयों से समर्पित, संयुक्त हो, विलास करते देखता है, वह उसमें रस लेता है.....दुःख से नहीं छूटता—मैं कहता हूँ। पुनः ब्राह्मण ! यहाँ एक श्रमण या ब्राह्मण सम्यक् ब्रह्मचारी होने का दावा करता है और न वह स्त्री के साथ प्रत्यक्ष सहवास करता, न स्त्री से उबटन लगवाता, न उसके साथ हँसी-मजाक करता, न उसको आँख गड़ाकर देखता, न उसके साथ किये हुए अपने पुराने हँसी-मजाकों को स्मरण करता, न किसी गृहस्थ या गृहस्थ-पुत्र को कामासक्त होकर सुख-विहार करते देखकर प्रसन्न होता, किन्तु वह किसी देव-योनि में जन्म लेने की अभिलाषा से ब्रह्मचर्य का आचरण करता है और सोचता है कि इस प्रकार के शील, तप, व्रत, या ब्रह्मचर्य में मैं देव हो जाऊँगा या देवों में कोई विशेष देव। वह इसमें रस लेता है, इसकी इच्छा करता है, इसमें प्रसन्नता अनुभव करता है। ब्राह्मण ! यह भी ब्रह्मचर्य का खंडित हो जाना है, टूट जाना है, छिद्र-युक्त हो जाना है, चितकबरा हो जाना है, धब्बेदार हो जाना है। इसीलिये कहा जाता है कि इस प्रकार के ब्रह्मचर्य का आचरण करने वाला पुरुष मलिन मैथुन के संयोग से युक्त ब्रह्मचर्य का ही आचरण करता है और वह जन्म से, जरा से, मरण से नहीं छूटता, नहीं छूटता दुःख से—मैं कहता हूँ।"

साधना के इतिहास में इससे गम्भीर प्रवचन ब्रह्मचर्य पर नहीं दिया गया।

तथागत-प्रवेदित धर्म-विनय के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिए कितनी महत्त्वपूर्ण और प्रामाणिक सामग्री हमें अंगुत्तर-निकाय में मिलती है, इसका कुछ दिग्दर्शन किया जा चुका है। तत्कालीन इतिहास की झलक भी उसमें कितनी मिलती है, यह अब हमें देखना है। सिंह सेनापति (लिच्छवि सरदार) बुद्ध-युग का एक आकर्षक व्यक्ति है।[1] अट्ठक-निपात के सीह-सुत्त में हम सिंह सेनापति को भगवान् से भेंट करते हुए देखते हैं। सिंह पहले निगण्ठों (निर्ग्रन्थों-जैन साधुओं) का शिष्य रहा है। वह अपनी कुछ आपत्तियों को लेकर भगवान् बुद्ध के पास आता है। वह उन्हें पूछता है कि वे कहाँ तक अक्रियावादी, उच्छेदवादी हैं या नहीं। भगवान् एक-एक कर उसको बतला देते हैं कि किन-किन अर्थों में उनको ऐसा (अक्रियावादी, उच्छेदवादी आदि) कहा भी जा सकता है। सिंह सेनापति संतुष्ट होकर उपासक बनना चाहता है। भगवान् उसे कहते हैं "सिंह ! सोच-समझ कर करो। तुम्हारे जैसे सम्भ्रान्त मनुष्यों का सोच-समझ कर निश्चय करना ही अच्छा है।" सिंह सेनापति जब अपनी दृढ़ श्रद्धा दिखाता है, तो भगवान् उसे उपासक के रूप में स्वीकार कर लेते हैं, किन्तु चूँकि वह पहले निर्ग्रन्थों का शिष्य रहा है और उससे दान पाते रहे हैं, इसलिये उदार शास्ता सिंह को यह भी आदेश देना नहीं भूलते, "सिंह ! तुम्हारा कुल दीर्घ-काल से निगंठों के लिए प्याऊ की तरह रहा है। उनके आने पर उन्हें पहले की तरह तुम्हारे घर ही से दान मिलता रहना चाहिए।" बुद्ध के विरुद्ध किस प्रकार का मिथ्या प्रचार किया जाता था, इसका विवरण हम इसी निपात के वेरंज-सूत्त में पाते हैं। वेरंज नामक (वेरंज-निवासी) ब्राह्मण भगवान् के पास जाकर कहता है, "हे गोतम" ! मैंने सुना है कि आप गोतम अ-रस रूप हैं. . . .आप गोतम निर्भोग हैं. . . .आप गोतम अक्रियावादी हैं. . . .आप गोतम उच्छेदवादी हैं. . . . . . आप गोतम जुगुप्सु (घृणा करने वाले) हैं. . . .आप गोतम वैनयिक (हटाने वाले) हैं. . . . .आप गोतम तपस्वी हैं. . . .आप गोतम अपगर्भ हैं। भगवान् उसे बताते हैं कि उन्हें किस-किस अर्थ में ऐसा कहा भी जा सकता है।" उदाहरणतः "ब्राह्मण ! मैं काया के दुराचार, वाणी के दुराचार, मन के दुराचार को अक्रिया करता हूँ। अनेक प्रकार के पाप कर्मों को मैं अ-क्रिया कहता हूँ। यही कारण है ब्राह्मण ! जिससे 'श्रमण गोतम अक्रियावादी हैं।'

---

१. देखिये-महापंडित राहुल सांकृत्यायन का "सिंह सेनापति' शीर्षक उपन्यास।

ऐसा कहा जा सकता है।....ब्राह्मण ! मैं राग, द्वेष, मोह के उच्छेद का उपदेश करता हूँ। अनेक प्रकार के पास-कर्मों का उच्छेद कहता हूँ। 'श्रमण गोतम उच्छेदवादी हैं' ऐसा कहा जा सकता है।....ब्राह्मण ! जिसका भविष्य का गर्भ-शयन, आवागमन नष्ट हो गया, जड़मूल से चला गया, उसको मैं अपगर्भ कहता हूँ। ब्राह्मण ! तथागत का गर्भशयन, आवागमन, नष्ट हो गया, जड़-मूल से चला गया। श्रमण गोतम अपगर्भ है, ऐसा कहा जा सकता है', आदि, आदि। यहीं भगवान् अपनी जीवनी का भी कुछ वर्णन करने लगते हैं, "ब्राह्मण ! इस अविद्या में पड़ी, अविद्या रूपी अंडे से जकड़ी प्रजा में, मैं अकेला ही अविद्या रूपी अंडे को फोड़ कर, अनुत्तर सम्यक सम्बोधि को जानने वाला हूँ। मैं ही ब्राह्मण ! लोक में ज्येष्ठ हूँ, अग्र हूँ। मैंने न दबनेवाला वीर्यारम्भ किया था, विस्मरण-रहित स्मृति मेरे सम्मुख थी, अचल और शांत मेरा शरीर था, एकाग्र समाहित चित्त था।....ब्राह्मण ! उस प्रकार प्रमाद-रहित, तत्पर, आत्म-संयम-युक्त होकर विहरते हुए, मुझे रात के पहले याम में, पहली विद्या प्राप्त हुई, अविद्या नष्ट हुई, विद्या उत्पन्न हुई, तम नष्ट हुआ, आलोक उत्पन्न हुआ। ब्राह्मण ! अंडे से मुर्गी के बच्चे की तरह यह पहली फूट हुई। फिर ब्राह्मण ! रात के बीच के याम में द्वितीय विद्या उत्पन्न हुई...रात के पिछले याम में तृतीय विद्या उत्पन्न हुई। अविद्या नष्ट हुई, विद्या उत्पन्न हुई। तम गया, आलोक उत्पन्न हुआ। ब्राह्मण ! अंडे से मुर्गी के बच्चे की तरह यह तीसरी फूट हुई।";

कोसलराज प्रसेनजित् बुद्ध का श्रद्धावान् उपासक था, यह हम संयुत्त-निकाय में देख चुके हैं। मज्झिम-निकाय (वाहितिक-सुत्त) में हमने प्रसेनजित् और आनन्द का संवाद भी देखा है। अंगुत्तर-निकाय के कोसल-सुत्त में हम उसे बुद्ध के प्रति अतीव श्रद्धा और प्रेम प्रदर्शित करते हुए देखते हैं। श्रावस्ती में भगवान् के दर्शनार्थ वह जाता है। जेतवन-आराम के द्वार पर ही वह भिक्षुओं से भगवान् के दर्शन-विषयक अपनी इच्छा प्रकट करता है। "महा-राज ! यह द्वार-बन्द कोठरी है, चुपके-से धीरे-धीरे वहाँ जाकर बरामदे में प्रवेश कर, खाँस कर जंजीर को खटखटा देना। भगवान् तुम्हारे लिये द्वार खोल देंगे।" भगवान् ने द्वार खोल दिया। 'विहार में प्रविष्ट हो प्रसेनजित् भगवान् के पैरों में गिर कर, भगवान् के पैरों को मुख से चूमता था, हाथ से पैरों को दबाता था और अपना नाम सुनाता था 'भन्ते ! मैं राजा प्रसेनजित कोसल हूँ।" महाराज ! तुम किस बात को देखकर इस शरीर में इतनी मैत्री का उपहार दिखाते हो" "भन्ते ! कृतज्ञता, कृतवेदिता को देखते हुए मैं भग-

वान् की इस प्रकार की परम सेवा करता हूँ, मैत्री उपहार दिखाता हूँ। भन्ते! भगवान् बहुत जनों के हित, बहुत जनों के सुख के लिए हैं।" अंगुत्तर-निकाय में हम देखते हैं कि मगधराज अजातशत्रु वज्जियों के गणतन्त्र के विरुद्ध अभियान करना चाहता है। भगवान् जिस समय राजगृह में गृध्रकूट-पर्वत (गिज्झकूट पब्बत) पर विहर रहे थे, उसने अपने मंत्री वर्षकार (वस्सकार) नामक ब्राह्मण को उनसे इस सम्बन्ध में पूछने के लिए भेजा था। सोलह महाजनपदों का इस निकाय में प्रथम बार कई जगह उल्लेख है। इन सोलह महाजनपदों के नाम हैं, अंग, मगध, काशी, कोसल, वज्जि, मल्ल, चेति, वंस कुरु, पंचाल, मच्छ (मत्स्य), सूरसेन (शूरसेन) अस्सक, (अश्मक), अवन्ती, गन्धार और कम्बोज।[१] ये सभी नाम उन प्रदेशों के निवासियों (जनों) के सूचक हैं, इसीलिये बहुवचन में आये 'अंगानं, मगधानं, आदि। गणतन्त्र-प्रणाली की यह मुख्य विशेषता थी। भौगोलिक दृष्टि से भी इस निकाय के अनेक वर्णन बड़े महत्त्व के हैं। उदाहरणतः यहाँ गंगा, यमुना, अचिरवती, सरभू (सरयू) और मही, इन पाँच बड़ी नदियों का वर्णन है। इसी प्रकार भंडगाम (वज्जि-प्रदेश), इच्छानंगल (कोसल), वेनागपुर (कोसल), नलकपान (कोसल) और वेरंजा (शूरसेन)[२] आदि

---

१. मूल पालि इस प्रकार है, ".......अंगानं, मगधानं कासीनं, कोसलानं, वज्जीनं, मल्लानं, चेतीनं, (चेतियानं), वंसानं, कुरूनं, पञ्चालानं मच्छानं, सूरसेनानं, अस्सकानं, अवन्तीनं, गन्धारानं, कम्बोजानं।" (अट्ठकनिपात), देखिये अंगुत्तरनिकायपालि, जिल्द तीसरी, पृष्ठ ३४९, ३५०, ३५३, ३५७ (श्री नालन्दा संस्करण)। वहाँ 'वंसानं' की जगह बंगानं' स्वीकृत पाठ है, जो किसी प्रकार उचित नहीं जान पड़ता। वंग का उल्लेख जनपद या महा-जनपद के रूप में अन्यत्र चार निकायों में कहीं नहीं है। ऐतिहासिक दृष्टि से वह बाद की सूची का सूचक है। अतः वंसानं' ही पाठ उचित लगता है।

२. पालि और उसकी अट्ठकथाओं से हमें केवल यह पता चलता है कि वेरञ्जा सोरेय्य (सोरों) और मथुरा के बीच में स्थान था, परन्तु वह किस जनपद में था, पञ्चाल से या शूरसेन से, इसका कोई निर्देश वहाँ नहीं है। परन्तु मूल सर्वास्तिवाद के विनय के अंगभूत ग्रन्थ भैषज्यवस्तु में यह महत्त्वपूर्ण पूरक सूचना मिलती है कि वेरञ्जा, जिसे वहाँ वैरम्य या वैरम्भ्य कहकर पुकारा गया है, शूरसेन जनपद में ही था। 'भैषज्यवस्तु' में कहा गया है, "भगवान् शूरसेनेषु जनपदेषु चारिकां चरन् वैरम्भ्यमनुप्राप्तः।" अर्थात् "भगवान् शूरसेन जनपद में चारिका करते हुए वैरम्भ्य पहुँचे। अतः वेरञ्जा शूरसेन जनपद में ही था।

ग्रामों, केसपुत्त (कालाम नामक क्षत्रियों का कस्बा), कुसिनारा (मल्ल-प्रदेश में), यंकधा (कोसल), कम्मासदम्म (कुरु-प्रदेश) आदि कस्वों और श्रावस्ती, कौशाम्बी, मधुरा (और उसका गुन्दावन), पाटिलपुत्र, वरणा (कद्दम दह के तीर पर), राजगृह और कपिलवस्तु आदि अनेक नगरों के वर्णन हैं, जो बुद्धकालीन भारत के वातावरण को आज भी हमारे लिये सजीव बनाते हैं।

उ--खुद्दक-निकाय

खुद्दक-निकाय के स्वरूप की अनिश्चितता

खुद्दक-निकाय सुत्त-पिटक का पाँचवाँ मुख्य भाग है। पहले चार निकायों की सी एकरूपता यहाँ नहीं मिलती। खुद्दक-निकाय छोटे-छोटे (खुद्दक) स्वतन्त्र ग्रन्थो का संग्रह (निकाय) है। सभी ग्रन्थ छोटे भी नहीं हैं। कुछ तो (जैसे जातक आदि) काफी बड़े भी हैं। भाषा-शैली में भी समानता नहीं है। कुछ विशुद्ध पद्यात्मक और कुछ गद्य-पद्य मिश्रित रचनाएँ हैं। काव्य, आख्यान, गीत, यही खुद्दक-निकाय के विषय हैं। निश्चयतः खुद्दक-निकाय के विषय और शैली की सब से बड़ी विशेषता उसकी विविधरूपता ही है। जैसा अंशतः दूसरे अध्याय में दिखाया जा चुका है, वर्गीकरण के भेद से खुद्दक-निकाय की ग्रन्थ-संख्या में भी पर्याप्त भेद पाया जाता है।

सुत्त-पिटक के अङ्ग के रूप में

सामान्यतः खुद्दक-निकाय सुत्त-पिटक का एक अंग है। इस रूप में खुद्दक-निकाय में पन्द्रह ग्रन्थ सम्मिलित हैं, जिनकी गणना नीचे लिखे क्रम से आचार्य बुद्धघोष ने की है—[1]

१. खुद्दक-पाठ	३. उदान
२. धम्मपद	४. इतिवुत्तक
५. सुत्त-निपात	११. निद्देस
६. विमानवत्थु	१२. पटिसम्भिदामग्ग
७. पेतवत्थु	१३. अपदान

---

१. सुमंगलविलासिनी, भाग प्रथम, पृष्ठ १७ (पालि टैक्स्ट सोसायटी का संस्करण); अट्ठसालिनी, पृष्ठ १६ (देवनागरी संस्करण)। इस क्रम से खुद्दक-निकाय के १५ ग्रन्थों का निर्देश 'सद्धम्मसंग्रह' (पृष्ठ ८, देवनागरी संस्करण) में भी किया गया है।

८. थेरगाथा
९. थेरीगाथा
१०. जातक
१४. बुद्धवंस
१५. चरियापिटक

निद्देस के दो भाग चुल्लनिद्देस और महानिद्देस हैं। उनको दो स्वतन्त्र ग्रन्थ मानकर गिनने से उपर्युक्त ग्रन्थ-संख्या १६ हो जाती है। किन्तु स्थविरवादी बौद्ध परम्परा १५ ही ग्रन्थ मानती है। आचार्य बुद्धघोष अट्ठसालिनी की निदान-कथा में कहते हैं "पण्णरसंप्पभेदो खुद्दक-निकायो।" इसी प्रकार 'सद्धम्म सङ्गह' में कहा गया है, "पण्णरसप्पभेदोयं निकायो खुद्दको मतो।" आचार्य बुद्धघोष ने हमें सूचना दी है कि प्रथम संगीति के अवसर पर मज्झिम-निकाय का संगायन करने वाले (मज्झिम भाणक) भिक्षु उपर्युक्त १५ ग्रन्थों को सुत्त-पिटक के अन्तर्गत खुद्दक-निकाय में सम्मिलित मानते थे।[1]

खुद्दक-निकाय अभिधम्म-पिटक के अन्तर्गत भी

किन्तु एक दूसरी परम्परा उसी समय से खुद्दक-निकाय को सुत्त-पिटक के अन्तर्गत मानने के विपक्ष में थी। यह दीघ-निकाय का संगायन करने वाले (दीघ-भाणक) भिक्षुओं की परम्परा थी। ये भिक्षु खुद्दक-निकाय को सुत्त-पिटक के अन्तर्गत न मानकर उसे अभिधम्म-पिटक के अन्तर्गत मानते थे। ग्रन्थ-संख्या के विषय में भी मतभेद था। इन्हें खुद्दक-निकाय के सिर्फ निम्नलिखित ११ ग्रन्थ, जिन्हें वे खुद्दक-ग्रन्थ कहते थे, मान्य थे। आचार्य बुद्धघोष ने इन ग्रन्थों की सूची इस प्रकार दी है—[2]

१. जातक
२. निद्देस
३. पटिसम्भिदामग्ग
४. सुत्त-निपात
५. धम्मपद
६. उदान
७. इतिवुत्तक
८. विमानवत्थु
९. पेतवत्थु
१०. थेरगाथा
११. थेरीगाथा

---

१. "मज्झिमभाणका पन.......सब्बंपि तं खुद्दक-गन्धं सुतन्तपिटके परियापण्णं ति वदन्ति।" सुमंगलविलासिनी की निदानकथा।

२. "ततो परं जातकं........थेरी-थेरी गाथाति इमं तन्ति संगायित्व 'खुद्दकन्थो' नाम अयं ति च वत्वा अभिधम्मपिटकस्मि येव संगहं आरोपयिंसूति दीघभाणका वदन्ति।" सुमंगलविलासिनी की निदान-कथा।

उपर्युक्त सूची से स्पष्ट है कि चरियापिटक, अपदान, बुद्धवंस और खुद्दक-पाठ ये चार ग्रन्थ खुद्दक-निकाय के ग्रन्थों के रूप में दीघ-भाणक भिक्षुओं को मान्य नहीं थे। वास्तव में खुद्दक-निकाय को सुत्त-पिटक के अन्तर्गत न मानना दीघ-भाणक भिक्षुओं का इतना साहसिक कृत्य नहीं था जितना वह हमें आज लगता है। प्रथम संगीति के अवसर पर ही हम आर्य महाकाश्यप को आनन्द से पूछते हुए देखते हैं "सुत्त-पिटक में चार संगीतियाँ (संग्रह) हैं। इनमें से पहले किसका संगायन करना होगा?"[1] इससे स्पष्ट है कि पहले सुत्त-पिटक को चार भागों में ही विभाजित करने की प्रणाली थी। बाद में स्वतन्त्र ग्रन्थों का एक अलग संग्रह कर दिया गया जिसकी न तो ग्रन्थ-संख्या का ही ठीक निश्चय हो सका और न जिसे निश्चयपूर्वक सुत्त-पिटक या अभिधम्म-पिटक में ही रखा जा सका। खुद्दक-निकाय के अनिश्चित स्वरूप का यही कारण है। चीनी आगमों से भी यही बात विदित होती है, यह हम इसी अध्याय के आरम्भ में देख चुके हैं।

अभिधम्म-पिटक खुद्दक-निकाय के अन्तर्गत भी

किन्तु इस अनिश्चितता का यहीं अन्त नहीं है। समग्र बुद्ध-वचनों का जब पाँच निकायों में वर्गीकरण किया जाता है, तो वहाँ भी खुद्दक-निकाय पाँचवाँ भाग है। किन्तु वहाँ इसका विषय-क्षेत्र बहुत विस्तृत है। दीघ, मज्झिम, संयुत्त और अंगुत्तर निकायों को छोड़कर बाकी सभी बुद्ध-वचन, जिनमें पूरे विनय और अभिधम्म-पिटक भी सम्मिलित हैं, वहाँ खुद्दक-निकाय के ही अन्तर्गत समझे जाते हैं। खुद्दक-निकाय के इस विस्तृत विषय-क्षेत्र के सम्बन्ध में 'सुमंगल-विलासिनी' की निदान-कथा में कहा गया है 'क्या है खुद्दक-निकाय ? सम्पूर्ण विनय-पिटक, सम्पूर्ण अभिधम्म-पिटक, खुद्दक-पाठ आदि १५ ग्रन्थ, सारांश यह कि चार निकायों को छोड़कर बाकी सभी बुद्ध-वचन खुद्दक-निकाय हैं।"[2]

---

१. सुत्तन्त-पिटके चतस्सो संगीतियो, तासु पठमं कतरं संगीतिन्ति। सुमंगलविलासिनी की निदान-कथा।

२. कतमो खुद्दक-निकायो ? सकलं विनय-पिटकं, अभिधम्म-पिटकं, खुद्दक-पाठादयो च पुब्बे निदस्सितपंचदसभेदा, ठपेत्वा चत्तारो निकाये अवसेसं बुद्ध-वचनं ति। सुमंगलविलासिनी, भाग प्रथम, पृष्ठ २३ (पालि-टै० सो०); (बल्कि खुद्दक-निकाय के स्वरूप के सम्बन्ध में यह मत बुद्धघोष के पूर्व पुराने आचार्यों ('पोराणा') के समय से चला आ रहा था, ऐसा 'सद्धम्मसंगह' से प्रकट होता है, क्योंकि वहाँ कहा गया है, "तेनाहु पोराणा—"ठपेत्वा चतुरा पेते निकाये

निकाय की दृष्टि से यहाँ अभिधम्म-पिटक को खुद्दक-निकाय में ही सम्मिलित कर दिया गया है, केवल पिटक के रूप में उसकी स्वतन्त्र सत्ता अवश्य स्वीकार की गयी है।[1]

इसका अभिप्राय

उपर्युक्त वर्गीकरणों को ध्यानपूर्वक देखने से विदित होगा है कि उनमें खुद्दक-निकाय और अभिधम्म-पिटक को एक दूसरे में मिला दिया गया है। इसका अभिप्राय क्या है? ऐतिहासिक दृष्टि से यह तथ्य बड़े महत्त्व का है। 'अभिधम्म' धम्मा का, सुत्त-पिटक का, विस्तृत, विशेष विवेचन है। 'अभिधम्म' में 'अभि' शब्द यही रहस्य लिये बैठा है, यह हम आगे देखेंगे। प्रथम चार निकायों के अतिरिक्त जो कुछ भी बुद्ध-वचन हैं, वे इस विस्तृत अर्थ में सभी अभिधम्म हैं, 'अतिरिक्त' धम्म हैं। खुद्दक-निकाय के ग्रन्थ इसी प्रकार के अतिरिक्त धम्म हैं। अतः उन्हें 'अभिधम्म' के साथ उपर्युक्त अर्थ में मिला दिया गया है। इस तथ्य से खुद्दक-निकाय के ग्रन्थों के संकलन-काल पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

सिंहल, बरमा और स्याम में खुद्दक-निकाय की ग्रन्थ-संख्या के विषय में विभिन्न मत

सिंहलदेशीय परम्परा खुद्दक-निकाय के अन्तर्गत १५ ग्रन्थों को (जो निद्देस को दो ग्रन्थ मानकर १६ हो जाते हैं।) मानती है। बरमा में इनके अतिरिक्त चार अन्य ग्रन्थ भी खुद्दक-निकाय में सम्मिलित माने जाते हैं। इनके नाम हैं, मिलिन्द-पञ्ह, सुत्त-संग्रह, पेटकोपदेस और नेत्ति या नेत्ति-पकरण।[2] सिंहली परम्परा इन्हें खुद्दक-निकाय के अन्तर्गत स्वीकार नहीं करती। १८९४ ई० में प्रकाशित तिपिटक के स्थायी संस्करण में ये आठ ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं—विमान-वत्थु, पेतवत्थु, थेरगाथा, थेरीगाथा, जातक, अपदान, बुद्धवंस और चरिया-

---

बोध-आदि के। तदञ्ञं बुद्धवचनं निकायो खुद्दको मतो" ति। पृष्ठ ८ '(देवनागरी संस्करण); मिलाइये अट्ठसालिनी, पृष्ठ २२ (देवनागरी संस्करण); गन्धवंस, पृष्ठ ५७ (जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी, १८८६)।

१. अयं अभिधम्मो पिटकतो अभिधम्मपिटकं, निकायतो खुद्दक-निकायो। अट्ठसालिनी की निदान-कथा।

२. मेबिल बोड: पालि लिटरेचर ऑव बरमा, पृष्ठ ४-५।

पिटक। विंटरनित्ज ने कहा है कि यह बात आकस्मिक नहीं हो सकती।[1] इससे उनका तात्पर्य यह है कि स्याम में ये ग्रन्थ बुद्ध-वचन के रूप में प्रामाणिक नहीं माने जाते। कम-से-कम उनका अल्प महत्त्व तो निश्चित ही है।

खुद्दक-निकाय के ग्रन्थों का काल-क्रम

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि खुद्दक-निकाय पहले चार निकायों के बाद का संकलन है। बुद्ध-वचन के रूप में उसका महत्त्व भी उनके बाद ही मानना चाहिए। चीनी आगमों में तो उसे एक प्रकार से स्वतन्त्र निकाय का स्थान ही नहीं मिला। केवल कुछ स्फुट ग्रन्थों के पाये जाने के कारण ही वहाँ 'क्षुद्रकागम' के अस्तित्व का अनुमान कर लिया गया है।[2] ये ग्रन्थ भी वहाँ कभी-कभी अन्य निकायों में ही सम्मिलित कर दिये जाते हैं।[3] अतः स्थविरवादी और सर्वास्तिवादी दोनों ही परम्पराओं में प्रथम चार निकायों की प्रधानता, पालि-तिपिटक में उसके स्वरूप की बहुत-कुछ अनिश्चितता, सर्वास्तिवादी त्रिपिटक में उसके स्वतन्त्र रूप की अ-प्राप्ति अथवा आंशिक प्राप्ति, एवं सब से बढ़कर स्थविरवादी परम्परा में भी उसके कुछ ग्रन्थों को बुद्ध-वचन के रूप में प्रामाणिक न मानने की ओर प्रवृत्ति, ये सब तथ्य इसी बात के सूचक हैं कि खुद्दक-निकाय प्रथम चार निकायों के बाद का संकलन है। विचारों के विकास की दृष्टि से भी इसी निष्कर्ष पर आना पड़ता है। प्रथम चार निकायों में विवेकवाद की प्रधानता है। खुद्दक-निकाय में काव्यात्मक तत्त्व का आधार लेकर भावुकता भी काफी प्रधानता लिये हुए है। स्थविरवादी परम्परा बुद्ध-वचनों की गम्भीरता को काव्योचित भावनाओं और कल्पनाओं में खो देना पसन्द नहीं करती थी। विनय-पिटक के चुल्लवग्ग में बुद्ध-उपदेशों को गीतों की तरह गाना स्पष्ट रूप से निषिद्ध किया गया है और उसे अपराध बतलाया गया है। गम्भीर शून्यता और अनात्म के दर्शन पर प्रतिष्ठित बुद्ध-वचनों को भावात्मक कविताओं में गाना

---

१. हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ७७, पद-संकेत ३।

२. देखिये, पहले इसी अध्याय में पालि तिपिटक कहाँ तक मूल, प्रामाणिक बुद्ध-वचन हैं? इसका विवेचन।

३. देखिये, ट्रांजैक्शन्स ऑव दि एशियाटिक सोसायटी ऑव जापान, जिल्द ३५, भाग ३, पृष्ठ ९ से प्रा० एम० अनेसाकि का लेख, विंटरनित्ज़: हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ७७, पद-संकेत २ से उद्धृत।

स्थविरवादी परम्परा संघ के लिए एक आने वाली विपत्ति समझती थी।[1] खुद्दक-निकाय के ग्रन्थों में इसी विपत्ति के दर्शन हुए हैं, विंटरनित्ज का यह समझना[2] यद्यपि ठीक नहीं माना जा सकता, किन्तु यह उसके अपेक्षाकृत उत्तरकालीन होने का सूचक तो है ही। खुद्दक-निकाय का अधिकांश स्वरूप काव्यात्मक होते हुए भी उसकी मूल भावना सर्वांश में बौद्ध है। बल्कि उसकी गाथाओं में अनेक तो पिटक-संकलन के प्राचीनतम युग की सूचक भी है। उनके सर्वांश में बुद्ध-वचन होने का दावा तो स्वयं खुद्दक-निकाय में भी नहीं किया गया, क्योंकि थेर-थेरी गाथाओं जैसी रचनाओं को वहाँ स्पष्टतः भिक्षु-भिक्षुणियों की कृतियाँ कहा गया है। वास्तव में बात यह है कि तत्कालीन लोक-साहित्य और भावनाओं का प्रभाव खुद्दक-निकाय के कुछ ग्रन्थों (विशेषतः विमान-वत्थु, पेतवत्थु, जातक, चरियापिटक आदि) में अधिक परिलक्षित होता है, जो उनकी आपेक्षिक अर्वाचीनता का सूचक अवश्य है, किन्तु साहित्य और इतिहास के विद्यार्थी के लिए इसी दृष्टि से उसका महत्त्व भी बढ़ गया है। पालि के सर्वोत्तम काव्य-उद्‌गार खुद्दक-निकाय के ग्रन्थों में ही सन्निहित हैं और उनका प्रणयन मानवीय तत्त्वों के आधार पर निश्चय ही चार निकायों के बाद हुआ है यद्यपि उनमें से अनेक अत्यन्त प्राचीन युग के भी हैं, यह भी उतना ही सुनिश्चित तथ्य है। इसका एक स्पष्टतम प्रमाण तो यही है कि 'पंचनेकायिक' भिक्षुओं की परम्परा विनय-पिटक—चुल्लवग्ग के आरम्भ होकर, भरहुत और साँचीं के स्तूपों (तृतीय शताब्दी या कम-से-कम २५० वर्ष ईसवी-पूर्व) में अंकित होती हुई,[3] अविच्छिन्न रूप से 'मिलिन्दपञ्ह' (प्रथम शताब्दी ई० पू०) तक दृष्टिगोचर होती है। 'पंचम' निकाय के अस्तित्व के बिना यह असम्भव है। अतः यह निश्चित है कि प्रथम संगीति के समय से ही, जब कि दीघ-भाणक और मज्झिम-भाणक भिक्षुओं में खुद्दक-निकाय के विषय में मतभेद प्रारम्भ हुआ, खुद्दक-निकाय का संकलन होने लगा था, किन्तु प्रथम चार निकायों से इसका अन्तर केवल इतना था कि जब कि उनका स्वरूप उसी समय स्थिर हो गया था,

---

१. देखिए ओपम्म-संयुत्त (संयुत्त-निकाय) एवं अंगुत्तर-निकाय के पंचक-निपात में अनागत-भय-सूत्र।

२. हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ७७।

३. देखिये रायस डेविड्स बुद्धिस्ट इंडिया, पृष्ठ १६९।

४. पृष्ठ २३ (बम्बई विश्वविद्यालय का संस्करण)।

खुद्दक-निकाय में तृतीय संगीति तक परिवर्द्धन होते गये। अतः प्रथम और तृतीय संगीतियाँ उसके प्रणयन या संकलन काल की क्रमशः उपरली और निचली काल-सीमाएँ हैं।

इस सामान्य कथन के बाद अब हमें खुद्दक-निकाय के १५ ग्रन्थों की पूर्वापरता पर विचार करना है। बाह्य साक्ष्य के आधार पर हम किन ग्रन्थों को कम या अधिक प्रामाणिक मान सकते हैं, इसका दिग्दर्शन करने के लिए हमें उन परम्पराओं को देखना है, जो खुद्दक-निकाय की प्रामाणिकता के विषय में पालि साहित्य के इतिहास में चल पड़ी हैं। उन्हें इस प्रकार दिखाया जा सकता है—

१, प्रथम संगीति के अवसर पर दीघ-भाणक भिक्षुओं ने जिन ग्रन्थों को प्रामाणिक नहीं माना—(१) बुद्धवंस, (२) चरियापिटक, (३) अपदान।

२. द्वितीय संगीति के अवसर पर महासंगीतिक भिक्षुओं ने जिन ग्रन्थों को प्रामाणिक नहीं माना—(१) पटिसम्भिदामग्ग, (२) निद्देस, (३) जातक के कुछ अंश।

३. स्यामी परम्परा जिन्हें बुद्ध-वचन के रूप में प्रामाणिक नहीं समझती—(१) विमानवत्थु, (२) पेतवत्थु, (३) थेरगाथा, (४) थेरीगाथा, (५) जातक (६) अपदान, (७) बुद्धवंस, (८) चरियापिटक।

जिन ग्रन्थों को दीघ-भाणक भिक्षुओं ने प्रामाणिक स्वीकार नहीं किया, वे सभी स्यामी परम्परा द्वारा बहिष्कृत ग्रन्थों की सूची में भी सम्मिलित हैं। महासंगीतिक भिक्षुओं ने जातक के कुछ अंशों को भी प्रामाणिक नहीं समझा था और स्यामी परम्परा भी इसमें उनके समान ही है। पटिसम्भिदामग्ग और निद्देस को महासंगीतिक भिक्षुओं ने अवश्य प्रामाणिक स्वीकार नहीं किया, जब कि स्यामी परम्परा में उन्हें प्रामाणिक मान लिया गया है। यदि हम सम्पूर्ण उपर्युक्त बहिष्कृत ग्रन्थों को मिलाकर गिनें तो अप्रामाणिक ग्रन्थों की यह सूची इस प्रकार होगी : (१) विमानवत्थु, (२) पेतवत्थु, (३) थेरगाथा, (४) थेरीगाथा, (५) जातक (६) बुद्धवंस, (७) अपदान, (८) चरियापिटक, (९) पटिसम्भिदामग्ग और (१०) निद्देस। खुद्दक-निकाय के १५ ग्रन्थों में से इन्हें निकाल दें तो बाकी ये बच रहते हैं: (१) खुद्दक-पाठ, (२) धम्मपद, (३) सुत्त-निपात, (४) उदान और (५) इतिवुत्तक। अतः बाह्य साक्ष्य के आधार पर उपर्युक्त पाँच ग्रन्थ ही अन्य १० की अपेक्षा अधिक प्रामाणिक बुद्ध-वचन ठहरते हैं। खुद्दक-पाठ को छोड़कर शेष चार ग्रन्थ चीनी अनुवादों में भी उपलब्ध हैं।

आन्तरिक साक्ष्य भी इसी निष्कर्ष का अधिकत्तर समर्थन करता है। भाषा और विषय दोनों की दृष्टि से धम्मपद, सुत्तनिपात, उदान और इतिवुत्तक प्राचीनतम युग के सूचक हैं। इनकी विषय-वस्तु का जो विवेचन आगे किया जायगा, उससे यह तथ्य स्पष्ट हो जायगा। खुद्दक-पाठ अवश्य बाद का संकलन जान पड़ता है। उसमें कुछ सामग्री सुत्त-निपात से ली गयी है और कुछ तिपिट के अन्य अंशों से। शरण-त्रय और शरीर के ३२ अंगों के विवरण, जो इस संकलन में हैं, चार निकायों में प्राप्त विवरणों से कुछ अधिक विकसित अवस्था के सूचक हैं।[१] अतः खुद्दक-पाठ का स्थान भी काल-क्रम की दृष्टि से शेष १० ग्रन्थों के साथ है। इन सब ग्रंथों के संकलन की निश्चित तिथि के सम्बन्ध में तो कुछ नहीं कहा जा सकता, किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इनमें जो अधिक उत्तरकालीन हैं, वे भी अशोक के काल से बाद के नहीं हैं। धम्मपद, सुत्त-निपात, उदान और इतिवुत्तक के वाद काल-क्रम की दृष्टि से जातक और थेर-थेरी गाथाओं का स्थान कहा जा सकता है। 'जातक' में बुद्ध के पूर्व-जन्म की कथाएँ हैं। मूल जातक में ऐसी केवल ५०० कहानियाँ या उनसे सम्बद्ध गाथाएँ थीं। चुल्ल-निद्देस में ५०० जातक-कहानियों का ही निर्देश हुआ है।[२] फा-ह्यान ने भी सिहल में ५०० जातक-कहानियों के चित्र अंकित देखे थे।[३] बाद में जातक-कहानियों की संख्या बढ़कर ५४७ हो गयी। मूल जातक की प्राचीनता इस बात से प्रकट होती है कि तीसरी शताब्दी ईस्वी-पूर्व के साँची और भरहुत के स्तूपों में उसकी अनेक कहानियों के दृश्य अंकित किये गये हैं।[४] अतः जातकों का काल उससे काफी पहले का होना चाहिए।

---

१. देखिये विमलाचरण लाहा : हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द पहली, पृष्ठ ३५; वास्तव में शरण-त्रय के सम्बन्ध में तो ऐसा कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि 'बुद्धं सरणं गच्छामि' आदि के बाद वहाँ केवल 'दुतियम्पि' (दूसरी बार भी) 'ततियम्पि' (तीसरी बार भी) अधिक है। हाँ, शरीर के ३२ अंगों के कथन में 'मत्थके मत्थलुंगं ति' (मस्तक का गूदा) पद अवश्य अधिक है। प्रथम चार निकायों में केवल ३१ अंगों का ही वर्णन है।

२. देखिये आगे 'जातक' का विवेचन।

३. रिकार्ड ऑव दि बुद्धिस्ट किंगडम्स, आक्सफर्ड १८८६, पृष्ठ १०६ (जे० लेगी का अनुवाद)। गाइल्स : दि ट्रेविल्स ऑव फाह्यान, पृष्ठ ७१ (रटलेज एण्ड केगन पाल, द्वितीय आवृत्ति, १९५६)।

४. रायस डेविड्स : बुद्धिस्ट इंडिया, पृष्ठ २०९; हल्श : जर्नल ऑव

थेर और थेरी गाथाओं में बुद्धकालीन भिक्षुओं और भिक्षुणियों की गाथाएँ हैं। केवल थेरगाथा की कुछ गाथाएँ अशोक के समय के भिक्षुओं की बतायी जाती हैं।[1] अतः सम्भव है कि थेरगाथा ने भी अपना अन्तिम स्वरूप अशोक के काल में ही प्राप्त किया हो और तृतीय संगीति के अवसर पर उसका संगायन हुआ हो। जातकों के बोधिसत्व-आदर्श पर ही आधारित बुद्धवंस और चरिया-पिटक हैं। बुद्धवंस में गौतम बुद्ध और उनके पूर्ववर्ती २४ बुद्धों का वर्णन है जब कि प्रथम चार निकायों (विशेषतः महापदानसुत्त—दीघ० २/१) में केवल ६ पूर्ववर्ती बुद्धों का ही वर्णन मिलता है। चरियापिटक में बोधिसत्वों की जीवनचर्या का वर्णन मिलता है। यहीं पर सर्वप्रथम दस पारमिताओं में से सात का भी वर्णन मिलता है। जातक की कहानियों से इन सब की बड़ी समानता है। बल्कि कहना चाहिए कि एक प्रकार से चरियापिटक ३५ पद्यबद्ध जातकों का संग्रह ही है, जिनमें से ३४ चर्याएँ वर्तमान 'जातक' में मिलती हैं और एक महागोविन्द-सुत्त पर आधारित है। जिस प्रकार बुद्धवंस और चरिया-पिटक जातक के उत्तरवर्ती हैं, उसी प्रकार निद्देस भी जातक के बाद का संकलन है। जैसा अभी कहा जा चुका है, चुल्ल-निद्देस में जातक का निर्देश मिलता है। निद्देस (जिसमें चुल्ल-निद्देस और महानिद्देस दोनों सम्मिलित हैं) सुत्त-निपात से भी बाद का संकलन है। एक प्रकार से निद्देस सुत्त-निपात के कुछ अंशों की व्याख्या ही है। चुल्ल-निद्देस खग्गविसाण-सुत्त और पारायण-वग्ग की व्याख्या है, जब कि महानिद्देस में अट्ठक-वग्ग की व्याख्या की गयी है। अतः निद्देस सुत्त-निपात के बाद की रचना ही मानी जा सकती है। डॉ० लाहा का मत इससे भिन्न है। उनका कहना है कि निद्देस सुत्त-निपात से पहले

रायल एशियाटिक सोसायटी, १९१२, पृष्ठ ४०६; इस सम्बन्धी अधिक साहित्य के परिचय के लिए देखिये विंटरनित्ज : हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिट-रेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १६, पद-संकेत ३; पृष्ठ ११३, पद-संकेत ३।

१. गाथाएँ १६९-७० अशोक के कनिष्ठ भ्राता वीतसोक की रचनाएँ हैं। मिलाइये "इमस्मिं बुद्धुप्पादे अट्ठारस वस्साधिकानं द्विन्नं वस्स सतनं मत्थके धम्मासोकरञ्ञो कणिट्ठ भाता हुत्वा निब्बति। तस्स वीतसोकोति नामं अहोसि।" (वीतसोकथेरस्स गाथावण्णना)। इसी प्रकार गाथाएँ ५३८-५४६ भी अशोक के अनुज तिस्स कुमार की रचनाएँ हैं, जो अपनी एकान्त वृत्ति के कारण 'एकविहारिय भी कहलाते थे। देखिये आगे 'थेरगाथा' का विवेचन भी।

की रचना होनी चाहिए। इसके लिये उन्होंने दो कारण दिये हैं, (१) महा-निद्देस में सुत्त-निपात के अट्ठक-वग्ग की व्याख्या उस युग की सूचक है जबकि अट्ठकवग्ग एक अलग वर्ग की अवस्था में था, (२) सुत्त-निपात के परायण-वग्ग के आरम्भ में ५६ गाथाओं की एक प्रस्तावना (वत्थुगाथा) है, जो चुल्ल-निद्देस की व्याख्या में नहीं मिलती, अर्थात् जिसकी व्याख्या वहाँ नहीं की गयी है। यदि चुल्ल-निद्देस सुत्त-निपात के बाद का संकलन होता तो इस प्रस्तावना की भी व्याख्या वहाँ अवश्य होती।[1] डॉ० लाहा ने जो कारण दिये हैं, वे निषेधात्मक ढंग के हैं। निद्देस के रचयिता या संकलनकर्त्ता को सुत्त-निपात के सम्पूर्ण अंशों की जानकारी होते हुए भी वह उसके कुछ अंशों को ही व्याख्या के लिए चुन सकता था। इसी प्रकार प्रस्तावना की भी व्याख्या करना या न करना उसकी इच्छा पर निर्भर था। सबसे बड़ी बात तो यह है कि निद्देस में सुत्त-निपात की कतिपय गाथाओं की व्याख्या की गयी है, अतः वह उसके बाद की ही रचना हो सकती है। जिस प्रकार बुद्धवंस, चरियापिटक और निद्देस जातक के बाद की रचनाएँ हैं, उसी प्रकार थेर-थेरी-गाथाओं के बाद अपदान का भी प्रणयन निश्चित है। अपदान के दो भाग हैं, थेर-अपदान और थेरी-अपदान। इन दोनों भागों में क्रमशः भिक्षु और भिक्षुणियों के पूर्व-जन्म की कथायें हैं। इस प्रकार यह पूरा ग्रन्थ थेर और थेरी गाथाओं का पूरक ही कहा जा सकता है। अपदान निश्चयतः अशोककालीन रचना है। इसका कारण यह है कि उसमें कथावत्थु का निर्देश हुआ है, जो निश्चयतः तृतीय संगीति के समय लिखी गयी थी। विमानवत्थु और पेतवत्थु भी उत्तरकालीन रचनाएँ हैं। इनमें क्रमशः देव-लोकों और प्रेतों के वर्णन हैं, जो स्थविरवादी बौद्ध धर्म के प्रारम्भिक स्वरूप से बहुत दूर हैं। विमानवत्थु में तो सेरिस्सक की कथा के प्रसङ्ग में एक ऐसी घटना का भी वर्णन है, जो उसी के वर्णन के अनुसार पायासि राजन्य के १०० साल बाद हुई।[2] पायास की मृत्यु भगवान् बुद्ध से कुछ साल बाद हुई थी, अतः जिस घटना का विमानवत्थु में वर्णन है, वह बुद्ध-निर्वाण के सौ से कुछ अधिक साल बाद ही हुई होगी। इस प्रकार विमानवत्थु की रचना तृतीय संगीति के कुछ पहले की ही अधिक-से-अधिक

---

१. हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द पहली, पृष्ठ ३८।

२. मानुस्सकं वस्ससतं अतीतं यदग्गे कायम्हि इधूपपन्ना। पृष्ठ ८१ (पालि टैक्स्ट् सोसायटी का संस्करण) (पृष्ठ ७८ भिक्षु उत्तम द्वारा प्रकाशित देवनागरी संस्करण)।

हो सकती है। इसी प्रकार पेतवत्थु भी अशोककालीन रचना है। उसमें 'मौर्यों के राजा' का निर्देश हुआ है,[1] जिसका अभिप्राय 'अट्ठकथा' के अनुसार धम्मासोक से है।[2] 'पटिसम्भिदा-मग्ग' की रचना अभिधम्म-पिटक की शैली में हुई है, अतः वह भी इस युग की रचना है। इस प्रकार प्रस्तुत विवेचन के आधार पर खुद्दक-निकाय के ग्रन्थों का काल-क्रम तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है, जिसे इस प्रकार दिखाया जा सकता है—

१. धम्मपद, सुत्त-निपात, उदान, इतिवुत्तक।

२. जातक, थेरगाथा, थेरीगाथा।

३. बुद्धवंस, चरियापिटक, निद्देस, अपदान, पटिसम्भिदामग्ग, विमानवत्थु, पेतवत्थु, खुद्दक-पाठ।

प्रत्येक श्रेणी के ग्रन्थों में भी कौन किससे पहले या पीछे का है, इसका सम्यक् निर्णय नहीं किया जा सकता। इसके लिये उसमें स्पष्ट बाह्य और आन्तरिक साक्ष्य उपलब्ध नहीं है। निश्चित तिथियों के अभाव में इस प्रकार के निर्णय का कोई अधिक महत्त्व भी नहीं हो सकता। अब हम खुद्दक-निकाय के ग्रन्थों का संक्षिप्त विवरण देंगे।

खुद्दक पाठ

खुद्दक-पाठ छोटे-छोटे नौ पाठों या सुत्तों का संग्रह है। ये सभी पाठ विशेषतः सुत्त-पिटक और विनय-पिटक से संगृहीत हैं। पहले चार पाठ पिछले

---

१. राजा पिंगलको नाम सुरट्ठानं अधिपति अहु मोरियानं उपट्ठानं गन्त्वा सुरट्ठं पुनरागमा। पेतवत्थु, पृष्ठ ५१ (भिक्षु उत्तम द्वारा प्रकाशित देवनागरी संस्करण)

२. मोरियानं ति मोरियराजूनं धम्मासोकं सन्धाय वदति। पृष्ठ ९८ (पालिटैक्स्ट सोसायटी का संस्करण)

३ राहुल सांकृत्यायन, आनन्द कौसल्यायन एवं जगदीश काश्यप द्वारा सम्पादित तथा भिक्षु उत्तम द्वारा प्रकाशित (बुद्धाब्द २४८१, १९३७ ई०) देवनागरी संस्करण उपलब्ध है। भिक्षु धर्मरत्न एम० ए० का मूल-पालि-सहित हिन्दी अनुवाद महाबोधि सभा, सारनाथ (१९४५) ने प्रकाशित किया है। श्री नालन्दा देवनागरी संस्करण में खुद्दक-निकाय-पालि, जिल्द पहली, में भिक्षु जगदीश काश्यप द्वारा सम्पादित। 'खुद्दक-पाठ' उसकी अट्ठकथा ('परमत्थ जोतिका') के सहित हेमर स्मिथ द्वारा रोमन लिपि में सम्पादित। पालि टैक्स्ट् सोसायटी, लन्दन, १९१५, पुनर्मुद्रित १९५९।

पाँच की अपेक्षा अधिक संक्षिप्त हैं। इन पहले चार पाठों के आकार शुद्ध होने के कारण ही पूरे संकलन का नाम 'खुद्दकपाठ' पड़ा है। खुद्दक-पाठ का संकलन प्रारम्भिक विद्यार्थियों की शिक्षा के लिए अथवा बौद्ध गृहस्थों के दैनिक पाठ के लिए किया गया है। अत, सिंहल में खुद्दक-पाठ का बड़ा आदर है। सम्भवतः इसका संकलन भी नहीं किया गया है। खुद्दक-पाठ के नौ पाठों या सुत्तों के नाम और विषय इस प्रकार हैं—

१. **सरणत्तयं**—(तीन शरण)—मैं बुद्ध की, धम्म की, संघ की, शरण जाता हूँ। दूसरी बार भी—तीसरी बार भी—मैं बुद्ध की, धम्म की, संघ की, शरण जाता हूँ।

२. **दस सिक्खापदं**—(दस शिक्षाप्रद या सदाचार-सम्बन्धी नियम) (१) जीवहिंसा, (२) चोरी, (३) व्यभिचार, (४) असत्य-भाषण, (५) मद्य-पान, (६) असमय-भोजन, (८) नृत्य-गीत, (८) माला-गन्ध-विलेपन, (९) ऊँची और बड़ी शय्या, (१०) सोने और चाँदी का ग्रहण, इन दस बातों से विरत रहने का व्रत लेता हूँ।

३. **द्वत्तिंसाकारं**—(शरीर के ३२ अंग)—शरीर के ये ३२ (गन्दगियों से भरे) अंग हैं, जैसे कि केश, रोम, नख, दाँत आदि।

४. **कुमारपञ्हं** (कुमार विद्यार्थियों के लिए प्रश्न)

एक क्या है?	सभी प्राणी आहार पर स्थित हैं।
दो क्या हैं?	नाम और रूप।
तीन क्या हैं?	तीन वेदनाएँ।
चार क्या हैं?	चार आर्य-सत्य।
पाँच क्या हैं?	पाँच उत्पादन-स्कन्ध।
छह क्या हैं?	छह आन्तरिक आयतन।
सात क्या हैं?	बोधि के सात अंग।
आठ क्या हैं?	आर्य अष्टांगिक मार्ग।
नौ क्या हैं?	प्राणियों के नौ आवास।
दस क्या हैं?	दस बातें, जिनसे युक्त होने पर मनुष्य अर्हत बनता है।

५. **मंगल-सुत्त या महामंगलसुत्त** (मंगल-सूत्र-महामंगल-सूत्र)—प्राणी नाना प्रकार के मंगल-कार्य करते हैं। किन्तु सर्वोत्तम मंगल क्या है?
"माता-पिता की सेवा, पत्नी और पुत्रों का भरण-पोषण
शान्ति से अपना काम करना—यही सर्वोत्तम मंगल है।

"दान देना, धर्म का जीवन, जाति-बन्धुओं की सहायता करना,
कर्म निर्दोष रखना—यही सर्वोत्तम मंगल है ।
"पाप और मद्य-पान से अलग रहना, संयमी जीवन,
धर्म के कार्यों में आलस्य न करना—यही सर्वोत्तम मंगल है ।
"गुरुजनों का आदर, विनम्रता, सन्तोष-वृत्ति, कृतज्ञता,
समय पर धर्म को श्रवण करना—यही सर्वोत्तम मंगल है ।
"क्षमा, ब्रह्मचर्य, ज्ञानी भिक्षुओं का दर्शन,
समय पर धर्म का साक्षात्कार—यही सर्वोत्तम मंगल है ।
"तपश्चर्या, ब्रह्मचर्य, चार आर्य सत्यों का दर्शन,
अन्त में निर्वाण का साक्षात्कार—यही सर्वोत्तम मंगल है ।"[1]

आचार्य बुद्धघोष ने 'पपञ्चसूदनी' में कहा है कि इस सुत्त (मङ्गल-सुत्त) को पुस्तकों में लिखना (इसकी अनुलिपि करना या करवाना) एक महापुण्य का कार्य है । यह 'सुत्त' 'परित' में संग्रहीत है, जैसा हम अभी आगे देखेंगे ।

६. रतन-सुत्त—(रत्न-सूत्र)--१७ गाथाओं में बुद्ध, धम्म और संघ, इन तीन रत्नों की महिमा-वर्णन की गयी है और उसी से लोक-कल्याण की कल्पना की गयी है । आरम्भ की दो और अन्त की तीन गाथाएँ तो बड़ी ही मार्मिक

---

१. 'मङ्गल-सुत्त' की प्राग्बुद्धकालीन ऐतिहासिक पृष्ठभूमि है, जिसे 'खुद्दक-पाठट्ठकथा के अन्तर्गत इस सुत्त की 'व्यंजना' में दिया गया है । कहा जाता है कि बुद्ध-काल में जम्बूद्वीप में जहाँ-तहाँ सभाओ और विद्वत्परिषदों में यह चर्चा होती रहती थी कि सर्वोत्तम मंगल क्या है ? नाना श्रमण-ब्राह्मण नाना मङ्गलों में विश्वास रखते थे और उनका प्रचार करते थे । एक दिन रात में एक देवता ने आकर भगवान् से पूछा—बहुत से देव और मनुष्यों ने स्वस्तिभाव (स्वस्त्ययन) की आकाँक्षा करते हुए मङ्गलों का चिन्तन किया है । "मङ्गलानि अचिन्तयुं ।" अब मुझे बताइये कि सर्वोत्तम मङ्गल क्या है । "ब्रूहि मंगल-मुत्तमं ।" इसके उत्तर में भगवान् ने उससे बारह गाथाएँ कहीं जिसमें उन्होंने ३७ मङ्गल या मङ्गलकारी कृत्य बताये हैं, जिनके करने से मंगल होता है । यही 'मङ्गल-सूत्र' है, बौद्धों का मङ्गल-पाठ, स्वस्तिपाठ । वेदों में आये स्वस्ति-वाचनों की भावना से इसे मिलाया जा सकता है । बिल्कुल वही सदाचार पर आश्रित सार्वभौमिक कल्याण-भावना । केवल दैवत तत्व यहाँ नहीं है, विशुद्ध मङ्गलमय आचरण है जो अपने आप में परिपूर्ण है और सब को सङ्गति देने वाला है ।

हैं। बौद्ध परम्परा इन्हें मौलिक गाथाएँ मानती है। बुद्ध, धर्म और संघ की महिमा का वर्णन करते हुए प्रत्येक के विषय में कहा गया है 'इदं पि बुद्धे रतनं पणीतं' (यह बुद्ध रूपी रत्न ही सर्वोत्तम है), 'इदं पि धम्मे रतनं पणीतं' (यह धम्म रूपी रत्न ही सर्वोत्तम है) और 'इदं पि संघे रतनं पणीतं' (यह संघ रूपी रत्न ही सर्वोत्तम है)। इस सत्य रूपी वाणी से लोक-कल्याण की कामना करते हुए कहा गया है—'एतेन सच्चेन सुवत्थि होतु' (इस सत्य से लोक का कल्याण हो)—"सुन्दर गीति-काव्य"।[१]

७. तिरोकुड्ड-सुत्त—मृत आत्माएँ अपने छोड़े हुए घरों के दरवाजों पर और उसकी देहलियों पर आकर खड़ी हो जाती हैं। वे अपने सम्बन्धियों से भोजन और पान की इच्छा रखती हैं। प्रेतों के लोक में खेती और वाणिज्य

---

१. 'रतन-सुत्त' के उपदेश का भी इतिहास है, जिसे खुद्दकपाठट्ठकथा (रतनसुत्त वण्णना) में दिया गया है और धम्मपदट्ठकथा तथा सुत्तनिपातट्ठकथा में भी अति संक्षिप्त रूप में यह इतिहास इस प्रकार है।

बोधि-प्राप्ति के प्रथम वर्ष में भगवान् ऋषिपतन मृगदाव में धर्मचक्र का प्रवर्तन करने के पश्चात् राजगृह में विहर रहे थे। उस समय वैशाली में भयङ्कर दुर्भिक्ष फैला और महामारी भी। महालिच्छवि के द्वारा उन्होंने भगवान् के पास प्रार्थना भिजवायी कि हमारे कल्याणार्थ वैशाली पधारें। भगवान् उनकी प्रार्थना को स्वीकार कर वहाँ गये और लिच्छवियों को 'रतन-सुत्त' का उपदेश दिया। इस सुत्त का लिच्छवियों ने मिलकर पाठ भी किया। दुर्भिक्ष और महामारी की पीड़ा शान्त हो गयी। इस प्रकार तभी से नाना पीड़ाओं और संकटों को हटाने के लिए इस सुत्त का पाठ बौद्ध-जगत् में आरम्भ हुआ। यह 'परित्त' का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। 'चूलवंस (३७।१८९-१९८) से विदित होता है कि लङ्काधिराज उपतिस्स द्वितीय (५२२-२४ ई०) के शासन-काल में भयङ्कर दुर्भिक्ष पड़ा और महामारी फैली। राजा ने भिक्षुओं से इस सुत्त का पाठ करवाया और जनता को उपर्युक्त पीड़ाओं से शान्ति मिली। 'चूलवंस' (५१।७९) के ही वर्णनानुसार लङ्काधिराज सेन द्वितीय (८५१-८५ ई०) ने इस सुत्त को स्वर्णपट्ट पर लिखवाया और उसके सम्मान में एक बड़ा उत्सव किया। 'चूलवंस' (३७।१९१) में 'रतन-सुत्त' का ही उल्लेख 'गङ्गारोहण-सुत्त' के नाम से किया गया है। 'महावस्तु' में यह सूत्र आया है और वहाँ यह 'स्वस्त्ययन' के नाम से विदित है। "स्वस्त्ययनं जिनेन भाषितम्।"

नहीं होते। उन्हें जो कुछ इस लोक में मिलता है, उसी पर वे गुजारा करते हैं। सद्‌गृहस्थ प्रेतों के कल्याण की कामना से भोजन और जल का दान करते हैं। सुप्रतिष्ठित भिक्षु-संघ को जो कुछ दान किया जाता है, वह प्रेतों के चिर सुख और कल्याण के लिए होता है। यह सुत्त भारतीय समाज में प्रचलित श्राद्ध-विधान और पितर-पूजा का बौद्ध संस्करण ही है। दार्शनिक सिद्धान्त भिन्न रखते हुए भी बौद्ध जनता किस प्रकार भारतीय समाज में प्रचलित व्यवहारों और सामान्य विश्वासों से अपने को विमुक्त नहीं कर सकी, यह सुत्त इसका एक अच्छा उदाहरण है। इस सुत्त की कुछ गाथाओं का पाठ आज भी सिंहल और स्याम देशों में मुर्दों को जलाते समय किया जाता है।

८. निधिकंड-सुत्त (निधि-सम्बन्धी सूत्र)—सर्वोत्तम निधि क्या है? दान, शील, संयम, इन्द्रिय-विजय, संक्षेप में पुण्य कर्मों का करना ही सर्वोत्तम निधि है। अन्य सब निधियाँ तो नष्ट हो जाने वाली हैं, किन्तु किया हुआ शुद्ध कर्म कभी नष्ट नहीं होता। यही वह निधि है जो मनुष्य के पीछे जाने वाली है—यो निधि अनुगामिको।

९. मेत्त-सुत्त (मैत्री-सूत्र) ऊपर, नीचे, चारों ओर, लोक को मित्रता की भावना से भर दो। किसी का दुःख-चिन्तन मत करो। भावना करो कि सभी प्राणी सुखी हों—सब्बे सत्ता भवन्तु सुखितत्ता। ब्रह्मविहार भी तो यही है—ब्रह्ममेत्तं विहारं इधामाहु! 'मेत्त-सुत्त' ही 'करणीय-मेत्त-सुत्त' के नाम से भी विदित है।

खुद्दक-पाठ के उपर्युक्त ९ सुत्तों में से मंगल-सुत्त, रतन-सुत्त और मेत्त-सुत्त सुत्त-निपात में भी हैं। सुत्त-निपात में मंगल-सुत्त का नाम महामंगल-सुत्त अवश्य है। इसी प्रकार तिरोकुड्ड-सुत्त पेतवत्थु में भी है। तीन शरण और दस शिक्षापदों के विवरण विनय-पिटक के आधार पर संकलित हैं। कुमारपञ्ह सुत्त को भी विनय-पिटक या दीघ-निकाय के संगीत-परियाय और दसुत्तर जैसे सुत्तों अथवा अंगुत्तर-निकाय के विशाल तत्सम्बन्धी भाण्डार में से संकलित कर लिया गया है। 'कामगता सति' के रूप में शरीर के ३२ आकारों का वर्णन दीघ और मज्झिम-निकायों के क्रमशः महासतिपट्ठान और सतिपट्ठान सुत्तों के वर्णनों की अनुलिपि है। केवल अन्तर इतना है कि वहाँ ३१ अंगों का वर्णन है, जब कि यहाँ एक और (मत्थके मत्थलुंगं—माथे का गूदा) बढ़ा दिया गया गया है। कायगतासति (शरीर-सम्बन्धी स्मृति) का विधान बौद्ध योग में प्रारम्भ से ही है। दीघ और मज्झिम निकायों के उपर्युक्त सुत्तों के अतिरिक्त संयुत-निकाय के कस्सप-सुत्त में भी भगवान् बुद्ध ने महाकाश्यप को 'कायगता

सति' का ध्यान करने का उपदेश दिया है। धम्मपद २१।१० में भिक्षुओं को 'कायगतासतिपरायण' होने को कहा गया है। 'उदान' में भगवान् बुद्ध के योग्य शिष्य महामौद्गल्यायन और महाकात्यायन को काय-गता-सति की भावना करते दिखलाया गया है।[1] 'विसुद्धिमग्ग' (पाँचवीं शताब्दी) में एसत्सम्वन्धी ध्यान का विस्तृत वर्णन किया गया है।[2]

खुद्दक-पाठ के समान, किन्तु आकार में उससे बड़ा, एक और संग्रह पालि साहित्य में प्रसिद्ध है। इसका नाम 'परित्त' या 'महापरित्त' है। 'परित्त' शब्द का अर्थ है 'परित्राण' या 'रक्षा'। भिक्षुओं और गृहस्थों की रक्षा के उद्देश्य से सुत्त-पिटक से लगभग ३० सुत्तों का संग्रह कर लिया गया है। जिनका पाठ बौद्धों के विश्वास के अनुसार, रोग, दुर्भिक्ष आदि उपद्रवों को शान्त करने वाला और सामान्यतः मंगलकारी होता है। लंका और बरमा में परित्त-पाठ की प्रथा प्राचीन काल से प्रचलित है।[3] श्रीलंका के कई राजाओं ने परित्त-पाठ करवाया, जिनमें सेन द्वितीय (८५१-८८५ ई०) और कस्सप पञ्चम (९१३-९२३ ई०) के नाम अधिक प्रसिद्ध हैं। श्रीमती मेबिल वोड ने हमें बतलाया है कि बरमा में तो इसके समान लोकप्रिय पुस्तक ही पालि साहित्य की दूसरी नहीं है।[4] 'परित्त' में विशेषतः निम्नलिखित सुत्त सम्मिलित माने जाते हैं—

१. दसधम्म-सुत्त
२. महामङ्गल-सुत्त
३. करणीय-मेत्त-सुत्त
४. चुन्द-सुत्त
५. मेत्त-सुत्त

---

१. क्रमशः पृष्ठ ३८ एवं १०५ (भिक्षु जगदीश काश्यप का अनुवाद)।
२. विसुद्धिमग्ग ८/४२-१४४; देखिए ११/४८-८१ भी (धर्मानन्द कोसम्बी का संस्करण)।
३. श्रीलंका में यह 'पिरित्त' कहलाता है। श्रीलंका में परित्त-पाठ की सांगोपांग विधि के विवरण के लिए देखिए त्रिपिटकाचार्य भिक्षु धर्म-रक्षित का "परित्त-पाठ और लंका" शीर्षक लेख "धर्मदूत" फरवरी-मार्च १९४८, पृष्ठ १६३-६७ में। कुछ विवरण के लिए देखिए मल-लसेकर : दि पालि लिटरेचर ऑव सिलोन, पृष्ठ ७५-७६।
४. दि पालि लिटरेचर ऑव बरमा, पृष्ठ ३-४।

६. मेत्तानिसंस-सुत्त
७. मोरपरित्त-सुत्त
८. चन्दन-सुत्त
९. सुरिय-सुत्त
१०. धजग्ग-सुत्त
११. महाकस्सपत्थेर-बोज्झंग-सुत्त
१२. महामोग्गल्लानत्थेर-बोज्झंग-सुत्त
१३. महाचन्दत्थेर-बोज्झंग-सुत्त
१४. गिरिमानन्द-सुत्त
१५. इसिगिलि-सुत्त
१६. धम्मचक्कपवत्तन-सुत्त
१७. आलवक-सुत्त
१८. कसिभारद्वाज-सुत्त
१९. पराभव-सुत्त
२०. वसल-सुत्त
२१. सच्चविभंग-सुत्त
२२. आटानाटिय-सुत्त

इनके अतिरिक्त परित्त-पाठ में 'अनुलोभ-पटिलाम-पटिच्चसमुप्पादसुत्त' आदि कुछ अन्य सूत्रों का भी पाठ किया जाता है।[1] परित्त पाठ की प्रथा बुद्ध-काल में भी प्रचलित थी, ऐसा परम्परागत विश्वास है। हम पहले 'रतन-सुत्त' के प्रसङ्ग में देख ही चुके हैं कि एक वार लिच्छवियों के नगर वैशाली में दुर्भिक्ष पड़ा था और भयंकर महामारी फैली थी। भगवान् के आदेशानुसार उन्होंने 'रत्न-सुत्त' का पाठ किया था, जिसके परिणामस्वरूप वर्षा हुई थी और महामारी भी शान्त हुई थी। परित-पाठ से बीमारी की शान्ति हुई, इसके उदाहरण पालि साहित्य में काफी मिलते हैं। दीघलम्बिक ग्राम के किसी ब्राह्मण का पुत्र परित्त-पाठ से रोग-विमुक्त हो गया। इसी प्रकार आर्य महा-

---

१. परन्तु सब में मुख्य तो रतन-सुत्त, मङ्गल-सुत्त और करणीय-मेत्त-सुत्त आदि जैसे कुछ सूत्र ही हैं। श्रीलंका में सिंहली लिपि में 'पिरित पोत' नामक पुस्तक मिलती है, जिसमें उन सब सुत्तों का संकलन है जिनका पाठ 'परित्त' के रूप में किया जाता है। देखिए मललसेकर, दि पालि लिटरेचर ऑव सिलोन, पृष्ठ ७५-७६।

काश्यप की बीमारी के समय बोज्झंग-सुत्त का पाठ किया गया और महा-काश्यप उसी समय रोग-मुक्त हो गये। गिरिमानन्द नामक भिक्षुकी रोग-शान्ति के लिए विधान बतलाते हुए भगवान् ने स्वयं आनन्द से एक बार कहा था, "आनन्द ! यदि तुम गिरिमानन्द भिक्षु के पास जाकर 'दस-संज्ञाओं' (अनित्य-संज्ञा, अशुभ-संज्ञा, अनात्म-संज्ञा, निरोध-संज्ञा, आदि) का पाठ करो, तो इसके लिए अवकाश है, स्थान है कि उसे सुनकर उसका रोग शान्त हो जायगा।"[1] मिलिन्द-प्रश्न' में 'परित्त' को भगवान् बुद्ध का ही उपदेश बतलाया गया है[2] और वहाँ इन सात परित्तों के नाम गिनाये गये हैं, यथा रतन-सुत्त, मेत्त-सुत्त, खन्ध-परित्त, मोर-परित्त, धजग्ग-परित्त, आटानाटिय-परित्त और अंगुलिमाल-परित्त'।[3] अतः परित्त-पाठ का महत्त्व स्थविरवादी परम्परा में सुप्रतिष्ठित है, इसमें सन्देह नहीं।

परित्त के संकलन का ठीक काल निश्चय नहीं किया जा सकता, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि वह काफी बाद का है। हाँ, मिलिन्दपञ्ह में निर्दिष्ट सात परित्तों को तो उसकी रचना के पूर्व संकलित होना ही चाहिए। परित्त का सर्वप्रथम उल्लेख हमें विनय-पिटक के चुल्लवग्ग में मिलता है, जहाँ कहा गया है कि एक बार एक भिक्षु को सर्प के द्वारा काट लिए जाने के कारण उसकी मृत्यु हो जाने पर भगवान् बुद्ध ने रक्षा के तौर पर खन्ध-परित्त का पाठ करने की अनुमति दी। कुछ भी हो, स्थविरवाद परम्परा के पूर्वतम स्वरूप में भूत-प्रेत आदि की बातें अथवा उनसे बचने के लिए मन्त्र-जादू के से प्रयोग बिलकुल नहीं हैं। ये सब बातें सामान्य अन्ध-विश्वासों के आधार पर उसमें प्रवेश कर गयीं। इस दृष्टि से दीघ-निकाय के आटानाटिय-सुत्त जैसे अंश भी उत्तरकालीन ही कहे जा सकते हैं। भगवान् बुद्ध ने योग की विभू-

---

१. "सचे खो त्वं आनन्द ! गिरिमानन्दस्स भिक्खुनो उपसंकमित्वा दस सञ्ञा भासेय्यासि, ठानं खो पनेतं विज्जति यं गिरिमानन्दस्स भिक्खुनो दससञ्ञा सुत्वा सो आबाधो ठानसो पटिप्पस्सम्भेय्य।" गिरिमानन्द-सुत्त (अंगुत्तर-निकाय, दसक निपात)।

२. "परित्ता, च भगवता उद्दिट्ठा।"...मिलिन्दपञ्हो, पृष्ठ १५३ (बम्बई विश्वविद्यालय का संस्करण)।

३. "पुन भगवता परित्ता च उद्दिट्ठा, सेय्यथीदं—रतनसुत्तं, मेत्तसुत्तं, खन्धपरित्तं, मोरपरित्तं, धजग्गपरित्तं, आटानाटियपरित्तं, अङ्गुलिमालपरित्तं'ति। उपर्युक्त पद-संकेत के समान।

तियों के भी प्रदर्शन की निन्दा ही की।[1] फिर जादू-टोनों के प्रयोगों की तो बात ही क्या ? प्रतीत्यसमुत्पाद के आधार पर सृष्टि के व्यापारों की व्याख्या करने वाला मन्त्रों के जप से बीमारी या विपत्ति से विमुक्ति दिलाने नहीं आया था। परन्तु यदि मंगलमय सुवचनों का पाठ किया जाय, तो इसमें हर्ज ही क्या ? जहाँ तक 'परित्त' के सुत्तों का सम्बन्ध है, वे अपने आप में नैतिक भावना से ओत-प्रोत हैं। उनके अन्दर स्वयं कोई ऐसी वस्तु नहीं जो उस उदात्त गम्भीरता से रहित हो जो सामान्यतः बौद्ध साहित्य की विशेषता है। उनका पाठ निश्चय ही मन को ऊँची आध्यात्मिक अवस्था में ले जाने वाला है। अतः उनका संगायन करना, स्वाध्याय करना या जोर से उच्चारण करना प्रत्येक अवस्था में मङ्गल का मूल ही हो सकता है। बीमारी की अवस्था में वह मानसोपचार का अंग भी हो सकता है, कुछ-कुछ उसी प्रकार जैसे राम नाम के स्मरण को गांधी जी ने प्राकृतिक चिकित्सा का एक अंग बना दिया। यदि परित्त-पाठ में अन्धविश्वास है, तो उसी हद तक जितना गांधी जी की उपर्युक्त उपचार-विधि में। फिर हम इसे अन्धविश्वास भी क्यों कहें ? यह तो अनुभूत सत्य है। जिससे मन ऊँची अवस्था में जा सकता है, उससे शरीर पर भी स्वस्थ प्रभाव क्यों न पड़ेगा ? इस दृष्टि से परित्त-पाठ का उपदेश स्वयं बुद्ध भगवान् का भी दिया हुआ हो सकता है। हाँ, वहाँ कर्मकाण्ड अवश्य नहीं है। भगवान् ने सर्प को अपनी मैत्री-भावना से भर देने, आपूरित कर देने का आदेश दिया।[2] सर्प के भय से बचने का यही एक 'मन्त्र' है। अशेष जीव-जगत् के साथ मैत्री स्थापित कर इस 'मन्त्र' की सत्यता देखी जा सकती है। 'परित्त' में संगृहीत सुत्तों की भावनाएँ बड़ी मङ्गलमय और उदात्त हैं। उनमें चित्त को डुबो देने पर शरीर और मन प्रसन्नता से न भर जायँ,

---

१. विनय-पिटक—चुल्लवग्ग में विभूति-प्रदर्शन को 'दुष्कृत' अपराध बतलाया गया है; मिलाइये, धम्मपदट्ठकथा- ४/२, बुद्धचर्या, पृष्ठ ८२-८३ में अनुवादित। देखिए केवट्ट-सुत्त (दीघ० १/११); सम्पसादनिय-सुत्त (दीघ०-३/५); महालि-सुत्त (दीघ० १/६)।

२. मेत्तेन चित्तेन फरितुं (मित्रतापूर्ण चित्त से भर देने के लिए—विनय-पिटक)। साधारण अर्थ में इसे मन्त्र कहना तो बुद्धि का उपहास ही होगा। यह तो एक गम्भीर नैतिक उपदेश है। अधिकतर बुद्ध-वचनों का यही हाल है, फिर चाहे उनका उपयोग उत्तरकालीन बौद्ध जनता किसी प्रकार करने लगी हो।

यह असम्भव है। प्रसन्नता (चित्त-प्रसाद) ही तो स्वास्थ्य और मङ्गलों की जननी है। नाना प्रकार से बुद्ध-धर्म, संघ की अनुस्मृति करते हुए भिक्षु-गण परित्त-पाठ के अन्त में ठीक ही संगायन करते हैं—"सब्बीतियो विवज्जन्तु सब्बरोगो विनस्सतु। मा ते भवत्वन्तरायो सुखी दीघायुको भव।"—"तेरी सारी अपदाएँ दूर हों, सब रोग नष्ट हो जायँ, तुझे विघ्न न हो, तू सुखी और दीर्घायु हो।"

बौद्ध साहित्य का सम्भवतः सबसे अधिक लोकप्रिय ग्रन्थ है। एक प्रकार इसे बौद्धों की गीता ही कहना चाहिए। सिंहल में बिना धम्मपद का पारायण किये किसी भिक्षु की उपसम्पदा नहीं होती। वर्मा, स्याम, कम्बोदिया (कम्पूचिया) और लाओस में भी धम्मपद का कण्ठस्थ होना प्रायः प्रत्येक भिक्षु के लिए आवश्यक माना जाता है। बुद्ध- उपदेशों का धम्मपद से अच्छा संग्रह पालि साहित्य में नहीं है। इसकी नैतिक दृष्टि जितनी गम्भीर है, उतनी ही वह प्रसादगुण-पूर्ण भी है।

'धम्मपद' शब्द का अर्थ है धर्म-सम्बन्धी पद या शब्द। 'पद' शब्द का अर्थ वाक्य या गाथा की पंक्ति भी होती है। अतः 'धम्मपद' का अर्थ धर्म सम्बन्धी वाक्य या गाथा भी है। बुद्ध द्वारा उपदिष्ट धर्म सम्बन्धी शब्दों, वाक्यों या गाथाओं को भिक्षु उनके जीवन-काल में ही कण्ठस्थ करने लगे थे। दूसरे अध्याय के आरम्भ में हम देख चुके हैं कि सुत्त-निपात के अट्ठक-वग्ग को बुद्ध के एक शिष्य ने उनके सामने सस्वर सुनाया था। इसी प्रकार दूसरे बुद्ध-वचन भी भिक्षुओं के द्वारा कण्ठस्थ किये जाते थे और उनका किसी-न-किसी रूप में संकलन भी उस समय विद्यमान था। 'धम्मपद' ऐसा ही एक संकलन है। स्वयं 'धम्मपद' की दो गाथाओं में धर्मपदों के अर्थ में 'धम्मपद' शब्द का प्रयोग मिलता है। यह उसकी प्राचीनता का सूचक है। ये दोनों गाथाएँ इस प्रकार हैं—

"कौन इस पृथ्वी तथा देवताओं के सहित यमलोक को जीतेगा ? कौन कुशल पुरुष के समान इस सुन्दर रूप से उपदिष्ट 'धम्मपद' को चुनेगा? 'शैक्ष्य'

---

१. धम्मपद के अनेक संस्करण और अनुवाद हिन्दी-भाषा में उपलब्ध हैं। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन और भदन्त आनन्द कौसल्यायन के अनुवाद विशेष उल्लेखनीय हैं। भिक्षु जगदीश काश्यप द्वारा सम्पादित धम्मपद का देवनागरी संस्करण खुद्दकनिकाय—पालि की प्रथम जिल्द में है।

पुरुष इस पृथ्वी तथा देवताओं के सहित यमलोक को जीतेगा। शैक्ष्य पुरुष पुष्प के समान इस सुन्दर रूप से उपदिष्ट 'धम्मपदं' को चुनेगा।"[१]

संयुत्त-निकाय में भी 'धम्मपद' शब्द का प्रयोग धर्म-पदों के रूप में हुआ है और उससे यह और भी अच्छी तरह प्रमाणित हो जाता है कि बुद्ध के काल में ही उनके द्वारा उपदिष्ट गाथाओं का एक संकलन धर्म-पदों के रूप में विद्यमान था और भिक्षु उन्हें कण्ठस्थ करके अपने उपदेशों में प्रयुक्त करते थे। इस निकाय के पियंकर सुत्त में कहा गया है कि एक बार भिक्षु अनुरुद्ध (अनिरुद्ध) श्रावस्ती के जेतवनाराम में प्रातःकाल कुछ 'धर्मपदों' का पाठ कर रहे थे और उन्हें सुनने के आतुरता में एक स्त्री अपने शोर करते हुए पुत्र को चुप कराती हुई कहती है, "मेरे प्रियंकर! चुप हो जा। शोर मत करो। देख, यह भिक्षु धर्मपदों को पढ़ रहा है। यदि हम इन धर्मपदों को जानेंगे तो हमारा कल्याण होगा।" इसी प्रकार संयुक्त निकाय में ही सज्झाय सुत्त में एक भिक्षु का उल्लेख आया है जो पहले 'धर्मपदों' को पढ़ा करता था, परन्तु अधिक विकसित आध्यात्मिक अवस्था प्राप्त कर लेने पर अब उसने उनका पाठ करना छोड़ दिया है। यह पूछे जाने पर कि "भिक्षु! अब आप धर्मपदों का पाठ क्यों नहीं करते?" वह कहता है, 'पहले जब तक मुझे वैराग्य नहीं हुआ था, मैं धर्मपदों को पढ़ा करता था परन्तु अब . . .।" अंगुत्तर निकाय से भी हमें ज्ञात होता है कि एक बार भगवान् बुद्ध ने सप्पिनी या सप्पिनिका (वर्तमान पंचान, बिहार में), नदी के तीर पर स्थित एक परिव्राजकाराम में वहाँ के परिव्राजकों के समक्ष चार धर्मपदों का उपदेश दिया था। इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि धर्म के—बुद्ध-उपदेशों के—'पदों' या गाथाओं को भिक्षु बुद्ध के जीवन-काल में कण्ठस्थ करते थे। आज जो 'धम्मपद' हमें मिलता है, वह उन्हीं गाथाओं का मूल या कुछ परिवर्तित-परिवर्द्धित संकलन है। 'धम्मपद' की कई गाथाओं के उद्धरण 'निद्देस' और 'कथावत्थु' में दिये गये हैं और ईसवी सन् के आसपास की रचना 'मिलिन्दपञ्हो' में 'भाषित' पेतं भगवता देवातिदेवेन धम्मपदे" ("उन देवातिदेव भगवान् (बुद्ध) ने 'धम्मपद' में ऐसा कहा है") ऐसा कहते हुए दो विभिन्न स्थलों पर 'धम्मपद' की दो गाथाओं (३२वीं और ३२७वीं) को उद्धृत किया गया है।[२] इस प्रकार बुद्ध-वचन के रूप में धम्मपद की प्रतिष्ठा अत्यन्त प्राचीनकाल से चली आ रही है।

---

१. धम्मपद, पुप्फवग्गो।

२. मिलिन्दपञ्हो, पृष्ठ ३७२, ३९९ (बम्बई विश्वविद्यालय का संस्करण)।

धम्मपद में कुल मिलाकर ४२३ गाथाएँ हैं, जो ३६ वर्गों में बँटी हुई हैं। प्रत्येक वर्ग में गाथाओं की संख्या इस प्रकार है—

वर्ग	गाथाओं की संख्या
१. यमकवग्ग	२०
२. अप्पमादवग्ग	१२
३. चित्तवग्ग	११
४. पुष्फवग्ग	१६
५. बालवग्ग	१६
६. पंडितवग्ग	१४
७. अरहन्तवग्ग	१०
८. सहस्सवग्ग	१६
९. पापवग्ग	१३
१०. दंडवग्ग	१७
११. जरावग्ग	११
१२. अत्तवग्ग	१०
१३. लोकवग्ग	१२
१४. बुद्धवग्ग	१८
१५. सुखवग्ग	१२
१६. पियवग्ग	१२
१७. कोपवग्ग	१४
१८. मलवग्ग	२१
१९. धम्मट्ठवग्ग	१७
२०. मग्गवग्ग	१७
२१. पकिण्णकवग्ग	१६
२२. निरयवग्ग	१४
२३. नागवग्ग	१४
२४. तण्हावग्ग	२६
२५. भिक्खुवग्ग	२३
२६. ब्राह्मणवग्ग	४१
	४२३

'यमकवग्ग' (वर्ग १) में अधिकतर ऐसे उपदेशों का संग्रह है, जिनमें दो-दो बातें जोड़े के रूप में आती हैं। 'मुझे गाली दी'; 'मुझे मारा !' 'मुझे हरा

दिया', 'मुझे लूट लिया', ऐसा जो मन में बांधते हैं, उनका वैर कभी शान्त नहीं होता।"[1] अहिंसा का यह सनातन सन्देश भी कितना मार्मिक है "यहां वैर से वैर कभी शान्त नहीं होता। अवैर के ही वैर शान्त होता है, यही सनातन धर्म है।"[2] बड़ी-बड़ी संहिताओं का भाषण करने वाले किन्तु उनके अनुसार आचरण न करने वाले व्यक्ति को 'धम्मपद' में उस ग्वाले के समान कहा गया है जिसका काम केवल दूसरों की गायों को गिनना है।[3] बौद्ध चिन्तकों ने शारीरिक संयम की मूल को सदा मन के अन्दर देखा था, इसीलिए धम्मपद की प्रथम गाथा मन की महिमा का वर्णन करती हुई कहती है, "मन ही सब धर्मों (कायिक, वाचिक, मानसिक कर्मों) का अग्रगामी है, मन ही उनका प्रधान है। सभी धर्म मनोमय हैं।" आत्म-संयम, वास्तविक श्रामण्य और सत्संकल्प के स्वरूप और महत्त्व के वर्णन इस वर्ग के अन्य विषय हैं। 'अप्प-माद-वग्ग' में प्रमाद की निन्दा और अ-प्रमाद की प्रशंसा की गयी है। अप्रमाद के द्वारा ही अनुपम योग-क्षेम रूपी निर्वाण को प्राप्त किया जाता है।[4] अप्रमाद के कारण ही इन्द्र देवताओं में श्रेष्ठ बना है।[5] अप्रमाद में रत भिक्षु को ही यहां 'निर्वाण के समीप' (निब्बाणस्सेव सन्तिके) कहा गया है।[6] 'चित्तवग्ग' (वर्ग ३) में चित्त-संयम का वर्णन है। 'जितनी भलाई न माता-पिता कर सकते हैं, न दूसरे भाई-बन्धु, उससे अधिक भलाई ठीक मार्ग पर लगा हुआ चित्त करता है।" 'पुप्फवग्ग (वर्ग ४) में पुष्प को आलम्बन मान कर नैतिक उपदेश दिया गया है। सदाचार रूपी गन्ध की प्रशंसा करते हुए कहा गया है, "तगर और चन्दन की जो यह गन्ध फैलती है, वह अल्पमात्र है। किन्तु यह जो सदाचारियों की गन्ध है, वह देवताओं में फैलती है।" 'बालवग्ग' (वर्ग ५) में मूर्खों के लक्षण बतलाते हुए कहा गया है कि उनके लिए संसार (आवागमन) लम्बा है। इसी वर्ग में सांसारिक उन्नति और परमार्थ के मार्ग की विभिन्नता बतलाते हुए कहा गया है "लाभ की उपनिषद् दूसरी है और निर्वाण को ले जानेवाली दूसरी, इसे जानकर बुद्ध का अनुयायी भिक्षु सत्करा

---

१. १।४
२. १।५
३. १।१९
४. २।३
५. २।१०
६. २।१२

का अभिनन्दन नहीं करता, बल्कि एकान्तचर्या को बढ़ाता है।" 'पंडितवग्ग" (वर्ग ६) में वास्तविक पंडित पुरुषों के लक्षण बतलाये गये हैं। "जो अपने लिए या दूसरों के लिए पुत्र, धन और राज्य नहीं चाहते, न अधर्म से अपनी उन्नति चाहते हैं, वही सदाचारी पुरुष, प्रज्ञावान् और धार्मिक हैं।" अरहन्त वग्ग (वर्ग ७) में बड़ी सुन्दर काव्यमय भाषा में अर्हतों के लक्षण कहे गये हैं। "जिसका मार्ग-गमन समाप्त हो चुका है, जो शोक-रहित तथा सर्वथा मुक्त है, जिसकी सभी ग्रन्थियां क्षीण हो गयी हैं, उसके लिए सन्ताप नहीं है।" "सचेत हो वह उद्योग करते हैं। गृह-सुख में रमण नहीं करते। हंस जैसे क्षुद्र जलाशय को छोड़कर चले जाते हैं, वैसे ही अर्हत् गृह को छोड़ चले जाते हैं।" "जो वस्तुओं का संचय नहीं करते; जिनका भोजन नियत है, शून्यता-स्वरूप तथा कारण-रहित मोक्ष जिनको दिखायी पड़ता है, उनकी गति आकाश में पक्षियों की भाँति अज्ञेय है।" "गाँव में या जंगल में, नीचे या ऊँचे स्थल में, जहाँ कहीं अर्हत् लोग विहार करते हैं, यही रमणीय भूमि है।" सहस्सवग्ग (वर्ग ८) की मूल भावना यह है कि सहस्रों गाथाओं के सुनने से एक शब्द का सुनना अच्छा है, यदि उससे शान्ति मिले। सिद्धान्त के मन भर से अभ्यास का कण भर अच्छा है। सहस्रों यज्ञों से सदाचारी जीवन श्रेष्ठ है। पापवग्ग (वर्ग ९) में पाप न करने का उपदेश दिया गया है, क्योंकि "न आकाश में, न समुद्र के मध्य में, न पर्वतों के विवर में प्रवेश कर—संसार में कोई स्थान नहीं है जहाँ रहकर, पाप-कर्मों के फल से प्राणी बच सके।" 'दंडवग्ग' (वर्ग १०) में कहा गया है कि "जो सारे प्राणियों के प्रति दंडत्यागी है, वही ब्राह्मण है, वही श्रमण है; वही भिक्षु है।" 'जरावग्ग' (वर्ग ११) में वृद्धावस्था के दुःखों का दर्शन है। इसी वर्ग में संसार की अनित्यता की याद दिलाते हुए यह मार्मिक उपदेश दिया गया है, "जब नित्य ही आग जल रही हो तो क्या हँसी है, क्या आनन्द मनाना है! अन्धकार से घिरे हुए तुम दीपक को क्यों नहीं ढूंढ़ते हो?" इसी वर्ग में भगवान् के वे उद्गार भी सन्निहित हैं, जो उन्होंने सम्यक सम्बोधि प्राप्त करने के अनन्तर ही किये थे, "अनेक जन्मों तक बिना रुके हुए मैं संसार में दौड़ता रहा। इस (काया-रूपी) कोठरी को बनाने वाले (गृहकारक) को खोजते-खोजते पुनः पुनः मुझे दुःखमय जन्मों में गिरना पड़ा। आज हे गृह-कारक! मैंने तुझे पहचान लिया। अब फिर तू घर नहीं बना सकेगा। तेरी सारी कड़ियाँ भग्न कर दी गयीं। गृह का शिखर भी निर्बल हो गया। संस्कार-रहित चित्त से आज तृष्णा का क्षय हो गया।" 'अत्तवग्ग' (वर्ग १२) में आत्मोन्नति का मार्ग दिखाया गया है। इसी वर्ग की प्रसिद्ध गाथा है "पुरुष आप ही

अपना स्वामी है, दूसरा कौन स्वामी हो सकता है ? अपने को भली प्रकार दमन कर लेने पर वह दुर्लभ स्वामी को पाता है ।" 'लोक-वग्ग' (वर्ग १३) में लोक सम्बन्धी उपदेश हैं । 'बुद्ध-वग्ग' (वर्ग १४) में भगवान् बुद्ध के उपदेशों का यह सर्वोत्तम सार दिया हुआ है—"सारे पापों का न करना, पुण्यों का संचय करना, अपने चित्त को परिशुद्ध करना—यही बुद्धों का शासन है। निन्दा न करना, घात न करना, भिक्षु-नियमों द्वारा अपने को सुरक्षित रखना, परिमाण जानकर भोजन करना, एकान्त में सोना-बैठना, चित्त को योग में लगाना—यही बुद्धों का शासन है ।" "सुख-वग्ग" (वर्ग १५) में उस सुख की महिमा गायी गयी है, जो धन-संपत्ति के संयोग से रहित और केवल सदाचारी और अकिंचनतामय एवं मैत्रीपूर्ण जीवन से ही लभ्य है। भिक्षु कहते हैं, "वैर-वद्ध प्राणियों के बीच अवैरी होकर विहरते हुए अहो ! हम कितने सुखी हैं, वैरवद्ध मानवों में हम अवैरी होकर विहरते हैं । भयभीत प्राणियों के बीच में अभय होकर विहरते हुए अहो ! हम कितने सुखी हैं ! भयभीत मानवों में हम अभय होकर विहरते हैं। आसक्ति-युक्त प्राणियों के बीच में अनासक्त होकर विहरते हुए अहो ! हम कितने सुखी हैं ! आसक्ति-युक्त मानवों में हम अनासक्त होकर विहरते हैं।" "पियवग्ग" (वर्ग १६) में यह कहा गया है कि जिसके जितने अधिक प्रिय हैं, उसको उतने ही अधिक दुःख हैं । "प्रेम से शोक उत्पन्न होता है, प्रेम से भय उत्पन्न होता है । प्रेम से मुक्त को कोई शोक नहीं, फिर भय कहाँ से ?" "कोधवग्ग" (वर्ग १७) की मुख्य भावना है "अक्रोध से क्रोध को जीतो, असाधु को साधुता से जीतो, कृपण को दान से जीतो, झूठ बोलने वाले को सत्य से जीतो।" "मलवग्ग" (वर्ग १८) में भगवान् ने कहा है कि अविद्या ही सबसे बड़ा मल है । "भिक्षुओ ! इस मल को त्याग-कर निर्मल बनो ।" "धम्मट्ठवग्ग" (वर्ग १९) में वास्तविक धर्मात्मा पुरुष के लक्षण बतलाये गये हैं । "बहुत बोलने से धर्मात्मा नहीं होता । जो थोड़ा भी सुनकर शरीर से धर्म का आचरण करता है और जो धर्म में असावधानी नहीं करता, वही वास्तव में धर्मधर हैं।" इस प्रकार "मौन होने से मुनि नहीं होता । वह तो मूढ़ और अविद्वान् भी हो सकता है। जो पापों का परित्याग करता है, वही मुनि है। चूंकि वह दोनों लोकों का मनन करता है, इसीलिए वह मुनि कहलाता है।" इसी वर्ग में भगवान् का यह उत्साहकारी मार्मिक उपदेश भी है, "भिक्षुओ ! जब तक चित्त-मलों का विनाश न कर दो, चैन मत लो"—भिक्खू ! विस्सासमापादि अप्पत्तो आसवक्खयं । "मग्गवग्ग" (वर्ग २०) में निर्वाणगामी मार्ग का वर्णन है । सभी संस्कारों को अनित्य, दुःख

और अनात्म समझते हुए मनुष्य को चाहिए कि "वाणी की रक्षा करने वाला और मन से संयमी रहे तथा काया से पाप न करे। इन तीनों कर्मपथों की शुद्धि करे और ऋषि (बुद्ध) के बताये धर्म का सेवन करे।" 'पकिण्णकवग्ग' (वर्ग २१) में अहिंसा और शरीर के दुःखदोषानुचिन्तन आदि का वर्णन है। "निरय-वग्ग" (वर्ग २२) में बतलाया गया है कि कैसे पुरुष नरकगामी होते हैं। "नाग-वग्ग" (वर्ग २३) में नाग (हाथी) के समान अडिग रहने का उपदेश दिया गया है। "जैसे युद्ध में हाथी धनुष से गिरे बाण को सहन करता है, वैसे ही मैं वाक्यों को सहन करूँगा। संसार में तो दुःशील आदमी ही अधिक है।" "तण्हा-वग्ग" (वर्ग २४) में तृष्णा को समूल खोद डालने का उपदेश है। अपने पास दर्शनार्थ आये हुए आदमियों को सम्बोधित करते हुए भगवान् कहते हैं, "इसलिए तुम्हें कहता हूँ, जितने यहाँ आये हो, तुम्हारा सबका मंगल हो। जैसे खस के लिए लोग उषीर को खोदते हैं, वैसे ही तुम तृष्णा की जड़ को खोदो।" "भिक्खुवग्ग" (वर्ग २५) में भिक्षुओं के लिए लोमहर्षक उपदेश है। "हे भिक्षु! इस नाव को उलीचो। उलीचने पर यह तुम्हारे लिए हल्की हो जायगी। राग और द्वेष को छेदन कर तुम निर्वाण को प्राप्त कर लोगे।" पुनः "हे भिक्षु! ध्यान में लगो। मत असावधानी करो। मत तुम्हारा चित्त भोगों के चक्कर में पड़े। प्रमत्त होकर मत लोहे के गोले को निगलो। 'हाय दुःख!' कहकर दग्ध होते हुए मत तुम्हें पीछे क्रन्दन करना पड़े।" "भिक्षुओ! जैसे जूही कुम्हलाये हुए फूलों को छोड़ देती है, वैसे ही तुम राग और द्वेष को छोड़ दो।" "ब्राह्मण-वग्ग" (वर्ग २६) में ब्राह्मणों के लक्षण गिनाये गये हैं। २६।१३।४१ गाथाएँ तो बड़ी ही काव्यमय हैं। भगवान् की दृष्टि में वास्तविक ब्राह्मण कौन है, इस पर कुछ गाथाएँ देखिए—

"माता और योनि से उत्पन्न होने से मैं किसी को ब्राह्मण नहीं कहता। वह तो 'भोवादी' ('भो, 'भो' कहने वाला, जैसा ब्राह्मण उस समय एक-दूसरे को सम्बोधन करते समय करते थे) है और संग्रही है। मैं तो ब्राह्मण उसे कहता हूँ, जो अपरिग्रही और लेने की इच्छा न रखने वाला है।

'जो बिना दूषित चित्त किये गाली, वध और बन्धन को सहन करता है, क्षमा-बल ही जिसकी सेना का सेनापति है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

"कमल के पत्ते पर जल और आरे के नोक पर सरसों की भाँति जो भोगों में लिप्त नहीं होता, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

"जो विरोधियों के बीच विरोध-रहित रहता है, जो दण्डधारियों के बीच

दन्ड-रहित रहता है, संग्रह करने वालों में जो संग्रह-रहित है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

"जिसने यहाँ पुण्य और पाप दोनों की आसक्ति को छोड़ दिया, जो शोक-रहित, निर्मल और शुद्ध है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।

"जिसके आगे, पीछे और मध्य में कुछ नहीं है, जो सर्वत्र परिग्रह-रहित है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।" आदि।

ऊपर धम्म-पद की विषयवस्तु के स्वरूप का जो परिचय दिया गया है, उससे स्पष्ट है कि उसमें नीति के वे सभी आदर्श संगृहीत हैं, जो भारतीय संस्कृति और समाज की समान सम्पत्ति है।[1] धम्मपद की आधी से अधिक गाथाएँ तिपिटक के अन्य भागों में भी मिलती हैं। धम्मपद के पालि संस्करण के अतिरिक्त, कुछ अन्य संस्करण भी मिलते हैं। उसका भी उल्लेख कर देना यहाँ आवश्यक होगा। इस प्रकार के मुख्यतः चार संस्करण उपलब्ध हैं। सर्व-प्रथम प्राकृत धम्मपद है। खोतन में खण्डित रूप में यह खरोष्ठी लिपि में सन् १८९३ ई० में प्राप्त हुआ भोज-पत्र पर लिखा हुआ है। ऐसा माना जाता है कि किसी भी भारतीय ग्रन्थ की यह प्राचीनतम पाण्डुलिपि है जो हमें आज मिलती है। परन्तु यह बिल्कुल अपूर्ण अवस्था में है और यह नहीं कहा जा सकता कि इसका मौलिक स्वरूप क्या था। इस ग्रन्थ का सम्पादन पहले फ्रेंच विद्वान् ई० सेनाँ ने किया था। बाद में इसका सम्पादन डॉ० वेणीमाधव बड़ुआ और सुरेन्द्रनाथ मित्र ने किया है।[2] प्रस्तुत ग्रन्थ में १२ अध्याय हैं और २५७ गाथाएँ, जिनकी अनुरूपता पालि-धम्मपद के साथ इस प्रकार है[3]—

	प्राकृत धम्मपद	पालि धम्मपद
वर्ग-क्रम	वर्ग-नाम और भाषाओं की संख्या	इनके अनुरूप क्रम, नाम और गाथाओं की

१. डॉ० विमलाचरण लाहा ने 'हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर' जिल्द पहली, पृष्ठ २००-२१४ के अनेक पद-संकेतों में उपनिषद्, महाभारत, गीता, मनुस्मृति आदि ग्रन्थों से उद्धरण देकर धम्मपद की गाथाओं से उनकी समानता दिखायी है। इस विषय का अधिक तुलनात्मक अध्ययन भी किया जा सकता है।

२. कलकत्ता विश्वविद्यालय प्रेस, १९२१ ई०।

३. देखिए-बड़ुआ और मित्र : प्राकृत धम्मपद, पृष्ठ ८ (भूमिका।

			संख्या जो पालि धम्मपद में पायी जाती है
१	मग-वग ३०	२० मग्ग-वग्ग	१७
२	अप्रमाद-वग २५	२ अप्पमाद-वग्ग	१२
३	चित वग ५ (अपूर्ण)	३ चित्त-वग्ग	११
४	पुष-वग १५	४ पुप्फ-वग्ग	१६
५	सहस-वग १७	८ सहस्स-वग्ग	१६
६	पनित-वग या धमठ-वग १०	६ पंडित-वग्ग	१४
		१९ धम्मट्ठ-वग्ग	१७
७	बाल-वग ७ (अपूर्ण)	५ बाल-वग्ग	१६
८	जरा-वग २५	११ जरा-वग्ग	११
९	सुह-वग २०	१५ सुख-वग्ग	१२
१०	तष-वग ७ (अपूर्ण)	२४ तण्हा-वग्ग	२६
११	भिक्षु-वग ४०	२५ भिक्खु-वग्ग	२३
१२	ब्राह्मण-वग ५०	२६ ब्राह्मण-वग्ग	४१

हम ऊपर देख चुके हैं कि पालि 'धम्मपद' में ४२३ गाथाएँ हैं, जो कि उसके उपर्युक्त प्राकृत रूप में केवल २५७। चूंकि प्राकृत धम्मपद की अभी कोई पूर्ण प्रति नहीं मिल सकी है, अतः दोनों के तुलनात्मक अध्ययन से किसी निश्चित मत पर नहीं पहुँचा जा सकता। जिन वर्गों के नामों में समानता है, उनके भी क्रमों और गाथाओं की संख्या के सम्बन्ध में काफी असमानता है। अधिकतर पालि धम्मपद की अपेक्षा प्राकृत धम्मपद के प्राप्त वर्गों में ही गाथाएँ अधिक हैं। इस गाथा-वृद्धि का कारण यही जान पड़ता है कि चूँकि धम्मपद की गाथाओं का संग्रह पूरे सुत्त-पिटक के ग्रन्थों से ही किया गया है, अतः उनके चुनने में विभिन्न सम्प्रदायों के ग्रन्थों में विभिन्नता आ गयी है।[1] अन्य संस्करणों के बारे में भी यही बात है। एक बड़ी विशेषता प्राकृत धम्मपद की भाषा के सम्बन्ध में यह है कि उसकी आश्चर्यजनक समानता अशोक के शाहबा जगढ़ी और मनसेहरा के अभिलेखों से है। इससे यही विदित होता है कि प्राकृत धम्मपद उत्तर-पश्चिम भारत या मध्य-एशिया की बोलचाल की भाषा में लिखा गया था। उसे ही

---

१. गाथा-वृद्धि के उदाहरणों और उनके कारणों से अधिक विस्तृत विवेचन के लिए देखिये बड़ुआ और मित्र : प्राकृत धम्मपद, पृष्ठ ३१ (भूमिका)।

'खोतनी प्राकृत' भी नाम दे दिया जाता है, जो संस्कृत से प्रभावित भाषा थी। उसमें कुछ संस्कृतीकरण की प्रवृत्ति पायी जाती है। अभी हाल में प्रो० जोन्ह ब्री ने इसी प्राकृत धम्मपद का एक कुछ अधिक पूर्ण (फिर भी अन्ततः अपूर्ण) संस्करण प्रस्तुत किया है जिसमें संगृहीत गाथा की संख्या ३४४ है। लक्षणीय रूप से अपने द्वारा सम्पादित इस प्राकृत धम्मपद के संस्करण को उन्होंने 'गान्धारी 'धम्मपद' नाम दिया है और इसी शीर्षक से वह छपा भी है।[1] गाथाओं की संख्या कुछ अधिक होने के अतिरिक्त इस 'गान्धारी धम्मपद' की उपर्युक्त प्राकृत धम्मपद से अर्थ या भाषा की दृष्टि से कुछ विशेषता दिखाई नहीं पड़ती। धम्मपद का दूसरा संस्करण, जिसका स्वरूप अभी अनिश्चित ही है, उसका तथाकथित 'गाथा संस्कृत' या मिश्रित संस्कृत में लिखा हुआ रूप है। इसका साक्ष्य हमें 'महावस्तु' से मिलता है, जो स्वयं 'गाथा संस्कृत' या मिश्रित संस्कृत (पालि-भाषित संस्कृत पाणिनि के नियमों को न मानने वाली, परन्तु पालि तिपिटक की भाषा के रूपों को रखने वाली) में लिखी हुई रचना है और जिसमें 'धर्मपद' का एक अंश मानते हुए 'सहस्रवर्ग' ('धर्मपदेषु सहस्रवर्गः') नामक २४ गाथाओं के समूह को उद्धृत किया गया है।[2] 'सहस्सवग्ग' नामक धम्मपद का भी आठवाँ 'वग्ग' है, यह हम पहले देख चुके हैं। किन्तु वहाँ केवल १६ गाथाएँ हैं। 'महावस्तु' में उद्धृत 'सहस्रवर्ग' के अतिरिक्त वहीं अन्य तीन जगहों में भी 'धर्मपद' से उद्धरण दिये गये हैं। इनमें एक जगह[3] 'धर्मपद' से दो गाथाओं का उद्धरण दिया गया है। परन्तु ये दोनों गाथाएँ 'धम्मपद' के पालि संस्करण में नहीं मिलतीं। 'महावस्तु' में एक अन्य जगह[4] 'धर्मपद' से बुद्ध-वचन के रूप में एक गाथा का उद्धरण है, जो भी पालि 'धम्मपद' में नहीं मिलता। 'महावस्तु' में चौथी बार (जिल्द तीसरी, पृष्ठ ९१ में) 'धर्मपद' से दो गाथाएँ उद्धृत की गयी हैं, जो पालि 'धम्मपद' की गाथा-संख्या १७९-१८० "यस्स जित नावजीयति" आदि के बिलकुल समान हैं। इन उद्धरणों के अतिरिक्त 'गाथा संस्कृत' में लिखे गये धर्मपद के पूरे स्वरूप के बारे में हमें कुछ अधिक ज्ञान नहीं है। धम्मपद के 'जुह-खि-उ-थिङ्ग' नामक चीनी अनुवाद से जो २२३ ई० में किया गया था, यह अवश्य ज्ञात होता है कि उसका मूल 'गाथा-संस्कृत'

---

१. ऑक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, लन्दन, १९६२ ई०।

२. "तेषां भगवान् जटिलानां धर्मपदेषु सहस्रवर्गं भासति।" महावस्तु, जिल्द तीसरी, पृष्ठ ४३४ (ई० सेनाँ का संस्करण)।

३. जिल्द तीसरी, पृष्ठ १५६ (ई० सेनाँ का संस्करण)

४. जिल्द दूसरी, पृष्ठ २१२ (उपर्युक्त के समान)।

या प्राकृत में निबद्ध धम्मपद था, किन्तु उसके आज अनुपलब्ध होने के कारण उक्त चीनी अनुवाद के मूल रूप की समस्या उलझी ही रह जाती है। धम्मपद का तीसरा रूप विशुद्ध संस्कृत में है, जो अपने खंडित रूप में तुर्फान में पाया गया है। इस ग्रन्थ में ३३ अध्याय हैं, अर्थात् पालि धम्मपद से ७ अधिक। इसी संस्करण का तिब्बती भाषा में अनुवाद भी मिलता है, जो ८१७-८४२ ई० में किया गया था।' रॉकहिल ने इसका अनुवाद 'उदान वर्ग' शीर्षक से किया है और उसे संस्कृत धर्मपद का प्रतिरूप माना है' धम्मपद का चौथा रूप फ-ख्यू-किङ् नामक चीनी अनुवाद में पाया जाता है। यह अनुवाद मूल संस्कृत धर्मपद से २२३ ई० में किया गया। मूल आज अनुपलब्ध है। अतः पालि धम्मपद से उसकी तुलना तो नहीं की जा सकती, किन्तु चीनी अनुवाद के आधार पर कुछ ज्ञातव्य बातें अवश्य जानी जा सकती हैं। पहली बात तो यह है कि चीनी अनुवाद, अनुवाद मात्र ही नहीं है। उसे या तो एक अर्थ-कथा ही कहा जा सकता है, या यह स्वीकार करना पड़ेगा कि उसमें वास्तविक धर्मपद का काफी परिवर्द्धन किया गया है। इस चीनी अनुवाद में पालि धम्मपद के २६ वर्गों या अध्यायों की जगह ३९ तो अध्याय हैं और ४२३ गाथाओं की जगह ७५२ गाथाएँ हैं। इनका तुलनात्मक विवरण इस प्रकार है—

चीनी धम्मपद (फ-ख्यू-किङ्)			पालि धम्मपद		
१.	अनित्यता	(२१)		अनुपलब्ध	
२.	ज्ञान-दर्शन	(२९)			
३.	श्रावक	(१९)			
४.	श्रद्धा	(१८)			
५.	कर्त्तव्य-पालन	(१६)			
६.	विचार	(१२)			
७.	मैत्री-भावना	(१९)			
८.	संलाप	(१२)			
९.	यमक-वग्ग	(२२)	१.	यमक-वग्ग	(२०)
१०.	अप्रमाद-वग्ग	(२०)	२.	अप्पमाद-वग्ग	(१२)
११.	चित्त-वग्ग	(१२)	३.	चित्त-वग्ग	(११)
१२.	पुप्फ-वग्ग	(१७)	४.	पुप्फ-वग्ग	(१६)
१३.	बाल-वग्ग	(२१)	५.	बाल-वग्ग	(१६)
१४.	पंडित-वग्ग	(१७)	६.	पंडित-वग्ग	(१४)

१५.	अरहन्त-वग्ग	(१०)	७.	अरहन्त-वग्ग	(१०)
१६.	सहस्र-वग्ग	(१६)	८.	सहस्स-वग्ग	(१६)
१७.	पाप-वग्ग	(२२)	९.	पाप-वग्ग	(१३)
१८.	दण्ड-वग्ग	(१४)	१०.	दण्ड-वग्ग	(१७)
१९.	जरा-वग्ग	(१४)	११.	जरा-वग्ग	(११)
२०.	अत्त-वग्ग	(१४)	१२.	अत्त-वग्ग	(१०)
२१.	लोक-वग्ग	(१४)	१३.	लोक-वग्ग	(१३)
२२.	बुद्ध-वग्ग	(२१)	१४.	बुद्ध-वग्ग	(१८)
२३.	सुख-वग्ग	(१४)	१५.	सुख-वग्ग	(१२)
२४.	पिय-वग्ग	(१२)	१६.	पिय-वग्ग	(१२)
२५.	क्रोध-वग्ग	(२६)	१७.	क्रोध-वग्ग	(१४)
२६.	मल-वग्ग	(१९)	१८.	मल-वग्ग	(२१)
२७.	धम्मट्ठ-वग्ग	(१७)	१९.	धम्मट्ठ-वग्ग	(१७)
२८.	मग्ग-वग्ग	(२८)	२०.	मग्ग-वग्ग	(१७)
२९.	पकिण्ण-वग्ग	(१४)	२१.	पकिण्ण-वग्ग	(१६)
३०.	निरय-वग्ग	(१६)	२२.	निरय-वग्ग	(१४)
३१.	नाग-वग्ग	(१८)	२३.	नाग-वग्ग	(१४)
३२.	तण्हा-वग्ग	(३२)	२४.	तण्हा-वग्ग	(२६)
३३.	सेवा	(२०)		—	
३४.	भिक्खु-वग्ग	(३२)	२५.	भिक्खु-वग्ग	(२३)
३५.	ब्राह्मण-वग्ग	(४०)	२६.	ब्राह्मण-वग्ग	(४१)
३६.	निर्वाण	(३६)		—	
३७.	जन्म और मृत्यु	(१८)		—	
३८.	धर्म-लाभ	(१९)		—	
३९.	महामंगल	(१९)		—	

ऊपर चीनी अनुवाद के वर्गों के नाम जहाँ उनकी पालि धम्मपद के साथ समता है, पालि में सुविधा के विचार से दे दिये गये हैं। चीनी अनुवादों में तो उनके स्वभावतः चीनी भाषा में ही शीर्षक हैं। ऊपर की तुलना से स्पष्ट है कि पालि धम्मपद की गाथाओं की संख्या को चीनी अनुवाद में बढ़ा दिया गया है। वास्तव में ऊपर जितने संस्करणों का विवरण दिया गया है उनमें यही घटा-बढ़ी की गयी है। वास्तव में सबका मूलाधार तो पालि धम्मपद ही है, जिसकी गाथाओं को अक्सर बढ़ाकर और कहीं-कहीं घटा कर भी भिन्न-भिन्न

बौद्ध सम्प्रदायों ने अपने अलग-अलग संग्रह बना लिए जिनके कुछ उदाहरण हम धम्मपद के ऊपर निर्दिष्ट स्वरूपों में देख चुके हैं। अब हम बुद्ध-वचनों के एक दूसरे संग्रह पर आते हैं।

उदान[1]

'उदान' भगवान् बुद्ध के मुख से समय-समय पर निकले हुए प्रीति-वाक्यों का एक संग्रह है। 'उदान' शब्द का अर्थ 'समन्तपासादिका' तथा 'अट्ठसालिनी' के अनुसार हम पहले द्वितीय परिच्छेद में दे चुके हैं। इसी का अनुसरण करते हुए 'उदानट्ठकथा' में और भी अधिक लक्षणीय ढंग से धम्मपालाचार्य ने कहा है, "उदानं'ति पीतिवेग समुट्ठापितो उदाहारो।" अर्थात् "प्रीति-वेग से समुत्थापित उद्गार ही उदान है।" आगे उन्होंने लक्षणीय रूप से यह भी कहा है, "यं पीतिवेग-समुट्ठापितं वितक्कविप्फारं अन्तोहदयं सन्धारेतुं न सक्कोति सो अधिको हुत्वा असण्ठहित्वा बहि वचीद्वारेन निक्खन्तो पटिग्गाहकनिरपेक्खे उदाहारविसेसो उदानं'ति वुच्चति।" इसका यह अर्थ है, "जिस प्रीति-वेग से समुत्थापित वितर्कविस्फार को आन्तरिक हृदय सँभाल कर नहीं रख सकता और जो (प्रीतवेग-समुत्थापित वितर्क-विस्फार) अधिक होकर, असंस्थित होकर बाहर वाणीद्वार से निकलता है और ग्रहण करने वाले की (भी) अपेक्षा नहीं रखता, वही उद्गार-विशेष 'उदान' है।" इसी अर्थ को लेकर भिक्षु जगदीश काश्यप जी ने 'उदान' (हिन्दी अनुवाद) के प्राक्कथन के बिलकुल आरम्भ में ही कहा है, "भावातिरेक से कभी-कभी सन्तों के मुख से जो प्रीति-वाक्य निकला करते हैं, उन्हें 'उदान' कहते हैं।" 'उदान' में भगवान् बुद्ध के ऐसे गम्भीर और उनकी समाधि-अवस्था के सूचक शब्द संगृहीत हैं, जो उन्होंने विशेष अवसरों पर उच्चरित किये। उनका सौमनस्य और ज्ञान इन वचनों में

---

१. महापंडित राहुल सांकृत्यायन, भदन्त आनन्द कौसल्यायन तथा भिक्षु जगदीश काश्यप द्वारा देवनागरी लिपि में सम्पादित, तथा उत्तम भिक्षु द्वारा प्रकाशित, सारनाथ १९३७ ई०। भिक्षु जगदीश काश्यप ने इस ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद किया है। महाबोधि सभा, सारनाथ, द्वारा प्रकाशित, बुद्धाब्द, २४८२। श्री नालन्दा देवनागरी संस्करण में खुद्दक-निकाय पालि, जिल्द पहली, में भिक्षु जगदीश काश्यप द्वारा सम्पादित। सिंहली लिपि में, साइमन हेवावितरणे दातव्य निधि ग्रन्थमाला में उदान का सम्पादन विधुरपोल सिरि देवरक्खित नायक थेर द्वारा किया गया है।

भरा पड़ा है। भगवान् द्वारा उच्चरित वचन अधिकतर गाथाओं के रूप में हैं और वे बाद में आते हैं। जिन अवसरों पर वे उच्चरित किये गये, उनका वर्णन पहले गद्य में है। गद्य-भाग निश्चयतः संगीतकारों की रचना है, जिसे उन्होंने बुद्ध-जीवन के प्रत्यक्ष सम्पर्क से ग्रथित किया है। उसकी प्रामाणिकता के विषय में यही कहा जा सकता है कि विनयपिटक के चुल्लवग्ग और महा-वग्ग में तथा महापरिनिब्बाण-सुत्त जैसे सुत्त-पिटक के अंशों में बुद्ध-जीवन का जो चित्र उपस्थित किया गया है, उसकी वह अनुरूपता में ही है। गद्य-भाग के अन्त में आने वाले 'उदानों' में तो वास्तविक बुद्ध-वचन होने की सुगन्ध आती ही है। उनमें जैसे शास्ता ने अपने आपको अनुप्राणित कर दिया है, अपनी प्राण-ध्वनि ही फूंक दी है, ऐसा मालूम होता है। वास्तव में 'उदान' का लाक्षणिक अर्थ भी यही है। 'उदान' की सबसे बड़ी विशेषता है बौद्ध जीवन-दर्शन का उसके अन्दर स्पष्टतम प्रस्फुटित स्वरूप। बुद्ध-जीवन के अनेक प्रसंगों के अतिरिक्त चित्त की परम शान्ति, निर्वाण, पुनर्जन्म, कर्म और आचारतत्त्व सम्बन्धी गम्भीर उपदेश 'उदान' में निहित हैं।

'उदान' में ८ वर्ग (वग्ग) हैं और प्रत्येक वर्ग में प्रायः दस सुत्त हैं। केवल सातवें वर्ग में ९ सुत्त हैं। ८ वर्गों के नाम इस प्रकार हैं: (१) बोधि-वर्ग (बोधि-वग्ग), (२) मुचलिन्द-वर्ग (मुचलिन्द-वग्ग), (३) नन्द-वर्ग (नन्द-वग्ग), (४) मेघिय-वर्ग (मेघिय-वग्ग), (५) शोण-स्थविर-संबंधी वर्ग (सोणत्थेरस्स वग्ग), (६) जात्यन्ध-वर्ग (जच्चन्ध-वग्ग), (७) चूल-वर्ग (चूल-वग्ग), और (८) पाटलिग्राम-वर्ग (पाटलिगामिय-वग्ग)। प्रत्येक वर्ग के प्रत्येक सूत्र में पहले गद्य में भगवान् के जीवन की किसी विशेष परिस्थिति का वर्णन है, फिर उसके सन्दर्भ में किसी बात से प्रभावित होकर भगवान् का गाथा-बद्ध उदान है। शैली सरल है और सब जगह प्रायः एक-सी ही है। उदाहरण के लिए पाँचवें वर्ग के इस सातवें सुत्त को उद्धृत किया जाता है—ऐसा मैंने सुना—

एक समय भगवान् श्रावस्ती में अनाथपिण्डिक के जेतवन-आराम में विहार करते थे। उस समय भगवान् के पास ही आयुष्मान् कांक्षारेवत आसन लगाये, अपने शरीर को सीधा किये, कांक्षाओं से शुद्ध हो गये अपने चित्त का अनुभव करते बैठे थे। भगवान् ने पास ही में आयुष्मान् कांक्षारेवत को आसन लगाये, अपने शरीर को सीधा किये, कांक्षाओं से शुद्ध हो गये अपने चित्त का अनुभव करते देखा। इसे जान, उस समय भगवान् के मुंह से उदान के ये शब्द निकल पड़े—

"लोक में या परलोक में, अपनी या परायी,
(संसार-सम्बन्धी) जितनी कांक्षाएँ हैं,
ध्यानी उन सभी को छोड़ देते हैं,
तपस्वी ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करते हैं।"

सब सुत्तों की यही शैली है। पहले कहानी या पृष्ठभूमि गद्य में आती है, फिर बुद्ध का भावातिरेकमय वचन। कहीं-कहीं कहानी अपनी प्रभावशीलता और मौलिकता भी लिये हुए है, जैसे ३।२ में नन्द की कहानी, या २।८ में सुप्रवासा की कथा। कहीं-कहीं, जैसा विण्टरनित्ज ने दिखाया है, उदानों के लिए उपयुक्त पृष्ठभूमि तैयार करने के लिए संगीतकारों ने कथाओं को अपनी तरफ से गढ़ा भी है, जिसमें उन्हें सफलता नहीं मिली है। विण्टरनित्ज के इस कथन से सर्वांश में सहमत होना अशक्य है। उदाहरणतः ८।९ में आयुष्मान् दब्ब, जो एक महान् साधक और भगवान् बुद्ध के शिष्य थे, की निर्वाण-प्राप्ति के अवसर पर भगवान् ने यह उदान किया, "शरीर को छोड़ दिया, संज्ञा निरुद्ध हो गयी, सारी वेदनाओं को भी बिलकुल जला दिया। संस्कार शांत हो गये, विज्ञान अस्त हो गया।" विण्टरनित्ज का कहना है कि ऐसे गम्भीर प्रवचन के लिए उपर्युक्त अवसर ठीक नहीं था। कम ही लोग डॉ० विण्टर-नित्ज के इस मत से सहमत हो सकते हैं। जिन-जिन अवसरों पर या जिस-जिस पृष्ठभूमि में बुद्ध के उद्‌गारों का 'उदान' में निकलना दिखलाया गया है, उन्हें हम ऐतिहासिक रूप से अधिकतर ठीक ही मानने के पक्षपाती हैं।

कुछ विद्वानों का (जैसे कि ई० डब्ल्यू० बर्लिंगेम का)[1] अनुमान है कि पहले गद्य में कथा का वर्णन कर उसके बाद गाथा के रूप में बुद्ध-वचन को देना, यह जो 'उदान' की शैली है, उसी का अनुवर्तन बाद में 'धम्मपदट्‌ठकथा' में हुआ है। वस्तुतः 'उदान' की अनेक गाथाएँ या प्रसंग 'धम्मपदट्‌ठकथा' में ज्यों-के-त्यों लिए भी गये हैं और उसकी गद्यात्मक वर्णन के बाद गाथाओं को रखने की शैली पर 'उदान' का स्पष्ट प्रभाव उपलक्षित होता है। अब हम प्रत्येक वर्ग की विषयवस्तु का संक्षिप्त निर्देश करेंगे।

"बोधि-वर्ग" (वर्ग १) में भगवान् बुद्ध की सम्बोधि-प्राप्ति के बाद के कुछ सप्ताहों के जीवन का वर्णन है। उस समय भगवान् विमुक्ति-सुख का अनुभव करते हुए विहर रहे थे। इसी समम उन्होंने अनुलोम और प्रतिलोम प्रतीत्य-

---

१. देखिए उनकी 'बुद्धिस्ट लीजेण्ड्स' (धम्मपदट्‌ठकथा का अंग्रेजी अनुवाद), प्रथम भाग, पृष्ठ २८ (हरवर्ड ओरियण्टल सीरीज, संख्या २८)।

समुत्पाद का चिन्तन किया था। कुछ ब्राह्मणों को देखकर उन्होंने वास्तविक ब्राह्मण पर उद्गार किये। स्नान और होम में रत कुछ व्यक्तियों को देखकर भगवान् ने यह उद्गार भी किया, "स्नान तो सभी लोग करते हैं, किन्तु पानी से कोई शुद्ध नहीं होता। जिसमें सत्य है और धर्म है, वही शुद्ध है, वही ब्राह्मण है।" "मुचलिन्द वर्ग" (वर्ग २) में भी भगवान् की सम्बोधि-प्राप्ति के कुछ सप्ताहों बाद तक की जीवनी का वर्णन है, किन्तु यहाँ कुछ अलौकिकता से अधिक काम लिया गया है। मुचलिन्द नामक सर्पराज समाधिस्थ भगवान् बुद्ध के शरीर की वर्षा से रक्षा करने के लिए जो उस समय होने लगी थी, उनके शरीर को सात बार लपेट कर उनके ऊपर अपना फन फैलाकर खड़ा हो गया, ताकि भगवान् को वर्षा का कष्ट न होने पावे। जिन घटनाओं का प्रथम और इस दूसरे वर्ग में वर्णन है, उनमें काल-क्रम का कोई तारतम्य नहीं है, क्योंकि प्रथम वर्ग के कुछ सूत्र भगवान् की सम्बोधि-प्राप्ति के बाद की अवस्था का वर्णन करते हैं और उसके बाद ही कुछ सूत्र सूचना देते हैं, "एक समय भगवान् श्रावस्ती में अनाथपिण्डिक के जेतवन-आराम में विहार करते थे।" (१।५; १।८; १।१०;)। इसी प्रकार दूसरे वर्ग में भी प्रथम सूत्र में तो भगवान् उरुवेला में नेरंजरा (नैरजना) नदी के तीर पर ही विहार करते हैं, किन्तु दूसरे सूत्र में वे श्रावस्ती में अनाथपिण्डिक के जेतवन-आराम में विहार कर रहे हैं। बुद्धत्व के तीसरे वर्ष जेतवन-आराम का दान किया गया था। अतः ये घटनाएँ काफी बाद की हैं। इसी प्रकार भगवान् अन्य स्थानों में भी विहार करते दिखाये गये हैं, जैसे मृगारमाता के पूर्वाराम प्रासाद में (२।९) या कुण्डिया नगर के कुण्डधान वन में (२।८)। दूसरे वर्ग में हम भिक्षुओं को इस निरर्थक बात पर विवाद करते हुए पाते हैं कि "मगधराज बिम्बिसार और कोसलराज प्रसेनजित् में कौन अधिक धनी, सम्पत्तिशाली या अधिक सेनाओं वाला है।" भगवान् इसे सुनकर उन्हें कहते हैं, "भिक्षुओ! तुम श्रद्धापूर्वक घर से बेघर होकर प्रव्रजित हुए हो। तुम कुल-पुत्रों के लिए यह अनुचित है कि तुम ऐसी चर्चा में पड़ो। भिक्षुओ! इकट्ठे होकर तुम्हें दो ही काम करने चाहिए, या तो धार्मिक कथा या उत्तम मौन भाव।" इसी वर्ग में सुप्रवासा की कथा है। यह स्त्री गर्भ की असह्य पीड़ा में पड़ी थी। प्रसव न होता था। उसने सुन रखा था कि भगवान् दुःखों के प्रहाण के लिए धर्मोपदेश करते हैं। पति से कहा—भगवान् के चरणों में मेरा सिर से प्रणाम कहना, उनका कुशल-मंगल पूछना और मेरी दशा से अवगत कराना। उसके पति ने ऐसा ही किया। भगवान् ने अनुकम्पापूर्वक आशीर्वाद देते हुए कहा, "कोलिय पुत्री सुप्रवासा सुखी हो जाय, चंगी हो जाय, बिना किसी

कष्ट के पुत्र प्रसव करे।" पति घर लौटा तो सुप्रवासा को सुखी और चंगी पाया, जिसने बिना किसी कष्ट के पुत्र प्रसव कर दिया था। सारा घर सन्तोष और प्रमोद से भर गया। कृतज्ञता से भर कर सुप्रवासा ने एक सप्ताह भर तक बुद्ध-प्रमुख भिक्षु-संघ को भोजन के लिए आमन्त्रित किया। भगवान् शिष्यों सहित उपस्थित हुए। सात दिन बीत जाने पर भगवान् ने सुप्रवासा से कहा, "सुप्रवासे ! ऐसा ही एक और भी पुत्र लेना चाहती है ?" सुप्रवासा ने प्रमोद में भर कर कहा, "भगवन् ! मैं ऐसे सात पुत्रों को लेना चाहूँगी।" भगवान् के मुँह से उस समय उदान के ये शब्द निकल पड़े, "बुरे को अच्छे के रूप में, अप्रिय को प्रिय के रूप में, दु:ख को सुख के रूप में, प्रमत्त लोग समझा करते हैं।" बुद्ध के जीवन-दर्शन को समझने के लिए यह कहानी एक अच्छा उदाहरण है। विण्टर-नित्ज ने कहा कि यह कहानी यह भी दिखाती है कि बुद्ध-काल में ही बुद्ध-भक्ति के द्वारा लोग अपने कल्याण की कामना करने लगे थे। महात्माओं के वचनों और आशीर्वादों में मंगल-प्रसविनी शक्ति होती है, ऐसा विश्वास भारतीय जनता में प्रायः सदा से ही रहा है। अतः इसमें कोई विशेषता दिखाई नहीं पड़ती। विशेषता उस बात में है जो भगवान् ने बाद में सुप्रवासा की सात पुत्रों वाली कामना को सुनकर कही। यह बात बुद्ध के मुख से ही निकल सकती थी। बुद्ध, जिसने अपने एकमात्र पुत्र का जन्म होते समय उसे अपने उदीयमान विचारचन्द्र को ग्रसने के लिए राहु समझ कर 'राहुल' नाम दिया, "राहु पैदा हुआ, बन्धन पैदा हुआ।" या तो "प्रजया कि करिष्यामः" (हम सन्तान से क्या करेंगे) कहने वाले उपनिषदों के ऋषि या सम्यक् सम्बुद्ध ही इतना ऊँचा और निवृत्तिपरायण दृष्टिकोण ले सकते थे। १।८ में वर्णित आर्य संगाम जी की कथा को और २।७ में प्रेम को छोड़ देने का उपदेश, ऐसे ही निवृत्तिपरायण उपदेश हैं। नन्दवर्ग (वर्ग ३) में विशेषतः भगवान् बुद्ध के मौसेरे भाई नन्द की कथा है। किस प्रकार यह विलासी युवक भगवान् के उपदेश से विरक्त बन गया, यही इसमें वर्णन किया गया है। यहाँ भी निवृत्ति का आदर्श ही सामने रखा गया है। नन्द पहले भगवन् की जमानत पर अप्सराओं के लिए ब्रह्मचर्य का पालन करता है। किन्तु ब्रह्मचर्य का पालन करते-करते उसकी अप्सराओं सम्बन्धी इच्छा प्रहीण हो जाती है। भगवान् कहते हैं, नन्द ! जिस समय तुम्हारी सांसारिक आसक्ति से मुक्ति हो गयी, उसी समय मैं जमानत से छूट गया।" कुछ अन्य कथाएँ और उद्गार भी इस वर्ग में सम्मिलित हैं। ३।५ में महामौदगल्यायन की कायगतासति-भावना का वर्णन है। ३।१० में भगवान् ने कहा है कि अनासक्ति ही मुक्ति-मार्ग है। मेघिय-वर्ग (वर्ग ४) में मेघिय नामक भिक्षु की कथा है। यह भिक्षु भगवान्

की सेवा में नियत था। एक दिन एक रमणीय आम्र-वन देखकर इसने वहाँ जाकर योग-साधन करने की भगवान् से अनुमति माँगी। भगवान् ने कहा, "मेघिय! ठहरो, अभी मैं अकेला हूँ, किसी दूसरे भिक्षु को आ जाने दो।" मेघिय ने भगवान् के आदेश को न माना और ध्यान करने चला गया। किन्तु वहाँ जाकर जैसे ही ध्यान के लिए बैठा, उसके मन में पाप-वितर्क उठने लगे। शाम को फिर भगवान् के पास लौटकर आया। भगवान् ने उसे ध्यान-सम्बन्धी उपदेश दिया। इसी वर्ग में भिक्षुओं पर व्यभिचार के मिथ्यारोप का वर्णन है (४।८)। इस अवस्था में भी वे शान्त रहते हैं और बाद में उनकी निष्पापता सिद्ध हो जाती है। भगवान् का एक ग्वाले ने मक्खन और खीर से आतिथ्य किया, इसका भी वर्णन इस वर्ग में आता है (४।३)। आदमियों की भीड़ से तंग आकर भगवान् को परिलेय्यक (पालिलेय्यक) के रक्षितवन में एकान्त-वास करते भी इस वर्ग में हम देखते हैं (४।५)। भव-तृष्णा मिट जाने से ही मुक्ति होती है, इस अर्थ का एक उदान भी भगवान् ने यहीं किया है (४।१०)। पाँचवें वर्ग (शोण स्थविर-सम्बधी वर्ग) में शोण नामक भिक्षु के संघ-प्रवेश, अर्हत्व-प्राप्ति आदि का वर्णन है। इसी वर्ग में कोसलराज प्रसेनजित् का बुद्ध के दर्शनार्थ जेतवन-आराम में आना (५।२) तथा सुप्रबुद्ध नामक कोढ़ी की उपासक (गृहस्थ-शिष्य) के रूप में दीक्षा (५।३) का भी वर्णन है। छठे वर्ग (जात्यन्ध-वर्ग) में जात्यन्ध पुरुषों को हाथी दिखाये जाने की कथा है। इस कथा का प्रवचन भगवान् ने श्रावस्ती के जेतवन-आराम में दिया। अनेक अन्धे हाथी को देखते हैं, किन्तु उसके पूरे स्वरूप को कोई नहीं देख पाता। जो जिस अंग को देखता है, वह उसका वैसा ही स्वरूप बताता है। "भिक्षुओ! जिन जात्यन्धों ने हाथी के सिर को पकड़ा था, उन्होंने कहा, 'हाथी ऐसा है जैसा कोई बड़ा घड़ा।' जिन्होंने उसके कान को पकड़ा था, उन्होंने कहा 'हाथी ऐसा है जैसे कोई सूप।' जिन्होंने उसके दाँत को पकड़ा था, उन्होंने कहा, 'हाथी ऐसा है जैसे कोई खूँटा।' जिन्होंने उसके शरीर को पकड़ा था, उन्होंने कहा, 'हाथी ऐसा है जैसे कोई कोठी' आदि। इस प्रकार अन्धे आपस में लड़ने-भिड़ने लगे और कहने लगे हाथी ऐसा है, वैसा है, वैसा नहीं, ऐसा नहीं। यही हालत मिथ्यावादों में फँसे हुए लोगों की है। कोई कहते हैं 'लोक शाश्वत है, यही सत्य है, दूसरा बिल्कुल झूठ।' कोई कहते हैं 'लोक अशाश्वत है, यही सत्य है, दूसरा विलकुल झूठ', आदि। कितने श्रमण और ब्राह्मण इसी में जूझे रहते हैं। (धर्म के केवल) एक अंग को देखकर वे आपस में विवाद करते हैं।" उपर्युक्त दृष्टांत बौद्ध साहित्य में बहुत प्रसिद्ध है। चीनी भाषा में अनुवाद के रूप में प्राप्त और अपने मौलिक संस्कृत रूप में विनष्ट

महायानिक 'महापरिनिर्वाण-सूत्र' में (जो पालि 'महापरिनिब्बाण-सुत्त' से भिन्न है) अन्धे आदमियों के द्वारा एक हाथी के देखे जाने और अनेक प्रकार से उसके वर्णन किये जाने की कथा है। यहाँ एक राजकुमार अपने मंत्री को बुलवाकर उससे एक हाथी को लाने और उसे अन्धे को दिखाने को कहता है। उसके बाद फिर पालि के समान ही वर्णन है। यहाँ इस मनोज्ञ कथा में एक विशेष अभि-प्राय भी प्रकट किया गया है। वह यह कि राजकुमार को तथागत बताया गया है; मंत्री यहाँ बुद्धोपदेश है, हाथी बुद्ध-स्वभाव (तता; धर्मता) है और अन्धे मोहान्ध व्यक्ति हैं। संस्कृत में भी 'अन्धगज-न्याय' प्रसिद्ध है। जैन साहित्य में भी यह सिद्धांत विदित है। मानवीय बुद्धि की अल्पता और सर्व-धर्म-समन्वय की दृष्टि से यह दृष्टांत इतना महत्त्वपूर्ण है कि प्रसिद्ध सूफी कवि मलिक मुहम्मद जायसी ने भी इसका उद्धरण अपने 'अखरावट' में दिया है—"सुनि हाथी कर नाँव अंधन ठोआ धायकै। जो देखा जेहि ठाँव मुहमद सो तैसेहि कहा।" विश्व का धार्मिक साहित्य इस बहुमूल्य दृष्टांत के लिए अपने मूल रूप में बौद्ध साहित्य का ही ऋणी है और उसी ने इसे सर्वप्रथम दिया, इसमें बिलकुल ही सन्देह नहीं। सातवें वर्ग (चूलवर्ग) में अनेक स्फुट बातों का वर्णन है, यथा लकुंटक भद्दिय नामक भिक्षु (लकुंटक-बौना) को सारिपुत्र का उपदेश (७।२) और उसकी समाधि प्राप्ति (७।५), महाकात्यायन की कायगता-सति की भावना (७।७) तथा कौशाम्बी के राजा उदयन के अन्तःपुर में अग्निकांड की सूचना जिसमें रानी श्यामावती (सामावती) के साथ ५०० स्त्रियाँ जल मरीं (७।१०)। आठवें वर्ग (पाटलि-ग्राम-वर्ग) में निर्वाण-सम्बन्धी गम्भीर प्रवचन है। केवल एक को यहाँ उद्धृत किया जाता है, "भिक्षुओ! वह एक आयतन है, जहाँ न पृथ्वी है, न जल है, न तेज है, न वायु है, न आकाशानन्त्यायतन, न विज्ञानन्त्यायतन; न आकिञ्चन्यायतन, न नैवसंज्ञानासंज्ञायतन है। वहाँ न तो यह लोक है, न परलोक है, न चन्द्रमा है, न सूर्य है। न तो मैं उसे 'अगति' कहता हूँ और न 'गति'। न मैं उसे स्थिति और न च्युति कहता हूँ। मैं उसे उत्पत्ति भी नहीं मानता। वह न तो कहीं ठहरा है; न प्रवर्तित होता है और न उसका कोई आधार है। यही दुःखों का अन्त है।" (८।१)। आयुष्मान् दब्ब के निर्वाण पर भगवान् ने जो उद्गार किया, उसे हम पहले उद्धृत कर ही चुके हैं। बौद्ध निर्वाण के स्वरूप को समझने के लिए 'उदान' का आठवाँ वर्ग भूरि-भूरि पढ़ने और मनन करने योग्य है। भगवान् के चुन्द सोनार के यहाँ अन्तिम भोजन करने का भी इस वर्ग में वर्णन है जो महापरि-निब्बाण-सुत्त (दीघ० २।३) के समान ही है।

इतिवुत्तक[1]

'इतिवुत्तक' खुद्दक-निकाय का चौथा ग्रन्थ है। इसके प्रत्येक सूत्र का आरम्भ "वुत्तं हेतं भगवता" से होता है। इसलिए पूरे ग्रन्थ का नाम ही "इतिवुत्तक" है। परम्परागत रूप से इसमें ११० सुत्त माने गये हैं। जैसा आचार्य बुद्धघोष ने 'अट्ठसालिनी' की किदम्भ कथा, 'सुमङ्गल विलासिनी' की निदान कथा तथा 'समन्तपासादिका' की बाहिरनिदान कथा में भी कहा है, "वुत्तं हेतं भगवता'ति आदिनयप्पवत्ता दसुत्तर सतं सुत्तन्ता इति वुत्तकं' ति वेदितब्बं।" परन्तु आज जिस रूप में 'इतिवुत्तक' हमें प्राप्त है, उसमें ११२ सुत्त हैं। यह ग्रन्थ गद्य और पद्य दोनों में है। 'इतिवुत्तक' (संस्कृत इत्युक्तक) या अधिकतर 'इति-वृत्तक'[2] का अर्थ है 'ऐसा कहा गया या 'ऐसा तथागत ने कहा।' प्राप्त 'इतिवुत्तक' में, जैसा हम अभी कह चुके हैं, भगवान् बुद्ध के ११२ प्रवचनों का संग्रह है। ये सभी प्रवचन अत्यन्त लघु आकार के और नैतिक विषयों पर हैं। 'इतिवुत्तक' का प्रायः प्रत्येक सूत्र इन शब्दों के साथ आरम्भ होता है—"भगवान् (बुद्ध) ने यह कहा, पूर्ण विमुक्त पुरुष (अर्हत्) ने यह कहा, ऐसा मैंने सुना।" केवल ८१-८८, ९१-९८ और १००-१०१ संख्याओं के सूत्र इसके अपवाद हैं। बुद्ध-वचनों के उद्धरण की यह विशिष्ट शैली ही इस संग्रह के "इतिवुत्तक" (ऐसा बुद्ध ने कहा) नामकरण का आधार है।

'इतिवुत्तक' के विषय-संकलन और शैली की अपनी विशेषताएँ हैं। 'इति-वुत्तक' के ११२ सुत्त चार बड़े-बड़े वर्गों या निपातों में विभक्त हैं। पहले निपात में उन उपदेशों का संकलन है, जिनका सम्बन्ध संख्या एक से है। इसी प्रकार दूसरे, तीसरे और चौथे निपातों में उन उपदेशों का संकलन है, जिनका सम्बन्ध क्रमशः दो, तीन और चार संख्याओं से है। इसीलिए इनके नाम भी क्रमशः एकक-निपात, दुक-निपात, तिक-निपात और चतुक्क-निपात हैं। पहले निपात में २७ सूत्र हैं, दूसरे में २२, तीसरे में ५० और चौथे में १३। इस प्रकार सूत्रों

---

१. महापंडित राहुल सांकृत्यायन, भदन्त आनन्द कौसल्यायन तथा भिक्षु जगदीश काश्यप द्वारा देवनागरी लिपि में सम्पादित। उत्तम भिक्षु द्वारा प्रकाशित, १९३७ ई०। इस ग्रन्थ का अनुवाद भिक्षु धर्मरक्षित त्रिपिटकाचार्य ने किया है। महाबोधि सभा, सारनाथ, १९५६ ई०। श्री नालन्दा देवनागरी संस्करण में खुद्दक-निकाय-पालि की प्रथमजिल्द में खुद्दक-पाठ आदि ग्रन्थों के साथ सम्पादित।

२. 'सद्धर्मपुण्डरीक-सूत्र' में 'इतिवृत्तक' है, परन्तु अन्य बौद्ध संस्कृत ग्रन्थों में 'इत्युक्तक' भी है। यूआन् चुआङ ने 'इत्युक्त' शीर्षक से इसका चीनी भाषा अनुवाद किया।

की कुल संख्या मिलाकर ११२ है।[1] विषय-संकलन की यह शैली आज कृत्रिम जान पड़ती है, किन्तु अध्ययन-अध्यापन के उस युग में जब सारा काम मौखिक रूप से (मुखपाठेन) ही चलता था, गणनात्मक संकलन और वर्गीकरण की यह पद्धति स्मृति के लिए बड़ी सहायक सिद्ध होती थी। फलतः बौद्धों और जैनों का अधिकांश प्राचीन साहित्य इसी शैली में लिखा गया है। संस्कृत के सूत्र-साहित्य का भी उद्भावन इसी आवश्यकता के कारण हुआ। 'इतिवुत्तक' की संख्याबद्ध शैली का ही विकसित रूप हमें अंगुत्तर-निकाय और बाद में अभिधम्म-पिटक में मिलता है। 'इतिवुत्तक' के विषय में यह अवश्य कहा जा सकता है कि इस गणनात्मक विधान ने उसके विषय-स्वरूप की स्वाभाविकता में कोई बाधा नहीं पहुँचायी है। उसका अलंकार-विहीन सौन्दर्य हमें बुद्ध-वचनों को उनके उस नैसर्गिक रूप में, जिसमें वे उच्चरित किये गये थे, ठीक प्रकार देखने में सहायता देता है।

'इतिवुत्तक' की एक बड़ी विशेषता उसके अन्दर गद्य और पद्य दोनों का होना है। प्रत्येक सूत्र के आदि में पहले "ऐसा भगवान् ने कहा, ऐसा पूर्ण पुरुष (अर्हत्) ने कहा, ऐसा मैंने सुना" आता है। फिर गद्य में बुद्ध-वचन का उद्धरण होता है। फिर उसके बाद "भगवान् ने यह कहा। इसी सम्बन्ध में यह कहा जाता है" इस प्रस्तावना के साथ कोई गाथा या गाथाएँ होती हैं। जिनका या तो बिलकुल वही अभिप्राय होता है जो गद्य-भाग का अथवा जो उसकी पूरक-स्वरूप होती हैं। शब्दों में भी बहुत थोड़ा ही हेर-फेर होता है, अक्सर गद्य-भाग को गाथाबद्ध करके रख दिया जाता है। इस गाथा-भाग को भी बुद्ध-वचन की-सी प्रामाणिकता देने के लिए उसका उपसंहार करते हुए अन्त में लिख दिया जाता है, "यह अर्थ भी भगवान् ने कहा, ऐसा मैंने सुना।" इस प्रकार गद्य-भाग और गाथा-भाग दोनों एक-दूसरे के साथ जुड़े हुए हैं। 'इति-वुत्तक' के प्रत्येक सूत्र की यही शैली है। इसका दिग्दर्शन कराने के लिए एक पूरे सूत्र को उद्धृत कर देना आवश्यक होगा। एकक-निपात के इस तीसरे सूत्र को लीजिए--ऐसा मैंने सुना--

---

१. परन्तु बुद्ध-वचनों के नौ अङ्गों में से एक अङ्ग के रूप में जिस 'इति-वुत्तक' का उल्लेख है उसके बारे में सुमङ्गलविलासिनी की निदानकथा, अट्ठ-सालिनी' की निदान-कथा में भी समान रूप से 'इतिवुत्तक' प्रकार के सुत्तों की संख्या ११० मानते हुए कहा गया है "वुत्तं हेतं भगवता ति, आदिनयप्पवत्ता दसुत्तर सतसुत्तन्ता इति वुत्तकं'ति वेदितब्बं'ति।

भगवान् ने यह कहा, पूर्ण पुरुष (अर्हत्) ने यह कहा, "भिक्षुओ ! एक वस्तु को छोड़ो। मैं तुम्हारा जामिन होता हूँ, तुम्हें फिर आवागमन में पड़ना नहीं होगा। किस एक वस्तु को ? भिक्षुओ ! मोह ही एक वस्तु को छोड़ो। मैं तुम्हारा जामिन होता हूँ, तुम्हें फिर आवागमन में पड़ना नहीं होगा।"

भगवान् ने यह कहा। इसी सम्बन्ध में यह कहा जाता है—

जिस मोह के कारण मूढ़ बनकर प्राणी बुरी गतियों में पड़ते हैं, उसी मोह को विपश्यना-ज्ञान (अन्तर्ज्ञान) सम्पन्न मनुष्य सम्यक् रूप से जानकर छोड़ देते हैं; छोड़कर वे इस लोक में फिर नहीं आते।

यह अर्थ भी भगवान् ने कहा, ऐसा मैंने सुना।

विद्वानों में इस बारे में कुछ मतभेद है कि 'इतिवुत्तक' के गद्य और पद्य भाग में कौन अधिक प्राचीन या प्रामाणिक है। परम्परागत मान्यता तो यही है कि गाथाएँ बुद्ध-भाषित हैं और गद्य-भाग को संगीतकार भिक्षुओं ने भूमिका-स्वरूप जोड़ दिया है। 'इतिवुत्तक' की गाथाओं में 'दुट्ठासे' जैसे कर्म प्रयोग उनकी प्राचीनता के द्योतक हैं ही। किन्तु उपर्युक्त सुत्त के उद्धरण से स्पष्ट है कि संकलनकर्ता ने भी आदि में ही "वुत्तं हेतं भगवता, वुत्तमरहता 'ति मे सुत्तं" कहते हुए गद्य भाग में रखे हुए अंश को ही बुद्ध-वचन के रूप में उद्धृत किया है और फिर उसकी व्याख्यास्वरूप गाथा-भाग को जोड़ दिया है, जिसकी प्रशंसा मात्र करने के लिए ही उसके अन्त में "यह अर्थ भी भगवान् ने कहा, ऐसा मैंने सुना", जोड़ दिया है। वास्तव में, जैसा संकलनकर्त्ता ने स्वयं कहा है, गाथा-भाग वास्तविक बुद्ध-वचन का, जो गद्य में है, अर्थ (अत्थो) ही है। मूल बुद्ध-वचन के साथ इस प्रकार उसकी अर्थ-कथा देने की प्रवृत्ति तिपिटक के कुछ अन्य अंशों में भी देखी जाती है। 'इतिवुत्तक' में इसी प्रवृत्ति का अनुसरण किया गया जान पड़ता है। अतः 'इतिवुत्तक' के गाथा-भाग का उसके गद्य-भाग से उसी प्रकार का सम्बन्ध है, जैसा 'उदान' के गद्य-भाग का उसके गाथा-भाग के साथ। 'उदान' में गाथा-भाग मुख्य प्रामाणिक बुद्ध-वचन है। उसकी पृष्ठभूमि के रूप में ही वहाँ के गद्य-भाग का उपयोग है। कुछ-कुछ इसी प्रकार 'इतिवुत्तक' में गद्य-भाग मुख्य प्रामाणिक बुद्ध-वचन है, जिसकी व्याख्या-स्वरूप ही गाथा-भाग की अवतारणा की गयी है। अतः 'इतिवुत्तक' के पद्य-भाग की अपेक्षा उसके गद्य-भाग की ही प्रमाणवत्ता और प्राचीनता हमें अधिक मान्य होगी। शैली की दृष्टि से भी यही निष्कर्ष ठीक जान पड़ता है। 'इतिवुत्तक' का गद्य सरल, स्वाभाविक और आलंकारिक कृत्रिमताओं से रहित है। अतः उसको मूल बुद्ध-वचन मानना अधिक युक्ति-युक्त जान पड़ता है। निःसन्देह

यह भाग शास्ता के मुख से ही निकला हुआ है। एक-एक शब्द यहाँ 'धम्म-मेघ' (धर्म रूपी मेघ-बुद्ध) की वर्षा से अभी तक आर्द्र है। ए० जे० एडमण्ड्स के इस कथन से हम अक्षरशः सहमत हैं कि "यदि 'इतिवुत्तक' बुद्ध-वचन न हो तो और कुछ भी बुद्ध-वचन नहीं है।" हमें 'इतिवुत्तक' को इसी गौरव-दृष्टि से देखना है। परम्परागत मान्यता है कि इसमें उन सुत्तों का संकलन है जिन्हें खुज्जुत्तरा ने बुद्ध-मुख से कौशाम्बी में सुना था[1]।

'इतिवुत्तक' के पहले निपात में, जैसा पहले कहा जा चुका है, उन सुत्तों का संग्रह है जिनका सम्बन्ध एक संख्या वाली वस्तुओं से है। इसी निपात में से एक पूरे सुत्त का उद्धरण पहले दिया भी जा चुका है। इसी प्रकार राग, द्वेष, क्रोध, ईर्ष्या आदि पर भी सूत्र हैं। यह निपात तीन वर्गों में विभक्त है, जिनमें से प्रत्येक में क्रमशः १०, १० और ७ सूत्र हैं। इस निपात का मेत्तभाव-सुत्त तो भाषा और भाव की दृष्टि से बड़ा ही सुन्दर है। भगवान् कहते हैं, "भिक्षुओ! पुनर्जन्म के आधारभूत सब पुण्य कर्म मिलकर भी उस मैत्री भावना के जो चित्त की विमुक्ति है, सोलहवें अंश के भी बराबर नहीं होते। भिक्षुओं! मैत्री भावना ही सब पुण्यकारी कर्मों से अधिक चमकती है, प्रभासित होती है, क्योंकि वह चित्त की विमुक्ति ही है। भिक्षुओ! जैसे तारागणों का सारा प्रकाश मिलकर भी एक चन्द्रमा के प्रकाश के सोलहवें अंश के भी बराबर नहीं होता.....जैसे वर्षा के अन्त में शरद ऋतु में जब आकाश साफ और मेघों से रहित होता है तो सूर्य वहाँ आरोहण कर अन्धकार-समूह को विच्छिन्न कर चमकता है.....जैसे भिक्षुओ! रात के पिछले पहर में, प्रत्यूष काल के समय, शुक्रतारा चमकता है.....भिक्षुओ! मैत्री भावना भी सब पुण्यकारी कर्मों के ऊपर चमकती है, प्रभासित होती है, क्योंकि वह चित्त की विमुक्ति ही है।"

सुत्त-निपात[2]

सुत्त-निपात भी खुद्दक-निकाय का धम्मपद के समान ही अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, यद्यपि हिन्दी में वह अभी इतना लोकप्रिय नहीं हुआ जितना धम्मपद।

---

१. देखिये आगे सातवें परिच्छेद में 'परमत्थदीपनी' (उदानट्ठकथा) में प्राप्त इस तथ्य का कुछ संक्षिप्त निर्देश भी।

२. नागरी लिपि में डॉ० पी० वी० (पु० वि०) बापट द्वारा सम्पादित, पूना १९२४। बाद में यही संस्करण धर्मानन्द कोसम्बी के मराठी भाषान्तर

फिर भी मौलिक बौद्ध धर्म और बौद्ध साहित्य की दृष्टि से इस ग्रन्थ-रत्न का अत्यन्त ऊँचा स्थान है। अशोक ने भाब्रू-शिलालेख में जिन सात बुद्धोपदेशों के नाम दिये हैं, उनमें से तीन, कुछ विद्वानों के अनुसार, अकेले सुत्त-निपात में हैं, यथा मौनेय्यसूते नालक-सुत्त; मुनि-गाथा मुनि-सुत्त, एवं उपतिसपसने/सारिपुत्त-सुत्त। सुत्त-निपात की भाषा वैदिक भाषा के बहुत अधिक समीप है। वैदिक भाषा की विविधरूपता और उनके अनेक प्रकार के व्यत्ययों का विवरण हम पहले दे चुके हैं।[1] जिन अनेक प्रयोगों को बाद में चलकर संस्कृत ने छोड़ दिया, सुत्त-निपात में हमें ज्यों-के-त्यों मिलते हैं। संस्कृत और पालि का विकास समकालिक है, पर चूंकि पालि विशेषतः जन-भाषा थी, अतः उसने ऋग्वेद की भाषा के उन अनेक प्रादेशिक प्रयोगों को ले लिया है जो वहाँ विद्यमान हैं। अतः उसकी भाषा में पर्याप्त प्राचीनता है। अनेक गाथाओं में हमें इस प्रकार नामों और क्रियापदों के वैदिक बहुवचन के रूप में वैदिक कृदन्त रूपों में यहाँ तक कि छन्दों के विधान में भी वैदिक भाषा के प्रभाव के लक्षण मिलते हैं। उदाहरणतः समूहता से (गाथा १४), पच्चयासे (१५), चरामसे, भवामसे (३२), आतुमान, सुवानि, सुवाना, (२०१), अवीवदाता (७८४), उपासकासे (३७६), पण्डितासे (८७५), धम्मासे (१०३८), ब्राह्मणा से (१०७९) जैसे प्राचीन वैदिक प्रयोग हमें सुत्त-निपात की भाषा में, विशेषतः उसकी गाथाओं की भाषा में मिलते हैं। वैदिक निमित्तार्थक 'तवै-त्वे' प्रत्यय

के सहित धर्मानन्द स्मारक ट्रस्ट द्वारा बम्बई से सन् १९५५ ई० में प्रकाशित हुआ। आजकल अप्राप्य है। सन् १९३७ (बुद्धाब्द २४८१) में खुद्दक-निकाय के अन्य दस ग्रन्थों के साथ-साथ सुत्त-निपात का भी नागरी लिपि में सम्पादन महापंडित राहुल सांकृत्यायन, भदन्त आनन्द कौसल्यायन और भिक्षु जगदीश काश्यप ने किया है। बर्मी विहार, सारनाथ (बनारस) द्वारा प्रकाशित। पर यह संस्करण भी अब नहीं मिलता। भिक्षु धर्मरत्न ने पूरे सुत्त-निपात का हिन्दी अनुवाद किया है। मूल-सहित प्रकाशित, महाबोधि सभा, सारनाथ, १९५१ ई० सुत्त-निपात का भिक्षु जगदीश काश्यप के प्रधान सम्पादकत्व में प्रकाशित देवनागरी संस्करण श्री नालन्दा से सन् १९५९ में खुद्दक-निकाय पालि की प्रथम जिल्द के रूप में निकला है। बंगला में पूरे सुत्त-निपात का अनुवाद भिक्षु शीलभद्र ने किया है जो कलकत्ता से सन् १९४१ में प्रकाशित हुआ था।

१. देखिये, प्रथम परिच्छेद में पालि और वैदिक भाषा की तुलना।

के उदाहरण सुत्त-निपात में 'उण्णमेतवे' (गाथा २०६) जैसे प्रयोगों में मिलते हैं। इसी प्रकार 'जनेत्वा' के स्थान पर 'जनेत्व' (६९५) और कुप्पटिच्चसन्ति (७८४) जैसे प्रयोग भी बिलकुल ऋग्वेद की भाषा के प्रयोग हैं। सुत्त-निपात की गाथाओं के छन्द भी प्रायः वैदिक हैं। अनुष्टुप्, त्रिष्टुप् और जगती छन्दों की वहाँ अधिकता है और वैदिक छन्दों के समान गण का बन्धन भी नहीं है।[1] भाषा के समान विचार के साक्ष्य से भी सुत-निपात की प्राचीनता सिद्ध है। वैदिक युग के देव-यजनवाद का पूरा चित्र हमें यहाँ मिलता है। उसका वर्णन इतना सजीव है कि वह प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर ही लिखा हुआ हो सकता है। भाषा और विचारों में सभी जगह एक निसर्गगत स्वाभाविकता और सरलता मिलती है जो बौद्ध-धर्म के विकास के प्रथम स्तर का पर्याप्त रूप से परिचय देती है। प्रभावशीलता भी इसीलिए अत्यन्त उच्चकोटि की है। बुद्ध-धर्म के नैतिक रूप का सुन्दर चित्र हमें सुत्त-निपात में मिलता है। उरग-सुत्त में निर्वाण-प्राप्ति के मार्ग को बताते हुए कहा गया है :

> यो उप्पतितं विनेति कोधं, विसतं सप्पविसं व ओसधेहि।
> सो भिक्खु जहाति ओरपारं, उरगो जिण्णमिव तचं पुराणं॥

जो भिक्षु चढ़े क्रोध को, सर्प-विष को औषध की तरह शान्त कर देता है, वह इस पार (इस जन्म की आसक्ति) और उस पार (परलोक की आसक्ति) को छोड़ता है, साँप जैसे अपनी पुरानी केंचुली को। 'साँप जैसे अपनी पुरानी केंचुली को'—यह सुन्दर उपमा तो है ही, परन्तु विष रूपी क्रोध को शान्त करने में जो पुरुषार्थ अपेक्षित है और उसका जो सुपरिणाम होता है वही वहाँ समुत्कर्षित है और उसी की ओर हमारी दृष्टि जमनी चाहिए, इसकी अभिव्यक्ति में जो सौन्दर्य है, उसकी ओर नहीं।

धनिय-सुत्त में गृहस्थ-सुख और ध्यान-सुख की तुलना की गयी है, जिसके उद्धरण का मोह संवरण नहीं किया जा सकता। धनिय गोप पुत्र, स्त्री, धन, धान्यादि से समृद्ध है। वह एक सुखी गृहस्थ किसान है। वर्षा-काल में वह उद्गार कर रहा है—

भात मेरा पक चुका है। दूध दुह लिया गया है। मही (गंडक) नदी के तीर पर स्वजनों के साथ वास करता हूँ। कुटी छा ली है। आग सुलगा ली है। अब हे देव! चाहो तो खूब बरसो!

---

१. देखिये सुत्त-निपात (मूल पालि सहित मराठी भाषान्तर) की डॉ॰ बापट द्वारा 'ग्रन्थ-परिचय' शीर्षक से लिखित भूमिका, पृष्ठ ३६-३७।

मक्खी और मच्छर यहाँ पर नहीं हैं। कछार में उगी घास को गौवें चरती हैं। पानी भी पड़े तो वे उसे सह लेंगी। अब हे देव! चाहो तो खूब बरसो!

मेरी ग्वालिन (गोपी) मेरे वश में रहने वाली (वफादार) और अचंचला है। वह चिरकाल की प्रिय संगिनी है। उसके विषय में कोई पाप भी नहीं सुनता। अब हे देव! चाहो तो खूब बरसो।

....

मैं आप ही अपनी मजदूरी करता हूँ। मेरी सन्तान अनुकूल और नीरोग है। उनके विषय में कोई पाप भी नहीं सुनता। अब हे देव! चाहो तो खूब बरसो! ....

....

मेरे तरुण बैल और बछड़े हैं। गाभिन गायें हैं और तरुण गायें भी, और गायों के स्वामी वृषभ भी। अब हे देव! चाहो तो खूब बरसो!

....

खूँटे मजबूत गड़े हैं, मूँज के पगहे नये और अच्छी तरह बटे हैं, बैल भी उन्हें नहीं तोड़ सकते। अब हे देव! चाहो तो खूब बरसो।

पाँचवीं-छठी शताब्दी ईसवी-पूर्व के मगध-कोसल के किसान के सुखी जीवन का कैसा सुन्दर चित्रण है, उसकी आशा-आकांक्षाओं का कैसा सुन्दर निरूपण है! ग्रामीण जीवन का यह चित्र, उसके सुख का यह आदर्श, आज भी उतना ही सत्य है जितना बुद्ध-काल में।

वेद की एक प्रार्थना में राष्ट्र की विभूति का चित्र खींचा गया है।[1] पर उसके रंग इतने गहरे नहीं हैं, उसकी रेखाएँ स्पष्ट नहीं हैं, जितनी सुत्तनिपात के यथार्थ वर्णन की। इतना होते हुए भी सुखी कृषक के जीवन का वर्णन सुत्त-निपात में केवल एक पृष्ठभूमि के रूप में है, वह स्वयं अपना लक्ष्य नहीं है। उसका वर्णन यहाँ उससे बड़े एक अन्य सुख की केवल अभिव्यक्ति के रूप में किया गया है। उस सुख का उपभोग भगवान् बुद्ध कर रहे हैं। उसके उद्गारों को कृषक के उद्गारों से पंक्तिशः मिलाइये। मही नदी के तट पर खुले आकाश के नीचे बैठे हुए भगवान् उमड़ते हुए बादलों को देखकर प्रसन्न उद्गार कर रहे हैं:—

---

१. "आ ब्रह्मन्ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्.......दोग्ध्री...धेनुर्वोढाऽनड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा.......निकामे-निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु। फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्ताम्। योगक्षेमो नः कल्पताम्।"—यजुर्वेद २२।२२

मैं क्रोध और राग से रहित हूँ। एक रात के लिए मही नदी के तीर पर ठहरा हूँ। मेरी कुटी खुली, बिना छाई हुई है। अग्नि (रागाग्नि, द्वेषाग्नि मोहाग्नि) बुझ चुकी है। अब हे देव! चाहो तो खूब बरसो!

....

मैंने एक अच्छा, दृढ़ बँधा हुआ, वेड़ा बनाया है। उससे मैंने (भव की) बाढ़ को वश में किया है और मैं तरा हूँ, पार (परला किनारा, निर्वाचा) पर आ गया हूँ। अब मुझे वेड़े से भी कोई प्रयोजन नहीं रहा। अब हे देव! यदि तुम्हारी ऐसी ही इच्छा है तो खूब बरसो!

....

मेरा चित्त मेरे वश में रहने वाला है और विमुक्त है, वह दीर्घ काल से परिभावित और दान्त है। मुझ में कोई पाप नहीं। अब हे देव! चाहते हो, तो खूब बरसो!

....

मैं किसी का नौकर नहीं। अनासक्त होकर मैं सम्पूर्ण लोक में विचरण करता हूँ। मुझे नौकरी से मतलब नहीं। अब हे देव! चाहते हो, तो खूब बरसो!

....

मेरे न तरुण बैल हैं और न बछड़े। न गाभिन गायें हैं और न तरुण गायें और न गायों के स्वामी वृषभराज ही! हे देव! चाहते हो, तो खूब बरसो!'[1]

....

संसारिक सुख और ध्यान-सुख को आमने-सामने रखकर कितनी सुन्दर तुलना है! सांसारिक मनुष्य कहता है 'उपधी हि नरस्स नन्दना न हि सो नन्दति यो निरूपधि' अर्थात् विषय-भोग ही मनुष्य के आनन्द के कारण हैं। जिन्हें विषय-भोग नहीं, उन्हें आनन्द भी नहीं। पर राग-विमुक्त महात्मा कहता है 'उपधी हि नरस्स सोचना न हि सो सोचति यो निरूपधि"। अर्थात् विषय-भोग ही मनुष्य की चिन्ता के कारण हैं। जो विषय-रहित है, वह चिन्तित भी नहीं। दोनों आदर्शों का इससे अधिक सुन्दर निरूपण, इस नाटकीय गति और संवाद-शैली के साथ सम्भवतः सम्पूर्ण भरतीय साहित्य में नहीं मिल सकता। बौद्ध-धर्म के आचार-तत्त्व के रूप को समझने के लिए भी यह प्रकरण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

---

१. भगवान् के इन उद्गारों के साथ मिलाइये—'थेरगाथा' से प्राप्त कुछ भिक्षुओं के इसी प्रकार के उद्गार भी (आगे 'थेरगाथा' के विवेचन में)।

'मुनि-सुत्त' में मुनि की विविक्तचर्या का प्रभावशाली रूप में वर्णन है। इसी प्रकार 'खग्ग-विसाण-सुत्त' में एकान्तवास का सुन्दर उपदेश दिया गया है। 'एको चरे खग्ग-विसाणकप्पो' (अकेला विचरे गैंडे की तरह) से अन्त होने वाली इन गाथाओं का सौन्दर्य भी अपना है और एकान्त में जाकर ध्यान करने वालों के लिए इनके समान प्रेरणाप्रद भी और कोई वस्तु नहीं।

सुत्त-निपात के कई सुत्तों में शास्त्रीय विवाद से अलग रहकर विशुद्धि की साधना करने का उपदेश दिया गया है और मतवादों की संकीर्णता की निन्दा कर पूर्ण सत्य की अगमता का निर्देश किया गया है। विशेषतः पसूर-सुत्त इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। पसूर एक परिव्राजक था। अट्ठकथा में कहा गया है कि वह अपने हाथ में एक जामुन के पेड़ की डाली रखता था और जहाँ कहीं जाता था उसे धरती में गाड़कर लोगों को ललकारता था कि जो कोई उससे शास्त्रार्थ करना चाहे, उस लकड़ी को उखाड़ ले। उसी को बुद्ध ने उपदेश दिया है कि शास्त्रार्थ से कोई शुद्ध नहीं होता। उस समय के धार्मिक और सामाजिक जीवन के अन्य कई चित्र भी 'सुत्त-निपात' में हैं।

कसि-भारद्वाज-सुत्त में हम ५०० हल लेकर जुताई के काम में लगे हुए कृषि-भारद्वाज नामक ब्राह्मण के साथ भगवान् के प्रसिद्ध काव्यात्मक संवाद को देखते हैं। भिक्षा के लिए मौन खड़े हुए भगवान् को देखकर कृषि-भारद्वाज कहता है, "श्रमण! मैं जोतता हूँ, बोता हूँ। श्रमण! तुम भी जोतो, बोओ। जोताई-बोआई कर खाओ।" भगवान् कहते हैं, "ब्राह्मण! मैं भी जोताई-बोआई करता हूँ, जोताई-बोआई कर खाता हूँ।" (अहम्पि खो ब्राह्मण कसामि च वपामि च कसित्वा च वपित्वा च भुञ्जामि)। आगे भगवान् ने अपने इस कथन की व्याख्या की है, जो बड़ी सुन्दर है। चुन्द-सुत्त में भगवान् ने मग्गजिन (मार्ग-जिन) आदि चार प्रकार के श्रमणों की व्याख्या की है। पराभव-सुत्त में पत्तन के कारणों को बतलाया गया है। वसल-सुत्त में हम अग्नि-भारद्वाज नामक ब्राह्मण को भगवान् के प्रति यह कहते सुनते हैं, "मुण्डक! वहीं ठहर! श्रमण वहीं ठहर! वृषल वहीं ठहर! (तत्रेव मुण्डक, तत्रेव समणक, तत्रेव वसलक तिट्ठाहीति)। भगवान् ने बिना क्रोध किये उस अग्निहोत्री ब्राह्मण को बतलाया कि वृषल किसे कहते हैं। लज्जित होकर ब्राह्मण भगवान् बुद्ध का जीवनपर्यन्त उपासक (गृहस्थ-शिष्य) बना। हेमवत-सुत्त में भगवान् बुद्ध के स्वभाव का वर्णन है। अन्य अनेक बातों के साथ कहा गया है कि वे ध्यान से कभी रिक्त नहीं रहते —बुद्धो झानं न रिञ्चति। इसी प्रकार भगवान् बुद्ध के विषय में कहा गया है—

"उनका चित्त समाधिस्थ है। सब प्राणियों के प्रति वे एक-समान हैं। इष्ट और अनिष्ट विषयक संकल्प उनके वश में है।" आलवक-सुत्त में आवलक यक्ष के साथ भगवान् का संवाद है, जिसकी तुलना महाभारत के वन-पर्व में हुए युधिष्ठिर और यक्ष के संवाद से की जा सकती है। यक्ष के इस प्रश्न के उत्तर में कि सब रसों में कौन-सा रस उत्तम है (किं सु हवे सादुतरं रसानं) भगवान् ने कहा है, 'सच्चं हवे सादुतरं रसानं' अर्थात् सत्य ही सब रसों में उत्तम है। 'राहुल-सुत्त' में उस शिक्षा का वर्णन है जिसे भगवान् राहुल को लगातार रूप से देते रहते थे। वासेट्ठ-सुत्त में वासेट्ठ ब्राह्मण के साथ बुद्ध का संलाप है, जिसमें मनुष्य-जाति की एकता दिखायी गयी है। इसी प्रकार सुन्दरिक-भारद्वाज-सुत्त में सुन्दरिक भारद्वाज के साथ बुद्ध का संलाप है, जिसमें जाति के स्थान पर आचरण की प्रशंसा है। सभिय-सुत्त में सभिय परिव्राजक के साथ बुद्ध का संलाप है, जिससे तत्कालीन धार्मिक अवस्था का परिचय मिलता है। सभिय के द्वारा की गयी बुद्ध की वन्दना भी लक्षणीय है। इसी प्रकार 'वंगीस-सुत्त' और 'सेल-सुत्त' में भी बुद्ध-वन्दनाएँ हैं। बुद्ध से कुछ पाने वाले लोगों के कृतज्ञ हृदय की ये वन्दनाएँ प्रकाशक हैं और इनकी स्वाभाविक विमल अभिव्यक्ति पाठकों के हृदय को विशुद्ध करनेवाली है।

ब्राह्मण बावरि और उनके शिष्यों के भगवान् से संवाद तो विश्व के दार्शनिक काव्य के सर्वोत्तम उदाहरण कहे जा सकते हैं। इसी प्रकार पब्बज्जा, पधान और नालक सुत्त भी अपनी आख्यानात्मक गीतात्मकता के साथ-साथ दार्शनिक गम्भीरता में अपनी तुलना नहीं रखते। पब्बज्जा-सुत्त में गृह-त्याग के बाद गौतम बोधिसत्व का राजा बिम्बिसार में संलाप है। पधान-सुत्त में गौतम के पुरुषार्थ का वर्णन है। नालक-सुत्त में ऋषि असित के नवजात गौतम बोधिसत्व के दर्शनार्थ आये और उनके सम्बन्ध में भविष्यवाणी करने का उल्लेख है। सुत्त-निपाति की विषयवस्तु पाँच वर्गों में विभक्त है—(१) उरगवग्ग,(२) चूळवग्ग, (३) महावग्ग, (४) अट्ठकवग्ग और (५) पारायणवग्ग। प्रथम वग्ग में १२ सुत्त हैं, यथा—(१) उरग-सुत्त, (२) धनिय-सुत्त, (३) खग्गविसाण-सुत्त, (४) कसिभारद्वाज-सुत्त, (५) चुन्द-सुत्त, (६) पराभव-सुत्त, (७) वसल-सुत्त, (८) मेत्त-सुत्त, (९) हेमवत-सुत्त, (१०) आलवक-सुत्त, (११) विजय-सुत्त और (१२) मुनि-सुत्त। द्वितीय वर्ग में १४ सुत्त हैं, यथा—(१) रतन-सुत्त, (२) आमगन्ध-सुत्त, (३) हिरि-सुत्त, (४) महामंगल-सुत्त, (५) सुचिलोम-सुत्त, (६) धम्मचरिय-सुत्त, (७) ब्राह्मण-धम्मिय-सुत्त, (८) नावा-सुत्त, (९) किंसील-सुत्त, (१०) उट्ठ-

ठान-सुत्त, (११) राहुल-सुत्त, (१२) वंगीस-सुत्त[1], (१३) सम्मापरिब्बाजनिय-सुत्त और (१४) धम्मिक-सुत्त। तीसरे वग्ग में १२ सुत्त हैं, यथा—(१) पब्बज्जा-सुत्त, (२) पधान-सुत्त, (३) सुभासित-सुत्त, (४) सुन्दरिक भारद्वाज-सुत्त, (५) माघ-सुत्त, (६) सभिय-सुत्त, (७) सेल-सुत्त, (८) सल्ल-सुत्त, (९) वासेट्ठ-सुत्त, (१०) कोकालिय-सुत्त, (११) नालक-सुत्त और (१२) द्वयतानुपस्सना-सुत्त। चौथे वर्ग में १६ सुत्त हैं, यथा—(१) काम-सुत्त, (२) गुहट्ठक-सुत्त, (३) दुट्ठट्ठक-सुत्त, (४) सुद्धट्ठक-सुत्त, (५) परमट्ठक-सुत्त (६) जरा-सुत्त, (७) तिस्समेत्तेय्य-सुत्त, (८) पसूर-सुत्त, (९) मागन्दिय-सुत्त, (१०) पुराभेद-सुत्त, (११) कलहविवाद-सुत्त, (१२) चूल-वियूह-सुत्त, (१३) महावियूह-सुत्त, (१४) तुवटक-सुत्त, (१५) अत्तदण्ड-सुत्त, और (१६) सारिपुत्त-सुत्त। पाँचवे वर्ग में ये १८ सुत्त हैं।—(१) वत्थुगाथा, (२) अजित-माणव-पुच्छा, (३) तिस्समेत्तेय-माणव-पुच्छा, (४) पुण्णक-माणव-पुच्छा, (५) मेत्तगू-माणव-पुच्छा, (६) धोतक-माणव-पुच्छा, (७) उपसीव-माणवपुच्छा, (८) नन्द-माणव-पुच्छा, (९) हेमक-माणव-पुच्छा, (१०) तोदेय्य-माणव-पुच्छा, (११) कप्प-माणव-पुच्छा, (१२) जतुकण्णि-माणव-पुच्छा, (१३) भद्रा-वुधमाणव-पुच्छा, (१४) उदय-माणव-पुच्छा, (१५) पोसाल-माणव-पुच्छा, (१६) मोघराज-माणव-पुच्छा, (१७) पिंगिय माणव पुच्छा और (१८) पारायण-सुत्त। इस प्रकार कुल ७२ सुत्त सुत्त-निपात में हैं। शीर्षकों को प्रकारान्तर से व्यवस्थित कर सुत्तों की संख्या कुछ संस्करणों में ७० भी दिखा दी जाती है। परन्तु इससे ग्रन्थ के मूल रूप या उसके अर्थ में कोई भेद नहीं आता है।

यद्यपि सुत्त-निपात की गाथाओं के अनेक अंश, जिसमें आख्यान भी कहीं-कहीं कलात्मक सुन्दरता के साथ अनुविद्ध हैं, उद्धरण की अपेक्षा रखते हैं, किन्तु विस्तार-भय से ऐसा नहीं किया जा सकता। वास्तव में सुत्त निपात में सभी कुछ इतना महत्त्वपूर्ण, सभी कुछ इतना आकर्षक है कि कुछ समझ में नहीं आता कि उसकी सुन्दरता का क्या नमूना सामने रखा जाय। वह सब का सब बौद्ध-साहित्य में जो कुछ भी अत्यन्त सुन्दर और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, उसका नमूना है। फिर भी पाँचवें वर्ग (पारायण-वग्ग—जिसमें पारायण—जीवन के परम उद्देश्य

---

१. इस सुत्त को 'परमत्थजोतिका (सुत्तनिपात की अट्ठकथा) में 'निग्रोध कप्पसुत्त' नाम से पुकारा गया है।

—का वर्णन है)[1] में बुद्ध के समकालिक गोदावरी-तटवासी प्रसिद्ध वेदज्ञ ब्राह्मण बावरि के १६ शिष्यों के भगवान् बुद्ध के साथ जो उदात्त-गम्भीर संलाप हुए, उनका कुछ दिग्दर्शन तो आवश्यक ही है। यहाँ हम देखेंगे कि वैदिक परम्परा के सच्चे साधकों ने भी बुद्ध को कितनी जल्दी पहचान लिया था और उन्हें अपने हृदय में कितना ऊँचा स्थान दिया था।

अजित-माणव-पुच्छा

(अजित) "लोक किससे ढँका है? किससे प्रकाशित नहीं होता? किसे इसका अभिलेपन कहते हो? क्या इसका महाभय है?"

(भगवान्) "अविद्या से लोक ढँका है, प्रमाद से प्रकाशित नहीं होता। तृष्णा को अभिलेपन कहता हूँ। जन्मादि दुःख इसके महाभय हैं।"

(अजित) "चारों ओर सोते बह रहे हैं। सोतों का क्या निवारण है? सोतों का ढँकना बतलाओ, किससे ये सोते ढाँके जा सकते हैं?"

(भगवान्) "जितने लोक में सोते हैं, स्मृति उनका निवारण है। सोतों की रोक प्रज्ञा है, प्रज्ञा से ये रोके जा सकते हैं।"

(अजित) "हे मार्ष! प्रज्ञा और स्मृति नाम-रूप ही हैं। यह पूछता हूँ, बतलाओ कहाँ यह नाम-रूप निरुद्ध होता है?"

---

१. इस वग्ग का 'पारायण वग्ग' नाम इसलिये पड़ा है, क्योंकि इसमें उस मार्ग का वर्णन किया गया है जिससे संसार पार किया जाता है। "मग्गो सो पारं गमनाय तस्मा, पारायणं इति।"—पारायण-सुत्त। संयुक्त निकाय की अट्ठकथा 'सारत्थप्पकासिनी' (पारायण सुत्त-वण्णता) में कहा गया है कि इसमें पार ले जाने वाले कर्मों का वर्णन है। इसलिए इस धर्मोपदेश का नाम पारायण है। "पारं गमनीया 'इसे धम्मा'ति तस्मा इयस्स धम्म परियायस्स पारायणं त्वेणव अधिवचनं।" 'मनोरथपूरणी' (अङ्गुत्तर-निकाय की अट्ठकथा) में भी इसी प्रकार कहा गया है,"—निब्बानं सङ्खातं पारं उपनतो पारायनं'ति लद्धवोहार' धम्मं" ति। अर्थात् यह धर्म निर्वाण कहे जाने वाले पार को ले जने वाला है, इसीलिये पारायण कहलाता है। 'चुल्लनिद्देस' के 'पारायणत्थुतिगाथा निद्देस में भी इसी प्रकार की विस्तृत व्याख्या की गयी है। वास्तव में यहाँ जीवन के परम उद्देश्य का ही वर्णन है और इसको पढ़ने से लगता है कि जैसे इसका नाम है वैसा ही यह वास्तव में है और आध्यात्मक साहित्य की परम दुर्लभ वस्तु, बुद्ध-ज्ञान की एक उत्कृष्ट अभिव्यक्ति और सम्पूर्ण भरतीय साहित्य की अक्षय सम्पत्ति!

(भगवान्) "अजित ! जो तूने यह प्रश्न पूछा, उसे तुझे बतलाता हूँ, जहाँ पर कि सारा नाम-रूप निरुद्ध होता है। विज्ञान के निरोध से यह निरुद्ध हो जाता है।"

पुण्णक-माणव-पुच्छा

(पुण्णक) "हे तृष्णा-रहित मूल-दर्शी ! मैं आपके पास प्रश्न के सहित आया हूँ . . ., जिन ऋषियों ने यज्ञ कल्पित किये, क्या वे यज्ञ-पथ में अ-प्रमादी थे ? हे मार्ष ! क्या वे जन्म-जरा को पार हुए ? हे भगवान् ! तुम्हें यह पूछता हूँ, मुझे बताओ।"

(भगवान्) "वे जो हवन करते हैं, लाभ के लिए ही कामों को जपते हैं। वे यज्ञ के योग से, भव के राग से, रक्त हो, जन्म-जरा को पार नही हुए, ऐसा मैं कहता हूँ।"

(पुण्णक) "हे मार्ष ! यदि योग के योग (आसक्ति) से यज्ञों द्वारा जन्म-जरा को पार नहीं हुए, तो हे मार्ष ! फिर लोक में कौन देव-मनुष्य जन्म-जरा को पार हुए, तुम्हें हे भगवान् ! मैं पूछता हूँ। मुझे बतलाओ ?"

(भगवान्) "लोक में वार-पार को जानकर, जिसको लोक में कहीं भी तृष्णा नहीं, जो शान्त, धूम-रहित, रागादि-विरत और आशा-रहित है, वह जन्म-जरा को पार हो गया—मैं कहता हूँ।"

मेत्तगू-माणव-पुच्छा

(मेत्तगू) "हे भगवान् ! मैं तुम्हें पूछता हूँ, मुझे यह बतलाओ, तुम्हें मैं ज्ञानी (वेदगू-वेदज्ञ) और भावितात्मा समझता हूँ। जो भी लोक में अनेक प्रकार के दुःख हैं, वे कहाँ से आये हैं ?"

(भगवान्) "दुःख की इस उत्पत्ति को पूछते हो। प्रज्ञानुसार मैं उसे तुम्हें कहता हूँ। तृष्णा के कारण ही लोक में अनेक प्रकार के दुःख उत्पन्न होते हैं।"

धोतक-माणव-पुच्छा

(धोतक) "हे भगवन् ! तुम्हें यह पूछता हूँ, महर्षे ! तुम्हारा वचन सुनना चाहता हूं। तुम्हारे निर्घोष को सुनकर मैं अपने निर्वाण को सीखूंगा।"

(भगवान्) "तो तत्पर हो . . . स्मृतिमान् हो, यहाँ से वचन सुन तुम अपने निर्वाण को सीखो ।"

धोतक) "मैं तुम्हें देव-मनुष्य-लोक में निर्लोभ होकर विहरने वाला ब्राह्मण देखता हूँ। हे समन्तचक्षु। (चारों ओर आँखों वाले) तुम्हें मैं नमस्कार करता हूँ । हे शक्र ! मुझे वाद-विवाद से छुड़ाओ ।"

(भगवान्) "हे धोतक ! लोक में मैं किसी वाद-विवाद-परायण (कथंकथं) को छुड़ाने नहीं जाऊँगा । इस प्रकार श्रेष्ठ धर्म को जानकर इस ओघ (भव-सागर) को तर जाओगे ।"

(धोतक) "हे ब्रह्म! करुणा कर विवेक-धर्म को मुझे उपदेश करो, जिसके अनुसार मैं यहीं शान्त और विमुक्त हो कर विचरूँ ।"

(भगवान्) "धोतक ! इसी शरीर में प्रत्यक्ष धर्म को बतलाता हूँ, जिसे जान कर, स्मरण कर, आचरण कर, तू लोक में अशांति से तर जायगा ।"

कप्प-माणव-पुच्छा

(कप्प) "बड़ी भयानक बाढ़ में सरोवर के बीच में खड़े, मुझे तुम द्वीप (शरण-स्थान) बतलाओ, जिससे यह संसार फिर न हो ।"

(भगवान्) "हे कप्प ! तुझे द्वीप बतलाता हूँ । अकिंचनता ही सर्वोत्तम द्वीप है । इसे मैं जरा-मृत्यु के विनाश रूपी निर्वाण कहता हूँ ।"[1] आदि, आदि ।

बावरि ब्राह्मण के उपर्युक्त १६ शिष्य गोदावरी के तट के समीप से चलकर क्रमशः माहिष्मती, उज्जेनी, गोनद्ध, विदिशा, वनसह्वय, कौशाम्बी, साकेत, श्रावस्ती, सेतव्या, कपिलवस्तु, पावा, भोगनगर और वैशाली होते हुए राजगृह आये थे । अतः उनकी यात्रा के इस वर्णन से, जो सुत्त-निपात के पारायण-वग्ग में है, बुद्धकालीन मार्गों के सम्बन्ध में हमें महत्त्वपूर्ण सूचना मिलती है । सुत्त-निपात का पारायण-वग्ग वस्तुतः अनेक दृष्टियों से बड़ा महत्त्वपूर्ण है । स्वयं पालि तिपिटक में यह कई जगह उद्धृत है और इसका निर्देश किया गया है ।

---

१. महापंडित राहुल सांकृत्यायन द्वारा बुद्धचर्या, पृष्ठ ३७३-३८४ में अनुवादित ।

उदाहरणतः संयुत्त-निकाय के पारायन-सुत्त में भगवान् "परायनं च वो, भिक्खवे, देसेस्सामि पारायनगामिं च मग्गं" आदि रूप से कहते हुए यही उपदेश देते हैं। इसी प्रकार अंगुत्तर-निकाय के तिक-निपात के 'आनन्द-सुत्त' में भगवान् आनन्द को उपदेश देते हुए उनके प्रति 'परायन' का निर्देश करते हैं और कहते हैं, "एतं च पन मेतं, आनन्द, सन्धाय भासितं पारायने पुण्णकपण्हे" इसी प्रकार यही 'सारिपुत्त-सुत्त' में "एतं च पन मेतं, सारिपुत्त, सन्धाय भासितं पारायने उदयपण्हे।" इसी निकाय के चतुक्क निपात के 'समाधि; भावना-सुत्त' में भगवान् भिक्षुओं से कहते हैं, "इदं च पद मेतं, भिक्खे, सन्धाय भासितं पारायने पुण्णकपण्हे'। "बल्कि इसी निकाय के सुत्तक-निपात में हम वेळकण्टकी नन्दमाता उपासिका को प्रत्यूषकाल में उठकर 'पारायण' का स्वरपूर्वक पाठ करते देखते हैं।" नन्दमाता उपासिक रत्तिया पच्चूससमयं पच्चुट्ठाय पारायनं सरेन भासति।" संयुत्तनिकाया के 'भूत-सुत्त' में भगवान् सारिपुत्त से कहते दिखायी पड़ते हैं, "वुत्त-मिदं, सारिपुत्र, पारायने अजित पमैहे।" शायद ही बुद्ध के अन्य किसी उपदेश को इतनी अधिक बार स्वयं पालि तिपिटक में उद्धृत किया गया हो। इतना ही नहीं, 'पारायन-वग्ग' भारत से बाहर भी गया। इसका मध्य-एशिया की उइगर और तुखारी भाषाओं में अनुवाद हुआ, जिनकी हस्तलिखित प्रतियाँ मध्य-एशिया में मिली हैं। इसी प्रकार अट्ठक-वग्ग का, जो भी उसके समान ही महत्त्वपूर्ण है, चीनी भाषा में 'अर्थपद-सूत्र' नाम से अनुवाद हुआ। एक अन्य चीनी अनुवाद इसी 'सुत्त' का 'अर्थकवर्गीय सूत्र' शीर्षक से हुआ, जिसके कुछ खंडित अंश मिले हैं। हम दूसरे अध्याय में देख ही चुके हैं कि बुद्ध के जीवन-काल में यह वग्ग कई भिक्षुओं को कण्ठस्थ था और एक ने उसे बुद्ध के सामने सस्वर सुनाया भी था। सुत्त-निपात के खग्गविसाण-सुत्त और पब्बज्जा-सुत्त महावस्तु में भी पाये जाते हैं। इसी प्रकार पधान-सुत्त 'ललित-विस्तर' में भी मिलता है और अंशतः 'महावस्तु' में भी।

विमानवत्थु[1] और पेतवत्थु[2]

विमानवत्थु (विमानवस्तु) का अर्थ है विमानों या देव-आवासों की कथाएँ। इसी प्रकार पेतवत्थु का अर्थ है प्रेतों की कथाएँ। विमानवत्थु और पेतवत्थु में

१-२. देवनागरी लिपि में महापंडित राहुल सांकृत्यायन, भदन्त आनन्द कौसल्यायन तथा भिक्षु जगदीश काश्यप द्वारा सम्पादित (भिक्षु उत्तम द्वारा प्रकाशित; बुद्धाब्द २४८१ (१९३७ ई०)। अब भिक्षु जगदीश काश्यप द्वारा सम्पादित और बिहार राज्य के पालि प्रकाशन मण्डल द्वारा प्रकाशित श्री नालंदा

क्रमशः देवताओं और प्रेतों की कहानियों द्वारा कर्म-फल के सिद्धान्त का प्राकृत-जनोपयोगी दिग्दर्शन कराया गया है। देवता प्रकाश-रूप हैं। वे सुन्दर आवासों में रहते हैं। स्वर्ग-लोक नाना प्रकार के आमोद-प्रमोदों से पूरित हैं। इसके विपरीत प्रेत-योनि दुःखमय है। प्रेतों को नाना प्रकार के कष्ट झेलने पड़ते हैं। इस जन्म में जो नाना प्रकार के शुभ या अशुभ कर्म किये जाते हैं, उन्हीं के परिणामस्वरूप मृत्यु के उपरान्त क्रमशः देवताओं या प्रेतों की गतियाँ प्राप्त होती हैं, यह दिखाने के लिए ही विमानवत्थु और पेतवत्थु की रचना की गयी है, इस प्रकार बौद्ध नैतिकवाद ने यहाँ पौराणिक परिधान ग्रहण कर लिया है। ऐसा लगता है कि नैतिक प्रयोजन के लिए बौद्धों ने स्वर्ग-नरक मय प्राचीन पौराणिकवाद को स्वीकार कर लिया है किन्तु स्वर्ग का लक्ष्य उन्होंने गृहस्थ-जनों के लिए ही रखा है। भिक्षु का पद इससे बहुत अधिक ऊँचा है। वह तो निर्वाण का अभिलाषी है। स्वर्गलोक भी उसके लिए एक बन्धन है; कामनाओं की तृप्ति का ही एक साधन है। वह तो कामनाओं से ऊपर उठकर, मनुष्य और देवता सबका ही अनुशासक है। अतः यह ठीक ही है कि किसी भी भिक्षु को शुभ कर्म के परिणामस्वरूप स्वर्ग प्राप्त करते 'विमानवत्थु' में नहीं दिखाया गया। केवल सद्गृहस्थ ही शुभ कर्मों के परिणामस्वरूप स्वर्ग प्राप्त करते हैं और वहाँ नाना प्रकार के रमण, क्रीड़ा, दिव्य माल्य-धारण आदि का उपभोग करते हैं। 'विमानवत्थु' में ८५ देव-आवासों (विमानों) का वर्णन है, जिन्हें सात वर्गों में विभक्त किया गया है। प्रथम वर्ग का नाम 'पीठ वग्ग' है। इसमें १७ देव-निवासों का वर्णन किया गया है। इसी प्रकार शेष ६ वर्गों में, जिनके नाम क्रमशः 'चित्तलता-वग्ग', 'पारच्छत्तक-वग्ग'; 'मञ्जेट्ठ-वग्ग', 'महारथ-वग्ग', 'पायासि-वग्ग' और 'सुनिक्खित्त-वग्ग' हैं; क्रमशः ११, १०, १२, १४, १० और ११ देव-निवासों का वर्णन किया गया है। केवल नाम और थोड़े से आमोद-प्रमोदों को छोड़कर प्रायः प्रत्येक देव-आवास के वर्णन की शैली और मूल भावना एक ही है। कोई

संस्कारण में खुद्दक निकाय पालि, जिल्द दूसरी, में ये दोनों ग्रन्थ थेरी-थेरी गाथाओं के साथ निहित हैं। 'बुद्धकालीन विमानकथा' या 'बुद्धकालीन स्वर्ग-कथा' नाम से विमानवत्थु की कथाओं को और 'बुद्धकालीन प्रेतकथा' नाम से 'विमानवत्थु' को २५ प्रेत-कथाओं और संयुक्त-निकाय के लक्खण संयुत्त से २ प्रेतकथाओं को बड़े सुन्दर ढंग से, अट्ठकथाओं से सन्दर्भ लेते हुए, आचार्य भिक्षु अमृतानन्द जी ने प्रस्तुत किया है। आनन्दकुटी, काठमाण्डू, नेपाल, १९७६ ई० (बुद्धाब्द २५२०)।

देवता किसी आवास-विशेष में आमोद-प्रमोद करता हुआ दिखायी पड़ता है। उसे देखकर कोई भिक्षु (मोग्गल्लान) उससे पूछता है—हे देवते ! तू सुन्दर वर्ण से युक्त है। अपने शुभ वर्ण से तू शुक्र-तारा के समान सारी दिशाओं को आलोकित कर रहा है। मनुष्यों को प्रिय लगने वाले सारे भोग तुझे प्राप्त हैं। हे महानुभाव देवते ! मैं तुझसे पूछता हूँ—मनुष्य होते हुए तू ने क्या पुण्य किया था जिसके फलस्वरूप तुझे ये सब भोग मिले—"पुच्छामि तं देवि महानुभावे मनुस्सभूता किमकासि पुञ्ञं......यस्स कस्मस्मिद फलं।" देवता प्रसन्न होकर अपने मनुष्य रूप में किये हुए पुण्यादि का वर्ण करता है—"महानुभाव भिक्षु ! सुन, मैं तुझे अपने मनुष्य-रूप में किये हुए पुण्य को बतलाता हूँ। प्राणि-हिंसा से विरत, मृषावाद से विरत, संयत, सदा शील से संवृत होकर मैं चक्षुष्मान्, यशस्वी, गौतम का उपासक था......इसी कारण मेरा यह शुभ वर्ण है। इसी कारण मैं दिशाओं को आलोकित कर रहा हूँ।" सब वर्णनों की प्रायः यही बानगी है। बौद्ध-धर्म में जनसाधारण के लिए जिस नीति-विधान का आदर्श रखा गया है, उसी का दिग्दर्शन ये करते हैं। अधिक काव्यमय नवीनता इनमें न होते हुए भी वे केवल उन नैतिक गुणों को, जिन्हें बौद्ध-धर्म में सद्गृहस्थों के लिए साधारणतः आदरणीय माना गया है, बार-बार हमारी स्मृति में अंकित करने का प्रयत्न करते हैं। आज उससे अधिक विमानवत्थु के वर्णनों का महत्त्व हमारे लिऐ नहीं माना जा सकता। उनकी पौराणिक पृष्ठभूमि तो निश्चय ही बौद्ध-धर्म के उत्तरकालीन विकास की सूचक है, अतः उसे बुद्ध-शासन का उतना आवश्यक अंग मानने की गलती नहीं करनी चाहिए। काव्यात्मक गुण भी उनके अन्दर अधिक नहीं है। 'पेतवत्थु' में ५० प्रेतों की कहानियाँ हैं, जिन्हें ४ भागों में विभक्त किया गया है, यथा—(१) पेतवत्थु, (२) उरग पेतवत्थु, (३) उब्बरी पेतवत्थु और (४) धातु-विवण्ण पेतवत्थु। 'पेतवत्थु' में प्रेतों की कहानियों के द्वारा यह दिखाया गया है कि किस-किस दुष्कर्म के कारण परलोक में क्या-क्या दुःख भोगने पड़ते हैं। उदाहरण के लिए एक प्रेत की कथा देखिए। भिक्षु नारद किसी प्रेत से पूछते हैं—"तेरी सम्पूर्ण काया शुभ्र है। तू सारी दिशाओं को अपने कान्त वर्ण से आलोकित भी कर रहा है किन्तु तेरा मुख शूकर का है। तूने पूर्वजन्म में क्या कर्म किया था?"[1] प्रेत उत्तर देता है, "नारद ! मैं काया से संयत था, किन्तु वाणी से असंयत था। इसीलिए नारद !

---

१. कायो ते सब्बसोवण्णो सब्बा ओभासते दिसा। मुखं ते सुकरास्स एव किं कम्मं अकरी पुरे।

मेरी यह ऐसी अवस्था है जिसे तू देखता है। हे नारद ! जैसा तुमने स्वयं देखा है, मैं भी तुम्हें कहता हूँ—मुख से पाप न करना, ताकि तुम्हें भी कहीं शूकर के समान मुख वाला न होना पड़े।"[1] इस प्रकार शुभकर्म का परिणाम मरने के बाद शुभ और अशुभ कर्म का अशुभ होता है, इसी नैतिक सत्य को क्रमशः 'विमानवत्थु' और 'पेतवत्थु' में दिखलाया गया है,

कुछ प्रासंगिक भौगोलिक और ऐतिहासिक महत्त्व की बातें भी विमानवत्थु और पेतवत्थु में आयी हैं। उदाहरणतः विमानवत्थु में 'सेरिस्सक-विमान' के वर्णन से पता चलता है कि प्राचीन काल में अंग-मगध देशों के व्यापारी सिन्धु-सौवीर तक व्यापार के लिए जाते थे।

थेरगाथा[2] और थेरीगाथा[3]

थेरगाथा और थेरीगाथा खुद्दक-निकाय के दो महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। इन दो

---

१. कायेन सञ्ञतो आसि वाचायासि असञ्ञतो। तेन मे तादिसो वण्णो यथा पस्ससि नारद।
तं त्याह नारद ब्रूमि सामं दिट्ठं इदं तया। मा कासि मुखसा पापं मा खो सूकर मुखो अहु ति।—पेतवत्थु (खेत्तूपमा पेतवत्थु)।

२.३. थेरगाथा सिंहली लिपि में दो भागों में क्रमशः सुरियगोड सुमङ्गल तथा अरियपञ्ञ त्थेर द्वारा सम्पादित है। थेरीगाथा सिंहली लिपि में देव-रक्खित नायक थेर द्वारा सम्पादित है। थेर-थेरीगाथाओं के ये सिंहली संस्करण साइमन हेवावितरण दातव्य निधि द्वारा प्रकाशित है। महापंडित राहुल सांकृत्या-यन, भदन्त आनन्द कौसल्यायन तथा भिक्षु जगदीश काश्यप ने इन दोनों ग्रन्थों का सम्पादन देवनागरी लिपि में किया है, जिसे भिक्षु उत्तम ने बुद्धाब्द २४८१ (१९३७ ई०) में प्रकाशित किया। थेरगाथा के विवेचन में मैंने उद्धरण इसी संस्करण से दिये हैं। प्रोफेसर भागवत ने भी थेरीगाथा का सम्पादन देवनागरी लिपि में किया है, जिसे बम्बई विश्वविद्यालय ने सन् १९३७ में प्रकाशित किया है। इसी प्रकार 'थेरीगाथा' भी उनके द्वारा सम्पादित है। बम्बई विश्वविद्यालय, १९३७ ई० थेरीगाथा के विवेचन में मैंने उद्धरण इस संस्करण से दिये हैं। थेर-गाथा का हिन्दी अनुवाद भिक्षु धर्मरत्न ने किया है, जिसे महाबोधि सभा ने सन् १९५५ (बुद्धाब्द २४९९) में प्रकाशित किया है। भिक्षु जगदीश काश्यप द्वारा सम्पादित श्री नालन्दा संस्करण में खुद्दक-निकाय-पालि, जिल्द दूसरी, में थेर-थेरी गाथाएँ, विमानवत्थु और पेतवत्थु हैं, सन् १९५९ में प्रकाशित। 'थेरी-

ग्रन्थों में क्रमशः बुद्धकालीन भिक्षु और भिक्षुणियों के पद्य-बुद्ध जीवन-संस्मरण हैं।[1] थेरगाथा में २६४ ('द्वे सता सट्ठि चत्तारो च') भिक्षुओं के उद्गार हैं, जब कि थेरीगाथा में ७३[2] भिक्षुणियों के। थेरगाथा में १२७९ गाथाएँ (पालिश्लोक) हैं जो २१ निपातों (वर्गों) में विभक्त हैं। थेरीगाथा में ५२२ (किन्हीं-किन्हीं संस्करणों में ५२४) गाथाएँ हैं, जो १६ निपातों में विभक्त हैं। वास्तव में थेर-गाथा से थेरीगाथा अधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, क्योंकि यहाँ भिक्षुणियों की आत्मीयता और यथार्थवादिता अधिक स्पष्ट झलकती है। थेरगाथा में अन्तर्जगत् के अनुभवों की बहुलता है, जबकि थेरीगाथा में वैयक्तिक ध्वनि प्रधान है। थेरगाथा में सुरम्य प्राकृतिक वर्णनों की अधिकता है। भिक्षुओं के ध्यान के प्रसंग में ये वर्णन वहाँ स्वभावतः आ गये हैं। किन्तु भिक्षुणियों ने अपने जीवन की वास्तविक परिस्थितियों पर ही अधिक पर्यवेक्षण किया है। दोनों के ही उद्गारों में जीवन के करुण पक्ष के अनुभव की अधिक अभिव्यक्ति है। फिर भी वहाँ निराशा नहीं है। बुद्ध-शासन का अवलम्बन पाकर दोनों ने ही उस गम्भीर और शान्त सुख का स्पर्श किया है, जो जीवन की विषमताओं और कटुताओं को घोल डालता है और उन पर मनुष्य की विजय का सूचक बनता है। किसी-किसी भिक्षु के शब्दों में नारी के प्रति विरक्त भाव भी है। इसी प्रकार किसी-किसी भिक्षुणी ने पुरुष के द्वारा उन पर किये गये अत्याचार का भी दुःखपूर्वक स्मरण किया है। मानव-जीवन की ये सामान्य विषमताएँ हैं। इनसे हमें किसी विशेष सिद्धान्त को यहाँ निकालने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। जब हम थेर और थेरी गाथाओं से कुछ उद्धरण देकर उनकी विषयवस्तु की विशेषताओं को स्पष्ट करेंगे। स्थविर माणव अपने अनुभव का वर्णन करते हुए कहते हैं—"मैंने

गाथा' का अनुवाद (परमत्थदीपनी के आधार पर भिक्षुणियों की जीवनियों के सहित) लेखक ने किया है, जो सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, द्वारा सन् १९५० में प्रकाशित हो चुका है—द्वितीय संस्करण, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९६७ ई०।

१. केवल थेरीगाथा की गाथाएँ १६९-७० तथा ५३८-५४६ अपवाद हैं। थेरगाथट्ठकथा के अनुसार ये क्रमशः अशोक के अनुज वीतसोक और तिस्स कुमार की रचनाएँ हैं।

२. कुछ गाथाएँ एक से अधिक भिक्षुणियों की सम्मिलित रचनाएँ बतायी गयी हैं। यदि उन भिक्षुणियों की अलग-अलग गिनती करें, तो यह संख्या लगभग १०० हो जायगी।

वृद्ध, दुखी, व्याधि से मारे हुए, समाप्त आयु-संस्कार वाले पुरुष को इन आँखों से देखा। बस, इन (दुःखों) से निष्क्रमण पाने के लिए मैंने सारे मनोरम भोगों को छोड़कर प्रव्रज्या ले ली।"[1] स्थविर वीतसोक (वीतशोक) का अनुभव भी मार्मिक है, "मेरे बाल बनाने के लिए नाई मेरे पास आया। उसके हाथ से दर्पण लेकर मैं अपने शरीर का प्रत्यवेक्षण करने लगा। काया की तुच्छता को मैंने देखा। मेरा अन्धकार वहीं विदीर्ण हो गया। सारे चोले (वस्त्र, शरीर) ही समुच्छिन्न हो गये। (अब मुझे कोई शरीर धारण करना नहीं)। अब मेरे लिए पुनर्जन्म होना नहीं है।"[2] एक विषयी पुरुष बुद्धशासन को सुनकर किस प्रकार प्रव्रजित हो गया है, यह स्थविर नन्द के शब्दों में सुनिये, "बुरे चिन्तन में लगा हुआ मैं पहले इस काया के शृंगार-साधन में लगा रहता था। मैं उद्धत था, चपल था एवं काम-वासना से बुरी तरह व्यथित था। सौभाग्यवश आदित्य-बन्धु भगवान् बुद्ध ने, जो मेरे जैसों का उपाय करने में कुशल हैं, अपने उपदेश से मुझे सत्पथ पर लगा दिया। अब संसार से मेरा चित्त अनासक्त हो चुका है।"[3] स्थविर सिरिमा (श्रीमान्) का गम्भीर अनासक्त भाव देखिये, "चित्त समाधि-मग्न नहीं है और दूसरे इसकी प्रशंसा करते हैं। यदि चित्त समाधि-मग्न नहीं है, तो दूसरों की प्रशंसा व्यर्थ ही है। चित्त अच्छी प्रकार समाधि-मग्न है और दूसरे इसकी निन्दा करते हैं। यदि चित्त अच्छी प्रकार समाधिमग्न है, तो दूसरे की निन्दा व्यर्थ ही है।"[4]

---

१. जिण्णञ्च दिस्वा दुक्खितञ्च व्याधितं मतञ्च दिस्वा गतमायुसंखयं। ततो अहंनिक्खमितून पब्बजिं पहाय कामानि मनोरमानि॥—गाथा ७३

२. केसे मे ओलिखिस्सन्ति कप्पको उपसंकमि। ततो आदासं आदाय सरीरं पच्चवेक्खिसं। तुच्छो कायो अदिस्सित्थ, अन्धकारे तमो व्यगा। सब्बे चोला समुच्छिन्ना नत्थि दानि पुनब्भवो' ति॥"—गाथाएँ १६९-१७०।

३. अयोनिसो मनसीकारा मण्डनं अनुयुञ्जिसं। उद्धतो चपलो चासिं कामरागेन अट्टितो। उपायकुसलेनाहं बुद्धेनादिच्चबन्धुना। योनिसो पटिपज्जित्वा भवे चित्तं उदब्बहिन्ति॥—गाथाएँ १५७-१५८

४. परे च नं पसंसन्ति अत्ता चे असमाहितो। मोघं परे पसंसन्ति अत्ता हि असमाहितो॥
परे च नं गरहन्ति अत्ता चे सुसमाहितो। मोघं परे गरहन्ति अत्ता हि सुसमाहितो॥—गाथाएँ १५९-१६०। मिलाइये "आपुहि आपु को नीके कै जानत।"—तुलसीदास जी।

एक भिक्षु (उत्तिय स्थविर) को रोग उत्पन्न हुआ है। इसी से उसे साधना-भ्यास की प्रेरणा मिली है कि अब मेरे लिए प्रमाद करने का समय नहीं रहा और अब मुझे स्मृति के अभ्यास में लग जाना चाहिए।[1]

वस्तुतः 'थेरगाथा' की दो बड़ी विशेषताएँ हैं—भिक्षुओं के आन्तरिक अनुभव का वर्णन और उनका प्रकृति-दर्शन। भिक्षुओं ने संस्कारों की अनित्यता को देख कर सांसारिक जीवन से वैराग्य लिया है। चित्त की शान्ति ही उनके लिए सबसे बड़ा सुख है। जीवन के प्रति न उनमें उत्सुकता है और न विषाद। किसी की आकांक्षा भी नहीं और किसी वस्तु से द्वेष भी नहीं। वे केवल शान्त और गम्भीर हैं। अनासक्ति उनके जीवन का मुख्य लक्षण है। जिन्होंने विषयों को वमन के समान छोड़ दिया है, सुख-दुःख जिनके लिए अर्थहीन हो गये हैं, शीत और उष्ण जिनके लिए समान हैं, ऐसे साधकों की मानसिक दशाओं का वर्णन ही हमें 'थेरगाथा' में मिलता है। भिक्षु-जीवन के आदर्श को धर्मसेनापति सारिपुत्र ने सदा के लिए स्मरणीय शब्दों में व्यक्त करते हुए कहा है—

"नाभिनन्दामि मरणं नाभिनन्दामि जीवितं।
निक्खिपिस्सं इमं कायं सम्पजानो पटिस्सतो॥
नाभिनन्दामि मरणं नाभिनन्दामि जीवितं।
कालञ्च पटिकंखामि निब्बिसं भतको यथा॥"[2]

---

१. आबाधे मे समुप्पन्ने सति मे उप्पज्जथ। आबाधो मे समुप्पन्नो कालो मे नप्पमज्जितुं" ति।—गाथा ३०

२. गाथाएँ १००२-१००३। श्री नालन्दा संस्करण में गाथाएँ १००१-१००२। स्थविर सङ्किच्च ने भी, कुछ अल्प शब्द-भेद से, इन भावों की पुनरावृत्ति की है, गाथाएँ ६०६-६०७ और अंशतः स्थविर निसभ ने भी, गाथा १९६ 'मिलिन्दपञ्ह' में भी धर्मसेनापति सारिपुत्र स्थविर के वचन के रूप में उपर्युक्त गाथाओं को उद्धृत किया गया है, परन्तु वहाँ उनका पाठ है, "नाभिनन्दामि मरणं नाभिनन्दामि जीवितं। कालं च परिकङ्खामि निब्बिसं भतको यथा॥ नाभिनन्दामि मरणं नाभिनन्दामि जीवितं। कालं च पटिकङ्खामि सम्पजानो पटिस्सतो"ति। मिलिन्दपञ्हो, पृष्ठ ४७ (बम्बई विश्वविद्यालय का देवनागरी संस्करण)। वास्तव में यही पाठ 'थेरगाथा' में स्थविर सङ्किच्च की उपर्युक्त गाथाओं (६०६-६०७) का है। इस प्रकार यह अल्पमात्र भेद यहाँ उद्धरणों में आ गया है। तात्पर्य तो शान्त, तृष्णारहित जीवन और अनासक्त, निरपेक्ष काल-क्रिया (मृत्यु) से ही है, जो ही बौद्ध साधन के आदर्श हैं।"

"न मुझे मरने की इच्छा है, न जीने की अभिलाषा । ज्ञानपूर्वक सावधान हो स्मृतिपूर्वक मैं इस काया को रख दूंगा । न मुझे मरने की इच्छा है, न जीने की अभिलाषा । मैं अपने समय की प्रतीक्षा कर रहा हूँ । काम करने के बाद अपनी मजूरी पाने का प्रतीक्षा करने वाले दास के समान मैं अपने समय की बाट देख रहा हूँ ।"

धर्मसेनापति सारिपुत्र के ही एक शिष्य श्रामणेर महागवच्छ थे । अपने गुरु के समान बहुत ही अल्पभोजी, वैसे ही वीतराग और अनासक्त । उनकी वाणी है—"दत्थियं भोजनं भुञ्जमानो कङ्खेत कालं इध वीतरागो ।"[1] अर्थात् "जितना अर्थ (प्रयोजन) हो, उतना ही (केवल कामनार्थं) भोजन को खाता हुआ यहाँ वीतराग पुरुष अपने काल की प्रतीक्षा करे ।"

वल्लिय स्थविर मौन साधन में लगे हैं। उनका संकल्प है, "मैं मौन से उसी प्रकार शान्ति को पाऊँगा जैसे गंगा की धारा सागर में जाकर मिलती है।"[2]

एक दूसरे वल्लिय स्थविर हैं जिन्होंने बुद्ध-शासन में प्रविष्ट होकर अपने चंचल मन को शान्त कर दिया है । वे अपने मन को 'मर्कट' (बन्दर) कहकर पुकारते हैं जो पहले पाँच द्वारों वाली कुटी (शरीर) में एक द्वार से दूसरे द्वार को रगड़ता हुआ बार-बार टक्करें खाता हुआ, कूदता फिरता था । परन्तु अब "ठहर बन्दर ! मत दौड़ बन्दर ! अब तेरी दशा पहले जैसी नहीं रही है । तू प्रज्ञा से पकड़ लिया गया है । अब तू यहाँ से दूर नहीं जा सकता ।[3]

अरण्य में कुटी बनाकर वास करने वाले भिक्षु बहुत से हैं और उन्होंने एकान्त में ध्यान कर अपने-अपने वितर्कों को शान्त किया है। प्रायः सभी भिक्षु अल्पेच्छ और सन्तुष्ट हैं और इस सम्बन्धी सुख को उन्होंने गाया है। एक राजा ने बन्धुर स्थविर को एक बड़ा अच्छा विहार बनवाकर दान किया है। परन्तु वे उसे छोड़कर चले जाते हैं। "मुझे इससे प्रयोजन नहीं । मैं धर्म-रस से सुखी और सन्तुष्ट हूँ।"[4] गोधा के पुत्र भद्दिय राज्य छोड़कर भिक्षु हुए

---

१. गाथा १२ ।

२. "अहं मोनेन मोनिस्सं गङ्गासोतो व सागरं ।"—गाथा १६८

३. "मक्कटो पञ्चद्वारायं कुटिकायं पसक्किय ।
द्वारेन अनुपरियेत घट्टयन्तो मुहुं मुहुं ॥
तिट्ठ मक्कट मा धावि, न हि ते तं यथा पुरे ।
निग्गहीतोसि पञ्ञाय, नेतो दूरं गमिस्ससि ॥ गाथाएँ १२५-१२६

४. देखिये, गाथा १०४

हैं और ध्यान में उस सुख को पा रहे हैं, जो उन्हें राज्य में नहीं मिला।[1] एक तिष्य स्थविर हैं, जो पहले राजा थे, परन्तु जब से मिट्टी का पात्र हाथ में पकड़ा, तब से मानने लगे कि यह मेरा दूसरा अभिषेक हुआ है।[2] पोसिय थेर एक बार अपने पहले के घर में जाते हैं, परन्तु शीघ्र ही वहाँ से अरण्य को चल देते हैं और अपने जाने की किसी को सूचना नहीं देते।[3]

"भिक्षुओं ! ध्यान करो। प्रमाद मत करो।" ऐसा उस भगवान् ने अनेक बार अपने शिष्यों को उपदेश दिया। अपने उपदेशों के अन्त में वे प्रायः इसी प्रकार अपने शिष्यों को ध्यान के लिए प्रेरित किया करते थे। जिस प्रकार वे भगवान् ध्यानी और ध्यानशीली थे, उसी प्रकार उनके शिष्य भी थे। ध्यान करने के लिए भिक्षु अक्सर अपने मन को समझाया करते थे। कभी-कभी वे दुनिया के कष्टों को भी अपने मन को दिखाते थे। और उससे कहते थे कि इनसे बचना है तो ध्यान कर। यह सदा ही साधकों की रीति रही है। "राम कहत चलु···नाहिं तो भव बेगारि में परिहौ" तुलसीदास जी ने कहा था और कबीर साहब ने जब तृष्णा की जेवरी में बँधी दुनिया को कष्ट झेलते तो अपने मन को समझाया कि जिस जेवरी में दुनिया बंधी है उसमें तू मत बँध। नहीं तो तेरे इस सोने-जैसे शरीर की वह हालत होगी जो आटे में नमक मिलाते समय उसे गूँधने पर होती है।" जेहि जेवरि जग बँधिया तू जिनि बँधै कबीर ! ह्वैसी आटा लूंण ज्यूं सोना सँवा शरीर।" हमारे सुमङ्गल स्थविर ने भी एक बार जुताई, बुवाई और कटाई में लगे किसानों को कड़ी मेहनत करते और कभी उससे नहीं छूटते देखा है। बेचारे भिक्षु का क्षीण काय है, गीला या सूखा एक बार वह आहार करने वाला है, जैसा भी मिल जाय। झट अपने मन को समझाने लगता है। देख ले, यदि तूने तृष्णा की ओर हाथ बढ़ाया तो तेरी यही दशा होनी है जो कुदालों, हलों और हँसुओं को हाथ में लिये इन लोगों की हो रही है। "इसलिए ध्यान करो, सुमङ्गल, ! ध्यान करो सुमङ्गल ! अप्रमत्त होकर विहरो सुमङ्गल !" "झाय सुमङ्गल, झाय सुमङ्गल, अप्पमत्तो विहर सुमङ्गल !"[5]

---

१. देखिये गाथाएं ८४२-८६५
२. देखिये, गाथा ९७
३. देखिये, गाथा ३४
४. गाथा ९७
५. गाथा ४३

धर्मसेनापति सारिपुत्र के परिनिर्वाण पर महामोग्गल्लान स्थविर ने संस्कारों की अनित्यता पर जो भाव प्रकट किये हैं, वे भगवान् के उन महा-शिष्य के हृदय के अन्तस्तल तक हमें ले जाते हैं। 'अनिच्चा वत संखारा' का उद्गार करते हुए महामोग्गल्लान स्थविर कहते हैं—

तदासियं भिसनकं तदासि लोमहंसनं।
अनेकाकारसम्पन्ने सारिपुत्तम्हि निब्बुते ॥[1]

यह भीषण हुआ, यह रोमांचकारी हुआ। अनेक ध्यान-समापत्तियों से सम्पन्न सारिपुत्र परिनिवृत्त हो गये।

भिक्षुओं ने स्त्री के कामिनी-रूप पर विजय प्राप्त की है। उसके प्रलो-भनों में वे नहीं आ सकते, ऐसा उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक कहा है।[2] एक अलंकृता सुवसना; मालाधारिणी, चन्दन लेप किये हुए नर्तकी को महापथ के बीच में नृत्य-गान करते हुए भिक्षु (नागसमाल) ने देखा है। उसी समय उसने वासना के दुष्परिणाम पर चिन्तन किया है, अशुभ भावना की है, और इस प्रकार अपने चित्त को विमुक्त किया है।[3] स्त्री के रूपादि की आसक्ति को भिक्षुओं ने

---

१. गाथाएँ ११५८-११५९

२. सचे पि एत्तका भिय्यो आगमिस्सन्ति इत्थियो।
नेव मं ब्याधियिस्सन्ति धम्मे स्वम्हि पतिट्ठितो। गाथा, १२११

३. अलंकता सुवसना मालिनी चन्दनुस्सदा।
मज्झे महापथे नारी तुरिये नच्चति नट्टकी। गाथा, २६७
....
ततो मे मनसीकारो......ततो चित्तं विमुच्चि मे॥ २६९-७०; मिलाइये गाथाएँ ४५९-४६५ भी जहाँ 'पैरों में महावर लगाये हुए' (अलत्तककता पादा) सुवसना, अलंकृता, स्मित करती हुई वेश्या ने भिक्षु के सामने गृहस्थ-जीवन में प्रवेश का प्रस्ताव रखा है—'अहं वित्तं ददामि ते' (मैं तुझे धन देती हूँ) यह कहते हुए, पर भिक्षु ने उसे मृत्यु का पाश समझ कर अशुभ की भावना की है और सत्य का साक्षात्कार किया है। "काम-वासना में दुष्परिणाम देखकर मैंने चित्तमलरहित अवस्था को प्राप्त कर लिया" (कामेस्वादीनवं दिस्वा... पत्तो मे आसवक्खयो—गाथा ४५८); मिलाइये "अंकेन पुत्तमादाय भरिया मं उपागमि.....ततो मे मनसीकारो.....ततो चित्तं विमुच्चि मे", आदि गाथाएँ २९९-३०१ भी।

सब दुख का कारण माना है।[1] श्मशान में स्त्री के सड़ते हुए शरीर को कृमि आदि से खाये जाते हुए देखकर स्थविर कुल्ल ने उसके अनित्य और अशुभ रूप की भावना की है और सत्य का दर्शन किया है।[2] स्त्री की काया के ही नहीं, भिक्षुओं ने अपनी काया के भी अशुभ, तुच्छ रूप का दर्शन ज्ञान-दर्शन की प्राप्ति के लिए किया है।[3] एक भिक्षु (जेन्त) ने हमें बताया है कि भिक्षु होने से पहले वह एक राजपुरोहित का पुत्र था और जाति-मद, भोग और ऐश्वर्य के मद से मतवाला रहता था, किन्तु अब उसका सब मान, मद और अस्मिमान छूट चुका है और वह प्रसन्न और शान्त है।[4] इसी प्रकार एक अन्य भिक्षु (भद्दिय) ने हमें बताया है कि पहले राजा होते समय किस प्रकार उसके हाथी की ग्रीवाओं में सूक्ष्म वस्त्र लटकते थे, पर वही आज परिग्रह-रहित सुख से ध्यान करता है। उच्च मंडलाकार दृढ़ अट्टालिकाओं और कोठों में वह पहले हाथ में खड्ग धारण किये सिपाहियों और पहरेदारों द्वारा रक्षित होते हुए भी त्रासपूर्वक सोता था, पर आज वही बिना किसी त्रास के, सम्पूर्ण भयों से विमुक्त होकर, बन में प्रवेश कर ध्यान करता है।[5] एक दूसरे भिक्षु (सुनीत)

---

१. इत्थिरूपे इत्थिरसे फोट्ठब्बे पि च इत्थिया। इत्थिगन्धेसु सारत्तो विविधं विन्दते दुखं ।। गाथा ७३८। यह स्थविर पारापरिय ने कहा है।

२. अपविद्धं सुसानस्मिं खज्जन्ति किमिही फुटं। ३९३
आतुरं असुचिं पूतिं पस्स कुल्ल समुस्सयं। गाथा ३९४, मिलाइये 'धिरत्थु पूरे दुग्गन्धे.....' आदि, गाथा २७९ तथा गाथा ११५० भी।

३. स्थविर कुल्ल ने कहा है, "धम्मादासं गहेत्वान आणदस्सनपत्तिया। पच्चवेक्खिं इमं कायं तुच्छं सन्तरबाहिरं।" गाथा ३९५। इसका अर्थ है "धर्म रूपी दर्पण लेकर मैंने ज्ञान-दर्शन की प्राप्ति के लिए इस तुच्छ शरीर पर मनन किया, जैसा कि यह अन्दर और बाहर है।" स्थविर वीतशोक ने किस प्रकार अपने शरीर की तुच्छता को देखा, यह हम पहले निर्दिष्ट कर ही चुके हैं।

४. जातिमदेन मत्तोहं भोगेस्सरियेन च।.........मानं मदञ्च छड्डेत्वा विप्पसन्नेन चेतसा। अस्मिमानो समुच्छिन्नो सब्बे मानविधा हता ।। ४२३-४२८

५. या तं मे हत्थिगीवाय सुखुमा वत्था पधारिता।
सोज्ज भद्दो झायति अनुपादानो
उच्चे मण्डलिपाकारे दळ्हमट्टालकोट्ठके।....

ने हमें बताया है कि वह पहले नीच कुल में उत्पन्न हुआ था। दरिद्र था और भोजन भी नहीं पाता था। उसका कर्म हीन था। वह मैले और कूड़े करकट को फेंकने वाला था। अपने मन को नीचा करके वह अनेक मनुष्यों की वन्दना करता था। एक दिन भिक्षुक-संघ के साथ मगध के उत्तम नगर (राजगृह) में प्रवेश करते हुए भगवान् सम्यक् सम्बुद्ध को उसने देखा। वह उस समय सड़क साफ कर रहा था। झाड़ू को छोड़कर भगवान् की वन्दना करने चला। पुरुषोत्तम (बुद्ध) उस पर कृपा करके स्वयं उसके लिए खड़े हो गये। सुनीत ने वन्दना की और प्रव्रज्या की याचना की। सर्वलोकानुकम्पक कारुणिक शास्ता ने उससे कहा "आ भिक्षु !" यही उसकी उपसम्पदा हुई। आज भिक्ष की यह हालत है कि इन्द्र और ब्रह्मा भी आकर अञ्जलि बाँध कर उसको प्रणाम करते हैं।[1] भिक्षुओं के आन्तरिक जीवन का एक अनूठा चित्र हमें स्थविर तालपुट के आत्मोद्गार में मिलता है। इस भिक्षु ने अपने चित्त को सम्बोधन कर कुछ महनीय उद्गार किये हैं, जिनकी तुलना समर्थ रामदास के 'मनाचे श्लोक' और गोस्वामी तुलसीदास के 'विनय-पत्रिका' के अपने मन को सम्बोधित अनेक पदों से अच्छी प्रकार की जा सकती है। वैसे तो तालपुट स्थविर द्वारा उच्चरित सभी गाथाएँ (१०९१-११४५) उद्धरणीय हैं, परन्तु यहाँ

रक्खितो खग्गहत्थेहि उत्तसं विहरिं पुरे ॥
सोज्ज भद्दो अनुत्रासी पहीनभयभेरवो।
झायति वनमोगह्य......." ८४२-८६४

१. नीचे कुलम्हि जातोहं दलिद्दो अप्पभोजनो।
हीनं कम्मं ममं आसि अहोसि पुप्फछड्डको ॥६२०

....

नीचं मनं करित्वान वन्दिस्सं बहुकं जनं। ६२१
अथ अद्दसासिं सम्बुद्धं भिक्खुसंघपुरक्खतं पविसन्तं महावीरं मगधानं पुरुत्तमं ॥ ६२२
निक्खपित्वान ब्याभंगिं वन्दितुं उपसंकमिं।
ममेव अनुकम्पाय अट्ठासि पुरिसुत्तमो ॥६२३
ततो कारुणिको सत्था सब्बलोकानुकम्पको। एहि भिक्खूति मं आह सा मे आसुपसम्पदा ॥६२५
......इन्द्रो ब्रह्मा च आगन्त्वा मं नमस्सिसु पञ्जलि ॥६२८

स्थानाभाव से केवल कुछ का उद्धरण ही उपयुक्त होगा। स्थविर तालपुट अपने मन को सम्बोधन करते हुए कहते हैं, "हे चित्त! जैसे फल की इच्छा करने वाला मनुष्य वृक्ष को लगाकर फिर उसकी जड़ को ही तोड़ने की इच्छा करे, उसी प्रकार हे चित्त! मुझको चल और अनित्य इस संसार में लगाकर तू वैसा ही करता है![1]... हे चित्त! सर्वत्र ही तो मैंने तेरे वचन को किया है; अनेक पूर्व जन्मों में भी मैंने तुझे कभी कुपित नहीं किया। तू मेरे ही अन्दर से उत्पन्न है, इसलिए कृतज्ञतावश हे चित्त! मैं तेरे लिए चिरकाल तक दुःख में संसरण किया है![2] हे चित्त! तू ही ब्राह्मण बनाता है, और तू ही क्षत्रिय राजर्षि। हे चित्त! तेरे ही कारण वैश्य और शूद्र बनते हैं और देवत्व भी पाते हैं। तेरे ही कारण! हे चित्त! तेरे ही कारण असुर बनते हैं, नरक-योनियाँ भी तेरे ही कारण हैं। हे चित्त! पशु-पक्षी की योनियों और पितरों की योनियों में भी तू ही डालता है।[3] धिक्! धिक्! रे चित्त! अब तू आगे क्या करना चाहता है। अब तू मुझे अपना वशवर्ती बना न सकेगा।"[4] यहीं भिक्षु आगे कामना करता है:—

कदा नु हं दुब्बचनेन वुत्तो ततो निमित्तं विमनो हेस्सं।
अथो पसट्ठो पि ततो निमित्तं तुट्ठो न हेस्सं तदिदं कदा मे॥[5]

---

१. रोपेत्वा रुक्खानि यथा फलेसी मूले तरुं छेत्तु तमेव इच्छसि।
तथूपमं चित्त इदं करोसि यं मं अनिच्चम्हि चले नियुञ्जसि॥११२१

२. सब्बत्थ ते चित्त वचो कतं मया बहूसु जातिसु न मे सि कोपितो। अज्झत्त-सम्भवो कतञ्ञुताय ते दुक्खे चिरं संसरितं तया कते॥ ११२६

३. तवेव हेतू असुरा भवामसे, त्वंमूलकं नेरयिका भवामसे। अथो तिरच्छान गतापि एकदा पेतत्तनं वापि तवेव वाहसा॥११२८

त्वञ्ञेव नो चित्त करोसि ब्राह्मणो त्वं खत्तिया वापि राजदिसो करोसि। वेस्सा च सुद्दा च भवाम एकदा, देवत्तनं वापि तवेव वाहसा॥११२७

४. धी धी परं किं मम चित्त काहसि न ते अलं चित्त वसानुवत्तको।११३४; .....नाहं अलं तुय्ह वसे निवत्तितुं॥ ११३२; मिलाइये तुलसीदास "मोहि मूढ़ मन बहुत बिगोयो.......याके लिये सुनहु करुनामय मैं जग जननि जनमि दुख रोयो........परबस जानि हँस्यो इन इन्द्रिन निज बस ह्वै न हँसैहौं।'

५. गाथा ११००। मिलाइये "तुलसीदास" कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो। ...परुष वचन अति दुसह स्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो। बिगतमान, सम सीतल मन........" विनय-पत्रिका।

अर्थात्—कब मैं अपने लिए प्रयुक्त दुर्वचनों को सुनकर उनके कारण दुःखी और उदासीन नहीं हूँगा, और इसी प्रकार अपनी प्रशंसा किये जाने पर उसके कारण प्रसन्न भी नहीं हूँगा—क्या कभी मेरे ऐसे दिन आयेंगे ? आदि, आदि।

अपने पुत्र भिक्षु को बुद्ध के साथ देखकर एक पिता भिक्षु (भारद्वाज) उसका अभिनन्दन करता है—

जैसे पर्वत-गुफा में दो सिंह एक दूसरे को देखकर नाद करें, उसी प्रकार दोनों ज्ञानी एक दूसरे का अभिनन्दन करते हुए कहते हैं—मार को सेना-सहित जीत कर हम दोनों वीरों ने संग्राम विजय किया है।[1]

अपने प्रव्रजित पुत्र (सानु) को एक विशेष प्रसंग में मूर्छित पड़ा देखकर माता विलाप करती है। पुत्र होश में आने पर उसे समझाता हुआ कहता है—माता ! मृत पुत्र के लिए माता रो सकती है, अथवा उस पुत्र के लिए भी जो जीवित होते हुए भी उसे दिखाई नहीं देता। माता ! मैं तो जीवित हूँ और तू मुझे सामने देख भी रहीं है। फिर माता ! मेरे लिए तू क्यों रो रही है ?

मतं वा अम्म रोदन्ति वो वा जीवं न दिस्सति।
जीवन्तं मं अम्म दिस्सन्ती कस्मा मं अम्म रोदसि ॥[2]

पर्वत-गुफाओं में ध्यान करते हुए अनेक भिक्षुकों के चित्र हमें 'थेरगाथा' में मिलते हैं। पांशुकूलधारी (गुदड़ीधारी) भिक्षु पर्वत-गुफा में सिंह के समान सुशोभित हैं—'सोभति पंसुकूलेन सीहो व गिरिगब्भरे।'[3] इसी प्रकार भिक्षु की अचल, ध्यानस्थ अवस्था का वर्णन करते हुए कहा गया है : जिस प्रकार सुदृढ़ पर्वत निश्चल और सुप्रतिष्ठित होता है, उसी प्रकार जिस भिक्षु का मोह नष्ट हो चुका है, वह अचल पर्वत के समान कम्पित नहीं होता।

यथापि पब्बतो सेलो अचलो सुपतिट्ठितो।
एवं मोहक्खया भिक्खु पब्बतो व न वेधति ॥[4]

---

१. नन्दन्ति एवं सप्पञ्ञा सीहा व गिरिगब्भरे।
वीरा विजितसंगामा जेत्वा मारं सवाहनं ॥ गाथा, १७७

२. गाथा ४४। पूरी कथा 'थेरगाथट्ठकथा' में, बल्कि उससे भी अच्छी तरह 'सारत्थप्पकासिनी' और 'धम्मपदट्ठकथा' में दी गयी है।

३. गाथा १०८१।

४. गाथा १०००

इस प्रकार भिक्षु जीवन के बाह्य और आन्तरिक रूप के अनेक चित्र हमें 'थेरगाथा' में मिलते हैं। उनके आन्तरिक अनुभवों और ध्यानी जीवन का पूरा परिचय हमें यहाँ मिलता है।

भिक्षुओं ने अपनी साधना में प्रकृति का कितना सहयोग लिया था, इसका भी पूरा दर्शन हमें 'थेरगाथा' में मिलता है। 'थेरगाथा' में इस प्रकार वन्य और पार्वत्य दृश्यों के तथा वर्षा और शरद् आदि ऋतुओं के जितने सुन्दर, संश्लिष्ट चित्र प्रसंगवश आ गये हैं, वे उसकी एक विभूति बन गये हैं। 'थेरगाथा' के प्रकृति-वर्णन की तुलना भारतीय साहित्य में केवल वाल्मीकि के इस विषय-सम्बन्धी वर्णनों में की जा सकती है, बल्कि उससे भी अतीत यहाँ कुछ है। उसकी उदात्तता, सरलता और सूक्ष्म निरीक्षण सब अद्वितीय हैं। विण्टरनित्ज ने 'थेरगाथा' के प्रकृति-वर्णनों को 'भारतीय गीति-काव्य के सच्चे रत्न' कहा है।[1] प्रस्तुत लेखक ने 'पालि साहित्य में 'प्रकृति-वर्णन' शीर्षक लेख में पालि साहित्य, विशेषतः 'थेरगाथा' में प्राप्त प्रकृति-वर्णन का विस्तृत विवेचन करते हुए भारतीय काव्य-साहित्य में उसके स्थान को निर्धारित किया है।[2] अन्य को भी कुछ कहा है। अतः यहाँ केवल संक्षेप में ही कुछ कहना उपयुक्त होगा।

भिक्षुओं का जीवन प्रकृति से गहरे रूप से सम्बद्ध था। गिरि-गुहा, नदी-तट, वन-प्रस्थ, पुआल-पुंज अथवा किसी छाई हुई या बिना छाई हुई ही[3] कुटिया में ध्यान करते हुए भिक्षुओं को वर्षा, शीत आदि ऋतुओं के परिवर्तन का और पृथ्वी और आकाश के अनेक रंगों और रूपों के परिवर्तन का साक्षात् अनुभव होता था। प्रकृति के अनेक रूपों की प्रतिक्रिया करके उनके चित्त पर

---

१. "The Real Gems of Indian Lyric Poetry", इण्डियन लिट-रेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १०६

२. देखिये, लेखक की पुस्तक "बोधि-वृक्ष की छाया में", पृष्ठ ८६-१०४ (सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली, १९६२ ई०)

३. अरण्य-कुटिकाओं में बहुत बार हम भगवान् और उनके भिक्षु-शिष्यों को विहार करते देखते हैं। ये कुटियाँ प्रायः छायी हुयी ही होती थीं। परन्तु एक बार जब वर्षा होने वाली थी, भगवान् मही (गंडक) नदी के तट पर खुली कुटिया (विवटा कुटि) में बैठे थे, एक रात वहीं वास करने की इच्छा करते हुए। देखिये, सुत्त-निपात, गाथा १९ (धनिय-सुत्त)।

कैसी होती है, इसके अनेक चित्र वे 'थेरगाथा' में हमारे लिए छोड़ गये हैं। उनमें से कुछ का अवलोकन करना यहाँ आवश्यक होगा।

मूसलाधार वर्षा हो रही है। ध्यानस्थ भिक्षु (सुभूति) अपनी कुटिया में बैठा है। हाँ, उसकी कुटिया छायी हुयी है। भिक्षु उद्गार करता है—

"बरसो देव ! यथासुख बरसो !
मेरी कुटिया छाई हुई है।
वह शान्त और सुखकारी है।
मेरा चित्त समाधि में दृढ़तापूर्वक लीन है।
(कामासक्ति से) विमुक्त हो चुका है।
निर्वाण के लिए उद्योग चल रहा है।
बरसो हे देव ! यथासुख बरसो।"[1]

एक दूसरे भिक्षु गिरिमानन्द ने इसी अनुभव को इनसे भी अधिक सुन्दर शब्दों में व्यक्त किया है—

"सुन्दर गीत के समान देव बरसता है।
मेरी कुटिया छाई हुई है !
वह शान्त और सुखकारी है !
उसमें शान्त-चित्त, ध्यानस्थ मैं बैठा हूँ।
बरसो हे देव ! जितनी तुम्हारी इच्छा हो बरसो !

. . . .

सुन्दर गीत के समान देव बरसता है !
मेरी कुटिया छाई हुई है !
वह शान्त और सुखकारी है !
उसमें शान्त-चित्त मैं ध्यान कर रहा हूँ !
वीत-राग ! वीत-द्वेष ! वीत-मोह !
बरसो हे देव ! जितनी तुम्हारी इच्छा हो बरसो ![2]

---

१. छन्ना में कुटिका सुखा निवाता वस्स देव यथासुखं।
चित्तं मे सुसमाहितं विमुत्तं आतापी विहरामि वस्स देवा' ति। गाथा १

२. वस्सति देवो यथा सुगीतं, छन्ना मे कुटिका सुखा निवाता।
तस्सं विहरामि वूपसन्तो, अथ चे पत्थयसि पवस्स देव।
वस्सति देवो यथा सुगीतं, छन्ना मे कुटिका सुखा निवाता।
वीतरागो······वीतदोसो····वीतमोहो···अथ चे
पत्थयसि पवस्स देवा' ति॥ गाथाएँ ३२५-३२९

"वस्सति देवो यथा सुगीतं" (सुन्दर गीत के समान देव बरसता है !) कैसी सुन्दर उपमा है ! प्राकृतिक सौन्दर्य का कैसा मनोज्ञ प्रत्यक्षीकरण है। झड़ी लगाकर बरसते हुए बादल के समान सुन्दर गीत की वर्षा के सौन्दर्य को भी देखने की क्षमता वीतराग भिक्षु में है। पर ध्यान का सुख तो इससे भी बड़ा है।

पञ्चङ्गिकेन तुरियेन न रति होति तादिसी।
यथा एकग्गचित्तस्स सम्मा धम्मं विपस्सती ॥[1]

"पञ्चविध तूर्यध्वनि (संगीत) से भी वैसा आनन्द प्राप्त नहीं होता, जैसा एकाग्रचित्त पुरुष का धर्म के सम्यक् दर्शन करने से उत्पन्न होता है।" अतः ध्यान का सुख ही भिक्षु के लिए सबसे बड़ा सुख है और प्राकृतिक सौन्दर्य उसके लिए इसी ध्यान का उद्दीपन बनता है।

अरण्य-विहार को पक्ष स्थविर निरीह भिक्षुओं का प्रकृत विहार ही मानते हैं। अरण्य में बनी अपनी कुटिया को पर्याप्त मानते हुए वे प्रसन्न उद्‌गार करते हैं, "अकेले हम अरण्य में विहार करते हैं, जैसे कि जंगल में फेंकी गयी लकड़ी" "एकका मयं अरञ्ञे विहराम अपविद्धं च वनस्मिं दारुकं।" (गाथा ६२)। कोसलविहारी थेर ने भी बड़े स्वाभाविक ढंग से कहा है, "श्रद्धा से मैंने प्रव्रज्या ली और अब अरण्य में मैंने अपने लिए कुटिया बनायी है।"—सद्धायाहं पब्बजितो अरञ्ञे मे कुटिका कता।" (गाथा ५९)। स्थविर लकुण्टक भद्दिय अम्बाटकाराम के परे वनखण्ड में बैठे ध्यान कर रहे हैं। "परे अम्बाटकारामे वनखण्डम्हि भद्दियो·····झियायति।" स्थविर सिंगालपिता ने भेसकालवन में ध्यान का अभ्यास किया है और इस प्रकार अपने को बुद्ध का उत्तराधिकारी माना है—"अहू बुद्धस्य दायादो भिक्खु मे सकलावने। (गाथा १८)। भिक्षु गोसाल एकान्तवास (विवेक) की वृद्धि करते हुए पहाड़ी मैदान में जाना चाहते हैं। "सानुं पटिगमिस्सामि विवेकमनु ब्रूहयन्।" (गाथा २३)। नई वर्षा से पर्वत सिक्त हो रहे हैं और उन पर वृक्ष लहरा रहे हैं, ऐसे वातावरण में एकान्तवास के इच्छुक अरण्यसंज्ञी भिक्षु उसभ ध्यानरत बैठे हैं। (गाथा ११०)।

सिरिवड्ढ नामक भिक्षु, जो अप्रतिम, तादृश (वैसे, तथागत) के पुत्र 'पुत्तो अप्पटिमस्स तादिनो' के रूप में अपना परिचय देते हैं, घनघोर वर्षा के बीच पर्वत-गह्वर में ध्यानस्थ बैठे हैं जब कि अचानक वैभार और पाण्डव पर्वतों

---

१. गाथा २९८, मिलाइये गाथा १०७१ भी।

के बीच में बिजली गिरती है। (गाथा ४१)। अंजनवनिय थेर साकेत के पास अंजन वन में कुटी बनाकर ध्यान करते हैं, अरण्यवासी भिक्षुओं में अग्र रेवत खदिरवनिय खदिर-वन में ध्यानरत रहते हैं और पता है अनुरुद्ध स्थविर ने क्या संकल्प कर रक्खा है ? अपने निर्वाण को समीप जानकर वे सोच रहे हैं कि "जीवन के क्षय होने पर मैं वज्जियों के वेलुव गाँईव में बाँसों के झुरमुट के नीचे, आस्रव-रहित होकर निर्वाण प्राप्त करूँगा।"—"वज्जीनं वेलुवगामे अहं जोवितसङ्ख्या। हेट्ठतो वेलुगुम्बस्मिं निब्बायिस्सं अनासवो।" (गाथा ९१९)। इन भावनाओं को और इस जीवन की रहनी को यदि दिव्य और लोकोत्तर न कहा जाय, तो क्या कहा जाय ? परन्तु अभी समाप्ति कहाँ ?

वर्षाकाल है। सुन्दर नीली ग्रीवा वाले, कलँगीधारी मोर अपने सुन्दर मुखों से बोल रहे हैं। कितनी मधुर है उनकी कूजन ! विस्तृत पृथ्वी चारों ओर हरियाली से भरी हुई है। सारी सृष्टि जल से व्याप्त है। आकाश में जल-पूरित कृष्ण मेघ छाये हुए हैं। ध्यान के लिए यह उपयुक्त अवसर है। भिक्षु को प्रसन्नता है कि उसका ध्यान अत्यन्त सुचारु रूप से चल रहा है। बुद्ध-शासन के अभ्यास में वह सुन्दर रूप से अप्रमादी है। यदि प्रकृति में उल्लास और उत्साह है, तो भिक्षु का मन भी सुन्दर है। उसे भी उत्साह होता है अत्यन्त पवित्र, कुशल दुर्दर्श, उत्तम, अच्युत पद (निर्वाण) का साक्षात्कार करने के लिए। वर्षाकालीन सौन्दर्य के बीच ध्यानस्थ भिक्षु (चूलक थेर) के इस पराक्रम को देखिये :

नन्दन्ति मोरा सुसिखा सुपेखुणा सुनीलगीवा सुमुखा सुगज्जिनो।
सुसद्दला चापि महा मही अयं सुव्यापितम्बु सुवलाहकं नभं ॥
सुकल्लरूपो सुमनस्स झायितं सुनिक्खमो साधु सुबुद्धसासने।
सुसुक्कसुक्कं निपुणं सुदुद्दसं फुसाहितं उत्तममच्चुतं पदं ॥[1]

छत के नीचे बैठे हुए, मित्र परिजनादि से घिरे हुए, सांसारिक मनुष्य के समान वर्षा का सौन्दर्य केवल दूर से अवलोकन करने की वस्तु भिक्षु के लिए नहीं थी। उसके लिए वर्षा अपने सम्पूर्ण आकर्षण और भय के साथ ही आती थी। उसके रौद्र रूप का भी वह उसी प्रकार प्रत्यक्ष अनुभव करता था जैसे उसके मधुर गीत के समान स्रवित होने का। अकेला ध्यानस्थ भिक्षु भयंकर गुफा में बैठा है। बादल बरस रहा है और आकाश गड़गड़ा रहा है। भयं-

---

१. गाथाएँ २११-२१२

कर मूसलाधार वर्षा और आकाश में निरन्तर बिजली की गड़गड़ाहट ! पर भिक्षु को भय कहाँ ? निर्भयता उसका स्वभाव है, उसकी 'धम्मता' है। अतः न भय उसे है, न स्तम्भ है और न रोमांच ! स्थविर सम्बुल कच्चान के अनुभव को उनके शब्दों में ही सुनिये—

देवो च वस्सति देवो च गळगळायति
एकको चाहं भेरवे बिले विहरामि।
तस्स मय्हं एककस्स भेरवे बिले विहरतो
नत्थि भयं वा छम्भितत्तं वा लोमहंसो वा ॥
धम्मता ममेसा यस्स मे एककस्स
भेरवे बिले विहरतो नत्थि भयं वा
छम्भितत्तं वा लोमहंसो वा ॥[1]

भिक्षुओं की वृत्ति वर्षाकालीन प्राकृतिक सौन्दर्य और विशेषतः ध्यान के लिए उसकी उपयुक्तता पर बहुत रमी है। सुन्दर ग्रीवा वाले मोरों का बोलना और एक-दूसरे को बुलाना भिक्षुओं के लिए ध्यान का निमन्त्रण है। शीत वायु में कलित विहार करते हुए मोर भिक्षु (चित्तक थेर) को ध्यान के लिए उद्बोधन करते हैं—

नीला सुगीवा मोरा कारंवियं अभिनदन्ति।
ते सीतवातकलिता सुत्तं झायं निबोधेन्ति ॥[2]

"नीले रंग के, सुन्दर ग्रीवा और शिखा वाले मोर कारवी-वन[3] में गाते हैं। शीतल वायु में प्रफुल्लित होकर मधुर गीत गाने वाले मोर सोये हुए भिक्षु को ध्यान के लिए जगाते हैं। इसी प्रकार सप्पक स्थविर का भी वर्षाकालीन सौन्दर्य से प्रेरणा प्राप्त कर अजकर्णी नदी (रापती की एक सहायक नदी) के समीप ध्यान करने का संकल्प कितना उदात्त है :

"जब स्वच्छ पांडुर पंख वाले बगुले काले मेघ से भयभीत होकर अपनी

---

१. गाथाएँ १८९-१९०; निर्भयता विहार के लिए देखिये स्थविर न्यग्रोध का उद्गार भी "नाहं भयस्स भायामि सत्था नो अमतस्स कोविदो। यत्थ भयं नावतिट्ठति तेन मग्गेन वजन्ति भिक्खवो ॥ गाथा २१

२. गाथा २२

३. इस नाम का वन, जहाँ कदाचित् "कारं" नाम के पेड़ सघनता से पाये जाते थे।

खोहों की खोज करते हुए उड़ते हैं। उस समय यह अजकर्णी नदी मुझे कितनी प्रिय लगती है!

जब स्वच्छ पांडुर पंख वाले बगुले काले मेघ से भयभीत होकर अपनी खोहों (गुफाओं) की खोज करते हुए उड़ते हैं,

और उनकी खोहें वर्षा के अन्धकार से ढँकी हुई हैं! वे उन्हें नहीं देख पाते। उस समय यह अजकर्णी नदी मुझे कितनी प्रिय लगती है।

इस नदी के दोनों किनारों पर, बड़ी गुफा के पीछे, जामुन के पेड़ सुशोभित हैं, यहाँ मेरा मन कैसे न रमेगा? साँपों के भय से विमुक्त मेढक मृदुल नाद कर रहे हैं।

आज गिरि और नदी से अलग होने का समय नहीं है।

यह नदी कितनी सुरम्य, शिव और क्षेमकारी है।"[1]

"नाज्ज गिरिनदीहि विप्पवाससमयो" (आज गिरि और नदी से अलग होने का समय नहीं है) इस उद्गार को, ऐसा लगता है, निर्भय मेढक और वह भिक्षु दोनो ही कर रहे हैं। कुछ भी हो, इस उद्गार में भिक्षु ने प्रकृति-प्रेम की उस पूरी निष्ठा को रख दिया है, जो आज तक विश्व-साहित्य में कहीं भी व्यक्त न हो सकी है।

प्राकृतिक सौन्दर्य के बीच एकान्त ध्यान करते हुए जो आनन्द प्राप्त होता है, उससे अधिक आनन्द और कुछ नहीं है, ऐसा साक्ष्य देते हुए एक स्थविर साधक (भूत) ने प्रभावशाली शब्दों में कहा है—

"जब आकाश में मेघों की दुन्दुभी बजती है और पक्षियों के मार्गों में चारों ओर धाराकुल बादल चक्कर लगाते हैं।

---

१. यदा बलाका सुचिपण्डरच्छदा कालस्स मेघस्स भयेन तज्जिता।
पलेहिति आलयमालयेसिनी तदा नदी अजकरणी रमेति मं।
यदा बलाका सुचिपण्डरच्छदा कालस्स मेघस्स भयेन तज्जिता।
परियेसति लेनमलेन दस्सिनी तदा नदी अजकरणी रमेति मं॥
कम् तत्थ न रमेन्ति जम्बुयो उभतो तहिं, सोभेन्ति आपगा
कूलं महालेनस्स पच्छतो॥
तामतमदसं घसुप्पहीना भेका मन्दवती पनादयन्ति
नाज्ज गिरिनदीहि विप्पवाससमयो,
खेमा अजकरणी सिवा सुरम्मति॥ गाथाएँ ३०७-३१०

उस समय भिक्षु झुके हुए पहाड़ पर जाकर ध्यान करता है—इससे बड़ा आनन्द और कुछ नहीं है।

जब नदी-तट के वृक्ष नाना रंग-बिरंगे-वन-पुष्पों से लदे हैं, जैसे कि वे मानो पुष्पमालाओं के शिरोभूषण को ही धारण कर रहे हैं, उस समय.... वहीं.....

किनारे पर बैठकर सुन्दर मन वाला भिक्षु ध्यान करता है—इससे बड़ा आनन्द और कुछ नहीं है।

जब एकान्त वन में, अर्द्ध रात्रि में, बादल गड़गड़ा रहे हैं और हाथी चिंघाड़ रहे हैं—

उस समय झुके हुए पर्वत पर बैठा हुआ भिक्षु ध्यान करता है—इससे बड़ा आनन्द और कुछ नहीं है।[1]

इसी परमानन्द को प्राप्त करने के लिए एक भिक्षु गिरिव्रज जाने को इच्छुक है।

> अहो! कब मैं बुद्ध द्वारा प्रशंसित वन को जाऊँगा!
> ....
> योगियों के लिए प्रसन्नताकारी, मत्त कुंजरों से सेवित,
> रमणीय, उस वन में मैं कब प्रवेश करूँगा!
> उस सुपुष्पित शीतवन (राजगृह के समीप श्मशान वन)
> में, गिरि और कन्दराओं में,
> अपने गात्र को सिंचित कर कब मैं अकेला चंक्रमण करूँगा।
> अकेला, बिना साथी के, उस रमणीय महावन में,
> एकान्त, शीतल, पुष्पों से आच्छादित पर्वत पर,

---

१. यदा नभे गज्जति मेघदुन्दुभि धाराकुला विहंगपथे समन्ततो।
भिक्खु च पब्भारगतो व झायति ततो रतिं परमतरं न विन्दति।
यदा नदीनं कुसुमाकुलानं विचित्तवानेय्यवटंसकानं।
तीरे निसिन्नो सुमनो व झायति ततो रतिं परमतरं न विन्दति॥
यदा निसीथे रहितम्हि कानने देवे गळन्तम्हि नदन्ति दाठिनो।
भिक्खु च पब्भारगतो व झायति ततो रतिं परमतरं न विन्दति॥
गाथाएँ ५२२-५२४

विमुक्ति-सुख से सुखी मैं गिरिव्रज में कब विचरण करूँगा![1]

एक दूसरे स्थविर (तालपुट) की भी इस इच्छा को देखिए—

कब मैं अकेला, बिना किसी साथी के, (गिरिव्रज) के पर्वत-कन्दराओं में ध्यान करता हुआ विचरूँगा! क्या कभी मेरे ऐसे दिन आयेंगे?[2]

कब मैं एकान्त वन में विदर्शना (विपश्यना) भावना या अभ्यास करता हुआ निर्भय विचरूँगा? क्या कभी मेरे ऐसे दिन आयेंगे?[3]

कब मैं एकान्त वन के उन मार्गों पर जिन पर ऋषि (बुद्ध) चले, चलूँगा और वर्षा काल के मेघ नये जल की वृष्टि चीवर पहने हुए मुझ पर करेंगे! क्या कभी मेरे ऐसे दिन आयेंगे?[4]

कब मैं वन और गिरि-गुहाओं में कलँगीधारी मयूर पक्षियों की मधुर ध्वनि को सुनकर अमृत की प्राप्ति के लिए आगरूक होकर ध्यान करूँगा! क्या कभी मेरे ऐसे दिन आयेंगे?[5]

उसे जंगल में भयंकर हिंस्र पशुओं से भी डर नहीं लगता। बल्कि इनके कारण ही तो उसे वन और भी अधिक प्रिय लगता है।

फिर अपने मन को सम्बोधन कर भिक्ष कहता है:

हे चित्त! उस गिरिव्रज में अनेक विचित्र और रंग-बिरंगे पंखधारी पक्षी हैं, सुन्दर नीली ग्रीवा वाले, सुन्दर शिखा वाले, सुन्दर चोंच वाले, सुन्दर पंखों वाले मोर हैं। मेघ के मंजुल घोष को सुनकर उसका अभिनन्दन करते

---

१. हन्द एको गमिस्सामि अरञ्ञं बुद्धवण्णितं। गाथा ५३८
योगिपीतिकरं रम्मं मत्तकुञ्जरसेवितं।५३९
सुपुप्फिते सीतवने सीतले गिरिकन्दरे।
गत्तानि परिसिञ्चित्वा चंकमिस्सामि एकको।।५४०
एकाकियो अदुतियो रमणीये महावने।५४१
विने कुसुमसञ्छन्ने पब्भारे नून सीतले।
विमुत्तिसुखेन सुखितो रमिस्सामि गिरिब्बजे।।५४५

२. कदा नु हं पब्बतकन्दरासु एकाकियो अदुतियो विहस्सं।....तं मे इदं तं नू कदा भविस्सति।१०९१

३. विपस्समानो वीतभयो विहस्सं एको वने तं नू कदा भविस्सति।।१०९३

४. कदा नु मं पावुसकालमेघो नवेन तोयेन सचीवरं मे। इसिप्पयातम्हि पथे वजन्तं ओवस्सते तं नु कदा भविस्सति।११०२

५. कदा मयूरस्स सिखण्डिनो वने दिजस्स सुत्वा गिरिगब्भरे रुतं। पच्चुट्ठहित्वा अमतस्स पट्टिया संचिन्तये तं नु कदा भविस्सति।।११०३।।

हुए वे नित्य ही मंजुल ध्वनि करते हैं। हे चित्त! जब तू ध्यानी होकर वहाँ विचरेगा, तो ये तुझे कितने प्रीतिकर होंगे![1]

नये वर्षाजल से सिक्त कानन में, किसी गुहा-गृह में ध्यान लगाते हुए[2]....मयूर और क्रौंच के रव से पूरित उस वन में, तेंदुओं और व्याघ्रों के सामने बसते हुए[3] हे चित्त! तुझ ध्यानी को वे कितने प्रीतिकर होंगे।[4]

एक दूसरे ध्यानी भिक्षु (महाकाश्यप) को भी वन और पर्वत कितने प्रिय हैं।

> "बरना के पेड़ों की पंक्तियों से विस्तीर्ण रूप से भरे, मनोरम भूमि-भाग वाले कुंजरों के अभिरुद्ध, रमणीय—पर्वत मुझे प्रिय हैं।
> नीले आकाश (या बादल) के समान वर्ण वाले, सुन्दर, शीतल जल से परिपूर्ण, पवित्रताकारी....
> हाथियों के शब्दों से परिपूर्ण—वे पर्वत मुझे प्रिय हैं!
> मुझ ध्यानेच्छु, आत्मसंयमी, स्मृतिमान् भिक्षु के लिए पर्याप्त,
> जिनकी रमणीय तलहटियों में अभी वर्षा होकर चुकी है,
> ऋषियों से सेवित, मोरों के शब्दों से सदा निनादित,
> वे पर्वत मुझे प्रिय हैं।
> जहाँ स्वच्छ जल है, विस्तृत शिलाएँ हैं,
> जो लंगूरों और मृगों से भरे हैं,
> जहाँ शैवाल से आच्छादित जलाशय है,
> वे पर्वत मुझे प्रिय हैं!
> अनेक पक्षि-समूहों से आकीर्ण—वे पर्वत मुझे प्रिय हैं।"[5]

---

१. सुनीलगीवा सुसिखा सुपेखुणा सुचित्तपत्तच्छदना विहंगमा। सुमञ्जुघोसत्थनिताभिगजिज्जनो ते तं रमिस्सन्ति वनम्हि झायिनं॥११३६

२. नवाम्बुना पावुससित्तकानने तहिं गुहागेहगतो रमिस्ससि ॥११३५

३. मयूरकोञ्चाभिरुदम्हि कानने दीपीहि व्यग्घेहि पुरक्खतो वसं ॥१११३

४. ते तं रमिस्सन्ति वनम्हि झायिनं ॥११३६

५. "करेरिमालावितता भूमिभागा मनोरमा। कुञ्जराभिरुद्धा ते सेला रमयन्ति मं॥ १०६२
नीलब्भवण्णा रुचिरा वारिसीता सुचिन्धरा ॥१०६३

शीतकाल का पूरा आनन्द लेते हुए भी ध्यानी भिक्षुओं को हम 'थेर-गाथा' में देखते हैं। 'चर्म-रोग से पीड़ित एक भिक्षु (मोघराज) से जब भगवान् पूछते हैं कि—

"हेमन्त की भयंकर शीत रातें आ रही हैं,
हे भद्रचित्त वाले भिक्षु ! तुम चर्म-रोग से पीड़ित हो। तुम कैसे करोगे ?"

तो वह तुम्हें उत्तर देता है—

"मैंने सुना है, सब मगध-निवासी लोग शस्यों की पूर्णता से सम्पन्न हैं। उनका जीवन सुखी है। मैं भी उनके समान सुख का अनुभव करता हूँ। शीत की वे रातें मैं इस पुआल-पुंज में लेटकर बिताऊँगा।"[1]

इसी प्रकार काल-उदायी ने 'चारों ओर मनोरम द्रुम फूले हुए हैं' (दुमानि फुल्लानि मनोरमानि—गाथा ५२८) आदि रूप से वसन्त ऋतु का वर्णन कर[2] 'कालो इतो पक्कमनाय वीर' (हे वीर ! यह यात्रा करने का

वारणाभिरुदा ते सेला रमयन्ति मं ॥१०६४
अलं झायितुकामस्स पहितत्तस्स मे सतो । १०६६
अभिवुट्ठा रम्मतला नगा इसिभि सेविता ।
अब्भुन्नदिता सिखीहि ते सेला रमयन्ति मं ॥१०६५
अच्छोदिका पुथुसिला गोनङ्गुलमिगायुता ।
अम्बुसेवालसञ्छन्ना ते सेला रमयन्ति मं ॥१०७०
मिलाइये गाथा ६०१ भी, जो बिलकुल यही है और स्थविर संकिच्च के द्वारा उच्चरित की गयी है।
"नानादिजगणाकिण्णा ते सेला रमयन्ति मं ॥ १०६९

१. "छविपापक चित्तभद्दक.....हेमन्तिक सीतकालरत्तियो भिक्खु त्वं सि कथं करिस्ससि ॥" "सम्पन्नसस्सा मगधा केवला इति मे सुतं । पलालच्छन्नको सेय्यं यथञ्ञे सुखजीविनो" । २०७-२०८

२. वसन्त ऋतु के सुन्दर वर्णन के लिए देखिये, थेरीगाथा गाथाएँ ३७१-३७२ भी।

समय है'), ऐसा बुद्ध से कहकर उनसे कपिलवस्तु चलने की प्रार्थना की थी, वह सब बुद्ध और उनके शिष्यों के प्रकृति-प्रेम का परिचायक ही है।

भगवान् ने मध्य रात्रि में उठकर बोधिपक्षीय धर्मों की भावना करने का आदेश दिया है। भिक्षु की रात्रि ध्यान करने के लिए है। एक भिक्षु (सोण पोटरियपुत्त) का कहना है—

"न ताव सुपितं होति रत्ति नक्खत्तमालिनी।
पटिजग्गितुमेवेसा रत्ति होति विजानता॥"[1]

यह ताराओं से भरी रात सोने के लिए नहीं है। ज्ञानी के लिए यह रात (रखवाली करने, निगरानी रखने, प्रत्यवेक्षण करने या स्मृतिपूर्वक जागकर ध्यान करने के लिए है।[2]

कपिलवस्तु के ब्राह्मण-कुल में जन्मे वनवच्छ स्थविर के वन-प्रेम का तो कहना ही क्या ? उनका जन्म वन में ही हुआ था। जब वे अपनी माता की कोख में आये, तभी उसकी इच्छा वन में जाकर रहने की हुई। उसे वन से ही रखा गया, जहाँ ही उसने पुत्र तो जन्म दिया, जो ही हमारे 'वनवच्छ'-'वनवत्स' स्थविर थे, अतिशय वनप्रेमी भिक्षु। उन्होंने कहा है—"नीलाभ्र वर्ण, सुन्दर, शीतल जलाशयों से युक्त, इन्द्रगोपों (इन्द्रवधू या वीरबहूटी नामक लाल कीड़ों, जो प्रथम वर्षा के बाद निकलते हैं) से सञ्छन्न जो पर्वत है, वे मुझे (बहुत) प्रिय हैं।"[3]

सीवक नामक भिक्षु अरण्यवासी थे। यदि कभी गाँव में भी रहते तो भी उनका मन अरण्य में ही रहता था और सोते हुए भी उनका मन वन को ही जाता था। "गामे में वसते कायो अरञ्ञं में गत्तो मनो। सेमानकोपि गच्छामि····।[4]

इस प्रकार हम देखते हैं कि विशेषतः वन्य और पार्वत्य प्रकृति भिक्षुओं की ध्यान-साधना के लिए एक बड़ी प्रेरणा थी, उनके जीवन का यह एक अनिवार्य अङ्ग ही था और स्वभावतः उसके अनेक सुन्दर संश्लिष्ट चित्र हमें

---

१. गाथा १९३
२. मिलाइये, "या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।"
—गीता २।६९
३. "नीलब्भवण्णा रुचिरा सीतवारी सुचिन्धरा। गोपइन्दकसञ्छन्ना ते सेला रमयन्ति मं।" गाथा १३
४. गाथा १४

'थेरगाथा' में मिलते हैं। वेस्सन्तर जातक (संख्या ५४७) में भी हमें हिमालय और उसके वनों के अनेक चित्र मिलते हैं। महर्षि वाल्मीकि को छोड़कर ऐसे संश्लिष्ट वर्णन किसी प्राचीन या अर्वाचीन भारतीय कवि ने नहीं किये हैं। जितना शम और विराग इन प्राकृतिक वर्णनों में 'थेरगाथा' में मिलता है, उतना अन्य किसी काव्य में नहीं मिलता। विश्व-साहित्य में प्रकृति का वर्णन अधिकतर कवियों ने राग के उद्दीपन की दृष्टि से ही किया है। वाल्मीकि के समान उदात्त वर्णन करने वाले कवि बहुत कम हैं। हिन्दी के कवियों ने प्रायः संस्कृति के उत्तरकालीन कवियों का अनुसरण कर प्रकृति को शृङ्गार रस के उद्दीपन के रूप में ही चित्रित किया है। आधुनिक कवि और साधकों को वाल्मीकि की ओर देखने के साथ-साथ रागशमनकारी 'थेरगाथा' के प्रकृति-वर्णनों की ओर भी देखना चाहिए।

'थेरीगाथा', जैसा अभी कहा गया, ५२२ पालि श्लोकों (गाथाओं) का संग्रह है, जिसमें ७३ (या सामूहिक रूप से रचना करने वाली भिक्षुणियों की अलग-अलग गिनती कर लगभग १००) बौद्ध भिक्षुणियों के उद्‌गार सन्निहित हैं। अत्यन्त संगीतात्मक भाषा में, आत्माभिव्यञ्जनात्मक गीतिकाव्य की शैली के आधार पर अपने जीवनानुभवों को व्यक्त करते हुए यहाँ बौद्ध भिक्षुओं ने अपने जीवन-काव्य को गाया है। नैतिक सच्चाई, भावनाओं की गहनता और सबसे बढ़कर एक अपराजित वैयक्तिक ध्वनि इन गीतों की मुख्य विशेषताएँ हैं। निर्वाण की परम शान्ति से भिक्षुणियों के उद्‌गारों का एक-एक शब्द उच्छ्वसित है। यहाँ संगीत भी है और जीवन का सच्चा दर्शन भी। निर्वाण की परम शान्ति का वर्णन करते हुए भिक्षुणियाँ कभी थकती नहीं। जीवन की विषमताओं पर वे अपनी विजय का ही गीत गाती हैं। "अहो! मैं कितनी सुखी हूँ!" यही उनके उद्‌गारों की प्रतिनिधि ध्वनि है। बार-बार उनका यही प्रसन्न उद्‌गार होता है—"सीतिभूतम्हि निब्बुता" अर्थात् निर्वाण को प्राप्त कर मैं परम शान्त हो गयी, निर्वाण की परम शान्ति का मैंने साक्षात्कार कर लिया। भिक्षुणियों की गाथाओं में निराशावाद का निराकरण है, साधना-लब्ध इन्द्रियातीत सुख का साक्ष्य है और नैतिक ध्येयवाद की प्रतिष्ठा है। बुद्ध-शासन की भावना से ओतप्रोत है, यह कहने की तो आवश्यकता ही नहीं। बुद्ध की शरण लेने के बाद एक नये जीवन—जीवन के एक नये रूपान्तर—की सर्वत्र सूचना भिक्षुणियों के उद्‌गारों में हमें मिलती है। 'थेरीगाथा' की भावना-शैली से परिचित होने के लिए महापजापती गोमती (महाप्रजापती गोतमी) की भगवान् बुद्ध के प्रति यह श्रद्धाञ्जलि देखिये—

हे बुद्ध ! हे वीर ! हे सर्वोत्तम प्राणी ! तुम्हें नमस्कार !
जिसने मुझे और अन्य बहुत से प्राणियों को दुःख से उबारा ।
मेरे सब दुःख दूर हो गये, मुझे पता चल गया कि दुःख कैसे आते हैं ।
उसके मूल कारण तृष्णा को मैंने अपने अन्दर सुखा डाला है ।
आज मैंने दु.खनिरोध-गामी आर्य अष्टांगिक मार्ग को स्पर्श किया है, उस में विचरण किया है ।
माता, पुत्र, पिता, भाई, स्वामिनी, मैं पूर्वजन्मों में अनेक बार बनती रही !
यथार्थ रूप में वस्तुओं को न जानती हुई मैं लगातार संसार में घूमती रहीं !
मुझे वह कभी नहीं मिला, जिसकी मुझे आवश्यकता थी । अब मैंने इस जन्म में उन भगवान् (बुद्ध) के दर्शन किये, मुझे अनुभव हुआ—यह मेरा अन्तिम शरीर है !
मेरा आवागमन क्षीण हो गया, अब मेरा फिर जन्म होना नहीं है ।

....

अहो ! बहुतों के हित के लिए ही महामाया ने गौतम को जना !
जिसने व्याधि और मरण से पीड़ित जन-समूह के दुःख-पुंज को काट दिया !

एक अन्य भिक्षुणी (चन्दा) अपने पूर्व के दुःखमय जीवन का प्रत्यवेक्षण करती हुई कहती है—

विधवा और निःसन्तान—मैं पहले बड़ी मुश्किल में पड़ी थी,
मित्र-साथी मेरे कोई नहीं थे, जाति-बन्धु मेरे कोई नहीं थे !
भोजन और वस्त्र भी मैं नहीं पाती थी !
लकड़ी और भिक्षापात्र लेकर घर से घर भिक्षा माँगती फिरती थी,
गर्मी और सर्दी से व्याकुल हुई, मैं सात वर्ष तक इसी प्रकार घूमती रही,
एक दिन एक भिक्षुणी के दर्शन मुझे हुए,
उसने आदरपूर्वक भोजन और जल देकर मुझे अनुगृहीत किया,
फिर मैंने उसके पास जाकर प्रार्थना की—..............
मैं प्रव्रज्या लूंगी ।
उस दयामयी पटाचारा ने मुझे अनुकम्पापूर्वक प्रव्रज्या दी ।
फिर मुझे धर्मोपदेश देकर उसने मुझे परमार्थ में लगाया ।
उसके उपदेश को सुनने के बाद मैंने उसके अनुशासन को पूरा किया ।
अहो ! अमोघ था देवी का उपदेश !

मैं आज तीनों विद्याओं को जाननेवाली हूँ, सम्पूर्ण चित्त-मलों से रहित हूँ ! पटाचारा भिक्षुणी की शिष्या तीस भिक्षुणियाँ जिस प्रकार उसके प्रति अपनी कृतज्ञता का भाव प्रदर्शित करती हैं यह उनके उद्‌गारों में देखिए—

"लोग मूसलों से अन्न कूट-कूट कर वित्तार्जन करते और अपने स्त्री-पुत्रादि का पालन करते हैं।

तो फिर तुम भी बुद्ध-शासन को पूरा क्यों नहीं करती,
जिसे करके पछताना नहीं होता !
अभी शीघ्र पैर धोकर एकान्त में ध्यान के लिए बैठ जाओ,
चित्त की समाधि से युक्त होकर बुद्ध-शासन को पूरा करो।"

"पटाचारा के शासन के इन-इन शब्दों को सुनकर हम सब पैर धोकर एकान्त में ध्यान के लिये बैठ गयी !

चित्त की समाधि से युक्त होकर हमने बुद्ध-शासन को पूरा किया ?
रात्रि के प्रथम याम में हमने पूर्वजन्मों का स्मरण किया !
रात्रि के मध्यम याम में हमने दिव्य चक्षुओं को विशोधित किया ! रात्रि के अन्तिम याम में अन्धकार-पुंज को विनष्ट कर दिया !" . . .

भिक्षुणी अम्बपाली ने अपनी वृद्धावस्था में अपने शरीर का प्रत्यवेक्षण कर जो उद्‌गार किये हैं, वे तो पालि-काव्य के सर्वोत्तम उदाहरण ही हैं। अम्बपाली अपने जीर्ण शरीर को देखकर कहती है—

"काले, भौंरे के रंग के समान, जिनके अग्रभाग घुंघराले हैं, ऐसे किसी समय मेरे बाल थे।

वही आज जरावस्था में जीर्ण सन या वल्कल वस्त्र के समान हो गये हैं, सत्यवादी (बुद्ध) के वचन कभी मिथ्या नहीं होते।

पुष्पों से गुंथा हुआ मेरा केशपाश कभी सुगन्ध से भरी मंजूषा की भाँति महकता था,

उसी में से आज जरावस्था के कारण खरहे के रोओं की-सी दुर्गन्ध आती है—सत्यवादी (बुद्ध) के वचन कभी मिथ्या नहीं होते।

. . . .

नवयौवन की अवस्था में वह मेरी सुकोमल, उन्नत और समरूप नासिका थी, वही आज जरावस्था में सूखी और पिचकी-सी हो गयी है। सत्यवादी (बुद्ध) के वचन कभी मिथ्या नहीं होते।

अच्छी प्रकार पालिश किये हुए, चिकने शंख के समान, किसी समय मेरी सुन्दर ग्रीवा थी,

वही आज जरावस्था में भग्न और विनमित है—सत्यवादी (बुद्ध) के वचन कभी मिथ्या नहीं होते।" आदि।

प्रायः सभी भिक्षुणियों के उद्गारों में काव्यगत विशेषताएँ भरी पड़ी हैं, जिनका विवेचन यहाँ नहीं किया जा सकता। निश्चय ही भिक्षुणियों के उद्गारों की मार्मिकता और उनकी शान्त, गम्भीर ध्वनि भारतीय साहित्य में अद्वितीय हैं और पालिकाव्य की तो वह अमूल्य सम्पत्ति ही है। जिन ७३ (या अलग-अलग गिनती करने पर लगभग १००) भिक्षुणियों के उद्गार 'थेरगाथा' में सन्निहित हैं, वे सभी बुद्धकालीन हैं। बल्कि यों कहना चाहिए, वे सभी भगवान् बुद्ध की शिष्याएँ हैं। थारी जाति के प्रति भगवान् की कितनी अनुकम्पा थी, यह इसी से समझा जा सकता है कि उनमें से अनेक अपने को 'बुद्ध की हृदय से उत्पन्न कन्या' '(ओरसा धीता बुद्धस्स)' कहकर अभिनन्दित करती थी।[1] वे मानती थीं कि 'जब चित्त सुसमाहित है, तो स्त्री-भाव इसमें हमारा क्या करेगा—"(इत्थिभावो नो किं कयिरा चित्तम्हि सुसमाहिते" (गाथा ६१)। फलतः निर्वाण-प्राप्ति में उनका अधिकार था और उसे प्राप्त भी उन्होंने किया था, जिसके साक्ष्य-स्वरूप उन्होंने अपने उद्गार भी किये हैं। महाराज शुद्धोदन की मृत्यु के उपरान्त भगवान् बुद्ध ने अपनी विमाता महापजापती गोतमी को भिक्षुणी होने की अनुमति दे दी थी। उसके साथ पाँच सौ अन्य शाक्य-महिलाएँ भी प्रव्रजित हुई थीं। कालान्तर में भिक्षुणियों का एक अलग संघ ही बन गया था। और नाना कुलों और नाना जीवन की अवस्थाओं से प्रव्रजित होकर उन्होंने शाक्य-मुनि के पादमूल में बैठकर साधना का मार्ग स्वीकार किया था। इन्हीं में से कुछ भिक्षुणियाँ अपने जीवनानुभवों को हमारे लिये छोड़ गयी हैं, जो 'थेरीगाथा' के रूप में आज हमें उपलब्ध हैं। किस उद्देश्य से, किन कारणों से, किस सामाजिक परिस्थिति में, प्रत्येक भिक्षुणी ने बुद्ध-धर्म और संघ की शरण ली थी, इसका विस्तृत विवरण तो 'थेरीगाथा' की अट्ठकथा 'परमत्थदीपनी' में उपलब्ध है, जो पाँचवीं शताब्दी ईसवी की रचना है। इसी के आधार पर यहाँ संक्षेप में यह दिखाया जा सकता है कि किन नाना कारणों से इन भिक्षुणियों ने घर छोड़कर प्रव्रज्या ली। इनमें से कुछ जैसे मुक्ता (२) और पूर्णा (३) अपनी ज्ञान-सम्पत्ति की पूर्णता के कारण प्रव्रजित हुईं। कुछ ने घर के काम-काज और दोषों से ऊबकर प्रव्रज्या ली, जैसे—मुक्ता (११), गुप्ता (५६) और शुभा (७०)। धम्मदिन्ना (१२) ने पति

---

१. देखिये, गाथाएँ ४६ एवं ३३६

की विरक्ति के कारण प्रव्रज्या ली। धम्मा (१७), मैत्रिका (२४), दन्तिका (३२), सिंहा (४०), सुजाता (५३), पूर्णिका (६५), रोहिणी (६७), शुभा (७१), चित्रा (२३), शुक्ला (३४), अम्बपाली (६६), अनोपमा (५४), तथा सोमा (३६) ने शास्ता में श्रद्धा के कारण प्रव्रज्या ली। प्रिय जनों की मृत्यु और उनके विरह के कारण प्रव्रज्या लेनेवाली भिक्षुणियों में श्यामा (२८), उर्विरी (३३), किसा गोतमी (६३), वासेट्ठी (५१), सुन्दरी नन्दा (४१), चन्दा (४६), पटाचारा (४७) तथा महापजापती गोतमी (५५) हैं। पुत्रों की अकृतज्ञता शोणा (४५) की प्रव्रज्य का कारण हुई। भद्रा कुण्डलकेशा (४६) और ऋषिदासी (७२) ने अकृतज्ञ, धूर्त पतियों के कारण प्रव्रज्या ली। पति का अनुसरण कर भद्रा कापिलायिनी (३७) और चापा (६८) प्रव्रजित हुईं। इसी प्रकार भाई (सारिपुत्र) का अनुसरण कर चाला, (५६) उपचाला (६०) और शीर्षोपचाला (६१) प्रव्रजित हो गयीं। बुद्ध-शिष्य को अपने रूप-सौन्दर्य से पराजित न कर सकने पर विमला (३९) प्रव्रजित हो गयीं। जहाँ तक इन भिक्षुणियों के वंश या सामाजिक कुल-शील आदि का सम्बन्ध है, ये प्रायः सभी परिस्थितियों की थीं। उदाहरणतः खेमा, सुमना, शैला और सुमेधा कोसल, मगध और आलवी के राजवंशों की महिलायें थीं। महापजापती गोतमी, तिष्या, अभिरूपा नन्दा, सुन्दरी नन्दा, जेन्ती, सिंहा, अभ्यतरा तिष्या, धीरा, मित्रा, भद्रा, उपशमा और अन्यतरा स्थविरी, शाक्य और लिच्छवि आदि सामन्तों की लड़कियां थीं। मैत्रिका, अन्यतरा, उत्तमा, चाला, उपचाला, शीर्षोपचाला, रोहिणी, सुन्दरी, शुभा, (७१), भद्रा कापिलायिनी, मुक्ता, नन्दा, संकुला, चन्दा, गुप्ता, दन्तिका और सोमा ब्राह्मण-वंश की थी। गृहपति और वैश्य (सेठ) वर्ग की महिलाओं में पूर्णा, चित्रा, श्यामा, उर्विरी, शुक्ला, धम्मदिन्ना, उत्तमा, भद्रा कुंडलकेशा, पटाचारा, सुजाता और अनोपमा थी। अड्ढकासी, अभय-माता, विमला और अम्बपाली जैसी गणिकाएँ थीं। इसी प्रकार शुभा (७०) सुनार की पुत्री और चापा एक बहेलिए की लड़की थी। पूर्णिका एक दासी की पुत्री थी। सारांश यह कि अनेक कुल-शीलों से स्त्रियों ने बुद्ध-शासन में दीक्षा ग्रहण की थी। 'थेरीगाथा' में सन्निहित इनके उद्‌गारों और उनमें प्रतिध्वनित इनकी पूर्व जीवनचर्याओं से पाँचवीं-छठी शताब्दी ईस्वी पूर्व के भारतीय समाज में नारी के स्थान पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। परन्तु 'थेरीगाथा' का मुख्य आकर्षण तो उसकी काव्य और साधना की भूमि ही है, जिसके विषय में पीछे काफी कहा जा चुका है।

हम देखते हैं कि प्राकृतिक वर्णन की ओर जितनी प्रवृत्ति भिक्षुओं की है,

उतनी भिक्षुणियों की नहीं। 'थेरीगाथा' में केवल सुभा भिक्षुणी की गाथाओं में वसन्त का वर्णन है। वह अत्यन्त सुन्दर, संश्लिष्ट और सूक्ष्म निरीक्षण पर आधारित है, पर उसका लक्ष्य वहाँ केवल पृष्ठभूमि को तैयार कर देना है। शुभा भिक्षुणी अपनी आँख को अश्रुजल-सिंचित जल बुद्बुद् मात्र कहती है। बाद में निर्विकार भाव से उसे निकालकर कामी पुरुष को दे देती है। इसके प्रभाव में तीव्रता लाने के लिए ही यहाँ पृष्ठभूमि के रूप में वसन्त का वर्णन किया गया है। वसन्त की शोभा काव्य का सत्य है, आँख का वर्णन विज्ञान का सत्य है। इन दो सत्यों को इतने सुन्दर ढंग से आमने-सामने रखकर काव्य में कभी वर्णन नहीं किया गया। भिक्षुणियों की प्रवृत्ति अपने आन्तरिक अनुभव के वर्णन के साथ-साथ अपने पूर्व आश्रम के जीवन की अवस्थाओं के वर्णन की ओर ही अधिक है। भिक्षुओं में तो सुनीत और जयन्त पुरोहित-पुत्र आदि कुछ-एक भिक्षुओं ने ही हमें अपने पूर्व जीवन से परिचित कराया है। बाह्य जीवन की अपेक्षा आन्तरिक अनुभव के प्रकाशन पर ही उनका ध्यान अधिक है और उस अनुभव में इतना साम्य है कि कहीं-कहीं न केवल भिक्षुओं के उद्गारों की भाषा ही समान है, बल्कि वे कई जगह विशिष्ट व्यक्ति या व्यक्तियों के प्रतिनिधि न होकर एक वर्ग (भिक्षु-वर्ग) के ही प्रतिनिधि जैसे हो गये हैं। इसके विपरीत भिक्षुणियों के उद्गारों में व्यक्तिगत विशिष्टता की पूरी ध्वनि विद्यमान है। उन्होंने अपने पारिवारिक और सामाजिक जीवन के विषय में हमें बहुत कुछ बतलाया है। अपने पूर्व जीवन के सुख-दुःख, हर्ष-विषाद, विषमताओं और कटुताओं आदि के बारे में भी उन्होंने बहुत कुछ कहा है। इस प्रकार अपने गृहस्थ-जीवन के झंझटों की ओर संकेत मुक्ता, गुप्ता और शुभा भिक्षुणियों ने किया है। उब्बिरी, किसा गोतमी और वाशिष्ठी भिक्षुणियों के वचनों में उनके सन्तान-वियोग की पूरी झलक है। सुन्दरी नन्दा और चन्दा ने पति आदि सम्बन्धियों की मृत्यु से प्रव्रज्या प्राप्त की, इसकी सूचना है। पटाचारा के शब्दों में उसके करुण जीवन की सारी गाथा छिपी हुई पड़ी है। भिक्षुणियों की अनेक गाथाएँ (११; २५-२६; ३५-३८; ६१; ७२-८१; ९१-१०१; १०७-१११; १५७-५८, और आदि-आदि) 'अहं' से ही आरम्भ होती हैं और उनकी आन्तरिक ध्वनि भी अपनी विशिष्टता लिये हुए है।

जहाँ तक विचार और काव्यगत सौन्दर्य का सम्बन्ध है, थेरगाथा और थेरीगाथा में अनेक समानताएँ हैं। जिस प्रकार भिक्षुओं ने अशुभ की भावना की है, उसी प्रकार भिक्षुणियों ने भी। "आज मेरी भव-रज्जु कट गयी।" "मेरे हृदय में बिंधा तीर निकल गया", "तृष्णा की लौ सदा के लिए बुझ

गयी !" "मैं सब मलों से विमुक्त हूँ", "अब मैं सर्वथा शान्त हूँ, निष्पाप हूँ" आदि भिक्षुणियों के उद्गार अपना गम्भीर और शान्त प्रभाव लिए हुए हैं और मानव-मन को पवित्रता की उच्च भूमि में ले जाते हैं। पटाचारा का यह उपदेश-वाक्य "बुद्ध-शासन को पूरा करो, जिसे करके पछताना नहीं होता। अभी शीघ्र पैर धोकर एकान्त (ध्यान) में बैठ जाओ" कितना प्रेरणादायक है ! भिक्षुणियों को जीवित विश्वास था कि वे निर्वाण का साक्षात्कार कर सकती हैं। स्त्री-भाव की अशक्तता दिखाई जाने पर एक भिक्षुणी (सोभा) आत्मविश्वास-पूर्वक कह उठती है "जब चित्त अच्छी प्रकार समाधि में स्थित है, जीवन नित्य ज्ञान में विद्यमान है, अन्तर्ज्ञानपूर्वक धर्म का सम्यक् दर्शन कर लिया गया है, तो स्त्री-भाव इसमें हमारा क्या करेगा ?" 'थेरीगाथा' में नाटकीय तत्त्व की कमी नहीं हैं और अनेक महत्त्वपूर्ण संवाद हैं। रोहिणी और उसके पिता का संवाद (२७१-२९०); सुन्दरी, उसकी माता और सारथी का संवाद (३१२-३३७); चापा और उसके पति का संवाद (२९१-३११); शैला और मार का संवाद, (५७-५९); चाला और मार का संवाद (१८२-१८८); शीर्षोपचाला और मार का संवाद (१९६-२०३); उत्पलवर्णा और मार का संवाद (२२४-२३५); वड्ढमाता और उसके पुत्र का संवाद (२०४-२१२) आदि नाटकीय गति से परिपूर्ण हैं। पनिहारिन के रूप में पूर्णा (पूर्णिका) ने अपने पूर्व जीवन का जो परिचय दिया है, वह अपनी करुणा लिए हुए है। अम्बपाली की गाथाओं में अनित्यता का चित्रण गीतिकाव्य के सम्पूर्ण सौन्दर्य के साथ हुआ है। सुन्दरी की गाथाओं (३१२-३३७) और शुभा की गाथाओं (३६६-३९९) को विण्टरनित्ज ने सुन्दर आख्यान-गीति कहा है। वास्तव में अम्बपाली से लेकर सुमेधा तक की अन्तिम सात भिक्षुणियों के उद्गार गीति-काव्य के सर्वोत्तम उदाहरण ही हैं। यूरोपीय विद्वानों के द्वारा चापा और सुन्दरी की गाथाएँ 'प्राचीनतम' भारतीय आख्यान-काव्य मानी गयी हैं"[1]

थेर और थेरीगाथाएं क्रमशः उन भिक्षु और भिक्षुणियों की रचनाएँ हैं जिनके नामों से वे सम्बन्धित हैं। जर्मन विद्वान् के० ई० न्यूमन ने (जिन्होंने

---

१. देखिए, 'साम्स ऑव दि सिस्टर्स' (श्रीमती रायस डेविड्स द्वारा किया गया 'थेरीगाथा' का अंग्रेजी अनुवाद), पृष्ठ इक्कीस-बाईस (भूमिका) (लन्दन, पुनर्मुद्रित, १९४८)। विण्टरनित्ज: इण्डियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १०८-१०९।

'थेरीगाथा' का जर्मन भाषा में पद्यानुवाद किया) उन पर एक मनुष्य के मन की छाप देखी है।[१] बौद्धधर्म की प्रभाव-समष्टि के कारण, जो स्वभावतः ही इन साधक और साधिकाओं के अनुभव-सिद्ध वचनों में होनी चाहिए, न्यूमन को यह भ्रम हो गया है। विण्टरनित्ज ने न्यूमन के मत से सहमति तो नहीं दिखायी, पर कुछ भिक्षुओं की रचनाओं में भिक्षुणियों की रचनाएँ और इसी प्रकार कुछ भिक्षुणियों की रचनाओं में भिक्षुओं की रचनाएँ सम्मिलित हो गयीं हैं, ऐसा उन्होंने माना है।[२] वस्तुतः बात यह है कि गाथाओं का संकलन विषय-क्रम से न होकर गाथाओं की संख्या के क्रम से है, जो कृत्रिम है। फिर संकलन में भी कहीं कुछ कमियाँ रह ही गयी हैं। स्थविरियों के साथ पुरुषों के संवाद भी थे 'थेरीगाथा' में कहीं-कहीं पाये जाते ही हैं। दोनों की कथा भी कहीं-कहीं मिलती दिखाई देती है। उदाहरणार्थ, थेरीगाथा (२०४-२१२) में वड्ढ की माता उसे ज्ञान-मार्ग पर लगाती है और वह उसके प्रति कृतज्ञता प्रकट करता है[१] तथा थेरगाथा (३३५-३३९) में भी वह उसे धन्यवाद देता है। जिस प्रकार तीन टेढ़ी वस्तुओं (हँसिया, हल और कुदाल) से मुक्ति पाकर भिक्षु (सुमङ्गल) प्रसन्न है,[४] उसी प्रकार ओखल से, मूसल से और अपने कुबड़े स्वामी से मुक्ति पाकर भिक्षुणी (मुक्ता) प्रसन्न है।[१] इसी प्रकार के वर्णनों से विण्टरनित्ज को गाथाओं के सम्मिलित होने का भ्रम हो गया है। गाथाओं के संकलन में भले ही कहीं कोई प्रभाव हो, पर थेर और थेरीगाथाओं को मूलतः उन भिक्षुणियों की रचनाएँ ही माना जा सकता है, जिनके नामों से वे सम्बन्धित हैं। 'थेरगाथा' के अतिरिक्त अन्य पालि सुत्तों में भी हम अनेक भिक्षुओं की वाणियों को पाते हैं। 'थेरापदान' भी उनसे संयुक्त हैं जिसके विषय में हम आगे कुछ कहेंगे। बल्कि बौद्ध संस्कृत साहित्य में भी जहाँ-तहाँ अनेक भिक्षुओं की वाणियाँ मिलती हैं। विशेषतः हम यहाँ मूल सर्वास्तिवादी विनय-ग्रन्थ 'भैषज्यवस्तु' का उल्लेख करना चाहेंगे, जिसके अन्दर 'स्थविर-

---

१. देखिये, विण्टरनित्ज, इण्डियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १०२, पद-संकेत १

२. इण्डियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १०१

३. सुमुत्तिको · · तीहि खुज्जकेहि · · असितासु मया नंगलासु मया खुद्द-कुद्दालासु मया। गाथा ४३ (थेरगाथा)

४. सुमुत्ता साधु मुत्तम्हि तीहि खुज्जेहि मुत्तिया। उदुक्खलेन मुसलेन पतिना खुज्जकेन च। गाथा ११ (थेरीगाथा)

गाथा' शीर्षक अंश खण्डित रूप में मिलता है। इस खण्डित 'स्थविर गाथा' में २४ भिक्षुओं की कर्म-प्लोतिका के व्याकरण (व्याख्याएँ) हैं अर्थात् यहाँ बुद्ध के २४ भिक्षु-शिष्यों ने अपनी-अपनी कर्म-गुदड़ी को खोला है, अपनी-अपनी पूर्व की करनी को कहा है और उससे प्राप्त होने वाले विपाकों को भी। इनके नाम हैं (१) महाकाश्यप, (२) शारिपुत्र, (३) कोलित स्थविर (महामौद्गल्यायन (४) शोभित, (५) सुमन, (६) कोटीविश (सोण कोलिविस), (७) वागील (वङ्गीश), (८) पिण्डोल भरद्वाज, (९) स्वागत (१०) नन्दिक, (११) यशस् (वाराणसी का कुलपुत्र), (१२) शैवल (सीवली), (१३) वकुल, (१४) स्थविर नामक स्थविर (स्थविर स्थविरनामा), (१५, १६, १७) उरुविल्व-नदी-गया काश्यपाः, (१८) यशस् (उपर्युक्त यशस् से पृथक् एक भिक्षु जो अपने एक पूर्वजन्म में परदारागामी (था), (१९) ज्योतिष्क, (२०) राष्ट्रपाल, (२१) स्वाति, (२२) जङ्घा काश्यप, (२३) चूडपन्थक और (२४) बहुश्रुत। इन सब चौबीस भिक्षुओं ने अपनी-अपनी पूर्व करनी का वर्णन किया है और दिखाया है कि किस-किस कृत कर्म के कारण क्या-क्या फल-विपाक पाया?

इस प्रकार अपनी कर्म-गुदड़ी को उन्होंने उघाड़ा है। पालि-'थेरगाथा' में हम भिक्षुओं को अपने इसी जीवन के अनुभवों को और आध्यात्मिक अनुभवों को वर्णन करते देखते हैं। इस प्रकार 'स्थविरगाथा' में खण्डित रूप में जिन २४ भिक्षुओं को कर्मप्लोतिका के वर्णन को हम पाते हैं, उसकी समता 'थेरापदान' में आये वर्णनों से अधिक है, बनिस्वत 'थेरगाथा' में वर्णित भिक्षुओं के अपने इसी जीवन के आध्यात्मिक अनुभवों के। संयुक्त-निकाय के भिक्खुनी-संयुत्त में इन दस भिक्षुणियों के उद्गार सन्निहित हैं, यथा आलविका, सोमा, किसी गोतमी, विजया, उत्पलवर्णा, चाला, उपचाला, शीर्षोपचाला, शैला और वज्रा। इसी प्रकार थेरी-अपादान में भी कई भिक्षुणियों की गाथाएँ प्राप्त हैं। इसमें सन्देह नहीं कि बौद्ध सन्त महिलाओं की ये परमार्थ-संक्षित वाणियाँ भारतीय गीति-काव्य, विशेषतः आध्यात्मिक गीतिकाव्य की अतुलनीय सम्पत्ति है, और जयदेव, चण्डीदास और मीराबाई यहाँ तक कि ऋग्वेद की गीतिपरक ऋचाओं से भी, अपना विशेष मानवीय सौन्दर्य और पीड़ा की गहनता और विविधता लिए हुए हैं। भारतीय साहित्य में इन भिक्षु-भिक्षुणियों की ज्ञानमय, निर्वेदमय, शयमय वाणियों का स्थान सब काल के लिए अक्षुण्ण है।

जातक[1]

जातक खुद्दक-निकाय का दसवाँ प्रसिद्ध ग्रन्थ है। जातक को वस्तुतः ग्रन्थ-न कहकर ग्रन्थ-समूह ही कहना अधिक उपयुक्त होगा। जैसा हम आगे देखेंगे,

---

१. भदन्त आनन्द कौसल्यायन ने जातक (जातकट्ठकथा) का हिन्दी में अनुवाद किया है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग से यह छह भागों में पूरा प्रकाशित हो चुका है। ईशानचन्द्र घोष का बँगला अनुवाद प्रसिद्ध है। अंग्रेजी में कॉवल के सम्पादकत्व में ६ जिल्दों में जातक का अनुवाद हो चुका है। सातवीं जिल्द में अनुक्रमणी है। कॉवल के अतिरिक्त चामर्स आदि अन्य चार विद्वानों ने इस अनुवाद-कार्य में भाग लिया है। जातक का यह सम्पूर्ण अंग्रेजी अनुवाद केम्ब्रिज से १८९५-१९१३ में प्रकाशित हुआ था। अब इसकी पुनरावृत्ति भी सन् १९५७ में लुज़ाक एण्ड कं० द्वारा हो चुकी है। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य विद्वानों ने जातक के कुछ अंशों का अनुवाद भी किया है। इसमें टी० डब्ल्यू० राय डेविड्स का, 'बुद्धिस्ट बर्थ स्टोरीज', जो सन् १८८० में लन्दन से प्रकाशित हुआ था, अति प्रसिद्ध है। इसमें जातक-संख्या १-४० अनुवादित हैं। सम्पूर्ण जातक का जर्मन अनुवाद भी हो चुका है—(लीपजिंग, १९०८)। फॉसवाल का रोमन लिपि में जातक (जातकट्ठकथा) का संस्करण एक महत्वपूर्ण और ऐतिहासिक कार्य है। यह ६ जिल्दों में है और सातवीं जिल्द में अनुक्रमणी है (लन्दन, १८७७-१८९७। सिआमी राजवंश की श्रद्धालु रानियों के द्वारा सन् १९२५ में १० जिल्दों में जातक का सिआमी लिपि में सुन्दर संस्करण प्रकाशित किया जा चुका है। सिंहली लिपि में साइमन हेवावितरणे विक्वेस्ट सीरीज में सन् १९५४ में मूल गाथा-मात्र संस्करण प्रकाशित हुआ है। इसी प्रकार जातक पालि का देवनागरी संस्करण, जो भिक्षु जगदीश काश्यप के प्रधान सम्पादकत्व में खुद्दक-निकाय पालि, जिल्द तीसरी, के दो भागों के रूप में श्री नालन्दा से निकला है, मूल गाथा-मात्र जातक है। जातक पालि, पठमो भागो, १९५९); जातक पालि, दुतियो भागो, १९५९। यह उल्लेखनीय है कि उपर्युक्त साइमन हेवावितरणे दातव्य निधि ग्रन्थमाला में में ही सिंहली अक्षरों में पूरी जातकट्ठकथा कई भागों में प्रकाशित है। सम्पादक हैं पण्डित विदुरपोल पियतिस्स नायक थेर। 'जातक' के अनेक बरमी संस्करण भी उपलब्ध हैं। अंग्रेजी में तथा अन्य अनेक यूरोपीय भाषाओं में तो 'जातक' पर प्रभूत विवेचनात्मक साहित्य भी लिखा गया है। इसके कतिपय

उसका कोई-कोई कथानक पूरे ग्रन्थ के रूप में है और कहीं-कहीं उसकी कहानियों का रूप संक्षिप्त महाकाव्य का सा है। 'जातक' शब्द का अर्थ है 'जात' अर्थात् जन्म-सम्बन्धी। 'जातक' भगवान् बुद्ध के पूर्वजन्म सम्बन्धी कथाएँ हैं। बुद्धत्व प्राप्त कर लेने की अवस्था से पूर्व भगवान् बुद्ध 'बोधिसत्व' कहलाते हैं। वे उस समय बुद्धत्व के लिए उम्मेदवार होते हैं और दान, शील, मैत्री, सत्य आदि दस परिमिताओं अथवा परिपूर्णताओं का अभ्यास करते हैं। भूत-दया के लिए वे अपने प्राणों का अनेक बार बलिदान करते हैं। इस प्रकार वे बुद्धत्व की योग्यता का सम्पादन करते हैं। 'बोधिसत्व' शब्द का अर्थ ही है बोधि के लिए उद्योगशील प्राणी (सत्व)। बोधि के लिए है सत्व (सार) जिसका, ऐसा अर्थ भी कुछ विद्वानों ने किया है।[1] आचार्य बुद्धघोष ने 'परमत्थजोतिका' (सुत्तनिपात की अट्ठकथा) की नालकसुत्त-वण्णना में 'बोधिसत्व' पद की व्याख्या करते हुए कहा है, "बोधिसत्तो'ति बुज्झनकसत्तो सम्मा सम्बोधिं गन्तुं अरहो सत्तो"ति। अर्थात् बोधिसत्त्व वह बुद्धिमान् प्राणी है जिसे आगे चलकर बोधि प्राप्त करनी है, जो सम्यक्

परिचय के लिए देखिये, विण्टरनित्ज : इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ११६, पद-संकेत ३, तथा एन्साइक्लोपीडिया ऑव रिलिजन एण्ड ईथिक्स, जिल्द सातवीं, पृष्ठ ४९१-४९४ में उन्हीं का जातक सम्बन्धी विवरण, रायस डेविड्स : बुद्धिस्ट इंडिया, पृष्ठ १८९; गायगर : पालि लिटरेचर एण्ड लैंग्वेज, पृष्ठ ३०, पद-संकेत २ एवं ३; लाहा : पालि लिटरेचर जिल्द पहली, पृष्ठ २७६-७७। बाद में प्रकाशित जिस साहित्य का यहाँ उल्लेख नहीं हो सका है, उसमें से केवल तीन रचनाओं का मैं यहाँ उल्लेख करूँगा—बी० सी० सेन का "स्टडीज इन दि बुद्धिस्ट जातकस्" शीर्षक निबन्ध, कलकत्ता विश्वविद्यालय के जर्नल ऑव दि डिपार्टमेण्ट ऑव लैटर्स, १९३०, में प्रकाशित। रतिलाल मेहता : प्री-बुद्धिस्ट इण्डिया, बम्बई १९३९। गोकुलदास दे : सिगनिफिकेन्स एण्ड इम्पोरटेंस ऑव जातकस्, कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९५१। इधर हिन्दी में भी एक पुस्तक "जातककालीन भारतीय संस्कृति" शीर्षक बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना से सन् १९५८ निकली है, जिसके लेखक हैं श्री मोहनलाल महतो 'वियोगी'। यह प्रकृत पालि अध्ययन का परिचय नहीं देती।

१. विण्टरनित्ज—इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ११३ पद-संकेत २।

सम्बोधि को प्राप्त करने के योग्य है। इसी से मिलता-जुलता 'बोधिसत्व' शब्द का अर्थ उन्होंने 'सुमङ्गलविलासिनी' (महापदानसुत्तवण्णना) और 'पपञ्चसूदनी' (भयभेरवसुत्तवण्णना) में भी किया है। पालि सुत्तों में हम अनेक बार भगवान् को बुद्ध होने से पूर्व के अपने जीवन का इस प्रकार निर्देश करते हुए देखते हैं—"सम्बोधि प्राप्त होने से पहले, बुद्ध न होने के समय, जब मैं बोधिसत्व ही था"[1] आदि। अतः बोधिसत्व से स्पष्ट तात्पर्य ज्ञान, सत्य, दया आदि मानवीय गुणों का अभ्यास करने वाले उस साधक से है, जिसका आगे चलकर बुद्ध होना निश्चित है। भगवान् बुद्ध भी न केवल अपने अन्तिम जन्म में बुद्धत्व प्राप्ति की अवस्था से पूर्व बोधिसत्व रहे थे, बल्कि अपने अनेक पूर्वजन्मों में भी बोधिसत्व की चर्या का उन्होंने पालन किया था। 'जातक' की कथाएँ भगवान् बुद्ध के इन विभिन्न पूर्वजन्मों से, जबकि वे 'बोधिसत्व' रहे थे, सम्बन्धित हैं। अधिकतर कहानियों में वे प्रधान पात्र के रूप में चित्रित हैं। कहानी के वे स्वयं नायक हैं। कहीं-कहीं उनका स्थान एक साधारण पात्र के रूप में गौण है और कहीं-कहीं वे एक दर्शक के रूप में भी चित्रित किये गये हैं। प्रायः प्रत्येक कहानी का आरम्भ इस प्रकार होता है—"एक समय राजा ब्रह्मदत्त के वाराणसी में राज्य करते समय (अतीते वाराणसियं ब्रह्मदत्ते रज्जं कारेन्ते") बोधिसत्व कुरंग मृग की योनि में उत्पन्न हुए"[2] अथवा"···सिन्धु पार के घोड़ों के कुल में उत्पन्न हुए"[3], अथवा"····बोधिसत्व उसके (ब्रह्मदत्त) के अमात्य थे।"[4] अथवा"·····बोधिसत्व गोह की योनि में उत्पन्न हुए"[5] आदि, आदि।

जातक की कहानियों में से कुछ का नामकरण तो जातक में आयी हुई गाथा के पहले शब्दों से हुआ है, यथा अपण्णक जातक, किसी का प्रधान पात्र के अनुसार, यथा बक जातक; किसी का वर्णित विषय के अनुसार, यथा वण्णुपथ जातक, किसी का उन जन्मों के अनुसार जो बोधिसत्व ने ग्रहण किये, यथा निग्रोध मिग जातक, मच्छ जातक, आदि।

---

१. भय-भेरव-सुत्त (मज्झिम १।१।४)
२. कुरुंगमिग जातक (२१)
३. भोजाजानीय जातक (२३)
४. अभिण्ह जातक (२७)
५. गोध जातक (३२५)

जातकों की निश्चित संख्या कितनी है, इसका निर्णय करना बड़ा कठिन है।[3] लंका, बरमा और स्याम में प्रचलित परम्परा के अनुसार जातक ५५० हैं। समन्तपासादिका की बाहिरनिदान-कथा में भी जातकों की संख्या इतनी ही बताई गयी है। अपण्णक जातकादीनि "पण्णासाधिकानि पञ्चसतानि जातकं तिवेदितब्बं।" अट्ठसालिनी की निदानकथा में भी अपण्णक जातकादीनि ("पण्णासाधिकानि पञ्चजातकसतानि जातकं ति विदितब्ब" कहा गया है। और यही बात 'सुमङ्गलविलासिनी' की निदानकथा में भी दुहरायी गई है और चौदहवीं शताब्दी ईसवी में श्रीलंका में लिखे गये प्रकरण-ग्रन्थ 'सद्धम्म-सङ्गह' में भी। परन्तु यह संख्या मोटे तौर पर ही निश्चित की गयी जान पड़ती है। जातक के वर्तमान रूप में ५४७ जातक कहानियाँ पाई जाती हैं। पर यह संख्या भी केवल ऊपरी है। कई कहानियाँ अल्प रूपान्तर के साथ दो जगह पाई जाती है, या एक दूसरे में समाविष्ट भी कर दी गयी हैं, और इसी प्रकार कई जातक-कथाएँ सुत्त-पिटक, विनय-पिटक, अट्ठकथाओं तथा अन्य पालि ग्रन्थों में तो पायी जाती हैं, किन्तु 'जातक' के वर्तमान रूप में संगृहीत नहीं हैं। अतः जातकों की संख्या में काफी कमी की भी और वृद्धि की सम्भावना है। उदाहरण, मुनिक जातक (३०) और सालूक जातक (२८६) की कथावस्तु एक सी ही है, किन्तु केवल भिन्न-भिन्न नामों से वह दो जगह आयी है। इसके विपरीत समान नाम वाले 'मुनिक जातक' नाम के दो जातक होते हुए भी उनकी कथा भिन्न-भिन्न है। यही हालत 'मच्छ जातक' नाम से दो जातक-कहानियों की है और 'महाकपि' जातक' शीर्षक वाली दो अन्य जातक-कथाओं की भी। कहीं-कहीं दो स्वतन्त्र जातकों को मिलाकर एक तीसरे जातक का निर्माण कर दिया गया है। उदाहरण के लिए, पञ्चपंडित जातक (५०८) और दकरक्खस जातक (५१७), ये दोनों जातक महा-सम्मग्ग-जातक (५४६) में अन्तर्भावित हैं। जो कथाएँ जातक-कथा के रूप में अन्यत्र पायी जाती हैं, किन्तु 'जातक' में संगृहीत नहीं हैं, उनका भी कुछ उल्लेख कर देना आवश्यक होगा। मज्झिम-निकाय का घटिकार-सुत्त या घटीकार-सुत्त (२/४/१) एक ऐसी ही जातक-कहानी है, जो 'जातक' में नहीं मिलती। यह लक्षणीय है कि बुद्ध के एक पूर्वजन्म की कथा के रूप में यह 'महावत्सु' में भी मिलती है। इसी प्रकार दीघ-निकाय का महागोविन्द-सुत्त (२।६) जो स्वयं 'जातकट्ठकथा' की निदान-कथा में भी 'महागोविन्द-जातक' के नाम से निर्दिष्ट हुआ है... और 'महावस्तु' में भी 'गोविन्दीयं भगवतो पूर्वेनिवाससंप्रयुक्तं सूत्रम्' के नाम से निहित है, पालि 'जातक' के अन्दर नहीं पाया जाता। इसी प्रकार 'धम्म-

पदट्ठकथा' और 'मिलिन्दपञ्ह' में भी कुछ ऐसी जातक-कथाएँ उद्धृत की गयी हैं, जो 'जातक' में संगृहीत नहीं हैं।[१] अतः कुल जातक निश्चित रूप से कितने हैं, इसका ठीक निर्णय नहीं हो सकता। जब हम जातकों की संख्या के सम्बन्ध में विचार करते हैं, तो 'जातक' से हमारा तात्पर्य एक विशेष शीर्षक वाली कहानी से होता है, जिसमें बोधिसत्व के जीवन सम्बन्धी किसी घटना का वर्णन हो, फिर चाहे उस एक 'जातक' में कितनी ही अवान्तर कथाएँ क्यों न गूँथ दी गयी हों। यदि कुल कहानियाँ गिनी जायँ तो 'जातक' में करीब तीन हजार कहानियाँ पायी जाती हैं।[२] वास्तव में जातकों का संकलन सुत्त-पिटक और विनय-पिटक के आधार पर किया गया है। सुत्त-पिटक में अनेक ऐसी कथाएँ हैं जिनका उपयोग वहाँ उपदेश देने के लिए किया गया है। किन्तु बोधिसत्व का उल्लेख उनमें नहीं है। यह काम बाद में करके प्रत्येक कहानी को जातक का रूप दे दिया गया है। तित्तिर जातक (३७) और दीघित कोसल जातक (३७१) का निर्माण इसी प्रकार विनय-पिटक के क्रमशः चुल्लवग्ग और महावग्ग से किया गया है। मणिकंठ जातक (२५३) भी विनय-पिटक पर ही आधारित है। इसी प्रकार दीघ-निकाय के कूटदन्त-सुत्त (१।५), महापदान-सुत्त (२।१) और महासुदस्सन-सुत्त (२।४) तथा मज्झिम-निकाय के मखादेव-सुत्त (२।४।३) और अंगुत्तर-निकाय के 'पचेतन-सुत्त (चक्कवत्ति-सुत्त) भी पूरे अर्थों में जातक हैं। बल्कि 'महापदान-सुत्त' को तो स्वयं विनय-पिटक के चुल्लवग्ग में पूर्ववर्ती जातक का एक उदाहरण ही माना गया है। कम-से-कम १३ जातकों की खोज विद्वानों ने सुत्त-पिटक और विनय-पिटक में की है।[३] यद्यपि राज-कथा, चोर-कथा एवं इसी प्रकार की भय, युद्ध, ग्राम, निगम, नगर, जनपद, स्त्री, पनघट, भूत-प्रेत आदि सम्बन्धी कथाओं को 'तरिश्चीन' (व्यर्थ की, अधम) कथाएँ कहकर भिक्षु-संघ में हेयता की दृष्टि से देखा जाता था[४], फिर भी उपदेश के लिए कथाओं का उपयोग

---

१. इनके लिये देखिये, विण्टरनित्ज—इण्डियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ११५, पद-संकेत ४

२. देखिये जातक (हिन्दी अनुवाद, प्रथम खंड, पृष्ठ २१ (वस्तुकथा)

३. विण्टरनित्ज—इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ११५, पद-संकेत २

४. ब्रह्मजाल-सुत्त (दीघ० १/१), सामञ्जफल-सुत्त (दीघ० १/२), विनय-पिटक-महावग्ग, आदि, आदि

भिक्षु लोग कुछ-न-कुछ मात्रा में करते ही थे। स्वयं भगवान् ने भी उपमाओं और दृष्टान्तों के द्वारा धर्म का उपदेश दिया है। बौद्ध संस्कृत ग्रन्थ 'सद्धर्म-पुण्डरीक-सूत्र के द्वितीय परिवर्त (उपायकौशल्य-परिवर्त) में भी कहा गया है कि बुद्ध अनेक दृष्टान्तों से (दृष्टान्तशतेहि) तथा जातक (पूर्वजन्म सम्बन्धी कथाओं) के द्वारा सब प्राणियों के कल्याणार्थ उपदेश करते हैं। बुद्ध के अलावा अन्य भारतीय सन्त भी, उपनिषदों के काल से लेकर रामकृष्ण परमहंस के समय तक, आख्यायिकाओं और दृष्टान्तों के सहारे धर्मोपदेश करते रहे हैं। इसी प्रवृत्ति के आधार पर जातक-कथाओं का विकास हुआ है। जन-समाज में प्रचलित कथाओं को भी कहीं-कहीं ले लिया गया है, किन्तु उन्हें एक नया नैतिक रूप दे दिया गया है, जो बौद्धधर्म की एक विशेषता है। अतः सभी जातक-कथाओं पर बौद्ध धर्म की पुरी छाप है। पूर्व परम्परा से चले आते हुए लोक-आख्यानों का आधार उनमें हो सकता है, पर उनका सम्पूर्ण ढाँचा बौद्ध धर्म के नैतिक आदर्श के अनुकूल है। हम पहले देख चुके हैं कि बुद्ध-वचनों का नौ अंगों में विभाजन, जिनमें जातक की संख्या सातवीं है, अत्यन्त प्राचीन है।[1] अतः जातक-कथाएँ सर्वांश में पालि-साहित्य के महत्त्वपूर्ण एवं आवश्यक अंग हैं। उनकी संख्या के विषय में अनिश्चितता विशेषतः उनके समय-समय पर सुत्त-पिटक और विनय-पिटक तथा अन्य स्रोतों से संकलन के कारण और स्वयं पालितिपिटक के नाना वर्गीकरणों और उनके परस्पर सम्मिश्रण के कारण उत्पन्न हुई है। चुल्ल-निद्देस में हमें केवल ५०० जातकों का ('पञ्च जातकसतानि') का उल्लेख मिलता है।[2] चीनी यात्री फाह्यान ने ने पाँचवीं शताब्दी ईसवी में ५०० जातकों के चित्र लंका में अंकित हुए देखे थे।[3] द्वितीय-तृतीय शताब्दी ईस्वी-पूर्व के भरहुत और साँची के स्तूपों में जातकों के चित्र अंकित मिले हैं, जिनमें से कम-से-कम २७ या २९ जातकों के चित्रों

---

१. देखिये, पीछे दूसरे अध्याय में पालि साहित्य के वर्गीकरण का विवेचन

२. पृष्ठ ८० (स्टीड द्वारा सम्पादित, पालि टैक्स्ट सोसायटी, १९१८)

३. लेगी : रिकार्ड ऑव बुद्धिस्ट किंग्डम्स, पृष्ठ १०६ (आक्सफर्ड (१८८५); गाइल्स : दि ट्रेविल्स ऑव फा-ह्यान पृष्ठ ७१ (रटलेज एण्ड केगन पाल, लन्दन द्वितीय आवृत्ति, १९५६)

की पहचान रायस डेविड्स ने की थी।[1] तब से कुछ अन्य जातक-कहानियों की पहचान भी इन स्तूपों की पाषाण-वेष्टनियों पर की जा चुकी है। ये सब तथ्य 'जातक' की प्राचीनता और उसके विकास के सूचक हैं।

स्थविरवादी पालि साहित्य के समान संस्कृत बौद्धधर्म के ग्रन्थों में भी जातक-कथाएँ पायी जाती हैं। पालि के नवांग बुद्ध-वचन की तरह यहाँ द्वादशांग धर्म-प्रवचन माने गये हैं (जिनका उल्लेख हम द्वितीय अध्याय में कर चुके हैं) इन दोनों की जगह जातक एक अंग या धर्म-प्रवचन के भाग के रूप में विद्यमान है। बौद्ध संस्कृत ग्रन्थ 'जातकमाला' में, जो 'बोधिसत्त्वावदान-माला' के नाम से भी प्रसिद्ध है और आर्यशूर की रचना बतायी जाती है, ३४ कथाएँ मिलती हैं, जिनमें से २८ 'जातक' से ली गयी हैं।[2] आर्यशूर को लामा

---

१. देखिये, उनकी बुद्धिस्ट इंडिया, पृष्ठ २०९।

२. इनका विवरण इस प्रकार है—

अट्ठाईस जातक-कथाएँ—	जातक माला में नाम	पालि जातक में नाम	
१.	शिवि जातक	सिवि जातक	(४९९)
२.	कुल्माषपिंडी जातक	कुम्भासपिण्ड जातक	(४१५)
३.	श्रेष्ठि जातक	खदिरङ्गार जातक	(४०)
४.	अविषह्य श्रेष्ठि जातक	विसय्ह जातक	(३४०)
५.	शश जातक	सस जातक	(३१६)
६.	अगस्त्य जातक	अकित्ति जातक	(४८०)
७.	विश्वन्तर जातक	वेस्सन्तर जातक	(५४७)
८.	शक्र जातक	कुलवक जातक	(३१)
९.	ब्राह्मण जातक	सीलवीमंसन जातक	(३०५)
१०.	उन्मादयन्ती जातक	उम्मदन्ती जातक	(५२७)
११.	सुपारग जातक	सुप्पारक जातक	(४६३)
१२.	मत्स्य जातक	मच्छ जातक	(७५)
१३.	वर्तकापोतक जातक	वट्टक पोतक जातक	(३५)
१४.	कुम्भ जातक	कुम्भ जातक	(५१२)
१५.	बिस जातक	भिस जातक	(४८८)
१६.	श्रेष्ठि जातक	कल्याणधम्म जातक	(१७१)
१७.	चुड्डबोधि जातक	चुल्लबोधि जातक	(४४३)
१८.	हंस जातक	हंस जातक	(५०२)

तारानाथ ने अश्वघोष का ही दूसरा नाम बताया है, परन्तु यह ठीक नहीं जान पड़ता। सम्भवतः वे चतुर्थ शताब्दी ईसवी के कवि थे। आर्य महासांघिकों के शाखाभूत लोकोत्तरवादियों के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'महावस्तु', में जो २०० ई० पूर्व से ४०० ई० तक के बीच के काल में लिखी गयी, करीब ८० जातक-कथाएँ मिलती हैं। इनमें से कुछ पालि जातक के समान हैं और कुछ ऐसी भी हैं जो पालि जातक में नहीं पाई जातीं।[1] 'राष्ट्रपाल-परिपृच्छा' नामक

१९.	महाबोधि जातक	महाबोधि जातक	(५२८)
२०.	महाकपि जातक	महाकपि जातक	(५१६)
२१.	शरभ जातक	सरभ जातक या सरभ-मिग-जातक	(४८३)
२२.	रुरु जातक	रुरु जातक	(४८२)
२३.	महाकपि जातक	महाकपि जातक	(४०७)
२४.	क्षान्ति जातक	खन्तिवादी जातक	(३१३)
२५.	सुतसोम जातक	महासुतसोम जातक	(५३७)
२६.	अयोगृह जातक	अयोघर जातक	(५१०)
२७.	महिष जातक	महिस जातक	(२७८)
२८.	शतपत्र जातक	नवसकुण जातक	(३०८)

'जातकमाला' की अवशेष छह जातक-कथाएँ, जो पालि-जातक में नहीं मिलतीं, इस प्रकार हैं—

(१) व्याघ्री-जातक, (२) मैत्रीबल जातक, (३) यज्ञ जातक, (४) अपुत्र जातक, (५) ब्रह्म जातक और (६) हस्ति जातक।

१. इन सबका विवरण देना यहाँ सम्भव नहीं है। परन्तु कुछ कहना आवश्यक है। 'महावस्तु' में बुद्ध-जीवनी के प्रसंग में अतीत-कथा के रूप में जहाँ-तहाँ अनेक जातक आये हैं और वे प्रायः बुद्ध-मुख से ही वर्णित हुए हैं। अनेक जातक बुद्ध के शिष्य-शिष्याओं के पूर्व जीवन से भी सम्बद्ध हैं। अकेले यशोधरा के प्रसंग में कई जातक हैं, जैसे मंजरी जातक, गोधा जातक, अमरा जातक, शिरि जातक, चम्पक जातक, श्यामा जातक, 'यशोधराये हारप्रदान जातक', 'यशोधराये व्याघीभूताये जातक' और किन्नरी जातक। इसी प्रकार अन्य अनेक प्रसंगों में जातक वर्णित हुए हैं। 'महावस्तु' का श्यामक जातक पालि के साम जातक (५४०) के प्रायः समान हैं। इसी प्रकार 'महावस्तु' में 'शकुन्तक जातक' शीर्षक दो जातक हैं, जिनमें प्रथम शकुन्तक जातक पालि के

सुविति महायान-सूत्र में भी ५० जातक कथाओं का उपदेश स्वयं बुद्ध ने दिया है।

रायस डेविड्स का कथन है कि जातक का संकलन और प्रणयन मध्य-देश में प्राचीन जन-कथाओं के आधार पर हुआ।[1] विण्टरनित्ज ने भी प्रायः इसी

'वट्टक जातक' (११८) के समान है और दूसरा 'शकुन्तक जातक' पालि के 'कक्कर जातक' (२०९) के समान है। इसी प्रकार मर्कट जातक सुंसुमार जातक (२०८); कुश जातक=कुस जातक (५३१); श्यामा जातक=कणवेर जातक (३१८); चम्पक जातक=चम्पेय्य जातक (५०६); अमरा जातक=सूचि जातक (३८७); गोधा जातक=गोध जातक (३३३)। 'महावस्तु' में, 'किन्नरी जातक' है। इनकी तुलना पालि जातक में किन्नरों सम्बन्धी अनेक कथाओं से की जा सकती है। पालि के 'नलिनिका जातक' (५२६) की तुलना 'महावस्तु' के 'नलिनीये राजकुमारिये जातक' से की जा सकती है। वास्तव में 'नलिनीये राजकुमारिये जातक' के नायक एक श्रृंग (एक सींग वाले ऋषि) पालि के नलिनिका जातक के इसिसिंग (ऋषिश्रृंग) ही हैं। इसी प्रकार पालि 'तेसकुण जातक' (५२१) को 'त्रिशकुनीयं जातक' से की जा सकती है। 'महावस्तु' के कई जातक बुद्ध-शिष्यों से भी सम्बद्ध हैं, जैसे कि 'अज्ञात काण्डिन्यस्य जातक', 'पञ्चकानां भद्रवर्गिकानां जातक', 'महाकाश्यपस्य वस्तु प्रव्रज्या सूत्र', 'यशोदा जातक' आदि। पालि जातक में अनेक कहानियाँ बुद्ध-शिष्यों की प्रशंसा को लेकर भी कही गयी हैं, परन्तु वे वहाँ गौण रूप में ही आयी हैं और मुख्य नायक बोधिसत्व ही है। 'महावस्तु' में कुछ ऐसी कथाएँ भी पायी जाती हैं, जो पालि 'जातक' में न पायी जाकर सुत्तन्तों में मिलती हैं। उदाहरणतः 'घटिकार' और 'ज्योतिपाल' की कथा जैसी कोई वस्तु हमें पालि 'जातक' में नहीं मिलती, परन्तु मज्झिम-निकाय के घटिकार-सुत्तन्त में वह मिलती है। 'महावस्तु और पालि जातक' की कई कहानियों के नामों में समानता है, परन्तु विषय में अधिक समानता नहीं है। उदाहरणतः पालि 'जातक' में 'गङ्गमाल जातक' (४२१) है जिनमें गङ्गमाल नामक 'मङ्गल नहापित' (मङ्गल नापित) की कथा है जो प्रत्येक बुद्ध के रूप में परिनिर्वाण प्राप्त करता है, परन्तु 'महावस्तु'[2] में 'गङ्गपाल जातक' है जिसमें उपालि के पूर्वजन्म की कथा है। इस प्रकार इस विषय का काफी विस्तार से तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है।

१. बुद्धिस्ट इंडिया, पृष्ठ १७२; २०७-२०८।

मत का प्रतिपादन किया है।[1] अधिकांश जातक बुद्धकालीन हैं। साँची और भरहुत के स्तूपों की पाषाण-वेष्टनियों पर उनके दृश्यों का अंकित होना उनके पूर्व-अशोक-कालीन होने का पर्याप्त साक्ष्य देता है। 'जातक' के काल और कर्तृत्व के सम्बन्ध में अधिक प्रकाश उसके साहित्यिक रूप और विशेषताओं के विवेचन से पड़ेगा।

प्रत्येक जातक-कथा पाँच भागों में विभक्त है, (१) पच्चुप्पन्नवत्थु, (२) अतीतवत्थु, (३) गाथा, (४) वेय्याकरण या अत्थवण्णना और (५) समोधान। पच्चुप्पन्नवत्थु का अर्थ है वर्तमान काल की घटना या कथा। बुद्ध के जीवन-काल में जो घटना घटी, वह पच्चुप्पन्नवत्थु है। उस घटना ने भगवान् को किसी पूर्व जन्म के वृत्त को कहने का अवसर दिया। यह पूर्व जन्म का वृत्त ही अतीतवत्थु है। प्रत्येक जातक का कथा की दृष्टि से सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण भाग यह अतीतवत्थु ही है। इसी के अनुकूल पच्चुप्पन्नवत्थु कहीं-कहीं गढ़ ली गयी प्रतीत होती है। अतीतवत्थु के बाद एक या अनेक गाथाएँ आती हैं। इनका सम्बन्ध वैसे तो अतीतवत्थु से ही होता है, किन्तु कहीं-कहीं पच्चुप्पन्नवत्थु से भी। गाथाएँ जातक के प्राचीनतम अंश हैं। वास्तव में गाथाएँ ही जातक हैं। पच्चुप्पन्नवत्थु आदि पाँच भागों से समन्वित जातक तो वास्तव में 'जातकट्ठ-वण्णना' या जातक की अर्थकथा है। गाथाओं के बाद प्रत्येक जातक में वेय्या-करण या अत्थवण्णना आती है। इसमें गाथाओं की व्याख्या और उनका शब्दार्थ होता है। सबसे अन्त में समोधान (समवधान) आता है, जिसमें अतीत-वत्थु के पात्रों का बुद्ध के जीवन-काल के पात्रों के साथ सम्बन्ध मिलाया जाता है, यथा "उस समय अटारी पर से शिकार खेलनेवाला शिकारी अब का देवदत्त था और कुरुंग मृग तो मैं था ही"[2] आदि, आदि।

हम देख चुके हैं कि जातक में बुद्ध के पूर्वजन्मों की कथाएँ संगृहीत हैं, जब कि उन्होंने बोधिसत्व के रूप में विभिन्न पारमिताएँ पूरी कीं और बुद्धत्व के लिए योग्यता सम्पादित की। सुत्त-पिटक के प्रथम चार निकायों में अक्सर बुद्ध के ऐतिहासिक रूप की ही प्रतिष्ठा है। बाद में जातक में (तथा बुद्धवंस और चरियापिटक में) हम उनके ऐतिहासिक जीवन को पूर्व की कथाओं से सम्बन्ध कर दिया पाते हैं। यह काम कब किया गया, यह निश्चित रूप से बताना कठिन है। जातकट्ठकथा की निदान-कथा में बुद्ध-जीवन के तीन

---

१. इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ११३-११४; १२१-१२३।
२. कुरुंगमिग जातक (२१)।

निदान बताये गये हैं; दूसरे निदान, अविदूरे निदान और सन्तिके निदान। दूरे निदान में अत्यन्त दूर अतीत की बुद्ध-जीवन की कथा है। ऐसा माना जाता है कि अत्यन्त सुदूर अतीत में बुद्ध सुमेध तपस्वी बनकर उत्पन्न हुए थे। उस समय उन्होंने दीपंकर बुद्ध में बड़ी निष्ठा दिखायी, जिसके परिणाम-स्वरूप उन्होंने उन्हें आगे चलकर बुद्ध होने का आशीर्वाद दिया। अनेक जन्मों तक विभिन्न शरीर धारण करते हुए सुमेध तपस्वी की साधना चलती रही। अन्त में वेस्सन्तर (विश्वन्तर) राजा के रूप में शरीर त्याग कर वे तुषित लोक में गये। सुमेध तपस्वी के रूप से लेकर तुषित लोक में जाने तक की बुद्ध की यह साधना-कथा 'दूरे निदान' के अन्तर्गत है। ५४७ जातक-कथाएँ—अपण्णक जातक से लेकर वेस्सन्तर जातक तक—बुद्ध-जीवनी के इस 'दूरे निदान' से ही सम्बन्धित हैं। इन कथाओं से यही तात्पर्य है इनमें वर्णित अतीत-वत्थु। इनका सम्बन्ध बुद्ध की जीवन-कथा के दूरे निदान से है अर्थात् ये बहुत दूर अतीत की कथाएँ हैं। लुम्बिनी-वन में जन्म लेने के समय से लेकर बोधि-प्राप्ति तक की कथा 'अविदूरे निदान' से सम्बन्धित है, अर्थात् वह इतने दूर अतीत की नहीं है। बोधि-प्राप्ति से लेकर निर्वाण-प्राप्ति तक की बुद्ध-जीवनी 'सन्तिके निदान' के अन्तर्गत है। अर्थात् वह समीप की है जातक की पच्चुप्पन्न-वत्थु में इसके कुछ अंश प्रस्तावना रूप में आते हैं। जैसा ऊपर कहा गया है, जातक की कहानियों में (अतीतवत्थु में) बुद्ध-जीवनी के दूरे निदान के अन्दर समाविष्ट उसके पूर्वजन्मों की कहानियाँ आती हैं। ऐतिहासिक बुद्ध के जीवन की किसी घटना का उल्लेख कर इन दूरे निदान की कथाओं के कहने के लिए अवकाश निकाल लिया गया है जो ही वास्तव में जातक का निर्माण करती हैं।

प्रत्येक जातक के पाँच अंगों के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जातक गद्य-पद्य मिश्रित रचनाएँ हैं। गाथा (पद्य) भाग जातक का प्रचीनतम भाग माना जाता है। त्रिपिटक के अन्तर्भूत इस गाथा-भाग को ही मानना अधिक उपयुक्त होगा। शेष सब अट्ठकथा है। परन्तु जातक-कथाओं की प्रकृति ऐसी है कि मूल को व्याख्या से अलग कर देने पर कुछ भी समझ में नहीं आ सकता। केवल गाथाएँ कहानी का निर्माण नहीं करतीं। उनके ऊपर जब वर्तमान और अतीत की घटनाओं का ढाँचा चढ़ाया जाता है, तभी कथावस्तु का निर्माण होता है। अतः पूरे जातक में उपर्युक्त पाँच अवयवों का होना आवश्यक है, जिसमें गाथा-भाग को छोड़कर शेष सब उसकी व्याख्या है, बाद का जोड़ा हुआ है। फिर भी सुविधा के लिए, और ऐतिहासिक दृष्टि से गलत

ढंग पर, हम उस सबको 'जातक' कह देते हैं। वास्तव में ५४७ जातक-कथाओं के संग्रह को, जो उपर्युक्त पाँच अंगों से समन्वित है, हमें 'जातक' न कहकर 'जातकट्ठवण्णना' (या जातकत्थणण्णना'—जातक के अर्थ की व्याख्या) या 'जातकट्ठकथा' ही कहना चाहिये। फॉसबाल और कॉवल ने जिसका क्रमशः रोमन लिपि में और अंग्रेजी में सम्पादन और अनुवाद किया है, या हिन्दी में भदन्त आनन्द कौसल्यायन ने 'जातक' शीर्षक से ६ भागों में अनुवाद किया है, वास्तव में 'जातक' न होकर जातक की व्याख्या है। जैसा अभी कहा गया, जातक तो मूल रूप में केवल गाथाएँ हैं, शेष भाग उसकी व्याख्या है।

तो फिर गाथा और जातक के शेष भाग का कालक्रम आदि की दृष्टि से क्या पारस्परिक सम्बन्ध है, यह प्रश्न सामने आता है। अट्ठकथा में गाथा-भाग को 'अभिसम्बुद्ध गाथा' या भगवान् बुद्ध द्वारा भाषित गाथाएँ कहा गया है। वे बुद्ध-वचन हैं। अतः वे त्रिपिटक के अंगभूत थीं और उनको वहाँ से संकलित कर उनके ऊपर कथाओं का ढाँचा प्रस्तुत किया गया है। सम्पूर्ण 'जातक' ग्रन्थ की विषयवस्तु का जिस आधार पर वर्गीकरण हुआ है, उससे भी यही स्पष्ट है कि गाथा-भाग, या जिसे विण्टरनित्ज आदि विद्वानों ने 'गाथा-जातक' कहा है,[1] वही उसका मूलाधार है। 'जातक' ग्रन्थ का वर्गीकरण विषयवस्तु के आधार पर न होकर गाथाओं की संख्या के आधार पर हुआ है। थेर-थेरी गाथाओं के समान वह भी निपातों में विभक्त है। 'जातक' में २२ निपात हैं। पहले निपात में १५० ऐसी गाथाएँ हैं, जिनमें एक ही गाथा पायी जाती हैं। दूसरे निपात में भी १५० जातक-कथाएँ हैं, किन्तु यहाँ प्रत्येक कथा में दो-दो गाथाएँ पायी जाती हैं। इसी प्रकार तीसरे और चौथे निपात में पचास-पचास कथाएँ हैं और गाथाओं की संख्या क्रमशः तीन-तीन और चार-चार हैं। आगे भी तेरहवें निपात तक प्रायः यही क्रम चलता है। चौदहवें निपात का नाम 'पाकिण्णक निपात' है। इस निपात में गाथाओं की संख्या नियनानुसार १४ न होकर विविध है। इसीलिए इसका नाम 'पकिण्णक' (प्रकीर्णक) रख दिया गया है। इस निपात में कुछ कथाओं में १० गाथाएँ भी पायी जाती हैं और कुछ में ४७ तक भी। आगे के निपातों में गाथाओं की संख्या निरन्तर बढ़ती गयी है। पन्द्रहवें निपात का शीर्षक है 'बीस निपात', सोलहवें का 'तिंस निपात', सत्रहवें का 'चत्तालीस निपात', अठारहवें का 'पण्णास निपात', उन्नी-

---

१. इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ११८-११९।

सवें का 'सट्ठि निपात', बीसवें का 'सत्तति निपात' और इक्कीसवें का 'असीति निपात'। बाईसवें निपात में केवल दस (५३८-५४७) जातक-कथाएँ हैं, किन्तु प्रत्येक में गाथाओं की संख्या सौ से भी ऊपर है। अन्तिम जातक (वेस्सन्तर जातक) में तो गाथाओं की संख्या सात सौ से भी ऊपर है। इस सब से यह निष्कर्ष आसानी से निकल सकता है कि जातक-कथाओं की आधार गाथाएँ ही हैं। स्वयं अनेक जातक कथाओं के 'वेय्याकरण' भाग में 'पालि' और 'अट्ठकथा' के बीच भेद दिखाया गया है, जैसे कि पालि सुत्तों की अन्य अनेक अट्ठकथाओं तथा 'विसुद्धिमग्गो' आदि ग्रन्थों में भी।[1] जहाँ तक 'जातक' के वेय्याकरण भाग से सम्बन्ध है, वहाँ पालि का अर्थ तिपिटक-गत गाथा ही हो सकता है। भाषा के साक्ष्य से भी गाथा-भाग अधिक प्राचीनता का द्योतक है, अपेक्षाकृत गद्य भाग के। फिर भी, जैसा विण्टरनित्ज ने कहा है कि जातक की सम्पूर्ण गाथाओं को तिपिटक का मूल अंश नहीं माना जा सकता। उनमें भी पूर्वापर भेद है। स्वयं 'जातक' के वर्गीकरण से ही यह स्पष्ट है। जैसा ऊपर दिखाया जा चुका है, चौदहवें निपात (पकिण्णक निपात) में प्रत्येक जातक-कथा की गाथाओं की संख्या नियमानुसार १४ न होकर कहीं-कहीं बहुत अधिक है। इसी प्रकार बीसवें निपात (सत्तति निपात) में उसकी दो जातक-कथाओं की संख्या सत्तर-सत्तर न होकर क्रमशः ९२ और ९३ है। इस सबसे यह निष्कर्ष निकाला गया है कि जातक की गाथाओं अथवा 'गाथा-जातक' की मूल संख्या निपात के शीर्षक की संख्या के अनुकूल ही रही होगी, और बाद में उसका संवर्द्धन किया गया है।[2] अतः कुछ गाथाएँ अधिक प्राचीन हैं और कुछ अपेक्षाकृत कम प्राचीन। इसी प्रकार गद्य-भाग भी कुछ अत्यन्त प्राचीनता के लक्षण लिए हुए हैं और कुछ अपेक्षाकृत अर्वाचीन है। किसी-किसी जातक में गद्य और गाथा-भाग में साम्य भी नहीं दिखायी पड़ता और कहीं-कहीं शैली में भी बड़ी विभिन्नता है, इस सबसे जातक के संकलनात्मक रूप और उसके भाषा-रूप की विविधता पर प्रकाश पड़ता है, जिसमें कई रचयिताओं या संकलनकर्त्ताओं और कई शताब्दियों का योग रहा है।

जातक की गाथाओं की प्राचीनता तो निर्विवाद है ही, उसका अधिकांश गद्य-भाग भी अत्यन्त प्राचीन है। भरहुत और साँची (मध्य प्रदेश) के स्तूपों की पाषाण वेष्टनियों पर जो चित्र अंकित है, वे 'जातक' के गद्य भाग से ही

---

१. देखिए, पहले अध्याय में 'पालि-शब्दार्थ-निर्णय' सम्बन्धी विवेचन।

२. विण्टरनित्ज : इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ११९।

सम्बन्धित हैं। अतः 'जातक' का अधिकांश गद्य-भाग जो प्राचीन है, तृतीय-द्वितीय शताब्दी ईसवी-पूर्व में इतना लोकप्रिय तो होना ही चाहिए कि उसे शिल्प-कला का आधार बनाया जा सके। अतः सामान्यतः हम 'जातक' को बुद्धकालीन भारतीय समाज और संस्कृति का प्रतीक मान सकते हैं। हाँ, उसमें कुछ लक्षण और अवस्थाओं के चित्रण प्राग्-बुद्धकालीन भारत के भी हैं। और कुछ बुद्ध के काल के बाद के भी। जहाँ तक गाथाओं की व्याख्या और उनके शब्दार्थ का सम्बन्ध है, वह सम्भवतः जातक का सबसे अधिक अर्वाचीन अंश है। इस अंश के लेखक आचार्य बुद्धघोष माने जाते हैं। 'गन्धवंस' के अनुसार आचार्य बुद्धघोष ने ही 'जातकट्ठवण्णना' की रचना की।[1] किन्तु यह संदिग्ध है। भाषा-शैली की भिन्नता दिखाते हुए और कुछ अन्य निषेधात्मक कारण देते हुए डॉ० टी० डब्ल्यू० रायस डेविड्स ने बुद्धघोष को 'जातकट्ठवण्णना' का रचयिता या संकलनकर्ता नहीं माना है।[2] स्वयं जातकट्ठकथा के उपोद्घात में लेखक ने अपना परिचय देते हुए कहा है—"शान्तचित्त पंडित बुद्धमित्त और महिशासक वंश में उत्पन्न, शास्त्रज्ञ, शुद्धबुद्धि भिक्षु बुद्धदेव के कहने से . . . व्याख्या करूँगा।"[3] महिशासक सम्प्रदाय महाविहार की परम्परा से भिन्न एक बौद्ध सम्प्रदाय था। बुद्धघोष ने जितनी अट्ठकथाएँ लिखी हैं, शुद्ध महाविहारवासी भिक्षुओं की उपदेश-विधि पर आधारित ('महाविहारवासीन देसनानयनिस्सितं"—विसुद्धिमग्गो) हैं। अतः जातकट्ठकथा के लेखक को आचार्य बुद्धघोष से मिलाना ठीक नहीं। सम्भवतः यह कोई अन्य सिंहली भिक्षु थे, जिनका काल पाँचवीं शताब्दी ईसवी माना जा सकता है। जातक-कथाएँ, जैसा पहले कहा जा चुका है, भगवान् बुद्ध के पूर्व-जन्मों से सम्बन्धित है। बोधिसत्व की चर्चाओं का उनमें वर्णन है। अतः वे सभी प्रायः उपदेशात्मक है। परन्तु उनका साहित्यिक रूप भी निखरा हुआ है। उपदेशात्मक होते हुए भी वे पूरे अर्थों में कलात्मक हैं। कुछ जातक-कथाओं का सारांश देकर यहाँ उनकी विषयवस्तु के रूप को स्पष्ट कर देना आवश्यक होगा। 'जातक' के

---

१. पृष्ठ ५९ (जर्नल ऑव पालि टेक्स्ट सोसायटी, १८८६, में प्रकाशित संस्करण)।

२. बुद्धिस्ट बर्थ स्टोरीज, पृष्ठ ५९-६० (भूमिका, श्रीमती रायस डेविड्स द्वारा सम्पादित संस्करण)।

३. जातक, प्रथम खण्ड, पृष्ठ १-२ (भदन्त आनन्द कौसल्यायन का अनुवाद) देखिये, वही पृष्ठ २३ (वस्तुकथा) भी।

आदि में निदान-कथा (उपोद्घात) है, जिसमें भगवान् बुद्ध के पहले २४ बुद्धों के विवरण के साथ-साथ भगवान् गौतम बुद्ध की जीवनी जेतवनविहार के दान की स्वीकृति तक कर दी गयी है। अब कुछ जातकों की कथा का दिग्दर्शन करें। अपण्णक जातक (१)—व्यापार के लिए जाते हुए दो बनजारों की कथा है। एक दैत्यों के हाथ मारा गया, दूसरा बुद्धिमान् होने के कारण अपने पाँच सौ साथियों सहित सकुशल घर लौट आया। मखादेव जातक (९)—सिर के सफेद बाल देखकर राजा सिंहासन छोड़कर वन चला गया। कण्डिन जातक (कण्डि जातक भी) (१३)—कामुकता के कारण एक मृग शिकारी के हाथों मारा गया। सम्मोदमान जातक (३३)—एकमत बटेरों का चिड़ीमार कुछ न बिगाड़ सका, परन्तु जब उनमें फूट पड़ गई तो सभी चिड़ीमार के जाल में फँस गये। तित्तिर जातक (३७)—बन्दर, हाथी और तित्तिर ने आपस में विचार कर निश्चय किया कि जो ज्येष्ठ हो उसका आदर करना चाहिए। बक जातक (३८)—बगुले ने मछलियों को धोखा दे-देकर एक-एक को ले जाकर मार खाया। अन्त में वह एक केकड़े के हाथ से मारा गया। कण्ह जातक (२९)—एक बैल ने अपनी बुढ़िया माँ को, जिसने उसे पाला था, मजदूरी से कमा कर एक हजार कार्षापण ला कर दिये। वेळूक जातक (४३)—तपस्वी ने साँप के बच्चे को पाला, जिसने उसे डस कर मार डाला। रोहिणी जातक (४५)—रोहिणी नामक दासी ने अपनी माता के सिर की मक्खियाँ हटाने के लिये जाकर माता को मार डाला। वानरिन्द जातक (५७)—मगरमच्छ अपनी स्त्री के कहने से वानर का हृदय चाहता था। वानर अपनी चतुरता से बच निकला। कुद्दाल जातक (७०)—कुद्दाल पंडित कुद्दाल के मोह में पड़कर छह बार गृहस्थ और प्रव्रजित हुआ। सीलवनागराज जातक (७२)—वन में रास्ता भूले हुए एक आदमी की हाथी ने जान बचायी। खरस्सर जातक (७९)—गाँव का मुखिया चोरों से मिलकर गाँव लुटवाता था। नामसिद्धि जातक (९७)—'पापक' नामक विद्यार्थी एक अच्छे नाम की तलाश में बहुत घूमा। अन्त में यह समझ कर कि नाम केवल बुलाने के लिये होता है, वह लौट आया। अकालरावी जातक (११९)—असमय शोर मचाने वाला मुर्गा विद्यार्थियों द्वारा मार डाला गया। बिळारवत जातक (१२८)—गीदड़ धर्म का ढोंग कर चूहों को खाता था। गोध-जातक (१४१)—गोह की गिरगिट के साथ मित्रता उनके कुल-विनाश का कारण हुई। विरोचन जातक (१४३)—गीदड़ ने शेर की नकल करके पराक्रम दिखाना चाहा। हाथी ने उसे पाँव से रौंद कर उस पर लीद कर दी। गुण जातक (१५७)—दलदल में फँसे सिंह को सियार ने

बाहर निकाला। मक्कट जातक (१७३)—बन्दर तपस्वी का वेश बना कर आया। आदिच्चुपटठान जातक (१७५)—बन्दर ने सूर्य की पूजा करने का ढोंग बनाया। कच्छप जातक (१७८)—जन्मभूमि के मोह के कारण कछुए की जान गयी। गिरिदत्त जातक (१८४)—शिक्षक के लँगड़ा होने के कारण घोड़ा लँगड़ा कर चलने लगा। सीहचम्म जातक (१८९)—सिंह की खाल पहन कर गधा खेत चरता रहा। किन्तु बोलने पर मारा गया। महापिंगल जातक (२४०)—राजा मर गया, फिर भी द्वारपाल को भय था कि अत्याचारी राजा यम-राज के पास से कहीं लौट न आये। आरामदूसक जातक (४६ तथा २६८)—बन्दरों ने पौधों को उखाड़ कर उनकी जड़ें नाप-नाप कर पानी सींचा। कुटि-दूसक जातक (३२१)—बन्दर ने बया के सदुपदेश को सुन कर उसका घोसला नोंच डाला। बावेरु जातक (३३९)—बावेरू (बेबीलान—वर्तमान ईराक) राष्ट्र में कौआ सौ कार्षापण में और मोर एक हजार कार्षापण में बिका। वानर जातक (३४२)—मगरमच्छनी ने बन्दर का हृदय-मांस खाना चाहा। सन्धिभेद जातक (३४९)—गीदड़ ने चुगली कर सिंह और बैल को परस्पर लड़वा दिया, आदि-आदि।[1]

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि जातक-कथाओं का रूप लोक-साहित्य का है। उसमें पशु-पक्षियों आदि की कथाएँ भी हैं और मनुष्यों की भी। जातकों के कथानक विविध प्रकार के हैं। विण्टरनित्ज ने मुख्यतः सात भागों में उनका वर्गीकरण किया है।[2] (१) व्यावहारिक नीति-सम्बन्धी कथाएँ। (२) पशुओं की कथाएँ। (३) हास्य और विनोद से पूर्ण कथाएँ। (४) रोमांचकारी लम्बी कथाएँ या उपन्यास ? (५) नैतिक वर्णन। (६) कथन मात्र और (७) धार्मिक कथाएँ। वर्णन की शैलियाँ भी भिन्न-भिन्न हैं। विण्टरनित्ज ने इनका वर्गीकरण पाँच भागों में इस प्रकार किया है[3]—(१) गद्यात्मक वर्णन (२) आख्यान, जिसके दो रूप हैं। (अ) संवादात्मक और (आ) वर्णन और संवादों का सम्मि-श्रित रूप। (३) अपेक्षाकृत लम्बे विवरण, जिनका आदि गद्य से होता है, किन्तु बाद में, जिनमें गाथाएँ भी पायी जाती हैं। (४) किसी विषय पर कथित

---

१. इस दिग्दर्शन के लिए मैं भदन्त आनन्द कौशल्यायन के जातक-अनुवाद के तीनों खंडों की विषय-सूची के लिए कृतज्ञ हूँ। वहीं से यह सामग्री संकलित की गयी है।

२. हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १२५।

३. वहीं, पृष्ठ १२४।

वचनों का संग्रह और (५) महाकाव्य या खंडकाव्य के रूप में वर्णन। वानरिन्द जातक (५७), बिळारवत जातक (१२८), सीहचम्म जातक (१८९) सुंसुमार जातक (२०८) और सन्धिभेद जातक (३४९) आदि जातक-कथाएँ पशु-कथाएँ हैं। ये कथाएँ अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं। विशेषत: इन्हीं कथाओं का गमन विदेशों में हुआ है। व्यंग्य का पुट भी यहाँ अपने काव्यात्मक रूप में दृष्टि-गोचर होता है। प्राय: पशुओं की तुलना में मनुष्यों को हीन दिखाया गया है। एक विशेष बात यह है कि व्यंग्य किसी व्यक्ति पर न कर सम्पूर्ण जाति पर किया गया है। एक बन्दर कुछ दिनों के लिये मनुष्यों के बीच जाकर रहा। बाद में अपने साथियों के पास जाता है। साथी पूछते हैं :

"आप मनुष्यों के समाज में रहे हैं। उनका बर्ताव जानते हैं। हमें भी कहें। हम उसे सुनना चाहते हैं।"

"मनुष्यों की करनी मुझ से मत पूछो।"

"कहें, हम सुनना चाहते हैं।"

बन्दर ने कहना शुरू किया,

"हिरण्य मेरा! सोना मेरा! यही रात-दिन वे चिल्लाते हैं। घर में दो जने रहते हैं। एक को मूँछ नहीं होती। उसके लम्बे केश होते हैं, वेणी होती है और कानों में छेद होते हैं। उसे बहुत धन से खरीदा जाता है। वह सब जनों को कष्ट देता है।"

"बन्दर कह ही रहा था कि उसके साथियों ने कान बन्द कर लिये "मत कहें, मत कहें।"[1] इस प्रकार के मधुर और अनूठे व्यंग्य के अनेकों चित्र 'जातक' में मिलेंगे। विशेषत: मनुष्य के अहंकार के मिथ्यापन के सम्बन्ध में मर्मस्पर्शी व्यंग्य महापिंगल जातक (२४०) में, ब्राह्मणों की लोभ-वृत्ति के सम्बन्ध में सिगाल जातक (११३) में, एक अति बुद्धिमान तपस्वी के सम्बन्ध में अवारिय जातक (३७६) में हैं। सब्बदाठ नामक शृगाल सम्बन्धी हास्य और विनोद भी बड़ा मधुर है। (सब्बदाठ जातक, २४१) और इसी प्रकार मक्खी हटाने के प्रयत्न में दासी का मूसल से अपनी माता को मार देना (रोहिणी जातक, ४५) और बन्दरों का पौधों को उखाड़ कर पानी देना भी (आरामदूसक जातक, ४६ तथा २६८) मधुर विनोद से भरे हुए हैं। इसी प्रकार रोमांच के रूप में महाउम्मग्ग जातक (५४६) आदि; नाटकीय आख्यान के रूप में छद्दन्त जातक

---

१. गरहित-जातक (२१९) भदन्त आनन्द कौसल्यायन का अनुवाद, जातक (द्वितीय खण्ड), पृष्ठ ३६२-६३।

(५१४) आदि, एक ही विषय पर कहे हुए कथनों के संकलन के रूप में कुणाल जातक (५३६) आदि, संक्षिप्त नाटक के रूप में उम्मदन्ती जातक (५२७) आदि, नीति-परक कथाओं के रूप में गुण जातक (१५७) आदि, पूरे महाकाव्य के रूप में वेस्सन्तर जातक (५४७) आदि, एवं ऐतिहासिक संवादों के रूप में संकिच्च जातक (५३०) और महानारदकस्सप जातक (५४४) आदि। अनेक प्रकार के वर्णनात्मक आख्यान 'जातक' में भरे पड़े हैं, जिनकी साहित्यिक विशेषताओं का उल्लेख यहाँ अत्यन्त संक्षिप्त रूप से भी नहीं किया जा सकता।

बुद्धकालीन भारत के समाज, धर्म, राजनीति, भूगोल, लौकिक विश्वास, आर्थिक एवं व्यापारिक अवस्था एवं सर्वविध जीवन की पूरी सामग्री हमें 'जातक' में मिलती है। 'जातक' केवल लोक-कथाओं का प्राचीनतम संग्रह भर नहीं है। बौद्ध साहित्य में तो उसका स्थान सर्वमान्य है ही। स्थविरवाद के समान महायान में भी उनकी प्रभूत महत्ता है, यद्यपि उसके रूप के सम्बन्ध में कुछ थोड़ा-बहुत परिवर्तन है। बौद्ध साहित्य के समान समग्र भारतीय साहित्य में और इतना ही नहीं, समग्र विश्व-साहित्य में 'जातक' का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसी प्रकार भारतीय सभ्यता के एक युग का ही वह निदर्शक नहीं है, बल्कि उसके प्रसार की एक अद्भुत गाथा भी 'जातक' में समाई हुई है। विशेषतः भारतीय इतिहास में 'जातक, के स्थान को कोई दूसरा ग्रन्थ नहीं ले सकता। बुद्धकालीन भारत के सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक जीवन को जानने के लिए 'जातक' एक उत्तम साधन है। चूंकि उसकी सूचना प्रासंगिक रूप से ही दी गयी है, इसलिए वह और भी अधिक प्रामाणिक है और महत्त्वपूर्ण भी। 'जातक' के आधार पर यहाँ बुद्धकालीन भारत का संक्षिप्ततम विवरण भी नहीं दिया जा सकता। जातक की निदान-कथा में हम तत्कालीन भारतीय भूगोल-सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण सूचना पाते हैं। वहाँ कहा गया है कि जम्बुद्वीप (भारत) का विस्तार दस हजार योजन है। मध्य-देश की सीमाओं का उल्लेख वहाँ इस प्रकार किया गया है, "मध्य-देश की पूर्व दिशा में कजंगला नामक कस्बा है, उसके बाद बड़े शाल (के वन) हैं, और फिर आगे सीमान्त (प्रत्यन्त) देश। पूर्व-दक्षिण में सललवती नामक नदी है, उसके आगे सीमान्त देश। दक्षिण दिशा में सेतकण्णिक नामक कस्बा है, उसके बाद सीमान्त देश। पश्चिम दिशा में थूण नामक ब्राह्मण ग्राम है, उसके बाद सीमान्त देश। उत्तर दिशा में उशीरध्वज नामक पर्वत है, उसके बाद सीमान्त देश।"[1] यह

---

१. जातक (प्रथम खण्ड) पृष्ठ ६४ (भदन्त आनन्द कौसल्यायन का अनुवाद)

वर्णन यहाँ विनय-पिटक से लिया गया है और बुद्धकालीन मध्यदेश की सीमाओं का प्रामाणिक परिचायक माना जाता है। जातक के इसी भाग में नेरंजरा, अनोमा आदि नदियों, पाण्डव पर्वत, वैभारगिरि, गयासीस आदि पर्वतों, उरुवेला, कपिलवस्तु, वाराणसी, राजगृह, लुम्बिनी, वैशाली, श्रावस्ती आदि नगरों और स्थानों, एवं उत्कल देश (उड़ीसा) का तथा यष्टिवन (लट्ठिवन) आदि वनों का उल्लेख मिलता है, सम्पूर्ण जातक में इस सम्बन्धी जितनी सामग्री भरी पड़ी है, उनका ठीक अनुमान ही नहीं लगाया जा सकता। सम्पूर्ण कोसल और मगध का तो उसके ग्रामों, नगरों और पर्वतों के सहित वह पूरा वर्णन उपस्थित करता है। सोलह महाजनपदों (जिनका नामोल्लेख अंगुत्तर निकाय में मिलता है) का विस्तृत विवरण हमें असम्पदान जातक में मिलता है। महासुतसोम जातक (५३७) में कुरुदेश का विस्तार ३०० योजन बताया गया हैं। "तियोजनसते कुरुरट्ठे"। इसी प्रकार धूमकारि जातक (४१३) तथा दस ब्राह्मण जातक (४९५) में कहा गया है कि युधिष्ठिर (युधिट्ठिळ) गोत्र के राजा का उस समय वहाँ राज्य था। कुरुदेश की राजधानी इन्द्रप्रस्थ का विस्तार सात योजन महासुतसोम जातक (५३७) तथा विधुर पण्डित जातक (५४५) में दिया गया है। धनंजय, कोरव्य[1] और सुतसोम आदि कुरु-राजाओं के नाम कुरुधम्म जातम (२७६), धूमकारि जातक (४१३), सम्भव जातक (५१५) और विधुरपंडित जातक (५४५) में आते हैं। उत्तर पंचाल के लिए कुरु और पंचाल राजवंशों में झगड़ा चलता रहा, इसकी सूचजा हम चम्पेय्य जातक (५०६) तथा अन्य अनेक जातकों में पाते हैं। कभी वह कुरु-राष्ट्र में सम्मिलित हो जाता था (सोमनस्स जातक, ५०५) और कभी कम्पिल्ल राष्ट्र में भी, जिसका साक्ष्य ब्रह्मदत्त जातक (३२३), जयद्दिस जातक (५१३) और गण्डतिन्दु जातक (५२०) में विद्यमान है।[2] पंचाल-राज दुर्मुख निमि का समकालिक था, इसकी सूचना हमें कुम्भकार जातक में मिलती है। अस्सक (अश्मक) राष्ट्र की राजधानी पोतन या पोतलि का उल्लेख हमें चुल्लकालिग जातक (३०१) में मिलता है। मिथिला का विस्तार सुरुचि जातक (४८९) और गन्धार जातक (४०६) में सात योजन बताया गया है। महाजनक

---

१. कहीं-कहीं कोरव्य कुरु-देश के एक राजा का नाम दिया गया है और कहीं-कहीं वह धनंजय नामक कुरुराजा का विशेषण भी है, अर्थात् कुरु-देश के राजा के अर्थ में इसका सामान्य प्रयोग भी किया गया है।

२. मिलाइये, कुम्भकार जातक (४०८) भी।

जातक (५३९) में मिथिला का बड़ा सुन्दर वर्णन उपलब्ध होता है, जिसकी तुलना महाभारत ३. २०६. ६.९ से की जा सकती है। सागल नगर का वर्णन कालिंगबोधि जातक (४७९) और कुस जातक (५३१) में है। काशी राज्य के विस्तार का वर्णन घजविदेह जातक (३९१) में है। उसकी राजधानी वाराणसी के केतुमती, सुरुन्धन सुदस्सन ब्रह्मवड्ढन, पुष्फवती, रम्मनगर और मोलिनी आदि नाम थे, ऐसा साक्ष्य अनेक जातकों में मिलता है। तण्डुलनालि जातक (५) में वाराणसी के प्राकार का वर्णन है। तेलपत्त जातक (९६) और सुसीम जातक (१६३) में वाराणसी से तक्षशिला की दूरी २००० योजन बतायी गयी है। कुम्भकार जातक (४०८) में गन्धार के राजा नग्गजि या नग्नजित् का वर्णन है। कुस जातक (५३१) में मल्लराष्ट्र और उसकी राजधानी कुसावती या कुसिनारा का वर्णन है। चम्पेय्य जातक (५०६) में अंग और मगध के संघर्ष का वर्णन है। इसी प्रकार रुक्खधम्म जातक और फन्दन जातक में शाक्य और कोलियों के रोहिणी नदी के पानी को लेकर झगड़े का वर्णन है। वत्स राज्य और उसके अधीन भग्ग-राज्य की सूचना धोंगसाख जातक (३५३) में मिलती है। इन्द्रिय जातक में सुरट्ठ, अवन्ती, दक्खिणापथ, दंडकवन, कुम्भवतिनगर आदि का वर्णन है। सरभंग जातक में सुरट्ठ देश का वर्णन है। सालित्तक जातक और कुरुधम्म जातक से हमें पता चलता है कि अचिरवती नदी श्रावस्ती में होकर बहती थी। सरभंग जातक में गोदावरी नदी का भी उल्लेख है और उसे कविट्ठ वन के समीप बताया गया है। गन्धार जातक में कस्मीर-गन्धार का उल्लेख है। कण्ह जातक में संकस्स (संकाश्य) का उल्लेख है। चम्पेय्य जातक से हमें सूचना मिलती है कि चम्पा नदी अंग और मगध जनपदों की सीमा पर होकर बहती थी। गंगमाल जातक में गन्धमादन पर्वत का उल्लेख है। बिम्बिसार सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण सूचना जातकों में भरी पड़ी है। महाकोसल की राजकुमारी कोसलादेवी के साथ उसके विवाह का वर्णन और काशी गाँव की प्राप्ति का उल्लेख हरितमात जातक (२३९) और वड्ढकिसूकर जातक (२८३) में है। मगध और कोसल के संघर्षों का और अन्त में उनकी एकता का उल्लेख वड्ढकिसूकर जातक, कुम्मासपिंड जातक, तच्छसूकर जातक और भद्दसाल जातक आदि अनेक जातकों में हैं। इस प्रकार बुद्धकालीन राजाओं, राज्यों, प्रदेशों, जातियों, ग्रामों, नगरों, नदियों, पर्वतों आदि का पूरा विवरण हमें जातकों में मिलता है। तिलमुट्ठि जातक (२५२) में हमें तक्षशिला विश्वविद्यालय का एक उत्तम चित्र मिलता है। संखपाल जातक (५२४) और दरीमुख जातक (३७८) में मगध के राजकुमारों के तक्षशिला में

शिक्षार्थ जाने का उल्लेख है। तक्षशिला में शिक्षा के विधान, पाठ्य-क्रम, अध्ययन-विषय, उनके व्यावहारिक और सैद्धान्तिक पक्ष, निवास, भोजन, नियन्त्रण आदि के विषय में पूरी जानकारी हमें जातकों में मिलती है। वाराणसी, राजगृह, मिथिला, उज्जैनी, श्रावस्ती, कौशाम्बी, तक्षशिला आदि प्रसिद्ध नगरों को मिलाने वाले मार्गों का तथा स्थानीय व्यापार का पूरा विवरण हमें जातकों में मिलता है। काशी से चेदि जाने वाली सड़क का उल्लेख वेदब्भ जातक (४८) में है / क्या-क्या पेशे उस समय लोगों में प्रचलित थे, कला और दस्तकारी की क्या अवस्था थी तथा व्यवसाय किस प्रकार होता था, इसके अनेक चित्र हमें जातकों में मिलते हैं। बावेरू जातक (३३९) और सुसन्धि जातक (३६०) से हमें पता लगता है कि भारतीय व्यापार विदेशों से भी होता था और भारतीय व्यापारी बाबेरु राष्ट्र (वर्तमान ईराक या उसके बेबीलान नामक नगर, जो बगदाद के दक्षिण में स्थित है) से होकर सुवर्ण-भूमि (बरमा से मलाया तक का प्रदेश) तक व्यापार के लिए जाते थे। भरुकच्छ उस समय एक प्रसिद्ध बन्दरगाह था। सुसन्धि जातक में हमें इसका उल्लेख मिलता है। जल के मार्गों का भी जातकों में स्पष्ट उल्लेख है। लौकिक विश्वासों आदि के बारे में देवधम्म जातक (६) और नळपान जातक (२०) आदि में; समाज में स्त्रियों के स्थान के सम्बन्ध में अण्डभूत जातक (६२) आदि में; दासों की अवस्था के सम्बन्ध में कटाहक जातक (१२५) आदि में, सुरापान आदि के सम्बन्ध में सुरापान जातक (८१) आदि में, यज्ञ में जीव-हिंसा के सम्बन्ध में दुम्मेध जातक (५०) आदि में, व्यापारिक संघों और डाकुओं के भय आदि के सम्बन्ध में खुरप्प जातक (२६५) और तत्कालीन शिल्पकला आदि के विषय में महाउम्मग्ग जातक (५४६) आदि में प्रभूत सामग्री भरी पड़ी है, जिसका यहाँ विवरण देना अत्यन्त कठिन है। जिस समाज का जातक में चित्रण है, उसमें वर्ण-व्यवस्था प्रचलित थी। ब्राह्मणों का समाज में उच्च स्थान था। ब्राह्मण और क्षत्रिय, ये दो वर्ण उच्च माने जाते थे। दासों की प्रथा प्रचलित थी। उनके साथ दुर्व्यवहार के भी उदाहरण मिलते हैं। दास क्रीत भी होते थे और पितृक्रमागत भी। विशेष अवस्थाओं में दास मुक्त भी कर दिये जाते थे। चमार, भंगी, शिकारी आदि नीच कुल माने जाते थे। बुद्ध-काल में जाति पेशे की सूचक नहीं थी। जातक-कहानियों से पता चलता है कि किसी भी समय एक पेशे को छोड़ कर कोई व्यक्ति दूसरा पेशा कर सकता था और इसमें उसकी जाति बाधक नहीं होती थी। विवाह-सम्बन्ध प्रायः समान जातियों और कुलों (समजातिक कुल) में अच्छे माने जाते थे। उत्सवों में

पुरुषों के साथ स्त्रियाँ भी सम्मिलित होती थीं। अनेक प्रकार के उत्सव बुद्ध-काल में होते रहते थे और उसमें मांस-मछली के भोजन के साथ-साथ सुरा-पान भी चलता था। स्त्रियों के सदाचार को अक्सर जातक की कहानियों में संशय की दृष्टि से देखा गया है। कहा गया कि सत्य का होना उनमें सुदुर्लभ ही है। "सच्चं तासं सुदुल्लभं।" परन्तु भार्या के रूप में स्त्री की प्रशंसा की गयी है और उसे परम सखा बताया गया है। "भरिया नाम परमा सखा।" शिल्पों का समाज में आदर था। वेश्याओं के प्रभूत वर्णन जातक में मिलते हैं। यह प्रथा विद्यामान थी। इसी प्रकार द्यूत का व्यसन भी प्रचलित था। विधुर पंड़ित जातक में हम धनंजय कोरव्य को जुआ खेलते देखते हैं। शासन में रिश्वत चलती थी। कणवेर जातक में हम एक कोतवाल को रिश्वत लेते देखते हैं। शकुनों में और फलित ज्योतिष में लोगों का विश्वास था। छींक आने को अपशकुन मानते थे और जब कोई छींकता था तो उससे लोग कहते थे 'जियो' या 'चिरंजीवी होओ।' 'सत्य-क्रिया' ('सच्च किरिया' में लोगों का विश्वास था। मूगपक्ख जातक में हम देखते हैं कि काशिराज की रानी ने सत्य-क्रिया के बल से सन्तान प्राप्त की। इसी प्रकार वट्टक जातक में कहा गया है कि एक बटेर के बच्चे ने अपने सत्य-क्रिया के वल से वृक्ष में लगी आग को बुझा दिया। वयः प्राप्त कुमारिकाओं को अपना वर खोजने की स्वतंत्रता थी, ऐसा अम्ब जातक से पता चलता है। संकिच्च जातक में पत्नी को 'धनक्कीता' कहा गया है। इससे पता चलता है कि कुछ विशेष अवस्थाओं में पति को कन्या के पिता को धन भी देना पड़ता था। उदय जातक से भी ऐसा ही मालूम पड़ता है। जहाँ तक धार्मिक अवस्था का सम्बन्ध है, एक प्रकार का लोक-धर्म प्रचलित था। लोग यक्षों, वृक्षों, नागों, गरुड़ों और नदियों की पूजा करते थे। एक स्त्री को, जो अपने पति से विछुड़ गयी है, हम भागीरथी गङ्गा की स्तुति करते हैं और उसकी शरण जाते देखते हैं।[1] परन्तु इससे यह निष्कर्ष निकालना ठीक नहीं कि एक प्रकार का भागबत धर्म लोगों में प्रचलित था। गोकुलदास दे ने इस बात को दिखाने का बड़ा प्रयास किया है कि धर्म का जो स्वरूप जातककालीन समाज में हम देखते हैं, उसमें भागवत धर्म के तत्त्व विद्यमान हैं।[2] ऐतिहासिक दृष्टि से

---

१. "वन्दे भागीरथिं गङ्गं सवन्तीनं पटिग्गहं।
राजपुत्तं अपस्सन्ती तुय्हं हि सरण गता ॥" (सम्बुल जातक)

२. देखिए, उनकी 'सिगनीफिकेन्स एण्ड इम्पोरटेंस ऑव दि जातकम्,' पृष्ठ १५६-१७८।

यह कहना बिलकुल असंगत है। कहाँ ईसा के कई शताब्दियों (कम-से-कम छह शताब्दी) बाद की भागवत और कहाँ ईसा के कम-से-कम पांच-छह शतांब्दियों पूर्व का जातककालीन समाज ! अधिक-से-अधिक हम यही कह सकते हैं कि एक प्रकार का लोक-धर्म जातककालीन समाज में प्रचलित था, जिस साधारण जन-समाज के विश्वास और उसकी विभिन्न लौकिक और आध्यात्मिक आवश्यकताएँ समतल पर प्रतिबिम्बित थीं—अर्थात् वन्दना, दान, देवताओं की शरणागति आदि की भावनाएँ प्रधान थीं। अधिक विवेचन न कर हम यहाँ यही कहना चाहते हैं कि जातक वस्तुतः प्राचीन भारतीय सामाजिक जीवन सम्बन्धी सूचनाओं का अगाध भाण्डार है और उसका समग्रतया अध्ययन पालि साहित्य के इतिहास-लेखक के लिए सम्भव नहीं है। यह अनेक महाग्रन्थों का विषय है।

यही बात वास्तव में जातक के भारतीय साहित्य और विदेशी साहित्य पर प्रभाव की भी है। पहले हम बौद्ध साहित्य और कला में उसके स्थान और महत्त्व को लें। जैसा पहले कहा जा चुका है, बौद्ध धर्म के सभी सम्प्रदायों में 'जातक' का महत्त्व सुप्रतिष्ठित है। महायान और स्थविरवाद को वह एक प्रकार से जोड़ने वाली कड़ी है, क्योंकि वहाँ बोधिसत्त्व के उदार चरित और उनके जीवन की नाना पारमिताओं के वर्णन के साथ-साथ महायान का बोधिसत्त्व-आदर्श अपने बीज-रूप में विद्यमान है। हम पहले देख चुके हैं कि दूसरी-तीसरी शताब्दी ईसवी-पूर्व के साँची और भरहुत (मध्य प्रदेश) के स्पूतों में जातक के अनेक दृश्य अंकित हैं।[1] 'मिलिन्दपञ्हो' में अनेक जातक-कथाओं को उद्धृत किया गया है। आन्ध्रप्रदेश के अमरावती-स्पूत (प्रथम-द्वितीय शताब्दी ईसवी) में उसके चित्र अंकित हैं।[2] पाँचवीं शताब्दी में लंका में उसके ५०० दृश्य अंकित किये जा चुके थे। अजन्ता की चित्रकारी (पाँचवीं-छठी शताब्दी ईसवी) में भी महिस जातक (२७८) और छद्दन्त जातक (५१४) अंकित हैं ही। बुद्धगया में भी उसके अनेक चित्र अंकित हैं। इसी प्रकार आंध्र प्रदेश के नागार्जुनीकोण्ड

---

१. विशेषतः साँची में साम जातक (५४०) और छद्दन्त जातक (५१४) अङ्कित हैं और भरहुत-स्तूप पर अङ्कित नच्च जातक (३२), आरामदूसक जातक (४६), महाकपि जातक (४०७), नळिनिका जातक (५२६), कुरुङ्गमिग जातक (२०६) और कुक्कुट जातक (३८३) के दृश्य तो अती उल्लेखनीय हीं हैं। विस्तृत विवरण के लिए देखिये आगे दसवें अध्याय में साँची और भरहुत के अभिलेखों का वर्णन।

२. विलेषतः सिविजातक (४९९) का चित्र तो अति उल्लेनीय ही है।

(प्रथम शताब्दी से पाँचवीं शताब्दी ईसवी तक) में भी कई जातकों के चित्र पाषाण-फलकों पर अंकित हैं, जैसे कि मन्धातु जातक (२५८), घट जातक (४५४), सिविजातक (४९९) और चम्पेय्य जातक (५०६)। इतना ही नहीं, जावा के बोरोबुदूर स्पूत (९वीं शताब्दी ईसवी) में, बरमा के पगान (अरिमद्दन) नगर में स्थित पेगोडाओं (१३वीं शताब्दी ईसवी) में और स्याम (थाई-देश) के सुखोदय नामक प्राचीन नगर (१४वीं शताब्दी) में जातक के अनेक दृश्य चित्रित मिले हैं।[1] अतः जातक का महत्त्व भारत में ही नही, भारत के बाहर भी स्थविरवाद बौद्ध धर्म में ही नहीं, बौद्ध धर्म के अन्य अनेक रूपों में भी प्रतिष्ठित है।

अब भारतीय साहित्य में जातकों के महत्त्व और स्थान को लें। यदि काल-क्रम की दृष्टि से देखें तो वैदिक साहित्य की शुनःशेप की कथा, यम-यमी संवाद, पुरूरवा-उर्वशी संवाद आदि कथानक ही बुद्ध-पूर्व काल के हो सकते हैं। छान्दोग्य और बृहदारण्यक आदि कुछ उपनिषदों की आख्यायिकाएँ भी बुद्ध-पूर्व काल की मानी जा सकती हैं और इसी प्रकार ऐतरेय और शतपथ ब्राह्मण के कुछ आख्यान भी। पर इनका भी जातकों से और सामान्यतः पालि साहित्य से घनिष्ठ सम्बन्ध है। हम देख चुके हैं कि तेविज्ज-सुत्त (दीघ० १।१३) में अट्टक, वामक, वामदेव, विश्वामित्र, यमदग्नि, अंगिरा, भारद्वाज, वशिष्ठ, काश्यप और भृगु—इन दस मन्त्रकर्ता ऋषियों के नामों के साथ-साथ ऐतरेय ब्राह्मण, तैत्तिरीय ब्राह्मण, छन्दोग ब्राह्मण और छन्दावा ब्राह्मण का भी उल्लेख हुआ हैं।[2] इसी प्रकार हम यह भी देख चुके हैं कि मज्झिम-निकाय के अस्सलायन-सुत्तन्त (२।५।३) के आश्वलायन ब्राह्मण को प्रश्न-उपनिषद के आश्वलायन से मिलाया गया है। मज्झिम-निकाय के आश्वलायन श्रावस्ती-निवासी हैं और वेद-वेदाङ्ग में पारंगत ('तिण्णं वेदानं पारगू सनिघण्डु-केटुभानं') हैं, इसी प्रकार

---

१. स्याम (थाई-देश) के सुखोदय नगर (सुखोदयपुर) में चित्रित जातकों की संख्या ५१ है और इन्हें चौदहवीं शताब्दी में स्यामराज श्री सूर्यवंश राम महाराजाधिराज के शासन-काल में अङ्कित करवाया गया था। सेरिवाणिज जातक (३१७), चुल्लकसेट्ठिक जातक(४), तण्डुलनालि जातक (५), देवधम्म जातक (६) और कट्ठहारि जातक (७) आदि इन ५१ जातकों के नामों की सूची के लिये देखिये, फणीन्द्रनाथ बोस—दि इण्डियन कोलोनी ऑव स्याम, पृष्ठ ५१-५३ (लाहौर, १९२७)।

२. देखिये, पीछे दीघ-निकाय की विषयवस्तु का विवेचन।

प्रश्न-उपनिषद के आश्वलायन भी वेद-वेदाङ्ग के महापंडित हैं और कौसल्य (कोसल-निवासी) हैं।[१] जातकों में भी वैदिक-साहित्य के साथ निकट सम्पर्क के हम अनेक लक्षण पाते हैं। उद्दालक जातक (४८७) में उद्दालक के तक्षशिला जाने और वहाँ एक लोक विश्रुत आचार्य की सूचना पाने का उल्लेख है। इसी प्रकार सेतकेतु जातक (३७७) में उद्दालक के पुत्र श्वेतकेतु का कलाओं की शिक्षा प्राप्त करने के लिए तक्षशिला जाने का उल्लेख है। शतपथ ब्राह्मण (११, ४.१-१) में उद्दालक को हम उत्तर पथ में भ्रमण करते हुए देखते हैं। अतः इससे यह निष्कर्ष निकालना असंगत नहीं है कि जातकों के उद्दालक और श्वेतकेतु ब्राह्मण-ग्रन्थों और उपनिषदों के इन नामों के व्यक्तियों से भिन्न नहीं हैं।[२] जर्मन विद्वान् लूडर्स ने सेतकेतु जातक (३७७) में आनेवाली गाथाओं को 'वैदिक आख्यान और महाकाव्य युगीन काव्य को मिलानेवाली कड़ी' कहा है,[३] जो समुचित ही है। इसी प्रकार सिंहली विद्वान् मललसेकर का यह कहना ठीक जान पड़ता है कि जातक का सम्बन्ध भारतीय साहित्य की उस आख्यान-विधा से है, जिससे उत्तरकालीन महाकाव्यों का विकास हुआ है।[४] रामायण और महाभारत के साथ जातक की तुलना करते समय हमें एक बात का बड़ा ध्यान रखना चाहिए। वह यह है कि इन दोनों ग्रन्थों के सभी अंश बुद्ध-पूर्व युग के नही हैं। रामायण के वर्तमान रूप में २४००० श्लोक पाये जाते हैं। जनश्रुति भी है और स्वयं रामायण में कहा भी गया है 'चतुर्विंश सहस्राणि श्लोकानाम् उक्तवान ऋषिः' (१.४.२)। किन्तु बौद्ध महाविभाषा-शास्त्र (कात्यायनीपुत्र के ज्ञानप्रस्थानशास्त्र की व्याख्या) से सिद्ध है कि द्वितीय शताब्दी ईसवी में भी रामायण में केवल १२००० श्लोक थे।[५] रामायण २-१०९-३४ में, बुद्ध तथागत'

---

१. हेमचन्द्र रायचौधरी: पोलिटिकल हिस्ट्री ऑव एन्शियन्ट इंडिया, पृष्ठ ३३-३४ (छठा संस्करण, कलकत्ता, १९५३)।

२. हेमचन्द्र रायचौधरी। पोलिटिकल हिस्ट्री ऑव एन्शियण्ट इंडिया, पृष्ठ ६१-६२ (छठा संस्करण, कलकत्ता, १९५३); विण्टरनित्ज : इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १२३।

३. ,,Connecting link between the vedic epic आख्यान and the epic poetry विण्टरनित्ज-कृत इण्डियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १२३, पद-संकेत २ में उद्धृत।

४. दि पालि लिटरेचर ऑव सिलोन, पृष्ठ ११७।

५. हेमचन्द्र रायचौधरी : पोलिटिकल हिस्ट्री ऑव एन्शियण्ट इंडिया, पृष्ठ ३ (छठा संस्करण, १९५३)।

का उल्लेख आया है।[१] इसी प्रकार शक, यवन आदि के साथ संघर्ष ('शकान्-यवनमिश्रितान्'-१-५४-२१) का वर्णन है। किष्किन्धा-काण्ड (४.४३-११-१२) में सुग्रीव के द्वारा कुरु, मद्र और हिमालय के बीच में यवनों और शकों के देश और नगरों को स्थित बताया गया है। इससे सिद्ध है कि जिस समय ये अंश लिखे गये थे, ग्रीक और सिथियन लोग पंजाब के कुछ प्रदेशों पर अपना आधिपत्य जमा चुके थे। अत; रामायण के काफी अंश महाराज बिम्बिसार या बुद्ध के काल के बाद लिखे गये।[२] महाभारत में इसी प्रकार एडूकों (बौद्ध मन्दिरों) का स्पष्ट उल्लेख है।[३] बौद्ध विशेषण चातुर्महाराजिक भी वहाँ आया है। (१२-३३९-४०)। रोमक (रोमन) लोगों का भी वर्णन (२-५१-१७) है। इसी प्रकार सिथियन और ग्रीक आदि लोगों का भी (३-१८८-३५)। आदि पर्व (१-६७-१३-१४) में महाराज अशोक को महासुर कहा गया है और 'महावीर्यो, पराजितः' के रूप में उसकी प्रशंसा की गयी है। शान्ति-पर्व में विष्णुगुप्त कौटिल्य (द्वितीय शताब्दी ईसवी-पूर्व) के शिष्य कामन्दक का भी अर्थविद्या के आचार्य के रूप में उल्लेख है। इस प्रकार अनेक प्रमाणों के आधार पर सिद्ध है कि महाभारत के वर्तमान रूप का काफी अंश बुद्ध, अशोक और कौटिल्य विष्णुगुप्त के बाद के युग का है।[४] जातक की अनेक गाथाओं और रामायण के श्लोकों में अद्भुत समानता है।[५] दसरथ जातक (४६१) और देवधम्म जातक (६) में हमें प्रायः राम-कथा की पूरी रूपरेखा मिलती है। जयद्दिस जातक (५१३) में राम का दण्डकारण्य जाना दिखाया गया है। इसी प्रकार साम जातक (५४०) की सदृशता रामायण २-६३-२५ से है और विण्टरनित्ज के मत में जातक का वर्णन अधिक सरल और प्रारम्भिक है।[६] वेस्सन्तर जातक (५४७) के प्रकृति वर्णन का साम्य इसी प्रकार

---

१. उद्धरण के लिये देखिए, जातक (प्रथम खंड) पृष्ठ २४ (वस्तुकथा), पद-संकेत ३ (भदन्त आनन्द कौसल्यायन का अनुवाद)।

२. हेमचन्द्र रायचौधरी : पोलिटिकल हिस्ट्री ऑव एन्शियन्ट इंडिया, पृष्ठ ३-४ (छठा संस्करण, १९५३)।

३. देखिये, वही, पृष्ठ ४।

४. अधिक प्रमाणों के लिये देखिये, वही, पृष्ठ ४-५।

५. कुछ उद्धरणों के लिए देखिये, जातक (प्रथम खण्ड) पृष्ठ २५; पद-संकेत १ (भदन्त आनन्द कौसल्यायन का अनुवाद)।

६. इण्डियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १४७, पद-संकेत ४।

वाल्मीकि के प्रकृति-वर्णन से है और इस जातक की कथा के साथ राम की कथा में भी काफी सदृशता है।[1] महाभारत के साथ जातक की तुलना अनेक विद्वानों ने की है। उनके निष्कर्षों को यहाँ संक्षिप्त रूप में भी रखना वास्तव में बड़ा कठिन है। सबसे बड़ी बात यह है कि महाजनक जातक (५३९) के विदेहराज जनक या महाजनक उपनिषदों और महाभारत के ब्रह्मज्ञानी जनक ही हैं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। बृहदारण्यक-उपनिषद् (३।१।१) में इन्हें 'जनकोहि वैदेहः' कहा गया है और महाभारत के शान्तिपर्व में 'वैदेहो जनको राजा' या 'मैथिलो जनको नाम धर्मध्वजः' भी। यह वर्णन पालि के प्रायः समान है, क्योंकि वहाँ भी यह 'विदेहराजा' ही हैं, और इससे भी अतिरिक्त रूप में वहाँ 'विदेह' या वेदेह' (वैदेह) को मिथिला के राजाओं का एक सामान्य अभिधान ही माना गया है। अतः श्रौत परम्परा में सुविदित ब्रह्मज्ञानी जनक ही पालि के विदेहराजा जनक हैं, यह अभिन्नता प्रायः सब विद्वानों ने स्वीकार की है।[2] मिथिला के प्रासादों को जलते देखकर जनक ने कहा था, 'मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे दह्यति किंचन' (महाभारत १२-१७; १८-१९; २१९-५०)। ठीक उनका यही कथन हमें महाजनक जातक (५३९) में भी मिलता है तथा कुम्भकार जातक (४०८) ओंर सोणक जातक (५२९) में भी। अतः दोनों व्यक्ति एक हैं इसमें तनिक भी सन्देह का अवकाश नहीं। इसी प्रकार एक हिरनी के गर्भ से जन्मे ऋष्यशृङ्ग या (ऋषिशृङ्ग-सींगधारी ऋषि-पालि इसिसिङ्ग) के तपस्या-भंग की पूरी कथा नळिनिका जातक (५२६) में है। हम पहले कह ही चुके हैं कि एकशृङ्ग के रूप में इन्हीं ऋषि की कथा 'महावस्तु' के 'नलिनीये राजकुमारिये जातकम्' में भी आयी है जिसका अन्य नाम वहीं 'एकशृङ्ग जातकम्' भी दिया गया है। वास्तव में ऋष्यशृङ्ग के आख्यान ने बौद्ध-साहित्य को भी इतना आकृष्ट किया है कि जहाँ-तहाँ अनेक प्रकार से उसका उल्लेख आया है। उदाहरणतः अपनी तपस्या से न कि जन्म से महान्

---

१. विंटरनित्ज : इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १५२।

२. देखिये, रायस डेविड्स : बुद्धिस्ट इंडिया, पृष्ठ २६; विण्टरनित्ज : इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १४६; मिलाइये, हेमचन्द्र रायचौधरी : पोलिटिकल हिस्ट्री ऑव एन्शियन्ट इंडिया, पृष्ठ ५६-५७ (छठा संस्करण, १९५३)। जहाँ उन्होंने दोनों जनकों को अभिन्न मानने में कुछ कठिनाई मानते हुए भी यह स्वीकार किया है कि 'महाजनक जातक' में आया जनक का उद्गार "सचमुच हमें महान् दार्शनिक राजा की याद दिलाता है।"

बनने वाले अनेक पूर्ववर्ती ऋषियों के नामों के साथ ऋष्यशृङ्ग का नाम भी 'कल्पद्रुमावदानमाला (सुभूत्यवदान)" में आया है। "हरिणीगर्भसम्भूतो ऋष्यशृङ्गी महामुनिः।" युधिष्ठिर (युधिट्ठिल) और विदुर (विधूर) का संवाद दस ब्राह्मण जातक (४६५) में है। कुणाल जातक (५३६) में कृष्ण और द्रौपदी की कथा है। इसी प्रकार घट जातक (३५५) में कृष्ण द्वारा कंस-वध और द्वारका बसाने का पूरा वर्णन है। महाकण्ह जातक (४६९), निमि जातक (५४१) और महानारदकस्सप जातक (५४४) में राजा उशीनर और उसके पुत्र शिवि का वर्णन है। सिवि जातक (४९९) में भी राजा शिवि की दान-पारमिता का वर्णन है, अपनी आँखों को दे देने के रूप में। अतः कहानी मूलतः बौद्ध है, इसमें सन्देह नहीं। महाभारत में १०० ब्रह्मदत्तों का उल्लेख है (२८-२३)।[१] सम्भवतः ब्रह्मदत्त किसी एक राजा का नाम न होकर राजाओं का सामान्य विशेषण था, जिसे १०० राजाओं ने धारण किया। दुम्मेघ जातक (५०) में भी राजा और उसके कुमार दोनों का नाम ब्रह्मदत्त बताया गया है। इसी प्रकार गंगमाल जातक (४२१) में कहा गया है कि ब्रह्मदत्त कुल का नाम है। सुसीम जातक (४११), कुम्मासपिंड जातक (४१५), अट्ठान जातक (४२५), लोमसकस्सप जातक (४३३) आदि जातकों की भी यही स्थिति है। अतः जातकों में आये हुए ब्रह्मदत्त केवल 'एक समय' के सर्याय नहीं हैं, ऐसा कहा जा सकता है। उनमें कुछ-न-कुछ ऐतिहासिकता भी अवश्य है। बिलार (-वत) जातक (१२८) की एक गाथा ज्यों-की-त्यों न केवल 'महाभारत' में ही बल्कि 'मनुस्मृति' में भी उद्धृत मिलती है। रामायण, महाभारत और पतंजलि के महाभाष्य में भी जातक-गाथाएँ उल्लिखित हैं,[२] प्राचीन जन साहित्य में भी[३] और बाद के कथा-साहित्य पर भी उसका प्रभाव उपलक्षित है। प्रथम शताब्दी ईसवी में गणाढ्य ने पैशाची प्राकृत में अपनी 'वड्डकहा' (वृहत्कथा) लिखी, जो आज अप्राप्त है। अतः इसके विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। परन्तु सोमदेव ने, जो स्वयं भट्टगोत्र के कश्मीरी ब्राह्मण होने के साथ-साथ बौद्ध थे, ग्यारवीं-बारहवी शताब्दी में २२००० श्लोकों में अपना 'कथासरित्सागर' वृहत्कथा के आधार पर ही लिखा और उसमें अनेक कहानियाँ जातक के

---

१. मिलाइये, "शतं वै ब्रह्मदत्तानाम्"। (मत्स्यपुराण)।

२. जर्नल ऑव रायल एशियाटिक सोसायटी, १८९८, पृष्ठ १७।

३. विण्टरनित्ज : इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १५, पद-संकेत २।

समान है। उदाहरणतः इसमें राजा शिवि की कहानी है, जो एक बाज से एक कबूतर को बचाने के लिए अपने जीवन का बलिदान कर देता है। निःसन्देह यह सिवि जातक (४९९) की ही कथा है, जो आन्ध्र प्रदेश के अमरावती-स्तूप (प्रथम-द्वितीय शताब्दी ईसवी) पर भी अङ्कित है। तुर्फान में खण्डित रूप में प्राप्त 'कल्पना मण्डितिका' में भी यह कथा पायी जाती है। इसी प्रसंग में यह कहना भी यहाँ अप्रासङ्गिक न होगा कि उक्त सिवि-जातक की कथा चीनी भाषा में भी अनुवादित हुई और उसका एक रूप इस्लामी साहित्य में भी पाया जाता है। 'उम्मदन्ती-जातक' (५२७) की कथा तीन बार कथासरित्सागर में कही गयी है और यहाँ 'उम्मदन्ती' का रूप उम्मादयन्ती है। ठीक ही यह कथा आर्यशूर-कृत 'जातकमाला' में भी पायी जाती है। क्षेमेन्द्र-कृत 'वृहत्कथा मञ्जरी' (ग्यारहवीं शताब्दी ईसवी) भी 'वृहत्कथा' का ही एक संस्करण-जैसी लगती है और इसकी भी कई कहानियों के मूल 'जातक' में दिखायी पड़ते हैं। विष्णुशर्मा-कृत 'पंचतन्त्र' एक लक्षणीय संस्कृत कथा-संग्रह है। छठी शताब्दी ईसवी के मध्य भाग में उसका पहलवी भाषा में अनुवाद हुआ। मूल रूप प्रायः चौथी शताब्दी ईसवी का माना जाता है। उसकी अनेक कहानियों के मूल स्रोत भी जातक में दिखायी पड़ते हैं। कबूतर और बहेलिये की कहानी, जो 'पंचतन्त्र' में मिलती है, सस (-पण्डित) जातक (३१६) की कथा से मिलती-जुलती है। यह कहना यहाँ अप्रासङ्गिक न होगा कि उक्त सस (-पण्डित) जातक की कथा समान रूप से 'चरियापिटक' में भी पायी जाती है और आर्य-शूर-कृत 'जातकमाला' में भी। इसी प्रकार मगर और बन्दर की कहानी जो वानर-जातक (३४२), सुंसुमार-जातक (२०८) और बानरिन्द-जातक (१५७) में मिलती है, प्रायः समान रूप से 'पंचतन्त्र' में भी मिलती है। यह लक्षणीय है कि 'मर्कट-जातक' के रूप मेंयही कहानी 'महावस्तु' में भी मिलती है। सन्धि-भेद जातक (३४९) में एक सिंह और बैल में बड़ी मित्रता दिखायी गयी है। एक गीदड़ उनमें फूट डलवा देता है और वे एक-दूसरे को मार देते हैं। यह कहानी कुछ-कुछ इसी रूप में 'पंचतन्त्र' में पायी जाती है। बक जातक (३८) में एक बगुला मछलियों को धोखा देकर उनमें से एक-एक को ले जाकर मार कर खा जाता है। यह कहानी इसी रूप में 'पंचतन्त्र' में मिलती है। मुनिक-जातक (३०) में एक बैल अपने ही मालिक में एक सुअर के प्रति ईर्ष्या करता है जिसे वह चर्बी बढ़ाने के लिए यवागु-भात का भोजन देता है परन्तु बाद में बैल को पता चलता है कि वह चर्बी उसे काटने के लिए ही बढ़ायी जा रही है और एक दिन उस सुअर को अतिथियों के लिए सूप-व्यंजक बनाने के लिए काट

दिया जाता है। तब वह बैल अपने भूसे से ही सन्तुष्ट हो जाता है और सोचता है कि सुअर को मिलने वाले भोजन से यही उत्तम है। इसी प्रकार सम्मोद-मान-जातक (३३), कुरुंगभिग-जातक (२०६), गोध-जातक (१४१) और उलूक-जातक (२७०) आदि अनेक जातक-कथाएँ 'पंचतन्त्र' में जहाँ-तहाँ अल्प परि-वर्तनों के साथ मिलती हैं। इसी प्रकार 'हितोपदेश' में भी, जो 'पंचतन्त्र' की ही संक्षिप्त आवृति है, उसी पर आधारित है और जिसकी ४३ कहानियों में से प्रायः २५ कहानियाँ 'पंचतन्त्र' की ही हैं, अनेक कहानियाँ जातक-कथाओं पर आधारित दिखायी जा सकती हैं। इस सबके विस्तृत विवेचन में जाना यहाँ असम्भव है। संक्षिप्त रूप में इतना निर्देश करना काफी है कि निम्नलिखित जातक-कथाओं के रूप में हमें कहीं-न-कहीं 'पंचतन्त्र', 'हितोपदेश' या 'कथा-सरित्सागर' की कहानियों में मिल ही जाते हैं, जैसे कि—

१. चुल्ल सेट्ठि जातक (४)
२. नलपान-जातक (२०)
३. बक-जातक (३८)
४. सच्चंकिर-जातक (७३)
५. कूटवाणिज-जातक (९८)
६. बिलार-जातक (१२८)
७. काक-जातक (१४६)
८. सिगाल-जातक (१४८)
९. सीहचम्म-जातक (१८९)
१०. चुल्लपदुम-जातक (१९३)
११. कूटवाणिज-जातक (२१५)
१२. उलूक-जातक (२७०)
१३. कुटिदूसक-जातक (३२१)
१४. सन्धिभेद-जातक (३४९)
१५. दब्बपुप्फ-जातक (४००)
१६. सिवि-जातक (४९९)

बल्कि चुल्लपदुम-जातक (१९३) की कथा 'दशकुमारचरित' में भी पायी जाती है। इसी सम्बन्ध में यह कहना भी आवश्यक है कि भारतीय लोक साहित्य में भी अनेक जातक-कहानियों को अदृश्यरूप से खोजा जा सकता है। ऐसी कहानियाँ भारत के प्रत्येक प्रान्त में प्रचलित हैं। उदाहरणतः "सीख वाकूं दीजिए, जाकूं सीख सुहाइ। सीख न दीजो बानरा, बया को घर जाइ।"

केरूप में बन्दर और बया की कहानी भारत के सब प्रदेशों में विदित है। परन्तु कम ही लोग जानते हैं कि यह कुटिदूसक जातक (३२१) की कहानी है। इसी प्रकार कई अनेक कहानियों को श्रुत-परम्परा से प्राप्त भारतीय लोक-साहित्य में मनोरंजकपूर्ण ढंग से खोजा जा सकता है।

'जातक' ने विदेशी साहित्य को भी किस प्रकार प्रभावित किया है और किस प्रकार उसके माध्यम से बुद्ध-वचनों का गमन दूरस्थ देशों में—यूरोप तक, हुआ है, इसकी कथा भी बड़ी अद्भुत है। जिस प्रकार जातक-कथाएँ समुद्र मार्ग से लंका, बरमा, स्याम, जावा, सुमात्रा, हिन्द-चीन आदि दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों को गयीं और वहाँ स्थापत्य-कला आदि में चित्रित की गयीं, उसी प्रकार स्थल-मार्ग से हिन्दुकुश और हिमालय को पार कर पच्छिमी देशों तक उनके पहुँचने की यात्रा भी बड़ी लम्बी और मनोहर है। पिछले पचास-साठ वर्षों की ऐतिहासिक गवेषणाओं से यह पर्याप्त रूप से सिद्ध हो चुका है कि बुद्ध-पूर्व काल में भी विदेशों के साथ भारत के व्यापारिक सम्पर्क थे। बावेरु जातक (३३१) और सुसन्धि जातक (३६०) में हम इन सम्बन्धों की पर्याप्त झलक देख ही चूके हैं। द्वितीय शताब्दी ईसवी से ही अलसन्द (अलेक्जेण्ड्रिया) जिसे अलक्षेन्द्र (अलेक्जेण्डर) ने बसाया था, पूर्व और पश्चिम की संस्कृतियों का मिलन-केन्द्र हो गया था। वस्तुतः पश्चिम एशिया में भारतीय साहित्य और विशेषतः जातक-कहानियों की पहुँच अरब और फिर उसके बाद ग्रीक लोगों के माध्यम से हुई। 'पञ्चतन्त्र' में अनेक जातक-कहानियाँ विद्यमान हैं, यह तथ्य सर्वविदित है और इसके सम्बन्ध में हम ऊपर कह भी चुके हैं। छठी शताब्दी ईसवीं में पंचतन्त्र का अनुवाद पहलवी भाषा में किया गया। आठवीं शताब्दी में 'ककेला दमना' शीर्षक से उसका अनुवाद अरबी में किया गया। 'ककेला दमना' शब्द 'कर्कट' और 'दमनक' के अरबी रूपान्तर हैं। पन्द्रहवीं शताब्दी में पंचतंत्र के अरबी अनुवाद का जर्मन भाषा में अनुवाद हुआ, फिर धीरे-धीरे सभी यूरोपीय भाषाओं में उसका रूपान्तर हो गया। यह हमने पंचतन्त्र के माध्यम से जातक-कथाओं के प्रसार की बात कही है। वास्तव में सीधे रूप से भी जातक ने विदेशी साहित्य को प्रभावित किया है और उसकी कथा भी अत्यन्त प्राचीन है। वेस्सन्तर जातक का सोग्द भाषा में खण्डित अनुवाद मिला ही है। जातक के गन्धार-प्रदेश में चित्रित किये जाने के भी साक्ष्य मिले हैं। यहाँ तक कि आज तक इस जातक का अभिनय श्रीलंका, कम्पूचिआ आदि देशों में वैशाख-पूर्णिमा के दिन किया जाता है। चीन देश के तुन्-हुआङ्ग नगर के समीप सहस्र-बुद्ध-गुहा विहार में विशाल

पाण्डुलिपि-संग्रह के साथ जो महान् चित्र-निधि मिली है, उसमें अनेक जातक के चित्र सम्मिलित हैं और वे लगभग चौथी शताब्दी की कृतियाँ हैं।

ग्रीक साहित्य में ईसप की कहानियाँ प्रसिद्ध हैं। फ्रेंच, जर्मन और अंग्रेज विद्वानों की खोज से सिद्ध है कि ईसप एक ग्रीक थे, यद्यपि उनके काल के विषय में अभी पूर्ण निश्चय नहीं हो पाया है। ईसप की कहानियों का यूरोपीय साहित्य पर बड़ा प्रभाव पड़ा है और विद्वानों के द्वारा यह दिखा दिया गया है कि ईसप की अधिकांश कहानियों का आधार जातक है।[1] सीहचम्म जातक (१८९) की कथा तो अति प्रसिद्ध ही है, जो ईसप की कहानियों में भी पायी जाती है। सिंह की खाल ओढ़े हुए गधा इन दोनों जगह ही दिखायी पड़ता है। हम पहले देख ही चुके हैं कि 'पंचतन्त्र' और 'हितोपदेश' में भी यह कहानी पायी जाती है। डॉ० टी० डब्ल्यू० रायस डेविड्स का तो मत है कि शेक्सपियर ने अपने नाटक 'किंग जोन्ह' में इस कथा की ओर संकेत किया है, अंक २, दृश्य १ तथा अंक ३, दृश्य १ में (बुद्धिस्ट बर्थ स्टोरीज, भूमिका, पृष्ठ ६; श्रीमती रायस डेविड्स द्वारा सम्पादित संस्करण)। इसी प्रकार अलिफलैला की कहानियों से भी जातक की समानताएँ हैं। समुग्ग जातक (४३६) का तो सीधा सम्बन्ध अलिफलैला की एक कहानी से दिखाया ही गया है।[2] इसी प्रकार राध-जातक (१९८) में एक दुराचारिणी स्त्री के द्वारा उसकी निगरानी करने वाले सुए को मार देने की कथा है। यह भी अलिफलैला की एक कहानी में मिलती है। कृतज्ञ पशु और अकृतज्ञ मनुष्यों की कहानियाँ जो सच्चंकिर जातक (७३), तक्कारिय जातक (४८१) और महाकपि जातक (५१६) में मिलती हैं, यूरोप की अनेक भाषाओं के कथासाहित्य में बिखरी पड़ी है। इसी प्रकार अकृतज्ञ पत्नी की कहानी भी है, जो चुल्लपदुम जातक (१९३) में आइ है, प्रायः सारे यूरोप के कथा-साहित्य में व्याप्त

---

१. टी० डब्ल्यू० रायस डेविड्स : बुद्धिस्ट बर्थ स्टोरीज, पृष्ठ ३२-३३ (भूमिका, श्रीमती रायस डेविड्स द्वारा सम्पादित संस्करण, जार्ज रटलेज एण्ड संस, लन्दन)।

२. देखिये, डॉ० हेमचन्द्र रायचौधरी का "बुद्धिज्म इन वेस्टर्न एशिया, शीर्षक लेख, डॉ० विमलाचरण लाहा द्वारा सम्पादित "बुद्धिस्टिक स्टडीज" में पृष्ठ ६३९-६४०।

है।[1] कच्चप जातक (२१५) की कहानी ग्रीक, लेटिन, अरबी, फारसी और अनेक यूरोपीय भाषाओं के साहित्य में पायी जाती है, ऐसा रायस डेविड्स ने हमें बताया है। इसी प्रकार जम्बुखादक जातक (२९४) की कहानी है। इसमें जामुन के पेड़ पर बैठा एक कौआ नीचे बैठे गीदड़ द्वारा की गयी अपनी प्रशंसा को सुनकर उसके लिये भी जामुन के कुछ मीठे फल नीचे गिरा देता है। जंगली कौए की प्रशंसा कर पनीर के टुकड़ों को पाने वाली लोमड़ी की कहानी के रूप में यह ईसप की कहानियों में आती है और यूरोप भर के बालकों को विदित है। महोसंघ जातक, दधिवाहन जातक और राजोवाद जातक की कहानियाँ भी इसी प्रकार यूरोपीय साहित्य में थोड़े बहुत रूपान्तर से पायी जाती हैं। अन्य अनेक कहानियों की भी तुलना विद्वानों ने की है।[2] आठवीं शताब्दी में अरबों ने यूरोप पर आक्रमण किया। स्पेन और इटली आदि को उन्होंने रौंद डाला। उन्हीं के साथ जातक कहानियाँ भी इन देशों में गयी और उन्होंने धीरे-धीरे सारे यूरोपीय साहित्य को प्रभावित किया। फ्रांस के मध्यकालीन साहित्य में पशु-पक्षी सम्बन्धी कहानियों की अधिकता हैं। फ्रेंच विद्वानों ने उन पर 'जातक' के प्रभाव को स्वीकार किया है। बायबिल और विशेषतः सन्त जोन्ह के सुसमाचार की अनेक कहानियों और उपमाओं की तुलना पालि तिपिटक और विशेषतः 'जातक' के इस सम्बन्धी विवरणों से विद्वानों ने की है। ईसाई-धर्म पर बौद्ध धर्म का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है, यह अब प्रायः निर्विवाद माना जाने लगा है। इस प्रभाव में अन्य अनेक तत्त्वों के अतिरिक्त 'जातक' का भी काफी सहयोग रहा है। ईसाई सन्त प्लेसीड्स की तुलना निग्रोधमिग जातक (१२) की कथा से की गयी है, यद्यपि विण्टरनित्ज् ने उसमें अधिक साम्य नहीं भी पाया है।[3] पर सबसे अधिक साम्य तो मध्य-युग की रचना 'बरलाम एण्ड जोसफत' या ('जोसफत एण्ड बरलाम') का जातक के 'बोधिसत्त्व' से है। इस रचना में, जो मूलतः छठीं या सातवीं शताब्दी ईसवीं में पहलवी में लिखी गयी थी, भगवान् बुद्ध की जीवनी एक ईसाई सन्त के परिधान में वर्णित की गयी है। बाद में इस

---

१. देखिये, 'एन्साइक्लोपीडिया ऑव रिलिजन एण्ड एथिक्स' जिल्द सातवीं में 'जातक' का विवरण।

२. मिलाइये, विण्टरनित्ज: इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १३० पद-संकेत २, आदि।

३. इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १५०, पद-संकेत २।

रचना के अनुवाद अरब, सीरिया, इटली और यूरोप की अन्य भाषाओं में हुए। अरबी भाषा में अनुवाद का शीर्षक है "बलव्हार और बूदास्फ"। ईथियोपिया की भाषा में भी इसका एक संस्करण "बरलाम और एवासेफ" शीर्षक से हुआ।[१] ग्रीक भाषा में इस रचना का अनुवाद आठवीं शताब्दी में अरब के खलीफा अल मंसूर के समकालिक एक ईसाई सन्त ने जिसका नाम 'दमिश्क का सन्त जोन्ह' (सेण्ट जोन्ह ऑव दमस्कस--६७६-७४९ ई०) था, किया। ग्रीक से इस रचना का लैटिन में अनुवाद हुआ और फिर यूरोप की अन्य भाषाओं में। करीब ८० संस्करण इस रचना के यूरोप, अफ्रीका और पश्चिमी एशिया की भाषाओं में हुए हैं। इस रचना में जोसफत बोधिसत्त्व के रूप में हैं और बरलाम उनके गुरु हैं। बुद्ध के जन्म की कथा, वृद्ध, रोगी, मृत और प्रव्रजित को उनके द्वारा देखना और संन्यास लेना, ये सब तथ्य 'बुद्ध-चरित' की शैली में यहाँ वर्णित है। बुद्ध के जन्म पर की गयी भविष्यवाणी का भी वर्णन है और पिता के द्वारा पुत्र को महल के अन्दर रखने का भी, ताकि वह संसार का दुःख न देख सके। 'जोसफत' शब्द अरबी 'युदस्तफ' का रूपान्तर हैं, जो स्वयं संस्कृत 'बोधिसत्त्व' का अरबी अनुवाद है। बोधिसत्त्व शब्द पहले बोसत बना और फिर जोसफत या जोसफ। ईसाई धर्म में सन्त जोसफत को (जिनका न केवल नाम बल्कि पूरा जीवन बोधिसत्व-बुद्ध-का जीवन है) ईसाई सन्त के रूप में स्वीकार किया गया है। पोप सिक्सटस पंचम (१५८५-९०) ने अपने २७ दिसम्बर, सन् १५८५ के आदेश में जोसफत और बरलाम को ईसाई सन्तों के रूप में स्वीकार किया है। इस प्रकार ईसाई परिधान में मध्यकालीन यूरोप बोधिसत्त्व-बुद्ध को पूजता रहा। मध्ययुगीन ईसाई यूरोप पर बौद्ध धर्म के प्रभाव का यह प्रतीक है। यह एक बड़ी अद्भुत किन्तु ऐतिहासिक रूप से सत्य बात है।[२] डॉ० टी० डब्ल्यू० रायस डेविड्स् ने तो शेक्सपियर के 'मर्चेण्ट ऑव वेनिस'

---

१. ईथियोपियन पाठ का सम्पादन और अंग्रेजी अनुवाद, सर ई० ए० वालिस बज ने किया है। शीर्षक है "बरलाम एण्ड एवासेफ।" कैम्ब्रिज यूनीवर्सिटी प्रेस, १९२३ ई०।

२. देखिये, टी० डब्ल्यू० रायस डेविड्स : बुद्धिस्ट बर्थ स्टोरी, ज पृष्ठ ३८-३९ (भूमिका, श्रीमती रायस डेविड्स द्वारा सम्पादित संस्करण)। सन्त जोसफत और बलराम की कहानी तथा बौद्धधर्म के साथ इसके सम्बन्ध पर वैसे तो प्रभूत साहित्य है, परन्तु अभी हाल में इस विषय पर एक बहुत सुन्दर पुस्तक निकली है, "दि विज़डम ऑव बलहवार : ए क्रिश्चियन लीजेण्ड ऑव

में 'तीन डिबियों' तथा 'आध सेर मास' के वर्णन में तथा 'ऐज यू लाइक इट' में 'बहुमूल्य रत्नों' के विवरण में जातक के प्रभाव को ढूंढ़ निकाला है, एवं स्लेवोनिक जाति के साहित्य में तथा प्रायः सभी पूर्वी यूरोप के साहित्य में 'जातक' के प्रभाव की विद्यमानता दिखायी है।[1] भिक्षु शीलभद्र ने पर्याप्त उदाहरण देकर सिद्ध किया है कि निमि जातक (५४१) ही चौदहवीं शताब्दी के इटालियन कवि दांते की प्रसिद्ध रचना (Divina Comedia) का आधार है।[2] जर्मन विद्वान् वेन्फ़े ने 'जातक' को विश्व के कथा-साहित्य का उद्गम कहा है, जो तथ्यों के प्रकाश में अतिशयोक्ति नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार भारतीय साहित्य और संस्कृति के साथ विश्व के साहित्य और सभ्यता के इतिहास में 'जातक' के स्थान और महत्त्व के इस संक्षिप्त दिग्दर्शन के बाद अब हम खुद्दक-निकाय के अन्य ग्रन्थों पर आते हैं।

दि बुद्ध", लेखक डेविड मार्शल लेंग! प्रकाशक जार्ज एलिन एण्ड अनविन, लन्दन, १९५७। देखिये एस० एम० स्टर्न और सोफियी बल्चेर : 'थ्री अननोन बुद्धिस्ट स्टोरीज इन ऐन अरेबिक वरजन'। आक्सफर्ड १९७१ ई०।

१. "Thus for instanee the Three Caskets and the Pound of Flesh in the Merchant of Venice and the Precious Jewels which in 'As You Like It' the venomous toad wears in his head, are derived from the Buddhist talcs. In a similar way, it has been shown that tales current among the Hungarians and the numerous peoples of the Slavonic race have been derived from the Buddhist sources, through translations made for Huns, who penetrated in the time of Genghis Khan in the East of Europe." बुद्धिस्ट बर्थ स्टोरीज, पृष्ठ ३९-४० (भूमिका) (श्रीमती रायस डेविड्स द्वारा सम्पादित संस्करण, जार्ज रटलेज एण्ड संस, लन्दन)।

२. देखिये, उनका "Influence of the Buddhist Jatakas on European Literature" शीर्षक लेख, 'दि महाबोधि जर्नल, जनवरी १९५०, पृष्ठ १०-१६; मिलाइये दि बुद्धिस्ट, जनवरी, १९४८, पृष्ठ ११८-१२० (कोलम्बो, सिंहल) भी।

निद्देस

निद्देस के दो भाग हैं—महानिद्देस और चुल्ल निद्देस। महानिद्देस सुत्त-निपात के अट्ठक-वग्ग की व्याख्या है। इसी प्रकार चुल्ल निद्देस एक प्रकार से सुत्त-निपात के ही खग्गविसाण-सुत्त और पारायण-वग्ग (वत्थुगाथा को छोड़कर) की व्याख्या है। इस प्रकार पूरा निद्देस सुत्त-निपात के एक भाग की ही अट्ठकथा है। परम्परा से यह धर्मसेनापति सारिपुत्र की रचना बतायी जाती है। 'महानिद्देस' में हमें उन स्थानों, देशों और बन्दरगाहों की सूची मिलती है जिनके साथ भारत का व्यापार पाँचवीं-छठीं शताब्दी ईसवीं-पूर्व होता था। समुद्र, नदी और स्थल के कौन-कौन से मार्ग थे, इसका भी पूरा विवरण हमें यहाँ मिलता है। इस प्रकार यहाँ गुम्ब, तक्कोल, तक्कसिला, सुवण्णभूमि, तम्बपण्णि, सुप्पार (सुप्पारक-सोपारा) भरुकच्छ, सुरट्ठ और अलसन्द (अलैक्जंडरिया-सिकन्दरिया) आदि अनेक स्थानों और बन्दरगाहों के विवरण मिल जाते हैं। इसी प्रकार चुल्लनिद्देस में आयी पारायणवग्ग की व्याख्या में बावरी ब्राह्मण की कथा के प्रसंग में पतिट्ठान (प्रतिष्ठान-पैठन) से लेकर मगध तक उसके शिष्यों की यात्रा की व्याख्या करते हुए माहिष्मती, उज्जयिनी, विदिशा, कौशाम्बी, साकेत, श्रावस्ती, कपिलवस्तु, कुशीनगर(कुसिनारा), भोगनगर और वैशाली आदि स्थानों के महत्त्वपूर्ण भौगोलिक विवरण दिये गये हैं। धार्मिक इतिहास की दृष्टि से भी निद्देस की कुछ सूचनाएँ महत्त्वपूर्ण हैं। उदाहरणतः महानिद्देस में श्रमण-ब्राह्मणों की नाना धर्म-साधनाओं के विवरण-प्रसंग में 'व्रतशुद्धिक' (व्रत से शुद्धि मानने वाले) लोगों का उल्लेख करते हुए उनके नाना प्रकार दिखाये गये हैं, जैसे कि हस्तिव्रतिक अश्वव्रतिक, गोव्रतिक, कुक्कुव्ररतिक और इनके साथ ही गिनाये गये हैं, वासुदेव व्रतिक (वासुदेव-कृष्ण का व्रत लेने वाले)। बलदेव व्रतिक और यक्षव्रतिक। ये सब लोग व्रत से शुद्धि और विमुक्ति में विश्वास करते थे। "सन्तेके समणब्राह्मणा वतसुद्धिका—ते हत्थिवतिका वा होन्ति, अस्सवतिका वा होन्ति, कुक्कुरवतिका वा होन्ति, वासुदेववतिका वा होन्ति, बलदेववतिका वा होन्ति। इमे ते समण ब्राह्मणावतसुद्धिका। ते वतेन सुद्धिं विसुद्धिं······विमुत्तिं रिमुत्तिं पपच्चेन्ती ति।" हम पहले मज्झिम-निकाय के "कुक्कुरवतिक-सुत्त' में कुक्कुरवतिक अचेल सेनिय की और गोव्रतिक पूर्ण कोलियपुत्र को देख ही चुके हैं।

---

१. महानिद्देस पालि, पृष्ठ ७४ (देवनागरी संस्करण)।

निद्देस की व्याख्याएँ भी कहीं-कहीं बड़ी विशद, मौलिक और आध्यात्मिक अर्थ से भरी हुई हैं। उदाहरणार्थ—'चुल्लनिद्देस' में "सुञ्ञतो लोकमवेक्खस्सु" की व्याख्या करते हुए नाना प्रकार से समझाया गया है कि 'शून्यतानुपश्यना' कैसे की जाती है। निद्देस का देवनागरी लिपि में सम्पादन भिक्षु जगदीश काश्यप है खुद्दकनिकाय पालि, जिल्द चौथी, भाग १ व २ में किया है। प्रथम भाग में महानिद्देस[1] है, द्वितीय में चुल्लनिद्देस। (पालि प्रकाशन मण्डल, बिहार राज्य, १९५९-६०)।

पटिसम्भिदामग्ग[1]

इस ग्रन्थ का विषय अर्हत् के प्रतिसंवित् सम्बन्धी ज्ञान का विवेचन है। सम्पूर्ण ग्रन्थ में तीन मुख्य भाग हैं। जिनमें से प्रत्येक में १० परिच्छेद हैं। इस ग्रन्थ का सम्बन्ध शैली और विषय दोनों की दृष्टि से अभिधम्म-पिटक से अधिक है। इसका कुछ विवरण हम आगे अभिधम्म-पिटक का विवेचन करते समय देंगे। यहाँ इसकी कुछ महत्त्वपूर्ण व्युत्पत्तियों और व्याख्याओं की ओर इंगित मात्र कर देना पर्याप्त होगा। उदाहरणतः यहाँ समाधि के पच्चीस अर्थ दिये गये है। "पञ्चवीसति समाधिस्स समाधिट्ठा"। शून्यता समाधि ('सुञ्ञतो समाधि') या शून्यता-विहार ('सुञ्ञतो विहारो') की विस्तृत व्याख्या की गयी है। इसी प्रकार ध्यान के सम्बन्ध में 'नेक्खम्मं झायती' ति झानं, 'कामच्छन्द झापेती' ति झानं, झायन्तो मुञ्चती'ति 'झानविमोक्खो' आदि के रूप में विस्तृत व्युत्पत्तिपरक व्याख्याएँ हं जो सब अभिधम्म की शैली में हैं। ज्ञान और प्रज्ञा के सम्बन्ध में कहा गया है, "तं आतट्ठेन ञाणं, पजाननट्ठेन पञ्ञा।" 'गति' को यहाँ संस्कार और 'अ-गति' को निर्वाण बताया गया है। "गति सङ्खारा, अगति निब्बानं"। ये सब बातें बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं। हालांकि वे यहाँ

---

२. भिक्षु जगदीश काश्यप द्वारा सम्पादित देवनागरी संस्करण, बिहार-राज्य के पालि प्रकाशन मण्डल द्वारा प्रकाशित। पटिसम्भिदामग्ग, खुद्दकनिकाय पालि, जिल्द पाँचवीं में (१९६० ई०)। अपदान, जिल्द छठी तथा सातवीं में (१९५९ ई०) सम्पादित। सिंहली लिपि में पटिसम्भिदामग्ग धम्मकित्ति सिरि जिनरतन नायक थेर द्वारा सम्पादित तथा 'अपदान' सोरत थेर द्वारा सम्पादित साइमन हेवावितरणें संस्करण)।

इस स्थविरवादी व्याख्या-ग्रन्थ में पायी जाती हैं; परन्तु इनका वास्तविक महत्त्व तभी ज्ञात होता है जब हम इन्हीं के सम्बन्ध में प्रभावशाली विचारों को चीनी ध्यानाचार्यों (विशेषतः छठे धर्मनायक हुई-नेंग् और उनके शिष्य युंग्-चिआ) के द्वारा अभिव्यक्त होते हुए देखते हैं। शून्यतापश्यना का उद्देश्य इस ग्रन्थ में अनाशक्ति को माना गया है और कहा गया है कि जो व्यक्ति अभिनिवेश (आसक्ति) को भय के रूप में देखता है, वही वास्तव में शून्यस्थ है---"अभिनिवेसं भयतो सम्पस्समानो सुञ्ञट्ठो।" इसी प्रकार अनात्मानुपश्यना और शून्यतानुपश्यना को यहाँ बिलकुल एक अर्थ वाला अनुभव माना गया है और केवल शब्दों में नानात्व है, ऐसा कहा गया है। "या च अनत्तानुपस्सना या च सुञ्ञतानुपस्सना, इमे धम्मा एकत्था, व्यञ्जनमेव नानं। "यह व्याख्या अनात्मवाद को शून्यवाद से जोड़ने वाली है। दूसरे शब्दों में जो स्थविरवाद में अनात्मवाद है, वही महायान में शून्यवाद है, यह विचार यहाँ सूक्ष्म रूप में विद्यमान है। छठें धर्मनायक हुइ-नेंग् ने 'मंचसूत्र' में बार-बार इस बात पर जोर दिया है कि शून्यता का अर्थ रिक्तता के विचार में चले जाना या अपने को जड़ बना लेना या अपने चित्त को सब विचारों से खाली कर देना नहीं है, बल्कि वह अपने चित्त से हर वस्तु के प्रति आसक्ति को हटाना ही है, ताकि हमारा चित्त सर्वथा विमुक्त रहे और दुनिया की किसी चीज से चिपटे नहीं। यह विचार यहाँ 'पटिसम्भिदामग्ग' में विद्यमान है, जहाँ कि अभिनिवेश को भय के रूप में देखने वाले व्यक्ति को ही शून्यता समाधि में स्थित बताया गया है। 'गति' को संसार और 'अ-गति' को निर्वाण बताने वाले विचार का भी महायान के ध्यान-सम्प्रदाय के साहित्य में जहाँ तक उल्लेख आया है, इस प्रकार 'पटिसम्भिदामग्ग' की कई व्याख्याएँ बड़ी लक्षणीय ही मानी जा सकती हैं और उनका वास्तविक महत्त्व तब खुलता है, जब हम उन्हें ध्यान-सम्प्रदाय के साहित्य के साथ मिलाकर पढ़ें और उन पर मनन करें। जिसे 'सम्प्रेषित ध्यान' (चीन के धर्मनायकों द्वारा विकसित ध्यान) कहा जाता है, वह किस गूढ़ रूप से तथागत-ध्यान (बुद्ध द्वारा मूल रूप में उपदिष्ट ध्यान) की ही (चीनी प्रकृति के अनुसार) विवृति है और उससे अभिन्न है, इसे मज्झिम-निकाय के चूल-सुञ्ञता-सुत्त और महा-सुञ्ञता-सुत्त के साथ-साथ पटिसम्भिदामग्ग की व्याख्याओं के आधार पर भी दिखाया जा सकता है, परन्तु इस सम्बन्ध में यहाँ कुछ अधिक नहीं।

अपदान[1]

अपदान (सं० अवदान) खुद्दक-निकाय के उत्तरकालीन ग्रन्थों में से है। अपदान दो भागों में विभक्त है—थेर-अपदान और थेरी-अपदान। थेर-अपदान में ५५ वर्ग हैं और प्रत्येक वर्ग में १० अपदान हैं (चौतीसवें वर्ग में केवल ७ अपदान हैं)। थेरी-अपदान में ४ वर्ग हैं, जिनमें भी प्रत्येक में १० अपदान हैं। थेर-अपदान में ५४७ भिक्षुओं और थेरी-अपदान में ४० भिक्षुणियों के पूर्व-जन्मों के महान् कृत्यों का वर्णन है। ये सब भिक्षु-भिक्षुणियाँ बुद्ध के साक्षात् शिष्य-शिष्याएँ थे। जातक के समान अपदान की भी कहानी के दो भाग होते हैं—एक अतीत जन्म-सम्बन्धी और दूसरा वर्तमान (प्रत्युत्पन्न) जीवन-सम्बन्धी। साहित्य या इतिहास की दृष्टि से इस ग्रन्थ का कोई विशेष महत्त्व नहीं है। हाँ, लोक-धर्म के रूप में बौद्धधर्म का चित्र यहाँ अवश्य मिलता है, जैसे कि दान, चैत्य-स्तूप आदि के वर्णन। इसी ग्रन्थ की शैली पर संस्कृत बौद्ध-साहित्य का अवदान-साहित्य अधिकांशतः विकसित हुआ है, यह भी इसका एक महत्त्व कहा जा सकता है। 'अपदान' में 'चीन-रट्ठ' (चीन राष्ट्र) का उल्लेख है।

'अपदान' के आरम्भ में दो परिच्छेद हैं—बुद्धापदान और पच्चेकबुद्धापदान। बुद्धापदान में बुद्ध भगवान् ने अपनी पूर्व-कर्म-प्लोति (पुब्बकम्म-पिलोति) का वर्णन किया है और अपने इस जन्म में आयी सारी विपत्तियों के कारण के रूप में अपने पूर्वजन्म के दुष्कृत्यों को दिखाया है। यहाँ कहा गया है कि एक बार बुद्ध भगवान् महान् भिक्षु-संघ के सहित अनवतप्त सरोवर पर गये और वहाँ लोकनायक ने बैठकर अपने पूर्व कर्मों को खोला और भिक्षुओं से कहा कि जो-जो कर्म मैंने पूर्वजन्मों में किये, उन्हें सुनो कि किस प्रकार यह कर्म-गुदड़ी मेरे बुद्धत्त्व प्राप्त करने के बाद भी अपने विपाक को दिखा रही है—'अनोतत्तसरासन्ने रमणीये सिलातले। महता भिक्खुसङ्घेन परेतो लोकनायको॥ आसीनोव्याकरी तत्व पुब्बकम्मानि अत्तनो। सुणाथ भिक्खो मह्यं यं कम्मं पकतं मया। पिलोतिकस्स कम्मस्स बुद्धत्ते पि विपच्चती' ति। यह उल्ले-

---

[1] भिक्षु जगदीश काश्यप द्वारा सम्पादित देवनागरी संस्करण, बिहार-राज्य के पालि प्रकाशन मण्डल द्वारा प्रकाशित। पटिसम्भिदामग्ग, खुद्दकनिकाय पालि, जिल्द पाँचवीं में (१९६० ई०) : अपदान, जिल्द छठी तथा सातवीं में (१९५९ ई०) सम्पादित। सिंहली लिपि में पटिसम्भिदामग्ग धम्ममित्ति सिरि जिनरतन नायक थेर द्वारा सम्पादित तथा 'अपदान' सोरत थेर द्वारा सम्पादित (साइमन हेवावितरणे संस्करण)।

खनीय है कि बुद्ध भगवान् का अनवतप्त ह्रद पर अपने शिष्यों के साथ जाना और उनका वहाँ अपनी कर्म-गुदड़ी को खोलने का प्रसंग 'दिव्यावदान' (प्रातिहार्यसूत्र) में भी निर्दिष्ट है और मूल सर्वास्तिवादी विनय के अंशभूत 'भैषज्य-वस्तु' की खण्डित 'स्थविरगाथा' में भी यही प्रसंग कुछ विस्तार से आया है जहा उनके कई महाशिष्यों ने भी अपनी-अपनी कर्म-गुदड़ी को खोला है। पच्चेकबुद्धपदान में 'खग्गविसाण-सुत्त' के समान प्रत्येक बुद्ध प्राणी के एकान्त-शील जीवन के सम्बन्ध में उदात्त गाथाएँ हैं।

अपदान का जातक से सम्बन्ध है। जातक में जबकि बोधिसत्त्व के अवदानन, उनके महान् कार्य, लक्षणीय कार्य या उस सम्बन्धी कथाएँ वर्णित हैं, तो अपदान में बुद्ध के शिष्य-शिष्याओं, स्थविर और स्थविरियों के महान् कार्यों का वर्णन है। इस दृष्टि से आर्यशूर-कृत 'जातकमाला' का जो दूसरा नाम 'बोधिसत्त्वावदान माला' है, वह बड़ा लक्षणीय है, अर्थात् बोधिसत्त्व के अवदानों की माला। जातक बोधिसत्त्व के अवदान ही हैं। जातक और अपदान दोनों की ही कहानियों में कर्म-फल की अमोघता दिखायी गयी है। संस्कृत अवदान-ग्रन्थों में बहुत से जातक गुँथे पड़े हैं और उनकी प्रवृत्ति निरन्तर महायान की ओर बढ़ती गयी है। "न कर्माणि विनश्यन्ति" का मूल भाव तो है ही। 'अपदान' की आभिधार्मिक शैली को देखकर उसकी उत्तरकालीनता पर जोर देना हमारी दृष्टि में अधिक सार्थक नहीं है। हम जानते ही हैं कि दीघभाणकों ने अपदान को बुद्ध-वचनों के अन्तर्गत मानना स्वीकार नहीं किया था। बुद्धघोष ने 'सुमङ्गलविलासिनी' की निदान कथा में इस तथ्य का निर्देश किया है और यह स्पष्ट भी है। थेर-थेरी गाथाओं की अपनी अट्ठकथा ('परमत्थदीपनी') में धम्मपालाचार्य ने स्थाविरों और स्थविरियों की जो जीवनियाँ दी हैं, उनमें उन्होंने जगह-जगह "तेनवुत्तं अपदाने" कह-कहकर अपनी अट्ठकथा के आधार के रूप में 'अपदान' को स्वीकार किया है, और उससे सामग्री संकलित की है। इस दृष्टि से 'अपदान' का महत्त्व अनिराकरणीय ही है।

बुद्धवंस[1]

बुद्धवंस २८ परिच्छेदों का एक पद्यात्मक ग्रन्थ है, जिसमें गौतम बुद्ध और उनके पूर्ववर्ती २४ अन्य बुद्धों की जीवनियों का विवरण है। पच्चीसवें बुद्ध—

१-२. इनके देवनागरी संस्करण भिक्षु उत्तम द्वारा प्रकाशित किए जा चुके हैं, जिन्हें महापंडित राहुल सांकृत्यायन, भदन्त आनन्द कौसल्यायन तथा भिक्षु जगदीश काश्यप ने सम्पादित किया है। चरियापिटक का देवनागरी

गौतम बुद्ध—के सम्बन्ध में इस ग्रन्थ में २५ गाथाएँ हैं, जिनका उच्चारण, बुद्धवंस की अट्ठकथा ('मधुरत्थविलासिनी') के अनुसार, स्वयं भगवान् बुद्ध ने बोधिप्राप्ति के बाद कपिलवस्तु में आने पर किया था। वास्तव में उक्त अट्ठकथा के अनुसार पूरे बुद्धवंस का ही उपदेश तथागत के द्वारा दिया गया है और यह उपदेश तब दिया गया जब प्रथम बार भगवान् कपिलवस्तु आये और वहाँ न्यग्रोधाराम में ठहरे। परन्तु यह बात सम्भव नहीं जान पड़ती। कुछ भी हो, गौतम बुद्ध के जीवनी-सम्बन्धी अंश को छोड़कर शेष तो प्रायः पौराणिक ढंग का ही है, अतः उसका महत्त्व भी केवल उसी दिशा में समझना चाहिए। एक सांस्कृतिक और ऐतिहासिक महत्त्व की बात जो हमें 'बुद्धवंस' में मिलती है, यह है कि यहाँ सुमेध बोधिसत्त्व कोणागमन बुद्ध और उनके शिष्यों को 'चीन पट्ट' भेंट करते हैं। "पटुन्नं चीनपट्टं च कोयेय्यं कम्बलं पि च।" इससे यह प्रकट होता है कि 'बुद्धवंस' की रचना के समय चीन के साथ भारत के व्यापारिक सम्बन्ध इतने विकसित थे कि वहाँ का वस्त्र यहाँ आता था और समादृत होता था। चीन का 'चीन' नाम वहां 'छिन्' राजवंश के कारण पड़ा, जिसका समय २५६ ई० पूर्व—२०६ ई० पूर्व है। अतः इससे यह भी सिद्ध है कि 'बुद्धवंस' का रचना-काल तृतीय शताब्दी ई० पूर्व से काफी बाद का है।

लिपि में सम्पादन डॉ० विमलाचरण लाहा ने भी किया है, जिसे मोतीलाल बनारसीदास, लाहौर ने सन् १९२४ में प्रकाशित किया था। इसी का संशोधित संस्करण भण्डारकर ओरियण्टल सीरीज़, जिल्द चार, (१९४९) में छपा है। भिक्षु जगदीश काश्यप द्वारा सम्पादित इन दोनों ग्रंथों के देवनागरी संस्करण नवीनतम हैं। ये खुद्दकनिकाय पालि, जिल्द सातवीं में है। (१९५९ ईसवी) : त्रिपिटकाचार्य भिक्षु धर्मरक्षित ने चरियापिटक का सम्पादन किया है, हिन्दी अनुवाद-सहित, जिसे मास्टर खेलाड़ीलाल एण्ड सन्स, वाराणसी ने सन् १९५४ में प्रकाशित किया है। डी० एल० बड़ुआ ने चरियापिटक की धम्मपाल-रचित अट्ठकथा का सम्पादन किया है, जिसे पालि टैक्स्ट सोसायटी लन्दन, ने प्रकाशित किया है। इस संस्करण में बड़ुआ महोदय ने अट्ठसालिनी, जातकट्ठकथा और धम्मपदट्ठकथा के उद्धरणों का आधार लेकर चरियापिटक के पाठ का निर्णय करने का प्रयत्न किया है। उनका मत है कि वीर्य, प्रज्ञा और क्षान्ति सम्बन्धी पारमिताओं के निदर्शनार्थ भी कथाएँ चरियापिटक में थीं।

चरियापिटक'

चरियापिटक में भगवान् बुद्ध के पूर्वजन्मों की चर्याओं का वर्णन है, जिसमें यह दिखाया गया है कि किस प्रकार भगवान् ने नाना पारमिताओं को पूरा किया था। दस पारमिताओं में से यहाँ केवल सात का उल्लेख है, यथा—दान, शील, नैष्कर्म्य, अधिष्ठान, सत्य, मैत्री और उपेक्षा। प्रज्ञा, वीर्य और क्षान्ति का वर्णन नहीं है। सम्पूर्ण ग्रन्थ सात परिच्छेदों में है, जिनमें इन सात पारमिताओं के आधार पर कुल मिलाकर ३५ जीवनचर्याओं का वर्णन है। प्रत्येक जीवनचर्या का वर्णन एक जातक-कथा सा लगता है, जिसे गाथात्मक रूप दे दिया गया है। नाम-साम्य भी दोनों में पूरा है। उदाहरण के लिए 'अकित्ति-चरियं', 'अकित्ति-जातक' का रूपान्तर मात्र है। इसी प्रकार 'संख-चरियं', 'संखपालजातक' के 'कुरुधम्म चरियं', 'कुरुधम्म जातक' के तथा इसी प्रकार शेष चर्याएं प्रायः उसी नाम के जातक के पद्यात्मक रूपान्तर मात्र हैं। जातक से अत्यन्त सम्बन्धित होते हुए भी चरियापिटक का कलात्मक रूप उस कोटि तक नहीं पहुँच पाया है। वैसे कई मनोहर गाथाएँ भी यत्र-तत्र दिखायी पड़ती हैं।

'चरियापिटक' की प्रत्येक 'चर्या' की तुलना किस जातक से है, यह निम्न-लिखित तालिका से स्पष्ट होगा।

१—दान-पारमिता

१. अकित्ति चरियं—अकित्ति जातक (४८०)

२. संख चरियं—संखपाल जातक (५२४)

३. कुरुधम्म चरियं—कुरुधम्म जातक (२७६)

४. महासुदस्सन चरियं—महासुदस्सन जातक (९५)

५. महागोविन्द चरियं—यह कथा जातक में नहीं पाई जाती, परन्तु महागोविन्द-सुत्त (दीघ-निकाय) में है।

६. निमिराज चरियं—निमि जातक (५४१)

७. चन्दकुमार चरियं—खंडहाल जातक (५४२)

८. सिविराज चरियं—सिवि जातक (४९९)

९. वेस्सन्तर चरियं—वेस्सन्तर जातक (५४७)

१०. ससपंडित चरियं—सस जातक या ससपंडित जातक (३१६)

२—सील-पारमिता

११. सीलवनाग चरियं—सीलवनाग जातक (७२)
१२. भूरिदत्त चरियं—भूरिदत्त जातक (५४३)
१३. चम्पेय्य नाग चरियं—चम्पेय्य जातक (५०६)
१४. चूलबोधि चरियं (चुल्लबोधि चरियं)—चुल्लबोधि जातक (४४३)
१५. महिंसराज चरियं—महिस जातक (२७८)
१६. रुरुराज चरियं—रुरुमिग जातक या रुरुमिगराज जातक (४८२)
१७. मातंग चरियं—मातंग जातक (४९७)
१८. धम्माधम्मदेवपुत्त चरियं—धम्म जातक (४५७)
१९. जयद्दिस चरियं—जयद्दिस जातक (५१३)
२०. संखपाल चरियं—संखपाल जातक (५२४)

३—नेक्खम्म-पारमिता

२१. युधञ्जय चरियं—युवञ्जय जातक (या युधञ्जय या युद्धंजय जातक) (४६०)
२२. सोमनस्स चरियं—सोमनस्स जातक (५०५)
२३. अयोघर चरियं—अयोघर जातक (५१०)
२४. भीस चरियं—भिस जातक (४८८)
२५. सोणपण्डित चरियं—सोणनन्द जातक (५३२)

४—अधिट्ठान-पारमिता

२६. तेमिय चरियं—तेमिय जातक (या मूगपक्ख जातक) (५३८)

५—सच्च-पारमिता

२७. कपिराज चरियं—कपि जातक (२५०)
२८. सच्चसव्हय चरियं—सच्चकिर जातक (७३)
२९. वट्टपोतक चरियं—वट्ट जातक (३५)
३०. मच्छराज चरियं—मच्छ जातक (३४)
३१. कण्हदीपायन चरियं—कण्हदीपायन जातक (४४४)
३२. सुतसोम चरियं—महासुतसोम जातक (५३७)

६—मैत्री-पारमिता

३३. सुवण्णसाम चरियं—साम जातक या सुवण्णसाम जातक (५४०)
३४. एकराज चरियं—एकराज जातक (३०३)

७—उपेक्षा-पारमिता

३५. महालोमहंस चरियं—लोमहंस जातक (६४)

'चरियापिटक' की ये १३ 'चर्याएँ' आर्यशूर-कृत 'जातकमाला' में भी पायी जाती है और वहाँ वे उस-उस जातक के नाम से वर्णित हैं, यथा—

१. सिविराज चरियं—शिवि जातक
२. ससपण्डित चरियं—शश जातक
३. अकित्ति चरियं—अगस्त्य जातक
४. वेस्सन्तर चरियं—विश्वन्तर जातक
५. मच्छराज चरियं—मत्स्य जातक
६. वट्टपोतक चरियं—वर्तकापोतक जातक
७. भीस चरियं—बिस जातक
८. चूलबोधिचरियं—चुड्डबोधि जातक
९. रुरुराज चरियं—रुरु जातक
१०. कपिराज चरियं—महाकपि जातक
११. सुतसोम चरियं—सुतसोम जातक
१२. अयोघर चरियं—अयोगृह जातक
१३. महिंसराज चरियं—महिष जातक[1]

---

१. मिलाइये, पीछे 'जातक' के विवरण में जातक और 'जातकमाला' की कहानियों की तुलना भी।

चौथा अध्याय

विनय-पिटक

तिपिटक में विनय-पिटक[1] का स्थान

विनय-पिटक बौद्ध भिक्षु-संघ का संविधान है। अतः धार्मिक दृष्टि से उसका बड़ा महत्त्व है। बुद्ध-धर्म का प्रथम तीन शताब्दियों का इतिहास मुख्यतः विनय-पिटक संबंधी विवादों और मतभेदों का ही इतिहास है। शास्ता के महापरि-निर्वाण के बाद ही 'क्षुद्रानुक्षुद्र' विनय-सम्बन्धी नियमों ('खुद्दानुखुद्दकानि सिक्खापदानि') को लेकर भिक्षु-संघ में विवाद उठ खड़ा हुआ था, जिसका प्रथम संघ-भेदक परिणाम वैशाली की संगीति में दृष्टिगोचर हुआ और 'महासङ्गीतिक' भिक्षु प्रकट हुए। बाद में तृतीय संगीति तक आते-आते वह मतभेद अष्टादश

---

१. महापंडित राहुल सांकृत्यायन द्वारा अनुवादित, महाबोधि सभा, सार-नाथ १९३५। रोमन लिपि में एच० ओल्डनबर्ग ने पाँच जिल्दों में 'विनय-पिटक' का सम्पादन किया था—लन्दन, १८७९-१८८३। सिंहली लिपि में वेन्तोल सद्धातिस्स द्वारा सम्पादित; बरमी लिपि में छट्ठ संगायन संस्करण और स्यामी लिपि में महामुकुट राजकीय प्रकाशन के संस्करण उपलब्ध हैं। आर० डी० वड़ेकर ने विनय-पिटक के 'पातिमोक्ख' अंश का नागरी लिपि में सम्पादन किया है (भण्डारकर ओरियण्टल सीरीज, १९३९)। बम्बई विश्वविद्यालय ने विनय-पिटक के केवल महावग्ग का देवनागरी लिपि में प्रकाशन किया है, जिसे प्रो० एन० के० भागवत ने सम्पादित किया है। प्रथम भाग, खन्धक १-५ (सन् १९-४४ ई०) तथा द्वितीय भाग, खन्धक ६-१० (सन् १९५२ ई०)। सन् १९५६-५८ में भिक्षु जगदीश काश्यप जी ने पाँच जिल्दों में सम्पूर्ण विनय-पिटक का देवनागरी लिपि में सम्पादन किया है, जिसे बिहार राज्य के पालि प्रकाशन मण्डल ने प्रकाशित किया है। पाँच जिल्दों में विषय का विभाजन इस प्रकार है—पहली जिल्द महावग्ग पालि (१९५६ ई०); दूसरी जिल्द, चुल्लवग्ग पालि (१९५६ ई०); तीसरी जिल्द, पाराजिक पालि (१९५८ ई०); चौथी जिल्द, पाचित्तिय पालि (१९५८ ई०); पाँचवीं जिल्द, परिवार पालि (१९५८ ई०)।

निकायों के रूप में पूर्णतः स्फुटित हो गया। यह बात नहीं है कि इसके अन्य कारण न रहे हों, किन्तु विनय-विपरीत आचरण एक प्रमुख कारण था। यही कारण है कि स्थविरवाद बौद्ध धर्म की परम्परा ने 'विनय-पिटक' को अपनी धर्म-साधना में सदा एक अत्यन्त ऊँचा स्थान दिया है। बुद्ध के जीवन-काल में ही विद्रोही शिष्य देवदत्त ने विनय-सम्बन्धी नियमों में कुछ अधिक कड़ाई की माँग की थी। उसने उस स्वतन्त्रता के विरुद्ध ही, जो तथागत ने अपने शिष्यों को दी थी, विद्रोह किया था। इसी प्रकार कौशाम्बिक भिक्षुओं के दुर्व्यवहार के कारण भगवान् को खिन्न होकर एक बार भिक्षु-संघ को कुछ काल के लिए छोड़ कर एकान्त-वास के लिए जाना पड़ा था। प्रातिमोक्ष में जाना उन्होंने छोड़ ही दिया था। इन सब बातों से स्पष्ट था कि भगवान् ने जिस धम्म का उपदेश दिया था, उसका साक्षात्कार बिना जीवन की पवित्रता के असम्भव था। उस पवित्रता के सम्पादन के लिए जिस साधन-मार्ग की आवश्यकता थी, उसका वास्तविक उपदेश तो उनके 'धम्म' में ही दे दिया गया था। जो कुछ भी धर्म का उपदेश बुद्ध ने दिया था, वह प्राणियों की विनय के लिए, विनयन के लिए, ही तो था। किन्तु भिक्षु और भिक्षुणी संघों की स्थापना के बाद उनके विपुलता प्राप्त करने पर और उनके लिये समाज में लाभ-सत्कार भी बढ़ने पर, उनमें कुछ असंयमी और अन्वैराग्यवान् व्यक्तियों के भी स्वाभाविक रूप से प्रविष्ट हो जाने के कारण, उनकी व्यवस्था को कुछ बाह्य नियमों में भी बाँधने की आवश्यकता थी। यही कारण है कि हम विनय-पिटक में नाना प्रकार के नियमों का प्रज्ञापन बुद्ध-मुख से हुआ देखते हैं, जिनके प्रज्ञापन करने की उनके अपने उस प्राथमिक उपदेश-काल में, जब तपस्सु और भल्लिक जैसे उपासक केवल बुद्ध और धम्म की शरण जाते थे (संघ की स्थापना ही उस समय नहीं हुई थी, अतः स्वभावतः पारिभाषिक अर्थों में विनय सम्बन्धी नियमों की भी नहीं) कोई आवश्यकता ही नहीं थी।[1] परन्तु जब विनय-नियम प्रज्ञप्त भी किये गये और संघ स्थापित भी किया गया, तब भी संघ में काफी समय तक पूर्ण विशुद्धि रही। बुद्ध धर्म की साधना का यह वह युग था, जब बुद्ध कह सकते थे—

"यं मया सावकानं सिक्खापदं पञ्ञत्तं, तं मम सावका जीवितहेतु पि नातिक्कमन्ति।" (अंगुत्तर-निकाय) अर्थात् "जिन शिक्षापदों (सदाचार-

---

१. यद्यपि विनय-पिटक के वर्णनानुसार यह काल बहुत कम दिन रहा, किन्तु इसकी-सी पवित्रता तो बहुत दिन रही।

नियमों) को मैंने अपने शिष्यों के लिए प्रज्ञप्त किया है, उनका वे अपने प्राणों के लिए भी कभी उल्लंघन नहीं करते ।"

बुद्ध के जीवन-काल में कब तक शिक्षापद नहीं थे और कब वे प्रथम बार प्रज्ञप्त किये गये, इसका विनिश्चय करना बड़ा कठिन है। बुद्ध की शिक्षाएँ तो आदि से ही थीं और वे 'धर्म' के अन्तर्भूत थीं। पारिभाषिक अर्थ में शिक्षापद बाद में प्रज्ञप्त किये गये। 'सम्पूर्ण पाप का न करना, कुशल कर्मों की उपसम्पदा और अपने चित्त को विशुद्ध करना' को 'धम्मपद' (१४।५) में 'बुद्धों' का शासन बताया गया है। इसमें सम्पूर्ण धम्म और विनय आ जाता है और यह सब बुद्धों का शासन है। यह अतिशय उदार और सर्वस्पर्शी वर्णन है। इसी प्रकार चक्षु, काया, वाणी और मन का संवर (संवरण, ढँककर रखना, सँभाल कर रखना, वश में रखना), जिसका उपदेश 'धम्मपद' (२५।१-२) में है, बुद्ध के द्वारा बताया गया मार्ग है, वही त्राण है और वह सब सत्त्वों के लिये है। इसी के आधार पर भिक्षु के लिये भी कहा गया है कि वह "चक्षु के रूप को देखकर न निमित्त कोग्रहण करने वाला होता है और न अनुव्यञ्जनों को ग्रहण करने वाला, बल्कि वह चक्षु-इन्द्रिय में संवर (संयम) को प्राप्त होता है, मन-इन्द्रिय में संवर (संयम) को प्राप्त होता है।"—"सो चक्खुना रूपं दिस्वा न निमित्तग्गाही होति नानु-व्यञ्जनग्गाही होति.....चक्खुन्द्रिये संवरं आपज्जति....मनिन्द्रिये, संवरं आपज्जति।" तो उन भगवान् ने 'चूलहत्थिपदोपम-सुत्त' के समान न जाने अन्य कितने सुत्तों में और कितनी अधिक बार यही बात कही। इस प्रकार संयम भगवान् के सब उपदेशों का सार है। इस संयम के लिए ही विनय है। "विनयो संवरत्थाय।" और यही सच्ची सम्पति है, शील-सम्पत्ति। इस प्रकार सम्पूर्ण विनय अपने आप में धम्म में समाविष्ट है। फिर भी अलग से और 'संवर, (संयम) के रूप में ही, भिक्षुओं के शील-सम्पत्ति के रूप में ही, विनय-पिटक के नियमों या शिक्षापदों का विधान भगवान् ने भिक्षुओं के लिये किया। और यह उनके जीवन में कुछ काल बाद ही किया गया, यह सुनिश्चित है। जैसा हम आगे देखेंगे, भगवान की बोधि-प्राप्ति के बारहवें वर्ष तक शिक्षापद नहीं थे, या थे तो बहुत थोड़े ही थे। इसी प्रकार हम आगे भी देखेंगे कि बोधि-प्राप्ति के बाद बीस वर्षों में ('पठम बोधियं वीसति वस्सानि') भिक्षु-सङ्घ प्रायः अपनी पूर्ण निर्मल अवस्था में अवस्थित था। इस समय कुछ शिक्षापद प्रज्ञप्त किये जा चुके थे, परन्तु भिक्षु उनका मन से पालन करते थे। इसके बाद शिक्षापदों की संख्या बढ़ने लगी और अधिकांश भिक्षु उनके पालन में प्रमाद

करने लगे। बोधि-प्राप्ति के बारहवें वर्ष में जब भगवान् वेरञ्जा में वर्षावास कर रहे थे, तो उस समय, अङ्गुत्तर-निकाय के अट्ठकनिपात के 'पहाराद-सुत्त' के अनुसार (और मनोरथपूरणी' में आयी उनकी व्याख्या के अनुसार भी) 'पहराव' (प्रहाराद) नामक असुरेन्द्र भगवान् के पास आया और उसी से भगवान् ने वह बात कही जिसे हम ऊपर उद्धृत कर चुके हैं, अर्थात् यह कि, "जिन शिक्षापदों को मैंने अपने शिष्यों के लिये प्रज्ञप्त किया है, उनका वे अपने प्राणों के लिये भी कभी उल्लङ्घन नहीं करते।" हम आगे देखेंगे कि बोधि-प्राप्ति के बाद बारहवें वर्ष में ही भगवान् के वेरञ्जा में वर्षावास करते समय, एक अन्य पालि वर्णन के अनुसार, भगवान् ने यह प्रकट किया था कि अभी शिक्षापदों के प्रज्ञप्त करने का समय नहीं आया है। कुछ भी हो, यह स्पष्ट है कि भगवान् की बोधि-प्राप्ति के बारह वर्ष बाद तक या तो शिक्षापद अलग से प्रज्ञप्त ही नहीं किये गये थे या यदि कुछ किसी भी रूप में प्रज्ञप्त भी किये गये थे, तो उनकी संख्या बहुत अल्प थी और भगवान् के सभी भिक्षु-शिष्य उनका पूरी तरह पालन करते थे। यही बात इस तथ्य से भी प्रकट होती है कि भगवान् के जीवन के अपर भाग में जब शिक्षापदों की संख्या बहुत बढ़ गई और अधिकतर भिक्षु उनके पालन में प्रमाद करने लगे, तो इससे खिन्न होकर महाकाश्यप ने ('सद्धम्मप्पतिरूपक-सुत्त' में आये वर्णन के अनुसार) एक दिन इसकी तुलना संघ की पूर्वावस्था से करते हुए भगवान् से कहा, "क्या हेतु है, क्या प्रत्यय है कि पहले अल्पतर ही थे शिक्षापद ('पुब्बे अप्पतरानि चेव सिक्खपदानि अहेंसु'), परन्तु बहुलतर भिक्षु प्रज्ञा (ज्ञान) में संस्थित रहते थे ('बहुतरा च भिक्खू अञ्ञाय सण्ठहिंसु') और अब बहुलतर है शिक्षापद, परन्तु अल्पतर ही भिक्षु प्रज्ञा (ज्ञान) में संस्थित रहते हैं—("बहुतरानि चेव सिक्खापदानि, अप्पतरा च भिक्खू अञ्ञाय सण्ठहन्ति)।" इस प्रकार शिक्षापदों और उनके पालन करने में यह कालक्रम का विधान है। भगवान् के जीवन में ही उनकी एक पूर्वावस्था है और एक अपरावस्था। जब पूर्वावस्था थी, तो या तो बुद्ध का कोई शिष्य प्रमाद करता ही नहीं था और यदि कभी किसी ने कुछ थोड़ा प्रमाद किया, तो भगवान् उसे केवल थोड़ा चेता देते थे और उतने से काम निकल आता था। भिक्षु-संघ की इस अवस्था के सम्बन्ध में स्वयं भगवान् बुद्ध मज्झिम-निकाय के 'ककचूपम-सुत्त' में कहते हैं, "भिक्षुओ! एक समय भिक्षु मेरे चित्त को आराधित करते थे। भिक्षुओ! उन भिक्षुओं के प्रति मुझे अनुशासन नहीं करना होता था, केवल उन्हें याद

भर दिला देना मेरा काम था।"[१] यहाँ 'एक समय' से क्या अभिप्राय है ? यह किस समय की स्थिति को सूचित करता है ?" 'पपञ्चसूदनी' की 'ककचूपम-सुत्त-वण्णना' में इसका कोई स्पष्टीकरण नही है और वहाँ केवल "एकं समयं' ति एकस्मि समये" ति कहकर केवल शब्द-परिवर्तन मात्र कर दिया गया है। किन्तु 'समन्तपासादिका' (प्रथम पाराजिक) में इसका पूरा समाधान मिल जाता है। वहाँ साफ तौर पर कहा गया है, "भगवतो किर पठमबोधियं वीसति वस्सानि भिक्खू चित्तं आराधयिंसु" ति। अर्थात् "भगवान् की बोधि के बाद बीस वर्षों तक भिक्षु भगवान् के चित्त को आराधित करते थे।" यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण निर्देश है और इसमें स्पष्ट प्रकट हो जाता है कि भगवान् की बोधि-प्राप्ति के बीस वर्षों में भिक्षु-संघ अपनी स्वाभाविक विमलता में रहा और भिक्षुओं ने प्राणों से भगवान् की शिक्षा का पालन किया। 'समन्तपासादिका' से ही हमें मालूम होता है कि भगवान् की बोधि-प्राप्ति के बाद बीस वर्षों तक किसी भिक्षु ने गृहस्थ का दिया हुआ चीवर (वस्त्र) भी ग्रहण नहीं किया और सब पांशुकूलिक (गुदड़ीधारी) ही रहे। अतः यह अवधि संघ के विमल रूप में अवस्थित रहने की है। बोधि-प्राप्ति के बीसवें वर्ष के बाद ही जब संघ को अतिशय लाभ-सत्कार की प्राप्ति हुई, तो उसके लोभ में पड़कर अयोग्य व्यक्ति भी संघ में घुस पड़े और तभी शिक्षापदों के विधान की आवश्यकता पड़ी और इस प्रकार क्रमशः बार-बार उल्लंघन और बार-बार शिक्षापदों का प्रज्ञापन होने लगा, बार-बार छोटी-से-छोटी बातों में भी शास्ता को कहना पड़ा 'ऐसा करो', ऐसा मत करो' आदि। एक लोकोत्तर पुरुष जब साधारण लौकिक लोगों के बीच उनके हितार्थ आ गया, तो उसे इस प्रकार पीड़ित होना ही पड़ा। बोधि-प्राप्ति के बाद बारहवें वर्ष में ही कदाचित् इस कार्य का कुछ-न-कुछ आरम्भ हो गया और बोधि-प्राप्ति के बीस वर्ष बाद से लेकर तो शिक्षापदों की संख्या में निरन्तर वृद्धि होती ही गयी।

हम ऊपर देख चुके हैं कि बुद्ध-शासन के प्राथमिक काल में विनय धर्म में ही अन्तर्हित था। जब शिक्षापद प्रथम बार आये भी, तो भी वे धर्म में ही अन्तर्हित रहे। बोधिपक्षीय धर्मों की भावना और तदनुकूल आचरण स्वयं अपने आप में चित्त और काया की विशुद्धि के लिए एक अद्वितीय मार्ग था।

---

१. "आराधयिंसु वत मे, भिक्खवे, भिक्खू एकं समयं चित्तं।...न मे भिक्खवे तेसु भिक्खूसु अनुसासनी करणीया अहोसि। सतुप्पादणीयमेव मे, भिक्खवे, तेसु भिक्खूसु अहोसी" ति।

चार आर्य-सत्य, आर्य-अष्टांगिक मार्ग आदि सभी उस साधना के अंग थे। चार स्मृति-प्रस्थानों के विषय में तो स्वयं भगवान् ने कहा है—"भिक्षुओ! प्राणियों की विशुद्धि के लिए निर्वाण के साक्षात्कार के लिए, यही एकायन मार्ग है।" कहने का तात्पर्य यही है कि जब भगवान् बुद्ध ने आरम्भ से ही सभी पाप-कर्मों को न करने, सभी कुशल कर्मों को सम्पादित करने और चित्त को संयमित कर उसे शुद्ध रखने का आदेश देते हुए अपने धम्म को प्रकाभित किया, 'विनय' उसमें स्वयं अपने आप सम्मिलित था। अंगुत्तर निकाय के तिक-निपात के एक सुत्त ('वज्जिपुत्त-सुत्त') में भगवान् बुद्ध ने कहा है कि सम्पूर्ण शिक्षापद शील, समाधि (चित्त) और प्रज्ञा के अभ्यास में ही निहित हैं। यह वज्जिपुत्त नामक एक भिक्षु भगवान् के पास आता है और कहता है, 'भन्ते! ये शिक्षापद तो डेढ़ सौ से भी अधिक हैं। मैं इन्हें नहीं सीख सकता'।—"साधिकमिदं, भन्ते, दियड्ढसिक्खापदसतं। नाहं भन्ते! एत्थ सक्कोमिसिक्खितुं।" तो भगवान् उसे केवल तीन शिक्षाएँ—अधिशील-शिक्षा, अधिचित्त-शिक्षा और अधिप्रज्ञा शिक्षा सीखने,...को कहते हैं और समझाते हैं कि इसमें सारे शिक्षाप्रद समाविष्ट हैं। "एत्थ सब्बं समोधानं गच्छति।" इस प्रकार उपर्युक्त तीन शिक्षाओं में बुद्ध-धर्म का सब कुछ रक्खा हुआ है। इतना ही क्यों चूल पन्थक को दिये गये उनके ध्यान-विषय "रजोहरणं" ("रज दूर हो जाय") में तो सम्पूर्ण विनय-पिटक ही आ जाता है, ऐसा भी कहा जा सकता है। लौकिक सफलता और महत्त्व-प्राप्ति के लिए भी जब संयम, या जिसे आज अनुशासन कहा जाता है इतना आवश्यक है, तो ब्रह्मचर्य के उस महत् उद्देश्य के लिए, जिसकी महत्ता सभी लौकिक और पारलौकिक उद्देश्यों को अतिक्रमण करती हैं, कितना आवश्यक था, इसका सर्वोत्तम दर्शन हमें बुद्ध-उपदेशों में ही होता है। स्वभावतः शास्ता के धम्म और विनय दोनों एक चीज हैं, एक ही वस्तु के दो पहलू हैं। उनके सामासिक स्वरूप 'धम्म-विनय' का भी यही रहस्य है। धर्म के पालन करने पर विनय का अपने आप पालन हो जाता है। इसी प्रकार विपरीत रूप में जब धर्म में दोष आता है, तो विनय का पालन भी दूषित हो जाता है और विनय के सन्दोष से धर्म में भी सन्दोष आ जाता है। अंगुत्तर निकाय (पंचक निपात) के ततिय अनागत-सुत्त में स्वयं भगवान् ने ही अपने मुख से कहा है—"इन्ध खो, भिक्खवे, धम्मसन्दोसो विनय सन्दोसो, विनयसन्दोसा धम्म-सन्दोसो।" बल्कि 'महावस्तु में तो स्वयं बुद्ध के जीवन को 'विनय' कहा गया है, क्योंकि वह बोधि या निर्वाण की ओर सत्त्वों को ले जाता है, उनका विनयन करता है। इसी प्रकार बुद्ध-स्तुति या उनकी चर्या का मनन भी स्वयं

विनय है, ऐसा विचार 'महावस्तु' में है और यह बौद्धों की विशिष्ट मान्यता ही लगती है ।

जब कि बुद्ध मन्तव्य के अनुसार धम्म और विनय का एक-सा ही महत्त्व है, 'विनय-पिटक' के नियम शास्ता के शासन के बाहरी रूप मात्र हैं उनका मानसिक आधार निश्चित होते हुए भी स्वयं उनका प्रज्ञापन उस अवस्था का सूचक है जब संघ में प्रविष्ट कुछ अ-संयमी भिक्षु तथागत-प्रवेदित धर्म के विरुद्ध आचरण करने लगे थे । जब तक यह बात नहीं हुई, तथागत को नियम-विधान की आवश्यकता नहीं हुई । 'पाराजिक' पालि में आये धर्म सेनापति सारिपुत्र के साथ भगवान् के इस संलाप से यह बात स्पष्ट होगी । भगवान् की बोधि प्राप्ति के बारहवें वर्ष में भगवान् के वेरंजा में वास करते समय धर्मसेनापति सारिपुत्र एक बार भगवान् से प्रार्थना करते हैं—"भन्ते ! भगवान् शिष्यों के लिए शिक्षापद का विधान करें, प्रातिमोक्ष का उपदेश करें, जिससे कि यह ब्रह्मचर्य चिरस्थायी हो ।" भगवान् कहते हैं—"सारिपुत्र ! ठहरो, तथागत काल जानेंगे । सारिपुत्र ! शास्ता तब तक श्रावकों (शिष्यों) के लिए शिक्षापद का विधान नहीं करते, प्रातिमोक्ष का उपदेश नहीं करते, जब तक कि संघ में कोई चित्त-मल वाले धर्म (पदार्थ) उत्पन्न नहीं होते । सारिपुत्र ! जब यहाँ संघ में कोई चित्त-मल को प्रकट करनेवाले धर्म पैदा हो जाते हैं, तो उन्हीं का निवारण करने के लिए, उन्हीं के प्रतिघात के लिए, शास्ता श्रावकों को शिक्षापद का विधान करते हैं, प्रातिमोक्ष का उपदेश करते हैं......(अभी तो) सारिपुत्र ! संघ मल-रहित, दुष्परिणाम-रहित, कालिमा-रहित, शुद्ध सार में स्थित है । इन पाँच सौ भिक्षुओं में जो सबसे पिछड़ा भिक्षु है, वह भी स्रोत-आपत्ति फल को प्राप्त, दुर्गति से रहित और स्थिर संबोधिपरायण है ।"[1] अतः निश्चित है कि विनय-सम्बन्धी नियमों का उपदेश जैसे कि वे विनय-पिटक में निहित हैं, भगवान् के द्वारा बोधि-प्राप्ति के बारहवें वर्ष के बाद दिया गया जब कि अधिक मल-ग्रस्त व्यक्ति केवल धर्म के आधार पर अपना सुधार नहीं कर सके और अनेक आस्रव स्थानीय धर्म भिक्षु-संघ में प्रकट होने लगे । बुद्ध ने विनय-पिटक के नियम बाद में बनाये, यह 'थेरगाथा' में स्थविर सरभंग के एक कथन से भी विदित होता है । यह भिक्षु पहले अपने हाथ से सरकंडों को तोड़ता था, परन्तु बुद्ध द्वारा भिक्षुओं को नियम प्रज्ञप्त करने के बाद उसने ऐसा करना छोड़ दिया । वह कहता है, "अपने हाथों से सरकंडे तोड़ कर मैं कुटी बना कर

---

१. विनय-पिटक, प्रथम पाराजिक ।

रहता था, इसलिए व्यवहार में मेरा नाम 'सरभंग' पड़ा। आज मुझे हाथ से सरकंडे नहीं तोड़ना चाहिए, क्योंकि यशस्वी गौतम ने हमारे लिए शिक्षापद (विनय के नियम) बनाये हैं।"[1]

एक बार शिक्षापदों और प्रातिमोक्ष-सम्बन्धी नियमों का प्रज्ञापन करने के बाद संघ की स्थिति के लिए वह अत्यन्त आवश्यक हो गया। किन्तु शास्ता यह जानते थे कि एक बार आन्तरिक संयम से च्युत हो जाने के बाद उसे बाहरी नियमों के बन्धन में बाँध कर नहीं रक्खा जा सकता। बोधि-प्राप्ति के बाद पाँचवें वर्ष में राजा शुद्धोदन की मृत्यु के पश्चात् जब महाप्रजावती गौतमी की प्रव्रज्या-उपसम्पदा हुई और उसके साथ ही जब भिक्षुणी-संघ की स्थापना हुई, तो उस समय भिक्षुणियों के लिए जीवन-पर्यन्त पालनीय आठ गुरु धर्मों (बड़ी शर्तों) का विधान करते समय शास्ता को यह प्रतिभान हो गया था कि यह बाहरी रोकथाम अधिक दिन तक चल नहीं सकता। "आनन्द! जैसे आदमी पानी को रोकने के लिए, बड़े तालाब की रोकथाम के लिए, मेंड़ बाँधे, उसी प्रकार आनन्द! मैंने रोकथाम के लिए भिक्षुणियों को जीवन भर अनुल्लंघनीय आठ गुरु धर्मों को स्थापित किया।" फलतः "आनन्द! अब ब्रह्मचर्य चिरस्थायी न होगा, सद्धर्म पाँच सौ वर्ष ही ठहरेगा।" विचार-स्वातन्त्र्य की महत्वानुभूति पर आश्रित बुद्ध-मन्तव्य कभी मनुष्य को बाहरी नियमों के बन्धन में बाँधने वाला नहीं हो सकता था। जो कुछ भी नियम उन्होंने आवश्यकतावश प्रक्षप्त किये थे, उनमें से अनेक ऐसे भी हो सकते थे जो उसी युग, स्थान और परिस्थिति के लिए अनुकूल हों और जिनका सार्वकालिक या सार्वजनीन महत्त्व प्रतिष्ठापित करना उसी बुद्धिहीनता, संकुचित वृत्ति और सच्चे उद्देश्य को छोड़कर बाहरी रूप की ओर दौड़ने की प्रवृत्ति का सूचक हो, जो धर्म-साधनाओं के इतिहास में अक्सर देखी जाती है, इसकी भी पूरी अनुभूति भगवान् बुद्ध को थी, यह हमें परिनिर्वृत्त होने से पहले उनके इस आदेश में देखते हैं—"इच्छा होने पर संघ मेरे बाद क्षुद्रानुक्षुद्र (छोटे-मोटे) शिक्षापदों को छोड़ दे।" संघ बाहरी बन्धन अनुभव न करे, इसीलिए उन्होंने अपने बाद किसी व्यक्ति को जान-बूझ कर उसका नेता तक नहीं चुना।[2] एकमात्र 'धम्म-विनय' रूपी नेता के शरण में ही उन्होंने भिक्षु-संघ को छोड़ा। उन्होंने तो यहाँ तक कह दिया, "भिक्षुओ!

---

१. थेरगाथा, गाथाएँ, ४८७-४८८।

२. देखिये, विशेषतः महापरिनिब्बाण-सुत्त, (दीघ० २।३); गोपक-मोग्गल्लानसुत्त (मज्झिम० ३।१।८)।

मैंने बेड़े की भांति निस्तारण के लिए तुम्हें धर्म का उपदेश दिया है, पकड़कर रखने के लिए नहीं। धर्म को बेड़े के समान उपदिष्ट जान कर तुम धर्म को भी छोड़ दो, अधर्म की तो बात ही क्या ?"[1] यही बात विधि-निषेध-परक विनय-सम्बन्धी नियमों के विषय में भी कही जा सकती है। चेतना (चित्त) को ही कम्म (कर्म) कहने वाले[2] शास्ता का यह बाहरी नियम-विधान अन्तिम मन्तव्य नहीं हो सकता था, यह ऊपर के उद्धरणों से स्पष्ट है। किन्तु निर्बल, मल-ग्रस्त मानवता के लिए और क्या किया जाय ? बाहरी नियम-विधानों से काम नहीं चलता, वे अपूर्ण ठहरते हैं, किन्तु उनके प्रज्ञापन किये बिना भी काम नहीं चलता।

जब सम्यक् सम्बुद्ध ने मनुष्यों का शास्ता बनना स्वीकार कर लिया, उनके बीच रहना-सहना, घूमना-फिरना स्वीकार कर लिया, संघ को धारण करना स्वीकार कर लिया,[3] मनुष्यों को विशुद्धि रूपी निर्वाण के मार्ग पर

---

१. अलगद्दूपम-सुत्त (मज्झिम० १।३।२)।

२. "चेतनाहं, भिक्खवे, कम्मं वदामि। चेतयित्वा कम्मं करोति कायेन वाचाय मनसा" ति। निब्बेधिक-सुत्त (अंगुत्तर-निकाय, छक्क-निपात)।

३. केवल व्यावहारिक अर्थ में। वास्तव में तो संघ की पूरी व्यवस्था करते हुए भी भगवान् सदा निर्लिप्त ही रहे। बहुत कुछ करने और न करने को कहते हुए भी उन्होंने अपने उपदेश को अनुरोध और विरोध से सर्वथा मुक्त ही रक्खा। वे कहीं किसी से बँधे नहीं। धम्म और विनय दोनों से वे ऊपर हैं, क्योंकि वे उसके मूल हैं। अर्थ-सिद्धि (निर्वाण की प्राप्ति) के बाद जब धर्म को भी उन्होंने नाव की तरह छोड़ देने को कहा, तो पार होने के साधन-स्वरूप विनय के नियमों का कहाँ ठिकाना ? जब आनन्द उनसे अन्तिम समय पर 'भिक्षु-संघ के लिए कुछ कहने के लिए प्रार्थना करते हैं, तो भगवान् कहते हैं, आनन्द ! जिसको ऐसा हो कि भिक्षु-संघ को धारण करता हूँ...वह जरूर आनन्द ! भिक्षु-संघ के लिए कुछ कहे। आनन्द ! तथागत को ऐसा नहीं है।" एक और स्थान पर भगवान् अपनी निर्लेपता का साक्ष्य देते हैं—"मागन्दिय ! धर्मों का अन्वेषण कर मुझे 'मैं यह कहता हूँ" यह धारणा नहीं हुई। बौद्ध संस्कृत ग्रन्थ 'लंकावतार-सूत्र' में तो बुद्ध कहते हैं—"इन उनचास वर्षों में मैंने धर्म पर एक शब्द भी भाषित नहीं किया है।" इसी को महायान ने तथागत की 'अनाभोग-चर्या' कहा है। महायान इस दिशा में इतना आगे बढ़ गया है कि उसने कह दिया है—"अवचनं बुद्ध-वचनमिति।"

लगाना स्वीकार कर लिया, तो उनकी चित्त-स्थिति के लिए अनुकूल नियम-विधान भी वे क्यों नहीं करते ? उनके शिष्यों में जो प्रधान थे, वे स्वतः ही भगवान् के 'धम्म' के अनुसार आचरण करते थे। अतः उन्हें अलग से विनय सम्बन्धी नियमों का उपदेश करने की आवश्यकता नहीं थी। किन्तु 'बहुजनों' में अधिकांश तो मल-ग्रस्त प्राणी ही थे। उन्हीं के पतन को देखकर भगवान् ने बाहरी नियमों का विधान किया, जिन्हें हम आज विनय-पिटक में देखते हैं। इनमें से बहुत कुछ बाहरी होते हुए भी अधिकांश मानसिक भित्ति पर ही आश्रित हैं, जो बुद्ध-मन्तव्य की सब से बड़ी विशेषता है। 'संयुत्त-निकाय' के भिक्खु-संयुत्त में किस प्रकार भगवान् बुद्ध ने नन्द और विस्त तथा अन्य भिक्षुओं को विनय-सम्बन्धी नियमों को कड़ाई के साथ पालन करने का उपदेश दिया है, यह हम पहले देख चुके हैं। अन्य भी अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं, जहाँ भगवान् बुद्ध ने विनय-सम्बन्धी नियमों को पूरी तरह पालन करने का भिक्षुओं को उपदेश दिया है। जब तक भगवान् जीवित रहे, तब तक उनके व्यक्तित्व और साक्षात् सम्पर्क से मनुष्यों को प्रेरणा मिलती थी। किन्तु उनके परिनिर्वाण के बाद तो विनय-सम्बन्धी नियम ही संघ की एकता और मौलिक पवित्रता के एकमात्र मापदंड रह गये। उसके बाद बौद्ध संघ में विनय-पिटक का जो महान् आदर और गौरव प्रतिष्ठापित हुआ, वह उसकी संकीर्णता या साम्प्रदायिकता का द्योतक नहीं था। वह भिक्षुओं की उस व्यग्रता का द्योतक था जिसके साथ वे सुधौत शंख की तरह निर्मल (शंख-लिखित) ब्रह्मचर्य को, शाक्यमुनि के शासन को, उसकी मौलिक पवित्रता में रखना और देखना चाहते थे। हम जानते ही हैं कि भगवान् ने अपने परि-निर्वाण से पूर्व संघ को यह आदेश दे दिया था कि यदि वह चाहे तो उनके परिनिर्वाण के बाद छोटे-मोटे विनय नियमों को छोड़ सकता है। जैसा 'महा-परिनिब्बाण-सुत्त' में कहा गया है, "आकङ्खमानो-आनन्द-संघो ममच्चयेन खुद्दानुखुद्दकानि सिक्खापदानि समूहनतू"ति प्रथम सङ्गीति के समय आनन्द ने यह बात सब सभासद भिक्षुओं को बतायी और स्वीकार किया कि स्वयं उन्होंने उस समय भगवान् से यह नहीं पूछा कि 'क्षुद्रानुक्षुद्र शिक्षापद' कौन से हैं ? प्रथम सङ्गीति में बैठे अर्हत् भिक्षु भी क्या निश्चय करते कि कौन से शिक्षापदों को 'क्षुद्रानुक्षुद्र' (छोटे-मोटे) माना जाय ? तब, उस हालत में, संघ-प्रमुख महाकाश्यप की यह बात ही सर्वसम्मति से स्वीकार की गई कि बुद्ध ने जिन भी शिक्षापदों को प्रज्ञप्त किया है, वे सब हमारे लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं और हमें उन सबका विशेष रूप से पालन करना चाहिए; जो कुछ भी बुद्ध

ने प्रज्ञप्त किया है, उसका समुच्छेद नहीं करना चाहिये और जिसे उन्होंने प्रज्ञप्त नहीं किया है, उसके बारे में हमें यह नहीं कहना चाहिये कि यह उनके द्वारा प्रज्ञप्त किया गया है। महाकाश्यप का वह प्रयत्न बेकार नहीं गया, यह हम आज भी देख सकते हैं। प्रथम सङ्गीति में विनय के जिस रूप का निर्धारण हुआ, अर्थात् महाकाश्यप और उनके साथी अन्य क्षीणस्रव अर्हतों ने बुद्ध के द्वारा प्रज्ञप्त जिस विनय को माना, वही मूल विनय है, ऐसा आज भी कहा जा सकता है। उसमें बुद्ध के प्राथमिक भिक्षु-शिष्यों का विशुद्ध संघगत जीवन और शङ्खलिखित ब्रह्मचर्य आज भी झलकता-सा है, इसमें कोई सन्देह नहीं। वैशाली की सङ्गीति के अवसर पर भी धर्मवादी भिक्षुओं ने किस प्रकार भगवान् के मौलिक उद्देश्यों की रक्षा की, यह हम उसके विवरण में (द्वितीय अध्याय में) देख चुके हैं। लंका, बरमा और स्याम के भिक्षु-सघों के इतिहास में किस प्रकार बिहार-सीमा और पारुपण (चीवर को दोनों कन्धे ढँक कर पहनना), एकसिक (चीवर को इस प्रकार पहनना, जिससे एक कन्धा, दाहिना कन्धा, खुला रहे) आदि अल्प महत्त्व के विनय-सम्बन्धी प्रश्नों को लेकर भी उत्तरकालीन युग में वाद-विवाद होते रहे हैं। वे न केवल उन देशों में बुद्ध-धर्म के जीवित स्वरूप में विद्यमान होने के प्रमाण हैं, बल्कि उसे उसी मौलिक, अक्षुण्ण पवित्रता के साथ रखने की व्यग्रता के भी अविवाद लक्षण हैं। अतः स्थविरवादी बौद्ध धर्म के क्षेत्र में विनय-पिटक की जो प्रतिष्ठा प्रारम्भिक युग से अब तक रही है, वह एक जीवित ऐतिहासिक तथ्य है और ऊपर के तथ्यों को देखते हुए वे सार्थक भी हैं।

बौद्धसंघ में विनय-पिटक का सदा से कितना आदर रहा है और उसके उत्तरकालीन इतिहास के निर्माण में उसका कितना बड़ा हाथ रहा है, यह ऊपर के विवरण से स्पष्ट है। वास्तव में भिक्षु-संघ ने अत्यन्त प्राचीन काल से उसे सुत्त-पिटक से भी अधिक ऊँचा स्थान दिया है, क्योंकि उसे ही उसने बुद्ध-शासन की आयु माना है। उसका विश्वास रहा है कि जब तक विनय-पिटक अपने मौलिक, विशुद्ध रूप में रहेगा तभी तक बुद्ध-शासन भी जीवित रहेगा और विनय-सम्बन्धी नियमों के अभ्यास के लुप्त हो जाने पर बुद्ध-शासन भी लुप्त हो जायगा। विशेषतः सिंहल और स्याम के भिक्षु-संघ में अभी तक यह विश्वास दृढ़ है और वे विनय, सुत्त, अभिधम्म, यह क्रम महत्त्व की दृष्टि से तिपिटक का कहते हैं। यह लक्षणीय है कि बुद्धघोषाचार्य ने 'सान्तपासादिका' की बाहिरनिदानकथा और 'अट्ठसालिनी' की निदानकथा में तिपिटक के निर्देश में सर्वप्रथम विनय-पिटक को लिया है; उसके बाद सुत्त-पिटक को और

अन्त में अभिधम्म-पिटक को। इसके सम्बन्ध में हम पहले तृतीय अध्याय में भी कुछ कह चुके हैं।[1] 'समन्तपासादिका' की बाहिरनिदानकथा में कहा गया है कि प्रथम धर्म-संगीति के प्रारम्भ में उसके सभापति महाकाश्यप ने भिक्षुओं से पूछा—"आयुष्मानो ! हम किसका पहले सङ्गायन करें, धम्म का या विनय का ? "आवुसो ! किं पठमं सङ्गायाम धम्मं वा विनयं वा ति" ? तब भिक्षुओं ने उन्हें उत्तर दिया, "भन्ते महाकश्यप ! विनय ही बुद्ध-शासन की आयु है। विनय के ठहरने पर ही शासन ठहरता है। इसलिये पहले विनय का ही सङ्गायन करें।" "भन्ते महाकस्सप ! विनयो नाम बुद्धसासनस्स आयु। विनये ठिते सासनं ठितं होति। तस्मा पठमं विनयं सङ्गायामा" ति। यही बात 'सुमङ्गल-विलासिनी' की निदानकथा में भी कही गई है और इसी के अनुसार उस प्रथम संगीति में पहले विनय का सङ्गायन किया गया था और उसके बाद धम्म का अर्थात् सुत्त-पिटक का। इस प्रकार आदि काल से ही तिपिटक के अन्तर्गत विनय-पिटक का महत्त्व सुप्रकट है। भोटदेशीय परम्परा में अवश्य कुछ भेद हैं। यहाँ पहले आनन्द सुत्तन्त का संगायन करते हैं और उसके बाद उपालि से पूछ-पूछकर विनय का संग्रह किया गया। देखिये, रॉकहिल: दि लाइफ ऑफ दि बुद्ध (पृष्ठ १५८-१५९)। विनय-सम्बन्धी मामलों में बरमी भिक्षु-संघ पर सिंहली प्रभाव ग्यारहवीं शताब्दी से ही रहा है। दोनों देशों में बुद्धदत्त, बुद्ध-घोष और धम्मपाल (चौथी-पाँचवीं शताब्दी के प्रसिद्ध पालि अट्ठकथाकार) के काल से लेकर ठीक आधुनिक काल तक विनय-पिटक पर विपुल व्याख्या-परक साहित्य की रचना हुई है, जो इन देशों में उसकी जीवित परम्परा की सूचक है।[1] न केवल स्थविरवाद बौद्ध धर्म की परम्परा में ही बल्कि अन्य बौद्ध सम्प्रदायों में भी विनय की महिमा सुरक्षित है, फिर चाहे उनके विनय-पिटक का स्वरूप स्थविरवादी बौद्धों के विनय-पिटक से भले ही कुछ थोड़ा भिन्न हो। चीन और जापान में 'रिश्शू' नामक बौद्ध-सम्प्रदाय है, जिसका शाब्दिक अर्थ ही है 'विनय-सम्प्रदाय' यह सम्प्रदाय 'धम्मगुत्तिक' विनय को ही अपना मुख्य आधार मानता है। इस प्रकार विनय की प्रतिष्ठा सम्पूर्ण बौद्ध सम्प्रदायों में समान रूप से पायी जाती है।

ऐतिहासिक और साहित्यिक दृष्टि से भी विनय-पिटक का बड़ा महत्त्व है। पिटक-साहित्य के कालानुक्रम के विवेचन में हम देख चुके हैं कि विनय-

---

१. सिंहली विनय-पिटक सम्बन्धी ग्रन्थों के आधार पर ही बरमा में इस सम्बन्धी साहित्य की रचना हुई है। देखिये, मेबिल बोड : दि पालि लिटरेचर ऑव बरमा—पृष्ठ ५।

पिटक के अनेक अंश तिपिटक के प्राचीनतम अंशों में से हैं। न केवल बुद्ध की जीवनी, बल्कि उनके द्वारा संघ की स्थापना, उनके जीवन-काल में संघ का विकास, उसके नियम, उसका शासन एवं बुद्ध-परिनिर्वाण के बाद १०० साल तक का उसका प्रामाणिकतम इतिहास, यह सब हमें विनय-पिटक से ही मिलता है। प्रथम दो बौद्ध संगीतियों के विषय में किस प्रकार विनय-पिटक का विवरण प्राचीनतम और प्रामाणिकतम है, यह हम दूसरे अध्याय में देख चुके हैं। इसके अलावा बुद्ध के शिष्यों का परिचय, छठी-पाँचवीं शताब्दी ईसवी-पूर्व के भारत का सामाजिक विवरण, विशेषतः बुद्धकालीन संघ और तत्सम्बन्धी विवरण, इस सबके लिये विनय-पिटक के समान अन्य कोई प्रामाणिक साधन हमारे पास नहीं है। साहित्यिक दृष्टि से यद्यपि विनय-पिटक का महत्त्व उतना नहीं दिखाया जा सकता, क्योंकि उसका अधिकांश भाग नियमों का प्रज्ञापक है जो अत्यन्त नीरस ही हो सकता है। फिर भी 'धम्मचक्कपवत्तन-सुत्त' आदि गम्भीर बुद्ध-प्रवचन भी यहाँ रक्खे हुए हैं, जो उसके ऐतिहासिक अंश के समान ही उसे महत्ता प्रदान करते हैं।

विनय-पिटक का विषय और उसका संकलन-काल

अब हम तात्त्विक रूप से कुछ समीक्षा करें कि विनय या विनय-पिटक है क्या? 'समन्तपासादिका' की बाहिरनिदानकथा और 'अट्ठसालिनी' की निदानकथा में अत्यन्त सार्थकतापूर्वक कहा गया है कि काया और वचन के विनयन करने के कारण ही विनय को विनय कहा गया है। "विनयनतो चेव कायवाचानं...अयं विनयो विनयों' ति अक्खातो।" इस प्रकार मूल रूप में विनय-पिटक काया और वाणी के संयम का नाम है। जान-बूझकर यहाँ मन को या उसके संयम को छोड़ दिया गया है। इससे विनय-पिटक का बाहरी रूप है, यह स्पष्ट होता है। यही बात इस तथ्य से भी प्रकट होती है कि आचार्य बुद्धघोष ने ही उपर्युक्त स्थलों पर विनय को भगवान् की 'आणा-देसना' अर्थात् आज्ञा-देशना (आदेशमय उपदेश) कहा है। विनय-पिटक में बहुल रूप से भगवान् की आज्ञाएँ या अनुज्ञाएँ ही हैं और ये आज्ञाएँ या अनुज्ञाएँ भिक्षुओं और भिक्षुणियों के सङ्घगत जीवन को ही विशेषतर ध्यान में रखते हुए दी गई हैं। अतः उनका बाहरी रूप स्पष्ट है। भिक्षु और भिक्षुणी संघ ही विनय-पिटक के एकमात्र विषय हैं, ऐसा कहा जा सकता है। वह बौद्ध संघ का संविधान और एकमात्र आधार है। बौद्ध संघ की व्यवस्था, भिक्षु और भिक्षुणियों के नित्य-नैमित्तिक कृत्य, उपसम्पदा-नियम, देसना-नियम, वर्षावास

के नियम, भोजन, वस्त्र, पथ्य-औषधादि सम्बन्धी नियम, संघ के संचालन सम्बन्धी नियम, संघ-भेद होने पर संघ-सामग्री (संघ की एकता) सम्पादित करने के नियम, आदि नियम-समूह विनय-पिटक में विवृत किये गये हैं। इन सभी नियमों का प्रज्ञापन भगवान् बुद्ध के द्वारा ही हुआ है, ऐसी बौद्ध संघ की सामान्यतः मान्यता है। विनय-पिटक का संकलन, जैसा हमने प्रथम संगीति के विवरण में देखा है, धम्म या सुत्त-पिटक के साथ-साथ प्रथम संगीति के अवसर पर ही हुआ। उसके प्रारम्भ में ही हम आर्य महाकाश्यप को कहते देखते हैं 'धम्मं च विनयं च सङ्गायेय्याम" अर्थात् "हम धम्म और विनय का संगायन करें।" अतः सुत्त और विनय के संकलन-काल में कुछ ऐसा पूर्वापर भाव स्थापित नहीं किया जा सकता, जैसा अक्सर पच्छिमी विद्वानों ने किया है। कुछ पश्छिमी विद्वानों (कर्न, पुसें, आदि) ने विनय-पिटक को सुत्त-पिटक से पूर्व का संकलन माना है, कुछ (फ्रैंक आदि) ने उसके बाद का भी। किन्तु ये दोनों ही मत निराधार हैं, सुत्त और विनय में अनेक उपदेश समान हैं, विनय-सम्बन्धी अनेक उपदेश सुत्त-पिटक में भी मिलते हैं, और सुत्त-पिटक के अनेक बुद्ध-धर्म और बुद्ध-जीवन सम्बन्धी प्रकरण विनय-पिटक में मिलते हैं। दोनों की शैली प्राचीनता की सूचक है। दोनों ही बुद्ध-मुख से निःसृत हैं, अतः उन दोनों में काल-भेद करना कठिन है और उनको समकालीन मानना ही अधिक युक्तिसंगत है। वैशाली की संगीति के अवसर पर विनय-सम्बन्धी कुछ विवादों का निर्णय हुआ था, अतः उसके आधार पर सम्भव है, इस पिटक के रूप में कुछ परिवर्तन कर दिया गया हो। चूँकि इस संगीति का इस पिटक में विवरण भी है, अतः उसी समय इसके रूप का अन्तिम स्थिरीकरण हो गया था, यही इसके संकलन के काल के समय में हमें जानना चाहिये।

बौद्ध-परम्यरा विनय सम्बन्धी सब नियमों का प्रज्ञापन बुद्ध-मुख से ही हुआ मानती है। आचार्य बुद्धघोष (चौथी-पाँचवीं शताब्दी ईसवी) ने समन्तपासादिका (विनय-पिटक की अट्ठकथा) की बाहिरनिदान-कथा में भिक्षुओं की उस अप्रतिहत परम्परा का उल्लेख किया है जिसने बुद्ध-काल से लेकर उनके समय तक विनय-पिटक का उपदेश दिया। बुद्ध-काल में विनय-धरों में उपालि स्थविर प्रधान थे, यह हम अंगुत्तर-निकाय के एतदग्गवग्ग से जानते हैं। प्रथम संगीति के अवसर पर उन्होंने ही विनय का संगायन किया, यह विनय-पिटक की सूचना है। अतः विनय-धरों की परम्परा स्थविर उपालि से ही प्रारम्भ होती है। बुद्ध-शिष्य उपालि से लेकर अशोक के समकालिक मोग्गलिपुत्त तिस्स

तक विनयधरों की इस परम्परा का उल्लेख 'परिवार' में है और आचार्य बुद्धघोष ने भी उसका उल्लेख समन्तपासादिका की बाहिरनिदान-कथा में इस प्रकार किया है—(१) उपालि, (२) दासक, (३) सोणक, (४) सिग्गव, और (५) मोग्गलिपुत्त तिस्स। "श्री जम्बुद्वीप में तृतीय संगीति तक इस अटूट परम्परा से विनय आया।.....तृतीय संगीति से आगे इसे लंका द्वीप में महेन्द्र आदि स्थविर लाये। महेन्द्र से आरम्भ कर उनके शिष्यों की परम्परा (६) महिन्द, इट्ठिय, उत्तिय, संवल और भद्दसाल, (७) अरिट्ठ, (८) आर्य तिष्यदत्त, (९) काल सुमन, (१०) दीर्घ स्थविर, (११) दीघ सुमन, (१२) काल सुमन, (१३) नाग स्थविर, (१४) बुद्धरक्षित, (१५) तिष्य स्थविर, (१६) देव स्थविर, (१७) सुमन, (१८) चूलनाग, (१९) धर्मपालित, (२०) रोहण, (२१) क्षेम, (२२) उपतिष्य, (२३) फुस्सदेव, (२४) सुमन, (२५) पुप्फ, (२६) महाशिव (महासीव), (२७) उपालि, (२८) महानाग, (२९) अभय, (३०) तिष्य स्थविर, (३१) पुप्फ (फुस्स भी), (३२) चूल अभय, (३३) तिष्य स्थविर, (३४) चूलदेव, (३५) शिव स्थविर. .....इन महाप्रज्ञ, विनयज्ञ, मार्ग-कोविदों ने ताम्रपर्णी (लंका) द्वीप में विनय-पिटक को प्रकाशित किया।"[1] जिस प्रकार किसी महाविद्यालय की दीवाल में लगे हुए प्रस्तरपट पर उसके प्रधानाचार्यों के खुदे हुए नामों की सूची में कोई सन्देह नहीं करता, उसी प्रकार हमें स्थविरवाद-परम्परा के विनय-घरों की इस सूची को भी प्रामाणिक मानना चाहिए।

विनय-पिटक के भेद

पालि संस्करण के अतिरिक्त विनय-पिटक के छह और संस्करण चीनी अनुवादों में मिलते हैं। जापानी प्रत्यक्षरीकरण में इनके नाम हैं (१) जूजुरित्सु, प्राचीन सर्वास्तिवादियों का विनय, (२) शिबुन्-रित्सु, धम्मगुत्तिक या धर्मगुप्तिक सम्प्रदाय का विनय, (३) मकसोगि-रित्सु, महासांघिक सम्प्रदाय का विनय, (४) कोन्-पोन-सेत्सु-इस्से-उबू, नवीन या उत्तरकालीन सर्वास्तिवादियों का विनय, (५) गोबुन-रित्सु या महिसासक (महीशासक) सम्प्रदाय का

---

१. देखिए, परिवार-पालि पृष्ठ ५-६ (देवनागरी संस्करण; समन्तपासादिका, प्रथम भाग पृष्ठ २८-२९, ५३, ५४-५५ (देवनागरी संस्करण)। मोग्गलि-पुत्त तिस्स तक की परम्परा के लिए देखिए आगे नवें अध्याय में 'दीपवंस' और 'महावंस' सम्बन्धी विवरण भी।

विनय और (६) विनय सामान्य। विनय-पिटक के इन छह चीनी संस्करणों में आपस में बहुत कम भेद है। मौलिक रूप से वे सब समान हैं। जिन सम्प्रदायों से वे सम्बन्धित हैं, उनका उद्भावन अशोक के काल से पहले ही हो चुका था। वे सब स्थविरवाद बौद्ध धर्म की शाखा थे और विनय-सम्बन्धी कुछ छोटे-मोटे मतभेदों के कारण ही उनसे अलग हो गये थे। 'कथावत्थु' में इन सबके सिद्धान्तों का वर्णन आया है। पाँचवें अध्याय में हम इन सबके सिद्धान्तों का विवरण देंगे। यहाँ अलग से परिचय देने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। स्थविरवाद बौद्ध धर्म के अलावा अन्य १७ बौद्ध सम्प्रदायों के, जो तृतीय संगीति तक उत्पन्न हो चुके थे, साहित्य के विषय में हमें अभी कोई महत्त्वपूर्ण जानकारी प्राप्त नहीं हुई है। केवल सर्वास्तिवादियों का कुछ साहित्य मिला है, जिसका कुछ विवरण हमने सुत्त-पिटक के विवेचन के आरम्भ में दिया है और उनके अभिधर्म-साहित्य का स्थविरवादियों के साथ तुलनात्मक विवेचन हम पाँचवें अध्याय में करेंगे। गिलगित (कश्मीर) में प्राप्त "गिलगित पाण्डुलिपियों" (गिलगित मेनुस्क्रिप्ट्स') के प्रकाशन से मूल सर्वास्तिवाद के विनय-पिटक से, उसके मूल संस्कृत रूप में, हमारा परिचय हुआ है। यह प्रसन्नता की बात है कि विनय के क्षेत्र में न केवल सर्वास्तिवादियों का ही बल्कि उनसे अतिरिक्त अन्य पाँच प्राचीन बौद्ध सम्प्रदायों का भी साहित्य मिलता है, जो सब उत्तरकालीन बौद्ध धर्म के विकास की दृष्टि से हीनयानी ही थे। न केवल विनय-पिटक ही बल्कि उसकी पाँच व्याख्याएँ भी चीनी अनुवादों में सुरक्षित हैं। जापानी प्रत्यक्षरीकरण में उनके नाम हैं (१) बिनि-मो-रोन् या विनय-माता-वण्णना, (२) मोतो-रोग-रोन् या मातिका अथवा मातिका-वण्णना, (३) जेन्-केन्-रोन् (पासादिका-वण्णना), (४) सब्बतरोन् (सब्बत्थि-वण्णना), (५) म्यो-र्यो-रोन् या पाटकवण्णना। 'जेन्-केन्-रोन्' बुद्धघोष-कृत 'समन्तपासादिका' (विनय-पिटक की अट्ठकथा) का चीनी अनुवाद है। पहले यह 'धम्मगुत्तिक' सम्प्रदाय के विनय 'शिबुन्-रित्सु' की व्याख्या समझी जाती थी। किन्तु जापानी विद्वान् नगई ने भ्रम का निवारण कर दिया है।[1] चीनी और जापानी बौद्ध धर्म की दृष्टि से 'धम्मगुत्तिक' (धर्मगुप्तिक) सम्प्रदाय का विनय-पिटक शिबुन्-रित्सु ही अधिक महत्त्वपूर्ण है। वहाँ के रिश्शू सम्प्रदाय (विनय-सम्प्रदाय) का यही आधारभूत ग्रन्थ है। पालि विनय-पिटक

---

१. देखिये, बुद्धिस्टिक स्टडीज (डॉ० लाहा द्वारा सम्पादित), पृष्ठ ३६८ में नगई के 'बुद्धिस्ट विनय डिसिप्लिन' शीर्षक लेख का अंश।

के साथ चीनी विनय-पिटक की तुलना के प्रसंग में इसी संस्करण को लिया जा सकता है और बाकी छोटे-मोटे विभेदों को, जो बहुत अल्प हैं, अलग से दिखाया जा सकता है। यहाँ हमें तुलना केवल 'शिक्षापदों' या विनय-सम्बन्धी नियमों के विषय में करनी है, जो ही विनय-पिटक के आधारभूत विषय हैं, चाहे उनका सम्बन्ध किसी सम्प्रदाय या संस्करण से हो।

पालि विनय-पिटक के शिक्षापदों की संख्या २२७ है, जिनकी गणना इस प्रकार है—

१. पाराजिका	४
२. संघादिसेसा	१३
३. अनियता धम्मा	२
४. निस्सग्गिया पाचित्तिया धम्मा	३०
५. पाचित्तिया धम्मा	९२
६. पटिदेसनिया धम्मा	४
७. सेखिया धम्मा	७५
८. अधिकरणसमथा धम्मा	७
	२२७

चीनी विनय-पिटक के प्रायः सभी संस्करणों में (महासंघिक विनय को छोड़कर, जिसमें २१८ शिक्षापद है) शिक्षापदों की यह संख्या २५० है। 'शिबुन्-रित्सु' के अनुसार यह गणना इस प्रकार है—[1]

१. पाराजिका	४
२. संघावशेष (संघादिसेसा)	१३
३. अनियत	२
४. निःसर्गिक पातयन्तिक (निस्सग्गिया पाचित्तिया)	३०
५. पातयन्तिक (पाचित्तिय)	९०
६. प्रतिदेशनीय (पटिदेसनिया)	४
७. शैक्ष्य (सेखिया)	१००
८. अधिकरण-शमथ	७
	२५०

---

१. बुद्धिस्टिक स्टडीज (डॉ० लाहा द्वारा सम्पादित), पृष्ठ ३६९ (नगई का विनय-पिटक सम्बन्धी लेख)

विनय-पिटक के चीनी-संस्करणों के अलावा एक तिब्बती संस्करण (सो-सोर्-थर्-पा) भी मिलता है।[1] यह मूल सर्वास्तिवादियों के प्रातिमोक्ष का तिब्बती अनुवाद है जो नवीं शताब्दी ईसवी में किया गया। जिस मूल संस्कृत

---

१. इसके अलावा स्वर्गीय महापंडित राहुल सांकृत्यायन तिब्बत से विनय-सूत्र, विनय-सूत्र-टीका, प्रातिमोक्ष-सूत्र, प्रातिमोक्षसूत्र-टीका, श्रामणेर-टीका, भिक्षु-प्रकीर्णक तथा उपसम्पदाज्ञप्ति आदि अनेक विनय-सम्बन्धी ग्रन्थों की फोटो प्रतियाँ लाये थे जिनमें से कुछ का सम्पादन हो चुका है और कुछ का अभी बाकी है, पूरा कार्य होने के बाद इस विषय-सम्बन्धी अध्ययन पर पर्याप्त प्रकाश पड़ेगा। मूल सर्वास्तिवाद के विनय-पिटक का एक काफी बड़ा अंश कश्मीर में प्राप्त हुआ और अभी 'गिलगित मेनुस्क्रिप्ट्स' के रूप में कई भागों और खण्डों में डॉ० नलिनाक्ष दत्त के सम्पादकत्व में छप चुका है। इसमें प्रव्रज्या-वस्तु, पोषध-वस्तु, प्रावारणा-वस्तु, वर्षा-वस्तु, चर्म-वस्तु, सङ्घभेदवस्तु, भैषज्य-वस्तु, चीवर-वस्तु, कठिन-वस्तु, कौशाम्बक-वस्तु, कर्म-वस्तु, पाण्डुलोहितक-वस्तु, पुद्गल-वस्तु, पारिवारिक-वस्तु, पोषधस्थापन-वस्तु और शयनासन-वस्तु आदि विनय-सम्बन्धी ग्रन्थ सम्मिलित हैं। मिथिला विद्यापीठ की बौद्ध संस्कृत ग्रन्थमाला में भी मूल सर्वास्तिवाद का 'विनय-वस्तु' प्रकाशित हुआ है और क्रमिक रूप से हो रहा है। इसका विषय-विधान प्रायः पालि खन्धकों के समान ही है। इस मूल सर्वास्तिवादी विनय की पालि विनय से कई भिन्नताएँ और कुछ समानताएँ भी हैं। इनके विस्तृत विवेचन के लिए देखिये अनुकूल चन्द्र बनर्जी : सर्वास्तिवाद लिटरेचर, पृष्ठ २८-५०, ७९-२४६ (कलकत्ता, १९५७); मूल सर्वास्तिवाद तथा स्थविरवाद के अलावा अन्य छह बौद्ध सम्प्रदायों के विनय-पिटक के अन्तर्गत प्रातिमोक्ष (पातिमोक्ख) के विस्तृत तुलनात्मक विवेचन के लिए देखिये डब्ल्यू० पचोव का 'ए कम्परेटिव स्टडी ऑव दि प्रातिमोक्ष' शीर्षक शोध-प्रबन्ध, जिसे दि साइनो-इण्डियन कल्चरल सोसायटी, शान्तिनिकेतन ने सन् १९५५ में प्रकाशित किया है। इस शोध-प्रबन्ध में प्रातिमोक्ष के चीनी, तिब्बती, संस्कृत और पालि संस्करणों के आधार पर विवेचन है। न केवल मूल सर्वास्तिवाद बल्कि अन्य कई बौद्ध सम्प्रदायों तथा जैन और हिन्दू साधुओं के लिए उनके शास्त्रों में निर्दिष्ट विधानों या विनय-नियमों पर पालि विनय के प्रकाश में संक्षिप्त तुलनात्मक विचार भिक्षु जगदीश काश्यप ने अपने द्वारा सम्पादित महावग्ग पालि और चुल्लवग्ग पालि की भूमिकाओं में किया है।

प्रातिमोक्ष-सूत्र से यह अनुवाद किया गया, उसी के रूप के दर्शन हमें उस 'प्रातिमोक्ष सूत्र' में होते हैं जो 'गिलगित मेनुस्क्रिप्ट्स' के अन्तर्गत प्रकाशित हुआ है। 'पायन्तिक' धर्म और 'शैक्ष्य' धर्मों की संख्या के विषय में कुछ भेद है, जिसके विषय में हम अभी आगे कुछ कहेंगे। मूल प्रातिमोक्ष-सूत्र के अनुसार शिक्षापदों की संख्या इस प्रकार है—

१. पाराजिक धर्म (चत्वारः पाराजिका धर्माः)	४
२. संघावशेष धर्म (त्रयोदश सङ्घत्त्वशेषा धर्माः)	१३
३. अनियत धर्म (द्वावनियतौ धर्मौ)	२
४. नैसर्गिक पायन्तिक धर्म (त्रिंशन्नैसर्गिकपायन्तिका धर्माः)	३०
५. पायन्तिक धर्म (नवतिः पायन्तिका धर्माः)	९०
(तिब्वती अनुवाद में) (९२)	
६. प्रतिदेशनीय धर्म (चत्वारः प्रतिदेशनीया धर्माः)	४
७. शैक्ष्य (या शैक्ष) धर्म (सम्बहुला शैक्षधर्माः)	१०८
तिब्वती अनुवाद में (१०६)	
८. अधिकरण-शमथ धर्म (सप्त अधिकरणशमथाः धर्माः)	७
	२५८

यह प्रसन्नता की बात है कि कश्मीर में जो पाण्डुलिपियों का महत्त्वपूर्ण भण्डार मिला, उसमें मूल सर्वास्तिवाद का प्रातिमोक्ष-सूत्र भी अपने मूल संस्कृत रूप में सम्मिलित है। वास्तव में इसका तिब्वती अनुवाद ही 'सो-सोर-थर-पा' है। कश्मीर में प्राप्त मूल सर्वास्तिवाद के 'प्रातिमोक्ष-सूत्र' का देवनागरी लिपि में सम्पादन डॉ० अनुकूलचन्द्र बनर्जी द्वारा किया गया है, जो सन् १९५४ में प्रकाशित हुआ। इस मूल संस्कृत रूप में प्राप्त प्रातिमोक्ष-सूत्र में कुल मिलाकर शिक्षापदों की संख्या २५८ ही है। जैसे कि ऊपर निर्दिष्ट उसके तिब्वती अनुवाद (सो-सोर-थर-पा) में। केवल कुछ अन्तर यह है कि 'पायन्तिक धर्म' तिब्बती अनुवाद में ९२ हैं जो कि उसके मूल संस्कृत रूप में (जैसा कि वह डॉ० अनुकूलचन्द्र बनर्जी द्वारा सम्पादित है) उनकी संख्या ९० है।" नवतिः पायन्तिका धर्माः।" इसी प्रकार शैक्ष्य (शैक्ष) धर्म तिब्वती अनुवाद में १०६ है, जबकि उसके मूल संस्कृत रूप में उनकी संख्या १०८ है। कुल संख्या दोनों ही जगह २५८ ही है, जैसा कि ऊपर दी गई सूची से स्पष्ट है।

उपर्युक्त सूचियों का यदि हम कुछ अधिक विश्लेषण करें, तो स्पष्ट हो जाता है कि पालि-विनय-पिटक में शिक्षापदों की संख्या २२७ और चीनी और तिब्बती संस्करणों में वह क्रमशः २५० और २५८ है। जहाँ तक पालि और

तिब्बती संस्करणों की तुलना का सवाल है, उनके प्रत्येक नियम की संख्या में समानता है केवल शैक्ष्य-सम्बन्धी नियमों में असमानता है। पालि संस्करण में वे ७५ हैं, जब कि तिब्बती संस्करण में १०६। इसी कारण तिब्बती संस्करण के नियमों की कुल संख्या भी पालि से ३१ बढ़ गई है। पालि और चीनी संस्करणों में केवल 'पाचित्तिया धम्मा' (पायन्तिक) और 'सेखिया धम्मा' (शैक्ष्य) इन दो नियमों की गणना में अन्तर है। पालि संस्करण में इनकी संख्या क्रमशः ९२ और ७५ है, जबकि चीनी 'शिबुन्-रित्सु' में वह इसी क्रम से ९० और १०० है। 'पाचित्तिय' धर्मों सम्बन्धी मतभेद कुछ महत्त्वपूर्ण भी हो सकता है, किन्तु 'सेखिय' धर्मों सम्बन्धी मतभेद बिलकुल महत्त्वपूर्ण नहीं है। 'सेखिय धम्म' बाह्य शिष्टाचाद सम्बन्धी छोटे-मोटे नियम हैं, जो बुद्धोक्त 'क्षुद्रानुक्षुद्र' की कोटि में आसानी से आ जाते हैं। अतः उनके विषय में मत-भेद होना भिक्षु-संघ के इतिहास में प्रथम संगीति के समय से ही देखा जाता है। स्वयं विभिन्न चीनी सम्प्रदायों के विनय-पिटकों में भी इसके विषय में समानता नहीं है। पालि विनय-पिटक के ७५ 'सेखिय' धर्मों के स्थान पर 'शिबुन्-रित्सु' में तो उनकी संख्या १०० है ही, नवीन सर्वास्तिवादी विनय के अनुसार उनकी संख्या १०३ है। तिब्बती मूल सर्वास्तिवादियों के अनुसार तो वह १०६ है ही, जबकि 'प्रातिमोक्ष-सूत्र' के मूल संस्कृत रूप के अनुसार वह १०८ है, यह हम ऊपर अभी देख ही चुके हैं। इस प्रकार कुछ छोटे-मोटे विभेद हैं। 'महाव्युत्पत्ति' (महायानी शब्दकोश ग्रन्थ) ने इन शैक्ष्य धर्मों को 'सम्बहुल' (संबहुलाःशैक्ष्यधर्माः) बताकर इस सम्बन्धी भेद का बड़ा ही अच्छा समाधान कर दिया है। यही बात प्रातिमोक्ष-सूत्र के मूल संस्कृत रूप में भी कही गई है। पालि और चीनी विनय-पिटकों के शिक्षापदों की तुलना के परि-णामस्वरूप एक समस्या सामने आती है जिसका उल्लेख और आंशिक समा-धान करना यहाँ आवश्यक है। पालि-विनय-पिटक में, जैसा हमने अभी देखा है, शिक्षापदों की संख्या २२७ है। किन्तु अंगुत्तर-निकाय के तिक निपात में चार जगह, यथा वाज्जपुत्तसुत्त, पठमसिक्खासुत्त, दुतियसिक्खासुत्त तथा ततिय-सिक्खासुत्त में, उनकी संख्या १५० या (उससे) 'अधिक कही गई है।[१] 'मिलि-न्दपञ्ह' में भी १५० या उससे अधिक शिक्षापदों का उल्लेख है।[२] यह क्यों

---

१. "साधिकमिदं, भिक्खवे, दियड्ढसिक्खापदसतं।"

२. मूल शब्द "साधिकं दियड्ढसिक्खापदसतं)" बिलकुल अंगुत्तर-निकाय के समान ही है। देखिये, पृष्ठ २६७ (बम्बई विश्वविद्यालय का संस्करण)।

और कैसे? क्या यहाँ १५० से 'अधिक' में 'अधिक' ('साधिकं') शब्द का तात्पर्य २२७-१५०=७७ से है? यह सम्भव नहीं जान पड़ता कि २२७ से इतना नीचे लाकर उसका इस प्रकार उल्लेख किया जाता। 'दियड्ढसिक्खापदसतं' का अर्थ १५० ही है। अंगुत्तर-निकाय की अट्ठकथा, (मनोरथपूरणी) की तिकनिपातवण्णना में इसे और स्पष्ट कर दिया गया है, "दियड्ढसिक्खापदसतं" ति पण्णासाधिकं सिक्खापदसतं" ति। परन्तु यह लक्षणीय है कि चीनी संयुक्तागम में पालि अंगुत्तर-निकाय के समान प्रसंग में शिक्षापदों की संख्या २५० बताई गई है।[1] धर्मगुप्तिक सम्प्रदाय के विनय-पिटक (शिबुन्-रित्सु) में भी २५० शिक्षापद ही थे, यह हम ऊपर देख चुके हैं। तब क्या धर्मगुप्तिक विनय की परम्परा और चीनी 'संयुक्तागम' की परम्परा में शिक्षापदों की संख्या १५० से बढ़ाकर २५० की गई है और यह एक वाद का विकास या ह्रास है। सचमुच यह एक बहुत महत्त्वपूर्ण समस्या है और यह दिखलाती है कि विभिन्न बौद्ध सम्प्रदाय किस प्रकार विनय-पिटक के क्षेत्र में एक दूसरे में समाये हुए हैं, परम्पराएँ किस प्रकार एक दूसरे में मिली पड़ी हैं।

विनय-पिटक के नियम

पालि विनय-पिटक के अनुसार अब हम उसके ऊपर निर्दिष्ट २२७ शिक्षापदों या विनय-सम्बन्धी नियमों का वर्णन करेंगे।

चार पाराजिका धम्मा

'पाराजिक नाम पराजित, पराजय को प्राप्त, भिक्षु का है। 'समन्तपासादिका' में कहा गया है 'पाराजिको' ति पराजितो, पराजयमापन्नो।" अतः 'पाराजिकधम्म' का अर्थ है वे वस्तुएँ जो भिक्षु को पराजय दिलाती हैं, अर्थात् जिस उद्देश्य के लिये उसने घर से बेघर होकर प्रव्रज्या ली है, उसमें उसे सफल नहीं होने देतीं। इस प्रकार की वस्तुएँ चार हैं, (१) स्त्री-मैथुन, (२) चोरी या न दी हुई वस्तु को लेना, (३) मृत्यु या आत्महत्या की प्रशंसा करना, ताकि कोई दूसरा आदमी आत्महत्या करने के लिए उद्यत हो जाय और (४) लाभ या सत्कार की इच्छा से अपने अन्दर ज्ञान और दर्शन की

---

१. देखिए, पचोव : ए कम्परेटिव स्टडी ऑव दि प्रातिमोक्ष, पृष्ठ ८ (भूमिका)।

प्राप्ति दिखाना जब कि वास्तव में ऐसी प्राप्ति नहीं हुई है। ये चार वस्तुएँ भिक्षु को उसके श्रामण्य के उद्देश्य की प्राप्ति नहीं होने देतीं। वे उसे पराजित कर डालती हैं। इसीलिये वे 'पाराजिक धम्म' कहलाती हैं। इनमें से किसी एक का भी अपराधी होने पर भिक्षु बुद्ध का शिष्य नहीं रहता। वह अपने उद्देश्य से पतित हो जाता है। वह संघ से बहिष्कृत कर दिया जाता है। उसके लिये किसी प्रायश्चित्त का विधान नहीं है। जैसे पीली पड़ी हुई पत्ती पेड़ से झड़कर गिर पड़ती है, उसी प्रकार यह भिक्षु श्रामण्य के सर्वथा अयोग्य समझा जाता है और नियमानुसार संघ से उसका निष्कासन कर दिया जाता है।

तेरह संघादिसेसा धम्मा

चार पाराजित धम्मों का दण्ड तो, जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, संघ से निष्कासन है। 'संघादिसेस' धम्म इन पाराजिक धम्मों से कुछ कम गम्भीर अपराध माने जाते हैं। इनका नाम 'संघादिसेस' इसलिये है कि केवल संघ ही इनके बारे में निर्णय कर सकता है और दण्ड दे सकता है। कुछ मात्र भिक्षु इसका निर्णय नहीं कर सकते।[1] इनके दंड-स्वरूप अपराधी भिक्षु को कुछ दिन के लिये परिवास करना पड़ता है, अर्थात् अस्थायी रूप से संघ को छोड़ देना पड़ता है और प्रायश्चित्त-स्वरूप वह अकेला रहकर तपस्या (मानत्त) करता है। बाद में शुद्ध होकर वह संघ में प्रवेश करता है। 'संघादिसेस' कोटि में आने वाले तेरह अपराध (आपत्तियाँ) हैं, जो इस प्रकार हैं (१) जान-बूझकर वीर्य-नाश करना। अज्ञात रूप से स्वप्नदोष में वीर्य-स्खलन हो जाना इसके अन्तर्गत अपराध नहीं माना जाता। (२) काम-वासना से स्त्री-स्पर्श। (३) काम-वासना से स्त्री से वार्तालाप। (४) अपनी प्रशंसा द्वारा किसी स्त्री को अपनी ओर बुरे उद्देश्यों से आकर्षित करना। (५) विवाह सम्बन्ध निश्चित करवाना या प्रेमियों का संगम करवाना। (६) बिना संघ की अनुमति लिये अपने लिये विहार बनवाने लग जाना। (७) बिना संघ की अनुमति के निश्चित मात्रा से बड़े नाप के विहार बनवाने लग जाना, जिनके चारों ओर

---

१. "सङ्घादिसेसो'ति सङ्घो व तस्सा आपत्तिया परिवासं देति, मूलाय पटिकस्सति, मानत्तं देति, अब्भेति, न सम्बहुला, न एकपुग्गलो। तेन वुच्चति सङ्घादिसेसो" ति। पाराजिकपालि, पृष्ठ २७६, मिलाइये, परिवार पालि भी, पृष्ठ ३०० (नवनालन्दा महाविहार संस्करण)।

खुली जगह भी न हो। (८) क्रोध के कारण निराधार ही किसी भिक्षु को 'पाराजिक' 'धम्म' का अपराधी ठहराना। (९) पाराजिक अपराध से मिलते-जुलते किसी अन्य अपराध को पाराजिक अपराध बतलाकर किसी साथी भिक्षु को उसका अपराधी ठहराना। (१०) बार बार चेतावनी दिये जाने पर भी संघ में फूट डालने का प्रयत्न करना। (११) फूट डालने वालों की सहयता करना। (१२) विना किसी गृहस्थ की अनुमति के उसके घर के भीतर घुस जाना। (१३) बार बार चेतावनी दिये जाने पर भी संघ या साथी भिक्षुओं के आदेश को न सुनना।

दो अनियता धम्मा

'अनियत' का अर्थ है अनिश्चित। जिन अपराधों का स्वरूप अनिश्चित हो और साक्ष्य प्राप्त होने पर ही जिन्हें एक विशेष श्रेणी के अपराधों में रक्खा जा सके, तत्सम्बन्धी नियमों को 'अनियता धम्मा' कहते हैं। इनका सम्बन्ध दो प्रकार के अपराधों से है। (१) यदि कोई भिक्षु किसी एकान्त स्थान पर बैठा हुआ स्त्री से बातें कर रहा है और कोई श्रद्धावती उपासिका आकर उसे 'पाराजिक', 'संघादिसेस' या 'पाचित्तिय' (प्रायश्चित्तिक—जिसके लिये प्रायश्चित्त करना पड़े) अपराध का दोषी ठहराती है और वह उसे स्वीकार कर लेता है, तो वह उसी अपराध के अनुसार दंड का भागी है। (२) यदि वह एकान्त स्थान में न बैठ कर किसी खुली हुई जगह में बैठ कर ही स्त्री से सम्भाषण कर रहा है, किन्तु उसके शब्दों में कुछ अनौचित्य है और कोई श्रद्धावती उपासिका उसी प्रकार आकर उसे 'पाराजिक', 'संघादिसेस' या 'पाचित्तिय' अपराध का दोषी ठहराती है और वह उसे स्वीकार कर लेता है, तो वह उसी अपराध के अनुसार दंड का भागी है।

तीस निस्सग्गिया पाचित्तिया धम्मा

'निस्सिग्गिया पाचित्तिया धम्मा' वे अपराध हैं जिनके लिये स्वीकरण के साथ-साथ प्रायश्चित्त करना पड़ता है और जिस वस्तु के सम्बन्ध में अपराध किया जाता है, वह वस्तु भी भिक्षु से छीन ली जाती है। इस श्रेणी के अपराधों में प्रायः सभी वस्त्र-सम्बन्धी और केवल दो भिक्षा-पात्र सम्बन्धी है। वस्त्र-सम्बन्धी तृष्णा भिक्षु को किन-किन रूपों में आ सकती है, इसी को देखकर इन नियमों का विधान किया गया है। उदाहरणतः यदि कोई भिक्षु अपने पास अतिरिक्त वस्त्र रखता है, या किसी गृहस्थ से बेठीक समय पर वस्त्र माँगता है, या

अपनी इच्छानुसार किसी अच्छे वस्त्र को प्राप्त करने के लिए अपने किसी उपासक गृहस्थ को इशारा देता है, या रेशम या मुलायम ऊन के गद्दों आदि को काम में लेता है, तो वह इस अपराध के अन्तर्गत अपराधी होता है। इसी प्रकार अतिरिक्त भिक्षा-पात्र रखने पर या बिना आवश्यक कारण उसे किसी दूसरे से वदल लेने पर वह इस अपराध के अन्तर्गत अपराधी होता है। इन वस्त्र और भिक्षा-पात्र सम्बन्धी नियमों का उद्देश्य, जिनके सब के ब्योरेवार विवरण देने की हमें आवश्यकता नहीं, केवल यही है कि भिक्षु इन वस्तुओं के प्रयोग में संयत और सावधान रहें, वे अल्पेच्छ हों और यथा-प्राप्त सामग्री से ही अपना गुजारा कर लें। व्यक्ति के ऊपर संघ की प्रतिष्ठा भी इन नियमों के द्वारा की गई है। जो वस्तु संघ को दान दी गई है, उसे कोई एक भिक्षु व्यक्तिगत रूप से अपनी बनाकर नही रख सकता। ऐसा करने पर वह अपराधी ठहरता है। उसे प्रायश्चित करना पड़ता है और वह वस्तु संघ को लौटा देनी पड़ती है।

९२ पाचित्तिया धम्मा

९२ अपराधों की एक सूची ऐसी है जिन्हें करने पर प्रायश्चित्त करने के बाद अपराध-मुक्त कर दिया जाता है। चीनी विनय-पिटक शिबुन्-रित्सु (धम्मगुत्तिक सम्प्रदाय का विनय-पिटक) में इस श्रेणी के केवल ९० अपराधों का उल्लेख है। इन सब अपराधों का विवरण यहाँ अनावश्यक होगा। संघ-शासन की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होते हुए भी पालि साहित्य के इतिहास में तो इनका संक्षिप्त निर्देश ही हो सकता है। अधिकतर नियम ऐसे हैं जो उस समय के देश-काल आदि से सम्बन्ध रखते हैं, किन्तु ऐसे भी कम नहीं हैं जिनका उपयोग सब काल और सब देश के लिए है। भिक्षु के लिए एक बार भोजन करना, भिक्षुणी को उपदेश देते समय सावधान और जागरुक रहना, भिक्षु-पद के गौरव की रक्षा करना, आदि बातें ऐसी हैं जिनका उल्लंघन करने पर भिक्षुओं को प्रायश्चित कर आगे के लिए संयम-रक्षा का संकल्प लेना पड़ता था। झूठ बोलना, गाली देना, चुगली करना, नशीली चीजों का प्रयोग करना, आदि अपराधों के करने पर भी प्रायश्चित्त करने के बाद आगे के लिए वैसा न करने के लिए कृत-संकल्प होना पड़ता था।

चार पटिदेसनिया धम्मा

'पटिदेसनिया धम्मा' का अर्थ है वे वस्तुएँ जिनके लिए प्रतिदेशना (क्षमायाचना) आवश्यक हो। किसी अज्ञात भिक्षुणी के द्वारा भोजन-प्राप्ति,

भोजन के समय किसी भिक्षुणी को भिक्षुओं के प्रति आदेश देती हुई देखकर भी उसे न रोकना, बिना पूर्व निमंत्रण के अगले स्थान पर किसी गृहस्थ के हाथ से भोजन ग्रहण करना तथा उपद्रवग्रस्त वन में किसी गृहस्थ को वहीं बुलवा कर उसके हाथ से भोजन की प्राप्ति, इन चार अपराधों के लिए क्षमा-याचना करनी पड़ती है।

७५ सेखिया धम्मा

'सेखिया धम्मा' या शैक्ष्य धर्म वे हैं जिनका सम्बन्ध वाहरी शिष्टाचार, वस्त्र पहनने के ढंग और भोजन आदि के नियमों से है। भिक्षु को किस प्रकार ठीक वस्त्र पहनकर भिक्षाचर्या के लिए जाना चाहिए, किस प्रकार शरीर और वस्त्रों के उचित समेटन और फैलाव के साथ उसे बरतना चाहिए, किस प्रकार उसे शान्त रहना चाहिए, जोर से हँसना आदि नहीं चाहिए, इन्हीं सब बातों का विस्तृत विवरण दिया गया है और इनके तोड़ने पर फिर शिक्षा का विधान किया गया है। इन नियमों में से अधिकतर तत्कालीन शिष्टाचार से सम्बन्ध रखते हैं, जो वौद्ध देशों में आज तक भी कुछ हद तक जीवित अवस्था में है।

सात अधिकरणसमथा धम्मा

संघ में विवाद होने पर उसकी शान्ति के उपाय के रूप में सात नियमों का विधान किया गया है। वे सात नियम हैं। (१) संमुख-विनय, (२) स्मृति-विनय, (३) अ-मूढ़ विनय, (४) प्रतिज्ञातकरण, (५) यद्भूयसिक, (६) तत्पापी-यसिका और (७) तिणवत्थारक ? चूंकि संघ-शासन तथा तत्कालीन गण-तन्त्रीय शासन-व्यवस्था की दृष्टि से ये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं, अतः इनका संक्षिप्त विवरण आपेक्षिक होगा। भगवान् के मुख से ही सुनिये—"आनन्द ! संमुख-विनय (सम्मुखाविनय) कैसे होता है ? आनन्द ! भिक्षु विवाद करते हैं, 'यह धर्म है या अधर्म विनय का अविनय' ? आनन्द ! उन सभी भिक्षुओं को एक जगह एकत्र होना चाहिए। एकत्र होकर धर्म रूपी रस्सी का ज्ञान से परीक्षण करना चाहिए। जैसे वह शान्त हो उसी प्रकार उस झगड़े (अधि-करण) को शान्त करना चाहिए। इस प्रकार आनन्द ! संमुख-विनय होता है। इस प्रकार संमुख-विनय से भी किन्हीं-किन्हीं झगड़ों (अधिकरणों) का शमन होता है।

आनन्द ! यद्भूयसिक (बहुमत) कैसे होता है ? आनन्द ! यदि भिक्षु अपने झगड़े को उसी आवास (निवास-स्थान) में शान्त न कर सकें, तो

आनन्द ! उन सभी भिक्षुओं को, जिस आवास में अधिक भिक्षु हैं, वहाँ जाना चाहिए। वहाँ सब को एक जगह एकत्र होना चाहिए, एकत्र होकर धर्म रूपी रस्सी का समनुमार्जन (परीक्षण) करना चाहिए। इस प्रकार भी कुछ झगड़ों का शमन हो जाता है।

"आनन्द ! स्मृति-विनय कैसे होता है ? यहाँ आनन्द ! भिक्षु भिक्षु पर पाराजिक का पाराजिक के समान दोष का आरोप लगाता है, स्मरण करो आवुस ! तुम पाराजिक या पाराजिक-समान बड़े दोष के अपराधी हुए, किन्तु वह दूसरा भिक्षु उत्तर में कहता है, 'आवुस ! मुझे याद नहीं कि मैं ऐसी भारी आपत्ति से आपन्न हूँ, दोष से दोषी हूँ।' उस भिक्षु को आनन्द ! स्मृति-विनय देना चाहिए। इस स्मृति-विनय से भी किन्हीं-किन्हीं झगड़ों का निबटारा होता है।

"आनन्द ! अमूढ़-विनय कैसे होता है ?....''आवुस ! पागल हो गया था, मुझे मति-भ्रम हो गया था, उन्मत्त हो मैंने बहुत-सा श्रमण-विरुद्ध आचरण किया, भाषण किया, मुझे वह स्मरण नहीं होता। मूढ़ हो, मैंने वह किया। उस भिक्षु को आनन्द ! अ-मूढ़-विनय देना चाहिए !

"आनन्द ! प्रतिज्ञातकरण (स्वीकरण) कैसे होता हैं ? आनन्द !.... भिक्षु दूसरों के द्वारा आरोप करने या न करने पर भी अपने दोष को स्मरण करता है, खोलता है, स्पष्ट करता है। उस भिक्षु को अपने से वृद्धतर भिक्षु के पास जाकर चीवर को एक (बायें) कन्धे पर करके, पाद-वन्दना कर हाथ जोड़कर ऐसा कहना चाहिये, 'भन्ते ! मैं इस नाम की आपत्ति (दोष) से आपन्न हूँ, उसकी मैं प्रतिदेशना (निवेदन) करता हूँ।' तब वह दूसरा भिक्ष ऐसा कहे "देखते हो उस दोष को ?" "देखता हूँ" "आगे से इन्द्रिय-रक्षा करना"। "रक्षा करूँगा"। आनन्द ! इस प्रकार प्रतिज्ञातकरण होता है।

"आनन्द ! तत्पापीयसिका (तस्स पापियसिका) कैसे होती है ? यहाँ आनन्द ! किसी भिक्षु पर कोई दूसरा भिक्षु पाराजिक या पाराजिक-समान भारी अपराध का दोष लगाता हैं। वह उसे सुनकर कहता है, 'आवुस ! मुझे स्मरण नहीं कि मैं ऐसी भारी आपत्ति से आपन्न हुआ हूँ।' फिर दोष लगाने वाला भिक्षु कहता है, 'आयुष्मन् ! अच्छी तरह बूझो। क्या तुम्हें स्मरण है कि तुम ऐसी भारी आपत्ति से आपन्न हुए थे।' 'आवुस ! स्मरण नहीं करता कि ऐसी भारी आपत्ति से आपन्न हुआ। स्मरण करता हूँ आवुस ! इस प्रकार की छोटी आपत्ति से आपन्न हुआ।' आयुष्मन् ! अच्छी तरह बूझो।' 'आवुस ! मैं इस प्रकार की छोटी आपत्ति से आपन्न हुआ, यह मैं बिना पूछे ही स्वीकार

करता हूँ, तो क्या मैं ऐसी भारी आपत्ति से आपन्न हो पूछने पर भी स्वीकार न करूँगा" अधिक जोर देने पर यह स्वीकार कर ले 'आवुस ! स्मरण करता हूँ ऐसी भारी आपत्ति (दोष) से आपन्न हुआ। सहसा प्रमाद से मैंने यह कह दिया कि स्मरण नहीं करता'। इस प्रकार आनन्द ! तत्पापीयसिका (उससे भी और कड़ी आपत्ति) होती है।

"आनन्द ! तिणवत्थारक कैसे होता है? आनन्द ! आपस में कलह करते हुए भिक्षु बहुत से श्रमण-विरुद्ध आचरण करते और भाषण करते हैं। उन सभी भिक्षुओं को एकत्र होना चाहिए। एकत्र होकर एक पक्ष वालों में से किसी चतुर भिक्षु को आसन से उठ कर चीवर को एक कन्धे पर कर हाथ जोड़ संघ को विज्ञापित करना चाहिए "भन्ते ! संघ सुने। कलह करते हुए हमने बहुत से श्रमण-विरुद्ध आचरण किए हैं। यदि संघ उचित समझे तो जो इन आयुष्मानों का दोष है और जो मेरा दोष है, इन आयुष्मानों के लिए भी और अपने लिए भी तिणवत्थारक (घास से ढाँकना जैसा) बयान करूँ, लेकिन बड़े दोष गृहस्थ-सम्बन्धी को छोड़ कर। तब दूसरे पक्ष वालों में से चतुर भिक्षु को आसन से उठ कर ऐसा ही करना चाहिए। इस प्रकार आनन्द ! तिणवत्थारक (तृण से ढांकने जैसा) होता है।"[1]

भिक्षुओं के समान भिक्षुणियों के लिए भी अनेक आचरण-सम्बन्धी नियमों का विधान था। आठ गुरु-धर्म तो भगवान् ने प्रथम बार ही भिक्षुणी-संघ के लिए स्थापित कर दिये गये थे, जो इस प्रकार हैं—

(१) "सौ वर्ष की उपसम्पदा पाई हुई भिक्षुणी को भी उसी दिन के सम्पन्न भिक्षु के लिए अभिवादन, प्रत्युत्थान, अंजलि जोड़ना, सामीचिकर्म करना चाहिए।

(२) जहाँ भिक्षु न हों, ऐसे स्थान में वर्षावास नहीं करना चाहिए।

(३) प्रति आधे मास भिक्षुणी को भिक्षु-संघ से पर्येषण करना चाहिए कि उपोसथ किस दिन है और किस दिन भिक्षु उपदेश करने आयेंगे।

(४) वर्षा-वास कर चुकने पर भिक्षुणी को दोनों संघों में देखे, सुने या परिशंकित, इन तीनों स्थानों से प्रवारणा करनी चाहिए।

---

१. सामगाम-सुत्त (मज्झिम, ३।१।४;), महापंडित राहुल सांस्कृत्यायन का अनुवाद); इसके विस्तृत विवरण के लिए देखिये, विनय-पिटक के चुपल्लवग्ग का समथक्खन्धक भी।

(५) यदि किसी भिक्षुणी ने कोई गम्भीर अपराध किया है, तो उसे दोनों संघों से एक पखवाड़े का मानत्त-अनुशासन लेना चाहिए।

(६) जिस शिक्षमाणा भिक्षुणी (श्रामणरी) ने दो वर्ष तक छह कर्मों की शिक्षा प्राप्त कर ली है, तो उसे दोनों संघों से उपसम्पदा के लिए प्रार्थना करनी चाहिए।

(७) भिक्षुणी किसी भी प्रकार भिक्षु को बुरा-भला न कहे, अर्थात् उसे गाली-गलौज न दे।

(८) आज से भिक्षुणियों का भिक्षुओं को कुछ भी कहने का रास्ता बन्द है। भिक्षुओं का भिक्षुणियों को कहने का रास्ता खुला है।"[1] अर्थात् भिक्षुओं को उन्हें उपदेश करने का अधिकार है।

उपर्युक्त प्रधान नियमों के अलावा भिक्षुणियों के दैनिक जीवन के लिए अनेक साधारण नियम भी थे। उनमें कुछ भिक्षुओं के समान भी थे, जैसे झूठ, चुगली आदि से विरति। कुछ विशिष्ट रूप से उनके लिए ही थे, जैसे एकान्त या अँधेरे स्थान में किसी से सम्भाषण न करना, रात्रि में अकेली कहीं न जाना, सड़क पर भी किसी से अलग बात नहीं करना, किसी भी गृहस्थ या गृहस्थ-पुत्र से न मिलना-जुलना, जीविका के लिए कोई शिल्प न सीखना न सिखाना, अंग-लेप आदि न लगाना, आदि। भिक्षुणियों पर भी पाराजिक आदि दोष उसी प्रकार लागू थे, जैसे भिक्षुओं पर। हाँ, प्रव्रज्या प्राप्त करने से पहले के दोषों के लिए वे दंड की भागिनी नहीं होती थीं। एक बार एक व्यभिचारिणी स्त्री संघ में प्रवेश पा गयी थी। संघ-प्रवेश के बाद वह उसके लिए दंडित नहीं की गई।

ऊपर भिक्षु-भिक्षुणियों सम्बन्धी नियमों और उनके उल्लंघन करने पर प्राप्त दण्ड-विधान का कुछ दिग्दर्शन किया गया है। वास्तव में विनय-पिटक के नियमों और उनके उल्लंघन से उत्पन्न दोषों की इतनी लम्बी सूची है कि उसका संक्षेप नहीं दिया जा सकता। किन्तु विनय-पिटक में नियमों के अलावा और भी बहुत कुछ है। उसकी विषयवस्तु के क्रम में ये नियम और अन्य बातें कहाँ-कहाँ आती हैं, यह तत्सम्बन्धी विश्लेषण से स्पष्ट होगा। जैसा पहले कहा जा चुका है, पालि विनय-पिटक निम्नलिखित भागों में विभक्त है—

---

१. देखिये चुल्लवग्ग पालि, पृष्ठ ३७४-७५ (देवनागरी संस्करण)।

१. सुत्त-विभंग
  (अ) पाराजिक
  (आ) पाचित्तिय
२. खन्धक
  (अ) महावग्ग
  (आ) चुल्लवग्ग
३. परिवार

सुत्त-विभंग

'सुत्त-विभंग' शब्द का अर्थ है 'सुत्तों' का विस्तृत रूप से विभाजन, या विश्लेषण। 'सुत्त' से अभिप्राय यहाँ शिक्षा पदों या विनय-नियमों से है। परन्तु 'सुत्त-विभंग' का वर्गीकरण दोषमय है। सुत्त-विभंग के दो भागों 'पाराजिक' और 'पाचित्तिय' में वैसे इनके शीर्षकों के अनुसार क्रमशः उन अपराधों का उल्लेख होना चाहिए था, जिनका दंड क्रमानुसार संघ से निष्कासन या किसी प्रकार का प्रायश्चित्त है। कुल अपराध संख्या में शिक्षापदों के अनुसार ही २२७ हैं, और जैसा हम अभी दिखा चुके हैं, इन सम्बन्धी नियम आठ वर्गीकरणों में विभक्त हैं, यथा (१) चार पाराजिक, (२) १३ संघादिसेस, (३) दो अनियत धम्म, (४) तीस निस्सग्गिय पाचित्तिय धम्म, (५) ९२ पाचित्तिय धम्म, (६) चार पटिदेसनिय धम्म, (७) ७५ सेखिय धम्म, तथा (८) सात अधिकरणसमथ धम्म। इनका विश्लेषण हम पहले कर चुके हैं। सुत्त-विभंग में इन्हीं नियमों का विश्लेषण है। साथ में इन नियमों का विधान किस प्रकार किया गया, इसका पूरा इतिहास भी दिया गया है। परन्तु वर्गीकरण दोषमय है। अपराधों के विचार से वर्गीकरण करने पर 'सुत्तविभंग' के दो विभाग किये गये हैं: (१) पाराजिक और (२) पाचित्तिय, किन्तु भिक्षु और भिक्षुणी संघों को उद्देश्य कर उनका वर्गीकरण है (१) महाविभंग या भिक्षु-विभंग (भिक्खु-विभंग) और (३) भिक्षुणी-विभंग (भिक्खुणी-विभंग)। परन्तु इन दोनों ही दृष्टियों से देखने पर सुत्त-विभंग की विषयवस्तु संगत दिखाई नहीं पड़ती, जैसा कि वह ग्रन्थ रूप में है। 'पाराजिक' में वैसे नाम के अनुसार केवल चार पाराजिकों का वर्णन होना चाहिए था, परन्तु उतना ही न होकर यहाँ चार पाराजिकों के अतिरिक्त १२ संघादिसेसों, २ अनियंत धर्मों और ३० निस्सग्गिय पाचित्तिय धर्मों का भी विवरण है। अतः ये सब नियम अधिक हैं। यदि 'भिक्खु-विभंग के रूप में इसे समझना चाहें, तब भी असंगति है। भिक्खु-

विभंग में पूरे २२७ नियमों का विवरण आना चाहिए था, परन्तु कहाँ तो केवल ४+१३+२+३०=४९ ही हैं। इसी प्रकार सुत्त-विभंग के दूसरे भाग पाचित्तिय या भिक्खुनी-विभंग पर आइये। वास्तविक विषयवस्तु के अनुसार, जैसा कि वह ग्रन्थ रूप में मिलती है, इसमें पहले तो भिक्षुओं के ९२ पाचित्तिय, ४ पटिदेसनिय, ७५ सेखिय और ७ अधिकरण-समथ नियमों का विवरण है (अर्थात् भिक्षुओं के शेष नियमों का) और बाद में भिक्षुणियों के पाराजिक, संघादिसेस.....अधिकरण-समथ नियमों का। अतः यहाँ भी शीर्षक और विषयवस्तु में संगति नहीं है। भिक्षु जगदीश काश्यप ने 'पाराजिक पालि' और 'पाचित्तिय पालि' को अपनी भूमिकाओं में इन असंगतियों को अच्छी प्रकार दिखाया है। भिक्षु और भिक्षुणी-सम्बन्धी नियमों के इतिहास को छोड़ कर केवल नियमों का संग्रह मात्र 'पातिमोक्ख' के नाम से प्रसिद्ध हैं। भिक्षु और भिक्षुणी संघों के अनुसार पातिमोक्ख के भी दो भेद हैं, यथा (१) भिक्खु-पातिमोक्ख और (२) भिक्खुनी-पातिमोक्ख, जो क्रमशः महाविभंग (भिक्खु-विभंग) और भिक्खुनी-विभंग के ही संक्षिप्त रूप हैं। यदि हम चाहें तो सुत्त-विभंग को 'पातिमोक्ख' का विस्तृत रूप या व्याख्या कह सकते हैं, या 'पातिमोक्ख' को 'सुत्त-विभंग' का उपयोग के योग्य संक्षिप्तीकरण। परन्तु ऐतिहासिक रूप से सुत्त-विभंग को पातिमोक्ख पर आधारित और उसका विस्तृत रूप मानना ही समीचीन है। पातिमोक्ख प्राचीनतर है। उसमें केवल २२७ शिक्षापद मूल रूप से संगृहीत हैं। परन्तु उसका मूल पाठ विनय-पिटक (या पूरे तिपिटक) में कहीं नहीं मिलता।

भिक्षु-संघ में उपोसथ (उपवसथ-उपवास-व्रत) नाम का एक संस्कार होता था। प्रत्येक मास में दो बार अर्थात् आधे-आधे मास ('अन्वद्धमासं) प्रायः अमावस्या (चतुर्दशी) और पूर्णिमा के दिन जितने भिक्षु एक गाँव या विहार के पास विहरते थे, वे सब एक जगह एकत्र हो जाते थे और उन सबकी उपस्थिति में 'पातिमोक्ख' या पाटिमोक्ख' (प्रातिमोक्ष) का पाठ होता था। 'पातिमोक्ख' में जैसा हम अभी कह चुके हैं, पाराजिक, पाचित्तिय आदि के वर्गीकरण में विभक्त २२७ अपराधों एवं तत्सम्बन्धी नियमों का विवरण है। 'पातिमोक्ख' का पाठ करते समय जैसे-जैसे अपराधों के प्रत्येक वर्गीकरण का पाठ किया जाता था, उस सभा में सम्मिलित प्रत्येक भिक्षु से यह आशा की जाती थी कि वह उठ कर यदि उसने वह अपराध किया है तो उसका स्वीकरण कर ले, ताकि भविष्य के लिए संयम हो सके। चुप रहने का अर्थ होता था कि कोई अपराध नहीं किया गया है। उपवासादि रखने और पाप-प्रायः

श्चित्त करने की यह प्रथा प्राग्बुद्धकालीन भारत में अन्य सम्प्रदायों में भी प्रचलित थी।[1] किन्तु बुद्ध ने उसे एक विशेष नैतिक अर्थ से अनुप्राणित कर दिया। उसे प्रातिमोक्ष-शील से शिक्षाप्रद-शील' से जोड़ दिया। बुद्धघोषाचार्य ने 'विसुद्धिमग्ग' (प्रथम परिच्छेद) में कहा है कि प्रातिमोक्ष शिक्षापद-शील ही है। "पातिमोक्ख" "ति सिक्खापदसीलं"। उनके इसी कथन का अनुसरण धम्मपालाचार्य ने इतिवृत्तक-अट्ठकथा में किया है, जिसका उद्धरण हम ऊपर (पद-संकेत में) दे चुके हैं। वल्कि 'समन्तपासादिका' में और 'विसुद्धिमग्ग' (प्रथम परिच्छेद) में भी बुद्धघोषाचार्य ने इसे और भी अधिक स्पष्ट कर दिया है और कहा है कि यह प्रातिमोक्ष ही संवर है, इसलिए यह प्रातिमोक्ष-संवर कहलाता है। "तत्थ पातिमोक्खमेव संवरो, पातिमोक्खसंवरो"ति। इस प्रकार प्रातिमोक्ष काया, मन, वाणी के संवरण, ढंककर रखने, संयम में रखने के लिए ही है जिसके लिए वास्तव में विनय का या सम्पूर्ण बुद्ध-शासन का ही उपदेश दिया गया और वास्तविक मुक्ति मन में है। पाप को उघाड़ देने से वह छूट जाता है। चित्त-शुद्धि के लिए अपने पापों को खोल देना चाहिए। गुप्त रखने से वे और भी चिपटते हैं। पाप-स्वीकरण,क्षमा-याचना और आगे के लिए कृतसंकल्पता, यही प्रातिमोक्ष-विधान के प्रधान लक्ष्य थे। चूंकि ऐसा करने के वाद प्रत्येक अपराधी भिक्षु एक प्रकार अपने-अपने अपराध के बोझ को उठा फेंकता था, उससे विमुक्ति पा जाता था, इसलिए 'पातिमोक्ख' का अर्थ प्रत्येक का अलग-अलग पाप-भार को फेंक देना, पाप से मुक्त हो जाना, पाप से मोक्ष पा जाना, हो सकता है। चूंकि प्रत्येक भिक्षु अलग-अलग अपने मुख से अपने पाप का स्वीकरण कर पाप-विमुक्त होता था, अतः 'प्रातिमोक्ष' के 'प्राति' शब्द में यह 'प्रति' का भाव लेकर हम कह सकते हैं कि 'प्राति-

---

१. उपोसथ अर्द्धमागधी में 'पोसह' के रूप में विदित है। जैन संस्कृत ग्रंथों में वह 'पोषध' है। बौद्ध संस्कृत ग्रन्थों में वह साधारणतः 'पोषध' है, परन्तु 'महा-वस्तु' और 'अवदानकल्पलता' त 'उपोषध' है। भदन्ताचार्य धम्मपाल स्थविर ने 'उदानट्ठकथा' में उपोसथ की व्याख्या इस प्रकार की है, "उपवसन्ति एत्था'ति उपोसथो। उपवसन्ति सीलेन वा अनसनेन वा उपेता हुत्वा वसन्तो' ति अत्थो।" आगे उन्होंने यहीं दिखाया है कि शील-प्रातिमोक्ष आदि के कई अर्थों में भी यह (उपोसथ) शब्द प्रयुक्त होता है। इतिवुत्तक-अट्ठकथा में उन्होंने प्रातिमोक्ष को शिक्षापद-शील बताया है। "पातिमोक्खं'ति सिक्खा-पदसील।"

मोक्ष' का अर्थ है प्रत्येक की अलग-अलग मुक्ति। विनय-पिटक के चीनी और तिब्बती भाषाओं में जो अनुवाद हुए, उनमें 'प्रातिमोक्ष' का यही अर्थ लिया गया है। चूंकि पालि 'पातिमोक्ख' का संस्कृत प्रतिरूप 'प्रातिमोक्ष' ही सर्वास्तिवादी आदि प्राचीन बौद्ध सम्प्रदायों ने किया है, अतः पालि 'पातिमोक्ख' का भी अर्थ प्रत्येक का अलग-अलग पापमुक्त हो जाना अशुद्ध नहीं हो सकता। 'समन्तपासादिका' (पाचित्तिय-कण्ड) में कहा गया है—"पातिमोक्ख" ति सीलं पतिट्ठा आदिचरणं संयमो संवरो मोक्खं (मुखं) पमोक्खं (प्रमुखं) कुसलानं धम्मानं समापत्तिया।" अर्थात् "प्रातिमोक्ष शील है, प्रतिष्ठा है, आदि आचरण है, संयम है, संवर (संवरण) है, मोक्ष (मुख) है प्रमोक्ष (प्रमुख) है और कुशल धर्मों को प्राप्त करने के लिए प्रमुख (साधन) है।" बुद्धघोष की 'पातिमोक्ख' की यह निरुक्ति और सर्वास्तिवादी आदि सम्प्रदायों में 'पातिमोक्ष' के रूप में उसका अर्थ ग्रहण, इन दोनों में कोई असंगति नहीं है। बल्कि वे दोनों ही उसके क्रिया और फल के क्रमशः सूचक हैं, अतः वे एक दूसरे के पूरक ही हैं। भगवान् ने प्रातिमोक्ष-सम्बन्धी उपदेश सुत्तों में भी अनेक बार दिया है। "भिक्षु शीलवान् होता है, प्रातिमोक्ष के संवर (संयम) से संवृत होता है, आचार-गोचर से सम्पन्न होता है, शिक्षापदों को ग्रहण कर अभ्यास करता है।"[1] स्वयं विनय-पिटक के महावग्ग में 'पातिमोक्ख' की प्रशंसा में कहा गया है; "पातिमोक्खं" ति आदिमेतं मुखमेतं पमुखमेतं कुसलानं धम्मानं तेन वुच्चति पातिमोक्खंति।"[2] अर्थात् प्रातिमोक्ष कुशल धर्मों का आदि है, मुख है, प्रमुख है, इसलिए वह प्रातिमोक्ष कहलाता है।" 'विसुद्धिमग्ग' (प्रथम परिच्छेद) में भी प्रातिमोक्ष के सम्बन्ध में कहा गया है, "तं हि यो नं पाति रक्खति, तं मोक्खेति मोचयति आपायकादीहि दुक्खेहि, तस्मा पातिमोक्खं' ति वुच्चति।"[3] अर्थात् "जो प्रातिमोक्ष (के नियमों) की रक्षा करता है, उसे

---

१. गोपक-मोग्गल्लान-सुत्त (मज्झिम ३।१।८); मिलाइये, "भिक्षुओ! शीलसम्पन्न होकर विहरो, प्रतिमोक्ष-संवर से संवृत (रक्षित) होकर विहरो, शिक्षापदों को ग्रहण कर उनका अभ्यास करो।" आकंखेय्य-सुत्त (मज्झिम, १।१।६)।

२. महावग्गपालि, पृष्ठ १०६ (भिक्षु जगदीश काश्यप द्वारा सम्पादित संस्करण)।

३. बुद्धघोषाचार्य के इसी कथन का प्रायः शब्दशः अनुगमन आचार्य धम्मपाल ने 'इतिवुत्तक-अट्ठकथा' में इस प्रकार किया है, "तं हि यो पाति रक्खति तं मोक्खेति मोचयति आपायकादीहि दुक्खेही'ति प्रातिमोक्खं।"

वह दुर्गति आदि दुःखों से मोक्ष दिखलाता है, मुक्त करता है, इसलिए यह प्रातिमोक्ष कहलाता है।" इस प्रकार प्रातिमोक्ष का रूप स्पष्ट हो जाता है।

बुद्ध के जीवन-काल में ही जब अविशुद्ध भिक्षु प्रातिमोक्ष-पाठ में आने लगे, तो स्वयं बुद्ध ने खिन्न होकर उसमें जाना बन्द कर दिया, परन्तु भिक्षु-संघ में यह प्रथा उनके आदेशानुसार चलती रही।

प्रातिमोक्ष का विधान भगवान् ने अपने जीवन में बोधि-प्राप्ति के बाद किस वर्ष में किया, इसका निर्णय करना बड़ा मुश्किल है। शिक्षापदों का विधान और प्रातिमोक्ष का प्रारम्भ, ये प्रायः समकालिक हैं क्योंकि इनका उल्लेख प्रायः साथ-साथ ही पालितिपिटक में अनेक जगह आता है। 'बुद्धवंस' की अट्ठकथा ('मधुरत्थ-विलासिनी') में कहा गया है कि माघ मास की पूर्णिमा के दिन भगवान् ने प्रातिमोक्ष का उद्देश किया। "माघपुण्णमाय... पातिमोक्खुद्देसो"। परन्तु यह बोधि-प्राप्ति के बाद के किस वर्ष की माघ-पूर्णिमा थी, यह कुछ भी निश्चित नहीं है। कदाचित् वह बोधि-प्राप्ति के बाद बारहवें वर्ष से लेकर बीसवें वर्ष के बाद तक की भी हो सकती है। किस समय स्वयं भगवान् ने प्रतिमोक्ष-पाठ में जाना बन्द कर दिया, यह उनके जीवन के अपर भाग की ही घटना हो सकती है और कदाचित् उसी समय की जब महाकाश्यप स्थविर ने, जैसा हम पहले दिखा चुके हैं, शिक्षा-पदों की अधिकता और भिक्षुओं की शिथिलता की ओर उन भगवान् का ध्यान दिलाया।

विनय के अन्ततः धम्म में अन्तर्भाव की ओर हम पहले भी लक्ष्य कर चुके हैं। यह प्रातिमोक्ष के स्वरूप से भी प्रकट होता है। सम्पूर्ण प्रातिमोक्ष का विधान विशुद्धि के लिए था, ब्रह्मचर्य की परिपूर्णता के लिए था जिसके बिना सम्यक् रूप से दुःख का निवारण नही किया जा सकता। प्रातिमोक्ष की आत्मा क्या है ? यही कि भिक्षु अपने काया-सम्बन्धी, वाणी-सम्बन्धा और मन-सम्बन्धी कर्मों का प्रत्यवेक्षण करें, अपने अन्दर देखें, अपने दोषों को देखें और उन्हें सुधारें। भगवान् स्वयं अपने अन्दर चिन्तन कर देखते थे कि मेरे अन्दर पहले कौन-कौन से दोष थे जिनको मैंने हटा दिया है और किस प्रकार कुशल धर्मों की परिपूर्णता प्राप्त की है। वे अपने सब शिष्यों को इस प्रकार प्रत्यवेक्षण करने के लिए और सतत रूप से यह देखने के लिए कि कौन-कौन से दोष उनके अभी नष्ट नहीं हुए हैं, जिनका उन्हे अभी ग्रहण करना बाकी है, प्रेरित किया करते थे। विशेषतः नये प्रविष्ट भिक्षुओं को वे भगवान्

आत्म-प्रत्यवेक्षण का बहुत रूप से उपदेश दिया करते थे। राहुल को भी उन्होंने नियमित रूप से आत्म-प्रत्यवेक्षण करने का उपदेश दिया और अन्य कई शिष्यों को भी। भगवान् के अधिगमसम्पन्न भिक्षु-शिष्य महामौद्गल्यायन ने मज्झिम-निकाय के 'अनुमान-सुत्त' के रूप में अपने सब्रह्मचारियों को निरन्तर आत्म-प्रत्यवेक्षण करने का उपदेश दिया। आचार्य बुद्धघोष ने 'पपञ्चसूदनी' में इस सूत्र पर टिप्पणी करते हुए कहा है कि प्रतिदिन तीन बार भिक्षुओं को इस प्रकार आत्म-प्रत्यवेक्षण करना चाहिए और इसी सम्बन्ध में एक अत्यन्त लक्षणीय बात उन्होंने यह कही है कि पुराने लोग कहते थे कि यह सूत्र (उपदेश) ही भिक्षु-प्रातिमोक्ष है। "इदं हि सुत्तं भिक्खुपातिमोक्खं नामा' ति पोराणा वदन्ति।" इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भिक्षु-प्रातिमोक्ष का मूल और प्राथमिक रूप अपने काया-सम्बन्धी, वाणी-सम्बन्धी और मन-सम्बन्धी कृत्यों का प्रत्यवेक्षण करना ही है, जो ही विशुद्धि की प्रक्रिया है और जिसे ही वास्तव में उस अभ्यास में किया जाता है जिसे हम बुद्ध-देशित ध्यान भी कह सकते हैं अर्थात् अपने क्लेशों (मलों) को जलाने की क्रिया। यही प्रातिमोक्ष का उद्देश्य था और इसके लिए सब से बड़ी जरूरत सच्चे दिल या ईमानदार मन की है, जिसके बिना सब व्यर्थ है।

खन्धक

विनय-पिटक का दूसरा भाग खन्धक भी दो भागों में विभक्त है, महावग्ग और चुल्लवग्ग। सुत्त-विभंग जब कि अधिकांशतः निषेधात्मक है, महावग्ग उस का विधानात्मक स्वरूप है। संघ के अन्दर जिस प्रकार का जीवन बिताना चाहिए, उसका यहाँ निर्देश किया गया है। महावग्ग में प्रथम दस खन्धक हैं। सम्बोधि-प्राप्ति से लेकर प्रथम संघ की स्थापना तक का यहाँ पूरा इतिहास भी दिया गया है। यह 'महावग्ग' का बड़ा महत्त्वपूर्ण भाग है। पहले खन्धक (विभाग, अध्याय) में भगवान् बुद्ध की बुद्धत्व-प्राप्ति के बाद सात सप्ताहों तक उनके भिन्न-भिन्न वृक्षों के नीचे ध्यान-सुख में बिताने एवं तदनन्तर वाराणसी में धर्म-चक्र-प्रवर्तन के लिये जाने का वर्णन है। उरुवेला से लेकर वाराणसी तक की उनकी इस यात्रा का वर्णन है। उससे पूर्ण राजायतन वृक्ष के नीचे तपस्सु और भल्लिक नामक वणिकों को भगवान् उपासक बनाते हैं और वे बुद्ध और धम्म की शरण में जाते हैं। उपक नामक आजीवक भगवान् को मार्ग में मिलता है। उसके साथ हुए उनके संलाप का विवरण है। वाराणसी में धर्म-चक्र-प्रवर्तन करने के बाद भगवान् आज्ञा कौण्डिन्य, भद्दिय, वप्प,

अस्सजि और महानाम, इन पंचवर्गीय भिक्षुओं को, जो उनके साथ पहले उरुवेला में रहे थे, बुद्ध-मत में प्रव्रजित करते हैं। इसके बाद यश के संन्यास का वर्णन है। उसके बाद काश्यप-बन्धुओं (जटिल काश्यप, उरुवेल काश्यप और नदी काश्यप) की प्रव्रज्या का वर्णन है। महाराज बिंबिसार के उपासकत्व का भी वर्णन है। "भन्ते ! मेरी पाँच अभिलाषाएँ थीं—मैं राज्य-अभिषिक्त होता—मेरे राज्य में सम्यक् सम्बुद्ध आते—मैं उनकी सेवा करता—वे भगवान् मुझे धर्म-उपदेश करते—उन भगवान् को मैं जानता। भन्ते ! ये मेरी पाँचों इच्छाएँ आज पूरी हो गयीं। इसलिये भन्ते ! मैं भगवान् की शरण लेता हूँ, धर्म की और भिक्षु-संघ की भी।" इसी समय उसने बुद्ध-प्रमुख भिक्षु-संघ को वेणुवन दान भी किया। सारिपुत्र, मौद्गल्यायन, महाकाश्यप, नन्द और राहुल की प्रव्रज्या के वर्णन, सभी क्रमानुसार दिये गये हैं, जो भिक्षु-संघ के बुद्धकालीन विकास को जानने के लिए तथा इन प्रथम शिष्यों की जीवन-साधना से परिचित होने के लिए बड़े आवश्यक हैं।[1] उपसम्पदा की विधि आदि के प्रसंग में अनेक कथाएँ भी दी गई हैं। द्वितीय खन्धक (उपोसथक्खन्धक) में उपोसथ के नियम हैं, चौथे खन्धक (पवारणाक्खन्धक) में प्रवारणा-सम्बन्धी नियम हैं, छठे खन्धक (भेसज्जक्खन्धक) में बीमार भिक्षुओं के लिए भैषज्य-सम्बन्धी विधान हैं और आठवें खन्धक (चीवरक्खन्धक) में चीवर-सम्बन्धी नियम हैं। प्रातिमोक्ष और उपसम्पदा सम्बन्धी विस्तृत नियम, वर्षावास के नियम, प्रवारणा के नियम, चीवरों के रंगने की विधि आदि सभी विषयों पर यहाँ विस्तृत विधान हैं। महावग्ग के दसवें खन्धक में कोशाम्बी के भिक्षुओं के झगड़े का वर्णन है। इसी खन्धक के अन्त में भगवान् उपालि को संघ की एकता (संघसामग्गी) पर उपदेश देते हैं। इससे आगे चुल्लवग्ग है। इसमें बारह खन्धक हैं। इन खन्धकों में अपराधी भिक्षुओं के विरुद्ध सात प्रकार की कार्यवाहियाँ करने के प्रसंग में यहाँ उस समय के न्याय और दण्ड-विधान सम्बन्धी अनेक प्रक्रियायों के वर्णन हैं जो उस समय की न्यायविधि को जानने के लिये बड़े आवश्यक हैं। भिक्षु के लिये दैनिक जीवन में कौन सी चीजें विहित हैं, कौन सी अ-विहित, उसे विहार में या बाहर किस प्रकार चलना-फिरना चाहिये या वार्तालाप करना चाहिये, आदि विषयों पर सूक्ष्म निर्देश हैं। चुल्लवग्ग में ही अनाथपिंडिक की दीक्षा और जेतवन-दान का

---

१. अनुरुद्ध, आनन्द और उपालि की प्रव्रज्या के वर्णन चुल्लवग्ग में हैं।

वर्णन हैं और महापजापति गोतमी की प्रव्रज्या का वर्णन भी। यहीं से भिक्षुणी-संघ का आरम्भ होता है। चुल्लवग्ग के अन्त में प्रथम दो बौद्ध संगीतियों के विवरण हैं। वास्तव में न केवल भिक्षु-संघ के इतिहास की दृष्टि से ही, बल्कि छठी-पांचवीं शताब्दी ईसवी पूर्व के भारतीय समाज की अवस्था को जानने के लिए भी महावग्ग और चुल्लवग्ग के साथ-साथ पाराजिक और पाचित्तिय में पर्याप्त सामग्री भरी हुई है। उदाहरणतः सिर्फ दो-एक चित्र देखिये। महावग्ग में राजगृह और अन्धकविन्द के बीच सड़क पर हम एक व्यापारी को गुड़ से भरी पाँच सौ गाड़ियों के साथ जाते देखते हैं। पाराजिक में व्यापारियों का एक काफिला एक जनपद या राष्ट्र से दूसरे जनपद या राष्ट्र में प्रवेश करने पर चुंगी (सुंक-शुल्क) चुका रहा है। पाचित्तिय में ऊपर छत से एक स्त्री ने नीचे गली में जाते हुए एक रास्तागीर पर कूड़ा डाल दिया है। उसे दूसरे रास्तागीरों द्वारा बताया जाता है कि यह तो एक शुभ शकून है। सामाजिक जीवन पर प्रकाश डालनेवाली अनेक प्रकार की सामग्री यहाँ मिलती है, और बिलकुल प्रासंगिक और सहज रूप में। जीवक कौमार-भृत्य का विवरण जो महावग्ग में आता है और इसी वग्ग में भिक्षुओं के लिये जो भैषज्य-विधान किया गया है, उससे तत्कालीन आयुर्वेद-सम्बन्धी ज्ञान और उसके अभ्यास का अच्छा परिचय मिलता है। बिम्बिसार आदि के विवरण तत्कालीन राजनैतिक परिस्थिति और वैशाली आदि के विवरण उस समय की सामान्य सभ्यता और मनुष्यों के रहन-सहन के ढंग का अच्छा परिचय देते हैं। निश्चय ही इस दृष्टि से विनय-पिटक का और विशेषतः महावग्ग और चुल्लवग्ग का बड़ा महत्त्व है। यहीं पर सुत्त-विभंग की विषय-वस्तु के पूरक-स्वरूप भिक्षु और भिक्षुणी संघों के आन्तरिक जीवन एवं कार्य-संचालन का भी अच्छा चित्र दिया गया है। भिक्षु-संघ में प्रवेश के नियम, उपोसथ के नियम, वर्षावास के नियम, उसके अन्त पर 'पवारणा' सम्बन्धी नियम, संघ में फूट पड़ने पर उसमें एकता लाने के उपाय भिक्षुओं के जीवन की छोटी-से-छोटी बातों पर भी सूक्ष्मतापूर्वक विचार, उनके कपड़े और जूते पहनने तक के ढंग, सवारी में बैठने सम्बन्धी नियम, निवास-स्थान और उसकी सफाई, मरम्मत आदि सम्बन्धी नियम, किसी भी विषय को यहाँ छोड़ा नहीं गया है। चुल्लवग्ग के दसवें खन्धक (भिक्खुनिक्खन्धक) में केवल भिक्षुणी-जीवन सम्बन्धी नियमों और ज्ञातव्य बातों का ही विवरण है। 'खन्धक' से ही संलग्न 'कम्मवाचा' (सं० कर्म-वाक्य) के भी विवरण हैं, जो संघ-सम्बन्धी विभिन्न कृत्यों और विशेषतः संघ-प्रवेश के समय कार्य-प्रणाली के सूचक हैं।

'खन्धक' में आये हुए नियमों के समान यहाँ विभिन्न कर्मों (कम्म) के लिए प्रयुक्त शब्दों (वाचा) का विधान किया गया है।[1]

---

१. संघ में किसी महत्त्वपूर्ण कार्यवाही से पूर्व भी उसके लिए 'कम्म-वाचा' की जाती थी। 'सुमङ्गलविलासिनी' की निदान-कथा में उल्लेख है कि कुसिनारा में भगवान् के परिनिर्वाण के इक्कीसवें दिन (अर्थात् ज्येष्ठ मास के शुक्ल पक्ष की छठ के दिन) महाकाश्यप ने धर्म-संग्रह करने के लिये कम्म-वाचा की और भिक्षुओं को चालीस दिन का अवकाश देते हुए कहा कि इस बीच के समय में वे अपने करणीय कृत्यों को निबटा लें और विघ्न-बाधाओं को हटा लें और तदुपरान्त राजगृह में धर्म-संग्रह के लिए इकट्ठे हों। वास्तव में विनयपिटक में ही कम्मवाचा का अनेक जगह उल्लेख है। उदाहरणतः 'महावग्ग' के चम्पेय्यक्खन्धक में "न च कम्मवाचं अनुस्सावेति-अधम्मकम्मं; एकाय कम्मवाचाय कम्मं करोति—अधम्मकम्मं।" इसी प्रकार 'पाराजिक' पालि में "द्वीहि कम्मवाचाहि थुल्लच्चया पटिप्पस्सम्भन्ति", 'पाचित्तिय' पालि में "कम्मवाचा वा विप्पकता होति", आदि। ये कम्मवाचा क्या हैं? ये वास्तव में कुछ प्राचीन गाथाओं के पाठ हैं जिनका उच्चारण भिक्षु-सङ्घ में भिक्षुओं के उपसम्पदा आदि संस्कारों के अवसर पर किया जाता था और आज तक प्रच-लित है। ऊपर हम 'खन्धक' के प्रसंग में उपसम्पदा, प्रातिमोक्ष, उपोसथ आदि कृत्यों का उल्लेख कर चुके हैं। इन्हीं संघ-कृत्यों के अवसर पर प्रयुक्त वचनों (वाचा, वाचना, वाक्य) के रूप में कुछ विशिष्ट गाथाओं का पाठ होता था। यही कम्मवाचा है। खन्धक के नियमों में ये उसी प्रकार अन्तर्भुक्त हैं, जैसे कि सुत्त-विभंग में प्रातिमोक्ष और दोनों ही भिक्षु-संघ के इतिहास में अति प्राचीन हैं, इसमें सन्देह नहीं। 'परमत्थजोतिका' (सुत्त-निपात की अट्ठकथा) की 'राहुलसुत्तवण्णना' में कहा गया है कि राहुल की प्रव्रज्या के समय स्थविर महामौद्गल्यायन ने 'कम्मवाचा' का पाठ किया और इस प्रकार वे उनके कम्मवाचाचार्य बने। महावंस (५।२०६-२०७) में कहा गया है कि महेन्द्र की प्रव्रज्या के समय स्थविर मध्यान्तिक (मज्झन्तिक) ने कम्मवाचा का पाठ किया। "मज्झन्तिको पन कम्मवाचं अका।" 'कम्म-वाचा' में प्रयुक्त की जाने वाली गाथाओं की कोई निश्चित संख्या नहीं है, परन्तु साधारणतः ये ग्यारह मानी जाती हैं। उपसम्पदा-कम्मवाचा आदि के रूप में कुछ 'कम्मवाचा' अलग से पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित की गई हैं। सिंहली अक्षरों में 'कम्मवाचा' का सम्पादन स्थविर अभयवड्ढन ने किया

परिवार

'परिवार' या 'परिवार-पाठ' विनय-पिटक का अन्तिम भाग है। जैसा विण्टरनित्ज ने कहा है, 'परिवार' का विनय-पिटक से वही सम्बन्ध है, जो वेद की अनुक्रमणी और परिशिष्टों का वेद के साथ।[1] 'परिवार' सम्भवतः बाद का भी संकलन है। वह प्रश्नोत्तर के रूप में है। विनय-पिटक की विषयवस्तु की इसे एक प्रकार से 'मातिका' या विषय-सूची ही समझना चाहिए। 'परिवार' में १९ परिच्छेद हैं,[2] जिनमें अभिधम्म की शैली पर विनय-पिटक के विषय की ही पुनरावृत्ति की गई है। विषय की दृष्टि से कोई नयी बात यहाँ नहीं कही

है। जिनालङ्कार प्रेस, कोलम्बो, बुद्धाब्द २४०१। यह लक्षणीय है कि उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दी के प्रसिद्ध बरमी विद्वान् भिक्षु लेदि सयदाव की एक रचना का शीर्षक 'पब्बाजनिय कम्मवाचा' है अर्थात् इसमें प्रव्राजनीय कर्म (किसी भिक्षु के सङ्घ से निष्कासन की क्रिया) के अवसर पर पाठ की जानेवाली गाथाओं का संकलन है। 'परित्त' के समान ही 'कम्मवाचा' की भी हस्तलिखित प्रतियाँ सिंहल और बरमा में प्रयुक्त की जाती है। 'कम्मवाचा' के लिये बौद्ध संस्कृत साहित्य में प्रयुक्त शब्द 'कर्मवाचना' या कर्मवाक्य' है। मध्य-एशिया में कुछ 'कर्मवाक्य' मिले हैं, जिनका सम्बन्ध सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय से है। बौद्ध धर्म के प्रायः सभी सम्प्रदायों में, यहाँ तक कि महायान के ध्यान-सम्प्रदाय तक में भी, भिक्षुओं के उपसम्पदा-संस्कार के समय कर्मवाक्य का पाठ किया जाता है। चीनी ध्यान-सम्प्रदाय की परम्परा में उल्लेख है कि जब छठे कर्मनायक हुइ-नेंग् (सातवीं-आठवीं शताब्दी ईसवी) को प्रव्रज्या हुई, तो विनयाचार्य हुइ-चिंग् नामक भिक्षु उनके कर्माचार्य (कर्मादान) बने, अर्थात् उन्होंने कर्मवाक्य का पाठ किया। चीनी यात्री इत्सिंग् ने भी चीन में अपने उपाध्याय के साथ-साथ कर्माचार्य का भी उल्लेख किया है, उनका नाम लिया है और श्रद्धापूर्वक उनकी प्रशंसा की है। देखिए 'ए रिकार्ड ऑव् बुद्धिस्ट रिलीजन' आदि रूप से अंग्रेजी में जि० तकाकुसु द्वारा अनुवादित (आक्सफर्ड, १८९६) उनका यात्रा विवरण, पृष्ठ १९८। इस प्रकार 'कम्मवाचा' का विधान बौद्ध उपसम्पदा-विधि में सर्वत्र प्रचलित ही है और महायान में भी उसका अनुसरण किया जाता रहा है।

१. हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ३३

२. भिक्षु जगदीश काश्यप द्वारा सम्पादित परिवार पालि में इक्कीस परिच्छेद हैं।

गयी है, परन्तु विनय के विषय को समझाने के लिये ही इस ग्रन्थ का उद्योग है। कौन सा शिक्षापद भगवान् ने कहाँ, किसको, किस प्रसंग में दिया, संघ के झगड़े कितने प्रकार के होते हैं, उपोसथ का आदि क्या है, मध्य क्या है, अन्त क्या है, किन दस बातों का विचार कर तथागत ने शिक्षापदों को प्रज्ञप्त किया, इस प्रकार की समस्याएँ इस ग्रन्थ में उठाई गई हैं और उनके उत्तर दिये गये हैं जिनमें प्रायः सम्पूर्ण विनय-पिटक की विषयवस्तु ही आ जाती है और दुहरा ली जाती है। यह ग्रन्थ गद्य और गाथाओं, दोनों में है। 'परिवार' की अन्तिम गाथाओं में कहा गया है "पुब्बाचरियमग्गं च पुच्छित्वा व तहिं तहिं। दीपो नाम महापञ्ञो सुतधरो विचक्खणो। इमं वित्थारसंखेपं सज्झामग्गेन मज्झिमे। चिन्तयित्वा लिखापेसि सिस्सकानं सुखावहं।"[1] इससे निश्चित है कि विनय-सम्बन्धी शिक्षा के इस ग्रन्थ को 'दीप' नामक महामति भिक्षु ने सिंहल में लेखबद्ध करवाया। इसके आधार पर अधिकतर विद्वान् दीप को ही परिवार पाठ का रचयिता या संकलन-कर्ता मानते हैं। यह परिवार-पाठ के वर्तमान रूप के सम्बन्ध में ठीक हो सकता है, परन्तु अधिकतर ठीक बात यही लगती है कि परिवार-पाठ प्रथम संगीति के समय से ही परम्परागत रूप से प्राप्त था और दीप ने उसे केवल "शिष्यों के सुख के लिये लिखवाया।" "लिखापेसि सिस्सकानं सुखावहं।" आचार्य बुद्धघोष ने 'सुमंगल-विलासिनी' में बताया है कि प्रथम संगीति के अवसर पर ही जब विनय-पिटक का संगायन किया गया, तो उसमें 'सोलस-परिवार' भी सम्मिलित था। 'सोळस-परिवार' से तात्पर्य परिवार के १६ परिच्छेदों से ही हो सकता है। परन्तु ये सोलह परिच्छेद कौन से थे, यह बताना आज कठिन है। आज परिवार के रोमन संस्करण में १९ और देवनागरी संस्करण में २१ परिच्छेद हैं। ये दोनों परिवर्द्धित हैं और बाद के हैं। इस रूप में परिवार के रचना-काल का ठीक निश्चय करना कठिन है, परन्तु इसकी शैली को देखते हुए इतना कहा जा सकता है कि अभिधम्म के काफी बाद और उसकी मातिकाओं की शैली के आधार पर इसकी रचना एक उत्तर काल में हुई।

---

१. विनय-पिटकं, जिल्द पांचवीं, पृष्ठ २२६ (रोमन संस्करण। भिक्षु जगदीश काश्यप द्वारा सम्पादित परिवार पालि में मैं इन गाथाओं को नहीं ढूंढ़ सका हूँ। परिवार पालि की अपनी भूमिका में भी उन्होंने दीप का कहीं उल्लेख नहीं किया है। 'अनुक्कमणिका' में भी यह शब्द नहीं है।

भिक्षु जगदीश काश्यप ने 'परिवार' पालि की अपनी भूमिका में दो बातों की ओर विशेष ध्यान आकृष्ट किया है। पहली बात तो यह कि इसमें धर्म के लिपिबद्ध किये जाने का उल्लेख है। इसके प्रथम और द्वितीय परिच्छेदों के आरम्भ में आया है 'सज्झायमग्गलिखिता वारा।" दूसरी बात यह है कि महेन्द्र स्थविर द्वारा लंका में विनय की परम्परा स्थापित कर दिये जाने के बाद २६ सिंहली भिक्षुओं के नाम भी प्रथम परिच्छेद में दिये गये हैं, जिन्होंने ताम्रपर्णी द्वीप में विनय-पिटक का प्रकाश किया। 'विनयं दीपे पकासेसुं पिटकं तम्बपण्णिया।' इससे यह निश्चित है कि परिवार-पाठ की रचना अपने वर्तमान रूप में लंका में काफी बाद में चलकर हुई।

इस प्रकार हमने संघ की अनुस्मृति की। जिस प्रकार धम्म की अनुस्मृति में हमने सुत्तों का सहारा लिया, उसी प्रकार भिक्षु-संघ की स्मृति करने में विनय-पिटक ने हमारी सहायता की। बुद्ध की अनुस्मृति तो दोनों जगह समान ही रही। साथ-साथ हमने तत्कालीन लोक-समाज को भी देखा, बुद्ध के देश और काल को भी देखा। इतिहास-लेखक तो इसी पर सर्वाधिक जोर देते हैं, किन्तु हमने तो प्रासंगिक वश ही सही, पर बुद्ध, धम्म और संघ की अनुस्मृति भी अवश्य की। निश्चय ही महापुरुष (बुद्ध) का जितना बड़ा दान विश्व को 'धम्म' का था, उससे कम बड़ा दान संघ का भी नहीं था। बुद्धकालीन भिक्षु-संघ साक्षात् साधना का निवास-स्थान था। उसकी वह पवित्रता की द्युति ही थी जो उसकी महिमा के इतने विशाल भूखंड पर विस्तार का कारण हुई। भिक्षु-संघ के विषय में जो यह कहा गया है कि वह आहुनेय्य (निमंत्रण करने योग्य) था, पाहुणेय्य (पाहुना बनाने योग्य) था, दान देने योग्य था, अञ्जलि जोड़ने योग्य था, एवं लोक के लिए पुण्य बोने का अद्वितीय क्षेत्र था, वह उसकी पवित्रता और संयम-प्रियता को देखते हुए बिल्कुल ठीक ही था। भगवान् का श्रावक-संघ 'आमिस-दायाद' (भोगों का उत्तराधिकारी) नहीं था और न वह किसी लौकिक उद्देश्य की प्राप्ति के लिए व्यवस्थित किया गया था। यह इसी से प्रकट होता है कि आनन्द और महाकाश्यप जैसे ज्ञानी और साधक भिक्षुओं के रहते हुए भी शास्ता ने किसी को अपने बाद संघ का संचालक नहीं बनाया। धर्म और विनय के संचालन में ही उन्होंने उसे छोड़ा। भगवान् का कोई पीटर या अली नहीं बना। कारण, यहाँ वैसा कुछ था ही नहीं जिसका किसी व्यक्ति को उत्तराधिकार सौंपा जा सके। इतनी निर्वैयक्तिकता और आत्म-विलुप्ति विश्व के इतिहास में अन्यत्र कहीं नहीं देखी गई।

विनय-पिटक के नियमों में आधारभूत विश्वजनीन तत्त्व कितना है अथवा कितना वह देश और काल की विशिष्ट परिस्थितियों से उद्भूत है, यह एक बड़ा महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। नगई ने अपने संक्षिप्त विनय-सम्बन्धी निबन्ध[1] में इस प्रश्न को उठाया है और सामाजिक परिस्थितियों के परिवर्तित स्वरूपों का विवेचन करते-करते वे उस हद तक पहुँच गये हैं जहाँ तक स्थविरवादी बौद्ध परम्परा तो उनके साथ जा ही नहीं सकती, धर्म और साधना का कोई भी भारतीय विद्यार्थी भी जहाँ तक जाना पसन्द नहीं करेगा। उदाहरणतः स्त्री संलाप आदि अनेक को भी नगई ने इस आधुनिक युग में असम्भव और कदाचित् अनावश्यक मान लिया है। निश्चय ही यह सीमा को अतिक्रमण कर जाता है। समाज और जीवन के बाहरी रूपों में परिवर्तन होने के साथ-साथ आज के मनुष्य के लिए उनके मूल्यों के अंकन में परिवर्तन हो चुका है। वह भीतर से मूल्य अंकन करने के बजाय आज बाहर से करने लगा है। यदि इस दृष्टि से विनय-नियमों को आज देखा जाय तब तो उनमें से अधिकांश नियमों का अभ्यास ही व्यर्थ है। मज्झिम-निकाय के कीटागिरि-सुत्त(२।२।१०) में हम पढ़ते हैं कि बुद्ध के कुछ शिष्य अश्वजित् और पुनर्वसु नामक विनयहीन भिक्षुओं से जाकर कहते हैं, "आवुसो! भगवान् रात्रि-भोजन से विरत हो कर भोजन करते हैं। भिक्षु-संघ भी रात्रि-भोजन से विरत हो कर भोजन करता है। ऐसा करने से वे आरोग्य, उत्साह, बल और सुखपूर्वक विहार अनुभव करते हैं। आओ आवुसो! तुम भी रात्रि-भोजन से विरत हो कर भोजन करो। तुम भी आरोग्य, उत्साह, बल और सुखपूर्वक विहार को अनुभव करोगे।" अश्वजित् और पुनर्वसु नामक विनय-भ्रष्ट भिक्षओं ने उत्तर दिया, "आवुसो! हम तो शाम को भी खाते हैं, प्रातः भी खाते हैं, दोपहर को भी खाते हैं और दोपहर के बाद भी। सायं, प्रातः, मध्याह्न, विकाल (दोपहर बाद), सब समय खाते भी हम आरोग्य, उत्साह, बल और सुखपूर्वक विहार करते घूमते हैं। हम सायं भी खायेंगे, प्रातः भी, दिन में भी और विकाल में भी।" जैसा तर्क अश्वजित् और पुनर्वसु ने दिया वैसा आज कोई भी दे सकता है। और आज की परिस्थिति में वह कुतर्क भी नहीं लगेगा। आज मनुष्य के मूल्यांकन का सारा विधान ही बदल गया है। अतः यदि आज के भौतिकवादी जीवन के पूरे स्वीकरण के साथ तथागत-प्रवेदित धम्म-विनय को निभाना है, तो यह अशक्य

---

१. 'बुद्धिस्ट विनय डिसिप्लिन और बुद्धिस्ट कमाण्डमेण्ट्स' शीर्षक, बुद्धिस्टिक स्टडीज, (डॉ० लाहा द्वारा सम्पादित), पृष्ठ ३६५-३८३।

है। कामवासना को लक्ष्य माननेवाले जन-समाज के लिए तथागत ने उपदेश नहीं दिया। कम-से-कम उसके लिये उसे समझना तो अशक्य ही है। अतः विनय-नियमों को निभाने का काम तो ऐसे महान् साधकों का ही हो सकता है, जो समाज की मान्यताओं से ऊपर उठने की पूरी शक्ति रखते हों। कम से कम सामाजिक परिस्थितियों के नाम पर आदर्श को गिराना तो हमें नहीं चाहिए। स्थविरवादी परम्परा ने विनय-नियमों पर उनके पूरे शब्दों और अर्थों के साथ जोर दिया है, इनका यही कारण है। साधन की निष्ठा अत्यन्त आवश्यक है। निष्ठावान् के लिए कभी कुछ असम्भव नहीं है। वह समाज और परिस्थितियों को अपने अनुकूल कर सकता है, यदि उसे दृढ़ विश्वास है कि जो कुछ अभ्यास वह करता है उसके पीछे बुद्धों का सारा अनुभव और ज्ञान छिपा हुआ है और बुद्ध की 'आज्ञादेशना' की सच्चाई सामाजिक परम्पराओं या परिस्थितियों की अनुमति की अपेक्षा नहीं रखती। हाँ, छोटे-मोटे विनय-सम्बन्धी नियमों के विषय में शास्ता ने स्वयं ही आश्वासन दे दिया है कि उन्हें आवश्यकतानुसार छोड़ा जा सकता है। ये छोटे-मोटे विनय-सम्बन्धी नियम क्या हैं, इसके विषय में हम जानतें हैं कि पूर्वकालीन धर्मसंगीतिकार भिक्षुओं में ही बड़ा विवाद उठ खड़ा हुआ और केवल अनेक सम्प्रदायों में बँट जाने के अतिरिक्त वे इसका कोई हल नहीं निकाल सके। वास्तव में इसका हल बाहर से हो ही नहीं सकता। कोई भी बाहरी विधान साधक को यह नहीं बतला सकता कि यह नियम छोड़ने योग्य है या नहीं। इसके लिए तो आन्तरिक साधना से प्राप्त निर्मल विवेक-बुद्धि ही मनुष्य के पास सर्वोत्तम साधन है। केवल उसी के द्वारा यह निर्णय किया जा सकता है कि क्या अ-महत्त्वपूर्ण है और छोड़ देने योग्य है और क्या महत्त्वपूर्ण है और जीवन भर अनुल्लंघनीय है। इसलिए विनय अन्दर है, बाहर नहीं। इस प्रकार अन्तर्निरीक्षण या प्रत्यवेक्षण करने पर चाहे जो कुछ भी त्याज्य या पालनीय ठहरे, किन्तु यह निश्चित है कि जो त्याज्य होगा वह पूरे देश और काल से उद्भूत तत्त्व होगा और जो पालनीय होगा वह सार्वभौम, सार्वकालिक तत्त्व होगा, जिससे ही तथागत-प्रवेदित धम्म-विनय अधिकतर भरा हुआ है। 'क्षुद्रानुक्षुद्र' को छोड़ देने का विधान कर तथागत ने इसी देश-काल-उद्भूत तत्त्व से विमुक्त हो जाने का भिक्षु-संघ को अन्तिम उपदेश दिया था, ऐसा हमारा मन्तव्य है। इस प्रकार विनय-सम्बन्धी नियमों में न बाहरी कर्मकांड की गन्ध तक हैं और न वे साधकों के उस स्वबुद्धि-निर्णय के अधिकार को, जिसे शास्ता ने उन्हें दिया, छीनने का ही उद्योग करते हैं। यह उनकी एक भारी विशेषता है।

विनय का मूल आत्म-संयम है। संयम अर्थात् काया का संयम, वाणी का संयम, मन का संयम। विनय न करने के कारण ही विनय 'विनय' है। कायिक, वाचिक और मानसिक कर्मों का समाधान सम्यक् आधान ही 'शील' कहलाता है। शील की समापत्ति के लिए ही विनय-नियमों का विधान किया गया है, वे अधिशील-शिक्षा के लिये ही हैं, यद्यपि यह ठीक है वहाँ उसके बाहरी रूप को लक्ष्य करके ही अधिकतर नियम बनाये गये हैं। फिर भी शास्ता के द्वारा मानसिक संयम पर जोर दिया गया है, वह भी उनके मूल में सुरक्षित है, ऐसा कहा जा सकता है। केवल किसी कर्म के करने या न करने से ही शील-विशुद्धि नहीं हो जाती। भगवान् ने स्वयं कहा भी है, "मागन्दिय ! न दृष्टि से, न अनुश्रव से, न ज्ञान से, न शील से, न व्रत से शुद्धि करता हूँ। अ-दृष्टि, अ-श्रुति, अ-ज्ञान, अ-शील, अ-व्रत से भी नहीं।" निश्चय ही किसी कर्म के करने या न करने पर सदाचार उतना निर्भर नहीं है, जितना उस कर्म-व्यापार के अन्दर रहने वाली मानसिक प्रवृत्ति पर। इसीलिए चेतना पर भगवान् ने स्वाधिक जोर दिया है। चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय और मन के संयम का अर्थ यह नहीं है कि न भौतिक या मानसिक इन्द्रियों ने अपने आप में संयम जैसी कोई वस्तु होती है, बल्कि केवल यही है कि जिन-जिन वस्तुओं की अनुभूति इनके द्वारा होती है, इनके प्रति मानवीय व्यवहार में संयम पैदा होना चाहिए। 'चक्षु-इंद्रिय में संयम को प्राप्त होता है', ("चक्खु-इन्द्रिये संवरं आपज्जति") इसका अर्थ यह नहीं है कि साधक भौतिक चक्षु को संयमित करता है या चक्षु और रूप के संयोग को ही निरुद्ध करता है। यदि ऐसा होता तो आँख मींचने वाला सर्वोत्तम संयमी होता। अतः चक्षुरिन्द्रिव में संयम प्राप्त करने का अर्थ है चक्षु इन्द्रिय मात्र को ही संयमित नहीं करता (यद्यपि है तो वह भी आवश्यक), बल्कि चक्षु के द्वारा देखे हुए रूप के प्रति अपने व्यवहार को संयकित रखना। यही बात श्रोत्र और शब्द, घ्राण और गन्ध, जिह्वा और रस, काय और स्पर्श तथा मन और धर्म (मानसिक पदार्थ) के विषय में भी जाननी चाहिए। अभिधम्म की भाषा का प्रयोग करते हुए इस तथ्य का बड़ा विशद निरूपण आचार्य बुद्धघोष ने "विसुद्धिमग्ग' के प्रथम परिच्छेद में किया है। वास्तव में शास्ता का मन्तव्य चित्त को संयमित करने का ही है और उसी उद्देश्य के अनुसार हमें विनय के नियमों की भी व्याख्या करनी चाहिए। जो बातें राग, संग्रह, असन्तोष, अनुद्योगिता और इच्छाओं को बढ़ाने वाली हैं, वे सभी अकरणीय हैं, और उनके बिपरीत करणीय। विनय-पिटक इन्हीं का कुछ अनुमापन हमें देता

है, जो यद्यपि सब काल और सब देश के लिए परिपूर्ण नहीं कहा जा सकता, फिर भी वह सदाचार के उस सार्वभौम आदर्श पर आधारित है जिसे लोक-गुरु (बुद्ध) ने आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व मध्य-मंडल में सिखाया था। विनय के उपदेश करने में, जैसा भगवान् ने स्वयं कहा है, दस उद्देश्य उनकी दृष्टि में थे। "भिक्षुओं ! दस बातों का विचार कर मैं भिक्षुओं के उपकार के लिए विनय-नियमों (शिक्षापदों) का उपदेश करता हूँ, (१) संघ की अच्छाई के लिए, (२) संघ की आसानी के लिए, (३) उच्छृंखल पुरुषों के निग्रह के लिए, (४) अच्छे भिक्षुओं के सुख-विहार के लिए, (५) इस जन्म के चित्त-मलों के निवारण के लिए, (६) मृत्यु के बाद चित्त-मलों के विनाश के लिए, (७) अप्रसन्नों को प्रसन्न करने के लिए, (८) प्रसन्नों की प्रसन्नता को बढ़ाने के लिए, (९) सद्धर्म की चिरस्थिति के लिए, और (१०) विनय (विनयन, संयम) की सहायता (अनुग्रह) के लिए।"[1] इन उद्देश्यों पर ध्यानपूर्वक विचार करने से विनय-पिटक के नियमों के रूप और उनके उपयोग की सीमा काफी समझ में आ सकती है। उपासकों और भिक्षुओं के लिए निर्दिष्ट क्रमशः पंच (हिंसा, चोरी, व्यभिचार, झूठ और मद्य-पान से विरति) और दस (हिंसा, चोरी, व्यभिचार, झूठ और मद्य-पान से विरति एवं नृत्य-गीत, माला-गन्ध-विलेपन, ऊँचे पलंग, विकाल-भोजन एवं रुपये-पैसे के ग्रहण से भी विरति) शीलों के समान आज तक क्रमशः गृहस्थों और प्रव्रजितों के लिए सार्वभौम सदाचार का कोई दूसरा आदर्श नहीं रक्खा गया है। विनय-पिटक के २२७ नियम इन्हीं में अन्तर्भावित हैं।

आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व की मध्य-मंडल की सामाजिक परिस्थिति में तथागत ने भिक्षु-भिक्षुणी और उपासक-उपासिकाओं के लिए सदाचार-सम्बन्धी जिन नियमों का विधान किया, उन्होंने बाद में चलकर कितने देशों और कितने विशाल भूखंड में, भारत-भूमि से कोसों दूर, संन्यासी और गृहस्थ सबके लिए सम्मान्य सदाचार की कसौटी का काम किया, इसे देख कर आश्चर्यान्वित रह जाना पड़ता है। लंका, बरमा, स्याम, कम्बोदिया, (कम्पूचिया) और लाओस की बात जाने दें, तो भी चीन, तिब्बत, कोरिया, मंगोलिया और जापान आदि में जहाँ-जहाँ बौद्ध धर्म गया, वहाँ-वहाँ विनय-पिटक सम्बन्धी नियमों का कितना सूक्ष्म अनुशीलन किया गया, यह तत्सम्बन्धी साहित्य से

---

१. विनय-पिटक, प्रथम पाराजिक—देखिये, अंगुत्तर-निकाय, प्रथम भाग, पृष्ठ १०१-१०३ (हिन्दी अनुवाद) भी।

प्रकट होता है। 'सो-सोर्-थर्-पा' (मूल सर्वास्तिवादी विनय-पिटक का तिब्बती संस्करण), 'जूजु-रित्सु', शिबुन्-रित्सु', 'मक्-सोगि-रित्सु', 'कोन्-पोन्-सेत्सु-इस्से-उबु' और 'गोबुन-रित्सु' 'विनय-पिटक' के विभिन्न चीनी संस्करण) किस तथ्य को प्रकट करते हैं ? जापान का विनय सम्प्रदाय क्या है ? मंगोलया और मंचूरिया में विनय-पिटक की प्राप्ति का क्या अर्थ है ? किस गाथा को ये सब दुहराते हैं ? स्याम,बरमा, लंका, कम्ब्रोदिया, (कम्पूचिया) और लाओस में आज भी काषाय-वस्त्रों की जीती--जागती ज्योति चमकती है, वहाँ के भिक्षु-संघ के जीवन का जो संचालन शास्ता के द्वारा मध्य-मंडल में आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व उपदिष्ट नियमों के अनुसार होता है, वह सब किस कहानी को कहता है ? चाहे, चीन, जापान, तिब्बत, मंगोलिया और मंचूरिया की ओर देखें, चाहे लंका, स्याम, बरमा, कम्ब्रोदिया, लाओस और वियतनाम की ओर देखें, चाहे आर्य जातियों की ओर देखें, चाहे आर्येतर मंगोलियन और तूरानी जातियों की ओर, चाहे भ्रम्म, प्यू, तलैड्, चम् और मोन्-ख्मेर जैसी जातियों की ओर, जब उन सब से पूछा जाय कि जिस गुरु से तुमने सदाचार को सीखा है, उसका नाम क्या है ? तो चारों ओर से यही ध्वनि आती है "ति पि सो भगवा अरहं सम्मासम्बुद्धो विज्जाचरणसम्पन्नो सुगतो लोकविदू अनुत्तरो पुरिसदम्मसारथि सत्था देवमनुस्सानं बुद्धो भगवाति।" निश्चय ही पूर्ण पुरुष, तथागत भगवान् सम्यक् सम्बुद्ध विश्व के एक बड़े भू-भाग के सदा-चार के उपदेष्टा हैं, इसका सर्वोत्तम साक्ष्य धम्म के अलावा विनय-पिटक के उन विभिन्न संस्करणों से प्राप्त होता है, जो नाना देशों में पाये गये हैं और जो इस बात के सूचक हैं कि किस गम्भीर मनन और चिन्तन के साथ वहाँ विनय-नियमों की समीक्षा की गयी है और उनका जोवन में अनुसरण किया गया है। इस देश में उत्पन्न अग्रजन्माओं से संसार के सब देशों के मनुष्य अपने-अपने सदाचार को सीखें, यह तो मनु ने भी कहा था। किन्तु किस भारतीय मनीषी या ऋषि ने यह काम किया ? उनमें से अनेक तो चातुर्वर्णी शुद्धि भी नहीं सिखा सके, फिर विश्व का शास्ता बनना तो दूर की बात थी ? जिस गौरव की ओर मनु ने स्मरण दिलाया था, उसे भारतीय भूमि और संस्कृति को प्रदान करने वालों में भगवान् बुद्ध ही अग्र हैं, श्रेष्ठ है। वे सर्वोत्तम अर्थों में लोक-शास्ता हैं, लोक-गुरु हैं, यह विनय-पिटक के नाना देशों में विकास ने भली भाँति प्रकट कर दिया है। न केवल बौद्ध देशों या बौद्ध मतावलम्बियों तक ही यह प्रभाव सीमित है, बल्कि ईसाई धर्म की उत्पत्ति, उसके अनेक नियमों तथा चर्च-सम्बन्धी विधान में उन बौद्ध धर्म-प्रचारकों का,

जिन्हें अशोक ने पश्चिमी एशिया के देशों में भेजा था, कितना प्रभाव उपलक्षित है, इसमें इतिहासवेत्ताओं के आज दो मत नहीं हैं। अशोक ने अपने धर्म-प्रचारकों को सीरिया, मिश्र और मेसीडन के ग्रीक शासकों तक भेजा था, जिनका अनिवार्य प्रभाव ईसा-पूर्व की साधनाओं पर पड़ा और ईसाई धर्म ने भी आरम्भिक काल में काफी हद तक इस प्रभाव को ग्रहण किया। ईसा-पूर्व के यहूदी भिक्षुओं के प्रसिद्ध संगठन पर, जो 'एस्ने' कहलाते थे और फिलिस्तीन के दक्षिण, इज्राइल और जोर्डन (युर्दान) के बीच में स्थित एक खारी झील (मृत सागर) के किनारे आश्रम बना कर रहते थे, बौद्ध विनय का प्रभाव दृष्टिगोचर है, ऐसा ग्रीक और हैब्यू इतिहास के जानने वाले विद्वानों ने माना है। इसी प्रकार सिकन्दरिया के पास रहने वाले 'थेरप्युते' नामक ईसा-पूर्व के भिक्षु-संगठन पर बौद्ध जीवन-विधि का प्रभाव विद्वानों ने स्वीकार किया है। उत्तरकालीन मानी पन्थ पर बौद्ध धर्म के प्रभाव की बात तो बहुत स्पष्ट ही हो चुकी है। प्रथम शताब्दी ईसवी से लेकर कई शताब्दियों बाद तक, सम्भवतः इस्लाम के उदय तक, तुषार (तुखारिस्तान), पार्थिया, किरगिज, खोतन, कूचा, काशगर और तुर्फान आदि पश्चिमी एशिया के प्रदेशों तक में बौद्धों के संघाराम बने हुए थे, जहाँ हजारों की संख्या में भिक्षु निवास करते थे और अपने-अपने सम्प्रदायों के अनुसार विनय-नियमों का अभ्यास करते थे। न केवल अफगानिस्तान और ईरान में, बल्कि उत्तरी कोरिया और बाहरी मंगोलिया तक के प्रदेशों में प्रातिमोक्ष का पाठ हो चुका है। अतः विनय-पिटक केवल संघ-सम्बन्धी नियमों का संग्रह न होकर आज हमारे लिये एक विशेष ऐतिहासिक गौरव का स्मारक बन गया है। जिस प्रकार शास्ता का धर्म विश्व-धर्म है, उसी प्रकार उनका विनय भी विश्व का विनय है, इसका अपने नाना रूपों में वह साक्ष्य देता है। विनय-पिटक का यह महत्त्व भी आज भारतीय विद्या और संस्कृति के उपासकों के लिये कुछ कम नहीं है।

पाँचवाँ अध्याय

अभिधम्म-पिटक

अभिधम्भ-पिटक

अभिधम्म-पिटक पालि तिपिटक (त्रिपिटक) का तीसरा मुख्य भाग है। 'अभिधम्म' शब्द का प्रयोग 'अभि-विनय' शब्द के साथ-साथ क्रमशः धम्म और विनय सम्बन्धी गम्भीर उपदेश के अर्थ में सुत्त-पिटक में भी हुआ है।[1] संभवतः इसी अधार पर आचार्य बुद्धघोष ने अभिधम्म का अर्थ किया है--'उच्चतर' धम्म या 'विशेष' धम्म। 'अभिधम्म' में 'अभि' शब्द को उन्होंने 'अतिरेक' या 'विशेष' का वाचक माना है।[2] वास्तव में यह 'अतिशयता' या 'विशेषता' धम्म

---

१. देखिए' संगीति-परियाय-सुत्त (दीघ० ३।१०); दसुत्तर-सुत्त (दीघ० ३।११); गलिस्सानि-सुत (मज्झिम० २।२।६); किन्ति-सुत्त (मज्झिम० ३।१।३); महागोसिंग-सुत्त (मज्झिम० १।४।२)।

२. अतिरेकविसेसत्थदीपको हि एत्थ अभि-सद्दो। अट्ठसालिनी, पृष्ठ २ (देवनागरी संस्करण); यहीं आगे (पृष्ठ ३ में) कहा गया है, "अथं पि धम्मो धम्मातिरेक-धम्मविसेसट्ठेन अभिधम्मो' ति वुच्चति।" अर्थात्--"यह धर्म ही धर्मातिरेक और धर्म-विशेष के अर्थ में अभिधर्म कहलाता है।" बल्कि यही दुहराया गया है, 'एवं धम्मातिरेकधम्मविसेसट्ठेन अभिधम्मो' ति वेदितब्बो।" और इसी प्रकार (पृष्ठ १७ में) "वुत्ताधिका च धम्मा अभिधम्मो तेन अक्खातो। मिलाइये, "अयं हि 'अभिसद्दो वुड्ढि-सलक्खण पूजित-परिच्छन्नाधिकेसु दिस्सति।" समन्त-पासादिका, प्रथम भाग, पृष्ठ १६ (देवनागरी संस्करण)। प्रसिद्ध महायानी आचार्य आर्य असंग ने 'अभिधर्म' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए (१) निर्वाण के अभि-मुख उपदेश करने के कारण (अभिमुखतः), (२) धर्म का अनेक प्रकार से वर्गीकरण करने के कारण (आभीक्ष्ण्यात्), (३) विरोधी सम्प्रदायों का खंडन करने के कारण (अभिभवात्) एवं (४) सुत्त-पिटक के सिद्धान्तों का ही अनुगमन करने के कारण (अभिगतितः) 'अभिधर्म' शब्द की सार्थकता दिखलायी है। "अभिमुखतोक्षथाभीक्ष्ण्यादभिभवगतितोऽभिधर्मः।" महायान-सूत्रालंकार ११।३;

की नहीं है। धम्म तो सर्वत्र एकरस है। किन्तु तीनों पिटकों में, उनके नाना वर्गीकरणों में, वह नाना रूप हो गया है। 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते।' जो धम्म सुत्त-पिटक में उपदेश-रूप है, विनय में जो संयम-रूप है, वही अभिधम्म में तत्त्व-रूप है। इसका कारण अधिकारियों का तारतम्य ही है। प्रस्थान-भेद से धर्म के स्वरूप में भी भेद हो गया है। सुत्तन्त की अधिचित्त-शिक्षा यहाँ अधिप्रज्ञा-शिक्षा हो गई है, उसकी व्यवहार-देशना यहाँ परमार्थ-देशना हो गई है। किन्तु यह भेद सिर्फ शैली का है, आदेशना-विधि का है। सुत्त सबके लिए सुगम है, क्योंकि वहाँ बुद्ध-वचन अपने यथार्थ स्वरूप में रक्खे हुए हैं। अभिधम्म-पिटक में बुध- मन्तव्यों का वर्गीकरण और विश्लेषण किया गया है, तात्विक और मनोवैज्ञानिक दृष्टियों से उन्हे गणनाबद्ध किया गया है। अतः जब कि सुत्त-पिटक का निरूपण जन-साधारण के लिए उपयोगी है, अभिधम्म-पिटक की सूचियों और परिभाषाओं में वही चुने हुए व्यक्ति रुचि ले सकते हैं जिन्होंने बौद्ध तत्व-दर्शन को अपने अध्ययन का विशेष विषय बनाया है। इसी अर्थ में अभिधम्म-पिटक को 'उच्चतर' धम्म या 'विशेष' धम्म कहा गया है। सुत्त-पिटक में यदि बौद्ध परम्परा के लिए अधिचित्त-शिक्षा है, विनय में अधिशील-शिक्षा, तो अभिधम्म में है अधिप्रज्ञा-शिक्षा। इसी प्रकार यदि सुत्तन्त व्यवहार-देशना (वोहार-देसना) है, विनय आज्ञा-देशना (आणा-देसना), तो अभिधम्म को उसने माना है उच्चतर परमार्थ-देशना (परमत्थ-देसना)।[1]

अभिधम्म-पिटक में सात ग्रन्थ सम्मिलित हैं, जो प्रकरण-ग्रन्थ कहलाते हैं। इनके नाम हैं---धम्मसङ्गणि, विभङ्ग, धातुकथा, पुग्गलपञ्ञत्ति, कथावत्थु, यमक और पट्ठान। 'अट्ठसालिनी' की निदानकथा में बुद्धघोषाचार्य ने इन्हें इसी प्रकार गिनाया है, "(अधिधम्मो) पनेस धम्मसङ्गणि-विभङ्ग-धातुकथा-पुग्गलपञ्ञत्ति-कथावत्थु-यमक-पट्ठानानं सत्तन्नं पकरणानं वसेन ठितो" ति। अन्यत्र भी यहीं निदान-कथा में उन्होंने कहा है, "धम्मसङ्गणि-आदीनि सत्तप्पकरणानि अभिधम्मपिटकं नामा" ति। 'सुमङ्गलविलासिनी' की निदानकथा और 'समन्तपासादिका' की बाहिर-निदानकथा में भी यही बात दुहराई गई है।

आचार्य बसुबन्धु ने उपकारक स्कन्धादि से युक्त विमल प्रज्ञा को ही अभिधर्म कहा है। "प्रज्ञाऽमला सानुचराऽभिधर्मः।" अभिधर्मकोश १.२।

१. अट्ठसालिनी, पृष्ठ १८-१९ (देवनागरी संस्करण, पूना १९४२)।

अभिधम्म-पिटक धम्म की अधिक गहराई में उतरता है और अधिक साधन सम्पन्न व्यक्तियों के लिए ही उसका प्रणयन हुआ है, ऐसा बौद्ध परम्परा आरम्भ से ही मानती आई है। 'अट्ठसालिनी', 'मनोरथपूरणी' और 'विभंग-अट्ठकथा' में कहा गया है कि देव और मनुष्यों के शास्ता ने 'अभिधम्म' का उपदेश सर्वप्रथम त्रायस्त्रिंश लोक में बोधि प्राप्ति के बाद आठवाँ वर्षावास करते हुए अपनी माता देवी महामाया और अन्य देवताओं को दिया था। उसी की पुनरावृत्ति उन्होंने उसी समय प्रतिदिन मानसरोवर झील के तट पर दिवा-

---

१. उदाहरणतः 'अट्ठसालिनी' की निदानकथा में इस सम्बन्ध में संक्षेपतः इस प्रकार कहा गया है, "तथागतो तावतिंसभवने मातरं कायसक्खिं कत्वा कुसला धम्मा, अकुसला धम्मा, अब्याकता धम्मा" ति तेमासं निरन्तरं धम्मं देसेन्तो भिक्खाचारवेलं सल्लक्खेत्वा निम्मितबुद्धं मापेत्वा अनोतत्तदहं गच्छति, तत्थ दन्तकट्ठं खादित्वा अनोतत्तदहे सरीरं पटिजग्गित्वा उत्तरकुरुं गच्छति, ततो पिण्डपातं आहरित्वा अनोतत्ततीरे निसिन्नो तं परिभुञ्जित्वा दिवाविहाराय गच्छति, धम्मसेनापति पि तत्थ गन्तवा एकमन्तं निसीदति। अथस्स सत्था नयं देति। सारिपुत्तत्थेरो पि सत्थारा देसितं धम्मं आहरित्वा अत्तनो सद्धिविहारिकानं पञ्चन्नं भिक्खुसतानं देसेती" ति।—पृष्ठ १४-१५ (देवनागरी संस्करण) इसका यह अर्थ है—

"तथागत ने त्रायस्त्रिंश (देव-) भवन में अपनी माता को काय-साक्षी बना कर निरन्तर तीन मास तक इस प्रकार धर्म का उपदेश किया कि 'ये धर्म कुशल हैं, ये धर्म अकुशल हैं और ये धर्म अव्याकृत हैं।' (उसी समय प्रतिदिन) भिक्षा के लिए जाने के समय का ख्याल कर बुद्ध अपनी जगह (वहाँ त्रायस्त्रिंश देव-भवन में) निर्मित बुद्ध (निर्माणकाय बुद्ध) को बनाकर स्वयं अनवतप्त ह्रद (मानसरोवर झील) पर चले जाते थे, जहाँ वे दाँतौन करते थे, शरीर-सेवा (शरीर की देखभाल, दैनिक शारीरिक कृत्य) करते थे और फिर उत्तरकुरु चले जाते थे। वहाँ भिक्षा कर, भिक्षान्न को लेकर (पुनः) मानसरोवर झील के किनारे पर बैठते थे और वहाँ उस भोजन को करते थे। तदनन्तर दिवाविहार (दिन के विहार, दिन के ध्यान या विश्राम) के लिये चले जाते थे और उसी समय धर्मसेनापति (सारिपुत्त) उनके पास जाकर एक ओर बैठ जाते थे। शास्ता उन्हें नय (उपाय, विधि, मार्ग, उपदेश) देते थे। स्थविर सारिपुत्र इस प्रकार शास्ता के द्वारा देशित धर्म को ग्रहण करते थे। बाद में उन्होंने ही इसका उपदेश अपने पाँच सौ साथी भिक्षुओं को दिया।

विहार करते हुए अपने महाप्रज्ञ शिष्य धर्मसेनापति सारिपुत्र के प्रति की। धर्मसेनापति सारिपुत्र ने ही उसे अपने साथी अन्य ५०० भिक्षुओं को सिखाया। इस प्रकार बुद्ध के जीवन-काल में ही सारिपुत्र सहित ५०१ भिक्षु अभिधम्म के ज्ञाता थे। इस प्रकार प्राप्त 'अभिधम्म' का ही संगायन, इस परामपरा के अनुसार, प्रथम दो संगीतियों में हुआ। तीसरी संगीति में भी इसी की पुनरावृत्ति की गई, किन्तु इसके सभापति स्थविर मोग्गलिपुत्त तिस्स (मौद्गलिपुत्र तिष्य) ने 'कथावत्थु' नामक ग्रन्थ को भी, जिसकी मोटी रूपारेखा 'मातृका' के रूप में भगवान् बुद्ध भविष्य में उत्पन्न होने वाले मिथ्या मत-वादों का ज्ञान प्राप्त कर उनके निराकरणार्थ पूर्व ही निश्चित कर गये थे, पूर्णता देकर 'अभिधम्म' में सम्मिलित कर दिया। इस प्रकार यह स्थविरवादी बौद्ध परम्परा अभिधम्म-पिटक को भी सुत्त-पिटक और विनय-पिटक के समान ही बुद्ध-वचन मानने की पक्षपातिनी है।

आचार्य बुद्धघोष ने 'अट्ठसालिनी' की निदान-कथा में आयासपूर्वक यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि जिस प्रकार 'मधुपिंडिक-सुत्त' आदि बुद्ध के शिष्यों के द्वारा उपदिष्ट होने पर भी बुद्ध के द्वारा अनुमोदित किये जाने के कारण बुद्ध-वचन कहलाते हैं, उसी प्रकार अभिधम्म-पिटक के ग्रन्थ 'कथावत्थू' तक को माना जा सकता है। उनका कहना है कि मौद्गलिपुत्र तिष्य स्थविर ने इस प्रकरण (-ग्रन्थ) का उपदेश करते हुए अपने ज्ञान से उपदेश नहीं दिया है ("न अत्तनी ञाणेन देसेति"), बल्कि शास्ता ने जो 'नय' दिया था और जो 'मातृका' स्थापित की थी, उसी के अनुसार उपदेश दिया। इस प्रकार शास्ता द्वारा दिये गये 'नय' से और उनके द्वारा स्थापित 'मातृका' के अनुसार उपदेश देने से यह सम्पूर्ण ही प्रकरण-ग्रन्थ ('कथावत्थु)' बुद्ध-भाषित के रूप में ही प्रसिद्ध हुआ।" "सकलं पेतं पकरणं बुद्धभासितमेव नाम जातं।" बुद्धघोषाचार्य ने यहीं यह भी दिखाया है कि बोधि-प्राप्ति की रात्रि के अन्तिम पहर में स्वयम्भूत रूप से बुद्ध को अभिधम्म का अधिगम हुआ और इस प्रकार सर्वज्ञता का प्रतिवेध करते हुए ही बुद्ध भगवान् अभिधम्म के इस नय-समुद्र को प्राप्त किया। "सब्बञ्ञुतञाणं पटिविज्झन्तो येव इमं अभिधम्मनय समुद्दं अधिगच्छि।

बोधि-प्राप्ति के बाद चौथे सप्ताह में भगवान् ने अभिधर्म का चिन्तन किया, यह बात भी स्थविर-परम्परा में आदि से ही सुप्रतिष्ठित है। 'जातकट्ठकथा' की निदान कथा में इस सम्बन्ध में कहा ही गया है, "चतुत्थे पन सत्ताहे अभिधम्म-पिटकं विचिनन्तो सत्ताहं वीतिनामेसि"। इसी प्रकार 'अट्ठ-

सालिनी' की निदान-कथा में भी "चतुत्थे सत्ताहे सयम्भुञाणाधिगमेन अधिगतं अभिधम्मं विचिनित्वा" आदि रूप से कहा गया है। और यहाँ लक्षणीय रूप से आचार्य बुद्धघोष अभिधम्म-पिटक के सातों ग्रन्थों को गिनाना नहीं भूले हैं। तात्पर्य यह है कि भगवान् की बोधि-प्राप्ति के चौथे सप्ताह में ही वे अभिधम्म-पिटक के सातों ग्रन्थों का विद्यमान होना मानते हैं। उन्होंने यह भी दिखाया है कि 'सुत्त' और 'विनय' से व्यतिरिक्त 'अभिधम्म' बुद्ध के काल में भी विद्यमान था और 'धम्मकथिक' शब्द 'आभिधम्मिक भिक्षु' के लिये ही आया है। अर्थात् 'धम्म' में ही 'अभिधम्म' समाया हुआ है।[1]

रचना-काल

उपर्युक्त अनुश्रुति अभिधम्म-पिटक की प्रशंसा में अर्थवाद मात्र है। वास्तव में उसी हद तक वह ठीक भी है। वैसे तो उसने भी यह स्वीकार कर ही लिया है कि अभिधम्म-पिटक का कम-से-कम एक ग्रन्थ 'कथावत्थु' अशोक-कालीन रचना है और उसका वर्तमान रूप स्थविर मोग्गलिपुत्त तिस्स का दिया हुआ है। बुद्ध के प्रारम्भिक उपदेशों में धम्म और विनय की ही प्रधानता है। ऐसा लगता है कि उन्हीं के आधार पर संग्रथित अभिधम्म को भी उन्हीं के समान प्रमाणवत्ता देने के लिए स्थविरों ने उपर्युक्त अर्थवाद की सृष्टि की है। आधुनिक विद्यार्थियों के लिए सबसे अधिक कठिन समस्या तो यह है कि आज जिस रूप में अभिधम्म-पिटक हमें मिलता है, वह कहाँ तक सीधा बुद्ध-वचन है

---

१. हम दूसरे अध्याय में देख ही चुके हैं कि 'सुमङ्गलविलासिनी' और 'अट्ठसालिनी' की निदानकथाओं में तथा 'समन्तपासादिका' की बाहिरनिदान-कथा में आचार्य बुद्धघोष ने प्रथम संगीति के अवसर पर ही 'अभिधम्म-पिटक' के भी संगायन किये जाने की बात कही है। 'सद्धम्मसङ्गह' (चौदहवीं शताब्दी ईसवी) में भी इसी के अनुसरण पर वर्णन किया गया है। यद्यपि विनय-पिटक के 'चुल्लवग्ग' में, 'दीपवंस' में और 'महावंस' में, इस समय 'धम्म' और 'विनय' के संगायन का ही उल्लेख है, परन्तु इस सन्दर्भ में हमें 'धम्म' और 'विनय' की स्थविरवादी व्याख्या भी नहीं भूलनी चाहिये जिसे सर्वोत्तम रूप में 'सद्धम्मसङ्गह' में इस प्रकार प्रकट किया गया है "विनयपिटक विनयो, अवसेसबुद्धवचनं धम्मो" ति। इस प्रकार विनय-पिटक के अतिरिक्त सम्पूर्ण बुद्ध-वचन 'धम्म' है और इसी अर्थ में 'धम्म' का संगायन प्रथम संगीति में किया गया, यही सुनिश्चित स्थविरवाद-परम्परा है।

अथवा उसका प्रणयन किन-किन काल-श्रेणियों में बुद्ध-वचनों के आधार पर हुआ है। इस दृष्टि से देखने पर आज जिस रूप में अभिधम्म-पिटक हमें मिलता है, उसकी प्रमाणवत्ता सुत्त और विनय की अपेक्षा निश्चयतः कम रह जाती है और उसका प्रणयन-काल भी उतनी ही निश्चिततापूर्वक उसके बाद का ठहरता है।

जिस 'अभिधम्म' का बुद्ध ने बोधि-प्राप्ति की रात्रि में ही साक्षात्कार किया, जिसका ही चिन्तन उन्होंने बोधि-प्राप्ति के बाद चौथे सप्ताह में किया, या कि जो 'अभिधम्म' उनके जीवन-काल में विद्यमान था, वही 'अभिधम्म' निश्चयतः हमारा आज का अभिधम्म-पिटक नहीं है, बल्कि अपने वर्तमान रूप में प्राप्त अभिधम्म-पिटक भगवान् के उसी मूल अनुभव और चिन्तन पर आधारित है और उसी का विकसित रूप है। 'अट्ठसालिनी' की निदानकथा में आचार्य बुद्धघोष ने अभिधम्म के सम्बन्ध में पाँच महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाये हैं। पहला प्रश्न है कि यह अभिधम्म किसका वचन है? "अयं अभिधम्मो नाम कस्स वचनं?' इसका उत्तर उन्होंने दिया है कि यह भगवान् अर्हत् सम्यक् सम्बुद्ध का वचन है।--"भगवतों वचनं अरहतो सम्मा सम्बुद्धस्स।" दूसरा प्रश्न है कि कहाँ इसका अधिगम हुआ? "कत्थ अधिगतो?" इसका उत्तर दिया गया है कि बोधि-वृक्ष के नीचे इसका अधिगम हुआ--"बोधिमूले"। तीसरा प्रश्न उठाया गया है कि कब इसका अधिगम हुआ? 'कदा अधिगतो?' इसका उत्तर दिया गया है कि वैशाख मास की पूर्णमासी के दिन इसका अधिगम हुआ। "विसाखपुण्णमासियं।" चौथा प्रश्न है--किसके द्वारा यह अधिगम हुआ, या किसने इसे प्राप्त किया?" केन अधिगतो?" इसके उत्तर में कहा गया है कि सर्वज्ञ बुद्ध ने इसका अधिगम किया, उनके द्वारा यह प्राप्त किया गया। "सब्बञ्ञु बुद्धेन।" पाँचवाँ प्रश्न है, "कौन इसे लाया है?" "केना भतो?" इसके उत्तर में कहा गया है कि आचार्यों की परम्परा इसे लाई है। "आचरिय परम्पराय (आभतो)।" इसी परम्परा का उल्लेख करते हुए यहाँ कहा गया है, "तृतीय संगीति तक सारिपुत्र, भद्दजि, सोभित, पियजालि, पियपाल, पियदस्सि, कोसियपुत्त, सिग्गव, सन्देह, मोग्गलिपुत्त, विसुदत्त (या सुदत्त या तिस्सदत्त), धम्मिय, दासक, सोणक, रेवत आदि स्थविरों की परम्परा ने अभिधम्म-पिटक का उपदेश दिया। उसके बाद उनकी शिष्य-परम्परा ने इस काम को अपने हाथ में लिया। इस प्रकार भारतवर्ष (जम्बुदीप) में उपदेशकों की अविच्छिन्न परम्परा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक अभिधम्म को पहुँचाती रही। इसके अनन्तर इस सिंहल द्वीप में भिक्षु

महिन्द, इद्धिय, (इट्टिय), उत्तिय, भद्दनाभ (भद्दसाल) और सम्वल जम्बुद्वीप से आये। यही महामनीषी भिक्षु अभिधम्म-पिटक को भी भारत से लंका द्वीप में अपने साथ लाये। तब से आज तक गुरु-शिष्यों की आचार्य-परम्परा से यह अभिधम्म-पिटक उसी रूप में चलता आ रहा है।" आचार्य बुद्धघोष का यह वर्णन ऐतिहासिक दृष्टि से वड़ा महत्त्वपूर्ण है। महामहिन्द थेर के लंका में अभिधम्म-पिटक के ले जाने के वाद से उसके स्वरूप में कुछ भी परिवर्तन हुआ हो, इसका कोई साक्ष्य नहीं मिलता। उसके बाद अभिधम्म-पिटक का स्वरूप निश्चित और स्थिर हो गया, ऐसा हम मान सकते हैं, यद्यपि लेखबद्ध होने का कार्य तो अभिधम्म-पिटक का भी सम्पूर्ण तिपिटक के साथ ही लगभग २९ ई० पूर्व वट्टगामणि अभय के समय में सम्पादित किया गया। आन्तरिक या वाह्य साक्ष्य के आधार पर ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता जिसके आधार पर अभिधम्म-पिटक के स्वरूप में तृतीय शताब्दी ईसवी पूर्व से प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व तक किए गए किसी परिवर्तन या परिवर्द्धन का अनुमान किया जा सके। निश्चय ही यह एक बड़े आश्चर्य की वात है कि इतने सुदीर्घ काल तक लंका में मौखिक परम्परा में चलते रहने पर भी अभिधम्म-पिटक में कहीं भी ऐसे एक शब्द तक का भी निर्देश नहीं दिया जा सकता, जिससे सिंहली प्रभाव की कल्पना की जा सके।[१] कुछ विद्वानों ने 'कथावत्थु' की अट्ठकथा के आधार पर यह अवश्य दिखाने का प्रयत्न किया है कि 'कथावत्थु' में कुछ ऐसे सम्प्रदायों के सिद्धान्तों का भी निराकरण है जो अशोक के काल के बाद प्रादुर्भूत हुए थे। चूंकि 'कथावत्थु' में केवल सिद्धान्तों का खंडन है, सम्प्रदायों का नामोल्लेख वहाँ नहीं है, अतः बहुत सम्भव है कि विशिष्ट सम्प्रदायों के साथ कालान्तर में इन सिद्धान्तों का सम्बन्ध हो जाने के कारण 'अट्ठकथा' (पाँचवीं शताब्दी ईसवी) में उनका उल्लेख कर दिया गया हो किन्तु अशोक के काल में केवल स्फुट रूप से ही इन सिद्धान्तों की विद्यमानता पाई जाती हो। अतः 'कथावत्थु' में निराकृत उन सिद्धान्तों को भी, जिनकी मान्यता बाद के उत्पन्न कुछ विशिष्ट सम्प्रदायों में चल पड़ी, जिसका साक्ष्य उसकी 'अट्ठकथा' ने दिया है, अनिवार्यतः अशोक के उत्तरकालीन मानना ठीक नहीं

---

१. फिर भी आश्चर्य है कि सर चार्ल्स इलियट जैसे विद्वान् ने भी अभिधम्म-पिटक के लंका में रचित होने की सम्भावना को प्रश्रय दिया। देखिये उनका 'हिन्दुइज्म एवं बुद्धिज्म, जिल्द पहली, पृष्ठ ७६, पद संकेत १ तथा पृष्ठ २९१-२९२ (लन्दन, १९२१)। यह भरपूर अज्ञान है।

है। इस विषय का अधिक विशद विवेचन हम 'कथावत्थु' के विवेचन पर आते समय करेंगे। स्थविरवादी भिक्षुओं की परम्परा ने आरम्भ से ही बुद्ध-वचनों को उनके मौलिक रूप में सुरक्षित रखने का जो आग्रह दिखलाया है, उसके आधार पर यह माना जा सकता है कि लंका में महामहिन्द थेर आदि भिक्षुओं के द्वारा ले जाये जाने के बाद से अभिधम्म वहाँ उसी विशुद्धतम स्वरूप में सुरक्षित बना रहा जिसमें वे उसे वहाँ ले गये थे। अब प्रश्न यही रह जाता है कि या महामहिन्द आदि भिक्षु जिस अभिधम्म को तृतीय शताब्दी ईसवी पूर्व लंका में ले गये थे, क्या वह वही बुद्ध-वचन था जिसका उपदेश स्वयं शास्ता ने मध्य-मंडल में दिया था? कम-से-कम स्थविरवादी बौद्ध परम्परा तो उसे इसी रूप में उस समय से मानती आई है और भिक्षुसंघ ने भी उसे बड़े प्रयत्न से उसके मौलिक रूप में सुरक्षित रखना अपना कर्त्तव्य माना है। किन्तु दूसरे सम्प्रदाय वालों (विशेषतः सर्वास्तिवादियों) ने उसके इस दावे को वैशाली की संगीति के समय से ही नहीं माना था, यह भी एक ऐतिहासिक तथ्य है। ऊपर तृतीय संगीति के और बाद के अभिधम्म के उपदेशों की जिस परम्परा का उल्लेख किया गया है, उससे कम-से-कम एक बात निश्चित रूप से हमें मिल जाती है, और वह है अभिधम्म-पिटक के उस रूप के प्रणयन की, जिसमें वह अन्तिम रूप से निश्चित और स्थिर हो गया था, निचली काल-सीमा। पाटलिपुत्र की संगीति २५३ ई० पू० में हुई। उसके समाप्त होने पर ही महिन्द आदि भिक्षु लंका को भेजे गये। अतः यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि लगभग २५० ई० पू० तक अभिधम्म-पिटक अपने उस रूप में, जिसमें वह आज उपलब्ध है, पूर्णतः स्थिर हो चुका था। बाद में मिलिन्दपञ्ह (१०० ई० पू०) में तो अभिधम्म-पिटक के सातों ग्रन्थों का, उनकी पूरी वर्गीकरण-शैली के संक्षिप्त निर्देश के साथ, उल्लेख हुआ है।[1] जिस आदर के साथ अभिधम्म-पिटक का उल्लेख यहाँ किया गया है, उससे यह स्पष्ट है कि बुद्ध-वचनों के रूप में उसकी ख्याति बौद्ध परम्परा में उस समय तक दृढ़ प्रतिष्ठा पा चुकी थी। यदि कम-से-कम सौ-डेढ़ सौ वर्ष का काल भी इस परम्परा के निर्माण में लगा हो, तो भी हम आसानी से अशोक-संगीति के समय तक पहुँच जाते हैं, जब कि तेपिटक बुद्ध-वचनों का अन्तिम रूप संस्करण हुआ था। अतः अशोक-संगीति या तृतीय शताब्दी ईसवी पूर्व का मध्यांश अभिधम्म-पिटक के रचना-काल की निचली काल-सीमा है जिसे बहुत खींचतान कर प्रथम

---

१. मिलिन्दपञ्ह, पृष्ठ १३-१४ (बम्बई विश्वविद्यालय का संस्करण)।

शताब्दी ईसवी-पूर्व तक अर्थात् उसके सिंहल में लेखबद्ध होने अथवा 'मिलिन्दपञ्ह' में उसके उद्धृत होने तक के समय तक भी घटाकर लाया जा सकता है। अब हमें उसके रचना-काल की उपरली काल-सीमा का निर्णय करना है। विनय-पिटक--चुल्लवग्ग के प्रथम संगीति के वर्णन में हमने देखा है कि वहाँ धम्म और विनय के ही संगायन की बात कही गई है। अभिधम्म के संगायन की कोई सूचना वहाँ नहीं मिलती। किन्तु अट्ठकथाओं (सुमंगलविलासिनी, अट्ठसालिनी एवं समन्तपासादिका) के वर्णनों में, जैसा हम पहले देख चुके हैं, अभिधम्म-पिटक के भी संगायन किये जाने का भी उल्लेख है। 'अट्ठसालिनी' की निदानकथा में सम्यक् सम्बुद्ध ही सात प्रकरणों का उपदेश करते हुए ("सम्मा सम्बुद्धो हि सत्तप्पकरणानि देसेन्तो") दिखाये गये हैं और यहीं "एवमेतं सब्बं पि वुद्धवचनं पञ्चसतिकसंगीतिकाले संगायन्तेन महाकस्सपपमुखेन वसीगणेन···इदं विनयपिटकं, इदं सुत्तन्तपिटकं इदं अभिधम्मपिटकं ति पभेदं ववत्थपेत्वा व संगीतं" ति भी कहा गया है। ऐसा ही उल्लेख "समन्तपासादिका" की बाहिरनिदान-कथा में और 'सुमंगलविलासिनी' की निदानकथा में भी है। परन्तु यह कैसे सम्भव हुआ होगा और इसे प्रामाणिक भी कैसे माना जाय? चूंकि तिपिटक के साक्ष्य के सामने उसकी अट्ठकथाओं के साक्ष्य का कोई प्रामाण्य नहीं माना जा सकता, अतः 'समन्तपासादिका' आदि का साक्ष्य यहाँ अपने आप प्रमाण की सीमा के बाहर हो जाता है। जैसा भदन्त आनन्द कौसल्यायन ने केवल समन्तपासादिका का उल्लेख करते हुए कहा है, "विनय और धर्म के साथ अभिधम्म का भी पारायण इसी (प्रथम) संगीति में हुआ, यह जो 'समन्तपासादिका' का कहना है, यह तो स्पष्ट रूप से गलत है।"[1] किन्तु 'समन्तपासादिका' आदि के साक्ष्य को स्पष्ट रूप से गलत मानते हुए भी उससे इतना निष्कर्ष तो हम निकाल ही सकते हैं कि अधिक-से-अधिक प्रथम संगीति के समय ही धम्म से अतिरिक्त अभिधम्म-पिटक का विकास होना आरम्भ हो गया था। तभी हम वैशाली की संगीति के अवसर पर इस विषय सम्बन्धी सर्वास्तिवादियों और स्थविरवादियों के विरोध और विवाद को समझ सकते हैं। यदि आज प्राप्त पालि विनय-पिटक का संकलन वैशाली की संगीति के अवसर पर ही हुआ हो तो उसमें जिस प्रकार अलौकिक ढंग से

---

१. महावंश पृष्ठ ११ (परिचय)।

२. ए बुद्धिस्ट मेनुअल ऑव साइकोलोजीकल एथिक्स (धम्मसंगणि का अंग्रेजी अनुवाद) द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ९, १०५-११३ (भूमिका)।

अभिधम्म को साक्षात् बुद्ध-वचन सिद्ध करने का प्रयास किया गया है, उसका ऐतिहासिक रहस्य भी आसानी से समझा जा सकता है। दूसरे सम्प्रदाय वालों द्वारा अभिधम्म की प्रामाणिकता का निषेध कर देने पर ही उन्हें इस प्रकार के विधान की आवश्यकता पड़ी। प्रथम संगीति के पहले हम पारिभाषिक अर्थों में अभिधम्म-पिटक के वर्तमान होने की स्थापना किसी आधार पर नहीं कर सकते। उससे पहले सिर्फ 'मातिकाओं' (मातृकाओं) का वर्णन मिलता है। सर्वास्तिवादियों के मतानुसार भी 'मातृकाओं'' (अभिधर्म) का संगायन प्रथम संगीति के अवसर पर आर्य महाकाश्यप ने किया था। कुछ भी हो, इन 'मातिकाओं' के आधार पर ही अभिधम्म-पिटक का विकास हुआ है। मातिकाएँ ही अभिधम्म की निदान (स्रोत) हैं। अभिधम्म-पिटक के सर्वप्रथम ग्रन्थ 'धम्मसंगणि' का प्रारम्भ एक 'मातिका' से ही होता है। श्रीमती रायस डेविड्स ने इसी को अभिधम्म-पिटक का मूल स्रोत माना है। 'अट्ठसालिनी' की निदानकथा में भी इस तथ्य को स्वीकार किया गया है। धम्मसंगणि में निर्दिष्ट २२ त्रिकों और १०० द्विकों के वर्गीकरण पर ही अभिधम्म का सम्पूर्ण धम्म-विवेचन आधारित है। पुग्गलपञ्ञत्ति और धातुकथा का भी आरम्भ इसी प्रकार मातिकाओं से होता है। वास्तव में सम्पूर्ण अभिधम्म-ग्रन्थों की शैली ही पहले मातिका या उद्देस देकर बाद में उनके निद्देस (व्याख्या) देने की है। पहले (द्वितीय अध्याय में) दिखाया जा चुका है कि पिटक-साहित्य में जहाँ मातिकाओं का उल्लेख हुआ है और अधिगमसम्पन्न भिक्षुओं को 'धम्मधरा, विनयधरा, मातिकाधरा' कहकर पुकारा गया है, वहाँ मातिकाओं से किन्हीं विशिष्ट ग्रन्थों का बोध न होकर केवल बुद्धोपदिष्ट सिद्धान्तात्मक सूचियों का ही होता है, जिनका उपयोग भिक्षु लोग स्मरण करने की सुगमता के लिए करते थे। तिब्बती परम्परा में भी सूत्रान्त, विनय और मातृकाओं का उल्लेख है और स्वीकार किया गया है कि प्रथम संगीति के अवसर पर आनन्द ने सूत्रान्त का, उपालि ने विनय का और महाकाश्यप ने मातृकाओं का संगायन किया। इस प्रकार की सूचियों में कदाचित् सर्वप्रथम सूची सेंतीस बोधिपक्षीय धर्मों की है, जैसे कि चार स्मृति-प्रस्थान, चार सम्यक् प्रधान, चार ऋद्धिपाद, पाँच इन्द्रिय, पाँच बल, सात बोध्यंग और आर्य अष्टांगिक मार्ग। इनका जगह-जगह संयुक्त रूप में सुत्त-पिटक के सुत्तों में उल्लेख है, परन्तु बोधिपक्षीय धर्मों का नाम इनके लिये वहाँ प्रयुक्त नहीं किया गया है और न सेंतीस संख्या का ही उल्लेख है। 'महापरिनिब्बाण-सुत्त' में भगवान् ने स्वयं कहा है कि उन्होंने अभिज्ञा (गूढ़ ज्ञान) से जानकर इन

धर्मों का उपदेश दिया है जिनमें कहीं किसी को मतभेद नहीं है। 'सम्पसाद-नियसुत्त' में कुशल धर्मों के रूप में उपर्युक्त सैंतीस बोधिपक्षीय धर्मों का उल्लेख है, परन्तु उन्हें यहाँ इस नाम से पुकारा नहीं गया है। 'पासादिक-सुत्त' में भी इनका उल्लेख है और इसी प्रकार सामगाम-सुत्त, पिण्डपात-पारिसुद्धि-सुत्त और किन्ति-सुत्त में भी उक्त धर्मों को भगवान् के द्वारा अपनी अभिज्ञा से, अच्छी प्रकार जानबूझकर, उपदेश किया गया माना गया है और यह भाव प्रकट किया गया है कि ये बुद्धोपदिष्ट धर्म के मूल रूप हैं या कि उसके सर्वस्व हैं। अतः सैंतीस बोधिपक्षीय धर्मों की उक्त सूची ने भी अभिधम्म के धम्म-चिन्तन और धम्म-विश्लेषण में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है और उसके मूल को काफी हद तक इस सूची में देखा जा सकता है। बौद्ध संस्कृतग्रन्थों की परम्परा भी इसी तथ्य को प्रकट करती है। उदाहरणतः 'दिव्यावदान' में कई जगह 'मातृका' का उल्लेख आया है। श्रोण कोटिकर्ण के सम्बन्ध में कहा गया है कि उसने प्रव्रज्या लेकर मातृका का अध्ययन किया। "प्रव्रज्य मातृका-धीता।" अन्य भी कई जगह इस ग्रन्थ में सूत्र और विनय के साथ मातृका का उल्लेख है। इसी प्रकार 'कौशाम्बक-वस्तु', 'पोषधस्थापन-वस्तु' और चीवर-वस्तु' आदि मूल सर्वास्तिवादी ग्रन्थों में 'सूत्रधराः, विनयधराः' के साथ-साथ 'मातृकाधराः' भिक्षुओं के उल्लेख जगह-जगह मिलते हैं। तिब्बती परम्परा में भी सूत्रान्त, विनय और मातृकाओं के उल्लेख हैं और यह स्वीकार किया गया है कि प्रथम संगीति के अवसर पर आनन्द ने सूत्रान्त का, उपालि ने विनय का और महाकाश्यप ने मातृकाओं का संगायन किया है।[1] दीघ-निकाय के संगीति-परियाय-सुत्त और दसुत्तर-सुत्त, मज्झिम-निकाय के सळायतन-विभंग-सुत्त और धातुविभंग-सुत्त एवं अंगुत्तर-निकाय के अनेक संख्याबद्ध सुत्त, अभिधम्म-पिटक के वर्गीकरणों के मूल स्रोत माने जा सकते हैं।[2] ये मातृका-स्वरूप हैं और इनके आधार पर भी अभिधम्म-पिटक का विकास हुआ है। यह, जैसा हम अभी देख चुके हैं, इससे भी प्रामाणित होता है कि संस्कृत बौद्ध-ग्रन्थों में 'अभिधर्म' के लिए 'मातृका' शब्द का ही प्रयोग किया गया है। अतः 'समन्तपासादिका' के वर्णन को या सर्वास्तिवादी परम्परा को और

---

१. देखिये, रॉकहिल : दि लाइफ ऑव दि बुद्ध, पृष्ठ १३५, १६०।

२. अभिधम्म-पिटक के अंगुत्तर-निकाय सम्बन्धी आधार के लिये मिलाइये ई० हार्डी : अंगुत्तर-निकाय, जिल्द पाँचवीं, पृष्ठ ९ (प्रस्तावना)--(पालि टैक्स्ट सोसाइटी द्वारा प्रकाशित संस्करण)।

उसके ही अनुसरण पर उपर्युक्त तिब्बती परम्परा की मान्यता को भी अक्ष-रशः सत्य न मानकर हम उनसे इतना निष्कर्ष तो निकाल ही सकते हैं कि मातिकाओं और ऊपर निर्दिष्ट सुत्त-पिटक के अंशों से अभिधम्म-पिटक के निर्माण का कार्य प्रथम संगीति के समय ही आरम्भ हो गया था और दूसरी संगीति के समय तक आते-आते उसने ऐसा निश्चित (अन्तिम नहीं) रूप प्राप्त कर लिया था, जिसके आधार पर दूसरे सम्प्रदाय वालों के लिये उसे बुद्ध-बचन मानने या न मानने का महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठ सकता था। अतः पाँचवीं शताब्दी ईसवी पूर्व अभिधम्म-पिटक के प्रणयन की उपरली काल-सीमा और २५० ई० पू० (जिसे अधिक सन्देहवादी विवेचक घटा कर प्रथम शताब्दी ईसवी-पूर्व तक भी ला सकते हैं) निचली काल-सीमा ठहरती है। इन्हीं के बीच अभिधम्म-पिटक का विकास हुआ है। विशेषतः द्वितीय और तृतीय संगीतियों के बीच का समय अभिधम्म-पिटक के संग्रह या रचना का काल माना जा सकता है।

यह कहना यहाँ अप्रासंगिक न होगा कि यही समय वास्तव में प्राचीन महायान-सूत्रों के प्रणयन या संकलन का भी है। उनकी शैली भी अभिधम्म से मिलती-जुलती है क्योंकि दोनों में विभाज्यवाद-विश्लेषणवाद अपनी चरम सीमा पर पहुँचता है, और दोनों ही अर्थतः या अभिप्राय की दृष्टि से बुद्ध-वचन होते हैं। विशेषतः प्रज्ञापारमिता-सूत्र-साहित्य, स्वरूप और शैली की दृष्टि से पालि अभिधम्म के समान है, दोनों ही बुद्ध-वचनों के 'वेयाकरण'-स्वरूप हैं और दोनों के ही प्रणयन-काल या संकलन-काल को प्रायः समाना-न्तर माना जा सकता है। यह बात कम लक्षणीय नहीं है कि महायान के योगाचार (विज्ञानवाद) मत के आचार्य असंग (चतुर्थ शताब्दी ईसवी)-कृत 'बोधिसत्त्व-भूमि' को स्वयं इसी ग्रन्थ में 'बोधिसत्त्व-पिटक-मातृका' कहकर पुकारा गया है और इसकी शैली बिलकुल अभिधम्म की शैली है।

उपर्युक्त काल-सीमाएँ निर्धारित कर देने पर भी और उन्हें सर्वास्तिवादी और महायान की परम्पराओं से बाँध देने पर भी पालि अभिधम्म-पिटक के ग्रन्थों के प्रणयन या संकलन के विषय में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। उनकी निश्चित तिथियाँ स्थापित नहीं की जा सकतीं। कब कौन सा ग्रन्थ निश्चित रूप प्राप्त कर प्रकाश में आया है, इसका निर्णय नहीं किया जा सकता। हाँ, कुछ सिद्धान्तों के आधार पर अभिधम्म-पिटक के ग्रन्थों के काल-क्रम में तारतम्य अवश्य स्थापित किया जा सकता है। परम्परा से अभि-धम्म-पिटक के सात ग्रन्थों का उल्लेख जिस क्रम में हमें मिलता है, वह यह है

(१) धम्मसंगणि, (२) विभंग, (३) धातुकथा, (४) पुग्गलपञ्ञत्ति, (५) कथा-वत्थु, (६) यमक और (७) पट्ठान। 'मिलिन्दपञ्ह' (प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व) में इसी क्रम से इन ग्रन्थों का उल्लेख किया गया है।[1] अट्ठसालिनी की निदान-कथा में भी यही क्रम है। 'सुमंगलविलासिनी' की निदान-कथा में अवश्य बुद्धघोष ने कुछ परिवर्तन के साथ एक दूसरे क्रम का अनुसरण किया है।[2] किन्तु वह छन्द की आवश्यकता के लिए भी हो सकता है, अतः महत्त्व-पूर्ण नहीं माना जा सकता। विंटरनित्ज, गायगर, ज्ञानातिलोक, भिक्षु जगदीश काश्यप एवं लाहा आदि विद्वानों ने अभिधम्म-पिटक के अपने विवेचनों में उपर्युक्त क्रम का अनुसरण किया है। विषय की दृष्टि से इससे अधिक स्वाभाविक क्रम हो भी नहीं सकता। किन्तु काल-क्रम की दृष्टि से इस क्रम को ठीक मानना हमारे लिए अशक्य हो जाता है। केसियस ए० पिरीरा का मत है कि आन्तरिक साक्ष्य के आधार पर धम्मसंगणि, विभंग और पट्ठान प्राचीनतम ग्रन्थ हैं और उनका संगायन, अपने वर्तमान रूप में, संभवतः द्वितीय संगीति के अवसर पर ही हुआ था। इस प्रकार इन तीन ग्रन्थों ने अपना निश्चित और अन्तिम स्वरूप चौथी शताब्दी ईसवी-पूर्व के प्रथम चतुर्थांश या उससे पूर्व ही प्राप्त कर लिया था, ऐसा उनका मत है। धातुकथा, यमक और पट्ठान को भी उन्होंने पूर्व-अशोककालीन रचनाएँ माना है और कहा है कि उनका भी संगायन अपने अन्तिम रूप में तृतीय संगीति के अवसर पर हुआ था।[3] 'कथावत्थु' की रचना की निश्चित तिथि तृतीय संगीति है ही। 'कथा-वत्थु' कालक्रम की दृष्टि से अभिधम्म-पिटक की अन्तिम रचना है, इसमें कोई सन्देह नहीं हो सकता। किन्तु अन्य ग्रन्थों के तारतम्य के विषय में विभिन्न मत हो सकते हैं। डॉ० लाहा ने 'पुग्गलपञ्ञत्ति' को कालक्रम की दृष्टि से अभिधम्म-पिटक का प्राचीनतम ग्रन्थ माना है। उनका कहना है कि चूंकि अभिधम्म-पिटक सुत्त-पिटक पर आधारित है, अतः जिस हद तक अभिधम्म-पिटक का कोई ग्रन्थ स्पष्ट रूप से सुत्त-पिटक पर कम या अधिक अवलंबित है, उसी हद तक उसकी आपेक्षिक प्राचीनता भी कम या अधिक है।[4] इसी

---

१. पृष्ठ १३-१४ (बम्बई विश्वविद्यालय का संस्करण)।

२. दूसरे अध्याय में प्रथम संगीति के वर्णन के प्रसंग में उद्धृत।

३. महास्थविर ज्ञानातिलोक की 'गाइड थ्रू दि अभिधम्म-पिटक' के प्राक्कथन में।

४. हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द पहली, पृष्ठ २२।

सिद्धान्त को आधार मानकर विवेचन करते हुए उन्होंने दिखाया है कि अन्य सब ग्रन्थों की अपेक्षा 'पुग्गलपञ्ञत्ति' ही सुत्त-पिटक पर अधिक अवलंबित है। 'पुग्गलपञ्ञत्ति' की पृष्ठभूमि में दीघ, संयुत्त और अंगुत्तर निकायों के पुग्गलों के प्रकार और विश्लेषण पूरी तरह निहित हैं। उदाहरणतः 'पुग्गल-पञ्ञत्ति' के तयो पुग्गला, चत्तारो पुग्गला, पञ्च पुग्गला' आदि भाग अंगुत्तर-निकाय के क्रमशः तिक-निपात, चतुक्क-निपात और पंचक-निपात आदि के समान ही हैं। 'पुग्गलपञ्ञत्ति' के कुछ अंशों और दीघ-निकाय के संगीतिपरि-याय-सुत्त में भी अनेक समानताएँ हैं। 'पुग्गलपञ्ञत्ति' के पालि टैक्सट् सोसा-यटी के संस्करण के संपादक डॉ० मॉरिस ने पुग्गलपञ्ञत्ति और सुत्त-पिटक के ग्रन्थों की इन सब समानताओं को सोद्धरण दिखाया है। इससे स्पष्ट होता है कि पुग्गलपञ्ञत्ति की समानता, शैली और विषय दोनों की दृष्टि से, अभि-धम्म-पिटक की अपेक्षा सुत्त-पिटक से अधिक है। भिक्षु जगदीश काश्यप ने तो यहाँ तक कहा है कि 'पुग्गलपञ्ञत्ति' के विवेचन को निकाल देने पर भी अभि-धम्म-दर्शन की पूर्णता में कोई कमी नहीं आती। 'पुग्गलपञ्ञत्ति' की प्रथम मातिका में अवश्य अभिधम्म-शैली का अनुसरण किया गया है, अन्यथा वह सुत्त-पिटक का ही ग्रन्थ जान पड़ता है। अतः पुग्गलपञ्ञत्ति की निश्चित तिथि चाहे जो कुछ हो, वह अभिधम्म-पिटक के ग्रन्थों में काल-क्रम की दृष्टि से सबसे प्राचीन है, ऐसा डॉ० लाहा ने माना है।[1] 'पुग्गलपञ्ञत्ति' के समान ही डॉ० लाहा ने 'विभंग' की भी अभिधम्म-पृष्ठभूमि का विवेचन किया है। 'विभंग' के सच्च-विभंग, सतिपट्ठान-विभंग और धातु-विभंग, मज्झिम-निकाय के क्रमशः सच्चविभंग-सुत्त, सतिपट्ठान-सुत्त और धातुविभंग-सुत्त पर आधारित हैं। इसी प्रकार 'विभंग' के अनेक अंश खुद्दक-निकाय के ग्रन्थ 'पटिसम्भिदामग्ग' पर भी अवलंबित है। इसलिए कामक्रम की दृष्टि से 'विभंग' को डॉ० लाहा ने 'पुग्गलपञ्ञत्ति' के बाद दूसरा ग्रन्थ माना है। 'विभंग' को उन्होंने अभि-धम्म-साहित्य के विकास की उस स्थिति का सूचक माना है, जबकि अभिधम्म की शैली पूर्णतः निश्चित नहीं हुई थी और वह सुत्तन्त की शैली से मिश्रित थी। चूंकि 'धम्मसंगणि' में अभिधम्म-शैली का विकसित रूप मिलता है, इस-लिए परम्परागत अनुश्रुति के विपरीत उन्होंने 'धम्मसंगणि' को विभंग के बाद

---

१. पुग्गलपञ्ञत्ति, पृष्ठ १०-११ (भूमिका)।

२. अभिधम्म फिलासफी, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १६५।

३. हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द पहली, पृष्ठ २३।

का ग्रन्थ माना है। 'धम्मसंगणि' का ही पूरक ग्रन्थ धातुकथा' है। अतः 'विभंग' के बाद 'धम्मसंगणि' और उसके बाद 'धातुकथा', यह क्रम डॉ० लाहा ने स्वीकार किया है। 'विभंग' ही 'यमक' की भी पृष्ठभूमि है। विभंग के एक भाग 'पच्चयाकार-विभंग' का ही विस्तृत निरूपण बाद में 'पट्ठान' में मिलता है। अतः धम्मसंगणि, धातुकथा, यमक और पट्ठान, ये चारों ग्रंथ विभंग पर ही आधारित हैं और कालक्रम में उससे बाद के हैं, ऐसा डॉ० लाहा का मत है। इन सबके बाद की रचना 'कथावत्थु' है। इस प्रकार 'पुग्गलपञ्ञत्ति' सबसे पूर्व की रचना, 'कथावत्थु' सबसे अन्तिम रचना, इन दोनों के बीच में 'विभंग', जिस पर ही आधारित 'धम्मसंगणि', 'धातुकथा', 'यमक' और 'पट्-ठान', यही अभिधम्म-पिटक के ग्रंथों के कालक्रम के विषय में डॉ० लाहा का निष्कर्ष है। इसे डॉ० लाहा ने इस प्रकार दिखाया है।[1]

१. पुग्गलपञ्ञत्ति
२. विभंग—(अ) धम्मसंगणि—धातुकथा
(आ) यमक
(इ) पट्ठान
३. कथावत्थु

डॉ० लाहा का काल-क्रम-निश्चय अंशतः ठीक जान पड़ता है। किसी भी पालि साहित्य के विद्यार्थी को इसमें सन्देह नहीं हो सकता कि 'कथावत्थु' अभिधम्म-पिटक की अन्तिम रचना है। अतः अभिधम्म-पिटक के ग्रंथों का पर-म्परागत परिगणन जिसमें 'कथावत्थु' को सातवें स्थान के बजाय पाँचवाँ स्थान प्राप्त है, काल-क्रम की दृष्टि से ठीक नहीं हो सकता, ऐसा तो अन्ततः मानना ही पड़ेगा। अतः 'कथावत्थु' को अभिधम्म-पिटक का अन्तिम ग्रंथ मानना ठीक ही जान पड़ता है। इसी प्रकार विषय और शैली दोनों की ही दृष्टि से 'पुग्ग-लपञ्ञत्ति' को भी कालक्रमानुसार प्रथम ग्रन्थ माना जा सकता है। यहाँ तक डॉ० लाहा के निष्कर्ष ठीक जान पड़ते हैं। किन्तु 'विभंग' को 'धम्मसंगणि' से पूर्व की रचना मानना युक्तियुक्त नहीं जान पड़ता। यहाँ डॉ० लाहा ने विषयवस्तु की अपेक्षा शैली को अधिक महत्त्वपूर्ण मानकर यह निष्कर्ष निकाल डाला है। विशेषतः 'विभंग' को 'धम्मसंगणि' से पूर्व की रचना मानने के लिये उन्होंने दो कारण दिये हैं। (१) विभंग के प्रत्येक भाग में सुत्तान्तभाज-निय (सुत्तन्त-भाग) और अभिधम्मभाजनिय (अभिधम्म-भाग) दो स्पष्ट भाग

---

१. हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द पहली, पृष्ठ २६।

हैं, जिनमें सुत्तन्तभाजनिय पर ही आधारित अभिधम्मभाजनिय है। इससे डॉ० लाहा ने यह निष्कर्ष निकाला है कि 'विभंग' अभिधम्म-पिटक के विकास की उस अवस्था का सूचक है, जिसमें सुत्तन्त और अभिधम्म का भेद सुनिश्चित नहीं हुआ था। इसके विपरीत 'धम्मसंगणि' में अभिधम्म-शैली का पूरा अनुसरण मिलता है। अतः 'धम्मसंगणि' 'विभंग' से बाद की रचना ही हो सकती है। (२) उद्देस (साधारण कथन) के बाद निद्देस (शब्दों के अर्थों का विस्तृत विवेचन) देने की अभिधम्म की प्रणाली है। विभंग के 'रूपक्खन्ध-विभंग' में 'रूप' का मात्र 'उद्देस' ही मिलता है।[1] उसका 'निद्देस' सिर्फ धम्मसंगणि में ही मिलता है। अतः 'धम्मसंगणि' 'विभंग' के बाद की ही रचना होनी चाहिए। डॉ० लाहा ने यहाँ समष्टि रूप से दोनों ग्रन्थों की विषयवस्तु पर विचार नहीं किया है। केवल शैली की दृष्टि से विचार किया है और वह भी अपूर्ण है। जहाँ तक अध्यायों के 'सुत्त-विभाग' (सुत्तन्त-मातिका) और 'अभिधम्म-विभाग' (अभिधम्म-मातिका) इन दो विभागों का सम्बन्ध है, वे विभंग के समान धम्मसंगणि में भी मिलते हैं।[2] अतः इस दृष्टि से दोनों में भेद करना अनुचित है। विषय के स्वरूप की दृष्टि से शैली में भी अन्तर हो सकता है। धम्मसंगणि का धम्म-विश्लेषण विभंग में प्राप्त उसके वर्गीकृत स्वरूप का पूर्वगामी हो सकता है। फिर इससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात तो विषय का पूर्वापर संबंध है, जिसके आधार पर हम अधिक निश्चित रूप से दो ग्रन्थों का या एक ही ग्रन्थ के दो अंशों के पूर्वापर भाव का अधिक निश्चय के साथ निर्णय कर सकते हैं। यह एक सर्वविदित तथ्य है कि विभंग के प्रथम खंड में ही लेखक की धम्मसंगणि में विरेचित धम्मों की गणना से अभिज्ञता प्रकट हो जाती है, जिसमें उसने कुछ नये धम्मों का और समावेश कर दिया है।[3] विभंग ने धम्मसंगणि की 'मातिका' में निर्दिष्ट २२ त्रिकों और १०० द्विकों की विवरण-प्रणाली को ज्यों-का-त्यों ग्रहण कर लिया है। विभंग के प्रथम तीन खण्ड स्कन्ध, आयतन और धातुओं का विवेचन करते हैं, अतः अंशतः

---

१. हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द पहली, पृष्ठ २४-२५।

२. देखिए, धम्मसंगणि, पृष्ठ १-१९ (देवनागरी संस्करण), देखिये, स्वयं विमलाचरण लाहा—हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द पहली, पृष्ठ ३०६।

३. विण्टरनित्ज, हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १६७।

धम्मसंगणि के प्रति उनका भी पूर्वकत्व सुनिश्चित है ।[१] 'धम्मसंगणि' की शैली विश्लेषणात्मक अधिक है, जबकि विभंग की संश्लेषणात्मक अधिक है ।[२] इस तथ्य से भी विभंग धम्मसंगणि के बाद की ही रचना जान पड़ती है । धम्मसंगणि से विभंग की ओर विकास-क्रम सामान्य से विशेष की ओर विकास क्रम है । अतः धम्मसंगणि की ही विभंग से पूर्व की रचना मानना अधिक युक्तिसंगत है । श्रीमती रायस डेविड्स ने भी माना है कि विभंग अपने पूर्व धम्मसंगणि की अपेक्षा रखती है ।[३] गायकर[४] और विंटरनित्ज[५] ने भी उसे धम्मसंगणि का पूरक रूप ही माना है । अभिधम्म-साहित्य के प्रसिद्ध भारतीय बौद्ध विद्वान् भिक्षु जगदीश काश्यप भी विभंग की विषयवस्तु को धम्म-संगणि की पूरक स्वरूप ही मानते हैं ।[६] अतः 'धम्मसंगणि' को ही 'विभंग' की अपेक्षा पूर्वकालीन रचना मानने की ओर विद्वानों की प्रवणता अधिक है । 'विभंग' के 'रूपक्खन्ध-विभंग' का अधिक विस्तृत विवेचन 'धम्म-संगणि' में पाया जाना 'धम्मसंगणि' के बाद की रचना होने का ही सूचक नहीं माना जा सकता । बल्कि यह तथ्य केवल यही दिखाता है कि धम्मसंगणि में इसका सांगोपांग विवेचन हो जाने के बाद विभंग में उसके इतने विस्तार में जाने की आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई । इतनी अधिक दृष्टियों से अभिधम्म-पिटक में धम्मों के विश्लेषण और विवेचन किये गये हैं और इतनी अधिक अवस्थाओं पर उसके संक्षिप्त और विस्तृत विवेचन निर्भर करते हैं कि एक दो उदाहरणों से हम किन्हीं दो ग्रन्थों की पूर्वापरता का कोई निश्चित निर्णय नहीं कर सकते । धम्मसंगणि वास्तव में सम्पूर्ण अभिधम्म-पिटक का आधारभूत ग्रन्थ है और विषयवस्तु की दृष्टि से उसी पर आधारित 'विभंग' है । 'विभंग' 'धम्म-संगणि' का पूरक है और स्वयं 'धातुकथा' के लिए आधारस्वरूप है । इस प्रकार 'धम्मसंगणि' और धातुकथा के बीच वह मध्यस्थता करता है । 'यमक' और पट्ठान के विषय में जो कुछ पहले कहा जा चुका है, वह ठीक है । अतः हमारे प्रस्तुत अध्ययन के अनुसार अभिधम्म-पिटक के ग्रन्थों का अधिक ठीक काल-

---

१. ज्ञानातिलोक : गाइड थ्रू दि अभिधम्म-पिटक, पृष्ठ १७ ।

२. उपर्युक्त के समान ही ।

३. विभंग, भूमिका, पृष्ठ १३ (पालि टैक्स्ट्स सोसायटी का संस्करण) ।

४. पालि लिटरेचर एंड लैंग्वेज, पृष्ठ १ ।

५. हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १६७ ।

६. अभिधम्म फिलॉसफी, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १०४ ।

क्रम यह होना चाहिए---पुग्गलपञ्ञत्ति, धम्मसंगणि, विभंग, धातुकथा, यमक, पट्ठान और कथावत्थु। इसे यों भी दिखाया जा सकता है---

१. पुग्गलपञ्ञत्ति
२. धम्मसंगणि
३. विभंग — अ. धातुकथा; आ. यमक; पट्ठान
४. कथावत्थु

अभिधम्म-पिटक का विषय

ऊपर अभिधम्म-पिटक के ग्रन्थों के कालक्रम के विषय में जो विवेचन किया गया है, उससे उसकी विषयवस्तु पर भी काफी प्रकाश पड़ा है। अभिधम्म-पिटक के विषय में सुत्त-पिटक की अपेक्षा कुछ नवीनता नहीं है। धम्म का विस्तार या विस्तृत विवेचन ही अभिधम्म है। आचार्य बुद्धघोष ने उसे 'धम्म' का अतिरेक या विशेष रूप कहा है। उसका भी यही अर्थ है। सुत्त-पिटक में निहित बुद्धमन्तव्यों को ही अभिधम्म-पिटक से अधिक सूक्ष्म विस्तार के साथ समझाया गया है। पारिभाषिक शब्दावली कहीं कुछ नई अवश्य है, किन्तु सिद्धान्तों का मूल आधार सुत्तन्त ही है। अभिधम्म के सिद्धान्तों, वर्गीकरणों और विभागों के मूल स्रोतों को सुत्तन्त में खोज निकालना अध्ययन का एक अच्छा विषय हो सकता है। उससे दोनों का तुलनात्मक अध्ययन होने के अतिरिक्त स्वयं अभिधम्म-पिटक के दुरूह सिद्धान्तों का समझना भी सुगम हो जाता है। प्रथम बार भिक्षु जगदीश काश्यप ने इस प्रकार का अध्ययन प्रस्तुत किया है।[1] उनके मतानुसार विभज्यवाद जिस प्रकार सुत्तन्त का दर्शन है, उसी प्रकार वह अभिधम्म का भी दर्शन है। 'विभज्यवाद' का अर्थ है विभाग कर, विश्लेषण कर व्याख्या करना। उदाहरणतः पूर्वजन्म होता है कि नहीं, इसका यदि विभज्यवादी उत्तर दिया जाय, तो वह यही होगा कि जो क्लेश से मुक्त हैं, उनका पुनर्जन्म नहीं होता, परन्तु जो ऐसे नहीं हैं, उनका पुनर्जन्म होता है। इसी प्रकार विभज्यवादी कहता है कि मानसिक और भौतिक जगत् की सम्पूर्ण अवस्थाओं का विश्लेषण कर चुकने पर भी उनमें कहीं 'अत्ता' (आत्मा) नहीं मिलता। पहिये, धुरा, जुआ आदि सभी भागों से व्यतिरिक्त 'रथ' की सत्ता नहीं है। इसी प्रकार व्यक्ति भी

---

१. पालि लिटरेचर एंड लेंग्वेज, पृष्ठ १७।

रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान रूपों पाँच स्कन्धों की समष्टि के अलावा और कुछ नहीं है। ये सभी स्कन्ध अनित्य, अनात्म और दुःख हैं। इनमें अपनापन खोजना दुःख का ही कारण हो सकता है। यही बुद्ध का दर्शन है, जो सुत्त-पिटक में अनेक वार प्रस्फुटित हुआ है। उदाहरणतः संयुक्त-निकाय के इस बुद्ध-वचन को लीजिये, "हे गृहपति! यहाँ अश्रुतवान, आर्यों के दर्शन से अनभिज्ञ, अज्ञानी मनुष्य, रूप को आत्मा के रूप में देखता है, अथवा आत्मा को रूपवान् समझता है, या आत्मा में रूप को देखता है या रूप में आत्मा को देखता है। वह समझता है—मैं रूप हूँ और रूप मेरा है। इस प्रकार 'मैं रूप हूँ और रूप मेरा है' समझते हुए उसके रूप में परिवर्तन होता है, विपरिणाम होता है, कुछ का कुछ हो जाता है। गृहपति! इसी से उत्पन्न होते हैं शोक, परिदेव (रोना-धोना), दुःख, दौर्मनस्य और मानसिक कष्ट।"[२] वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान को लेकर भी इसी प्रकार दुःख-समुदय का क्रम दिखाया गया है। व्यक्ति के उपर्युक्त पाँच स्कन्धों में विश्लेषण के अतिरिक्त अन्य प्रकार के विश्लेषण भी सुत्तन्त में किये गये हैं। उनमें दो मुख्य हैं। पहले, व्यक्ति के साथ बाह्य संसार के संबंध की व्याख्या करने के लिए १२ आयतनों का विवेचन किया गया है,[३] जो इस प्रकार है :—

१. चक्षु (चक्खु)	४. जिह्वा	७. रूप	१०. रस
२. श्रोत्र (सोत)	५. काय	८. शब्द (सद्द)	११. स्पृष्टव्य (फोट्ठब्ब)
३. घ्राण (घाण)	६. मन	९. गन्ध	१२. धम्म

इनमें व्यक्ति (द्रष्टा) का विश्लेषण प्रथम छह आयतनों के रूप में किया गया है, जो आध्यात्मिक आयतन (अज्झत्तिक आयतन) कहलाते हैं। बाह्य

---

१. अभिधम्म फिलॉसफी, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १९-३१।

२. "इध गहपति अस्सुतवा पुथुज्जनो अरियानं अदस्सावी रूपं अत्ततो समनुपस्सति, रूपवन्तं वा अत्तानं, अत्तनि वा रूपं, रूपस्मिं वा अत्तानं। अहं रूपं, मम रूपं ति परियुट्ठट्ठायी होति। तस्स अहं रूपं, मम रूपं ति परि-युट्ठट्ठतो तं रूपं परिणमति अञ्ञथा होति, तस्स रूपविपरिणामञ्ञथाभावा उप्पज्जन्ति सोकपरिदेव-दुक्ख-दोमनस्सुपायासा।

—अभिधम्म फिलॉसफी, जिल्द दूसरी, पृष्ठ २० में उद्धृत।

३. देखिये, विशेषतः सलायतन-संयुक्त (संयुक्त-निकाय)।

संसार (दृश्य) का विश्लेषण बाद के छह आयतनों के रूप में किया गया है, जों बाह्य-आयतन (बाहिर आयतन) कहलाते हैं। द्रष्टा और दृश्य के संबंध और उनके उपादान से उत्पन्न होने वाली चेतना को ध्यान में रखकर आन्तरिक और बाह्य संसार का १८ धातुओं में भी विश्लेषण किया गया है,[1] जो इस प्रकार है—

१. चक्षु (चक्खु)	७. रूप	१३. चक्षु-विज्ञान	(चक्खु-विञ्ञाण)
२. श्रोत्र (सोत)	८. शब्द (सद्द)	१४. श्रोत्र-विज्ञान	(सोत-विञ्ञाण)
३. घ्राण (घाण)	९. गन्ध	१५. घ्राण-विज्ञान	(घाण-विञ्ञाण)
४. जिह्वा	१०. रस	१६. जिह्वा-विज्ञान	(जिह्वा-विञ्ञाण)
५. काय	११. स्पृष्टव्य (फोट्ठब्ब)	१७. काय-विज्ञान	(काय-विञ्ञाण)
६. मन	१२. धर्म (धम्म)	१८. मनोविज्ञान	(मनोविञ्ञाण)

उपर्युक्त तीनों प्रकार के विश्लेषण सुत्त-पिटक में सामान्यतया मिलते हैं। संयुक्त-निकाय में पूरे संयुत्तों के नाम इनके विवेचन के आधार पर ही रक्खे गये हैं, जैसे खन्ध-संयुत्त, सलायतन-संयुत्त, धातु-संयुत्त। स्कन्ध, आयतन और धातुओं का उपदेश भगवान् बुद्ध का मूल उपदेश था, इसका सर्वोत्तम साक्ष्य हम बुद्धकालीन भिक्षुणियों के इन लगातार उद्गारों में पाते हैं, जिनमें वे अपनी उपदेश करने वाली बहिनों से इस संबंधी उपदेश को पाकर कृतज्ञतापूर्वक स्मरण करती है "सा मे धम्ममदेसेसि खन्धायतनधातुयो।"[2] ("उसने मुझे स्कन्ध, आयतन और धातुओं का उपदेश दिया")। इस प्रकार सुत्तन्त में स्कन्ध, आयतन और धातुओं का उपदेश मिलता है, किन्तु वहाँ इसका उद्देश्य केवल अनात्मवाद का उपदेश देना है, अलग-अलग सबका विश्लेषण करना नहीं। यह काम अभिधम्म में किया गया है। अभिधम्म में, जैसा हम उसकी विषयवस्तु का विश्लेषण करते समय अभी देखेंगे, रूप-स्कन्ध का २८ अंगों में विश्लेषण किया गया है, इसी प्रकार वेदना-स्कन्ध का पांच, संस्कार-स्कन्ध का ५० और विज्ञान-स्कन्ध का ८९ अंगों में विश्लेषण किया गया है। इन सबका आधार, जैसा पहले कह चुके हैं, सुत्त-पिटक ही है। उदाहरणतः, रूप का विश्लेषण सुत्तन्त में केवल दो भागों में किया गया है, "भिक्षुओं! क्या है रूप?

---

१. देखिये, विशेषतः धातु-संयुत्त (संयुक्त-निकाय)।

२. थेरीगाथागाथाएँ ४३ एवं ६९ (बम्बई विश्वविद्यालय का संस्करण)।

चार महाभूत और चार महाभूतों के उपादान से उत्पन्न हुआ रूप, भिक्षुओं! यही कहलाता है रूप।"[1] रूप के इस द्विविध विभाग पर ही अभिधम्म का सारा रूप-विश्लेषण निर्भर है। इसी प्रकार वेदना-स्कन्ध का ५ भागों में विश्लेषण भी सुत्तन्त से ही लिया गया है, जहाँ सुख-वेदना, दुःख-वेदना, सौमनस्य, दौर्मनस्य और उपेक्षा का स्पष्टतः उल्लेख है।[2] इसी प्रकार अभिधम्म-स्कन्ध के १२१ विभागों में से अनेक सुत्तन्त में मिलते हैं और उनके आधार पर ही दूसरे अधिक सूक्ष्म विश्लेषण कर लिये गये हैं।[3] सारांश यह कि अभिधम्म के विश्लेषण सुत्तन्त पर ही आधारित हैं।

शैली

अभिधम्म का आधार सुत्तन्त होने पर भी उसकी शैली में विभिन्नता है। सुत्तन्त में उदाहरण दे देकर, अनेक पर्यायों से और अनेक उपमानों से, धम्म को समझाया गया है। किन्तु अभिधम्म 'निप्परियायि देसना' है, अर्थात् वहाँ बिना उपमाएँ और उदाहरण दिये हुए धम्म को समझाया गया है। इसका कारण यह है कि अभिधम्म का प्रणयन साधारण जनता के लिए नहीं हुआ है। वह देव-मनुष्यों के लिए उपदेश किया हुआ बुद्ध-वचन है। त्रयस्त्रिंश-देवलोक में अभिधम्म के उपदेश करने सम्बन्धी कथा का यही मानवीय रहस्य है। अभिधम्म-पिटक में साधारण जन-समाज की भाषा का प्रयोग नहीं किया गया है। वह अज्ञान पर आधारित है। 'वृक्ष', 'मनुष्य', 'पशु' की वास्तविक सत्ता कहाँ है? फिर भी हम व्यवहार में इस प्रकार के योग करते हैं। इसी को पालि-बौद्ध धर्म में 'सम्मुति सच्च' (संवृति सत्य) कहा गया है। सुत्त-पिटक इसी भाषा में लिखा गया है। यहाँ यह कहना अप्रासंगिक नहीं होगा कि बौद्धों ने जिसे 'सम्मुति सच्च' कहा है, वही शंकर का व्यवहार-सत्य है, जिसे उन्होंने 'अविद्यावद्विषय' कहा है। इसके विपरीत 'परमार्थ-सत्य' (पालि परमत्थ-सच्च) है, जहाँ माता माता नहीं है, पिता पिता नहीं है, मनुष्य मनुष्य नहीं है। इसी भाषा में अभिधम्म लिखा गया है। अतः उसमें वह प्राण-प्रतिष्ठा नहीं है, जो

---

१. "कतमं च भिक्खवे रूपं? चत्तारो च महाभूता चतुन्नं च महाभूतानं उपादाय रूपं, इदं वुच्चति भिक्खवे रूपं।" संयुक्त-निकाय, अभिधम्म-फिलॉसफी जिल्द दूसरी, पृष्ठ २३ में उद्धृत।

२. देखिये, अभिधम्म फिलॉसफी, जिल्द दूसरी, पृष्ठ २५।

३. अभिधम्म फिलॉसफी, जिल्द दूसरी, पृष्ठ २७-३१।

सुत्तन्त में है। एक में जीवन चारों ओर हिलोरें ले रहा है, दूसरे में वह सर्वथा अनुपस्थित है। अभिधम्म-पिटक की शैली की एक बड़ी विशेषता उसकी परिप्रश्नात्मक (पञ्हपरिपुच्छक) प्रणाली है, प्रश्न और उत्तर के रूप में विषय को समझाया गया है। 'तद्विद्धि प्राणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया'—इसका बड़ा अच्छा निर्वाह सुत्त-पिटक और अभिधम्म-पिटक दोनों में ही दिखाया गया है। 'परिप्रश्न' की बात तो अभिधम्म ने अपने आप पूरी कर दी है, वह हमसे 'प्रणिपात' और 'सेवा' की भी पूरी अपेक्षा रखता है। 'अट्ठसालिनी' की 'निदान-कथा' में आचार्य बुद्धघोष ने एक मार्मिक प्रश्न किया है "अभिधम्म का उदय किस स्रोत से हुआ है?" अथवा अभिधम्म किससे विकसित हुआ है? "अयं अभिधम्मो नाम केन पभावितो?" उत्तर दिया है, "बोधि को प्राप्त कराने वाली श्रद्धा से!" "बोधि-अभिनीहारसद्धाय।" श्रद्धा के साथ हम अभिधम्म की लम्बी सेवा करें (जैसी वर्तमान समय में आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी ने की)[1], तो उसमें हम बहुत कुछ पा सकते हैं। उसके बिना तो हम यूरोपीय विद्वानों की तरह सिर्फ उकता ही जायेंगे और कहेंगे कि यहाँ गम्भीर दर्शन कुछ नहीं है।[2] लेदि सयदाव जैसे महान् बरमी अभिधार्मिक मनीषियों का तो कहना क्या, श्रीमती रायस डेविड्स,[3] ज्ञानातिलोक[4] धर्मानन्द

---

१. देखिये, 'अभिधम्मत्थ-संग्रह' पर उसकी स्वरचित 'नवनीत टीका' का प्राक्कथन (महाबोधि सभा, १९४१); देखिये, धर्मदूत, सितम्बर १९४८ स डॉ० बापट का "आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी" शीर्षक लेख भी (पृष्ठ ८९-९५)।

२. जैसा विण्टरनित्ज ने कह डाला है, देखिये, उनकी हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १६५-६६।

३. 'ए बुद्धिस्टिक मेनुअल ऑव साइकोलोजीकल एथिक्स' (धम्मसंगणि का अनुवाद) की मननशील लेखिका। बुद्धिस्ट साइकोलोजी (द्वितीय संस्करण, लन्दन, १९२४) की भी लेखिका। परन्तु अभिधम्म-पिटक के इतने लम्बे अध्ययन और उस पर कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखने के बाद भी श्रीमती राय डेविड्स् की अभिधम्म—विशेषतः उसके 'यमक' और 'पट्ठान' जैसे ग्रन्थों—के बारे में यह धारणा अन्त तक बनी ही रही कि इनका ऐसा दुरूह, परिश्रम-साध्य संकलन कर भिक्षुओं ने अधिकतर अपने समय को नष्ट ही किया। वास्तव में अधिक विश्लेषण करने से साधन या अभ्यास में तो कोई सहायता मिलती नहीं, उल्टे मन थक कर उलझनों में और पड़ जाता है और मूल वस्तु से भटक जाता है। देखिये, 'यमक' और 'पट्ठान' के विवेचन भी।

४. 'गाइड थ्रू दि अभिधम्म-पिटक' के लेखक और प्रसिद्ध बौद्ध महास्थविर और साधक। जर्मनदेशीय, परिनिर्वृत्त।

कोसम्बी,[1] अनागारिक गोविन्द[2] और भिक्षु जगदीश काश्यप[3] की प्रणाली पर यदि अभिधम्म के अध्ययन को विकसित किया जाय, तो उससे बौद्ध नैतिक मनोविज्ञान का मार्ग हमारे लिए अधिक प्रशस्त हो सकता है और हम अभिधम्म को उसकी वास्तविक विभूति में देख सकते हैं।[4] अभिधम्म-पिटक की 'उद्देस' (संक्षिप्त कथन) के बाद 'निद्देस' (विस्तृत विवेचन) की वर्णन-प्रणाली, पर्यायवाची शब्दों और परिभाषाओं की अधिकता आदि प्रवृत्तियों के विषय में हम पहले कह ही चुके है।

महत्त्व

अभिधम्म-पिटक के महत्त्व पर हमें दो दृष्टियों से विचार करना है (१) स्थविरवाद-परम्परा की दृष्टि से (२) अन्य बौद्ध सम्प्रदायों की दृष्टि से। जहाँ तक स्थविरवाद-परम्परा का संबंध है, अभिधम्म-पिटक को आरंभ से ही सुत्त-पिटक और विनय-पिटक के समान बुद्ध-वचन माना जाता है, यह हम पहले दिखा चुके हैं। बरमा में अभिधम्म-पिटक का कितना अधिक आदर है, यह तत्संबंधी उस विस्तृत अध्ययन से ही स्पष्ट होता है जो उस देश में किया गया है। आठवें अध्याय में हम इस अध्ययन का विवेचन करेंगे। सिंहल भी अभिधम्म की पूजा में बरमा से पीछे नहीं रहा है। 'महावंश' में हम बार-बार पढ़ते हैं कि किस प्रकार विद्वान् सिंहली राजाओं ने अभिधम्म का आदरपूर्वक श्रवण किया और कुछ ने स्वयं उसका उपदेश भी किया। काश्यप प्रथम (९२९

---

१. विदेश में जाकर अनेक कठिनाइयों के उपरान्त अभिधम्म का अध्ययन करने वाले प्रथम भारतीय विद्वान्।

२. 'दि साइकोलोजीकल एट्टीट्यूड ऑव अर्ली बुद्धिस्ट फिलॉसफ़ी' के लेखक (रीडरशिप लेक्चर्स, पटना यूनीवर्सिटी, १९३६-३७। जर्मनदेशीय।

३. अभिधम्म-फिलॉसफ़ी (दो जिल्दें) के लेखक, मनस्वी बौद्ध दार्शनिक और साधक।

४. अध्ययन की इस परम्परा में हमें अभी अभिधम्म पर एक मूल्यवान कृति मिली है "फिलॉसफ़ी एन्ड साइकोलोजी इन दि अभिधम्म", जिसके लेखक हैं बौद्ध धर्म और दर्शन के प्रसिद्ध पण्डित एच० बी० ग्युंथर। यह पुस्तक बुद्ध-विहार, लखनऊ से सन् १९५७ में प्रकाशित हुई है। विचार और साधना की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं और इसमें आधुनिक भाषा में अभिधम्म के गूढ़ तत्त्वों को समझाया गया है।

ईसवी) ने तो सम्पूर्ण अभिधम्म को सोने के पत्रों पर खदवाया और विशेषतः 'धम्मसंगणि' को बहुमूल्य रत्नों से मंडित किया। इसी प्रकार ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी में लंका का राजा विजयबाहु प्रथम (१०५९-१११४ ई०) अभिधम्म का बड़ा मननशील अध्येता था और उसने 'धम्मसंगणि' का सिंहली भाषा में अनुवाद भी किया। अतः स्थविरवाद-परम्परा में अभिधम्म-पिटक का सदा से बहुत सम्मान रहा है। स्थविरवाद-परम्परा से भिन्न बौद्ध सम्प्रदायों में अभिधम्म-पिटक को उतना प्रामाणिक बुद्ध-वचन नहीं माना गया है। हम जानते हैं कि स्वयं उत्तरकालीन हीनयानी संप्रदाय में सौत्रान्तिक नाम का एक वर्ग था जो अभिधम्म-पिटक को प्रामाणिक नहीं मानता था। उसके लिए केवल सुत्त-पिटक ही प्रामाणिक बुद्धवचन था। इतना ही नहीं, अत्यन्त पूर्वकाल में ही हम स्थविरवादियों के अन्दर ही भिक्षुओं के एक ऐसे वर्ग की सूचना पाते हैं जो अभिधम्म-पिटक की प्रामाणिकता को नहीं मानता था और केवल सुत्त-पिटक में ही अधिक विश्वास करता था। 'अट्ठसालिनी' की निदान-कथा में दो भिक्षुओं का संलाप दिया हुआ है, जिससे यह बात स्पष्ट होती है—

"भन्ते ! आप ऐसी लम्बी पंकित को उद्धृत कर रहे हैं, जैसे कि मानो आप सुमेरु को ही परिवेष्टित करना चाहते हों।—'(सिनेरुं परिक्खिपन्तोविय') भन्ते ! यह किसकी पंक्ति है ?"

"आयुष्मन् ! यह अभिधम्म की पंक्ति है।"

"भन्ते ! आप अभिधम्म की पंक्ति का क्यों उद्धरण देते हैं ? क्या आपको यह उचित नहीं कि आप बुद्ध द्वारा उपदिष्ट किन्ही दूसरी पंक्तियों का उद्धरण दें।"

"आयुष्मन् ! अभिधम्म का उपदेश किसका है।"

"निश्चय ही बुद्ध का नहीं है।" ('न एसो बुद्धभासितो')

"पर आयुष्मन् ! क्या तुमने विनय-पिटक को पढ़ा है ?"

"नहीं भन्ते ! मैंने उसे नहीं पढ़ा है।" आदि, आदि।

पुनः 'दीपवंस' के वर्णन में ही हम देखते हैं कि वैशाली की संगीति के अवसर पर ही 'महासंगीतिक' (महासांघिक) भिक्षुओं ने अन्य ग्रन्थों के साथ अभिधम्म-पिटक की प्रमाणवत्ता स्वीकार नहीं की थी।[1] इससे हमारा सन्देह अभिधम्म-पिटक की प्रमाणवत्ता के विषय में अवश्य बढ़ जाता है। काल-क्रम

---

१. दीपवंस ५।३२।३८ (ओल्डनवर्ग का संस्करण)।

और महत्ता में अवश्य अभिधम्म-पिटक को सुत्त और विनयपिटक के बाद मानना पड़ेगा, इसे प्रायः सभी निष्पक्ष बौद्ध विद्वान् आज भी स्वीकार करते हैं। किन्तु चूँकि अभिधम्म-पिटक का अर्वाचीनतम ग्रन्थ (कथावत्थु) भी ईसवी-पूर्व तृतीय शताब्दी की रचना है और उसके अलावा अन्य किसी ग्रन्थ के साथ किसी रचयिता का नाम जोड़ा नहीं गया है, अतः अर्थवाद की दृष्टि से उसे बुद्ध-वचन भी कहा जा सकता है, इतना अवकाश तो हमें स्थविरवाद-परम्परा को भी अवश्य देना ही होगा। अर्थात् अभिधम्म-पिटक बुद्ध-वचन है, भले ही व्यञ्जनतः उसके संगृहीत रूप के सम्बन्ध में ऐसा नहीं भी कहा जा सके। 'चूलवंश' और 'सद्धम्मसङ्गह' जैसे स्थविरवाद-परम्परा के उत्तर-कालीन वंश-ग्रन्थ भी 'अभिधम्म की पालि' जैसे शब्द का प्रयोग करते हैं और इस प्रकार उसे मूल बुद्ध-वचन मानते हैं, यह हम प्रथम परिच्छेद के आदि में देख ही आये हैं। अन्ततः अभिधम्म-पिटक सुत्त-पिटक पर ही तो अवलम्बित है।

पालि अभिधम्म-पिटक की सर्वास्तिवाद सम्प्रदाय के अभिधर्म-पिटक से तुलना

स्थविरवादियों और सर्वास्तिवादियों के दो पिटकों—सुत्त और विनय—की तुलना हम पहले कर चुके हैं। सर्वास्तिवादी संप्रदाय के अभिधर्म-पिटक के ग्रन्थ चीनी भाषा में सुरक्षित हैं। उनके मूल संस्कृत में थे, किन्तु आज वे प्राप्त नही।[1] स्थविरवादियों के समान सर्वास्तिवादियों का भी यह दावा है कि उनका अभिधर्म-पिटक बुद्ध-वचनों (सूत्र-पिटक) पर आधारित है। किन्तु जब कि स्थविरवादी (कथावत्थु को छोड़कर) अभिधम्म के ग्रन्थों को मनुष्यों की रचनाएँ नहीं मानते, सर्वास्तिवादियों की परम्परा में उनका अभिधर्म-पिटक विशिष्ट विचारकों की रचना माना जाता है। चीनी भाषा में सर्वास्तिवादियों के अभिधर्म-पिटक का नाम 'शास्त्र-संग्रह' है। स्थविरवादी अभिधम्म-पिटक के समान सर्वास्तिवादियों के अभिधर्म-पिटक में भी सात ग्रन्थ हैं, जिनके नाम उनके रचयिताओं के साथ इस प्रकार हैं—

---

१. केवल इसी एक ग्रन्थ के मूल संस्कृत रूप के कुछ खण्डित अंश अफ़ंगानिस्तान में बामियान की गुफाओं में मिले हैं। शेष छह सर्वास्तिवादी अभिधर्म-ग्रन्थ अपने मूल संस्कृत रूप में अभी नहीं मिले हैं।

सर्वास्तिवादी संप्रदाय के अभिधर्म-पिटक के ग्रन्थों के नाम	उनके रचयिता
१. ज्ञान-प्रस्थान-शास्त्र	आर्य कात्यायनीपुत्र
२. प्रकरण-पाद-शास्त्र	स्थविर वसुमित्र
३. विज्ञान-काय-पाद-शास्त्र	स्थविर देवशर्मा
४. धर्म-स्कन्ध-पाद-शास्त्र	आर्य शारिपुत्र
५. प्रज्ञप्ति-पाद-शास्त्र	आर्य मौदगल्यायन
६. धातुकाय-पाद-शास्त्र	पूर्ण (या वसुमित्र)
७. संगीति-पर्याय-पाद-शास्त्र	महाकौष्ठिल (या शारिपुत्र)

पालि अभिधम्म-पिटक के साथ इसकी तुलना करने पर ज्ञात होगा कि इनके नामों में पर्याप्त साम्य है, यथा—

पालि अभिधम्म-पिटक	सर्वास्तिवादी अभिधर्म-पिटक
१. धम्मसंगणि	(४) धर्मस्कन्धपाद
२. विभंग	(३) विज्ञानकायपाद
३. पुग्गलपञ्ञत्ति	(५) प्रज्ञप्तिपाद
४. धातुकथा	(६) धातुकायपाद
५. पट्ठान	(१) ज्ञान-प्रस्थान
६. यमक	(७) संगीतिपर्यायपाद
७. कथावत्थुप्पकरण	(२) प्रकरणपाद

नामों की इतनी समानता होते हुए भी विषय की समानता नहीं है। फिर भी जिस विषयों का निरूपण एक पिटक में किसी ग्रन्थ में पाया जाता है, दूसरे पिटक में उन्हीं का या उनके कुछ अंशों का निरूपण किसी दूसरे ग्रन्थ में पाया जाता है। चूंकि दोनों के ही अभिधर्म-पिटक अपने-अपने सूत्रों पर अवलम्बित हैं, जिनमें जैसा हम पहले देख चुके हैं, अधिक अन्तर नहीं है, अतः

---

१. देखिये, डॉ० तकाकुसु का 'दि अभिधर्म लिटरेचर' शीर्षक निबन्ध, जर्नल ऑव रॉयल एशियाटिक सोसायटी' १९०५, पृष्ठ १६१। इस निबन्ध में तकाकुसु ने स्थविरवादी और सर्वास्तिवादी अभिधर्म-पिटकों के ग्रन्थों की विस्तृत तुलनात्मक पर्यालोचना की। सर्वास्तिवादी अभिधर्म-पिटक के कुछ विवेचन के लिये देखिये, अनुकूलचन्द्र बनर्जी : सर्वास्तिवादी लिटरेचर, पृष्ठ ५१-७५ भी (कलकत्ता, १९५७)।

दोनों में कुछ-न-कुछ समानताओं का पाया जाना नितांत स्वाभाविक है। हाँ, उनके क्रम में अन्तर अवश्य है। सर्वास्तिवादी अभिधर्म-पिटक के ग्रन्थों की विषयवस्तु के संक्षिप्त परिचय और पालि अभिधम्म के साथ उसकी तुलना से यह स्पष्ट होगा। पहले ज्ञान-प्रस्थान-शास्त्र को ही लें। यह सर्वास्तिवादी अभिधर्म-पिटक का सबसे प्रधान और मूलभूत ग्रन्थ है। शेष छह ग्रन्थ इसी के पाद या उपग्रन्थ कहलाते हैं। उनके साथ इसका भी वही सम्बन्ध है, जो वेद का उसके छह अंगों के साथ। ज्ञान-प्रस्थान-शास्त्र की रचना सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय के प्रसिद्ध आचार्य आर्य कात्यायनीपुत्र ने की। आर्य कात्यायनीपुत्र कश्मीर के रहनेवाले थे। इनका समय बुद्ध-परिनिर्वाण के ३०० वर्ष बाद है। ज्ञान-प्रस्थान-शास्त्र का प्रथम चीनी अनुवाद कश्मीरी भिक्षु गौतम संघदेव ने ३८३ ईसवी में किया। उसके बाद एक दूसरा अनुवाद सन् ६५७-६० ई० में यूआन्-चुआङ के द्वारा किया गया। इसी महाग्रन्थ पर कनिष्क के काल में आचार्य पार्श्व की अध्यक्षता में हुई एक सभा में वर्षों के परिश्रम के पश्चात् 'विभाषा' ('विभाषा-शास्त्र'—'अभिधर्म-महाविभाषा शास्त्र') नामक एक महाभाष्य लिखा गया, जिसका अनुसरण करने के कारण 'वैभाषिक' नामक बौद्ध सम्प्रदाय की उत्पत्ति हुई। 'विभाषा' का उद्धरण नागार्जुन ने अपने 'महाप्रज्ञापारमिता-शास्त्र' में दिया है। इससे इसके महत्त्व का अन्दाज लगाया जा सकता है। सम्पूर्ण सर्वास्तिवाद-सम्प्रदाय का ही यह आधारभूत ग्रन्थ है। ज्ञान-प्रस्थान-शास्त्र एक बृहत् ग्रन्थ है। इसमें आठ परिच्छेद या स्कन्ध हैं, जिनमें कुल मिलाकर श्लोकों की संख्या १५०७२ है।[२] जैसा पहले कहा जा चका है, मूल संस्कृत तो मिलता ही नहीं, इस सम्पूर्ण ग्रन्थ का अभी अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित नहीं हुआ है। अतः चीनी-भाषा से अनभिज्ञों के लिये अभी तुलनात्मक अध्ययन का मार्ग पराश्रित ही हो सकता है। प्रो० तकाकुसु द्वारा प्रदत्त सूचना के अनुसार ज्ञान-प्रस्थान-शास्त्र के ८ परिच्छेदों के नाम और विषय इस प्रकार हैं—

१. प्रकीर्णक—लोकोत्तर धर्म, ज्ञान, पुद्गल, अरूप, अनात्म आदि स्फुट विषय।

---

१. देखिये, जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी, १९०४-०५, पृष्ठ ७४ से डॉ० तकाकुसु का अभिधर्म-साहित्य सम्बन्धी निबन्ध।

२. जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी, १९०४-०५ पृष्ठ १२४। (डॉ० तकाकुसु का 'दि सर्वास्तिवादिन् अभिधर्म बुक्स' शीर्षक निबन्ध)।

२. संयोजन--अकुशल मूल, सकृदागामी, मनुष्य, दस द्वार आदि।
३. ज्ञान--आठ शैक्ष्य-अशैक्ष्य भूमियाँ, पाँच दृष्टियाँ, पर-चित्त ज्ञान, आय-प्रज्ञा आदि।
४. कर्म--अकुशल कर्म, असम्यक् वाणी, विहिंसा, व्याकृत, अव्याकृत आदि।
५. चार महाभूत--इन्द्रिय, संस्कृत, दृष्ट, सत्य, अध्यात्म आदि।
६. इन्द्रियाँ--२२ इन्द्रियाँ, भव, स्पर्श आदि।
७. समाधि--अतीतावस्था, प्रत्यय, विमुक्ति आदि।
८. स्मृत्युपस्थान--कायानुपश्यना, वेदनानुपश्यना, चित्तानुपश्यना, धर्मानुपश्यना, तृष्णा, संज्ञा, त्रान-समय आदि।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि ज्ञान-प्रस्थान-शास्त्र की विषयवस्तु इतनी विस्तृत है कि उसमें पालि अभिधम्म-पिटक के कई ग्रन्थों के अंशतः विवरण उपस्थित दिखाये जा सकते हैं। विशेषतः खुद्दक-निकाय के 'पटिसम्भिदामग्ग' से इस ग्रन्थ की विषयवस्तु की अधिक समानता है, ऐसा मत स्वर्गीय डॉ० वेणीमाधव बड़आ ने प्रकाशित किया था, जो अंशतः ठीक कहा जा सकता है। (२) 'प्रकरण-पाद' स्थविर वसुमित्र की रचना कही जाती है। यह वसुमित्र कनिष्ककालीन प्रसिद्ध सर्वास्तिवादी आचार्य आर्य वसुमित्र से भिन्न और उनसे पूर्वकालीन हैं। इन का काल बुद्ध-परिनिर्वाण से ३०० वर्ष बाद माना जाता है। अतः ये आर्य कात्यायनीपुत्र के समकालीन थे, ऐसा कहा जाता है। प्रकरण-पाद में आठ वर्ग हैं, जिनमें धर्म, ज्ञान, आयतन आदि का विवेचन है। यद्यपि 'प्रकरण-पाद' के नाम का साम्य 'कथावत्थुप्पकरण' से है, किन्तु दोनों की विषयवस्तु या शैली में कोई समानता नहीं है। विषयवस्तु की दृष्टि से डॉ० लाहा ने इस ग्रन्थ की तुलना 'विभंग' से की है।[2] किन्तु 'विभंग' की समानता धर्मस्कन्ध से अधिक है, यह हम अभी देखेंगे। 'प्रकरणपाद' का पहला चीनी अनुवाद गुणभद्र तथा बुद्धयशस् (या

---

१. यह बहुत प्रसन्नता की बात है कि शान्ति भिक्षु शास्त्री ने 'ज्ञान-प्रस्थान-शास्त्र' के प्रथम और द्वितीय स्कन्धों को चीनी भाषा से संस्कृत भाषा में पुनः अनुवादित किया है। विश्वभारती, शान्तिनिकेतन, २४९९ बुद्धाब्द। इससे भी काफी अनुमान इसकी विषयवस्तु के स्वरूप का हो जाता है और कुछ हद तक इसके आधार पर इसकी तुलना पालि अभिधम्म से की जा सकती है।

२. हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द पहली, पृष्ठ ३४०।

बोधियशस्) ने ४३५-४३ ई० में किया। उसके बाद एक दूसरा अनुवाद ६५९ ई० में यूआन्-चूआङ के द्वारा किया गया। (३) विज्ञान-काय-पाद स्थविर देवशर्मा की रचना कही जाती है। एक परम्परा के अनुसार इस ग्रन्थ की रचना बुद्ध-परिनिर्वाण के १०० वर्ष बाद और एक दूसरी परम्परा के अनुसार ३०० वर्ष बाद हुई। दूसरी परम्परा ही अधिक ठीक हो सकती है। इस ग्रन्थ में ६ स्कन्ध हैं, जिनमें पुद्गल, हेतु-प्रत्यय, आलम्बन-प्रत्यय आदि विषयों के विवेचन हैं। विषय-वस्तु अभिधम्म-पिटक के 'पुग्गलपञ्ञत्ति' और 'पट्ठान' से जहाँ-तहाँ बहुत कुछ मिलती-जुलती है, फिर भी किसी एक विशिष्ट ग्रन्थ से उसकी तुलना नहीं की जा सकती। इस ग्रन्थ का चीनी अनुवाद यूआन्-चूआङ ने ६४९ ई० में किया। (४) धर्म-स्कन्धवाद, सर्वास्तिवादी अभिधर्म-पिटक का ज्ञान-प्रस्थान-शास्त्र के बाद सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसके कुछ अंशों को संगीति-पर्याय में प्रमाण-स्वरूप उद्धृत किया गया है। चीनी परम्परा के अनुसार धर्मस्कन्ध-पाद आर्य महामौद्गल्यायन की रचना है। किन्तु यशोमित्र के मतानुसार यह आर्य शारिपुत्र की रचना है। यह निश्चित है कि ये शारिपुत्र और महामौद्गल्यायन बुद्ध के इन नामों के प्रधान शिष्य नहीं हो सकते। इस ग्रन्थ में २१ अध्याय हैं, जिनमें चार आर्य-सत्य, समाधि, बोध्यंग, इन्द्रिय, आयतन, स्कन्ध, प्रतीत्यसमुत्पाद आदि का विस्तृत विवेचन किया गया है। इस ग्रन्थ का चीनी अनुवाद ६५९ ई० में यूआन्-चूआङ ने किया। इस ग्रन्थ की समता विषयवस्तु की दृष्टि से 'विभंग' से सर्वाधिक है, यह निष्कर्ष महास्थविर ज्ञानातिलोक ने दोनों का तुलनात्मक अध्ययन करने के बाद निकाला है।[१] विभंग में १८ अध्याय (विभंग) हैं, धर्मस्कन्ध में २१ हैं। इनमें १४ एक-दूसरे के बिलकुल समान हैं। यह समानता क्रमशः इस प्रकार है—

विभंग—१,२,३,४,५,६,७,८,९,१०,११,१२,१३, १४, १५, १६,१७, १८,
धर्मस्कन्ध—१९, १८, २०, १०, १७, २१,९,७,८, १५-११, १२, १—१६-
खाली छोड़ी हुई जगहों का तात्पर्य यह है कि विभंग के ११, १५, १६ और १८ वाँ अध्याय (विभंग) धर्मस्कन्ध में नहीं मिलते। (५) प्रज्ञप्तिपाद या प्रज्ञप्ति-पाद-शास्त्र आर्यमौद्गल्यायन की रचना कही जाती है, जो निश्चयतः इस नाम के बुद्ध के शिष्य नहीं हो सकते। प्रज्ञप्ति-पाद का चीनी अनुवाद धर्मरक्ष

---

१. गाइड थ्रू दि अभिधम्म-पिटक, पृष्ठ २ (भूमिका)।
२. वही।

ने ग्यारहवीं शताब्दी में किया। इस ग्रन्थ का चीनी अनुवाद यूआन्-चूआङ ने नहीं किया, इसलिये इसकी प्राचीनता में सन्देह किया जाता है। इस ग्रन्थ का तिब्बती अनुवाद भी उपलब्ध है। इसमें १४ वर्ग हैं। 'प्रज्ञप्ति-पाद का पालि 'पुग्गलपञ्ञत्ति' से केवल नाम का ही साम्य है। विषय में कोई समानता नहीं है। इस ग्रन्थ की कुछ समानता दीघ-निकाय के लक्खण-सुत्त से दिखायी गयी है। (६) धातुकाय-पाद चीनी परम्परा के अनुसार कनिष्क के समकालीन प्रसिद्ध सर्वास्तिवादी आचार्य वसुमित्र की रचना बतलाई जाती है; किन्तु यशोमित्र (अभिधर्मकोश के व्याख्याकार) ने इस ग्रन्थ के रचयिता का नाम पूर्ण लिखा है। यशोमित्र का मत ही अधिक प्रामाणिक माना जाता है। इस ग्रन्थ का भी चीनी अनुवाद यूआन-चूआङ ने ६६३ ई० में किया। इस ग्रन्थ की पालि 'धातुकथा' से कोई समानता नहीं है। हाँ, संयुत्त-निकाय के धातु-संयुत्त से इसकी विषयवस्तु बहुत कुछ मिलती-जुलती है। (७) संगीति-पर्याय-पाद के रचयिता चीनी परम्परा के अनुसार आर्य शारिपुत्र और यशोमित्र के वर्णनानुसार प्रसिद्ध सर्वास्तिवादी आचार्य महाकौष्ठिल थे। यूआन्-चूआङ ने इस ग्रन्थ का चीनी अनुवाद में सातवीं शताब्दी के मध्य भाग में किया था। प्रोफेसर तकाकुसु ने इस ग्रन्थ के विषय और शैली की समानता सबसे अधिक दीघ-निकाय के संगीति-परियाय-सुत्त से दिखाई है।[1] इस ग्रन्थ में १२ वर्ग हैं। इसका भी अनुवाद यूआन्-चूआङ के द्वारा किया गया। सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय के अभिधर्म-पिटक के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि यद्यपि उसमें प्राचीन परम्पराएँ निहित हैं और पालि अभिधम्म-पिटक के कई अंशों से उसकी आश्चर्यजनक समानताएँ भी हैं, फिर भी सुत्त और विनय की अपेक्षा यहाँ समानताएँ कम हैं। इसका एक प्रधान कारण लम्बी परम्पराओं का एक देश से दूसरे देश में जाना और भाषा-माध्यमों की अनिवार्य कठिनताएँ हैं। जब तक मूल संस्कृत उपलब्ध न हो, तब तक बिना उसके स्वरूप पर विचार किये पालि अभिधम्म के साथ उसके आपेक्षिक महत्त्व और प्रामाण्य के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। किन्तु हमारे वर्तमान ज्ञान की अवस्था में पालि अभिधम्म के सामने उसकी प्रमाणवत्ता अल्प अवश्य रह जाती है। यह स्पष्टतः आचार्यों की रचना है, जब कि केवल 'कथावत्थुप्पकरण' को छोड़कर शेष पालि अभिधम्म-पिटक बुद्ध-वचन के रूप में ही स्थविरवाद-परम्परा में प्रतिष्ठित है। हाँ, सर्वास्तिवादी अभिधर्म-पिटक की

---

१. जर्नल ऑव पालि टैक्सट् सोसायटी, १९०४-०५, पृष्ठ ९९।

तुलना से यह बात अवश्य स्पष्ट हो जाती है कि सुत्त और विनय की अपेक्षा पालि अभिधम्म की प्रमाणवत्ता निश्चयतः कम और संकलन-काल भी उतनी ही निश्चिततापूर्वक कुछ बाद का है, जिसका विवेचन हम पहले कर आये हैं। हमें चीनी परम्परा से स्पष्टतः विदित होता है कि केवल सर्वास्तिवादी परम्परा का ही अलग अभिधर्म-पिटक नहीं था, बल्कि महासांघिक, बाहुश्रुतीय और धर्मगुप्तिक बौद्ध सम्प्रदायों के भी अलग-अलग अभिधर्म-पिटक थे। परन्तु वे आज नहीं मिलते और उनके स्वरूप और विषय-वर्णन के सम्बन्ध में हम कुछ निश्चित रूप से नहीं जान सकते।

अभिधम्म-पिटक के ग्रन्थों की विषयवस्तु का संक्षिप्त विश्लेषण--

धम्मसंगणि[1]

पालि अभिधम्म-पिटक का सब से प्रथम और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'धम्मसंगणि' है। वास्तव में यह सम्पूर्ण अभिधम्म-साहित्य की प्रतिष्ठा ही है। 'धम्मसंगणि' में मानसिक और भौतिक जगत् की अवस्थाओं का संकलन किया गया है, गणनात्मक और परिप्रश्नात्मक शैली के आधार पर। धम्मों (पदार्थों) की कामावचर, रूपावचर आदि के रूप में संगणना और संक्षिप्त व्याख्या करने के कारण ही ग्रन्थ का यही नाम है।[2] 'धम्मसंगणि' के संकल और विश्ले-

---

१. देवनागरी लिपि में प्रोफेसर पी० वी० (पु० वि०) बापट तथा आर० डी० वड़ेकर ने इस ग्रन्थ का सम्पादन किया है--(भंडारकर ओरियन्टल सीरीज़ संख्या २, प्रथम संस्करण, पूना १९४०)। अभी हाल (सन् १९६०) में भिक्षु जगदीश काश्यप के प्रधान सम्पादकत्व में सम्पादित होकर धम्मसंगणि का एक दूसरा देवनागरी संस्करण श्री नालन्दा से निकला है,। रोमन लिपि में पालि टैक्सट् सोसायटी द्वारा प्रकाशित (लन्दन, १८८५), एडवर्ड मूलर द्वारा सम्पादित, संस्करण प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ के बरमी, सिंहली और स्यामी संस्करण भी उपलब्ध है। अंग्रेजी में श्रीमती रायस डेविड्स ने 'ए बुद्धिस्ट मेनुअल ऑव साइकोलोजीकल एथिक्स' (लन्दन, १९००) शीर्षक से इस ग्रन्थ का अनुवाद किया था। हिन्दी में अभी तक इस ग्रन्थ का अनुवाद नहीं निकला है।

२. कामावचररूपावचरादिधम्मे संगह्य संखिपित्वा वा गणयति संख्याति एत्थाति धम्मसंगणि। देखिये, चाइल्डर्स : डिक्शनरी ऑव दि पालि लैंग्वेज़, पृष्ठ ४४७ भी।

षण की सब से बड़ी विशेषता है भीतर और बाहर के सारे जगत् की नैतिक व्याख्या। नैतिक व्याख्या से तात्पर्य है कर्म के शुभ (कुशल), अशुभ (अकुशल) और इन दोनों से व्यतिरिक्त एवं अ-व्याख्येय (अव्याकृत) विपाकों के रूप में व्याख्या। ग्रन्थ के मुख्य भाग में चित्त और उससे संयुक्त अवस्थाओं (चेतसिक) का कुशल, अकुशल और अव्याकृत के रूप में विश्लेषण किया गया है। अतः इसे बौद्ध मनोविज्ञान की नैतिक व्याख्या ही कहा जा सकता है। या दूसरे शब्दों में बौद्धनीतिवाद की मनोवैज्ञानिक व्याख्या भी। ग्रन्थकार (या संकलनकार) ने दोनों के लिए ही पर्याप्त अवकाश दे दिया है। धम्म-संगणि के आरम्भ में 'मातिका' (मातृका) या विषय-सूची दी हुई है। उसमें नैतिकवाद की दृष्टि से वर्गीकरण है, किन्तु ग्रन्थ में जो विवेचन किया गया है, उसका काण्ड-विभाग चित्त और रूप की दृष्टि से है और फिर उसे 'कुसल-त्तिक', (कुशल, अकुशल, अव्याकृत) के रूप में विभाजित किया गया है। वास्तव में 'धम्मसंगणि' ने मन की अवस्थाओं की कर्म के शुभ, अशुभ आदि स्वरूपों के साथ व्याख्या करनी चाही है, जो एक-दूसरे से घनिष्ठ और अनिरुक्त रूप में सम्बन्धित हैं। इसीलिये 'धम्मसंगणि' के विवेचनों में इतनी दुरूहता आ गया है।

फिर भी धम्मसंगणि की 'मातिका' उसकी सारी दुरूह विषयवस्तु को समझने के लिए एक अच्छी क़ुजी है। भौतिक और मानसिक जगत् की व्याख्या धम्मसंगणि में जिस ढंग से की गई है, उसका हमें वह पूरा दिग्दर्शन करा देती है। वह एक प्रकार की विषय-सूची है, जो उन शीर्षकों का उल्लेख कर देती है, जिनमें भौतिक और मानसिक जगत् के नाना पदार्थों (धम्मों) का विश्लेषण सम्पूर्ण ग्रन्थ के अन्दर किया गया है। 'मातिका' में कुल मिला-कर १२२ वर्गीकरण है, जिनमें २२ ऐसे वर्गीकरण हैं जो तीन-तीन शीर्षकों में विभक्त हैं। ये 'तिक' कहवाते हैं। उदाहरणतः पहला 'तिक' है—(१) कुसला धम्मा, (२) अकुसला धम्मा, (३) अव्याकता धम्मा। शेष १०० ऐसे वर्गीकरण हैं, जो दो-दो शीर्षकों में विभक्त हैं। ये 'दुक' कहलाते हैं। उदाहरणतः पहला 'दुक' है (१) हेतू धम्मा (२) न हेतू धम्मा। २२ 'तिकों' और १०० 'दुकों' में ही सारे धम्मों का विश्लेषण 'धम्मसंगणि' में किया गया है। अभिधम्म-पिटक के अन्य ग्रन्थों में भी इस वर्गीकरण-प्रणाली का पर्याप्त आश्रय लिया गया है। यहाँ 'मातिका' के अनुसार इन 'तिकों' और 'दुकों' का विवरण देना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होगा, इनकी गणना इस प्रकार है—

२२ तिक

१. अ. जो जन्म कुशल हैं—(कुसला)
आ. चो धम्म कुशल नहीं हैं—(अकुसला)
इ. जो धम्म अव्याकृत हैं—(अब्यापकता)

२. अ. जो धम्म सुख की वेदना से युक्त हैं—(सुखाय वेदनाय सम्पयुत्ता)
आ. जो धम्म दुःख की वेदना से युक्त हैं—(दुक्खाय वेदनाय सम्पयुत्ता)
इ. जो धम्म न सुख न दुःख की वेदना से युक्त हैं—(अदुक्खमसुखाय वेदनाय सम्पयुत्ता)

३. अ. जो धम्म चित्त की कुशल या अकुशल अवस्थाओं के स्वयं परिणाम हैं —(विपाका)
आ. जो धम्म स्वयं चित्त की कुशल या अकुशल अवस्थाओं के परिणामों को पैदा करने वाले हैं—(विपाकधम्मधम्मा)
इ. जो धम्म न किसी के स्वयं परिणाम हैं और न परिणाम पैदा करने वाले हैं—(नेव-विपाक-न-विपाक धम्मधम्मा)

४. अ. जो धम्म पूर्व कर्म के परिणामस्वरूप प्राप्त किये गये हैं और जो स्वयं भविष्य में ऐसे ही धम्मों को पैदा करनेवाले हैं—(उपादिन्नुपादानिया)
आ. जो धम्म पूर्व कर्म के परिणामस्वरूप तो प्राप्त नहीं किये गये हैं, किन्तु जो भविष्य में धम्मों को पैदा करनेवाले हैं—(अनुपादिन्नुपादानिया)
इ. जो धम्म स्वयं न तो पूर्व कर्म के परिणाम-स्वरूप प्राप्त ही किये गये हैं और न जो भविष्य में धम्मों को पैदा करनेवाले हैं —(अनुपादिन्नानुपादानिया)

५. अ. जो धम्म स्वयं अपवित्र है और अपवित्रता के आलम्बन भी बनते हैं —(संकिलिट्ठ-संकिलेसिका)
आ. जो धम्म स्वयं अपवित्र नहीं हैं, किन्तु अपवित्रता के आलम्बन बनते हैं —(असंकिलिट्ठ-संकिलेसिका)
इ. जो धम्म न स्वयं अपवित्र हैं और न अपवित्रता के आलम्बन ही बनते हैं—(असंकिलिट्ठ-असंकिलेसिका)

६. अ. जो धम्म वितर्क और विचार से युक्त हैं—(सवितक्क-सविचारा)
आ. जो धम्म वितर्क से तो नहीं, किन्तु विचार से युक्त हैं —(अवितक्क-विचारमता)

इ. जो धम्म न वितर्क और न विचार से ही युक्त हैं —(अवितक्क-अविचारा)

७. अ. जो धम्म प्रीति की भावना से युक्त हैं —(पीतिसहगता)

आ. जो धम्म सुख की भावना से युक्त हैं —(सुखसहगता)

इ. जो धम्म उपेक्षा की भावना से युक्त हैं —(उपेक्खासहगता)

८. अ. दर्शन के द्वारा जिनका नाश किया जा सकता है—(दस्सनेन पहातब्बा)

आ. अभ्यास के द्वारा जिनका नाश किया जा सकता है —(भावनायपहातब्बा)

इ. जो न दर्शन और अभ्यास से ही नष्ट किये जा सकते हैं —(नेव दस्सनेन न भावनाय पहातब्बा)

९. अ. वे धम्म जिनके हेतु का विनाश दर्शन से किया जा सकता है —(दस्सनेन पहातब्बहेतुका)

आ. वे धम्म जिनके हेतु का विनाश अभ्यास से किया जा सकता है —(भावनाय महातब्बहेतुका)

इ. वे धम्म जिनके हेतु का विनाश न दर्शन से और न अभ्यास से ही किया जा सकता है —(नेव दस्सनेन न भावनाय पहातब्बहेतुका)

१०. अ. वे धम्म जो कर्म-संचय के कारण बनते हैं —(आचयगामिनो)

आ. वे धम्म जो कर्म-संचय के विनाश के कारण बनते हैं —(अपचयगामिनो)

इ. वे धम्म जो न कर्म-संचय और न उसके विनाश के कारण बनते हैं —(नेव आचयगामिनो न अपचयगामिनो)

११. अ. वे धम्म जो शैक्ष्य सम्बन्धी हैं —(सेक्खा) (लोकोत्तर मार्ग की सात अवस्थाएँ)

आ. वे धम्म जो शैक्ष्य सम्बन्धी नहीं हैं, अर्थात् जिन्होंने अर्हत्त्व की पूर्णता प्राप्त कर ली है (अर्हत्व-फल) —(असेक्खा)

इ. वे धम्म जो उपर्युक्त दोनों प्रकार से भिन्न हैं —(अर्थात् उपर्युक्त आठ को छोड़कर बाकी सब) —(नेव सेक्खा न असेक्खा)

१२. अ. वे धर्म जो अल्प आकार वाले हैं —(परित्ता)

आ. वे धम्म जो महान् आकार वाले हैं —(महग्गता)

इ. वे धम्म जो अपरिमेय आकार वाले हैं —(अप्पमाणा)

१३. अ. वे धम्म (मन की अवस्थाएँ) जिनका आल-
म्बन अल्प आकार वाला है —(परित्तारम्मणा)

आ. वे धम्म (मन की अवस्थाएँ) जिनका आल-
म्बन महान् आकार वाला है —(महग्गतारम्मणा)

इ. वे धम्म (मन की अवस्थाएँ) जिनका आल-
म्बन अपरिमाण आकारवाला है —(अप्पमाणारम्मणा)

१४. अ. हीन धम्म (मन की अवस्थाएँ) —(हीना)

आ. मध्यम धम्म (मन की अवस्थाएँ) —(मज्झिमा)

इ उत्तम धम्म (मन की अवस्थाएँ) —(पणीता)

१५. अ. जो धम्म निश्चयपूर्वक बुरे हैं —(मिच्छत्तनियता)

आ. जो धम्म निश्चयपूर्वक अच्छे हैं —(सम्मत्तनियता)

इ. जिनका स्वरूप अनिश्चित है —(अनियता)

१६. अ. वे धम्म (मन की अवस्थाएँ) जिनका
आलम्बन मार्ग है —(मग्गारम्मणा)

आ. वे धम्म (मन की अवस्थाएँ) जिनका हेतु
मार्ग है —(मग्गहेतुका)

इ. वे धम्म (मन की अवस्थाएँ) जिनका मुख्य
उद्देश्य ही मार्ग है —(मग्गाधिपतिनो)

१७. अ. वे मन की अवस्थाएँ जो उत्पन्न हो चुकी हैं —(उप्पन्ना)

आ. वे मन की अवस्थाएँ जो अभी उत्पन्न नहीं हुई हैं —(अनुप्पन्ना)

इ. वे मन की अवस्थाएँ जो भविष्य में पैदा
होनेवाली है —(उप्पादिनो)

१८. अ. वे मन की अवस्थाएँ जो बीत गईं —(अतीता)

आ. वे मन की अवस्थाएँ जो भविष्य में पैदा होंगी —(अनागता)

इ. वे मन की अवस्थाएँ जो अभी हाल में पैदा हुई
हैं और अभी वर्तमान हैं —(पच्चुप्पन्ना)

१९. अ. व मन की अवस्थाएँ जिनका आलम्बन कोई
अतीत की वस्तु है —(अतीतारम्मणा)

आ. वे मन की अवस्थाएँ जिनका आलम्बन
कोई भविष्य की वस्तु है —(अनागतारम्मणा)

इ. वे मन की अवस्थाएँ जिनका आलम्बन
कोई वर्तमान की वस्तु है —(पच्चुपन्नारम्मणा)

२०. अ. जो धम्म किसी व्यक्ति के अन्दर अवस्थित है —(अज्झत्ता)
आ. जो धम्म किसी व्यक्ति के बाहर अवस्थित हैं —(बहिद्धा)
इ. जो धम्म किसी व्यक्ति के अन्दर और बाहर दोनों जगह अवस्थित हैं —(अज्झत्त-बहिद्धा)

२१. अ. वे धम्म (मन की अवस्थाएँ) जिनका आलम्बन कोई आन्तरिक वस्तु है —(अज्झत्तारम्मणा)
आ. वे धम्म (मन की अवस्थाएँ) जिनका आलम्बन कोई बाहरी वस्तु है —(बहिद्धारम्मणा)
इ. वे धम्म (मन की अवस्थाएँ) जिनका आलम्बन दोनों आन्तरिक और बाहरी वस्तुएँ हैं—(अज्झत्त-बहिद्धारम्मणा)

२२. अ. वे धम्म जो दृश्य हैं और इन्द्रिय और उसके विषय के सन्निकर्ष से उत्पन्न होने वाले हैं —(सनिदस्सनसप्पटिघा)
आ. वे धम्म जो दृश्य तो नहीं, किन्तु इन्द्रिय और उसके सन्निकर्ष से उत्पन्न होने वाले हैं —(अनिदस्सन-सप्पटिघा)
इ. वे धम्म जो न तो दृश्य हैं और न इन्द्रिय और उसके विषय के सन्निकर्ष से उत्पन्न होने वाले हैं —(अनिदस्सन-अप्प-टिघा)

१०० दुक

(१—हेतु-वर्ग)

१. अ. जो दूसरों के हेतु हैं—(हेतू)
आ. जो दूसरों के हेतु नहीं हैं—(स हेतू)
२. अ. जो हेतुओं से युक्त हैं—(सहेतुका)
आ. जो हेतुओं से युक्त नहीं हैं—(अहेतुका)
३. अ. जिनसे हेतु संलग्न हैं—(हेतुसम्पयुत्ता)
आ. जिनसे हेतु संलग्न नहीं हैं—(हेतुविप्पयुत्ता)
४. अ. जो स्वयं हेतु हैं और हेतुओं से युक्त भी हैं—(हेतु चेव सहेतुका च)
आ. जो स्वयं हेतु नही हैं, किन्तु हेतुओं से युक्त हैं—(सहेतु का चेव न च हेतू)
५. अ. जो स्वयं हेतु हैं और जिनसे हेतु संलग्न भी हैं—(हेतू चेव हेतु सम्पयुत्ताच)
आ. जो स्वयं हेतु नहीं हैं, किन्तु जिनसे हेतु संलग्न हैं—(हेतुसम्पयुत्ता चेव न च हेतू)

६. अ. जो स्वयं हेतु नहीं हैं, किन्तु जो हेतुओं से युक्त हैं—(न-हेतू सहेतुका)
   आ. जो न स्वयं हेतु हैं और न हेतुओं से युक्त हैं—(न-हेतू अहेतुका)

(२—संक्षिप्त मध्यवर्गीय द्युक)

७. अ. जिनके प्रत्यय हैं—(सप्पच्चया)
   आ. जिनके प्रत्यय नहीं हैं—(अप्पच्चया)
८. अ. संस्कृत—(संखता)
   आ. असंस्कृत—(असंखता)
९. अ. दृश्य—(सनिदस्सना)
   आ. अदृश्य—(अनिदस्सना)
१०. अ. इन्द्रिय और विषय के संनिकर्ष से युक्त—(सप्पटिघा)
   आ. इन्द्रिय और विषय के संनिकर्ष से वियुक्त—(अप्पतिघा)
११. अ. जो रूप-युक्त हैं—(रूपिनो)
   आ. जो रूप-युक्त नहीं हैं—(अरूपिनो)
१२. अ. लौकिक—(लोकिरा)
   आ. अलौकिक—(लोकुत्तरा)
१३. अ. जो किसी के द्वारा विज्ञेय हैं—(केनचि विञ्ञेय्या)
   आ. जो किसी के द्वारा विज्ञेय नहीं हैं—(केनचि न विञ्ञेय्या)

(३—आस्रव-वर्ग)

१४. अ. जो चित्त-मल हैं—(आसवा)
   आ. जो चित्त-मल नहीं हैं—(नो आसवा)
१५. अ. जो चित्त-मल से युक्त हैं—(सासवा)
   आ. जो चित्त-मल से युक्त नहीं हैं—(अनासवा)
१६. अ. जिनसे चित्त-मल संलग्न हैं—(आसवसम्पयुत्ता)
   आ. जिनसे चित्त-मल संलग्न नहीं हैं—(आसवविप्पयुत्ता)
१७. अ. जो स्वयं चित्त-मल हैं और चित्त-मलों से युक्त भी हैं—(आसवा चेव सासवा च)
   आ. जो स्वयं चित्त-मल नहीं हैं, किन्तु चित्त-मलों से युक्त हैं—(सासवा चेव नो च आसवा)
१८. अ. जो स्वयं चित्त-मल हैं और जिनसे चित्त-मल संलग्न भी हैं—(आसवा चेव आसवसम्पयुत्ता च)
   आ. जो स्वयं चित्त-मल नहीं हैं, किन्तु उनसे चित्त-मल संलग्न हैं—(आसवसम्पयुत्ता चेव नो च आसवा)

१९. अ. जो चित्त-मलों से संलग्न न रखने पर भी उनके आधार हैं—(आसव-विप्पयुक्ता सासवा पि)

आ. जो चित्त-मलों से संलग्न भी नही हैं और उनके आधार भी नहीं हैं—(आसवविप्पयुत्ता अनासवा पि)

(४—संयोजन-वर्ग)

२०. अ. जो चित्त के बन्धन हैं—(संयोजना)

आ. जो चित्त के बन्धन नहीं हैं—(नो संयोजना)

२१. अ. जो चित्त-बन्धनों की ओर ले जाने वाले हैं—(संयोजनिया)

आ. जो चित्त-बन्धनों की ओर नहीं ले जाने वाले हैं—(असंयोजनिया)

२२. अ. जिनसे चित्त-बन्धन संलग्न हैं—(संयोजन-सम्पयुत्ता)

आ. जिनसे चित्त-बन्धन असंलग्न हैं—(संयोजन-विप्पयुत्ता)

२३. अ. जो स्वयं चित्त-बन्धन हैं, और चित्त-बन्धनों की ओर ले जाने वाले भी हैं—(संयोजना चेव संयोजनिया च)

आ. जो स्वयं चित्त-बन्धन नहीं हैं, किन्तु जो चित्त-बन्धनों की ओर ले जाने वाले वाले हैं—(संयोजनिया चेव नो च संयोजना)

२४. अ. जो स्वयं चित्त-बन्धन हैं और जिनसे चित्त-बन्धन संलग्न भी हैं—(संयोजना चेव संयोजनसंपयुत्ता च)

आ. जो स्वयं चित्त-बन्धन नहीं हैं, किन्तु जिनसे चित्त-बन्धन संलग्न हैं—(संवोजनसम्पयुत्ता चेव नो च संयोजना)

२५. अ. जिनसे चित्त-बन्धन संलग्न तो नहीं हैं, किन्तु जो चित्त-बन्धन की ओर ले जाने वाले हैं—(संयोजनविप्पयुत्ता संयोजनिया पि)

आ. जिनसे न तो चित्त-बन्धन संलग्न ही हैं और न जो चित्त-बन्धनों की ओर ले जाने वाले हैं—(संयोजनविप्पयुत्ता असंयोजनिया पि)

(५—ग्रन्थ-वर्ग)

२६. अ. जो चित्त की गाँठें हैं—(गन्था)

आ. जो चित्त की गाँठें नहीं हैं—(नो गन्था)

२७. अ. जो चित्त की गाँठों की ओर ले जाने वाले हैं—(गन्थनिया)

आ. जो चित्त की गाँठों की ओर नहीं ले जाने वाले हैं—(अगन्थनिया)

२८. अ. जो चित्त की गाँठों के सहचर हैं—(गन्थ-सम्पयुत्ता)

आ. जो चित्त की गाँठों के सहचर नहीं हैं—(गन्थ-विप्पयुत्ता)

२९. अ. जो स्वयं चित्त की गाँठें हैं और चित्त की गाँठों की ओर ले जाने वाले भी हैं—(गन्था चेव गन्थानिया च)

आ. जो स्वयं चित्त की गाँठें नहीं हैं, किन्तु न चित्त की गाँठों की ओर ले जाने वाले हैं (गन्थनिया चेव नो च गन्थ)

३०. अ. जो स्वयं चित्त की गाँठें हैं और चित्त की गाँठों के सहचर भी हैं—(गन्था चेव गन्थसंपयुत्ता च)

आ. जो स्वयं चित्त की गाँठें नहीं हैं, किन्तु चित्त की गाँठों के सहचर हैं —(गन्थसम्पयुत्ता चेव नो च गन्था)

३१. अ. जो चित्त की गाँठों के सहचर नहीं हैं, किन्तु उनको भविष्य में पैदा करने वाले ही हैं—(गन्थविप्पयुत्ता गन्थनिया पि)

आ. जो चित्त की गाँठों के सहचर भी नहीं हैं और न उन्हें भविष्य में पैदा करने वाले ही हैं—(गन्थपिप्पयुत्ता अगन्थनिया पि)

(६—ओघ-वर्ग)

३२-३७—ऊपर के समान ही। केवल 'चित्त की गाँठ' की जगह 'ओघ' (बाढ़) का प्रयोग है। (ओघ चार हैं, काम-ओघ, भव-ओघ, (आत्म) दृष्टि-ओघ और अविद्या-ओघ।

(७—योग-वर्ग)

३८-४३—ऊपर के समान ही। केवल 'चित्त की गाँठ' की जगह 'योग' (आसक्ति) का प्रयोग है। (योग भी चार माने गये हैं, यथा काम-योग, भव-योग (आत्म-) दृष्टि-योग एवं अविद्या-योग)

(८—निवरण-वर्ग)

४४. अ. जो ध्यान के विघ्न (आवरण) हैं —(नीवरणा)

आ. जो ध्यान के विघ्न नहीं हैं —(नो नीवरणा)

४५. अ. जो भविष्य में ध्यान के विघ्नों को पैदा करने काले हैं —(नीवरणिया)

आ. जो भविष्य में ध्यान के विघ्नों को पैदा करनेवाले नहीं हैं —(अनीवरणिया)

४६. अ. जो ध्यान के विघ्नों के सहचर हैं—(नीवरणसप्पयुत्ता)

आ. जो ध्यान के विघ्नों के सहचर नहीं हैं—(नीवरणविप्पयुत्ता)

४७. अ. जो स्वयं ध्यान के विघ्न हैं और ध्यान के विघ्नों को पैदा करनेवाले भी हैं—(नीवरणा चेव नीवरणिया च)

आ. जो स्वयं ध्यान के विघ्न नहीं हैं, किन्तु जो ध्यान के विघ्नों को पैदा करने वाले हैं—(नीवरणिया चेव नो च नीवरणा)

४८. अ. जो स्वयं ध्यान के विघ्न हैं और ध्यान के विघ्नों के सहचर भी हैं—(नीवरणा चेव नीवरण-सम्पयुत्ता च)

आ. जो स्वयं ध्यान के विघ्न नहीं हैं, किन्तु ध्यान के विघ्नों के सहचर हैं—(नीवरणसम्पयुत्ता चेव नो च नीवरणा)

४९. अ. जो स्वयं ध्यान के विघ्नों के सहचर नहीं हैं, किन्तु उन्हें पैदा करने वाले हैं—(नीवरणविप्पयुत्ता नीवरणिया पि)

आ. जो स्वयं ध्यान के विघ्नों के सहचर भी नहीं हैं और न उन्हें पैदा करने वाले ही हैं—(नीवरणविप्पयुत्ता अनीवरणिया पि)

(९—परामर्श-वर्ग)

५०. अ. जो मिथ्या धारणायें हैं—(परामासा)

आ. जो मिथ्या धारणाएँ नहीं हैं—(नो परामासा)

५१. अ. जो (चित्त की अवस्थाएँ) मिथ्या धारणाओं को पैदा करने वाली हैं—(परामट्ठा)

आ. जो मिथ्या धारणाओं को पैदा करने वाली नहीं हैं—(अपरामट्ठा)

५२. अ. जो मिथ्या धारणाओं की सहचर हैं—(परामाससम्पयुत्ता)

आ. जो मिथ्या धारणाओं की सहचर नहीं हैं—(परामासविप्पयुत्ता)

५३. अ. जो स्वयं मिथ्या धारणायें हैं और मिथ्या धारणाओं को पैदा करने वाली भी हैं—(परामासा चेव परामट्ठा च)

आ. जो स्वयं मिथ्या धारणाएँ नहीं हैं, किन्तु मिथ्या धारणाओं को पैदा करने वाली है— (परामट्ठा चेव नो च परामासा)

५४. अ. जो स्वयं मिथ्या धारणाओं से विमुक्त हैं, किन्तु उन्हें पैदा करने वालीं हैं—(परामासविप्पयुत्ता परामट्ठा)

आ. जो स्वयं मिथ्या धारणाओं से विमुक्त हैं और उन्हें पैदा करने वाली भी नहीं हैं—(परामासविप्पयुत्ता अपरामट्ठा)

(१०—विस्तृत मध्यम दुक)

५५. अ. जो धम्म किसी आलम्बन का सहारा लेकर पैदा होते हैं—(सारम्मणा)

आ. जो धम्म किसी आलम्बन का सहारा लेकर नहीं पैदा होते—(अनारम्मणा)

५६. अ. जो चेतना-स्वरूप हैं—(चित्ता)
आ. जो अचेतना-स्वरूप नहीं हैं—(नो चित्ता)
५७. अ. जो चित्त की सहगत अवस्थाएँ हैं—(चेतसिका)
आ. जो चित्त की सहगत अवस्थाएँ नहीं हैं—(अचेतसिका)
५८. अ. जो चेतना से युक्त हैं—(चित्त सम्पयुत्ता)
आ. जो चेतना से युक्त नहीं हैं—(चित्तविप्पयुत्ता)
५९. अ. जो चेतना से संसृष्ट हैं—(चित्तसंसट्ठा)
आ. जो चेतना से संसृष्ट नहीं हैं—(चित्तविसंसट्ठा)
६०. अ. जो चेतना के द्वारा उत्पन्न किये जाते हैं—(चित्तसमुट्ठाना)
आ. जो चेतना के द्वारा उत्पन्न नहीं किये जाते—(नो चित्तसमुट्ठाना)
६१. अ. जो चेतना की उत्पत्ति के साथ उत्पन्न होने वाले हैं—(चित्तसहभुनो)
आ. जो चेतना की उत्पत्ति के साथ उत्पन्न होने
वाले नहीं हैं—(नो चित्तसहभुनो)
६२. अ. जो चेतना के परिवर्तन के साथ परिवर्तित
हो जाते हैं—(चित्तानुपरिवत्तिनो)
आ. जो चेतना के परिवर्तन के साथ परिवर्तित
नहीं होते—(नो चित्तानुपरिवत्तिनो)
६३. अ. जो चेतना से संयुक्त हैं और उसी के द्वारा पैदा
भी होने वाले हैं—(चित्तसंसट्ठसमुट्ठाना)
आ. जो चेतना से संयुक्त नहीं हैं, किन्तु उसके द्वारा
पैदा होने वाले हैं—(नो-चित्तसंसट्ठसमुट्ठाना)
६४. अ. जो चेतना से युक्त हैं, उसके द्वारा पैदा होने वाले हैं
और उसके साथ रहने वाले हैं—(चित्त-संसट्ठ-समुट्ठान-सहभुनो)
आ. जो न चेतना से युक्त हैं, न उसके द्वारा पैदा होने
वाले हैं और न उसके साथ रहने वाले हैं—
(नो चित-संसट्ठ-समुट्ठान-सहभुनो)
६५. अ. जो चेतना से युक्त हैं, उसके द्वारा पैदा किये जाते हैं
और उसके परिवर्तन के साथ परिवर्तित हो जाते हैं—
(चित्त-संसट्ठ-समुट्ठानानुपरिवत्तिनो)
आ. जो न चेतना से युक्त हैं, न उसके द्वारा पैदा किये
जाते हैं और न उसके परिवर्तन के साथ
परिवर्तित होते हैं—(नो-चित्त-संसट्ठ-समुट्ठास नानुपरिवत्तिनो)

६६. अ. जो किसी व्यक्ति के अन्दर स्थित हैं--(अज्झत्तिका)

आ. जो उसके बाहर स्थित हैं--(बाहिरा)

६७. अ. जो पूर्व-कर्मों के परिणामस्वरूप अर्जित हैं--(उपादा)

आ. जो पूर्व-कर्मों के परिणामस्वरूप अर्जित नहीं हैं--(नो उपादा)

६८. अ. पूर्ववत्--(उपादिन्ना)

आ. ,, (अनुपादिन्ना)

(११---उपादान-वर्ग)

६९. अ. जो धम्म उपादान (इन्द्रिय द्वारा ग्रहण-स्वरूप) हैं--(उपादाना)

आ. जो धम्म उपादान नहीं हैं--(नो-उपादाना)

७०. अ. जो धम्म उपादान को पैदा करने वाले हैं--(उपादानिया)

आ. जो धम्म उपादान को नहीं पैदा करने वाले हैं--(अनुपादानिया)

७१. अ. जो धम्म उपादान से संलग्न हैं--(उपादानसम्पयुत्ता)

आ. जो धम्म उपादान से अलग हैं--(उपादानविप्पयुत्ता)

७२. अ. जो धम्म स्वयं उपादान हैं और उपादान को पैदा करने वाले भी हैं--(उपादाना चेव उपादानिया च)

आ. जो धम्म स्वयं उपादान नहीं हैं, किन्तु उपादान को पैदा करने वाले हैं--(उपादानिया चेव नो च उपादाना)

७३. अ. जो धम्म स्वयं उपादान हैं और अन्य उपादानों से संलग्न भी हैं--(उपादाना चेव उपादानसम्पयुत्ता च)

आ. जो धम्म स्वयं उपादान नहीं हैं, किन्तु अन्य उपादानों से संलग्न हैं--(उपादानसम्पयुत्ता चेव नो च उपादाना)

७४. अ. जो धम्म स्वयं उपादानों से अलग हैं, किन्तु उन्हें पैदा करने वाले हैं--(उपादानविप्पयुत्ता उपादानिया पि)

आ. जो धम्म उपादानों से अलग हैं और उन्हें पैदा करने वाले भी नहीं हैं--(उपादानविप्पयुत्ता अनुपादानिया पि)

(१२---क्लेश-वर्ग)

७५. अ. जो धम्म क्लेश (चित्त-मल---राग, द्वेष, मोहादि)--स्वरूप हैं--(किलेसा)

आ. जो धम्म क्लेश-स्वरूप नहीं हैं--(नो किलेसा)

७६. अ. जो धम्म क्लेश को पैदा करने वाले हैं--(संकिलेसिका)

आ. जो धम्म क्लेश को पैदा करने वाले नहीं हैं--(असंकिलेसिका)

७७. अ. जो धम्म क्लेशों से युक्त हैं—(संकिलिट्ठा)
आ. जो धम्म क्लेशों से युक्त नहीं हैं—(असंकिलिट्ठा)
७८. अ. जो धम्म क्लेशों से संलग्न हैं—(किलेससम्पयुत्ता)
आ. जो धम्म क्लेशों से संलग्न नहीं हैं—(किलेसविप्पयुत्ता)
७९. अ. जो स्वयं क्लेश-रूप हैं और क्लेशों को पैदा करने वाले भी हैं—(किलेसा चेव संकिलेसिका)
आ. जो स्वयं क्लेश-रूप नहीं हैं, किन्तु क्लेशों को पैदा करने वाले हैं—(संकिलेसिका चेव नो च किलेसा)
८०. अ. जो स्वयं क्लेश-रूप हैं और अन्य क्लेशों से युक्त भी हैं—(किलेसा चेव संकिलिट्ठा च)
आ. जो स्वयं क्लेश-रूप नहीं हैं किन्तु, अन्य क्लेशों से युक्त हैं—(संकिलिट्ठा चेव नो च किलेसा)
८१. अ. जो स्वयं क्लेश-रूप हैं और अन्य क्लेशों से संलग्न भी हैं—(किलेसा चेव किलेससम्पयुत्ता च)
आ. जो स्वयं क्लेश-रूप नहीं हैं, किन्तु अन्य क्लेशों से संलग्न हैं—(किलेससम्पयुत्ता चेव नो च किलेसा)
८२. अ. जो स्वयं क्लेश से अलग हैं, किन्तु क्लेशों को पैदा करने वाले हैं—(किलेसविप्पयुत्ता संकिलेसिका)
आ. जो स्वयं क्लेश से अलग हैं और क्लेशों को पैदा करने वाले भी नहीं हैं—(किलेकेविप्पयुत्ता असंकिलेसिका)
८३. अ. जो धम्म 'दर्शन' के द्वारा हटाये या नष्ट किये जा सकते हैं—(दस्सनेन पहातब्बा)
आ. जो धम्म 'दर्शन' के द्वारा नहीं हटाये या नष्ट किये जा सकते—(न दस्सनेन पहातब्बा)
८४. अ. जो धम्म 'भावना' के द्वारा हटाये या नष्ट किये जा सकते हैं—(भावनाय पहातब्बा)
आ. जो धम्म 'भावना' के द्वारा हटाये या नष्ट नहीं किये जा सकते—(न भावनाय पहातब्बा)
८५. अ. जिन धम्मों के हेतु 'दर्शन' के द्वारा नष्ट किये जा सकते हैं—(दस्सनेन पहातब्बहेतुका)
आ. जिन धम्मों के हेतु 'दर्शन' के द्वारा नष्ट नहीं किये जा सकते—(न दस्सनेन पहातब्बहेतुका)

८६. अ. जिन धम्मों के हेतु 'भावना' के द्वारा
नष्ट किये जा सकते हैं---(भावनाय पहातब्बहेतुका)

आ. जिन धम्मों के हेतु 'भावना' के द्वारा नष्ट
नहीं किये जा सकते---("न भावनाय पह.तब्बहेतुका)

८७. अ. जिन धम्मों के साथ 'वितर्क' संलग्न है---(सवितक्का)

आ. जिन धम्मों के साथ 'वितर्क' संलग्न नहीं है---(अवितक्का)

८८. अ. जिन धम्मों के साथ 'विचार' संलग्न है---(सविचारा)

आ. जिन धम्मों के साथ 'विचार' संलग्न नहीं है---(अविचारा)

८९. अ. जिन धम्मों के साथ 'प्रीति' संलग्न है---(सप्पीतिका)

आ. जिन धम्मों के साथ 'प्रीति' संलग्न नहीं है---(अप्पीतिका)

९०. अ. जो धम्म 'प्रीति' के सहचर हैं---(पतिसहगता)

आ. जो धम्म 'प्रीति' के सहचर नहीं हैं---(न-पीतिसहगता)

९१. अ. जो धम्म 'सुख' के सहचर हैं---(सुखसहगता)

आ. जो धम्म 'सुख' के सहचर नहीं हैं---(न-सुखसहगता)

९२. अ. जो धम्म 'उपेक्षा' के सहचर हैं---(उपेक्खासहचरा)

आ. जो धम्म 'उपेक्षा' के सहचर नहीं हैं---(न-उपेक्खासहचरा)

९३. अ. जिन धम्मों का सम्बन्ध कामनाओं के लोक (कामावचर) से है---
(कामावचरा)

आ. जिन धम्मों का सम्बन्ध कामनाओं के
लोक (कामावचर) से नहीं है---(न-कामावचरा)

९४. अ. जिन धम्मों का सम्बन्ध रूप-लोक
(रूपावचर) से है---(रूपावचरा)

आ. जिन धम्मों का सम्बन्ध रूप-लोक (रूपावचर) से नहीं है---
(न-रूपावचरा)

९५. अ. जिन धम्मों का सम्बन्ध अरूप-लोक से है---(अरूपावचरा)

आ. जिन धम्मों का सम्बन्ध अरूप-लोक से नहीं है---(न-अरूपावचरा)

९६. अ. जो धम्म आवागमन के चक्र में निहित हैं---(परियापन्ना)

आ. जो धम्म आवागमन के चक्र में निहित नहीं हैं---(अपरियापन्ना)

९७. अ. जो धम्म निर्वाण की प्राप्ति कराने वाले हैं---(निय्यानिका)

आ. जो धम्म निर्वाण की प्राप्ति कराने वाले नहीं हैं---(अनिय्यानिका)

९८. अ. जिन धम्मों के परिणाम सुनिश्चित हैं---(नियता)

आ. जिन धम्मों के परिणाम सुनिश्चित नहीं हैं---(अनियता)

९९. अ. जिनसे आगे बढ़कर भी कुछ धम्म हैं—(स-उत्तरा)

आ. जिनसे आगे बढ़कर और कोई धम्म नहीं है—(अनुत्तरा)

१००. अ. जो धम्म दुःखदायी पाप-कर्मों से युक्त हैं—(सरणा)

आ. जो धम्म दुःखदायी पाप-कर्मों से युक्त नहीं हैं—(अरणा)

उपर्युक्त १२२ वर्गीकरणों में धम्मों का विश्लेषण 'धम्मसंगणि' में किया गया है। वास्तव में इन वर्गीकरणों में भी प्रथम वर्गीकरण (कुशल,अकुशल, अव्याकृत) ही नैतिक दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण है। अतः धम्मसंगणि में मानसिक और भौतिक जगत् के सारे तत्त्वों को प्रधानतः इन्हीं तीन शीर्षकों में पहले विभक्त किया गया है। यहाँ पहले उपर्युक्त तत्त्वों का विश्लेषण कर जिज्ञासा की गई है कि इनमें से कौन से धम्म कुशल हैं, अकुशल हैं, या अव्याकृत हैं। शेष १२१ वर्गों में धम्मों के विश्लेषण को तो अन्त में प्रश्न और उत्तर के रूप में ही संक्षेप में समझा दिया गया है। अतः धम्मसंगणि का मुख्य विषय है धम्मों का कुशल, अकुशल और अव्याकृत के रूप में विश्लेषण। धम्मसंगणि की विषयवस्तु चार कांडों में विभाजित की गई है, (१) चित्तुप्पाद-कंड (२) रूप-कंड (३) निक्खेपकंड और (४) अत्थुद्धार-कंड। पहले दो कांडों में मानसिक और भौतिक जगत् की अवस्थाओं का कुशल, अकुशल, और अव्याकृत के रूप में विश्लेषण है। पहले कांड में कुशल, अकुशल और अंशतः अव्याकृत का विवेचन है और दूसरे कांड में अव्याकृत के अधूरे विवेचन को पूरा किया गया है। तीसरे और चौथे कांडों में इनका संक्षेप है और शेष १२१ वर्गों के स्वरूप को प्रश्नोत्तर के रूप में समझाया गया है। चूंकि धम्मों की गणना कुशल, अकुशल आदि वर्गों में करने के अतिरिक्त स्वयं उनके स्वरूप का भी विश्लेषण धम्मसंगणि में किया गया है, अतः इस दृष्टि से उसके चार कांडों को चित्त, चेतसिक और रूप (जिन तीन वर्गों में उसने धम्मों को उनके स्वरूप-भेद की दृष्टि से विभक्त किया है), इन तीन शीर्षकों में भी विभक्त किया जा सकता है। इस दृष्टि में से प्रथम कांड में चित्त, चेतसिक और उनके नाना उपविभागों का एवं दूसरे कांड में रूप (भौतिक-जगत् का समष्टि-गत रूप) का वर्णन है। तीसरे और चौथे कांडों में यहाँ भी संक्षेप ही हैं। धम्मसंगणि के इस द्विविध विभाग के कारण ही उसके विवेचन में इतनी दुरूहता आ गई है। पहले हम चित्त और उसकी सहगत अवस्थाओं (चेतसिक) के विश्लेषण और कुशल, अकुशल आदि के रूप में उसके विभाजन को, जो पहले कांड में किया गया है, लेते हैं। चित्त का अर्थ है चेतना। चेतना को बौद्ध दर्शन में बड़े व्यापक अर्थ में किया गया है? भगवान् ने स्वयं कहा

है "चेतनाह भिक्खवे कम्मं वदामि।" अर्थात् "भिक्षुओ! चेतना को ही मैं कर्म कहता हूँ।" इस बुद्ध-वचन से ही समझा जा सकता है कि अभिधम्म में चेतना का इतना सूक्ष्म विश्लेषण क्यों किया गया है। कर्म के शुभ, अशुभ स्वरूपों का चेतना से घनिष्ठ सम्बन्ध है, अतः उसका विश्लेषण प्रत्येक पूर्ण आचरण-दर्शन के लिए आवश्यक है। धम्मसंगणि के निर्देशानुसार चित्त की चार भूमियाँ हैं, जिन पर अग्रसर होता हुआ वह इस बहिर्जगत् की चंचलताओं से ऊपर उठकर निर्वाण की ओर अभिमुख होता है। इन चार भूमियों के नाम हैं, कामावचर-भूमि, रूपावचर-भूमि, अरूपावचर-भूमि और लोकोत्तर-भूमि। जिस जीवन और जगत् में हमारा सामान्य जीवन-प्रवाह चलता है, वह कामनाओं का लोक है। यहाँ जन्म से लेकर मृत्यु तक हम कामनाओं की पूर्ति में ही लगे रहते हैं। एक कामना दूसरी कामना को जन्म देती है और अन्त में अतृप्त कामनाओं के सम्बल को लेकर ही हम दूसरे जन्म में प्रवेश कर जाते हैं। चित्त की समता यहाँ नहीं मिलती। यहीं चित्त की कामावचर (कामनाओं में विचरण करने वाली) भूमि है। चित्त की दूसरी भूमि रूपावचर है। रूपावचर-भूमि से तात्पर्य है ध्यान-भूमि पर स्थित चित्त। रूपावचर शब्द ध्यान के अर्थ में पालि-साहित्य में रूढ़ हो गया है। चित्त की इस अवस्था में ध्यान का विषय या 'कर्मस्थान' रूपवान् पदार्थ या बाह्य जगत् का कोई दृश्य पदार्थ ही होता है, अतः इसे रूप-सम्बन्धी चित्त का ध्यान ही कहना चाहिए। चित्त की तीसरी अवस्था में बाह्य दृश्य-पदार्थ के चिन्तन से हटकर चित्त आन्तरिक और किसी रूप-रहित आलम्बन (कर्मस्थान) का चिन्तन करने लगता है, जैसे आकाश की अनन्तता, ज्ञान की अनन्तता, अकिंचनता की अनन्तता या अन्त में ऐसी सूक्ष्म अवस्था जिसमें चेतना के भी होने या न होने का निर्धारण न किया जा सके। यही चित्त की अरूपावचर-भूमि है, अर्थात् अरूप-सम्बन्धी चित्त का ध्यान। यहाँ रूप का सर्वथा अस्तंगमन हो जाता है। चित्त की चौथी अवस्था का नाम है लोकोत्तर-भूमि। यहाँ आते-आते योगी अनित्य, दुःख और अनात्म का चिन्तन करते-करते निर्वाण रूपी आलम्बन पर ध्यान करने लगता है, जिससे उसकी सारी इच्छाएँ नष्ट हो जाती हैं। एक-एक करके वह अपने सारे बन्धनों को नष्ट कर डालता है और उसका चित्त उस सर्वोत्तम भूमि में पहुँच जाता है, जो लोकोत्तर है। इस भूमि का सम्बन्ध चार आर्य-मार्गों और उनके फलों (स्रोत आपत्ति आदि) से है। यहाँ पहुँचकर फिर तृष्णा या अविद्या के फन्दे में पड़ना नहीं होता। चित्त फिर लोभ, द्वेष और मोह की ओर नहीं लौट सकता। इसीलिए यह

भूमि लोकोत्तर है। चित्त की इन चार भूमियों को समझ लेने के बाद हमें चित्त के कुशल, अकुशल और अव्याकृत स्वरूप को कुछ और अधिक समझ लेना चाहिए। फिर चित्त के भेदों को समझना हमारे लिए आसान हो जायगा। कुशल चित्त वह है जो लोभ, द्वेष, मोह आदि से रहित हो। अकुशल चित्त इनसे युक्त होता है; अव्याकृत चित्त वह है जो इच्छा से रहित होता है। या तो यह अत्यन्त स्वाभाविक रूप से पूर्वजन्म के कर्मों के परिणामस्वरूप प्राप्त होता है जिसमें इच्छा करने या न करने का कोई सवाल ही नहीं होता और इस जन्म के कर्मों से सम्बद्ध न होने के कारण जिसका स्वरूप भी अस्पष्ट और अव्याख्येय (अव्याकृत) होता है, या यह विगत-तृष्ण उस पूर्ण पुरुष (अर्हत्) की चित्तावस्था का सूचक होता है जिसके इस जन्म के कुशल कर्म भी वास्तव में हेतु या इच्छा से रहित होते हैं और जो आगे के लिए विपाक भी पैदा नहीं करते। इसलिए वे भी अव्याकृत या अव्याख्येय होते हैं। इस दृष्टि से अव्याकृत चित्त के दो भाग किये गये हैं, (१) विपारक-चित्त, जो पूर्वजन्म के कुशल और अकुशल दोनों प्रकार के चित्तों के परिणामस्वरूप हो सकते हैं और (२) क्रिया-चित्त, जो अर्हत् की चित्त-अवस्था के सूचक हैं और जिनमें अर्हत् के चित्त की क्रिया-मात्र ही रहती है, पर वास्तव में जो 'निष्क्रिय' होते हैं। पूर्णता प्राप्त ज्ञानी पुरुष (अर्हत्) का चित्त सक्रिय चेतनात्मक होते हुए भी वह कर्म-विपाक की दृष्टि से निष्क्रिय होता है। चूंकि अर्हत् के सभी कर्म ज्ञानाग्नि द्वारा दग्ध कर दिये गये होते हैं, अतः उसका चित्त 'क्रिया' भर करता है, उसका आगे के लिए कोई विपाक या परिणाम नहीं बनता। चित्त की उपर्युक्त चार भूमियों और उसके तीन स्वरूपों में उसकी उन ८९ अवस्थाओं का वर्गीकरण, जो धम्मसंगणि में किया गया है, बड़ी अच्छी प्रकार समझ में आ सकता है। चित्त की अवस्थाएँ कुल मिलाकर ८९ हैं, जिनमें भूमियों की दृष्टि से ५४ कामावचर-भूमि से सम्बन्धित हैं, १५ रूपावचर-भूमि से सम्बन्धित हैं, १२ अरूपावचर-भूमि से सम्बन्धित हैं और ८ लोकोत्तर-भूमि से सम्बन्धित हैं। कुशल-चित्त की दृष्टि से इन ८९ चित्त की अवस्थाओं में से २१ अवस्थाएँ कुशल-चित्त से सम्बन्धित हैं, १२ अवस्थाएँ अकुशल-चित्त से सम्बन्धित हैं। और ५६ अवस्थाएँ (३६ विपाक-चित्त + २० क्रिया-चित्त) अव्याकृत-चित्त से सम्बन्धित हैं। इनका भी अधिक विश्लेषण करें तो ५४ कामावचर-भूमि की चित्त-अवस्थाओं में से ८ कुशल-चित्त की अवस्थाएँ हैं, १२ अकुशल-चित्त की अवस्थाएँ हैं और ३४ (२३ विपाक-चित्त + ११ क्रिया-चित्त) अव्याकृत-चित्त की अवस्थाएँ हैं। १५ रूपावचर-चित्त की अवस्थाओं में से

५ कुशल-चित्त सम्बन्धी अवस्थाएँ हैं और १० (५ विपाक-चित्त + ५ क्रिया-चित्त) अव्याकृत-चित्त सम्बन्धी अवस्थाएँ हैं। रूपावचर-चित्त-भूमि में अकुशल-चित्त की अवस्थाएँ सम्भव नहीं होतीं। १२ अरूपावचर-भूमि की अवस्थाओं में ४ कुशल-चित्त की अवस्थाएँ हैं और ८ (४ विपाक-चित्त + ४ क्रिया-चित्त) अव्याकृत-चित्त की अवस्थाएँ हैं। ८ लोकोत्तर-भूमि की अवस्थाओं में से ४ कुशल-चित्त की अवस्थाएँ हैं और ४ अव्याकृत-चित्त (केवल विपाक-चित्त) की अवस्थाएँ हैं। अरूपावचर और लोकोत्तर भूमियों में भी अकुशल-चित्त का होना संभव नहीं। कुशल-चित्त की दृष्टि से भी इस प्रकार का विस्तृत विश्लेषण करें तो २१ कुशल-चित्तों में से ८ कामावचर-भूमि के हैं, ५ रूपावचर-भूमि के हैं, ४ अरूपावचर-भूमि के हैं और ४ ही लोकोत्तर-भूमि के हैं। १२ अकुशल-चित्तों में कुल कामावचार-भूमि के ही हैं, क्योंकि अन्य उच्च भूमियों पर अकुशल-चित्त का होना संभव ही नहीं। ५६ अव्याकृत-चित्त की अवस्थाओं में से ३४ (२३ विपाक-चित्त + ११ क्रिया-चित्त) कामावचर-भूमि की हैं, १० (५ + विपाक-चित्त + ५, क्रिया-चित्त) रूपावचर-भूमि की हैं, ८ (४ विपाक-चित्त + ४ क्रिया-चित्त) अरूपावचर-भूमि की हैं और ४ लोकोत्तर-भूमि (केवल विपाक-चित्त) की हैं। अभी यह गणना सुबोध नहीं जान पड़ेगी, किन्तु आगे के विवरण से साफ हो जायगी। धम्मसंगणि में चूँकि चित्त के उपर्युक्त ८९ प्रकारों का विश्लेषण उसके कुशल, अकुशल और अव्याकृत रूपों का मूलाधार लेकर ही किया गया है, अतः उसकी पद्धति का ही अनुसरण करते हुए हम इस विषय को स्पष्ट करेंगे। धम्मसंगणि में सर्वप्रथम जिज्ञासा की गई है—'कतमे धम्मा कुसला ?' अर्थात् कौन से धर्म कुशल हैं ?' इसका जो उत्तर दिया गया है, उसका निष्कर्ष इस प्रकार है—

१. कुसला धम्मा

(क) कामावचर-भूमि के ८ कुशल चित्त—कामनाओं के लोक में विचरण करता हुआ मनुष्य भी अपने चित्त को कुशल बना सकता है। इसके लिए यह आवश्यक है कि वह धीरे-धीरे अपने चित्त को लोभ, द्वेष और मोह से विमुक्त करे। इसके बिना उसका चित्त कुशल या सात्विक नहीं हो सकता। जब कोई साधक शुभ कर्म करता है, जिससे उसका चित्त सात्विक बनता है, तो कभी तो वह ऐसा अपने मन में ठानकर ज्ञानपूर्वक करता है, अर्थात् वह ऐसा विचारपूर्वक, सोचकर करता है कि ऐसा-ऐसा करने से भविष्य के जीवन में मेरे कर्मों का बिपाक कुशल बनेगा। इस प्रकार की

उसकी चित्त-अवस्था ज्ञान-संप्रयुक्त या ज्ञानयुक्त कहलाती है। उदाहरणतः, एक मनुष्य बुद्ध-वन्दना करता है और सोचता है कि ऐसा करने से उसका शुभ कर्म-विपाक बनेगा, तो उसका चित्त उस समय ज्ञान-संप्रयुक्त है। किन्तु यदि एक बालक इसी काम को दूसरे के अनुकरण पर करता है, तो उसके इस काम में इस ज्ञान की भावना नहीं है कि यह कर्म उसके लिए शुभ कर्म-विपाक का प्रसवकारी बनेगा। अतः उसका चित्त 'ज्ञान-विप्रयुक्त' या ज्ञान से रहित है। इसी प्रकार यदि कोई कर्म दूसरे की प्रेरणा पर और झिझकपूर्वक किया जाता है, तो वह 'सांस्कारिक' (ससंखारिक) है और यदि वह अपनी ही आन्तरिक प्रेरणा से और विना हिचकिचाहट के किया जाता है, तो वह असांस्कारिक (असंखारिक) है। इसी प्रकार कोई कर्म सौमनस्य की भावना से युक्त (सोमनस्स-सहगत) हो सकता है और कोई उपेक्षा की भावना से युक्त (उपेक्खा-सहगत)। इतना समझ लेने पर अब धम्मसंगणि में निर्दिष्ट निम्नलिखित आठ कामावचर-कुशल-चित्तों को देखिए--

यथा--

१.	सौमनस्य से युक्त,	ज्ञान-संप्रयुक्त,	असांस्कारिक
२	सौमनस्य से युक्त	ज्ञान-संप्रयुक्त,	ससांस्कारिक
३.	सौमनस्य से युक्त,	ज्ञान-विप्रयुक्त,	असांस्कारिक
४.	सौमनस्य से युक्त,	ज्ञान-विप्रयुक्त,	ससांस्कारिक
५	उपेक्षा से युक्त,	ज्ञान-संप्रयुक्त,	असांस्कारिक
६.	उपेक्षा से युक्त,	ज्ञान-संप्रयुक्त,	ससांस्कारिक
७.	उपेक्षा से युक्त,	ज्ञान-विप्रयुक्त,	असांस्कारिक
८.	उपेक्षा से युक्त,	ज्ञान-विप्रयुक्त,	ससांस्कारिक

(ख) रूपावचर-भूमि के ५ कुशल-चित्त--कामावचर-भूमि से आगे बढ़कर योगी पृथ्वीं, जल, तेज, आदि २६ रूपवान् पदार्थों को आलम्बन (कर्म-स्थान) मानकर ध्यान करता है। इसे ध्यान की पाँच क्रमिक अवस्थाएँ होती हैं, जिनका मनोवैज्ञानिक स्वरूप इस प्रकार है--

१.	वितर्क,	विचार,	प्रीति,	सुख,	एकाग्रता,	वाला	प्रथम ध्यान
२.		"	"	"	"		द्वितीय ध्यान
३.			"	"	"		तृतीय ध्यान
४.				"	"		चतुर्थ ध्यान
५.			उपेक्षा →	"	"		पंचम ध्यान
			(समचित्तत्व)				

(ग) अ - रूपावचर - भूमि के ४ कुशल - चित्त--रूपावचर-ध्यान से आगे बढ़कर योगी रूपवान् कर्मस्थानों को छोड़ देता है और रूप-रहित वस्तुओं का ध्यान करने लगता है, जिनकी चार क्रमिक अवस्थाएँ इस प्रकार हैं: (१) अनन्त आकाश का ध्यान, (२) अनन्त विज्ञान का ध्यान, (३) अनन्त आकिंचन्य (शून्यता) का ध्यान और (४) नैव-संज्ञा-नासंज्ञा (चित्त की वह सूक्ष्म अवस्था जिसमें न यह कहा जा सके कि संज्ञा है और न यह कहा जा सके कि संज्ञा नहीं है) का ध्यान। ध्यान की यही चार अवस्थाएँ अरूपावचर कहलाती हैं। अतः इन संबंधी चार कुशल-चित्तों के नाम हैं--

१. आकाशानन्त्यायतन कुशल-चित्त
२. विज्ञानानन्त्यायतन कुशल-चित्त
३. आकिञ्चन्नायायतन कुशल-चित्त
४. नैव-संज्ञा-नासंज्ञायतन कुशल-चित्त

(घ) लोकोत्तर-भूमि के चार कुशल-चित्त--अरूप-समाधि से उठकर योगी फिर अविद्या के प्रभाव में आ सकता है। इससे बचने के लिए उसे आगे ध्यान-साधना करनी होती है। वह धीरे-धीरे चित्त के बन्धनों को हटाता है और अनित्य, दुःख और अनात्म की भावना करता है। ऐसा करते-करते वह चित्त की लोकोत्तर अवस्था में प्रवेश कर जाता है, जिसकी निम्नलिखित अवस्थाएँ हैं--

१. स्रोतापत्ति-मार्ग-चित्त (जो निर्वाणगामी स्रोत में पड़ गया है)
२. सकृदागामि-मार्ग-चित्त (जिसे एक वार और जन्म लेना है)
३. अनागामि-मार्ग-चित्त (जिसे अब लौटना नहीं है--अर्थात् जो इसी जन्म में निर्वाण का साक्षात्कार कर लेगा)
४. अर्हत्-मार्ग-चित्त (जिसने निर्वाण का पूर्ण साक्षात्कार कर लिया है।)

२. अकुसला धम्मा

धम्मसंगणि की दूसरीं मुख्य जिज्ञासा है, 'कतमे धम्मा अकुसला ?' अर्थात् 'कौन से धम्म अकुशल हैं ?' इसका जो उत्तर दिया गया है, उसका निष्कर्ष यह है--

(क) लोभ-मूलक आठ अकुशल-चित्त----लोभ के कारण मनुष्य अशुभ कर्म करता है। कभी ऐसा करने में उसे चित्त की प्रसन्नता भी होती है और कभी मात्र उपेक्षा की भावना-सी भी रहती है। ये दोनों क्रियाएँ क्रमशः सौमनस्य से युक्त (सोमनस्ससहगत) और उपेक्षा-युक्त (उपेक्खासहगत) कह-

लाती हैं, जैसा हम कुशल-चित्त के विषय में भी देख चुके हैं। इसी प्रकार लोभमूलक कोई बुरा काम किसी मिथ्या-धारणा का सहारा लेकर किया जा सकता है, जैसे यह तो मेरा कर्त्तव्य ही है, आदि (यद्यपि भावना तो उसमें लोभ की ही रहती है), तो उस दशा में यह दृष्टिगत-युक्त (दिट्ठिगत-सम्पयुत) कहलायेगा। यदि इस प्रकार की मिथ्या-धारणा का सहारा नहीं लिया गया है, तो वह दृष्टिगत-विप्रयुक्त या मिथ्या-धारणा से विप्रयुक्त(दिट्ठि-गत-विप्पयुत्त) कहलायेगा। इसी प्रकार दूसरे की प्रेरणा से, झिझकपूर्वक किये हुए लोभ-मूलक दुष्कृत्य को 'ससांस्कारिक' (ससंखारिक) कहेंगे और बिना किसी दूसरे की प्रेरणा के और बिना झिझक के साथ किए हुए कर्म को 'असांस्कारिक' (असंखारिक) कहेंगे, जैसा हम कुशल-चित्त के विवेचन में भी पहले देख चुके हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि लोभ-मूलक अकुशल-चित्त कामनाओं के लोक (कामावचर-भूमि) में ही हो सकते हैं। इससे आगे उनकी पहुँच नहीं। आठ प्रकार के लोभ-मूलक अकुशल-चित्तों के स्वरूप का परिचय देखिए—

१. सौमनस्य के साथ, मिथ्या धारणा से युक्त, असांस्कारिक
२. सौमनस्य के साथ, मिथ्या धारणा से युक्त, ससांस्कारिक
३. सौमनस्य के साथ, मिथ्या धारणा से रहित, असांस्कारिक
४. सौमनस्य के साथ, मिथ्या धारणा से रहित, ससांस्कारिक
५. उपेक्षा के साथ, मिथ्या धारणा से युक्त, असांस्कारिक
६. उपेक्षा के साथ, मिथ्या धारणा से युक्त, ससांस्कारिक
७. उपेक्षा के साथ, मिथ्या धारणा से रहित, असांस्कारिक
८. उपेक्षा के साथ, मिथ्या धारणा से रहित, ससांस्कारिक

(ख) द्वेष-मूलक दो अकुशल-चित्त

१. दौर्मनस्य के साथ, द्वेष-युक्त, असांस्कारिक
२. दौर्मनस्य के साथ, द्वेष-युक्त, ससांस्कारिक

{ चित्त की द्वेषमयी अवस्था में सौमनस्य या उपेक्षा नहीं रह सकती। द्वेष की चंचलतापूर्ण अवस्था में धारणाओं का भी कोई विवरण नहीं होगा।

(ग) मोह-मूलक दो अकुशल-चित्त

१. (अज्ञानमय) उपेक्षा के साथ, सन्देह-युक्त
२. उपेक्षा के साथ, उद्धतता से युक्त

{ मन की मोह-युक्त अवस्था में असांस्कारिक या ससांस्कारिक होने का सवाल ही नहीं उठता।

३. अव्याकता (या अव्याकता) धम्मा

धम्मसंगणि की तीसरी मुख्य जिज्ञासा है। "कतमे धम्मा अव्याकता" अर्थात् कौन से धम्म अव्याकृत हैं ? इसके उत्तर का निष्कर्ष इस प्रकार है—

अ—विपाक-चित्त

(क) आठ कुशल विपाक-चित्त—अव्याकृत के दो भेद हैं, विपाक-चित्त और क्रिया-चित्त, यह हम पहले देख चुके हैं। विपाक-चित्त पूर्वजन्म के कर्मों के परिणामस्वरूप होते हैं। पूर्वजन्म के शुभ या अशुभ-कर्मों के परिणामस्वरूप उत्पन्न होने के कारण उनके कुशल-विपाक-चित्त और अकुशल-विपाक-चित्त ये दो स्वरूप होते हैं। आठ कुशल विपाक-चित्त, जो अनुकूल पदार्थों के साथ इन्द्रियों के सन्निकर्ष होने के कारण उत्पन्न होते हैं, ये हैं—

१. चक्षु-विज्ञान	उपेक्षा	(न-सुख, न-दुःख) से युक्त
२. श्रोत्र-विज्ञान		"
३. घ्राण-विज्ञान		"
४. जिह्वा-विज्ञान		"
५. काय-विज्ञान	सुख या सौमनस्य से युक्त	
६. मनोधातु	उपेक्षा से युक्त	
७. मनोविज्ञान-धातु	उपेक्षा से युक्त	
८. मनोविज्ञान-धातु	सुख या सौमनस्य से युक्त	

संख्या ६, ७, ८ के कुशल विपाक-चित्तों को क्रमश- 'सम्पटिच्छन्न' और 'सन्तीरण' (७, ८) ('अभिधम्मत्थ-संगह' में कहा गया है। सम्पटिच्छन्न (सम्प्रतिच्छन्न) का अर्थ है ग्रहणात्मक विज्ञान और 'सन्तीरण'(सन्तीर्ण) का अर्थ है अनुसन्धानात्मक विज्ञान। चक्षुरादि इन्द्रियों के साथ उनके विषयों का सन्निकर्ष होने पर चक्षु-विज्ञान आदि उत्पन्न हो जाते हैं। उसके बाद चित्त को किसी बाह्य पदार्थ की सत्ता की अनुभूति होती है और वह उसे ग्रहण करने के लिए उत्सुक होता है। यही चित्त की अवस्था 'सम्पटिच्छन्न' कहलाती है। जब उसे ग्रहण करने के लिए वह अनुसन्धान करने लगता है, तो यही अवस्था 'सन्तीरण' कहलाती है। इन सब व्यापारों में द्रष्टा को अपने आप की चेतना नहीं होती। ये सब व्यापार सुषुप्तचेतना या अर्द्धचेतना की अवस्था में होते हैं। अतः इन विज्ञानों का कोई हेतु नहीं होता। ये पूर्वजन्मों के शुभ और अशुभ कर्मों के परिणामस्वरूप ही उद्भूत होते हैं। इस आरम्भिक अवस्था में उनमें

सुख या दुःख की वेदना का भी सवाल नहीं उठता। वे उपेक्षा (न-सुख-न-दुःख) की वेदना से युक्त होते हैं। काय-विज्ञान अवश्य सुख या दुःख की वेदना से युक्त होता है।

(ख) आठ कामावचर विपाक-चित्त—पूर्वजन्म के कुशल-चित्तों के परिणाम-स्वरूप उत्पन्न होने वाले विपाक-चित्त भी उनके समान ही संख्या में आठ हैं, यथा—

१. सौमनस्य से युक्त, ज्ञान-सम्प्रयुक्त, असांस्कारिक
२. सौमनस्य से युक्त, ज्ञान-संप्रयुक्त, ससांस्कारिक
३. सौमनस्य से युक्त, ज्ञान-विप्रयुक्त, असांस्कारिक
४. सौमनस्य से युक्त, ज्ञान-विप्रयुक्त, ससांस्कारिक
५. उपेक्षा से युक्त, ज्ञान-संप्रयुक्त, असांस्कारिक
६. उपेक्षा से युक्त, ज्ञान-संप्रयुक्त, ससांस्कारिक
७. उपेक्षा से युक्त, ज्ञान-विप्रयुक्त, असांस्कारिक
८. उपेक्षा से युक्त, ज्ञान-विप्रयुक्त, ससांस्कारिक

(ग) सात अकुशल विपाक-चित्त—(पूर्वजन्म के अशुभ-कर्मों के परिणाम-स्वरूप उत्पन्न)

१. चक्षु-विज्ञान — उपेक्षा (न-दुःख-न-सुख) से युक्त
२. श्रोत्र-विज्ञान — ,,
३. घ्राण-विज्ञान — ,,
४. जिह्वा-विज्ञान — ,,
५. काय-विज्ञान — दुःख या दौर्मनस्य से युक्त
६. मनोधातु (सम्पटिच्छन्न) — उपेक्षा से युक्त
७ मनोविज्ञान-धातु (सन्तीरण) — ,,

(घ) पांच रूपावचर विपाक-चित्त—रूपावचार-भूमि के पाँच कुशल-चित्तों के परिणाम-(विपाक) स्वरूप ही दूसरे जन्म में पाँच विपाक-चित्त उत्पन्न होते हैं। अतः उनका स्वरूप भी पूर्वोक्त कुशल-चित्तों के अनुरूप ही है, यथा—

१. वितर्क, विचार, प्रीति सुख और एकाग्रता से युक्त प्रथम विपाक-चित्त
२. ,, ,, ,, ,, द्वितीय विपाक-चित्त
३. ,, ,, ,, तृतीय विपाक-चित्त
४. ,, ,, ,, चतुर्थ विपाक-चित्त
५. उपेक्षा ,, पंचम विपाक-चित्त

(ङ) **चार अरूपावचर विपाक-चित्त**--अरूपावचर-भूमि के चार कुशल-चित्तों के विपाक-स्वरूप उत्पन्न होने के कारण उनके समान ही हैं, यथा--

१. आकाशानन्त्यायतन विपाक-चित्त
२. विज्ञानानन्त्यायतन विपाक-चित्त
३. आकिंचन्यायतन विपाक-चित्त
४. नैवसंज्ञानासंज्ञायतन विपाक-चित्त

(च) **चार लोकोत्तर विपाक-चित्त**--लोकोत्तर-भूमि के चार मार्गचित्तों के परिणामस्वरूप दूसरे जन्म में चार फल-चित्त उत्पन्न होते हैं, जो इस प्रकार हैं--

१. स्रोत आपत्ति-फल-चित्त (स्रोत आपत्ति के फल को प्राप्त करने की चेतना)
२. सकृदागामि-फल-चित्त (सकृदागामि-फल को प्राप्त करने की चेतना)
३. अनागामि-फल-चित्त (इसी जन्म में निर्वाण के साक्षात्कार रूपी फल को प्राप्त करने की चेतना)
४. अर्हत्व-फल-चित्त (अर्हत्व-फल प्राप्ति की चेतना)

आ--क्रिया-चित्त

क. तीन अहेतुक क्रिया-चित्त--क्रिया-चित्त उसे कहते हैं जो न स्वयं पूर्व-जन्मों के कर्मों का विपाक होता है और न भविष्य के कर्मों का विपाक बनता है। उसमें 'क्रिया-मात्र' (करणमत्त) रहती है। वास्तव में तो वह 'निष्क्रिय' ही होता है। क्योंकि उसका कोई विपाक नहीं बनता। वह इतना स्वाभाविक होता है कि उसका कोई हेतु भी नहीं दिखाया जा सकता। उदाहरणतः पूर्णता-प्राप्त मनुष्य (अर्हत्) की हँसी। इसीलिए उसे अहेतुक भी कहते हैं। इसके तीन प्रकार हैं, जैसे--

१. मनोधातु--उपेक्षा से युक्त।
२. मनोविज्ञान-धातु--उपेक्षा से युक्त (सभी प्राणियों में पाया जाता है)
३. मनोविज्ञान-धातु--सुख या सौमनस्य से युक्त (केवल अर्हत्) में पाया जाता है)

'अभिधम्मत्थसंगह' में इन तीन क्रिया-चित्तों को क्रमशः पंचद्वारावज्जन चित्त (इन्द्रिय रूपी पाँच द्वारों की ओर प्रवण होने वाला, बाहरी पदार्थ से उनका सनिकर्ष होने पर), मनोद्वारावज्जन चित्त (मन के द्वार की ओर प्रवण होनेवाला) और हसितुप्पाद-चित्त (अर्हत् के हँसने की क्रिया वाला चित्त) कहा है। अर्हत् का हँसना नितान्त स्वाभाविक अर्थात् अहेतुक होता है। न वह स्वयं किसी का विपाक होता है और न उसका आगे कोई विपाक बनता है।

ख. कामावचर-भूमि के ८ क्रिया-चित्त—कामावचर-भूमि के ८ कुशल-चित्तों का उल्लेख पहले हो चुका है। साधारण अवस्था में उसका विपाक भी दूसरे जन्म में होता है, किन्तु अर्हत् की जीवन-क्रियाएँ तो किसी विपाक को पैदा करती नहीं। उनमें वासना या तृष्णा का सर्वथा अभाव रहता है। अतः ये क्रियाएँ जैसे दग्ध हो जाती हैं। अतः पूर्वोक्त ८ कुशल-चित्त ही अर्हत् की जीवन-दशा से सम्बन्धित होकर आठ क्रिया-चित्त बन जाते हैं, अर्थात् वे अपने विपाक बनने के स्वभाव को छोड़ देते हैं। उनका बाहरी स्वरूप तो यहाँ भी पहले जैसा ही है, यथा—

१. सौमनस्य से युक्त, ज्ञान-संप्रयुक्त, असांस्कारिक
२. सौमनस्य से युक्त, ज्ञान-संप्रयुक्त, ससांस्कारिक
३. सौमनस्य से युक्त, ज्ञान-विप्रयुक्त, असांस्कारिक
४. सौमनस्य से युक्त, ज्ञान-विप्रयुक्त, ससांस्कारिक
५. उपेक्षा से युक्त, ज्ञान-संप्रयुक्त, असांस्कारिक
६. उपेक्षा से युक्त ज्ञान-संप्रयुक्त, ससांस्कारिक
७. उपेक्षा से युक्त, ज्ञान-विप्रयुक्त, असांस्कारिक
८. उपेक्षा से युक्त, ज्ञान-विप्रयुक्त, ससांस्कारिक

ग. रूपावचर-भूमि के पाँच क्रिया-चित्त—ये चित्त भी पूर्वोक्त रूपावचर-भूमि के ५ कुशल-चित्तों और विपाक-चित्तों के समान हैं, अन्तर केवल इतना है कि क्रिया-चित्त होने की अवस्था में ये अर्हत् के चित्त की अवस्था के सूचक हैं, अतः भविष्य में विपाक पैदा नहीं करते। अर्हत् भी इन पाँच ध्यान की अवस्थाओं को प्राप्त करता है, किन्तु ये उसके लिए विपाक पैदा नहीं करतीं। इनका उल्लेख पहले दो बार हो चुका है, अतः यहाँ अनावश्यक है।

घ. अरूपावचर-भूमि के चार क्रिया-चित्त—ये चित्त भी पूर्वोक्त अरूपावचर-भूमि के ४ कुशल-चित्तों और विपाक-चित्तों के समान हैं। अन्तर भी यही है कि क्रिया-चित्त होने की अवस्था में ये अर्हत् के चित्त की अवस्था के सूचक हैं, अतः भविष्य में विपाक पैदा नहीं करते। अर्हत् अरूप-लोक की इन चार अवस्थाओं को प्राप्त करता है, किन्तु ये उसके लिए विपाक पैदा नहीं करतीं। इनका भी उल्लेख पहले दो बार हो चुका है, अतः यहाँ पुनरावृत्त करना निरर्थक है।

उपर्युक्त प्रकार से चित्त के ८९ प्रकारों का कुशल, अकुशल और अव्याकृत चित्तों के रूप में उनकी उपर्युक्त ४ भूमियों पर विश्लेषण 'धम्मसंगणि' में किया

गया है। अधिक सुगम बनाने के लिए इनका इस तालिका के द्वारा अध्ययन किया जा सकता है—

चित्त-विभेदों का कुशल, अकुशल आदि शीर्षकों में विश्लेषण करने के साथ-साथ 'धम्मसंगणि' में चित्त की उन अवस्थाओं (चेतसिक) का भी विश्लेषण किया गया है, जो किसी विशेष प्रकार के चित्त के साथ ही उत्पन्न और निरुद्ध होती रहती है और जिनके आलम्बन और इन्द्रिय भी उसके समान ही होते हैं। इन्हें 'चेतसिक' कहते हैं। 'चेतसिक' संख्या में कुल ५२ हैं, जिनमें १३ ऐसे हैं जो सामान्य ('अन्यसमान') हैं अर्थात् जो सभी प्रकार के चित्तों में पाये जाते हैं। इन १३ में भी ७ तो अनिवार्यतः सब चित्तों में पाये जाते हैं और ६ प्रकीर्ण हैं—अर्थात् वे कभी पाये जाते हैं, कभी नहीं। २५ चेतसिकों का एक वर्ग 'शोभन चेतसिक' कहलाता है, जिनमें १९ चेतसिक ऐसे हैं जो सभी कुशल-चित्तों में पाये जाते हैं और ६ ऐसे हैं जो सब में नहीं पाये जाते। १४ चेतसिक 'अकुशल' हैं, अर्थात् वे केवल अकुशल-चित्त में ही पाये जाते हैं। उनमें भी ४ मूलभूत अकुशल चेतसिक हैं, जो सभी अकुशल चित्तों में पाये जाते हैं। बाकी १० अकुशल चेतसिक ऐसे हैं जो सब अकुशल-चित्तों में नहीं पाये जाते। इनका वर्गीकरण इस प्रकार आसानी से समझा जा सकता है—

५२ चेतसिक या चित्त की सहगत अवस्थाएँ

१. १३ अन्य-समान (सभी चित्तों में सामान्यतः पाये जाने वाले) चेतसिक—

अ. ७ सर्व-चित्त-साधारण अर्थात् अनिवार्यतः सब चित्तों में पाये जानेवाले, जैसे कि—

१. स्पर्श (फस्सो)
२. वेदना (वेदना)
३. संज्ञा (सञ्ञा)
४. चेतना (चेतना)
५. एकाग्रता (एकग्गता)
६. जीवितेन्द्रिय (जीवितिन्द्रिय)
७. मनसिकार या मनस्कार (मनसिकारो)

आ. ६. प्रकीर्णक अर्थात् जो किसी चित्त में पाये जाते हैं, किसी में नहीं, जैसे—

८. वितर्क (वितक्को)
९. विचार (विचारो)
१०. अधिमोक्ष (निश्चय) (अधिमोक्खो)

११. वीर्य (विरियं)
१२. प्रीति (पीति)
१३. छन्द (इच्छा) (छन्दो)

२. २५ शोभन चेतसिक, जो सामान्यतः कुशल-चित्त और उनके अनुरूप अव्याकृत-चित्तों में पाये जाते हैं—

अ. १९. 'शोभन-चित्त-साधारण' अर्थात् सभी कुशल-चित्तों में पाई जाने वाली चित्त की अवस्थाएँ—

१४. श्रद्धा (सद्धा)
१५. स्मृति (सति)
१६. ह्री (हिरि—नैतिक लज्जा, पाप-संकोच)
१७. अवत्रपा या अपत्रप्य (ओत्तप्पं—पाप-भया)
१८. अलोभ (अलोभो)
१९. अद्वेष (अदोसो)
२०. तत्रमध्यस्थता (तत्रमज्झत्तता—समचित्तत्व)
२१. काय-प्रश्रब्धि (कायप्पस्सद्धि—काया की शान्ति)
२२. चित्त-प्रश्रब्धि (चित्तप्पस्सद्धि—चित्त की शान्ति)
२३. कायलघुता (कायलहुता—शरीर का हल्कापन)
२४. चित्त-लघुता (चित्तलहुता—चित्त का हल्कापन)
२५. कायमृदुता (कायमुदुता)
२६. चित्तमृदुता (चित्तमुदुता)
२७. कायकर्मज्ञता (कायकम्मञ्ञता)
२८. चित्तकर्मज्ञता (चित्तकम्मञ्ञता)
२९. कायप्रागुण्य (कायपागुञ्ञता)
३०. चित्तप्रागुण्य (चित्तपागुञ्ञता)
३१ काय-ऋजुता (कायुजुकता—काया की सरलता)
३२. चित्त-ऋजुता (चित्तुजुकता—चित्त की सरलता)

आ. ६. शोभन-चेतसिक जो किन्हीं कुशल-चित्तों में पाये जाते हैं, किन्हीं में नहीं, यथा—

३३. सम्यक् वाणी (सम्मावाचा-वाचिक दुश्चरितों से विरति
३४. सम्यक्कर्मान्त (सम्माकम्मन्तो-कायिक दुश्चरितों से विरति
३५. सम्यक् आजीव (सम्मा आजीवो-जीविका सम्बन्धी दुश्चरितों से विरति

} इन तीनों को विरति कहते हैं

३६. करुणा } इन दोनों को अ-परिमाण (परिमाण-रहित) कहते हैं,
३७. मुदिता } क्योंकि इन्हें किसी हद तक बढ़ाया जा सकता है।

३८. प्रज्ञा-इन्द्रिय (पञ्ञिन्द्रियं—अमोह)

३. १४ अकुशल चेतसिक जो सामान्यतः अकुशल-चित्तों में पाये जाते हैं, जिनमें

अ. ४ मूलभूत अकुशल चेतसिक जो सभी अकुशल-चित्तों में अनिवार्यतः पाये जाते हैं, यथा—

३९. मोह (मोहो)

४०. अ-ह्रीकता (अहिरिक-दुश्चरितों से लज्जा न करना)

४१. अन्-अवत्रपा (अनोत्तप्पं)—कुकर्मों से त्रास न मानना)

४२. उद्धतता (उद्धच्चं-चंचलता)

आ. १० अकुशल-चेतसिक, जो किन्हीं अकुशल-चित्तों में पाये जाते हैं, किन्हीं में नहीं, यथा—

४३. द्वेष (दोसो)

४४. ईर्ष्या (इस्सा:)

४५. मात्सर्य (मच्छरियं-कृपणता)

४६. कौकृत्य (कुक्कुच्चं-दुश्चरित के बाद सन्ताप या चिन्ता)

४७. लोभ (लोभो)

४८. मिथ्या धारणा (दिट्ठि-दृष्टि)

४९. मान (मानो-गर्व)

५०. आलस्य या अनुत्साह[1] (थीनं-स्त्यान)

५१. अकर्मण्यता[2] (मिद्धं, मृद्ध)

५२. विचिकित्सा (विचिकिच्छा-सन्देह)

चित्त के ८९ विभेदों में से प्रत्येक में कौन-कौन से चेतसिक उपस्थित रहते हैं, इसका विस्तृत विवेचन, अनेक पुनरुक्तियों के साथ, 'धम्मसंगणि' में किया गया है। उसकी शैली को समझने के लिए चेतसिकों की इस विस्तृत सूची को देखिये, जिसे 'धम्मसंगणि' ने कामावचर-भूमि के कुशल-चित्त के प्रथम भेद (देखिये, ऊपर चित्त-विभेद की तालिका) से ही सम्बन्धित किया है। प्रथम प्रकार के चित्त को लक्ष्य कर 'धम्मसंगणि' कहती है—"जिस समय कामावचर-लोक से सम्बन्धित कुशल चित्त उत्पन्न होता है, ज्ञान और सौमनस्य से

१-२. "तत्थ थीनं अनुस्साहलक्खणं.....सिद्धं अकम्मञ्ञतालक्खणं।" विसुद्धिमग्गो (चौदहवाँ परिच्छेद)।

सम्प्रयुक्त, रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श या धम्म के आलम्बन (विषय) को लेकर, तो उस समय[1]—

१. (१) फस्सो होति (२) वेदना होति (३) सञ्ञा होति (४) चेतना होति (५) चित्तं होति।

२. (६) वितक्को होति (७) विचारो होति (८) पीति होति (९) सुखं होति (१०) चित्तस्सेकग्गता (चित्त की एकाग्रता) होति।

३ (११) सद्धिन्द्रियं (श्रद्धा-इन्द्रिय) होति (१२) विरियिन्द्रियं (वीर्य-इन्द्रिय) होति (१३) सतिन्द्रियं (स्मृति-इन्द्रिय) होति (१४) समाधिन्द्रियं होति (१५) पञ्ञिन्द्रियं (प्रज्ञा-इन्द्रिय) होति (१६) मनिन्द्रियं (मन-इन्द्रिय) होति (१७) सोमनस्सिन्द्रियं (सौमनस्य-इन्द्रिय) होति (१८) जीवितिन्द्रियं होति।

४. (१९) सम्मादिट्ठि (सम्यक् दृष्टि) होति (२०) सम्मासंकप्पो (सम्यक् संकल्प) होति (२१) सम्मा वायामो (सम्यक् व्यायाम) होति (२२) सम्मासति (सम्यक् स्मृति) होति (२३) सम्मा समाधि (सम्यक् समाधि) होति।

५. (२४) सद्धा-वलं (श्रद्धारूपी बल) होति (२५) विरिय-बलं (वीर्य-रूपी बल) होति, (२६) सति-वलं (स्मृतिरूपी बल) होति (२७) समाधि-वलं होति (२८) पञ्ञा-वलं (प्रज्ञारूपी बल) होति (२९) हिरिबलं (नैतिक लज्जा (ह्री) रूपी बल) होति (३०) ओत्तप्पबलं

६. (पाप-भयरूपी वल) होति (३१) अलोभो होति (३२) अदोसो होति (३३) अमोहो होति (३४) अनभिज्झा (अलोभ) होति (३५) अब्यापादो (अ-द्रोह) होति (३६) सम्मादिट्ठि होति।

७. (३७) हिरि (ह्री-नैतिक लज्जा) होति (३८) ओत्तप्पं (पाप-भय) होति।

८ (३९) काय-पस्सद्धि (काय-प्रश्रब्धि-काया की शान्ति) होति।
(४०) चित्त-पस्सद्धि होति (४१) काय-लहुता होति (४२) चित्त-लहुता होति (४३) काय-मृदुता होति (४४) चित्त-मृदुता होति (४५) काय-कम्मञ्ञता (काया का कर्म-योग्य होना) होति। (४६) चित्त-कम्मञ्ञता

---

१. 'यस्मिं समये कामावचरं कुसलं चित्तं उत्पन्नं होति सोमनस्ससहगतं ञाणसम्पयुत्तं रूपारम्मणं वा सद्दारम्मणं वा गन्धारम्मणं वा रसारम्मणं वा फोट्ठब्बारम्मणं वा धम्मारम्मणं वा, तस्मिं समये.. ...।"

होति (४७) काय-पागुञ्ञता होति (४८) चित्त-पागुञ्जता होति (४९) कायुजुकता होति (५०) चित्तुजुकता होति ।

९. (५१) सति होति (५२) सम्पजञ्ञं होति ।

१०. (५३) समथो होति (५४) विपस्सना होति ।

११. (५५) पग्गहो (निश्चय) होति (५६) अविक्खेपो (चित्त-शान्ति का भंग न होना) होति ।

उपर्युक्त ५६ चित्त-अवस्थाओं में बहुत पुनरुक्ति की गई है । २, ९ और १७; ५ और १६; ६ और २०; १०, १४, २३, २७, ५३ और ५६; ११ और १४; १२; २१, २५ और ५५; १३, २२, २६ और ५१; १५, १९, २८, ३३, ३६, ५२ और ५४; २९ और ३७, ३१ और ३४ तथा ३२ और ३५ संख्याओं की अवस्थाएँ समान ही हैं । अतः समान अवस्थाओं को निकाल देने पर शेष ३१ रह जाती हैं। 'धम्मसंगणि' में इस प्रकार के विस्तार बहुत अधिक हैं और उनकी संगति केवल विभिन्न दृष्टियों से किये गये वर्गीकरणों के आधार पर ही लगाई जा सकती है । कुशल चित्त के प्रथम भेद के अलावा उसके शेष २० भेदों की सहगत-अवस्थाओं की भी गणना उसी के आधार पर की गई है । यही पद्धति बाद में कामावचर-भूमि के अकुशल-चित्त के १२ भेदों के विषय में तथा उसके बाद विपाक-चित्त की चारों भूमियों के ३६ भेदों के विपय में और अन्त में क्रिया-चित्त की तीन भूमियों (कामावचर, रूपावचर और अरूपावचर) के २० भेदों के विषय में प्रयुक्त की गई है । इन सबका विस्तृत विवरण अभिधम्म के पूरे दर्शन को समझने के लिए आवश्यक है, किन्तु पालि साहित्य के इतिहास में तो इनका अपेक्षाकृत गौण स्थान ही हो सकता है । अतः यहाँ केवल मोटी रूपरेखा उपस्थित कर 'धम्मसंगणि' में जिस शैली में उनका निरूपण किया गया है, उसका दिग्दर्शन मात्र करा दिया गया है ।[1] संक्षेप में चित्त और चेतसिकों के सम्बन्ध का स्वरूप इन नीचे दी हुई तालिका से समझ में आ सकता है—

---

१. चित्त और चेतसिकों के सम्बन्ध के विस्तृत और क्रमबद्ध निरूपण के लिए देखिए, भिक्षु जगदीश काश्यप—अभिधम्म फिलॉसफी, जिल्द, पहली, पृष्ठ ६८-११०, जिल्द दूसरी, ६८-८७; महास्थविर ज्ञानातिलोक (गाइड थ्रू दि अभिधम्म पिटक, पृष्ठ ६-१३) ने विशेषतः निरूपण-शैली की दृष्टि से ही विवरण दिया अतः यह पूर्ण क्रमबद्ध नहीं है, किन्तु उनकी दी हुई सूचियाँ और तालिकायें बड़ी महत्वपूर्ण हैं ।

अ. कुशल-चित्त

चित्तों की क्रमसंख्या		चेतासिकों की संख्या, जो उनके अन्दर पाये जाते हैं	
(पहले दी हुई तालिका के अनुसार)			
१ एवं २		१३ अन्य समान + २५ शोभन	=३८
३ एवं ४	उपर्युक्त	३८ में से ज्ञान को घटाकर	=३७
५ एवं ६	उपर्युक्त	३८ में से प्रीति को घटाकर	=३७
७ एवं ८	उपर्युक्त	३८ में से ज्ञान और प्रीति दोनों को घटाकर	=३६
९	उपर्युक्त	३८ में से ३ विरतियों (सम्यक् वाणी, सम्यक् कर्म, सम्यक् आजीव) को घटाकर	=३५
१०	उपर्युक्त	३५ में से वितर्क को घटाकर	=३४
११	उपर्युक्त	३४ में से विचार को घटाकर	=३३
१२	उपर्युक्त	३३ में से प्रीति को घटाकर	=३२
१३	उपर्युक्त	३२ में से करुणा को और मुदिता (दो अ-परिमाण) को घटाकर	=३०
१४-१७	उपर्युक्त	के समान ही	=३०
१८-२१		प्रथम ३८ में से करुणा और मुदिता को घटाकर	=३६

आ. अकुशल-चित्त

लोभमूलक	२२	१३ अन्य-समान + ४ मूलभूत अकुशल + लोभ + मिथ्या दृष्टि	=१९
लोभमूलक	२३	उपर्युक्त १९ + स्त्यान और मृद्ध (कायिक और मानसिक आलस्य)	=२१
लोभमूलक	२४	उपर्युक्त १९ + मान—मिथ्या-दृष्टि	=१९
लोभमूलक	२५	उपर्युक्त २१ + मान—मिथ्या-दृष्टि	=२१
लोभमूलक	२६	उपर्युक्त संख्या २२ के १९—प्रीति	=१८
लोभमूलक	२७	उपर्युक्त १९—प्रीति—मिथ्या दृष्टि + मान	=१८

लोभमूलक	२८	उपर्युक्त १६—प्रीति—मिथ्या-दृष्टि + मान	=१८
	२९	उपर्युक्त १६—प्रीति + स्त्यान + मृद्ध	=२०
द्वेषमूलक	३०	उपर्युक्त १६—प्रीति—लोभ—मिथ्या-दृष्टि + द्वेष + ईर्ष्या + मात्सर्य + कौकृत्य (चिन्ता)	=२०
	३१	उपर्युक्त २० + स्त्यान + मृद्ध	=२२
मोहमूलक	३२	१० अन्य-समान (प्रीति, अधिमोक्ष, छन्द, ये तीन कुलसंख्या में से छोड़ दी गई है) + मोह + अहिरिक + अनोत्तप्त उद्धच्च विचिकिच्छा	=१५
	३३	उपर्युक्त १५—विचिकिच्छा + अधिमोक्खो	=१५

इ. अव्याकृत-चित्त

(क) कर्म-विपाक

३४-३८ एवं ५०-५४ भी	७ सर्वचित्त-साधारण	=७
३९ एवं ५५ एवं ४१ और ५६ भी)	उपर्युक्त ७ + वितर्क + विचार + अधिमोक्ष	=१०
४०	१३ अन्य समान में से छन्द और प्रीति को घटाकर	=११
४२-४९	=१-८; किन्तु—करुणा—मुदिता—सम्यक्वाणी-सम्यक् कर्म—सम्यक् कर्म—सम्यक् आजीव को	
५७-६९	घटाकर ९-२१	

(ख) क्रिया-चित्त

७०	=३९	
७१-७२	१३ में से छन्द और प्रीति को घटाकर	=११
७३-८०	१-८, किन्तु सम्यक् वाणी, सम्यक् कर्म एवं सम्यक् आजीव को घटाकर	
८१-८९	=९-१७[1]	

---

१. देखिये, ज्ञानातिलोक : गाइड थ्रू दि अभिधम्म-पिटक, पृष्ठ १२ के सामने दी गई तालिका।

'धम्मसंगणि' के प्रथम अध्याय या कांड (चित्तुप्पादकंड) की विषयवस्तु और शैली का परिचय ऊपर दिया गया है। वास्तव में 'धम्मसंगणि' का यही भाग सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। दूसरा अध्याय 'रूप-कंड' एक प्रकार का उसी का पूरक है। प्रथम कांड में कुशल, अकुशल और अव्याकृत का वर्णन है। रूप भी अव्याकृत के अन्दर ही आता है। इसका वर्णन इस दूसरे कांड में किया गया है। रूप का अर्थ है चार महाभूत और उनसे निर्मित सारा वस्तुजगत्। 'धम्मसंगणि' में कहा गया है—'चत्तारो च महाभूता चतुन्नं च महाभूतानं उपादायरूपं, इदं वुच्चति सब्बं रूपं।' अर्थात् चार महाभूत और चार महाभूतों के उपादानों से उत्पन्न सारा दृश्य रूपात्मक जगत्—यही कहलाता है रूप। इस प्रकार निर्दिष्ट रूप का वर्गीकरण ही इस कांड का प्रधान विषय है। १०४ प्रकार के दुक, १०३ प्रकार के त्रिक, २२ प्रकार के चतुष्क और इसी प्रकार ग्यारह तक अन्य अनेक प्रकार के वर्गीकरण में दृश्य जगत् को यहाँ बाँटा गया है।[1] इन वर्गीकरणों में कुछ ऐसी प्रभावशीलता या मौलिकता नहीं है, जिसके लिए यहाँ उनका उद्धरण आवश्यक हो। शैली प्रायः वैसी ही है जैसी प्रथम कांड में।

जैसा पहले कहा जा चुका है, 'धम्मसंगणि' के तीसरे और चौथे कांडों में पूर्व विवेचित वस्तु के ही संक्षेप हैं और अधिकतर प्रश्नोत्तर के रूप में धम्मों के स्वरूप को उन वर्गीकरणों में भी, जिनको पहले नहीं लिया जा सका है, समझा दिया गया है। दूसरे कांड (निक्खेप कंड) और चौथे कांड (अत्थुद्धारकंड) में शेष २३ त्रिकों और १०० द्विकों में धम्मों का क्या स्वरूप होगा, इसी को प्रश्नोत्तर के द्वारा समझाया गया है। 'निक्खेपकंड' के कुछ प्रश्नोत्तर लीजिये—

(१) कतमे धम्मा सुखाय वेदनाय सम्पयुत्ता ?

यस्मिं समये कामावचरं कुसलचित्तं उप्पन्नं होति सोमनस्ससहगतं ञाणसम्पयुत्तं रूपारम्मणं वा सद्दारम्मणं वा गन्धारम्मणं वा रसारम्मणं वा फोट्ठब्बारम्मणं वा धम्मारम्मणं वा ये वा पन तस्मिं समये अञ्ञेपि पटिच्चसमुप्पन्ना अरूपिनो धम्मा ठपेत्वा वेदनाक्खन्धं, इमे धम्मा सुखाय वेदनाय सम्पयुत्ता[2]।

(२) कतमे धम्मा कुसला ?

---

१. देखिए, भिक्षु जगदीश काश्यप—अभिधम्म फिलॉसफी, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ९०-९४।

२. कौन से धर्म (पदार्थ) सुख की वेदना से युक्त है ? जिस समय कामावचर-भूमि में कुशल-चित्त उत्पन्न होता है, सामान्य और ज्ञान से युक्त एवं रूप, शब्द,

तीणि कुशलमूलानि-अलोभो, अदोसो, अमोहो, तंसम्पयुत्तो वेदनाक्खन्धो, सञ्ञाक्खन्धो, संखारक्खन्धो, विञ्ञाणक्खन्धो. तंसमुट्ठानं, कायकम्मं, वचीकम्मं, मनोकम्मं, इमे धम्मा कुसला।[1]

(३) कतमे धम्मा सप्पच्चया ?

पञ्चक्खन्धा, रूपक्खन्धो, वेदनाक्खन्धो, सञ्ञाक्खन्धो, संखारक्खन्धो, विञ्ञाणक्खन्धो, इमे धम्मा सप्पच्चया।[2]

(४) कतमे धम्मा अप्पच्चया ?

ससंखता धातु। इमे धम्मा अप्पच्चया।[3]

'अत्थुद्धार-कंड' के भी कुछ उदाहरण देखिये--

(१) कतमे धम्मा हेतू चेव सहेतुका च ?

यत्थ द्वे तयो हेतू एकतो उप्पज्जन्ति, इमे धम्मा हेतू चेव सहेतुका च।[4]

निःसन्देह 'धम्मसंगणि' की गणनात्मक शैली इतनी विचित्र है कि साहित्य का सामान्य विद्यार्थी उसमें रुचि नहीं ले सकता। उसमें तो 'कर्म' और 'अकर्म' के स्वरूप का गवेषी और उसके तत्त्वों को गूढ़ चेतना की तह और उसकी सारी भूमियों में ढूंढ़ने को उद्यत कोई साहित्यिक भिक्षु ही प्रवेश कर सकता है। क्या

गन्ध, रस, स्पर्श और धर्म का आलम्बन लेकर, तो उस समय वह और अन्य भी प्रतीत्यसमुत्पन्न अरूपवान् पदार्थ, वेदना-स्कन्ध को छोड़कर, जो उस समय पैदा होते हैं, वे सभी सुख की वेदना से युक्त धर्म (पदार्थ) है।

१. कौन से धर्म कुशल हैं? तीन कुशल-मूल, यथा--अलोभ, अद्वेष, अमोह, इनसे युक्त तीन स्कन्ध, यथा--वेदना-स्कन्ध, संज्ञा-स्कन्ध, संस्कार-स्कन्ध, इनसे उत्पन्न तीन प्रकार के कर्म, यथा--कायिक कर्म, वाचिक कर्म, मानसिक कर्म, यही सब धर्म कुशल है।

२. कौन से धर्म प्रत्ययों वाले हैं? पाँच स्कन्ध, जैसे कि रूप-स्कन्ध, वेदना-स्कन्ध, संज्ञा-स्कन्ध, संस्कार-स्कन्ध, विज्ञान-स्कन्ध, यही धर्म प्रत्ययों वाले हैं।

३. कौन से धर्म प्रत्ययों वाले नहीं हैं? असंस्कृत धातु। यही धर्म प्रत्ययों वाले नहीं हैं।

४. कौन से धर्म स्वयं हेतु भी हैं और अन्य हेतुओं से युक्त भी हैं? जहाँ दो-तीन हेतु एक जगह उत्पन्न होते हैं, तो यही धर्म स्वयं हेतु भी हैं और अन्य हेतुओं से युक्त भी है।

उपर्युक्त तथा अन्य पालि उद्धरणों के लिये देखिए, भिक्षु जगदीश काश्यप--अभिधम्म फिलॉसफी, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ९५-१०३।

कुशल है और क्या अकुशल है, इनमें से किसी को भी स्वीकार कर लेने पर चित्त की क्या प्रगतियाँ अथवा अधोगतियाँ होती हैं, उनके क्या मानसिक निदान और लक्षण होते हैं, क्या प्रतिकार होते हैं, उनमें से क्या देय हैं या क्या ग्राह्य हैं, इन सबकी निष्पक्ष और मनोवैज्ञानिक गवेषणा मनुष्य को किसी भावी नैतिक चेतना-प्रधान युग में जब अभिप्रेत होगी तो 'धम्मसंगणि' की पंक्तियों के आलबालों में फिर मणियों और मोतियों के थाले वनेंगे। अभी तो हमने जहाँ कहीं से चुने हुये कुछ पुष्पों से उसकी अर्चना की है, जो भी इस किं-कुशल-गवेषणा-विहीन युग में कहीं अधिक है।

विभंग[1]

विभंग अभिधम्म-पिटक का दूसरा ग्रन्थ है। 'विभंग का अर्थ है विस्तृत रूप से विभाजन या विवरण। इसी अर्थ में यह शब्द भद्देकरत्त-सुत्तन्त(मज्झिम-३।४।१) में प्रयुक्त किया गया है। "भिक्षुओ! तुम्हें भद्देकरत्त (भद्रैकरक्त) के उद्देश (नाम-कथन) और विभंग (विभाग) का उपदेश करता हूँ, उसे सुनो, अच्छी तरह मन में करो।" विभंग में धम्मसंगणि के ही बृहद विश्लेषण को वर्ग-बद्ध किया गया है; अतः यह उसका पूरक ग्रन्थ ही माना जा सकता है। धम्मसंगणि में, जैसा हम अभी देख चुके हैं, धम्मों का अनेक द्विकों और त्रिकों में विश्लेषण किया गया है और यही उसका प्रधान विषय है। किन्तु धम्मों के स्वरूप को स्पष्ट रूप से समझाने के लिए यहाँ इस प्रकार के भी प्रश्न किये गये हैं, जैसे किन-किन धम्मों में कौन-कौन से स्कन्ध, आयतन, धातु, इन्द्रिय आदि सन्निविष्ट हैं। इस प्रकार के प्रश्नों का उद्देश्य वहाँ स्कन्ध, आयतन और धातु आदि के संबंध के साथ धम्मों के स्वरूप को समझाना ही है, न कि स्वयं स्कन्ध, आयतन और धातु आदि के स्वरूप का विनिश्चय करना। यह दूसरा काम विभंग में किया गया है। धम्मसंगणि का प्रधान विषय धम्मों का विश्लेषण मात्र कर देना है, उनका स्कन्ध; आयतन और धातु आदि के रूप में संश्लिष्ट

---

१. श्रीमती रायस डेविड्स् ने इस ग्रन्थ का सम्पादन रोमन लिपि में पालि टैक्स्ट सोसायटी, लंदन के लिए किया है, जिसे उक्त सोसायटी ने सन् १९०४ ई० में प्रकाशित किया है। इस ग्रन्थ के बरमी, सिंहली और स्यामी संस्करण उपलब्ध हैं। सिंहली लिपि में साइमन हेवावितरणे-संस्करण अधिक ध्यान देने योग्य है। देवनागरी लिपि में श्री नालन्दा से भिक्षु जगदीश काश्यप द्वारा सम्पादित संस्करण सन् १९६० में निकल चुका है।

वर्गीकरण करना विभंग का विषय है। यद्यपि धम्मसंगणि ने धम्मों का विश्लेषण करने के बाद अपूर्ण ढंग से यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि उनमें कौन-कौन से स्कन्ध आयतन और धातु आदि संन्निविष्ट हैं, किन्तु विभंग ने यहीं से उसके सूत्र को पकड़कर उसके सारे गन्तव्य मार्ग को ही जैसे उल्टा मोड़ दिया है। विभंग में इन स्कन्ध, आयतन और धातु आदि को ही प्रस्थानबिन्दु मानकर यह दिखाया गया है कि स्वयं इनमें कौन-कौन से धम्म सन्निविष्ट हैं। अतः वस्तु पूरक होते हुए भी वस्तु का विन्यास यहाँ धम्मसंगणि के ठीक विपरीत है। यहाँ यह कह देना भी अप्रासंगिक न होगा कि धम्मसंगणि की १०० द्विकों और २२ त्रिकों वाली वर्गीकरण की प्रणाली को भी, जिसका निर्देश उसकी 'म ातिका' और निर्वाह सारे ग्रन्थ में हुआ है, विभंग ने आवश्यकतानुसार ज्यों-का-त्यों ले लिया है। अतः इस दृष्टि से भी वह उस पर अवलम्बित है। इन्हीं सब कारणों से विभंग का अध्ययन-क्रम बौद्ध परम्परा में सदा धम्मसंगणि के बाद ही माना जाता है।

विभंग की विषयवस्तु १८ विभागों या विभंगों में विभक्त की गई हैं, जिनमें से प्रत्येक अपने आप में पूर्ण है। विभंग के १८ विभागों या विभंगों के नाम इस प्रकार हैं।

(१) खन्ध-विभंग--(स्कन्ध-विभंग)
(२) आयतन-विभंग--(आयतन-विभंग)
(३) धातु-विभंग--(धातु-विभंग)
(४) सच्च-विभंग (सत्य-विभंग)
(५) इन्द्रिय-विभंग--(इन्द्रिय-विभंग)
(६) पच्चयाकार-विभंग--(प्रत्ययाकार-विभंग)
(६) सतिपट्ठान-विभंग--(स्मृतिप्रस्थान-विभंग)
(८) सम्मप्पधान-विभंग--(सम्यक्-प्रधान-विभंग)
(९) इद्धिपाद-विभंग--(ऋद्धिपाद-विभंग)
(१०) बोज्झंग-विभंग--(बोध्यंग-विभंग)
(११) मग्ग-विभंग--(मार्ग-विभंग)
(१२) झान-विभंग--(ध्यान-विभंग)
(१३) अप्पमञ्ञ-विभंग--(अ-परिमाण-विभंग)
(१४) सिक्खापद-विभंग--(शिक्षापद-विभंग)
(१५) पटिसम्भिदा-विभंग--(प्रतिसम्विद्-विभंग)
(१६) ञाण-विभंग--(ज्ञान-विभंग)

(१७) खुद्दक-वत्थु-विभंग--(क्षुद्रक-वस्तु-विभंग)
(१८) धम्म-हृदय-विभंग---(धर्म-हृदय-विभंग)

प्रत्येक विभंग का नाम उसकी विषयवस्तु के स्वरूप का सूचक है। प्रायः प्रत्येक ही विभंग तीन अंगों में विभक्त हैं, (१) सुत्तन्तभाजनिय, (२) अभिधम्म-भाजनिय, (३) पञ्ह-पुच्छकं। सुत्तन्त-भाजनिय में निरुक्त की जानेवाली विषयवस्तु का सुत्तन्त आधार दिखलाया गया है, अर्थात् जिस समय का वर्णन करना है वह किस सीमा तक या किस स्वरूप में सुत्त-पिटक में पाया जाता है, इसका निर्देश किया गया है। अभिधम्म-भाजनिय में उसकी अभिधम्म या उसके आधार-स्वरूप 'मातिका' के अनुसार व्याख्या है। 'पञ्ह-पुच्छकं' में 'द्विक', 'त्रिक' आदि शीर्षकों के रूप में प्रश्नोत्तर हैं, जिनमें सम्पूर्ण-निरूपित विषय का सिंहावलोकन एवं संक्षेप में है। अब हम प्रत्येक विभंग की विषयवस्तु का संक्षिप्त विवरण देंगे।

१. खन्ध-विभंग
(पाँच स्कन्धों का विवरण)

जिसे हम व्यक्तिगत सत्ता (जीवात्मा, पुद्गल) कहते हैं, वह रूप वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान की समष्टि के सिवा और कुछ नहीं है, ऐसी बौद्ध दर्शन की मान्यता है। रूप स्वयं सम्पूर्ण भौतिक विकारों और अवस्थाओं की समष्टि है। वेदना सम्पूर्ण संवेदनों की समष्टि है। संज्ञा सम्पूर्ण संजानन या जानने की क्रिया की, वस्तु और इन्द्रिय के संयोग से उत्पन्न चित्त की उस अवस्था की, जिसमें उसे वस्तु की सत्ता की सूचना मिलती है, दूसरे शब्दों में समग्र प्रत्यक्षों की समष्टि है। इसी प्रकार संस्कार बाह्य और आन्तरिक स्पर्शों (इन्द्रिय-विषय-सन्निकर्षों) के कारण से उत्पन्न समग्र मानसिक संस्करणों की और विज्ञान चक्षुरादि इन्द्रियों के, तत्संबंधी रूपादि विषयों या आलम्बनों-आयतनों के साथ संयुक्त होने पर उत्पन्न, चक्षुर्विज्ञान आदि विज्ञानों पर आधारित समग्र चित्त-भेदों की समष्टि है। रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान का ही सामूहिक नाम 'पंच-स्कन्ध' है। इन पाँचों स्कन्धों में ही सम्पूर्ण नाम-रूप-मय जगत् के मूल तत्त्व निहित हैं, ऐसा बौद्ध दर्शन मानता है। 'पञ्च-स्कन्ध' के विषय को उपन्यस्त करते हुए विभंग के आरम्भ में ही कहा गया है---पञ्चक्खन्धा---रूपक्खन्धो, वेदनाक्खन्धो, सञ्ञाक्खन्धो, संखारक्खन्धो, विञ्ञाणक्खन्धो। इन पञ्चस्कन्धों का सुत्तन्त आधार दिखाते हुए सुत्तन्तभाजनिय में उस बुद्ध-वचन को उद्धृत किया गया है, जिसमें इन पाँचों स्कन्धों में से प्रत्येक के विषय में यह साधारण कथन किया गया है

कि वह भूत, वर्तमान या भविष्य का भी हो सकता है, व्यक्ति के बाहर या भीतर का भी हो सकता है, स्थूल या सूक्ष्म भी हो सकता है, शुभ या अशुभ भी हो सकता है, दूर का या समीप का भी हो सकता है। रूप-विषयक उद्धरण यह है, "जो कुछ भी रूप है, भूत (अतीत) का, वर्तमान (प्रत्युत्पन्न) का, या भविष्यत् (अनागत) का, व्यक्ति के बाहर का (बहिद्धा) या भीतर (अज्झत्तं) का, स्थूल (ओळारिक), या सूक्ष्म (सुखुम), शुभ (कुशल) या अशुभ (अकुशल), दूर का (दूरे), या समीप का (सन्तिके), उस सब की समष्टि ही रूप-स्कन्ध है।" वेदनादि स्कन्धों के विषय में भी कुछ थोड़े-बहुत अन्तर से इसी क्रम का अनुसरण किया गया है। अभिधम्म-भाजनिय में पञ्च-स्कन्ध की व्याख्या है। रूप के विवेचन में २२ त्रिकों और १०० द्विकों को लेकर अक्षरशः वही प्रणाली बरती गई है जो धम्मसंगणि में। अतः उसमें कुछ नवीनता नहीं है। शेष चार स्कन्धों के विवरणों में भी यद्यपि विषय और शैली की दृष्टि से कुछ नवीनता नहीं है, किन्तु इनके अलग-अलग विवरण धम्मसंगणि की विषयवस्तु को अधिक स्पष्ट कर देते हैं। वदना के विषय में बताया गया है कि वह सदा स्पर्श (फस्सो—इन्द्रिय-विषय-सन्निकर्ष) पर अधारित है। वह लौकिक भी हो सकती है और अलौकिक भी, वितर्कादि से युक्त भी और उनसे रहित भी, सुख से युक्त भी, दुःख से युक्त भी न-सुख-न-दुःख से युक्त भी। कामावचर-भूमि या अरूपावचर-भूमि की भी हो सकती है, चक्षुसंस्पर्श से भी युक्त हो सकती है, श्रोत्र-संस्पर्श से भी, आदि, आदि। दो संख्या से लेकर दस संख्या तक के वर्गीकरणों में वेदना-स्कन्ध का विस्तृत विवरण इस प्रकार किया गया है—

वेदना-स्कन्ध

२. (१) सहेतुक (२) अहेतुक

३. (१) कुशल (२) अकुशल (३) अव्याकृत

४. (१) कामावचर (२) रूपावचर (३) अरूपावचर (४) अपरियापन्न (व्यक्तिगत जीवन-सत्ता से असम्बन्धित)

५. (१) सुखेन्द्रिय (२) दुःखेन्द्रिय (३) सौमनस्येन्द्रिय (४) दौर्मनस्येन्द्रिय (५) उपेक्षेन्द्रिय

६. (१) चक्षु-संस्पर्शजा (२) श्रोत्र-संस्पर्शजा (३) घ्राण-संस्पर्शजा (४) जिह्वा-संस्पर्शजा (५) काय-संस्पर्शजा (६) मनो-संस्पर्शजा

७. (१) चक्षु-संस्पर्शजा, (२) श्रोत्र-संस्पर्शजा (३) घ्राण-संस्पर्शजा

(४) जिह्वा-संस्पर्शजा, (५) काय-संस्पर्शजा (६) मनोधातु-संस्पर्शजा (७) मनोविज्ञानधातु-संस्पर्शजा

८. (१) चक्षु-संस्पर्शजा (२) श्रोत्र-संस्पर्शजा (३) घ्राण-संस्पर्शजा (४) जिह्वा-संस्पर्शजा (५) सुखा काय-संस्पर्शजा (६) दुःखा काय-संस्पर्शजा (७) मनोधातु-संस्पर्शजा (८) मनोविज्ञानधातु-संस्पर्शजा

९. (१) चक्षु-संस्पर्शजा (२) श्रोत-संस्पर्शजा (३) घ्राण-संस्पर्शजा (४) जिह्वा-संस्पर्शजा (५) काय-संस्पर्शजा (६) मनोधातु-संस्पर्शजा (७) कुशला मनोविज्ञानधातु-संस्पर्शजा (८) अकुशला मनोविज्ञानधातु-संस्पर्शजा (८) अव्याकृत मनोविज्ञानधातु-संस्पर्शजा

१०. (१) चक्षु-संस्पर्शजा (२) श्रोत-संस्पर्शजा (३) घ्राण-संस्पर्शजा (४) जिह्वा-संस्पर्शजा (५) काय-संस्पर्शजा (६) सुखा मनोधातु-संस्पर्शजा (७) दुःखा मनोविज्ञानधातु-संस्पर्शजा (८) कुशला मनोविज्ञानधातु-संस्पर्शजा (९) अकुशला-मनोविज्ञानधातु-संस्पर्शजा (१०) अव्याकृत-मनोविज्ञानधातु-संस्पर्शजा।

उपर्युक्त सूची में कई संख्याएँ अनेक बार संगृहीत हैं। अभिधम्म के परि-गणनों में यह बात नई नहीं है। गणनाओं के पीछे पड़ जाने की प्रवृत्ति का ही यह परिणाम है। संज्ञा, संस्कार और विज्ञान स्कन्धों का विवरण भी जहाँ-तहाँ अल्प परिवर्तनों के साथ वेदना-स्कन्ध के समान ही दिया गया है। पञ्ह-पुच्छकं विभाग में प्रश्न हैं, जैसे पञ्चानं खन्धानं कति कुसला ? कति अकु-सला ? कति अव्याकता ? अर्थात् पांच स्कन्धों में से कितने कुशल हैं ? कितने अकुशल ? कितने अव्याकृत ? इसी प्रकार कति सुखाय वेदनाय सम्पयुत्ता ? कति दुक्खाय वेदनाय सम्पयुत्ता ? कति अदुक्खमसुखाय वेदनाय सम्पयुत्ता ? अर्थात् कितने सुख की वेदना से युक्त हैं, कितने दुःख की वेदना से युक्त हैं, और कितने न-दुःख-न-सुख की वेदना से युक्त हैं ? इनके फिर उत्तर दिये गये हैं। उदाहरणतः ऊपर उद्धृत प्रथम त्रिक-प्रश्नावली का उत्तर दिया गया है—रूपक्खन्धो अव्याकतो। चत्तारो खन्धा सिया कुसला, सिया अकुसला, सिया अव्याकता, अर्थात् रूप-स्कन्ध अव्याकृत है। शेष चार स्कन्ध (वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान) कुशल भी हो सकते हैं, अकुशल भी और अव्याकृत भी। ऊपर उद्धृत द्वितीय त्रिक-प्रश्नावली का उत्तर इस प्रकार दिया गया है—द्वे खन्धा न वत्तब्बा सुखाय वेदनाय सम्पयुत्ता ति पि। दुक्खाय वेदनाय सम्पयुत्ता ति पि। तयो खन्धा सिय। सुखाय, दुक्खाय अदुक्खमसुखाय वेदनाय सम्प-युत्ता। इसका अर्थ यह है—दो स्कन्धों (रूप और वेदना) के विषय में न तो

ऐसा ही कहा जा सकता है कि वे सुख की वेदना से युक्त हैं और न यह कि वे दुःख की वेदना से युक्त हैं। शेष तीन स्कन्ध (संज्ञा, संस्कार, विज्ञान) सुख की वेदना से भी युक्त हो सकते हैं, दुःख की वेदना से भी और न-सुख-न-दुख की वेदना से भी। ये उदाहरण सिर्फ शैली का दिग्दर्शन मात्र कराने के लिए दिये गये हैं। अन्यथा इस प्रश्नोत्तरी में एक-एक करके वे सभी २२ त्रिक और १०० द्विक के वर्गीकरण सन्निहित हैं, जिनका उल्लेख पहले हो चुका है। उत्तरों की यह विशेषता है कि वे संक्षिप्त होने के साथ-साथ स्कन्धों का नाम ले-लेकर निर्देश नहीं करते, बल्कि केवल उनकी संख्या गिना देते हैं।

२. आयतन-विभंग

(१२ आयतनों या आधारों का विवरण)

सुत्तन्त-भाजनिय में १२ आयतनों का उल्लेख है, जैसे कि

१. चक्षु-आयतन	७. जिह्वा-आयतन
२. रूप-आयतन	८. रस-आयतन
३. श्रोत्र-आयतन	९. काय-आयतन
४. शब्द-आयतन	१०. स्पृष्टव्य-आयतन
५. घ्राण-आयतन	११. मन-आयतन
६. गन्ध-आयतन	१२. धर्म-आयतन

ये सब आयतन अनित्य, दुःख और अनात्म हैं, इतना ही कहकर सुत्तन्त-भाजनिय समाप्त हो जाता है। अभिधम्म-भाजनिय में उपर्युक्त १२ आयतनों के स्वरूप की व्याख्या की गई है। 'क्या है चक्षु-आयतन ? यह चक्षु जो चार महाभूतों से उत्पन्न, व्यक्तिगत सत्ता से अभिन्न रूप से सम्बन्धित, अनुभूति (पसाद) रूपी स्वभाव वाली, प्रत्यक्ष का अविषय (अनिदस्सं—क्योंकि प्रत्यक्ष तो केवल रंग, प्रकाश आदि के अनुभवों का होता है), किन्तु साथ ही इन्द्रिय-अनुभवों पर प्रतिक्रिया करने वाली (सप्पटिघ) है—यही अदृश्य चक्षु जिसकी इन्द्रिय-अनुभवों पर प्रतिक्रिया के कारण व्यक्ति अनुभव करता है कि उसने किसी दृश्य पदार्थ को देखा है, देखता है या देखेगा, यही कहलाता है चक्षु-आयतन।" इसी प्रकार श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा और काय-सम्बन्धी आयतनों की भी व्याख्या की गई है। चक्षु, श्रोत्र घ्राण, जिह्वा और काय-सम्बन्धी विज्ञानों, मनोधातु और मनोविज्ञानधातु के समष्टिगत स्वरूप को ही 'मन-आयतन' कहा गया है। चार महाभूतों से उत्पन्न सम्पूर्ण भौतिक व्यापार, जो

रंग आदि के रूप में दिखाई पड़ता है, 'रूपायतन' कहा गया है। बारह आयतनों में से पाँच इन्द्रिय-आयतनों (चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय) और पाँच विषय-आयतनों (रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पृष्टव्य), इन दस आयतनों को भौतिक कहा गया है और मन-आयतन को मानसिक। धर्म-आयतन भौतिक भी हो सकता है और मानसिक भी, अतीत का भी, वर्तमान का भी, और भविष्यत् का भी, वास्तविक भी, और काल्पनिक भी। 'पञ्हपुच्छकं' में स्कन्ध-विभंग के नमूने पर ही प्रश्न हैं, यथा (१) दादसायतनानं कति कुसला? कति अकुसला? कति अव्याकता? अर्थात् १२ आयतनों में से कितने कुशल हैं, कितने अकुशल, कितने अव्याकृत? (२) कति सुखाय वेदनाय सम्पयुत्ता? कति दुक्खाय वेदनाय सम्पयुत्ता? कति अदुक्खमसुखाय वेदनाय सम्पयुत्ता? अर्थात् कितने सुख की वेदना से युक्त हैं? कितने दुःख की वेदना से युक्त हैं? कितने न-दुःख-न-सुख की वेदना से युक्त हैं? आदि, आदि। इनके उत्तर भी क्रमशः देखिए, (१) दस आयतन (चक्षु, रूप, श्रोत्र, शब्द, घ्राण, गन्ध, जिह्वा, रस, काय, स्पृष्टव्य) अव्याकृत हैं। दो आयतन (मन और धर्म) कुशल भी हो सकते हैं, अकुशल भी और अव्याकृत भी—"सिया कुसला, सिया अकुसला, सिया अव्याकता।" (२) दस आयतनों के विषय में न तो निश्चयपूर्वक यहीं कहा जा सकता है कि वे सुख की वेदना से युक्त हैं न यह कि वे दुःख की वेदना से युक्त हैं और न यही कि वे न-सुख-न-दुःख की वेदना से युक्त हैं। मन-आयतन सुख की वेदना से युक्त भी हो सकता है, दुःख की वेदना से युक्त भी और न-सुख-न-दुःख की वेदना से युक्त भी। इसी प्रकार धर्म आयतन सुख की वेदना से भी युक्त हो सकता है, दुःख की वेदना से भी, न-सुख-न-दुःख की वेदना से भी। उसके विषय में निश्चयपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि वह सुख की वेदना से ही युक्त है, या दुःख की वेदना से ही, आदि।

३ धातु-विभंग

(१८ धातुओं का विवरण)

सुत्तन्त-भाजनिय में छह-छह के तीन वर्गीकरणों में १८ धातुओं का विवरण इस प्रकार दिया गया है—

(अ) पृथ्वी-धातु, जल-धातु, तेज-धातु, वायु-धातु, आकाश-धातु, विज्ञान-धातु।

(आ) सुख-धातु दुःख-धातु, सौमनस्य-धातु, दौर्मनस्य-धातु, उपेक्षा-धातु, अविद्या-धातु।

(इ) कामधातु, व्यापाद-धातु, विहिंसा-धातु, निष्कामता-धातु, अव्यापाद-धातु अ-विहिंसा धातु।

अभिधम्म-भाजनिय में १८ धातुओं की गणना दूसरे प्रकार से की गई है, जो इस प्रकार है—

१. चक्षु	७. घ्राण	१३. काय
२. रूप	८. गन्ध	१४. स्पृष्टव्य
३. चक्षु-विज्ञान	९. घ्राण-विज्ञान	१५. काय-विज्ञान
४. श्रोत्र	१०. जिह्वा	१६. मन
५. शब्द	११. रस	१७. धर्म
६. श्रोत्र-विज्ञान	१२. जिह्वा-विज्ञान	१८. मनोविज्ञान

इन अठारह धातुओं में चक्षु, रूप, श्रोत्र, शब्द, घ्राण, गन्ध, जिह्वा रस, काय और स्पृष्टव्य ये दस धातुएँ भौतिक हैं। अतः वे रूप-स्कन्ध में सम्मिलित हैं। चक्षु-विज्ञान, श्रोत्र-विज्ञान, घ्राण-विज्ञान, जिह्वा-विज्ञान, काय-विज्ञान, मन, और मनोविज्ञान, ये सात धातुएँ मानसिक हैं। धर्म-धातु अंशतः मानसिक और अंशतः भौतिक हैं। चक्षु और रूप के संयोग से उत्पन्न चित्त की अवस्था का नाम चक्षु-विज्ञान है। इसी प्रकार श्रोत्र-विज्ञान आदि के विषय में भी नियम हैं। मनो-धातु, चक्षु-विज्ञान आदि विज्ञानों के बाद, द्रष्टा और दृश्य के संयोग के ठीक अनन्तर उत्पन्न हुई चित्त की अवस्था का नाम है। मनो-विज्ञान-धातु मन और धर्मों के संयोग से उत्पन्न चित्त की उस अवस्था का नाम है, जो मनो-धातु के बाद उत्पन्न होती है। 'पञ्हपुच्छक' में फिर उसी क्रम से प्रश्न है, जैसे प्रथम दो विभागों में, यथा (१) १८ धातुओं में से कितनी कुशल हैं, कितनी अकुशल और कितनी अव्याकृत? (२) कितनी सुख की वेदना से युक्त हैं? कितनी दुःख की वेदना से युक्त हैं? कितनी न-सुख-न-दुःख की वेदना से युक्त? आदि, आदि। इनके उत्तर भी ध्यान देने योग्य हैं (१) १६ धातुएँ (धर्म और मनोविज्ञान को छोड़ कर शेष सब) अव्याकृत हैं? दो धातुएँ (धर्म और मनोविज्ञान) कुशल भी हो सकती हैं, अकुशल भी, और अकुशल भी, 'सिया कुसला, सिया अकुसला, सिया अव्याकता'। (२) दस धातुओं (चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय, रूप, गन्ध, रस, स्पृष्टव्य) के विषय में निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वे सुख की वेदना से युक्त हैं, या दुःख की वेदना से युक्त हैं, या न-सुख-न-दुःख की वेदना

से युक्त हैं। पाँच-धातुएँ (चक्षु-विज्ञान, श्रोत्र-विज्ञान, घ्राण-विज्ञान, काय-विज्ञान मन) न-सुख-न-दुःख की वेदना से युक्त हैं। काय-विज्ञान-धातु सुख की वेदना से भी युक्त हो सकती है और दुःख को वेदना से भी। मनोविज्ञान-धातु सुख, दुःख और न-सुख-न दुःख, इन तीनों वेदनाओं में से किसी से भी युक्त हो सकती हैं। इसी प्रकार धर्म-वस्तु भी इन तीनों वेदनाओं में से किसी से युक्त हो सकती और उसके विषय में यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि या तो वह सुख की वेदना से ही युक्त है, या दुःख की वेदना से या न-सुख-न-दुःख की वेदना से, आदि आदि।

४. सच्च-विभंग
(चार आर्य-सत्यों का विवरण)

पहले, सुत्तन्त-भाजनिय में सुत्तों (विशेषता दीघ-निकाय के महासति-पट्ठान-सुत्त एवं इस प्रकार के अन्य बुद्ध-वचनों) की भाषा में चार आर्य-सत्यों की प्रस्तावना करते हुए कहा गया है—चत्तारि अरिय सच्चानिः दुक्खं अरियसच्चं, दुक्ख-समुदयं (या दुक्ख-समुदयो) अरियसच्चं, दुक्खनिरोधं (या दुक्ख-निरोधो) अरियसच्चं, दुक्खनिरोधगामिनी पटिपदा अरियसच्चं, अर्थात् ये चार आर्य-सत्य हैं—दुःख आर्य-सत्य, दुःख-समुदय आर्य-सत्य, दुःख-निरोध आर्य-सत्य, दुःख-निरोध-गामी मार्ग आर्य-सत्य। अभिधम्म-भाजनिय में इनकी अभिधम्म के अनुसार व्याख्या है। तृष्णा और चित्त-मलों को दुःख-समुदय का प्रधान कारण माना गया है और इनके निरोध को दुःख-निरोध का भी प्रधान कारण। दुःख-निरोधी-गामी मार्ग की व्याख्या निर्वाण-सम्बन्धी ध्यान के रूप में की गयी है, जिसकी भूमियों का निरूपण 'धम्म-संगणि' में हो चुका है। 'पञ्हपुच्छक' में चार आर्य-सत्यों के विषय में उसी प्रकार के प्रश्न किये गये हैं, जैसे पूर्व के विभंगों में, यथा (१) चार आर्य-सत्यों में कितने कुशल हैं? कितने अकुशल? कितने अव्याकृत? (२) कितने सुख की वेदना से युक्त हैं, कितने दुःख की वेदना से युक्त, कितने न-सुख-न-दुःख की वेदना से युक्त? इनके उत्तर इस प्रकार हैं (१) समुदय-सत्य कुशल है। मार्ग-सत्य कुशल है। निरोध-सत्य अव्याकृत है। दुःख-सत्य कुशल भी हो सकता है अकुशल भी और अव्याकृत भी। (२) दो सत्य सुख की वेदना से भी युक्त हो सकते हैं और न-सुख-न-दुःख की वेदना से युक्त भी। निरोध-सत्य के विषय में निश्चय-पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वह तीनों प्रकार की वेदनाओं में से किससे युक्त है। दुःख-सत्य सुख की वेदना से भी युक्त हो सकता है, दुःख की वेदना

से भी और न-सुख-न-दुःख की वेदना से भी। उसके विषय में निश्चयपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि वह सुख की वेदना से युक्त है, या दुःख की वेदना से, या न-सुख-न-दुःख की वेदना से। दुःख-सत्य को सुख की वेदना से भी युक्त मानकर 'विभंग' ने उसको वह विस्तृत अर्थ दिया है, जिसकी स्मृति भगवान् बुद्ध के साथ-साथ महर्षि पतञ्जलि ने भी दिलाई है "परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः" (२।१५)।

५. इन्द्रिय-विभंग

(२२ इन्द्रियों का विवरण)

इस विभंग में २२ इन्द्रियों का सुत्तन्त के आधार पर विवरण है, जिनकी संख्या इस प्रकार है—

इन्द्रिय	वर्ग
१. चक्षु	छह इन्द्रिय
२. श्रोत्र	
३. घ्राण	
४. जिह्वा	
५. काय	
६. मन	
७. स्त्रीत्व	
८. पुरुषत्व	
९. जीवित-इन्द्रिय	
१०. सुख (शारीरिक)	पाँच प्रकार की वेदनाएँ
११. दुःख (शारीरिक)	
१२. चित्त की प्रसन्नता (सौमनस्य)	
१३. चित्त की खिन्नता (दौर्मनस्य)	
१४. उपेक्षा,	
१५. श्रद्धा	पाँच नैतिक इन्द्रियाँ
१६. वीर्य	
१७. स्मृति	
१८. समाधि	
१९. प्रज्ञा	
२०. "मैं अज्ञात को जानूंगा" यह संकल्प (अनञ्ञतं अस्सामीतिन्द्रिय)	तीन लोकोत्तर इन्द्रिय
२१. परिपूर्ण ज्ञान (अञ्ञ)	
२२. "जिसने ज्ञान प्राप्त कर लिया" तत्सम्बन्धी इन्द्रिय (अञ्ञताविन्द्रिय)	

उपर्युक्त २२ इन्द्रियों की व्याख्या और अन्त में (पञ्हपुच्छकं) प्रश्नोत्तरों के रूप में उनका कुशल, अकुशल और अव्याकृत आदि के रूप में विभाजन, इतना ही इस विभंग का विषय है।

६. पच्चयाकार-विभंग
(प्रतीत्यसमुत्पाद का विवरण)

इस विभंग में प्रतीत्यसमुत्पाद का वर्णन है। सुत्तन्त-भाजनिय में पहले सुत्तन्त का यह उद्धरण है, "अविद्या के प्रत्यय से संस्कार (चेतना) की उत्पत्ति, संस्कार (चेतना) के प्रत्यय से विज्ञान की उत्पत्ति, विज्ञान के प्रत्यय से नाम और रूप की उत्पत्ति, नाम और रूप के प्रत्यय से छह आयतनों की उत्पत्ति, छह आयतनों के प्रत्यय से स्पर्श की उत्पत्ति, स्पर्श के प्रत्यय से वेदना की उत्पत्ति, वेदना के प्रत्यय से तृष्णा की उत्पत्ति, तृष्णा के प्रत्यय से उपादान की उत्पत्ति, उपादान के प्रत्यय से भव की उत्पत्ति, भव के प्रत्यय से जन्म की उत्पत्ति, जन्म के प्रत्यय से जरा-मरण, दुःख, शोक आदि की उत्पत्ति।" प्रतीत्यसमुत्पाद में प्रयुक्त १२ निदानों की व्याख्या यहाँ निदान-संयुत्त के समान ही की गई है। अभिधम्म-भाजनिय में उन २४ प्रत्ययों का उल्लेख है, जिनके आधार पर भौतिक और मानसिक जगत् में उत्पत्ति और निरोध का व्यापार चलता है। इन प्रत्ययों का विस्तृत विवेचन आगे चल कर पूरे ग्रन्थ 'पट्ठान-पकरण' में किया गया है। इस विभंग के अन्त में प्रश्नोत्तर रूप में प्रतीत्यसमुत्पाद के विभिन्न अंगों में कौन कुशल, अकुशल आदि हैं, इसका विवेचन पूर्ववत् ही किया गया है।

७. सतिपट्ठान-विभंग
(चार स्मृति-प्रस्थानों का विवरण)

काया में कायानुपश्यी होना, वेदना में वेदनानुपयी होना, चित्त में चित्तानुपश्यी होना और धर्मों में धर्मानुपश्यी होना, यही चार स्मृति-प्रस्थान हैं, जिनका विस्तृत उपदेश सतिपट्ठान-सुत्त (मज्झिम, १।१।१०) में दिया गया है। इस विभंग के सुत्तन्त-भाजनिय में इसी का संक्षेप कर दिया गया है। अभिधम्म-भाजनिय में यह दिखाया गया है कि इनकी भावना लोकोत्तर ध्यान में किस प्रकार होती है। 'पञ्ह-पुच्छक' में इनका विभाजन कुशल, अकुशल आदि के रूप में किया गया है। इनमें अकुशल कोई नहीं है। चारों स्मृति-प्रस्थान या तो कुशल होते हैं या अव्याकृत। अर्हत् की चित्त-अवस्था में आगे के

लिये कर्म-विपाक नहीं बनते । अतः उस हालत में वे बौद्ध पारिभाषिक शब्दों में 'किरिया' (क्रिया-मात्र) होते हैं ।

८. सम्मप्पधान-विभंग

(चार सम्यक् प्रधानों (प्रयासों) का विवरण)

(१) अकुशल अवस्थाओं को हटाना, (२) उन्हें पुनः उत्पन्न न होने देना, (३) कुशल अवस्थाओं को उत्पन्न करना और (४) उत्पन्न कुशल अवस्थाओं को बनाये रखना, यही चार सम्यक् प्रधान हैं । सुत्तों के आधार पर इनका वर्णन किया गया है और अभिधम्म-भाजनिय में केवल यह अधिक दिखला दिया गया है कि लोकोत्तर-ध्यान की अवस्था में ये किस प्रकार विद्यमान रहते हैं ।

९. इद्धिपाद-विभंग

(४ ऋद्धिपादों का विवरण)

चार ऋद्धिपाद हैं, दृढ़ संकल्प की एकाग्रता (छन्द-समाधि), वीर्य की एकाग्रता (विरिय-समाधि), चित्त की एकाग्रता (चित्त-समाधि) और गवेषणा या मीमांसा की एकाग्रता (वीमंसा-समाधि) । यहाँ यह भी दिखाया गया है कि चार ऋद्धिपादों का चार सम्यक्-प्रधानों से क्या पारस्परिक सम्बन्ध है ।

१० बोज्झङ्ग-विभंग

(बोधि के सात अंगों का विवरण)

बोधि के सात अंग हैं, स्मृति (सति), धर्म की गवेषणा (धम्म-विचया) वीर्य (विरिय), प्रीति (पीति), चित्त-शान्ति या प्रश्रब्धि (पस्सद्धि), समाधि और उपेक्षा (उपेक्खा) । मज्झिम-निकाय के आनापान-सति-सुत्त के समान ही इनका यहाँ निर्देश है । अभिधम्म-भाजनिय में अवश्य इन विभिन्न अंगों की अभिधम्म की शब्दावली में व्याख्या की गई है और बाद में कुशल आदि के रूप में उनका विभाजन किया गया है ।

११. मग्ग-विभंग

(आर्य अष्टांगिक मार्ग का विवरण)

आर्य अष्टांगिक मार्ग का विवरण यहाँ सुत्तों के अनुसार ही है । सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाणी, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीविका, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि का निर्देश करने के बाद

प्रत्येक की व्याख्या की गई है और फिर अन्त में प्रश्नोत्तर के रूप में उन्हें कुशलादि के वर्गीकरणों में बाँटा गया है ।

१२. झान-विभंग
(चार ध्यानों का विवरण)

सर्वप्रथम, सुत्तन्त-भाजनिय में चूलहत्थिपदोपम-सुत्त (मज्झिम० १।३।७) के उस बुद्ध-वचन को उद्धृत किया गया है, जिसमें चार ध्यानों का विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है। अधिक महत्त्वपूर्ण होने के कारण हम उसे यहाँ उद्धृत करेंगे। "भिक्षुओ! भिक्षु इस आर्य-सदाचार से युक्त हो, इस आर्य इन्द्रिय-संयम से युक्त हो, स्मृति और ज्ञान से युक्त हो, किसी एकान्त-स्थान में रहता है जैसे कि अरण्य, वृक्ष की छाया, पर्वत, कन्दरा, गुफा, श्मशान, जंगल, खुले आकाश के नीचे या पुआल के ढेर पर। वह पिंडपात से लौट भोजन कर चुकने के बाद आसन मार शरीर को सीधा रख स्मृति को सामने कर बैठता है...वह चित्त के उपक्लेश, प्रज्ञा को दुर्बल करने वाले, पाँच नीवरणों (आवरणों) को छोड़, काम-वितर्क से रहित हो, बुरे विचारों से रहित होकर, प्रथम ध्यान को प्राप्त कर विहरता है। इस ध्यान में वितर्क और विचार रहते हैं। एकान्त-वास से यह ध्यान उत्पन्न होता है। इसमें प्रीति और सुख भी रहते हैं...फिर भिक्षुओं! भिक्षु वितर्क और विचारों के उपशमन से अन्दर की प्रसन्नता और एकाग्रता रूपी द्वितीय ध्यान को प्राप्त करता है। इसमें न वितर्क होते हैं, न विचार। यह समाधि से उत्पन्न होता है। इसमें प्रीति और सुख रहते हैं!...फिर भिक्षुओ! भिक्षु प्रीति से भी विरक्त हो, उपेक्षावान् होकर विहरता है। वह स्मृतिमान्, ज्ञानवान् होता है और शरीर से सुख का अनुभव करता है। वह तृतीय ध्यान को प्राप्त करता है जिसे पंडित जन 'उपेक्षावान्' स्मृतिमान् सुखपूर्वक विहार करने वाला' कहते हैं। फिर भिक्षुओ! भिक्षु दुःख और सुख दोनों के प्रहाण से, सौमनस्य और दौर्मनस्य दोनों के पहले से ही अस्त हुए रहने से, चतुर्थ ध्यान को प्राप्त करता है। इसमें न दुःख होता है न सुख। केवल उपेक्षा तथा स्मृति की परिशुद्धि यहाँ होती है।" इसी बुद्ध-वचन के आधार पर अभिधम्म-भाजनिय में यह दिखलाया गया है कि प्रथम ध्यान के पाँच अवयव होते हैं, यथा, वितर्क, विचार, प्रीति, सुख और समाधि। द्वितीय ध्यान के तीन, यथा प्रीति, सुख और समाधि। तृतीय ध्यान में केवल दो रह जाते हैं, सुख और समाधि और चौथे में भी केवल दो, उपेक्षा और समाधि। 'पञ्ह-पुच्छकं' में यही

दिखलाया गया है कि ध्यान कुशल भी हो सकते हैं और अव्याकृत भी। चार स्मृति-प्रस्थानों की तरह ये भी अर्हत् के चित्त के लिये भविष्य में कर्म-विपाक बनाने वाले नहीं होते। दूसरे शब्दों में, वे उसके लिये 'किरिया-चित्त' होते हैं।

१३. अप्पमञ्ञ-विभंग

(चार अ-परिमाण अवस्थाओं का विवेचन)

मैत्री (मेत्ता), करुणा, मुदिता और उपेक्षा, इनको अपरिमाण वाली अवस्थाएँ कहा गया है। इसका कारण यह है कि उन्हें कहाँ तक बढ़ाया जा सकता है, इसकी कोई सीमा नहीं। इन्हीं को 'ब्रह्म-विहार' भी कहते हैं। पतंजलि की भाषा में इन्हें 'सार्वभौम महाव्रत' भी कहा जा सकता है। पातंजल योग-दर्शन (१।३३) में इन चार अवस्थाओं के विकास का उपदेश दिया गया है। इस विभंग में इन अवस्थाओं का विवरण और चार ध्यानों के साथ उनका सम्बन्ध दिखलाया गया है।

१४. सिक्खापद-विभंग

(पाँच शिक्षापदों का विवरण)

हिंसा, चोरी, व्यभिचार, असत्य और मद्यपान, इनसे विरत रहना ही सदाचार के पाँच सार्वजनीन नियम है, जिनका यहाँ विवरण और विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

१५ पटिसम्भिदा-विभंग

(चार प्रतिसंविदों का विवरण)

चार प्रतिसंविदों या विश्लेषणात्मक ज्ञानों का इस विभंग में वर्णन किया गया है, यथा (१) अर्थ-सम्बन्धी ज्ञान (अत्थ-पटिसम्भिदा) (२) धर्म-सम्बन्धी ज्ञान (धम्म-पटिसम्भिदा) (३) शब्द-व्याख्या-सम्बन्धी ज्ञान (निरुत्ति-पटिसम्भिदा) और (४) ज्ञान-दर्शन-सम्बन्धी ज्ञान (पटिभान-पटिसम्भिदा)

१७. ञाण-विभंग

(नाना प्रकार के ज्ञानों का विवरण)

इस विभंग में नाना प्रकार के ज्ञानों का विवरण है, यथा लौकिक ज्ञान, अलौकिक ज्ञान, आदि, आदि। इस विभंग का तीन प्रकार का ज्ञान-विवरण विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है, प्रज्ञा की यहाँ तीन क्रमिक अवस्थाएँ बत-

लायी गयी हैं, यथा श्रुतमयी प्रज्ञा (सुतमया पञ्ञा), चिन्तामयी प्रज्ञा (चिन्तामया पञ्ञा) और भावनामयी प्रज्ञा (भावनामया पञ्ञा)। शास्त्रादि ग्रन्थों के श्रवण या पठनादि से उत्पन्न ज्ञान 'श्रुतमयी प्रज्ञा' है। वह सुना हुआ है, स्वयं का अनुभव या चिन्तन उसमें नहीं है। इसके बाद चिन्तामयी प्रज्ञा है, जिसमें अपनी बुद्धि का चिन्तन सम्मिलित है। किन्तु इससे भी ऊँचा एक ज्ञान है, जिसका नाम है 'भावना-मयी' प्रज्ञा। यह प्रज्ञा न केवल शास्त्रीय या बौद्धिक आधारों पर प्रतिष्ठित है, बल्कि इसमें सम्पूर्ण सदाचार-समूह के पालन से उत्पन्न चित्त की उस समाधि की गम्भीरता भी सन्निहित है, जो कुशल चित्त से ही प्राप्त की जा सकती है। यह तीन प्रकार का ज्ञान-वर्गीकरण निश्चय ही बड़ा मार्मिक है।

१७. खुद्दक-वत्थु-विभंग
(छोटी-मोटी बातों का विवरण)

इस विभंग में आस्रवों (चित्तमलों) आदि के अनेक प्रकारों का वर्णन किया गया है।

१८. धम्म-हृदय-विभंग
(धर्म के हृदय का विवरण)

अब तक के विभंगों में जो कुछ वर्णन किया जा चुका हैं, उसी का प्रश्नोत्तर के रूप में यहाँ सिंहावलोकन है। चूंकि इसमें धर्म के सब तत्त्व अपने आप आ गये हैं, इसलिये इसे 'धर्म का हृदय' कहा गया है। कुछ प्रश्नों की बानगी देखिये---कितने धर्म काम-धातु में प्राप्त होते हैं? कितने रूप-धातु में? कितने अरूप-धातु में? कितने कामावचर हैं? कितने रूपावचर? कितने अरूपावचर? कितने छोड़ने योग्य? कितने भावना करने योग्य? आदि, आदि। गीतोक्त भगवान् की विभूतियों की तरह इनका कहीं अन्त ही नहीं दिखाई पड़ता। इसीलिये इनका संक्षेप देने का भी यहाँ प्रयत्न नहीं किया गया।

धातुकथा[1]

विभंग के १८ विभंगों में से स्कन्ध, आयतन और धातु, इन प्रथम तीन विभंगों को चुनकर उनका विशेष अध्ययन धातुकथा में किया गया है। स्कन्ध, आयतन

---

१. ई० आर० गुणरत्न द्वारा अट्ठकथा-सहित पालि टैक्सट् सोसायटी के लिए सम्पादित। उक्त सोसायटी द्वारा सन् १८९२ में रोमन लिपि में प्रकाशित। इस

और धातु, यही धातुकथा के विषय हैं। अतः उसका पूरा नाम ही, जैसा महा-स्थविर ज्ञानातिलोक ने कहा है, 'खन्ध-आयतन-धातु-कथा' होना चाहिये। धातुकथा के विषय-प्रतिपादन की एक विशेष शैली यह है कि यहाँ स्कन्ध, आयतन और धातुओं का सम्बन्ध धर्मों के साथ दिखलाया गया है। इन धर्मों की संख्या उसकी 'मातिका' के अनुसार ११४ है, जो इस प्रकार है, ५ स्कन्ध, १२ आयतन, १८ धातुएँ, ४ सत्य, २२ इन्द्रिय, प्रतीत्यसमुत्पाद, ४ स्मृति-प्रस्थान, ४ सम्यक् प्रधान, ४ ऋद्धिपाद, ४ ध्यान, ४ अपरिमाण, ५ इन्द्रिय, ५ बल, ७ बोध्यंग, ८ आर्य मार्ग के अंग (आर्य अष्टांगिक मार्ग), स्पर्श, वेदना, संज्ञा, चेतना, चित्त, अधिमोक्ष और मनसिकार। किस-किस स्कन्ध, आयतन या विभंग में कौन-कौन धर्म सम्मिलित (संगहित), अ-सम्मिलित (असंगहित), संयुक्त (सम्प्रयुक्त) या वियुक्त (दिप्पयुत्त) आदि हैं, इसी का विवेचन १४ अध्यायों में प्रश्नोत्तर ढंग से किया गया है, जिसकी रूप-रेखा इस प्रकार है—

१. सम्मिलन और अ-सम्मिलन (संगहो-असंगहो) : इस अध्याय में यह दिखलाया गया है कि कितने स्कन्ध, आयतन और धातुओं में कौन-कौन से धर्म सम्मिलित हैं या अ-सम्मिलित हैं।

२. सम्मिलित और अ-सम्मिलित (संगहितेन असंगहित) : यहाँ पर दिखलाया गया है कि कितने स्कन्ध, आयतन और धातुओं में वे धर्म असम्मिलित हैं, जो कुछ अन्य धर्म या धर्मों के साथ समान स्कन्ध में सम्मिलित है, किन्तु समान धातु और आयतन में सम्मिलित नहीं है।

३. अ-सम्मिलित और सम्मिलित (असंगहितेन संगहित) : कितने स्कन्ध, आयतन और धातुओं में वे धर्म सम्मिलित हैं, जो कुछ अन्य धर्म या धर्मों के साथ समान स्कन्ध में सम्मिलित नहीं है, किन्तु समान आयतन और समान धातु में सम्मिलित है।

४. सम्मिलित और सम्मिलित (संगहितेन संगहित) : कितने स्कन्ध आयतन और धातुओं में वे धर्म सम्मिलित हैं, जो कुछ अन्य धर्म या धर्मों के साथ उन समान स्कन्ध, आयतन और धातुओं से सम्मिलित है जो पुनः अन्य धर्म या धर्मों के साथ उनमें (स्कन्ध, आयतन और धातुओं में) सम्मिलित है।

ग्रन्थ के सिंहली, बर्मी एवं स्यामी संस्करण उपलब्ध है। देवनागरी लिपि में भिक्षु जगदीश काश्यप द्वारा पुग्गलपञ्ञत्ति के सहित एक जिल्द में सम्पादित एवं बिहार राज्य के पालि प्रकाशन मण्डल द्वारा सन् १९६० में प्रकाशित।

५. अ-सम्मिलित और अ-सम्मिलित (असंगहितेन असंगहितं): कितने स्कन्ध, आयतन और धातुओं में वे धर्म अ-सम्मिलित है जो कुछ अन्य धर्म या धर्मों के साथ उन्हीं स्कन्ध, आयतन और धातुओं में असम्मिलित हैं जो पुनः अन्य धर्म या धर्मों के साथ उनमें (स्कन्ध, आयतन और धातुओं में) असम्मिलित है। यह अध्याय चौथे अध्याय का ठीक विपरीत है।

६. संयोग और वियोग (सम्पयोगो विप्पयोगो): कितने स्कन्ध, आयतन और धातुओं के साथ धर्म संयुक्त हैं, या कितने के साथ वे वियुक्त हैं।

७ संयुक्त से वियुक्त (सम्पयुत्तेन विप्पयुत्तं): कितने स्कन्ध, आयतन और धातुओं से वे धर्म वियुक्त हैं, जो उन धर्मों से, जो अन्य धर्मों के साथ संयुक्त है, वियुक्त हैं।

८. वियुक्त से संयुक्त (विप्पयुत्तेन सम्पयुत्तं) : कितने स्कन्ध, आयतन और धातुओं से वे धर्म संयुक्त हैं, जो उन धर्मों से, जो कुछ अन्य धर्मों से वियुक्त है, संयुक्त है।

९. संयुक्त से संयुक्त (सम्पयुत्तेन सम्पयुत्तं) : कितने स्कन्ध, आयतन और धातुओं से वे धर्म संयुक्त हैं, जो उन धर्मों से, जो अन्य धर्मों से संयुक्त है, संयुक्त है।

१०. वियुक्त से वियुक्त (विप्पयुत्तेन विप्पयुत्तं) : कितने स्कन्ध, आयतन और धातुओं से वे धर्म वियुक्त हैं, जो उन धर्मों से, जो अन्य धर्मों से, वियुक्त है, वियुक्त हैं।

११. सम्मिलित से संयुक्त और वियुक्त (संगहितेन सम्पयुत्तं विप्पयुत्तं) : (अ) कितने स्कन्ध, आयतन और धातुओं में से धर्म संयुक्त है जो समान-स्कन्ध में सम्मिलित नहीं, किन्तु समान आयतन और धातु में कुछ अन्य धर्मों के साथ सम्मिलित है, (आ) कितने स्कन्ध, आयतन और धातुओं से वे धर्म वियुक्त हैं जो समान स्कन्ध में सम्मिलित नहीं, किन्तु समान आयतन और धातु में कुछ अन्य धर्मों के साथ सम्मिलित हैं।

१२. संयुक्त से सम्मिलित और असम्मिलित (सम्पयुत्तेन संग्रहित असंगहति) : (अ) कितने स्कन्ध, आयतन और धातुओं में वे धर्म सम्मिलित हैं जो कुछ अन्य धर्मों से संयुक्त है, (आ) कितने स्कन्ध, आयतन और धातुओं में वे धर्म असम्मिलित हैं जो कुछ अन्य धर्मों से संयुक्त हैं।

१३. असम्मिलित से संयुक्त और वियुक्त (असंगहितेन, सम्पयुत्तं विप्पयुत्तं) : (अ) कितने स्कन्ध, आयतन और धातुओं से वे धर्म संयुक्त हैं, जो किन्हीं अन्य धर्मों के साथ समान स्कन्ध, आयतन और धातुओं में सम्मिलित नहीं

हैं, (आ) कितने स्कन्ध, आयतन और धातुओं से वे धर्म वियुक्त हैं जो किन्हीं अन्य धर्मों के साथ समान स्कन्ध, आयतन और धातुओं में सम्मिलित नहीं है।

१४. वियुक्त से सम्मिलित और असम्मिलित (विप्पयुत्तेन संगहितं असंगहितं)। कितने स्कन्ध, आयतन और धर्मों में वे धर्म सम्मिलित हैं, जो कुछ अन्य धर्मों से वियुक्त हैं, (आ) कितने स्कन्ध, आयतन और धर्मों में वे धर्म सम्मिलित नहीं हैं, जो कुछ अन्य धर्मों से वियुक्त हैं।

उपर्युक्त अध्यायों के विषय और शैली को अच्छी तरह हृदयंगम करने के लिए प्रत्येक में से एक-एक दो-दो प्रश्नोत्तरों को भी दे देना उपयुक्त होगा। अतः क्रमशः,

(१) (अ) कितने स्कन्धों, आयतनों और धातुओं में रूप-स्कन्ध सम्मिलित हैं? १ स्कन्ध, ११ आयतन और ११ धातुओं में रूप-स्कन्ध सम्मिलित है।

(आ) कितने स्कन्धों, आयतनों और धातुओं में रूप-स्कन्ध सम्मिलित नहीं हैं? चार स्कन्ध, एक आयतन और सात धातुओं में रूप-स्कन्ध सम्मिलित नहीं हैं।

(इ) कितने स्कन्धों, आयतनों और धातुओं में वेदना-स्कन्ध सम्मिलित हैं? एक स्कन्ध, एक आयतन और एक धातु में वेदना-स्कन्ध सम्मिलित हैं।

(ई) कितने स्कन्धों, आयतनों और धातुओं में वेदना-स्कन्ध सम्मिलित नहीं हैं, चार स्कन्ध, ग्यारह आयतन और १७ धातुओं में वेदना-स्कन्ध सम्मिलित नहीं है, आदि आदि।

(२) (अ) कितने स्कन्धों, आयतनों और धातुओं में वे धर्म सम्मिलित नहीं हैं, जो चक्षु-आयतन...स्पृष्टव्यायतन और चक्षु-धातु...स्पृष्टव्यधातु धर्मों के साथ समान स्कन्ध में सम्मिलित हैं, किन्तु समान धातु और आयतन में सम्मिलित नहीं हैं?

चार स्कन्धों, दो आयतनों और आठ धातुओं में वे सम्मिलित नहीं हैं।

(३) (अ) कितने स्कन्धों, आयतनों और धातुओं में वे धर्म सम्मिलित हैं, जो वेदना-स्कन्ध, संज्ञा-स्कन्धों, संस्कार-स्कन्ध, समुदय-स्कन्ध, मार्ग-सत्य धर्मों के साथ समान स्कन्ध में सम्मिलित नहीं हैं, किन्तु समान आयतन और समान धातु में सम्मिलित हैं?

तीन स्कन्धों, एक आयतन और एक धातु में वे सम्मिलित हैं, निर्वाण को छोड़कर!

(४) (अ) कितने स्कन्धों, आयतनों और धातुओं में वे धर्म सम्मिलित हैं, जो समुदय-सत्य, मार्ग-सत्य धर्मों के साथ उन समान स्कन्ध, आयतन और धातुओं में सम्मिलित है जो पुनः समुदय-सत्य, मार्ग-सत्य के साथ उनमें (स्कन्ध, आयतन और धातुओं में) सम्मिलित हैं ?

एक स्कन्ध, एक आयतन और एक धातु में वे सम्मिलित हैं।

(५) (अ) कितने स्कन्धों, आयतनों और धातुओं में वे धर्म सम्मिलित नहीं है जो अन्य धर्मों के साथ उन्हीं स्कन्ध, आयतन और धातुओं में अ-सम्मिलित है जो पुनः उन्हीं धर्मों के साथ उनमें (स्कन्ध, आयतन और धातुओं में) असम्मिलित हैं ?

एक स्कन्ध, एक आयतन और सात धातुओं में वे अ-सम्मिलित हैं।

(६) (अ) कितने स्कन्धों, आयतनों और धातुओं के साथ रूप-स्कन्ध संयुक्त है ?

किसी के साथ नहीं क्योंकि स्वयं अपने साथ वह संयुक्त हो नहीं सकता और अन्य धर्म मानसिक है।

(आ) कितने स्कन्धों, आयतनों और धातुओं के साथ रूप-स्कन्ध संयुक्त नहीं हैं ?

चार स्कन्ध, एक आयतन और सात धातुओं के साथ वह संयुक्त नहीं हैं।

(७) (अ) कितने स्कन्धों, आयतनों और धातुओं से वे धर्म वियुक्त हैं, जो उन धर्मों से, जो अन्य धर्मों के साथ संयुक्त है, वियुक्त है ?

चार स्कन्धों, एक आयतन और सात धातुओं से वे वियुक्त है, अंशतः एक आयतन और एक धातु से भी।

(८) (अ) कितने स्कन्धों, आयतनों और धातुओं से वे धर्म संयुक्त हैं, जो उन धर्मों से, जो रूप-स्कन्ध से वियुक्त है, संयुक्त है ?

किसी से नहीं ?

(९) (अ) कितने स्कन्धों, आयतनों और धातुओं से वे धर्म संयुक्त हैं, जो उन धर्मों में, जो वेदना-स्कन्ध, संज्ञा-स्कन्ध, संस्कार-स्कन्ध से संयुक्त है, संयुक्त है ?

तीन स्कन्धों, एक आयतन और सात धातुओं से वे संयुक्त हैं, अंशतः एक आयतन और एक धातु से भी।

(१०) (अ) कितने स्कन्धों, आयतनों और धातुओं से वे धर्म वियुक्त हैं, जो उन धर्मों से, जो रूप-स्कन्ध से वियुक्त है। वियुक्त है ?

चार स्कन्धों, एक आयतन और सात धातुओं से वे वियुक्त हैं, अंशतः एक आयतन और एक धातु से भी।

(११) (अ) कितने स्कन्धों, आयतनों और धातुओं से वे धर्म संयुक्त हैं जो समान स्कन्ध में, सम्मिलित नहीं है, किन्तु समुदय-सत्य और मार्ग-सत्य के साथ समान आयतन और धातुओं में सम्मिलित है ?

तीन स्कन्ध, एक आयतन और सात धातुओं से वे संयुक्त हैं, अंशतः एक स्कन्ध, एक आयतन और एक धातु से भी।

(आ) कितने स्कन्धों, आयतनों और धातुओं से वे धर्म वियुक्त हैं जो समान स्कन्ध में सम्मिलित नहीं, किन्तु समुदय-सत्य और मार्ग-सत्य के साथ समान आयतन और समान धातुओं में सम्मिलित हैं? एक स्कन्ध, दस आयतन और दस धातुओं से वे वियुक्त हैं, अंशतः एक आयतन और एक धातु से भी।

(१२) (अ) कितने स्कन्धों, आयतनों और धातुओं में वे धर्म सम्मिलित हैं जो वेदना-स्कन्ध, संज्ञा-स्कन्ध और संस्कार-स्कन्ध से संयुक्त है ?

तीन स्कन्धों, दो आयतनों और आठ धातुओं में वे सम्मिलित हैं ?

(आ) कितने स्कन्धों, आयतनों और धातुओं में वे धर्म सम्लिलित नहीं हैं, जो वेदना-स्कन्ध से संयुक्त है ?

दो स्कन्धों, दस आयतनों और दस धातुओं में वे सम्मिलित नहीं हैं।

(१३) (अ) कितने स्कन्धों, आयतनों और धातुओं से वे धर्म संयुक्त हैं, जो रूप-स्कन्ध के साथ समान स्कन्ध, आयतन और धातुओं में सम्मिलित नहीं है?

तीन स्कन्धों और अंशतः एक आयतन और एक धातु से वे संयुक्त हैं ?

(आ) कितने स्कन्धों, आयतनों और धातुओं से वे धर्म वियुक्त हैं, जो रूप-स्कन्ध के साथ समान-स्कन्ध, आयतन और धातुओं में सम्मिलित नहीं है ?

एक-स्कन्ध,दस आयतन और दस धातुओं से वे वियुक्त हैं, अंशतः एक आयतन और एक धातु से भी।

(१४) (अ) कितने स्कन्धों, आयतनों और धातुओं में वे धर्म सम्मिलित हैं, जो रूप-स्कन्ध से वियुक्त हैं ?

चार स्कन्धों, दो आयतनों और धातुओं में वे सम्मिलित हैं।

(आ) कितने स्कन्धों, आयतनों और धातुओं में वे धर्म सम्मिलित नहीं हैं जो रूप-स्कन्ध से वियुक्त हैं ?

एक स्कन्ध, दस आयतनों और दस धातुओं में वे सम्मिलित नहीं हैं।

पुग्गलपञ्ञत्ति[1]

'पुग्गलपञ्ञत्ति' (पुद्‌गल-प्रज्ञप्ति) शब्द का अर्थ है पुद्‌गलों या व्यक्तियों संबंधी ज्ञान या उनकी पहचान। पुग्गल-पञ्ञत्ति में व्यक्तियों के नाना प्रकारों का वर्णन किया गया है। विषय या वर्णन-प्रणाली की दृष्टि से इस ग्रन्थ का अभिधम्म की अपेक्षा सुत्तन्त से अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध है। व्यक्तियों का निर्देश यहाँ धम्मों के साथ उनके संबंध की दृष्टि से नहीं किया गया है, जो अभिधम्म का विषय है, बल्कि अंगुत्तर-निकाय की शैली पर, बुद्ध-वचनों का आश्रय लेकर या कहीं उनको अधिक स्पष्ट करने की दृष्टि से, या उनकी व्याख्या-स्वरूप, गुण, कर्म और स्वभाव के विभाग के अनुसार व्यक्तियों के नाना स्वरूपों को वर्गबद्ध किया गया है, जो मूल बुद्ध-धर्म के नैतिक दृष्टिकोण को समझने के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है। सम्पूर्ण ग्रन्थ में दस अध्याय हैं, जिनमें प्रथम में एक-एक प्रकार के व्यक्तियों का निर्देश है, दूसरे में दो-दो प्रकार के और इसी प्रकार क्रमशः बढ़ते हुये दसवें अध्याय में दस-दस प्रकार के व्यक्तियों का निर्देश है। समय-विमुक्त, असमय-विमुक्त, क्रोधी, उपनाही, निराश, विगताश, शठ, मायावी, मत्सरी, ईर्ष्यालु, पृथग्जन, आर्य-श्रावक, प्रत्येकबुद्ध, सम्यक्, सम्बुद्ध, शैक्ष्य, अशैक्ष्य, आर्य, अनार्य, स्रोत, आपन्न, सकृदागामी, अनागामी, अर्हत् आदि के रूप में व्यक्तियों का विभाजन, जो सुत्तों में जीवन-शुद्धि के स्वरूप और उसके विकास को दिखाने के लिए किया गया है, यहाँ क्रमिक गणनाबद्ध रूप में संगृहीत कर दिया गया है। कुछ-एक उदाहरण पर्याप्त होंगे—

एक-एक प्रकार व्यक्तियों का वर्गीकरण

१. कौन-सा व्यक्ति 'पृथग्जन' (पुथुज्जनो—प्राकृत मनुष्य—सांसारिक मनुष्य) हैं ?

---

१. डॉ० मॉरिस द्वारा रोमन लिपि में सम्पादित एवं पालि टैक्स्ट सोसायटी (१८८३) द्वारा प्रकाशित। इसका अंग्रेजी अनुवाद "दि डेजिगनेशन ऑव ह्यूमन टाइप्स" शीर्षक से डॉ० विमलाचरण लाहा ने किया है, जो पालि टैक्स्ट सोसायटी, लन्दन (१९२३) द्वारा प्रकाशित किया गया है। देवनागरी-संस्करण भिक्षु जगदीश काश्यप के द्वारा सम्पादित एवं बिहार राज्य के पालिप्रकाशन मण्डल द्वारा प्रकाशित। इस ग्रन्थ के बरमी, सिंहली और स्यामी संस्करण उपलब्ध हैं। महास्थविर ज्ञानातिलोक ने इस गन्थ का जर्मन भाषा में अनुवाद किया है—ब्रेसलो, १९१०।

जिसके प्रथम तीन संयोजन (मानसिक बन्धन) प्रहीण नहीं हुए और न जो उनके प्रहीण करने के मार्ग में ही संलग्न है, वही व्यक्ति 'पृथग्जन' है।

२. कौन-सा व्यक्ति अनागामी है ?

जो व्यक्ति प्रथम पाँच संयोजनों का विनाश करने के बाद किसी उच्चतर लोक में जन्म लेता है, जहाँ उसकी निर्वाण-प्राप्ति निश्चित हो जाती है और जहाँ से वह लौटकर फिर इस लोक में नहीं आता, वही व्यक्ति अनागामी है।

दो-दो प्रकार के व्यक्तियों का वर्गीकरण

१. कौन-सा व्यक्ति भीतरी संयोजनों से बँधा हुआ है ?

जिसके प्रथम पाँच संयोजन अभी नष्ट नहीं हुए, वही व्यक्ति भीतरी संयोजनों से बँधा हुआ है।

२. कौन-सा व्यक्ति बाहरी संयोजनों से बँधा हुआ है ?

जिसके अंतिम पाँच संयोजन अभी नष्ट नहीं हुए, वही व्यक्ति बाहरी संयोजनों में बँधा हुआ है।

तीन-तीन प्रकार के व्यक्तियों का वर्गीकरण

१. कौन-सा व्यक्ति काम-वासना संबंधी आसक्ति और भव-वासना संबंधी आसक्ति से विमुक्त नहीं है ?

स्रोत आपन्न और सकृदागामी—ये दो व्यक्ति काम-वासना संबंधी आसक्ति और भव-वासना संबंधी आसक्ति के विमुक्त नहीं हैं।

२. कौन-सा व्यक्ति काम-वासना संबंधी आसक्ति से विमुक्त है, किन्तु भव-वासना संबंधी आसक्ति से विमुक्त नहीं है ?

अनागामी—यह व्यक्ति काम-वासना संबंधी आसक्ति से विमुक्त है, किन्तु भव-वासना संबंधी आसक्ति से विमुक्त नहीं है।

३. कौन-सा व्यक्ति काम-वासना संबंधी आसक्ति और भव-वासना संबंधी आसक्ति, इन दोनों प्रकार की आसक्तियों से विमुक्त है ?

अर्हत्—यह व्यक्ति काम-वासना संबंधी आसक्ति और भव-वासना संबंधी आसक्ति; इन दोमों आसक्तियों से बिमुक्त है।

चार-चार प्रकार के व्यक्तियों का वर्गीकरण

१. कौन-सा व्यक्ति उस बादल के समान है, जो गरजता है पर बरसता नहीं ?

जो कहता बहुत है पर करता कुछ नहीं—यही व्यक्ति उस बादल के समान है जो गरजता है पर बरसता नहीं।

२. कौन-सा व्यक्ति उस बादल के समान है, जो बरसता है, पर गरजता नहीं ?

जो करता है, पर कहता नहीं, ऐसा व्यक्ति उस बादल के समान है जो बरसता है पर गरजता नहीं ।

३. कौन-सा व्यक्ति उस बादल के समान है, जो गरजता भी है और बरसता भी है ?

जो कहता भी है और करता भी है, वही व्यक्ति उस बादल के समान है जो गरजता भी है और बरसता भी है।

४. कौन-सा व्यक्ति उस बादल के समान है जो गरजता भी नहीं और बरसता भी नहीं ?

जो न कहता है और न करता है, वही व्यक्ति उस बादल के समान है जो गरजता भी नहीं और बरसता भी नहीं।

इसी वर्गीकरण का एक और सुन्दर उपमा के द्वारा व्यक्तियों के चार प्रकार का विभाजन देखिए——

१. कौन-सा व्यक्ति उस चूहे के समान है, जो अपने बिल को खोदकर तैयार करता है, किन्तु उसमें रहता नहीं ?

जो व्यक्ति सुत्त, गाथा, उदान, जातक आदि ग्रन्थों का अभ्यास तो करता है, किन्तु चार आर्य सत्यों का स्वयं साक्षात्कार नहीं करता, यही व्यक्ति उस चूहे के समान है जो अपना बिल तो खोदकर तैयार करता है, किन्तु उसमें रहता नहीं।

२. कौन-सा व्यक्ति उस चूहे के समान है, जो बिल में रहता है, किन्तु उसे स्वयं तैयार नहीं करता ?

जो सुत्त, गाथा आदि का अभ्यास तो नहीं करता, किन्तु चार आर्य सत्यों का साक्षात्कार कर लेता है, यही व्यक्ति उस चूहे के समान है जो बिल में तो रहता है, किन्तु उसे स्वयं खोदकर तैयार नहीं करता।

३. कौन-सा व्यक्ति उस चूहे के समान है, जो बिल को स्वयं खोदकर तैयार करता है और उसमें रहता भी है ?

जो सुत्त, गाथा आदि का अभ्यास करता है और चार आर्य सत्यों का साक्षात्कार भी करता है।

४. कौन-सा व्यक्ति उस चूहे के समान है जो न बिल को खोदता है, न उसमें रहता है ?

जो न सुत्त, गाथा आदि का अभ्यास करता है और न चार आर्य-सत्यों का साक्षात्कार भी करता है ।

इसी प्रकार आगे के अध्यायों में क्रमशः पाँच-पाँच, छह्-छह, सात-सात, आठ-आठ, नौ-नौ और दस-दस के वर्गीकरणों में व्यक्तियों का वर्णन किया गया है । यद्यपि सुत्त-पिटक से नवीन या मौलिक तो यहाँ कुछ नहीं है, फिर भी उपमाएँ कहीं-कहीं बड़ी सुन्दर हुई हैं । सुत्तों के समान यहाँ भी अर्हत् या प्रत्येक बुद्ध के समान सम्यक् सम्बुद्ध को भी एक पुद्गल (व्यक्ति) ही माना गया है और 'इधेकच्ची पुग्गलो' के समान ही भावना है । यह बुद्ध के मानव-रूप को प्रकट करने वाली बड़ी लक्षणीय बात है । संख्याबद्ध वर्गीकरणों की ऊपरी कृत्रिमता होते हुए भी 'पुग्गल-पञ्ञत्ति' के विवरण नैतिक तत्त्वों की भित्ति पर आश्रित हैं, अतः वे आधुनिक विद्यार्थी के लिए भी अध्ययन के अच्छे विषय हैं ।

कथावत्थु[1]

जैसा दूसरे अध्याय में दिखाया जा चुका है, अशोक के समय (तीसरी शताब्दी ईसवी पूर्व) तक आते-आते मूल बुद्ध-धर्म १८ भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों या निकायों में बँट चुका था । अशोक ने लगभग २५३ या २४६ ई० पू० में जब पाटलिपुत्र की सभा को बुलाया, तो उसके सभापति स्थविर मोग्गलिपुत्त तिस्स ने इन्हीं १८ सम्प्रदायों में से एक (थेरवाद-स्थविरवाद) को मूल बुद्ध-धर्म मान कर बाकी १७ के दार्शनिक सिद्धांतों का निराकरण किया और अपने समाधानों को 'कथावत्थु-पकरण' नामक ग्रंथ में रख दिया जो उसी समय से अभिधम्म-पिटक का एक अंग माना जाने लगा । कथावत्थु में केवल दार्शनिक सिद्धान्तों का खंडन है । किन-किन सम्प्रदायों के वे दार्शनिक सिद्धांत थे, इसका उल्लेख वहाँ नहीं किया गया है । यह कभी उसकी अट्ठकथा

---

१. ए० सी० टेलर द्वारा सम्पादित एवं पालि टैक्स्ट सोसायटी, लंदन द्वारा सन् १८९४ एवं १८९७ में रोमन लिपि में प्रकाशित । 'पॉइन्ट्स ऑव कन्ट्रोवर्सी और सबजैक्ट्स ऑव डिस्कोर्स' शीर्षक से शाँ, जैन, औंग एवं श्रीमती रायस डेविड्स द्वारा अंग्रेजी में अनुवादित एवं पालि टैक्स्ट सोसायटी (लंदन, १९१५) द्वारा प्रकाशित । बरमी, सिंहली एवं स्यामी संस्करण उपलब्ध हैं । देवनागरी लिपि में भिक्षु जगदीश काश्यप द्वारा सम्पादित एवं बिहार राज्य के पालि प्रकाशन मण्डल द्वारा सन् १९६१ में प्रकाशित ।

(पाँचवीं शताब्दी) ने पूरी कर दी है। इस अट्ठकथा के वर्णनानुसार भगवान् बुद्ध के महापरिनिर्वाण के १०० वर्ष बाद वज्जिपुत्तक भिक्षुओं ने संघ के अनुशासन को भंग कर 'महासंघिक' (सं० महासांघिक) नामक सम्प्रदाय की स्थापना की। इसी सम्प्रदाय की पाँच शाखायें बाद में और हो गयीं। इस प्रकार कुल मिलाकर महासंघिकों के ६ सम्प्रदाय हो गये, जिनके नाम थे—महासंघिक, एकब्बोहारिक, गोकुलिक[1], पञ्ञत्तिवादी, बाहुलिक[2] और चेतियवादी।[3] प्रथम संगीति में स्थविरों (वृद्ध-भिक्षुओं) ने मूल बुद्ध-धर्म के जिस स्वरूप को स्वीकार किया था, उसका नाम 'थेरवाद' (स्थविरवाद) पड़ गया था और इस थेरवाद के भी अशोक के समय तक आते-आते कुल मिलाकर १२ सम्प्रदाय हो गये थे, जो इस प्रकार हैं—थेरवादी, महिसासक, वज्जिपुत्तक, सब्बत्थवादी या सब्बत्थिवादी, धम्मगुत्तिक, धम्मुत्तरिय, छन्नागरिक, भद्रयानिक, सम्मितिय, कस्सपिक, संक्रन्तिक और सुत्तवादी। कथावत्थु-अट्ठकथा के अनुसार यह शाखा-भेद इस प्रकार दिखाया जा सकता है—

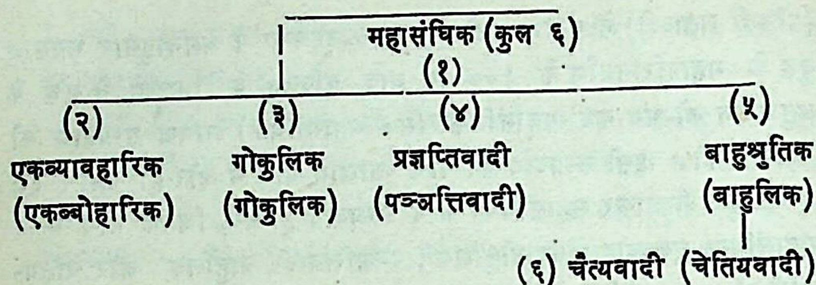
---

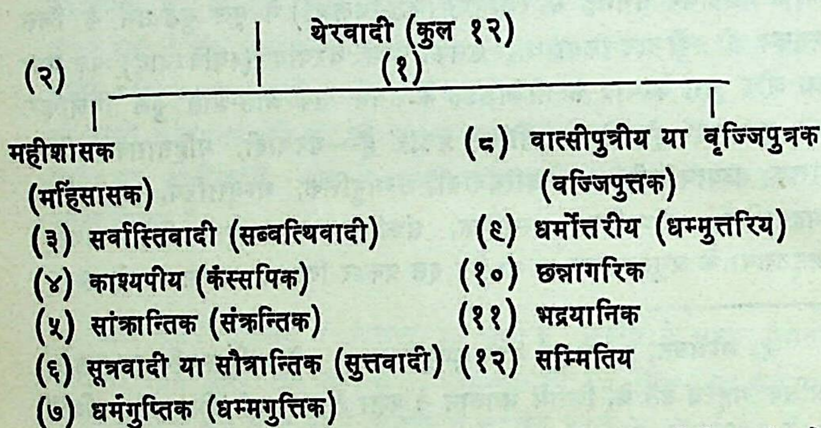
१. सम्भवतः इनका पूर्व नाम कुक्कुलिक था। ये आदित्त-परियाय-सुत्त को अधिक महत्त्व देते थे, जिसमें भगवान् ने कहा है—"सब्बं भिक्खवे, आदित्तं" अर्थात् "भिक्षुओ! सब जल रहा है।" इस उपदेश का अनुसरण कर वे सब संस्कारों को कुक्कुल (अंगारों) के समान मानते थे। कहते थे—"सब्बे सङ्खा कुक्कुला।" इसीलिए वे 'कुक्कुलिक' या बाद में 'गोकुलिक' कहलाये।

२. 'दीपवंस' (५।४१) में इन्हें 'बहुस्सुतका' कहा गया है। तिब्बती परम्परा में इनका नाम 'बाहुश्रुतिय' है और वहाँ इस नाम का यह कारण दिया गया है कि इनके आचार्य का नाम 'बहुश्रुतिय' था। देखिए, राकहिल : दि लाइफ ऑव दि बुद्ध, पृष्ठ १८३।

३. आंध्र देश के धान्यकटक के स्तूप (महाचैत्य) में निवास करने वाले भिक्षु।

४. देखिए, ज्ञानातिलोक : गाइड थ्रू दि अभिधम्म-पिटक, पृष्ठ ३६; राहुल सांकृत्यायन : विनय-पिटक (हिन्दी अनुवाद), भूमिका, पृष्ठ १, उन्हीं की पुरातत्व-निबन्धावली, पृष्ठ १२१; 'दीपवंस' (५।४०-४२) के अनुसार और 'महावंस' ५।२।११ के अनुसार भी बिलकुल यही विभाग है। देखिए, राहुल सांकृत्यायन द्वारा सम्पादित अभिधर्म-कोश, भूमिका पृष्ठ ४; देखिए, जर्नल ऑव रॉयल एशियाटिक सोसायटी १८९१, तथा जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट सोसायटी (१९०४-०५) (दि सैक्ट्स ऑव दि बुद्धिस्ट्स)।

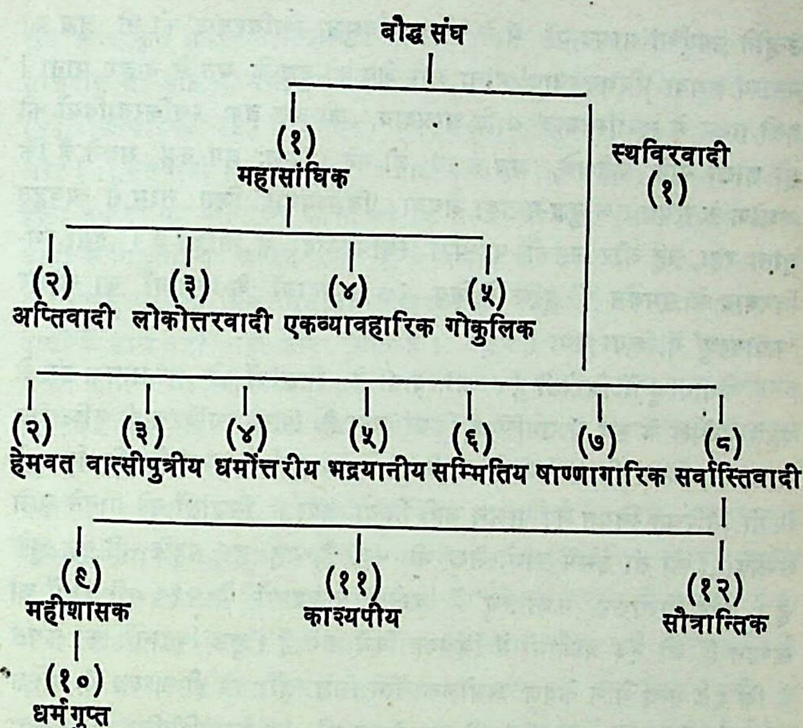




सर्वास्तिवादी परम्परा में इन सम्प्रदायों का विकास कुछ विभिन्न ढंग से दिखाया गया है। उदाहरणतः वसुमित्र-प्रणीत 'अष्टादश-निकाय-शास्त्र' के अनुसार १८ सम्प्रदायों का विभागीकरण इस प्रकार है¹—

---

१. देखिए, राहुल सांकृत्यायन द्वारा सम्पादित 'अभिधर्मकोश', भूमिका, पृष्ठ ५, एवं उन्हीं का विनय-पिटक (हिन्दी-अनुवाद), भूमिका, पृष्ठ १-२; नागार्जुन (द्वितीय शताब्दी ईसवी) के माध्यमिक शास्त्र के भाष्यकार चन्द्रकीर्ति। (छठी शताब्दी ईसवी) के पूर्वगामी आचार्य भव्य या भावविवेक (पाँचवीं शताब्दी ईसवी) के वर्णनानुसार भी १८ सम्प्रदायों के विकास का यही क्रम है। केवल उन्होंने गोकुलिक (कुक्कुलिक) शाखा को महासांघिकों से तथा षाण्णागारिक (छन्नागरिक) शाखा को स्थविरवादियों की परम्परा से वियुक्त कर दिया है। देखिये, बुद्धिस्टिक स्टडीज़, पृष्ठ ८३१-३२; 'महावंस', 'कथावत्थु', वसुमित्र और भव्य, इन चारों स्रोतों के आधार पर १८ सम्प्रदायों के शाखा-भेद के तुलनात्मक अध्ययन के लिए देखिए, बुद्धिस्टिक स्टडीज़ (डॉ० लाहा द्वारा सम्पादित), पृष्ठ ८२७ पर दी हुई महत्वपूर्ण तालिका।



उपर्युक्त दोनों परम्पराओं की विभिन्नताएँ वास्तव में इन सम्प्रदायों के अनिश्चित इतिहास के कारण हैं। यदि कथावत्थु में इन सम्प्रदायों के विषय में भी कुछ कर दिया गया होता तो बौद्ध धर्म के इतिहास-जिज्ञासुओं का काम सरल हो जाता। किन्तु धम्मवादी, धम्म को ही प्रमुखता देने वाले, स्थविर मोग्गलिपुत्त तिस्स ने इसके लिए अवकाश नहीं दिया। उनके लिए विचार व्यक्तियों या सम्प्रदायों से अधिक महत्त्वपूर्ण थे। भारतीय ज्ञानियों को निर्वैयक्तिक परम्परा के यह अनुकुल ही है। किन्तु इस अभाव के कारण इन सम्प्रदायों का इतिहास भी अनिश्चित ही रह गया है। स्थविरवादी परम्परा की मान्यता, जैसा ऊपर दिखाया जा चुका है, कथावत्थु की अट्ठकथा पर आश्रित है, जो स्वयं पाँचवीं ईसवी की रचना होने के कारण उतनी प्रामाणिक नहीं मानी जा सकती। फिर भी जो वस्तु निश्चित मानी जा सकती है, वह यह है कि अशोक के बौद्ध धर्म ग्रहण कर लेने के समय उपर्युक्त अठारह सम्प्रदाय विद्यमान थे। अशोक के द्वारा पूजित किये जाने पर ये और भी बढ़ने लगे। शास्ता का वास्तविक उपदेश क्या था, यह कुछ भी जान पड़ने लगा। परिणामतः पाटलिपुत्र में एक संगीति बुलाई गई। इस सभा के सभापति थे स्थविर मोग्गलिपुत्त तिस्स।

उन्होंने उपर्युक्त सम्प्रदायों में से केवल विशुद्ध स्थविरवाद को तो बुद्ध का मन्तव्य अथवा 'विभज्जवाद' माना और शेष को बुद्ध के मत से बाहर माना। इसी समय से सर्वास्तिवाद आदि सम्प्रदाय, जो अब तक स्थविरवादियों की ही शाखा माने जते थे, अब अलग हो गये। अतः हम कह सकते हैं कि अशोक के समय तक बुद्ध-मन्तव्य अथवा 'विभज्यवाद' जिस नाम से व्यवहृत होता रहा, वह और उसकी परम्परा 'स्थविरवाद' में निहित है। इसी स्थविरवाद के समर्थन की दृष्टि से शेष १७ सम्प्रदायों के मन्तव्यों का खण्डन 'कथावत्थु' में किया गया है।

'कथावत्थु में विरोधी १७ सम्प्रदायों के सिद्धांतों को प्रश्नात्मक ढंग से पहले पूर्वपक्ष के रूप में उपस्थित किया गया है, फिर स्थविरवादी दृष्टिकोण से उनका खण्डन किया गया है। सिद्धांतों के पूर्वापर-सम्बन्धी निर्वाचन में किसी निश्चित नियम का पालन नहीं किया गया। सिद्धांतों को मानने वाले सम्प्रदायों का तो उसमें नामोल्लेख भी नहीं है, यह हम पहले ही कह चुके हैं। कुल मिलाकर 'कथावत्थु' में विरोधी सम्प्रदायों के २१६ सिद्धांतों का खण्डन है, जो २३ अध्यायों में विभक्त किये गये हैं। कुछ विद्वानों का कथन है कि इस ग्रन्थ में न केवल अशोककालीन सिद्धान्तों का ही खण्डन है, बल्कि कुछ बाद के सम्प्रदायों और सिद्धान्तों का भी खण्डन सम्मिलित है। अतः उनके मत में इस ग्रन्थ में नई अंश ईसा की पहली शताब्दी तक जोड़े जाते रहे।[1] इस ग्रन्थ में प्राचीन अर्थात् अशोक के समय में प्रचलित सिद्धान्तों में से तो आठ का खण्डन प्रस्तुत किया गया है, जिसमें से दो तो महासांघिकों के सम्प्रदाय हैं, यथा (१) महासांघिक (चतुर्थ शताब्दी ईसवी-पूर्व) तथा गोकुलिक (चौथी शताब्दी ईसवी-पूर्व) और छह सम्प्रदाय स्वयं स्थविरवादियों के हैं यथा (१) भद्रयानिक (तीसरी शताब्दी ईसवी-पूर्व), (२) महीशासक (चौथी शताब्दी ईसवी-पूर्व), (३) वात्सीपुत्रीय (चौथी शताब्दी ईसवी-पूर्व), (४) सर्वास्तिवादी (चौथी शताब्दी ईसवी-पूर्व), (५) सम्मितिय (चौथी शताब्दी ईसवी पूर्व, तथा (६) वज्जिपुत्तक (चौथी शताब्दी ईसवी-पूर्व)[2]। इनके अलावा

---

१. देखिए, राहुल सांकृत्यायन : पुरातत्त्व निबन्धावली, पृष्ठ १३०; ज्ञानातिलोक; गाइड थ्रू दि अभिधम्म-पिटक, पृष्ठ ३७-३८।

२. ज्ञानातिलोक : गाइड थ्रू दि अभिधम्म-पिटक, पृष्ठ ३८; राहुल-सांकृत्यायन : पुरातत्व निबन्धावली, पृष्ठ १३०।

कुछ अपेक्षाकृत अर्वाचीन सिद्धान्तों का भी खण्डन कथावत्थु में मिलता है। ये सम्प्रदाय भी आठ हैं, यथा (१) अन्धक[1], (२) अपरशैलीय[2], (३) पूर्वशैलीय[3], (४) राजगिरिक, (५) सिद्धार्थिक, (६) वैपुल्य (वेतुल्ल), (७) उत्तरापथक और (८) हेतुवादी।[4] यदि स्वयं कथावत्थु में इन सम्प्रदायों का नामोल्लेख होता तब तो यह माना जा सकता था कि उसके जो अंश इन अर्वाचीन सम्प्रदायों के सिद्धांतों का खण्डन करते हैं, वे अशोक के काल के बाद की रचना है। किन्तु वहाँ तो सिर्फ सिद्धांतों का खण्डन है, सिद्धांतों को निश्चित सम्प्रदायों के साथ वहाँ नहीं जोड़ा गया है। यह काम तो पाँचवीं शताब्दी में लिखी जाने वाली उसकी अट्ठकथा ने ही किया है। अतः इससे यही निश्चित निष्कर्ष निकल सकता है कि जब कथावत्थु के विचारक ने विरोधी सिद्धांतों का खण्डन किया था, तब वे बौद्ध वायु-मंडल में विच्छिन्न शंकाओं के रूप में प्रवाहित अवश्य हो रहे थे, किन्तु निश्चित सम्प्रदायों के साथ उनका अभी सम्बन्ध स्थापित नहीं हुआ था। सम्भव है कहीं-कहीं व्यक्ति इनका उपदेश दे रहे हों या शंकाओं के रूप में उपस्थित कर रहे हों। बाद में चलकर इन्हीं में से निश्चित सम्प्रदायों का आविर्भाव हो गया, जैसा धर्म और दर्शन के इतिहास में अक्सर होता है। जिस समय कथावत्थु की अट्ठकथा लिखी गई (पाँचवीं शताब्दी ईसवी में) उस समय तक इन सम्प्रदायों का स्वरूप निश्चित हो चुका था और वे बौद्ध परम्परा में प्रतिष्ठा पा चुके थे। यही कारण है कि अट्ठकथाकार (महास्थविर बुद्धघोष) ने कथावत्थु में खण्डन के लिए प्रस्तुत जिन-जिन सिद्धांतों की समता अपने काल में प्रचलित या परम्परा से प्राप्त सम्प्रदायों की मान्यताओं के साथ देखी, उन्हें उनके साथ सम्बन्धित कर दिया है। अतः हम उन सिद्धान्तों (विशेषतः राहुल सांकृत्यायन और ज्ञानातिलोक) के मत से सहमत नहीं हैं जो कथावत्थु के कतिपय अंशों को अशोक के काल से बाद की रचना मानते हैं। जैसा हम अभी स्पष्ट कर चुके हैं, सिद्धांत

---

१. आंध्र देश के बौद्ध सम्प्रदाय।

२-३. आंध्र देश के इन नाम के पर्वतों के पास के निवासी भिक्षु।

४. महावंस ५।१२।१३ में भी हेमवत, राजगिरिय, सिद्धार्थक, पूर्वशैलीय, अपरशैलीय और वाजिरीय, इन छह सम्प्रदायों को अशोक के उत्तरकालीन माना गया है। अतः ज्ञानातिलोक : गाइड थ्रू दि अभिधम्म-पिटक, पृष्ठ २८ एवं राहुल सांकृत्यायन : पुरातत्व निबन्धावली, पृष्ठ १२०, का इनको उत्तरकालीन ठहराना युक्ति-युक्त ही जान पड़ता है।

सम्प्रदायों की अपेक्षा अधिक प्राचीन है और सम्प्रदायों का नामोल्लेख कथा-वत्थु में नहीं है। अतः वह निश्चय हीं अपने सम्पूर्ण रूप में अशोककालीन रचना है और उस काल के भिक्षु-संघ में स्फुट रूप से प्रचलित नाना मिथ्या धारणाओं और शंकाओं के निराकरण के द्वारा मूल बुद्ध-धर्म के स्वरूप को स्पष्ट करने का वह प्रयत्न करती है। बाद में इन्हीं (स्थविरवादी दृष्टिकोण से) मिथ्या धारणाओं और शंकाओं ने विकसित होकर विभिन्न निश्चित सम्प्रदायों और उपसम्प्रदायों का रूप धारण कर लिया जिनका साक्ष्य उसकी अट्टकथा देती है।

'कथावत्थु' के २१६ शंका-समाधान २३ अध्यायों में विभक्त हैं, यह अभी कहा जा चुका है। इनमें से कई समाधान दार्शनिक दृष्टि से बड़े महत्त्व के हैं। बुद्ध के दर्शन की मनमानी व्याख्या पहले के युगों में भी बहुत की जा चुकी है और आज भी बहुत की जाती है। तथाकथित ब्राह्मण-दार्शनिक यदि इस दिशा में मार्ग-भ्रष्ट हुए हैं तो उनसे कम बौद्ध दार्शनिक भी नहीं। महा-पंडित राहुल सांकृत्यायन ने ठीक ही सर राधाकृष्णन के उस प्रयत्न की हँसी उड़ाई है और उसे 'बाल-धर्म' (भारी मूर्खता) निश्चित कर दिया है जो उन्होंने बुद्ध को उपनिषद् के आत्मवाद का प्रचारक सिद्ध करने के लिये किया है।[1] यदि मनीषी राधाकृष्णन् कथावत्थु के प्रथम अध्याय के प्रथम शंका-समाधान में ही स्पष्ट इस विषयक स्थविरवादी दृष्टिकोण की सम्यक् अवधारणा कर लेते तो वे मूल बुद्ध-दर्शन के साथ आत्मवाद या अन्य ऐसी किसी चीज को इस प्रकार अनधिकृत रूप से मिलाने का प्रयत्न नहीं करते। इसी प्रकार यदि मनीषी महापंडित भी इस बात की सम्यक् अनुभूति कर लेते कि 'महाशून्यता-वादी' वेतुल्यकों (वैपुल्यकों) की स्थविरवादियों ने 'कथावत्थु' में क्या खबर ली है, तो वे नागार्जुन आदि उत्तरकालीन बौद्ध दार्शनिकों को, जिन्होंने निषेधात्मक और तर्कात्मक दिशा में ही अधिक पदार्पण किया है, बुद्ध मन्तव्यों के एकमात्र सच्चे व्याख्याता होने का श्रेय प्रदान नहीं करते। बुद्ध-मत-तर्क से अतीत है, सभी अतियों से बाहर जाता है, सभी मतवादों से ऊपर उठता है। आत्मवाद और अनात्मवाद, ईश्वरवाद और अनीश्वरवाद, भौतिकवाद और विज्ञानवाद, शाश्वतवाद और अशाश्वतवाद—इन सभी अतियों और मतवादों के ही स्वरूप हैं। इनका जहाँ विसर्जन है, वहीं मध्यम-मार्ग प्रकाशित

---

१. देखिए, महापंडित राहुल सांकृत्यायन का दर्शन-दिग्दर्शन, पृष्ठ ५३०-३२।

होता है। बुद्ध की दार्शनिक परिस्थिति सम्बन्धी हमारी बहुत-सी शंकाओं का निमूलन स्वयं बुद्ध-वचनों के बाद 'कथावत्थु' में बड़े अच्छे ढंग से होता है। बाद में मिलिन्दपञ्ह (प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व) में भी इस प्रकार का प्रयत्न किया गया है, किन्तु उसका महत्त्व 'कथावत्थु' के बाद ही है। इसी प्रकार बुद्ध के व्यक्तित्व को लेकर, विनय के नियमों को लेकर, बुद्ध-देशित धर्म के सरूप को लेकर, जो नाना बातें नाना प्रकार से बुद्ध परिनिर्वाण के बाद उठी, उनका कुछ लेखा-जोखा अवश्य हमें 'कथावत्थु' में मिलता है। अब हम कथावत्थु में निरुक्त विषयवस्तु का संक्षेप से दिग्दर्शन करेंगे।

कथावत्थु म निराकृत सिद्धान्तों की सूची

पहला अध्याय

१. क्या जीव, सत्त्व या आत्मा की परमार्थ-सत्ता है? वज्जिपुत्तक और सम्मितिय भिक्षुओं का विश्वास था कि 'है'। स्थविरवादी दृष्टिकोण से इसका विस्तृत खंडन किया गया है।

२. क्या अर्हत्व की अवस्था से अर्हत् का पतन सम्भव है? सम्मितिय, वज्जिपुत्तक, सब्बत्थिवादी और कुछ महासंघिक भिक्षुओं का विश्वास था कि यह सम्भव है। स्थविरवादियों ने स्रोत, आपन्न, सकृदागामी और अनागामी के विषय में तो यह माना है कि वे अपनी-अपनी अवस्थाओं से पतित होकर फिर सांसारिक बन सकते हैं, किन्तु अर्हत् का पतन तो असम्भव है।

३ क्या देवताओं में ब्रह्मचर्य की प्राप्ति सम्भव हैं? सम्मितिय भिक्षु कहते थे कि 'नहीं'। स्थविरवादी दृष्टिकोण से कहा गया है कि सम्मितिय भिक्षुओं को ब्रह्मचर्य का अर्थ समझने में ही भ्रम हो गया है। भिक्षु-जीवन (ब्रह्मचर्य) के स्वर्ग में न होते हुए भी पवित्र-जीवन (ब्रह्मचर्य) का अभ्यास करने में तो देवता स्वतन्त्र ही हैं। अतः स्थविरवादियों के अनुसार देवताओं में भी ब्रह्मचर्य की प्राप्ति सम्भव है।

४. क्या चित्त-संयोजनों (मानसिक-बन्धनों) का विनाश विभागशः होता है? सम्मितियों का विश्वास था कि स्रोत आपन्न व्यक्ति दुःख और दुःख-समुदय का ज्ञान प्राप्त कर, प्रथम तीन चित्त-बन्धनों के केवल कुछ अंशों को उच्छिन्न करता है और बाकी अंशों को अधिक ऊँची अवस्थाओं को प्राप्त करने के बाद उच्छिन्न करता है। स्थविरवादियों का इसके विपरीत तर्क यह है कि इस प्रकार एक ही व्यक्ति को विभागशः स्रोत, आपन्न और विभागशः स्रोत आपन्न नहीं भी मानना पड़ेगा। सम्मितियों ने अपनी स्थिति के समर्थन

के लिए बुद्ध-वचन को उद्धृत किया है। किन्तु स्थविरवादियों ने दूसरा बुद्ध-वचन उद्धृत कर उनकी स्थिति को स्वीकार नहीं किया है।

५. क्या संसार में रहते हुए भी कोई मनुष्य राग और द्वेष से मुक्त हो सकता है? सम्मितियों का विश्वास था कि हो सकता है। स्थविर ने इसे स्वीकार नहीं किया है।

६. क्या सब कुछ है? (सब्बं अत्थि?) सब्बत्थिवादियों (सर्वास्तिवादियों) का विश्वास था कि भूत, वर्तमान और भविष्यत् के सभी भौतिक और मानसिक धर्मों की सत्ता है। स्थविरवादियों के मतानुसार अतीत समाप्त हो चुका, भविष्यत् अभी उत्पन्न नहीं हुआ है, केवल वर्तमान ही की सत्ता है।

७. सिद्धांत छह का ही पूरक है।

८. क्या यह सत्य है कि भूत और भविष्यत् की कुछ वस्तुओं का अस्तित्व है और कुछ का नहीं? कस्सपिक भिक्षु कहते थे कि अतीत भी अंशतः वर्तमान में विद्यमान है और जिस भविष्य के पदार्थों के होने का हम दृढ़ निश्चय कर सकते हैं, उनकी भी सत्ता मान सकते हैं। स्थविरों ने इसे स्वीकार नहीं किया है।

९. क्या सभी पदार्थ स्मृति के आलम्बन हैं? अन्धकों का ऐसा विश्वास था, किन्तु स्थविरों ने खण्डन किया है।

१०. क्या भूत, वर्तमान और भविष्यत् के पदार्थों का अस्तित्व एक प्रकार से है और दूसरे प्रकार से नहीं? अन्धकों का ऐसा विश्वास, किन्तु स्थविरों द्वारा खंडन।

दूसरा अध्याय

११. क्या अर्हत् का वीर्य-पतन सम्भव है? "अत्थि अरहतो सुक्कविस्सट्ठि?" पूर्वशैलीय और अपरशैलीय भिक्षुओं का विश्वास था कि भोजन-पान के कारण यह सम्भव है। स्थविरों ने इसे नहीं माना है।

१२. १४. क्या अर्हत् को अज्ञान और संशय हो सकते हैं और दूसरों से वह पराजित किया जा सकता है? पूर्वशैलीय भिक्षुओं का विश्वास था कि लौकिक ज्ञान के विषय में यह सर्वथा सम्भव है। स्थविरों ने इसका विरोध नहीं किया, किन्तु अर्हत् को कभी भी अविद्या या विचिकित्सा हो सकती है, इसे उन्होंने नहीं माना।

१५. क्या ध्यानावस्था में वाणी-व्यापार भी सम्भव है? पूर्वशैलीय भिक्षुओं का ऐसा विश्वास, किन्तु उसका निराकरण।

१६. क्या 'दुःख'-'दुःख' कहने से स्रोत, आपत्ति आदि चार ब्रह्मचर्य की अवस्थाओं की प्राप्ति हो सकती है ? पूर्वशैलीय भिक्षुओं के इस मिथ्या विश्वास का निराकरण।

१७. क्या कोई चित्त-अवस्था सम्पूर्ण दिन भर रह सकती है ? अन्धकों के इस विश्वास का निराकरण।

१८. क्या सभी संस्कार तप्त, दहकते हुए अंगारों के समान हैं ? भगवान् के एक वचन के अनुसार गोकुलिक भिक्षु सभी संस्कारों को दुःखमय ही मानते थे। स्थविरवादियों ने क्षणिक सुखमय संस्कारों की भी सत्ता मानी है।

१९. क्या ब्रह्मचर्य की चार अवस्थाओं (स्रोत आपत्ति आदि का साक्षात्कार विभागशः होता है। अन्धक, सब्बत्थिवादी, सम्मितिय और भद्रयानिक भिक्षुओं का ऐसा ही विश्वास। स्थविरवादियों का मत सिद्धान्त-संख्या ४ के समान।

२०. क्या बुद्ध का लोकोत्तर व्यापार (वोहार-वाणी) जैसी कोई चीज है ? अन्धक भिक्षु मज्झिम-निकाय के एक वचन के आधार पर ऐसा ही मानते थे। स्थविरवादी मतानुसार ब्रह्मचर्य-संलग्न चित्त और निर्वाण ही लोकोत्तर है।

२१. क्या दुःख-विमुक्ति भी दो हैं और निर्वाण भी दो ? महीशासक और अन्धक भिक्षु कहते थे कि ऐसा ही है। एक दुःख-विमुक्ति है चिन्तन या प्रतिसंख्यान (पटिसंखा) के द्वारा प्राप्त की हुई और दूसरी उसके बिना। इसी प्रकार एक निर्वाण है प्रतिसंख्यान के द्वारा प्राप्त किया हुआ और दूसरा उसके बिना। इसका निराकरण किया गया है।

तीसरा अध्याय

२२-२३. क्या तथागत के दस बल उनके शिष्यों को भी प्राप्त हो सकते हैं ? अन्धकों की मान्यता इसके पक्ष में है।

२४. क्या विमुक्त होता हुआ मन लोभग्रस्त होता है ? अन्धकों का विश्वास था कि अर्हत्त्व प्राप्त कर लेने पर ही लोभ से पूर्णतः विमुक्ति मिलती है।

२५. क्या विमुक्ति क्रमशः क्रिया के रूप में होनेवाली वस्तु है ?

२६. क्या स्रोत आपन्न का मत-वाद सम्बन्धी बन्धन नष्ट हुआ रहता है। अन्धक और सम्मितियों की ऐसी ही मान्यता थी। स्थविरवादी मत

मध्यमार्गीय दृष्टिकोण लेता है, अर्थात् उसकी मान्यता है कि स्रोत आपन्न का मत-वाद सम्बन्धी बन्धन टूटने लगता है। किन्तु पूर्णतः टूट चुका हुआ नहीं होता।

२७. क्या स्रोत आपन्न को श्रद्धेन्द्रिय आदि इन्द्रियों (जीवन-शक्तियों) की प्राप्ति हो जाती है ? अन्धकों का ऐसा ही विश्वास।

२८-२९. क्या चर्म-चक्षु दिव्य-चक्षुओं में परिवर्तित हो सकते हैं, यदि उनका आधार कोई मानसिक धर्म हो ? अन्धकों की ऐसी ही मान्यता।

३०. क्या दिव्य-चक्षु प्राप्त कर लेना कर्म के स्वरूप को समझ लेना ही है ?

३१. क्या देवताओं में संयम पाया जाता है ?

३२. क्या अचेतन प्राणी (असञ्ञ-सत्त.) भी विज्ञान (चित्त) से युक्त होते हैं ? अन्धकों का विश्वास था कि बिना चित्त के पुनर्जन्म नहीं होता। अतः कम-से-कम मृत्यु और पुनर्जन्म के क्षण में अचेतन प्राणियों के भी विज्ञान होता है।

३३. क्या नैवसंज्ञानासंज्ञायतन में विज्ञान उपस्थित नहीं रहता ? अन्धकों का विश्वास कि नहीं रहता।

चौथा अध्याय

३४. क्या गृहस्थ भी अर्हत् बन सकता है ? उत्तरापथकों का विश्वास। स्थविरवादी मतानुसार अर्हत् होने पर मनुष्य गृहस्थाश्रम में नहीं रह सकता।

३५. क्या जन्म के अवसर पर ही कोई अर्हत् बन सकता है ? उत्तरापथकों का भ्रम।

३६. क्या अर्हत् की प्रत्येक उपयोग-सामग्री भी पवित्र (अनास्रव—मल-रहित) होती है ? उत्तरापथकों का मत ?

३७. क्या अर्हत् होने के बाद भी मनुष्य को चार मार्ग-फलों की प्राप्ति बनी हुई रहती है ? उत्तरापथकों का विश्वास।

३८. क्या ६ प्रकार की उपेक्षाओं को अर्हत् एक ही क्षण में एक ही साथ धारण कर सकता है ? किस सम्प्रदाय की यह मान्यता थी, इसका उल्लेख नहीं किया गया है। स्थविरवादी मतानुसार ऐसी अवस्था सम्भव नहीं है।

३९. क्या बोधि-मात्र से बुद्ध हो जाता है। उत्तरापथकों का भ्रमात्मक विश्वास 'बोधि' का अर्थ न समझने के कारण।

४०. क्या ३२ महापुरुष-लक्षणों से युक्त प्रत्येक मनुष्य बोधिसत्व है ? उत्तरापथकों का विश्वास।

४१. क्या बोधिसत्व को बुद्ध काश्यप की शिष्यता में ही सम्यक् मार्ग की प्राप्ति हो गयी थी ? अन्धकों का ऐसा विश्वास था।

४२. ३७ के समान।

४३. क्या संयोजनों (चित्त-बन्धनों) के ऊपर विजय प्राप्त कर लेने का नाम ही अर्हत्व है ? अन्धकों का विश्वास।

पाँचवाँ अध्याय

४४. क्या विमुक्ति और विमुक्ति-ज्ञान, दोनों एक ही वस्तु हैं ? अन्धकों की यही मान्यता।

४५. क्या शैक्ष्य (जिसे अभी सीखना बाकी है, या जिसने अर्हत्व की अवस्था अभी प्राप्त नहीं की है) को अशैक्ष्य (अर्हत्)—सम्बन्धी ज्ञान भी उपस्थित रहता है ? उत्तरापथकों का विश्वास।

४६. पृथ्वी-कृत्स्न के द्वारा ध्यान करने वाले का ज्ञान क्या मिथ्या-ज्ञान ही है ? अन्धकों का विश्वास।

४७. क्या 'अ-नियत' (चार आर्य-मार्गों में जो प्रतिष्ठित नहीं हुआ है) को 'नियाम' (आर्य-मार्ग की चार अवस्थाएँ यथा स्रोत आपत्ति, सकृदागामी, अनागामी और अर्हत्व) सम्बन्धी ज्ञान उपस्थित रहता है ? उत्तरापथकों का ऐसा ही विश्वास।

४८. क्या सभी ज्ञान प्रतिसम्भिदा-ज्ञान है ? अन्धकों का विश्वास।

४९. क्या यह सत्य है कि संवृत्ति-ज्ञान (सम्मुति ञाण—व्यावहारिक ज्ञान जिसके अनुसार हम मनुष्य, वृक्ष आदि जैसी बातें कहते हैं जिनका परमार्थतः कोई अस्तित्व नहीं) का विषय भी सत्य ही है ? अन्धकों का ऐसा ही विश्वास।

५०. क्या पर-चित्त-ज्ञान का आधार चेतना ही है ? अन्धकों का ऐसा ही मत।

५१. क्या सम्पूर्ण भविष्य का ज्ञान सम्भव है ? अन्धकों के अनुसार सम्भव था ?

५२. क्या एक साथ सम्पूर्ण वर्तमान का ज्ञान सम्भव है ? अन्धकों के अनुसार सम्भव था।

५३. क्या साधक को दूसरों की मार्ग-प्राप्ति का भी ज्ञान हो सकता है? अन्धक कहते थे 'हाँ'।

छठा अध्याय

५४. क्या चार मार्गों के द्वारा आश्वासन मिल सकता है? अन्धकों का विश्वास।

५५. क्या प्रतीत्य समुत्पाद अ-संस्कृत (अ-कृत) और शाश्वत है? पूर्वशैलीय और महीशासक भिक्षुओं का ऐसा ही विश्वास था।

८६. क्या चार आर्य-सत्य अ-संस्कृत और शाश्वत हैं? पूर्वशैलीय भिक्षुओं का यही मत।

५७. क्या आकाशानन्त्यायतन (आकाश अनन्त है, ऐसे आयतन की भावना) अ-संस्कृत है?

५८. क्या निरोध-समापत्ति (निरोध-समाधि, जिसमें चित्त की वृत्तियों का पूर्णतः निरोध हो जाता है) अ-संस्कृत है? अन्धकों और उत्तरापथकों की मान्यता।

५९. क्या आकाश-अ-संस्कृत है? उत्तरापथक और महीशासकों की मान्यता।

६०-६१. क्या आकाश, चार महाभूत, पाँच इन्द्रिय और कायिक कर्म दृश्य हैं? अन्धकों की मान्यता।

सातवाँ अध्याय

६२. क्या कुछ वस्तुओं की दूसरी वस्तुओं के साथ वर्गीकरण करना असम्भव है? राजगिरिक और सिद्धार्थिक भिक्षुओं का ऐसा ही मत था।

६३. क्या ऐसे चेतसिक धर्म नहीं हैं, जो दूसरे के चेतसिक धर्मों के साथ संयुक्त हों? राजगिरिक और सिद्धार्थिक भिक्षु कहते कि नहीं हैं?

६४. क्या 'चेतसिक' नाम की कोई वस्तु ही नहीं है? 'नहीं है' यह भी कहते थे राजगिरिक और सिद्धार्थिक भिक्षु ही।

६५. क्या दान देना भी चित्त की एक अवस्था का ही नाम है? राजगिरिक और सिद्धार्थिक भिक्षुओं का ऐसा ही विश्वास।

६६. क्या दान-उपभोग के साथ दान का पुण्य भी बढ़ता है? राजगिरिक, सिद्धार्थिक और सम्मितिय भिक्षुओं का विश्वास।

६७. क्या यहाँ दिया हुआ दान अन्यत्र (पितरों के द्वारा) उपभोग किया जा सकता है? यह प्रश्न बड़ा महत्त्वपूर्ण था, जिस पर बौद्धों को भी उस

युग में सोचना पड़ा। 'पेतवत्थु' और 'खुद्दक-पाठ' के विवेचनों में हम पहले इसका कुछ निर्देश कर चुके हैं। राजगिरिक और सिद्धार्थिक भिक्षुओं का विश्वास था कि यहाँ दिये हुए भोजन का उपभोग पितर अपने लोक में करते हैं। स्थविरवादियों के अनुसार भोजन का साक्षात् उपभोग तो उनके लिये सम्भव नहीं है, किन्तु यहाँ दिये हुए दान के कारण प्रेतों के मन पर अच्छा प्रभाव अवश्य पड़ता है और वह उनके कल्याण के लिए होता है।

६८. क्या पृथ्वी भी कर्म विपाक है? अन्धकों का विश्वास।

६९. क्या जरा और मृत्यु कर्म-विपाक है? अन्धकों का विश्वास।

७०. क्या चार आर्य-मार्गों से संयुक्त चित्त की अवस्थाएं कर्म-विपाक पैदा नहीं करतीं? अन्धकों का विश्वास।

७१. क्या एक कर्म-विपाक दूसरे कर्म-विपाक को पैदा करता है? अन्धकों का ऐसा ही विश्वास।

आठवाँ अध्याय

७२. क्या जीवन के छह लोक हैं। अन्धक और उत्तरापथकों की मान्यता। स्थविरवादी केवल पाँच लोक मानते थे, मनुष्य-लोक, पशु-लोक, नरक-लोक, यक्ष-लोक और देव-लोक। अन्धक और उत्तरापथक एक छोटे लोक, असुर-लोक को भी मानते थे।

७३. क्या दो जन्मों के बीच में कुछ व्यवधान होता है? पूर्वशैलीय और सम्मितिय भिक्षुओं के अनुसार होता था।

७४. क्या काम-धातु का अर्थ केवल काम-वासना-सम्बन्धी पांच विषयों का उपभोग ही है? पूर्वशैलीय भिक्षु मानते थे कि काम-धातु से तात्पर्य केवल पांच इन्द्रियों (चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय) सम्बन्धी विषय-भोगों से है। स्थविरवादी परम्परा में इसका विस्तृत अर्थ लिया गया है, अर्थात् कामनाओं से प्रवर्तित होने वाला सारा जीव-लोक, इच्छाओं की दौड़-धूप में लगा हुआ सारा जीव-जगत्।

७५. क्या 'काम' का अर्थ है इन्द्रिय-चेतना का आधार? पूर्वशैलीय भिक्षुओं का मत।

७६-७७. क्या रूप-धातु का तात्पर्य है केवल रूप वाले पदार्थ (रूपिनी धम्मा)? और अ-रूप धातु का अर्थ है केवल अ-रूप वाले पदार्थ? अन्धकों का मत।

७८. क्या रूप-लोक का प्राणी ६ इन्द्रियों वाला होता है ? अन्धकों और सम्मितियों की मान्यता ।

७९. क्या अरूप-लोक में भी रूप है ? अन्धकों का विश्वास ।

८०. कुशल चित्त में संयुक्त कायिक-कर्म भी क्या कुशल है ? महीशासक और सम्मितियों का मत ।

८१. क्या 'रूप-जीवितेन्द्रिय' (रूप-जीवितिन्द्रिय) जैसी कोई वस्तु नहीं ? 'नहीं' कहते थे पूर्वशैलीय और सम्मितिय भिक्षु ।

८२. क्या पूर्व के बुरे कर्म के कारण अर्हत् का भी पतन हो सकता है ? पूर्वशैलीय और सम्मितिय भिक्षु कहते थे कि यह सम्भव है ।

नवाँ अध्याय

८३. क्या दस संयोजनों से विमुक्ति बिना धर्मों के अनित्य, दुःख और अनात्म स्वरूप को चिन्तन किये भी प्राप्त हो सकती है ? अन्धकों की मिथ्या धारणा ।

८४. क्या निर्वाण का चिन्तन भी एक मानसिक बन्धन है ? पूर्वशैलीय भिक्षुओं का ऐसा मत ।

८५. क्या रूप आलम्बन-युक्त है ? उत्तरापथकों का 'आलम्बन' का ठीक अर्थ न जानने के कारण यह भ्रम ।

८६. क्या सात अनुशयों (सुषुप्त चित्त-मलों) के मानसिक आधार नहीं होते ? अन्धकों और कुछ उत्तरापथकों का यही मत ।

८७. ज्या अन्तर्ज्ञान का भी मानसिक आधार नहीं होता ? बन्धकों का यही मत ।

८८. क्या भूत या भविष्यत् की चेतना का भी कोई मानसिक आधार नहीं होता ? उत्तरापथक भिक्षुओं का ऐसा मत ।

८९. क्या प्रत्येक चित्त की अवस्था में वितर्क रहता है ? उत्तरापथक भिक्षुओं की यही मान्यता ।

९०. क्या शब्द भी केवल वितर्क का ही बाहरी विस्तार (विप्फार) है । पूर्वशैलीय भिक्षुओं की यही मान्यता ।

९१. क्या वाणी सदा चित्त से सम्बन्धित नहीं है ? 'नहीं है' कहते थे पूर्वशैलीय क्योंकि भूल में हमारे मुंह से कभी-कभी ऐसी बातें निकल जाती हैं, जिन्हें हम कहना नहीं चाहते ।

९२. क्या कायिक कर्म सदा चित्त से सम्बन्धित नहीं है ? पूर्वशैलीय भिक्षओं का उपर्युक्त के समान मत ।

९३. क्या भूत और भविष्यत् की भी प्राप्तियाँ सम्भव हैं ? अन्धक कहते थे 'हाँ' ।

दसवाँ अध्याय

९४. क्या पूर्वजन्म को प्राप्त करने वाले स्कन्धों के निरोध से पूर्व ही पंच-स्कन्धों की उत्पत्ति हो जाती है ? अन्धकों का ऐसा ही मत ।

९५. क्या आर्य-अष्टांगिक-मार्ग का अभ्यास करते समय व्यक्ति का रूप उसमें सन्निविष्ट रहता है ? सम्मितिय, महीशासक और महासांघिकों का ऐसा ही विश्वास ।

९६. क्या पांच-इन्द्रिय-चेतनाओं (जैसे देखना, सुनना आदि) का उपभोग करते हुए मार्ग की भावना की जा सकती है। महीशासकों का यही विश्वास ।

९७. क्या पाँच प्रकार की इन्द्रिय-चेतनाएँ कुशल हैं ? महीशासकों की मान्यता ।

९८. क्या पाँच प्रकार की इन्द्रिय-चेतनाएँ अ-कुशल भी हैं ? उपर्युक्त के समान ही ।

९९. क्या आर्य-अष्टांगिक-मार्ग का अभ्यास करने वाला व्यक्ति दो प्रकार के शील (लौकिक और अलौकिक) का आचरण कर रहा है ? महासांघिकों का यही मत ।

१००. क्या शील कभी-कभी अ-चेतसिक भी होता है ? महासांघिकों का ऐसा ही विश्वास ।

१०१. क्या शील चित्त से सम्बन्धित नहीं है ? ९१, ९२ के समान ।

१०२. क्या मात्र ग्रहण करने से शील का विकास होता है ? महासांघिकों का ऐसा ही विश्वास ।

१०३. क्या केवल शरीर या वाणी से विज्ञप्ति कर देना भी शील है ? महीशासक और सम्मतियों का ऐसा ही मत ।

१०४. क्या नैतिक उद्देश्य की अविज्ञप्ति अकुशल है ? महासांघिकों का यही मत।

ग्यारहवाँ अध्याय

१०५. क्या सात अनुशय अव्याकृत है ? महासांघिकों की यही मान्यता थी ।

१०६. क्या ज्ञान से असंयुक्त चित्त की अवस्था में भी किसी को अविद्या से विमुक्त और विद्या से युक्त कहा जा सकता है ? महासांघिक कहते थे, 'कहा जा सकता है ।'

१०७. क्या अन्तर्ज्ञान चित्त से अयुक्त भी हो सकता है? पूर्वशैलीय भिक्षु कहते थे कि हो सकता है।

१०८. क्या दुःख आर्य-सत्य का ज्ञान मात्र यह कहने से हो जाता है 'यह दुःख है?' अन्धकों का ऐसा ही विश्वास था।

१०९. क्या योग कीं विभूतियों से युक्त मनुष्य कल्प भर तक रह सकता है? महासांघिक भिक्षु कहते थे 'हाँ'।

११०. क्या चित्त-प्रवाह (चित्त-सन्तति) समाधि में भी रहता है? सर्वास्तिवादी और उत्तरापथकों का विश्वास।

१११. क्या पदार्थों का नियमित स्वरूप स्वयं निष्पक्ष (निष्फन्न) है? अन्धकों का विश्वास।

११२. क्या अनित्यता स्वयं निष्पन्न है, जैसे अनित्य पदार्थ? यह मत भी अन्धकों का था।

बारहवाँ अध्याय

११३. क्या केवल संयम और अ-संयम ही कुशल और अकुशल कर्मों की उत्पत्ति करने वाले हैं? महासांघिकों का ऐसा ही विश्वास।

११४. क्या प्रत्येक कर्म का विपाक अवश्य होता है? महासांघिकों का ऐसा ही विश्वास था। स्थविरवादियों के मत के अनुसार अव्याकृत कर्म का विपाक नहीं होता।

११५-११६. क्या वाणी और शरीर की इन्द्रियाँ भी पूर्वजन्म के कर्म के परिणामस्वरूप हैं? महासांघिकों का ऐसा ही विश्वास था।

११७. क्या वे स्रोत आपन्न व्यक्ति जो अधिक-से-अधिक सात बार आवागमन में घूमने के बाद निर्वाण प्राप्त करते हैं (सत्तक्खत्तु-परम), उस काल के अन्त होने पर ही निर्वाण प्राप्त करते हैं? उत्तरापथकों का ऐसा ही मत।

११८. क्या वे स्रोत आपन्न व्यक्ति जो एक कुल से दूसरे कुल में जन्म लेने के बाद (कोलंकोल) या सिर्फ एक ही बार और जन्म लेने के बाद (एकवीजी) निर्वाण प्राप्त करते हैं, उस काल के अन्त होने पर ही निर्वाण प्राप्त करते हैं? उत्तरापथकों का ही मत।

११९. क्या सम्यक् दृष्टि-सम्पन्न व्यक्ति जान-बूझकर हत्या कर सकता है? पूर्वशैलीय भिक्षु कहते थे कि ऐसा मनुष्य अभी क्रोध-मुक्त नहीं हुआ, अतः क्रोध के आवेश में उसके लिए ऐसा करना असम्भव नहीं है।

१२०. क्या सम्यक्-दृष्टि-सम्पन्न व्यक्ति दुर्गतियों से विमुक्त हो जाता है? उत्तरापथकों का यह मत था। स्थविरवादियों के मतानुसार दुर्गति के दो अर्थ हैं, पशु-योनि आदि दुर्गतियाँ और इच्छा-आसक्ति आदि दुर्गतियाँ : उपर्युक्त व्यक्ति उनके मतानुसार केवल प्रथम दुर्गति से विमुक्त हो जाता है।

१२१. क्या स्रोत आपन्न व्यक्ति अपने सातवें जन्म में दुर्गतियों से विमुक्त हो जाता है? उपर्युक्त के समान।

तेरहवाँ अध्याय

१२२. क्या जीवन-काल (कल्प-कप्प) के लिये दंडित व्यक्ति युग-काल (कल्प-कप्प) तक दंड भोगेगा? 'कल्प' का अर्थ न समझने के कारण राज-गिरिक भिक्षुओं का यह भ्रम था।

१२३. क्या नरक में यातना पाता हुआ प्राणी कुशल-चित्त की भावना नहीं कर सकता? 'नही कर सकता' कहते थे उत्तरापथिक। स्थविरवादियों के अनुसार वह उस अवस्था में भी कुछ कुशल कर्म कर सकता है।

१२४. क्या पितृ-वध आदि दुष्कृत्यों को करनेवाला भी कभी आगे चलकर शुभ कर्म-पथ पर आ सकता है? उत्तरापथक कहते थे 'आ सकता है।' कि स्थविरवादियों के अनुसार वह उसी अवस्था में आ सकता है, जबकि बिना निश्चय किये हुए और दूसरे की आज्ञानुसार उसने ऐसा किया हो।

१२५ क्या व्यक्ति का भाग्य उसके लिए पहले से ही निश्चित (नियत) है? पूर्वशैलीय और अपरशैलीय भिक्षुओं का ऐसा ही विश्वास था।

१२६-१२७. क्या ५ नीवरणों (चित्त के आवरणों) और १० संयोजनों (चित्त-बन्धनों) को जीतते समय भी व्यक्ति इनसे युक्त हो सकता है? उत्तरापथक भिक्षुओं का विश्वास था कि हो सकता है।

१२८. क्या ध्यान के अन्दर ध्यान का आस्वाद होता है और ध्यान की इच्छा ही उसका आलम्बन (विषय) है? अन्धकों का ऐसा ही विश्वास।

१२९. क्या सुखकर वस्तु के लिए भी आसक्ति हो सकती है? उत्तरापथकों का ऐसा ही विश्वास।

१३०. क्या मन के विषयों की तृष्णा (धम्म-तण्हा) अव्याकृत है और

१३१. क्या वह दुःख का कारण नहीं है? ये दोनों मत पूर्वशैलीय भिक्षुओं के थे।

चौदहवाँ अध्याय

१३२. क्या कुशल-मूल (अशोभ, अ-द्वेष, अ-मोह) अ-कुशल मूलों (लोभ, द्वेष, मोह) के बाद पैदा होते हैं? महासांघिकों का मिथ्या विश्वास था।

१३३. माता के पेट में गर्भ में आते समय क्या ६ इन्द्रियों (चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय, मन) साथ-साथ ही उत्पन्न होती हैं? पूर्वशैलीय भिक्षुओं का ऐसा ही विश्वास था।

१३४. क्या एक विज्ञान (चक्षु-विज्ञान आदि) किसी दूसरे विज्ञान के बाद उत्पन्न हो सकता है? उत्तरापथक भिक्षुओं का ऐसा ही विश्वास था।

१३५. क्या वाणी और शरीर का पवित्र भौतिक कार्य चार महाभूतों से ही उत्पन्न होता है? उत्तरापथकों का यही विश्वास था।

१३६. क्या कामवासना-सम्बन्धी अनुशय और उसका प्रकाशन दो विभिन्न वस्तुएँ हैं? अन्धकों का यही विश्वास था।

१३७. क्या अनुशयों का प्रकाशन चित्त से असंयुक्त (विप्पयुत्त) है? अन्धकों का यही मत था।

१३८. क्या रूप-राग, रूप-धातु में ही अन्तर्हित और सम्मिलित है? अन्धक और सम्मितिय भिक्षुओं का यही विश्वास था।

१३९. क्या मिथ्या मत-वाद अ-व्याकृत हैं? अन्धक और सम्मितिय भिक्षुओं का यही मत था। वे 'अव्याकृत' शब्द के ठीक अर्थ को नहीं समझते थे।

१४०. क्या मिथ्या मत-वाद, लौकिक क्षेत्र से असम्बन्धित, साधकों के लोकोत्तर क्षेत्र में भी पाये जाते हैं? पूर्वशैलीय भिक्षुओं का यह मिथ्या विश्वास था।

पन्द्रहवाँ अध्याय

१४१. क्या 'प्रतीत्यसमुत्पाद' का प्रत्येक धर्म (अवस्था) केवल एक ही प्रत्यय का सूचक है? महासांघिक भिक्षुओं का ऐसा ही मत था।

१४२. क्या यह कहना गलत है कि 'संस्कारों के प्रत्यय से अविद्या की उत्पत्ति होती है,' जैसे कि 'अविद्या के प्रत्यय से संस्कारों की उत्पत्ति होती है?' महासांघिकों के मतानुसार यह कहना गलत ही था। स्थविरवादियों इसे 'सहजात-प्रत्यय' या 'अन्योन्य-प्रत्यय' के आधार पर व्याख्यात ने किया है और गलत नहीं माना।

१४३. क्या काल (परिनिष्पन्न (परिनिष्फन्न) है?

१४४. क्या काल के सभी क्षण परिनिष्पन्न हैं?

१४५. क्या आस्रव (काम-आस्रव, भवास्रव, दृष्टि-आस्रव, अविद्यास्रव) दूसरे आस्रवों से असंलग्न है ? हेतुवादी भिक्षुओं का यही मत था।

१४६. क्या लोकोत्तर भिक्षुओं के जरा और मरण भी लोकोत्तर होते हैं ? महासांघिकों का यह मत था। स्थविरवादियों के मतानुसार इनकी भौतिक या मानसिक सत्ता ही नहीं है, अतः न ये लौकिक है, न लोकोत्तर।

१४७. क्या निरोध-सभापति (निरोध-समाधि) लोकोत्तर है ? हेतुवादियों का मत।

१४८. क्या वह लौकिक (लोकिय) है ? पूर्वोक्त के समान।

१४९. क्या निरोध समाधि की अवस्था में मृत्यु भी हो सकती है ? राजगिरिक कहते थे कि हो सकती है। स्थविरवादी भिक्षुओं के मतानुसार नहीं हो सकती।

१५०. क्या निरोध-समाधि के बाद संज्ञा-हीन प्राणियों (असञ्ञसत्ता) के लोक में उत्पत्ति होती है ? हेतुवादियों का यही मिथ्या विश्वास था।

१५१. क्या कर्म और कर्म-संचय दो विभिन्न वस्तुएँ हैं ? अन्धक और सम्मितियों का ऐसा ही विश्वास।

सोलहवाँ अध्याय

१५२-१५३. क्या कोई व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति के मन को नैतिक रूप से शिक्षित कर सकता है या उसे सहायता पहुँचा सकता है ? महासांघिकों का यह मत था।

१५४. क्या एक व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति के मन में सुख उत्पन्न कर सकता है ? हेतुवादियों का ऐसा विश्वास था।

१५५. क्या एक ही समय अनेक वस्तुओं की ओर हम ध्यान दे सकते हैं ? पूर्वशैलीय और अपरशैलीय भिक्षुओं के मतानुसार यह सम्भव था।

१५६-१५७. क्या रूप भी एक हेतु है ? क्या यह हेतुओं से युक्त है ? ये दोनों मत उत्तरापथकों के थे।

१५८. क्या रूप कुशल या अकुशल हो सकता है ? महीशासक और सम्मितिय भिक्षुओं का यह विश्वास था।

१५९. क्या रूप कर्म-विपाक है ? अन्धक और सम्मितियों की मान्यता।

१६०. क्या रूपावचर और अरूपावचर लोकों में भी रूप है ? अन्धकों का ऐसा ही विश्वास था।

१६१. क्या रूप-राग और अरूप-राग, क्रमशः रूप-धातु और अरूप-धातु में सम्मिलित हैं ? अन्धकों की यही मान्यता थी।

सत्रहवाँ अध्याय

१६२. क्या अर्हत् भी पुण्यों का संचय करता है ? अन्धकों की मान्यता ।

१६३. क्या अर्हत् की अकाल मृत्यु नहीं हो सकती ? नहीं हो सकती ("नत्थि अरहतो अकालमच्चु"), ऐसा राजगिरिक और सिद्धार्थिक भिक्षु मानते थे ।

१६४. क्या हर वस्तु कर्मों के कारण है ? राजगिरिक एवं सिद्धार्थिक भिक्षु ऐसा ही विश्वास रखते थे ।

१६५. क्या दुःख छह इन्द्रिय-अनुभूतियों तक ही सीमित है ? हेतुवादियों की यह मान्यता थी ।

१६६. क्या आर्य-मार्ग को छोड़कर सभी वस्तुएँ और संस्कार, दुःख (कृत) हैं । हेतुवादियों का ऐसा ही विश्वास था ।

१६७. क्या यह कहना गलत है कि संघ दान ग्रहण करता है ? न वत्तब्बं सङ्घो दानं गण्हाति" यह मत वेतुल्यक नामक महाशून्यतावादियों का था । संघ की चार आर्य-मार्गों और उनके फलों के रूप में व्याख्या करना इनका मुख्य सिद्धान्त था । इनके सिद्धान्तों में हम महायान-धर्म के बीज पाते हैं ।

१६८-७१. क्या यह कहना गलत है कि संघ दान को पवित्र करता है, या स्वयं उसे खाता-पीता है, या संघ को दान की हुई वस्तु बड़ा पुण्य पैदा करती है, या बुद्ध को दान की हुई वस्तु बड़ा पुण्य पैदा करती है ? ये सब सिद्धान्त वेतुल्यक नामक महाशून्यवादियों के थे । इन्हीं से बाद में महायान-सम्प्रदाय का विकास हुआ ।

१७२. क्या दान देने वाले के द्वारा ही पवित्र किया जाता है, ग्रहण करने वाले के द्वारा नहीं ? उत्तरापथकों का यही विश्वास था ।[1]

---

१. मिलाइये, ज्ञानातिलोक "According to my opinion वेतुल्य is a distortion of वैपुल्य and the वैपुल्य sutras of the Mahayana refer to the above-mentioned hereties (Vetulyakas known as महाशून्यतावादिन् s) whose ideas, too, appear to be purfectly Mahayanistic" गाइड थ्रू दि अभिधम्म-पिटक, पृष्ठ ६०; राहुल सांकृत्यायन : "वैपुल्य ही वह नाम है जिससे महायान आरम्भिक काल में प्रसिद्ध हुआ ।" पुरातत्व निबन्धावली, पृष्ठ १३१ । वास्तव में 'वेतुल्यवाद' के रूप में यह महायानिक सम्प्रदाय कुछ समय तक सिंहल में भी चला । 'शून्यता' (सुञ्ञता)

अठारहवाँ अध्याय

१७३-७४. क्या यह कहना गलत है कि बुद्ध मनुष्यों के लोक में रहे ? "बुद्धो भगवा मनुस्सलोके अट्ठासि ?" क्या यह भी गलत है कि उन्होंने उपदेश दिया ? 'हाँ गलत ही है' ऐसा वेतुल्यक (वैपुल्यक) कहते थे। उनके मतानुसार बुद्ध वास्तव में तुषित-लोक में ही रहे और उन्होंने अपने निर्मित रूप को पृथ्वी पर दिखाया, जिसने ही धर्मोपदेश किया। "अभिनिम्मितेन देसितो।" बाद में चलकर महायान-धर्म के अनेक शास्त्रों और आचार्यों ने कहा, "बुद्ध ने तो कुछ प्रकाशित नहीं किया है", "भगवान् तथागत मौन हैं।" "उन्होंने कुछ भाषित नहीं किया", "उन्होंने कहीं भी, किसी को, कोई धर्म उपदेश नहीं किया", "तथागत ने एक अक्षर भी नही कहा", आदि, आदि। इस सबके बीज हम यहाँ पाते हैं।

१७५. क्या बुद्ध को करुणा उत्पन्न नहीं हुई ? 'नहीं हुई' कहते थे उत्तरापथक, क्योंकि करुणा को भी वे आसक्ति का ही रूप मानते थे।

१७६. क्या यह सत्य है कि भगवान् बुद्ध के मल-मूत्र में से भी अद्वितीय सुगन्ध आती थी ? अन्धक और उत्तरापथकों का यही मत था। उनका

के विचार का निर्देश संयुत्त-निकाय के ओपम्म-वग्ग में तथा अंगुत्तर-निकाय के अनागतभय-सूत्रों (पंचक निपात) में हुआ है। अंगुत्तर-निकाय के 'ततिय-अनागतभयसुत्त' (पञ्चक निपात) में तथागत-भाषित सूत्रों को 'शून्यता-प्रतिसंयुक्त' बताया गया है। "ये ते सुत्तन्ता तथागतभासित्ता सुञ्ञतापटिसंयुत्ता।" इस विषय सम्बन्धी अधिक निरूपण के लिए देखिए श्रीमती रायस डेविड्स। ए बुद्धिस्ट मेनुअल ऑव साइकोलोजीकल एथिक्स (धम्मसंगणि का अनुवाद), पृष्ठ ४२ (भूमिका); देखिये सद्धर्मपुण्डरीक-सूत्र में "वैपुल्यसूत्राणि प्रकाशयामि।" २।५२ तथा "वैपुल्यसूत्राणि च धारयेत।" ३।१४६ (डॉ० नलिनाक्ष दत्त द्वारा सम्पादित देवनागरी संस्करण, कलकत्ता, १९५३)। 'वैपुल्य' शब्द के सम्बन्ध में मिलाइये 'दि सूत्र ऑव वे-लेंग्', पृष्ठ ८५ भी। (लन्दन, १९४४)। बोधिधर्म ने चीनी सम्राट् वू-ति के दानादि कृत्यों में कोई पुण्य नहीं माना था। वे 'धर्मकाय' में, 'मन के सार' में, महाशून्यता में, वास्तविक 'पुण्य' मानते थे। मुझे स्पष्टतः लगता है कि ध्यान-सम्प्रदाय का भी विशेष सम्बन्ध कथावस्तु में निर्दिष्ट इन महाशून्यातावादी वेतुल्यकों से होना चाहिए।

कहना था "बुद्धस्स भगवतो उच्चारपस्सावो अतिविय अञ्ञे गन्धजाते अधिगण्हाति ।"

१७७. क्या केवल एक आर्य-मार्ग के अभ्यास से चारों आर्य-मार्गों (स्रोत आपत्ति आदि) के फलों को प्राप्त किया जा सकता है ?

१७८. क्या एक ध्यान के ठीक बाद दूसरे ध्यान में साधक प्रवेश कर सकता है? महीशासकों का ऐसा ही विश्वास था ।

१७९. जिसे द्वितीय ध्यान कहा जाता है, वह क्या केवल प्रथम और द्वितीय ध्यान के बीच की अवस्था है ? सम्मितिय और कुछ अन्धकों का ऐसा ही विश्वास था ।

१८०. क्या साधक ध्यान में शब्दों को सुन सकता है ? पूर्वशैलीय भिक्षुओं की यही मान्यता थी ?

१८१. क्या दृश्य पदार्थ आँखों से ही देखे जाते हैं ? महासांघिकों के मतानुसार 'पसाद-चक्खु', जो केवल भौतिक विकार है, देखती है। स्थविरवादियों के मतानुसार वह केवल देखने का आधार या आयतन है और जो देखता है, वह तो वास्तव में चक्षु-विज्ञान है ।

उन्नीसवाँ अध्याय

१८२. क्या हम भूत, वर्तमान और भविष्यत् के मानसिक क्लेशों पर विजय प्राप्त कर सकते हैं ? उत्तरापथकों के अनुसार कर सकते हैं ।

१८३. क्या शून्यता संस्कार-स्कन्ध में सम्मिलित है ? अन्धकों के अनुसार सम्मिलित है ।

१८४. क्या मार्ग-फल अ-संस्कृत है ? पूर्वशैलीय भिक्षुओं का मत ।

१८५. क्या किसी वस्तु की प्राप्ति स्वयं अ-संस्कृत है ? पूर्वशैलीय भिक्षुओं का मत ।

१८६. क्या 'तथता' (वस्तुओं का निश्चित भाव) अ-संस्कृत है ? उत्तरापथकों में से कुछ का यह विश्वास था । बाद में चलकर अश्वघोष के 'भूत-तथता' के सिद्धान्त का यहाँ बीज पाया जाता है । महायान में तथता का विस्तृत दर्शन है ।

१८७. क्या निर्वाण-धातु कुशल है ? अन्धकों का मत । कुशल को सामान्यतः 'निर्दोष' या 'पवित्र' मानकर वे निर्वाण को भी 'कुशल' कहते थे ।

१८८. क्या सांसारिक मनुष्य (पृथग्जन) में भी अत्यन्त नियमवत्ता (अच्चन्त-

नियामता) हो सकती है ? उत्तरापथकों में से कुछ के मतानुसार हो सकती है ।

१८९. क्या ऐसी श्रद्धेन्द्रिय आदि इन्द्रियाँ नहीं हैं जो लौकिक हों और जिन्हें साधारण आदमी (पृथग्जन) भी प्राप्त कर सके ? नहीं हैं, ऐसा मही-शासक और हेतुवादी भिक्षु कहते थे ।

बीसवाँ अध्याय

१९०. क्या बिना जान-बूझ कर किये हुए पितृ-वध आदि अपराधों के कारण भी नरक में जन्म लेना पड़ता है ? उत्तरापथक ऐसा मानते थे ।

१९१. क्या साधारण सांसारिक मनुष्य (पृथग्जन) को सम्यक् ज्ञान नहीं हो सकता ? नहीं हो सकता, कहते थे हेतुवादी ।

१९२. क्या नरक में फाँसी लगाने वाले या चौकीदार नहीं हैं। 'नहीं हैं' कहते थे अन्धक ।

१९३. क्या देवताओं के पशु भी होते हैं। अन्धको के अनुसार होते थे ।

१९४. क्या आर्य अष्टांगिक मार्ग वास्तव में पाँच अंगों वाला ही है ? मही-शासक ऐसा ही मानते थे । सम्यक् वाणी, सम्यक् कर्मान्त और सम्यक् आजीव को वे मानसिक दशा न मानकर उनका अन्तर्भाव केवल सम्यक् व्यायाम में कर देते थे ।

१९५. क्या चतुरार्य सत्य-सम्बन्धी १२ प्रकार के ज्ञान लोकोत्तर हैं ? पूर्व-शैलीय भिक्षु उन्हें ऐसा ही मानते थे ।

इक्कीसवाँ अध्याय

१९६. क्या बुद्ध-उपदेशों में कोई संस्कार किया गया है ? क्या उनमें फिर संस्कार किया जा सकता है ? इन दोनों बातों की सम्भावना उत्तरा-पथक भिक्षु मानते थे । उनका कहना था कि तीनों संगीतियों में बुद्ध-धर्म का संस्कार हुआ है और उनका फिर संस्कार किया जा सकता है । स्थविरवादियों ने दोनों का विरोध किया है । बुद्ध की शिक्षाओं का संस्कार या सुधार सम्भव नहीं है ।

१९७. क्या सांसारिक मनुष्य (पृथग्जन) की पहुँच एक ही क्षण में काम-लोक, रूप-लोक और अ-रूप-लोक की वस्तुओं में हो सकती है ? हो सकती है, ऐसा कुछ विरोधी सम्प्रदाय के लोग मानते थे, किन्तु उनके नाम का निर्देश अट्ठकथा में नहीं किया गया है ।

१९८. क्या बिना कुछ संयोजनों का विनाश किये भी अर्हत्त्व की प्राप्ति हो सकती है ? महासांधिकों का ऐसा ही विश्वास था।

१९९. क्या बुद्ध और उनके कुछ शिष्यों को प्रत्येक वस्तु के सम्बन्ध में योग की शक्तियाँ प्राप्त हुई रहती हैं ? अन्धकों का विश्वास।

२००. क्या विभिन्न बुद्धों में भी कुछ श्रेणी का तारतम्य है ? "अत्थि बुद्धानं बुद्धेहि हीनातिरेता" ? अन्धक सम्प्रदाय के कुछ भिक्षुओं का ऐसा ही मत था। स्थविरवाद के मतानुसार उनमें हीनातिरेकता नहीं है। केवल काय, आयु, प्रभाव आदि गौण बातों में भेद है।

२०१. क्या संसार की सब दिशाओं में बुद्धों का वास है ? "सब्बा दिसा बुद्धा तिट्ठन्ति।" महासांघिकों का यह विश्वास था। बाद में महायान में इस विश्वास को विपुलता मिली। 'सद्धर्मपुण्डरीक-सूत्र' (द्वितीय परिवर्त) में कहा गया है, "दशसू दिशासू नरदेवपूजितास्तिष्ठन्ति बुद्धा यथ गंगवालिकाः। गंगा के बालू-कणों के समान असंख्य बुद्ध हैं, जो इस त्रिसाहस्री महासाहस्री लोकधातु में दसों दिशाओं में वास करते हैं। 'सद्धर्मपुण्डरीक-सूत्र' (प्रथम परिवर्त) में ही कहा गया है कि पूर्व दिशा में अठारह हजार बुद्ध-क्षेत्र हैं, जिनमें असंख्य बुद्ध वास करते हैं। इसी प्रकार अन्य दिशाओं के सम्बन्ध में भी अन्य महायान-सूत्रों में कहा गया है। मध्य में वैरोचन या महावैरोचन बुद्ध को विराजमान दिखाया गया है, पूर्व दिशा में अक्षोभ्य बुद्ध को, पश्चिम दिशा में अमिताभ बुद्ध का, उत्तर दिशा में अमोघसिद्धि बुद्ध को और दक्षिण दिशा में रत्नसम्भव बुद्ध को वास करते दिखाया गया है। इस प्रकार 'लोकधातुकोटि' नयुतशतसहस्रेषु 'कोटि', नयुत, शत-सहस्र-बुद्धाः' वास करते दिखाये गये हैं। इन सबमें अमिताभ बुद्ध को बहुत प्रमुखता मिली और उनकी भक्ति का विकास हुआ, जिसका प्रज्ञापन विशेषतः तीन सुखावती-सूत्र (सुखावती-व्यूह-सूत्र विस्तर मातृका), सुखावती, व्यूह-सूत्र (संक्षिप्त मातृका) और 'अमितायुर्ध्यान-सूत्र' करते हैं। यह सब उत्तरकालीन महायानिक विकास है जिसके बीज हमें महासांघिकों की इस मान्यता में मिलते हैं कि "सब्बा दिसा बुद्धा तिट्ठन्ति।"

२०२-३. क्या सभी वस्तुएँ और कर्म नियत हैं ? अन्धक और कुछ उत्तरापथक भिक्षुओं का ऐसा ही विश्वास था।

बाईसवाँ अध्याय

२०४. क्या बिना कुछ संयोजनों का विनाश किये भी निर्वाण की प्राप्ति हो सकती है ? अन्धकों का विश्वास था कि हो सकती है। यह मत १९८ के प्रायः समान ही है।

२०५. क्या अर्हत् के शरीर त्याग करते समय उसका चित्त 'कुशल' रहता है ? अन्धकों का यह भ्रमात्मक कथन था। 'कुशल' के दार्शनिक अर्थ को वे ठीक-ठीक न समझते थे।

२०६. क्या निश्चल (आनेञ्जजा) ध्यान की अवस्था में भी बुद्ध या किसी अर्हत् की मृत्यु हो सकती है ? उत्तरापथक सम्प्रदाय के कुछ भिक्षुओं की यही मिथ्या धारणा थी।

२०७-८. क्या गर्भ की अवस्था में या स्वप्न की अवस्था में सत्य का अन्तर्ज्ञान (धम्माभिसमय) या अर्हत्त्व की प्राप्ति सम्भव है। उत्तरापथक भिक्षु इसकी सम्भावना मानते थे।

२०९. क्या स्वप्न की अवस्था में चित्त 'अव्याकृत' रहता है ? उत्तरापथक सम्प्रदाय के कुछ भिक्षुओं की ऐसी ही मान्यता थी। स्थविरवादियों के मतानुसार कुशल और अकुशल अवस्थाएँ भी उत्पन्न हो सकती हैं।

२१०. क्या शुभ और अशुभ मानसिक अवस्थाओं की पुनरावृत्ति सम्भव नहीं हैं ? ऐसी मान्यता उत्तरापथक भिक्षुओं की थी।

२११. क्या सभी पदार्थ (धर्म) एक क्षण तक ही रहते हैं ? ऐसी मान्यता पूर्वशैलीय और अपरशैलीय भिक्षुओं की थी।

२१२. क्या पुरुष और स्त्री के संयुक्त विचार के साथ मैथुन-सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है ? यह बात वेतुल्यकों ने उठायी थी, किन्तु उन्होंने यह नहीं कहा कि उनका तात्पर्य भिक्षुओं से है या गृहस्थों से। स्थविर-वादियों ने इसका कड़ा प्रतिवाद किया है।

२१३. क्या ऐसे आ-मानुषी जीव हैं जो भिक्षुओं का रूप धारण कर मैथुन सेवन करते हैं ? उत्तरापथक सम्प्रदाय के कुछ भिक्षुओं की ऐसी मान्यता थी।

तेईसवाँ अध्याय

२१४. क्या बुद्ध ने अपनी शक्ति और इच्छा से ही बोधिसत्व होते समय पशु आदि योनियों में प्रवेश किया, माता के गर्भ में प्रवेश किया, कड़ी तपस्याएँ कीं और दूसरे गुरुओं के समीप साधना की ? अन्धकों की यह मान्यता थी।

२१५. क्या ऐसी वस्तु हैं जो स्वयं काम नहीं, किन्तु काम के समान हैं? (दया, सहानुभूति, आदि)। इसी प्रकार घृणा नहीं, किन्तु घृणा के समान हैं, (ईर्ष्या, मात्सर्य) आदि। अन्धकों की यह मान्यताएँ थीं।

२१६. क्या यह कहना ठीक है कि पंच-स्कन्ध, १२ आयतन, १८ धातु और २२ इन्द्रियाँ, 'असंस्कृत' हैं और केवल दुःख 'संस्कृत' या परिनिष्पन्न (परिनिष्फन्न) है? उत्तरापथक और हेतुवादी भिक्षुओं की ऐसी ही मान्यता थी।

ऊपर हम कथावत्थु में निराकृत २१६ मतवादों का संक्षिप्त विवरण दे चुके हैं। इनमें से बहुत कुछ अल्प महत्त्व के हैं, परन्तु अधिकांश मतवाद बड़े महत्त्व के हैं। उनसे बौद्ध धर्म के उत्तरकालीन विकास पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। वास्तव में इसी दृष्टि से उन्हें ऊपर उद्धृत भी किया गया है। कथा-वत्थु की अट्ठकथा ने जिन सम्प्रदायों के साथ उपर्युक्त मतवादों में से प्रत्येक को संलग्न किया है (कुछ को बिना संलग्न किये भी छोड़ दिया है। जैसे २५, ३०, ३१, ३८, १४३, १४४, १७७, और १९७), उनकी दृष्टि से मतवादों का संकलन करने पर निम्नलिखित सूची बनेगी, जो बौद्ध धर्म के ऐतिहासिक विकास के विद्यार्थी के लिए बड़ी आवश्यक हो सकती है—

वज्जिपुत्तक	१, २
महिंसासक (महीशासक)	२१, ५५, ५९, ८०, ९५, १०३, १५८, १७८, १८९, १९४
महासंघिक (महासांघिक)	९५-१००, १०२, १०४-६, १०९, ११३-१६, १३२, १४१; १४२, १४६, १५२, १५३, १८१, १९८, २०१
गोकुलिक	१८
सब्बत्थिवादी (सर्वास्तिवादी)	२, ६, ७, १९, ११०
सम्मितिय	१-५, १९, २६, २८, २९, ६६, ७३-७८, ८०-८२, ९५, १०३; १३८, १३९, १५१, १५८, १५९, १७९
भद्रयानिक	१९
कस्सपिक (काश्यपिक)	८
हेतुवादी	१४५, १४७-४८, १५०, १५४, १६५-६६, १८९, १९१, २१६

उत्तरापथक ३४-३७, ३९, ४०, ४५, ४७, ५८, ५९, ७२, ८५, ८६, ८८, ८९, ११०, ११७-१८, १२०, १२३-२४, १२६-२७, १२९, १३४-३५, १५०-५७, १७२, १७५-७७, १८२, १८६, १९०, १९५, २०२-३, २०६-९, २१०-१६

अन्धक ९, १०, १७, १९-२४, २६, २८, २९, ३२, ३३, ४१-४४, ४६, ४८-५४, ५८, ६०, ६१, ६८-७२, ७६-७९, ८३, ८६, ८७, ९३, ९४, १०८, १११-१२, १२८, १३६-३९, १५१, १५९-६२, १७६-७७, १७९, १८३, १८७, १९२-९३, १९९, २००, २०४-५, २१२, २१४, २१५

पुब्बसेलिय ११-१६, ५५, ५६, ७३-७५, ८१, ८२, ८४, ९०-९२, १०७, ११९, १२५, १३०, १३१, १३३, १४०, १५५, १८०, १८४,

(पूर्वशैलीय) १८५, १९५, २११

अपरसेलिय ११, १२५, १३५, २११

(अपरशैलीय)

राजगिरिक ६२-६५, ६७, १२२, १४९, १६३-६४

सिद्धत्थिक ६२-६७, १६३-१६४

(सिद्धार्थिक)

वेतुल्यक १७३-७३, २१२

महाशून्यतावादी १६७-७१[१]

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि बौद्ध धर्म के प्रारंभिक विकास को समझने के लिए 'कथावत्थु' की समीक्षाओं का कितना अधिक महत्त्व है। किन्तु ये समीक्षाएँ केवल एक सम्प्रदाय (स्थविरवाद) की हैं, यह भी हमें नहीं भूलना चाहिए। जिस प्रकार 'कथावत्थु' में स्थविरवादी दृष्टिकोण से अन्य विरोधी सिद्धान्त का खंडन किया गया है, उसी प्रकार अन्य सम्प्रदायों की परम्परा में शेष सम्प्रदायों (जिनमें स्थविरवादी भी सम्मिलित हैं) का खंडन किया गया है। उदाहरणतः वसुमित्र के 'अष्टादश-निकाय शास्त्र'[२] में सर्वास्तिवादी दृष्टि-

---

१. ज्ञानातिलोक : गाइड थ्रू दि अभिधम्म-पिटक, पृष्ठ ३८।

२. इस ग्रन्थ का मूल संस्कृत उपलब्ध नहीं है। केवल चीनी अनुवाद मिलता है, जिसका अंग्रेजी अनुवाद जापानी विद्वान् प्रो० मसूदा ने किया है। वसुमित्र द्वारा दिये गये कुछ सम्प्रदायों के परिचय के लिए देखिए बुद्धि-

कोण से शेष १७ सम्प्रदायों का खंडन किया गया है। इसी प्रकार तिब्बती और चीनी अनुवादों में कुछ अन्य सम्प्रदायों की दृष्टियों से भी खंडन-मंडन मिलते हैं।[1] चूंकि हमारे विषय से ये सीधे सम्बन्धित नहीं हैं, अतः इसके तुलनात्मक अध्ययन में पड़ना हमारे लिए अप्रासंगिक होगा। 'कथावत्थु' की दृष्टि से इतना कह देना ही आवश्यक जान पड़ता है कि अन्य बौद्ध सम्प्रदायों की परम्पराओं में प्राप्त सिद्धान्तों के विवरणों से उसके विवरणों की विभिन्नता नहीं हैं। केवल समालोचना-दृष्टि का भेद अवश्य है, जो सम्प्रदाय-विभेद के कारण आवश्यक हो गया है। जहाँ तक आपेक्षिक प्रामाण्य का सवाल है, निश्चय ही 'कथावत्थु' की परम्परा प्राचीन है और उसी का अनवर्तन बाद में 'दीपवंस' और 'महावंस' में भी मिलता है। वसुमित्र और अन्य के वर्णन अपेक्षाकृत अर्वाचीन हैं। संस्कृत बौद्ध धर्म की परम्परा का उसके मूल स्रोत से कई बार ऐतिहासिक उलट-पुलटों के कारण विच्छेद भी हो चुका है। अतः पालि वर्णन ही अधिक प्रामाणिक और समाश्रयणीय है। अतः 'कथावत्थु' के नाना सम्प्रदायों के सिद्धान्त-विवरण प्रामाणिक माने जा सकते हैं और बौद्ध धर्म के ऐतिहासिक विकास के प्रारम्भिक स्वरूप को समझने के लिए आज भी उनका पर्याप्त महत्त्व है, इसमें सन्देह नहीं।

अब अन्त में कथावत्थुकार स्थविर मौद्गलिपुत्र तिष्य के साधनापूत जीवन के प्रति कुछ श्रद्धा-सुमन भी अर्पित करें। वे पाटलिपुत्र में ब्राह्मण-परिवार में जन्मे थे और उनके पिता का नाम मौद्गलि (मोग्गलि) था। जब उनकी आयु आठ वर्ष की हुई तो सिग्गव नामक स्थविर ने उन्हें प्रव्रज्या दी और विनय की शिक्षा भी दी। सुत्त-पिटक और अभिधम्म-पिटक को उन्होंने चण्डवज्जि नामक स्थविर से पढ़ा। वेदों में निष्णात थे ही, मौद्गलिपुत्र तिष्य शीघ्र ही पाटलिपुत्र में भिक्षु-संघ के भी प्रमुख माने जाने लगे। सम्राट् अशोक ने भी उन्हें सम्मान दिया और वे महेन्द्र के उपाध्याय भी बने। परन्तु अतिशय लाभ-सत्कार से ऊब कर वे ऋषिकेश के समीप अहोगंग (अधोगंग-गङ्गा के मैदान में उतरने के स्थान के समीप) पर्वत पर चले गये और वहाँ एकान्त में ध्यान करने

स्टिक स्टडीज, पृष्ठ ८२८-३१। प्रोफेसर नलिनाक्ष दत्त ने भी अपने ग्रन्थ 'बुद्धिस्ट सैक्ट्स इन इण्डिया' (कलकत्ता, १९७०) में कथावत्थु-अट्ठकथा के साथ 'वसुमित्र के वर्णनों की तुलना करते हुए इन पूर्व बौद्ध सम्प्रदायों का परिचय दिया है।

१. देखिए जर्नल ऑव रॉयल एशियाटिक सोसायटी, १९१०, पृष्ठ ४१३।

लगे। सात वर्ष तक इस प्रकार एकान्तवास में रहकर ध्यान किया। राजा अशोक ने अपने कुछ संशयों के निवारणार्थ उन्हें बुलाना चाहा, परन्तु उन्होंने स्वीकार नहीं किया बाद में जब राजा ने यह सन्देश भिजवाया कि धर्म के खातिर वे आने का कष्ट करें, तो वे राजी हो गये और नाव में बैठ कर पाटलिपुत्र तक आये। राजा ने अपनी बाँह का सहारा देकर उन्हें नाव से उतारा। पाटलिपुत्र में अशोकाराम में उन्होंने वास किया और यहीं तृतीय सङ्गीति की। अस्सी वर्ष की अवस्था में उनकी मृत्यु हुई। अर्थात् 'कथावत्थु' की रचना के आठ वर्ष बाद, या कि अशोक के शासन के पच्चीस वर्ष बीतने पर। उन जैसे निरीह, विद्वान् भिक्षु बौद्ध धर्म के भूषण हैं, जैसे कि बाद के युगों में हुए नागसेन, बुद्धघोष आदि अन्य अनेक भिक्षु भी, जो केवल ग्रन्थकार ही नहीं थे, बल्कि बुद्ध के सच्चे अनुगामी, विनम्र, निष्प्रपञ्च, महान् साधक भी थे।

यमक[1]

'यमक' का शाब्दिक अर्थ है जोड़ा या जुड़वाँ पदार्थ। 'यमक पकरण' में प्रश्नों को जोड़ों के रूप में रक्खा गया है, यथा (१) क्या सभी कुशल-धर्म कुशल-मूल हैं? क्या सभी कुशल-मूल कुशल-धर्म हैं? (२) क्या सभी रूप रूप-स्कन्ध हैं? क्या सभी रूप-स्कन्ध रूप हैं? (३) क्या सभी अ-रूप अ-रूप-स्कन्ध हैं? क्या सभी अ-रूप-स्कन्ध अ-रूप हैं? आदि,आदि। प्रश्नों के अनुकूल और विपरीत स्वरूपों का यह जोड़ा बनाना इस ग्रन्थ में आदि से अन्त तक देखा जाता है। इसीलिए इसका नाम 'यमक' पड़ा है। 'यमक' का मुख्य विषय है अभिधम्म में प्रयुक्त शब्दावली की निश्चित व्याख्या करना। अतः उसका अभिधम्म-दर्शन के लिए वही महत्त्व और उपयोग है, जो एक निश्चित पारिभाषिक शब्द-कोश का किसी पूर्ण दर्शन-प्रणाली के लिए। उसकी बहुत कुछ शुष्कता का भी वही कारण है। 'यमक' दस अध्यायों में विभक्त है, जिनमें निर्दिष्ट विषयों के साथ धम्मों के सम्बन्धों को दिखाना ही उसका लक्ष्य है। अध्यायों के विषय उनके नामों से ही स्पष्ट हो जाते हैं, यथा—

---

१. श्रीमती रायस डेविड्स एवं अन्य तीन सहायक सम्पादकों द्वारा रोमन लिपि में सम्पादित एवं पालि टैक्स्ट सोसायटी (लन्दन, १९११ एवं १९१३) द्वारा दो जिल्दों में प्रकाशित। देवनागरी लिपि में भिक्षु जगदीश काश्यप द्वारा सम्पादित एवं बिहार राज्य के पालि प्रकाशन मण्डल द्वारा सन् १९६१ में ३ भागों में प्रकाशित।

(१) मूल-यमक---कुशल, अकुशल और अव्याकृत, ये तीन 'मूल' धर्म या पदार्थ ।
(२) खन्ध-यमक---पञ्च-स्कन्ध ।
(३) आयतन-यमक---१८ आयतन ।
(४) धातु-यमक---१८ धातुएँ ।
(५) सच्च-यमक---४ सत्य ।
(६) संखार-यमक---संस्कार, कायिक, वाचिक और मानसिक ।
(७) अनुसय-यमक---७ अनुशय (चित्त के अन्दर सुषुप्त बुराइयाँ) ।
(८) चित्त-यमक---चित्त-सम्बन्धी प्रश्नोत्तर ।
(९) धम्म-यमक---धर्मों-सम्बन्धी प्रश्नोत्तर ।
(१०) इन्द्रिय-यमक---२२ इन्द्रियाँ ।

प्रत्येक अध्याय की विषय-प्रतिपादन शैली प्रायः समान है । प्रायः प्रत्येक अध्याय तीन भागों में विभक्त हैं (१) पञ्ञत्ति-वार (शब्द-प्रज्ञापन-विभाग), (२) पवत्ति-वार (प्रक्रिया-विभाग) और (३) परिञ्ञा-वार (अन्तर्ज्ञान-विभाग) प्रथम भाग के भी दो उपविभाग हैं (अ) 'उद्देस-वार (प्रश्न-कथन) और निद्देस-वार (व्याख्या-खण्ड) । 'उद्देस-वार' में प्रश्नों का कथन जोड़े के रूप में किया गया है, यथा, क्या सभी रूप को रूप-स्कन्ध कहा जा सकता है ? क्या सभी रूप-स्कन्ध को रूप कहा जा सकता है ? आदि । 'निद्देस-वार' में इसकी व्याख्या की गयी है । द्वितीय मुख्य भाग 'पवत्ति-वार' के तीन भाग हैं, यथा (अ) उप्पाद-वार (उत्पत्ति-विभाग), (आ) निरोध-वार (विनाश-विभाग) और (इ) उप्पाद-निरोध-वार (उत्पत्ति और विनाश सम्बन्धी विभाग) । 'उप्पाद-विभाग' में यह दिखाया गया है कि भिन्न-भिन्न धर्मों की किस प्रकार उत्पत्ति होती है ? प्रश्नों का ढंग तो वही जुड़वाँ नमूने का है, यथा 'क्या वेदना-स्कन्ध उसको भी उत्पन्न होता है, जिसको रूप-स्कन्ध उत्पन्न होता है ? क्या रूप-स्कन्ध उसको भी उत्पन्न होता है, जिसको वेदना-स्कन्ध उत्पन्न होता है ?' 'क्या वेदना-स्कन्ध उस जीवन-भूमि में भी उत्पन्न होता है, जिसमें रूप-स्कन्ध उत्पन्न होता है ? क्या रूप-स्कन्ध उस जीवन-भूमि में भी उत्पन्न होता है, जिसमें वेदना-स्कन्ध उत्पन्न होता है ?' आदि, आदि । 'निरोध-वार' में इसी प्रकार धर्मों के विनाश या अस्तंगमन सम्बन्धी प्रश्न किये गये है- यथा 'क्या वेदना-स्कन्ध का भी उसके अन्दर निरोध हो जाता है, जिसके अन्दर रूप-स्कन्ध का निरोध हो जाता है ? क्या रूप-स्कन्ध का भी उसके अन्दर निरोध हो जाता है, जिसके अन्दर वेदना-स्कन्ध का निरोध हो जाता है ?"

'क्या वेदना-स्कन्ध उस जीवन-भूमि में भी निरुद्ध हो जाता है, जिस जीवन-भूमि में रूप-स्कन्ध निरुद्ध हो जाता है ? क्या रूप-स्कन्ध उस जीवन-भूमि में भी निरुद्ध हो जाता है, जिस जीवन-भूमि में वेदना-स्कन्ध निरुद्ध हो जाता है ?' आदि, आदि। 'उप्पाद-निरोध-वार' में इस क्रम को उलटा कर दिया गया है। उसके प्रश्न इस प्रकार के हैं—'क्या वेदना-स्कन्ध उसके अन्दर निरुद्ध हो जाता है, जिसके अन्दर रूप-स्कन्ध उत्पन्न होता है ? क्या रूप-स्कन्ध उसके अन्दर निरुद्ध हो जाता है, जिसके अन्दर वेदना-स्कन्ध उत्पन्न होता है ?' 'क्या वेदना-स्कन्ध उस जीवन-भूमि में निरुद्ध हो जाता है, जिस भूमि में रूप-स्कन्ध पैदा होता है ? क्या रूप-स्कन्ध उस जीवन-भूमि में निरुद्ध हो जाता है, जिस जीवन-भूमि में वेदना-स्कन्ध उत्पन्न होता है ?' आदि, आदि। तृतीय मुख्य भाग 'परिञ्ञा-वार (अन्तर्ज्ञान-भाग) में प्रश्नोत्तर के रूप में यह दिखाने की चेष्टा की गयी है कि धम्मों का अन्तर्ज्ञान किस प्रकार पैदा होता है। इसके प्रश्न इस प्रकार है—'क्या जिसने रूप-स्कन्ध का ज्ञान प्राप्त कर लिया है, उसे वेदना-स्कन्ध का भी ज्ञान प्राप्त हो जाता है ? क्या जिसने वेदना-स्कन्ध का ज्ञान प्राप्त कर लिया है, उसे रूप-स्कन्ध का भी ज्ञान प्राप्त हो जाता है।' आदि, आदि।

इससे अधिक 'यमक' की वीथियों में भ्रमण करना "सूखी हड्डियों की घाटी" में भ्रमण करना ही होगा, जैसा श्रीमती रायस डेविड्स ने उसे कहा है।[1] वास्तव में यह किसी भी पारिभाषिक शब्द-कोष के लिए कहा जा सकता हैं। 'यमक' भी अभिधम्म का शब्द-कोष ही है। अतः उसका सूखापन भी अभिधम्म के विद्यार्थियों के लिए एक सतत उपयोग और महत्त्व की वस्तु है।

---

१. इस ग्रन्थ की क्लिष्ट शैली और दुरूह विषयवस्तु के कारण श्रीमती रायस डेविड्स् जैसी महाप्रज्ञा एवं अभिधम्म-दर्शन की मननशीला अध्येत्री को भी अनेक विप्रतिपत्तियों में पड़ जाना पड़ा। उनकी कठिनाइयों और सन्देहों का निवारण प्रसिद्ध बरमी बौद्ध विद्वान् स्थविर लेदि सयदाव ने किया था। लेदि सयदाव के विचार एक पालि निबन्ध के रूप में 'यमक' के पालि टैक्स्ट् सोसायटी द्वारा प्रकाशित संस्करण के परिशिष्ट में निहित हैं। ऐतिहासिक गौरव को प्राप्त यह निबन्ध पालि साहित्य के विद्यार्थियों के द्वारा द्रष्टव्य है।

पट्ठान

अभिधम्म-दर्शन धम्मों (पदार्थों-अवस्थाओं) का एक परिपूर्ण दर्शन है। धम्मसंगणि में धम्मों का विश्लेषण, विभंग में उनका वर्गीकरण, धातुकथा में उस वर्गीकरण के कुछ शीर्षकों पर अधिक प्रकाश, पुग्गलपञ्ञत्ति में इस धम्म-दर्शन की पृष्ठभूमि में व्यक्तियों के प्रकारों का निरूपण, कथावत्थु में अभिधम्म-दर्शन सम्बन्धी मिथ्या धारणाओं के निरसन के द्वारा उसके विमल, मौलिक स्वरूप का प्रकाशन, यमक में अभिधम्म-गृहीत पारिभाषिक शब्दावली की सदा के लिए भ्रम निवारण करने वाली निश्चित व्याख्या, अभिधम्म-दर्शन का इतना विकास अभी हम उसके छह ग्रन्थों में देख चुके हैं। सातवें ग्रन्थ (पट्ठान) में अब हम अभिधम्म-दर्शन की एक सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण भूमि पर आते हैं। यही वह भूमि हैं जहाँ से वह नित्य, ध्रुव, पदार्थ का गवेषक अन्य भारतीय दर्शनों का साथ छोड़ देता है। कम-से-कम उनकी-सी गवेषणा में तो वह प्रवृत्त नहीं होता। निरन्तर परिणामी 'धर्मों' का विश्लेषण करने के बाद उनकी तह में किसी अ-परिणामी 'धर्मों' को भी क्या अभिधम्म ने देखा? ऐसी जिज्ञासा हम अमरता के लालची अवश्य करेंगे। किन्तु लालच (तृष्णा) को अवकाश तथागत ने कब दिया, फिर चाहे वह अमरता का ही क्यों न हो? हमारा प्रश्न ही गलत है, ऐसा ही उत्तर यहाँ तो हम पायेंगे। अतः बुद्ध-अनुगामी स्थविरों ने भी धम्मों या पदार्थों की अवस्थाओं का ही अध्ययन किया है, प्रवाहों और घटनाओं (जिनमें ही सम्पूर्ण नाम (विज्ञान-तत्त्व) और रूप (भौतिक-तत्त्व) सन्निहित है) के अनित्य, दुःख और अनात्म स्वरूप पर ही जोर दिया है। उनमें अन्तर्हित किसी कूटस्थ, नित्य, ध्रुवपदार्थ के अस्तित्व की सिद्धि पर उन्होंने जोर नहीं दिया है। क्यों? क्योंकि उनके शास्ता के शब्दों में "यह न ब्रह्मचर्य के लिए उपयोगी है और न निर्वेद, शान्ति, परम ज्ञान और निर्माण के लिए ही आवश्यक है।" इस उद्देश्य को समझ लें तो पालि बुद्ध-दर्शन ने अपनी जिज्ञासाओं की जो मर्यादा बाँध ली है, उसको हृदयंगम करना आसान हो जाता है। फिर भी अनात्मवादी बुद्ध-मत भौतिकवादी नहीं है।

---

२. श्रीमती रायस डेविड्स ने इस ग्रन्थ का अंशतः सम्पादन पालि टैक्स्ट् सोसायटी के लिए किया है। दुक-पट्ठान, भाग प्रथम (१९०६) एवं तिक-पट्ठान भाग १-३ (१९२१-२३)। इस ग्रन्थ के बरमी, सिंहली एवं स्यामी संस्करण उपलब्ध हैं। देवनागरी लिपि में भिक्षु जगदीश काश्यप द्वारा सम्पादित एवं बिहार राज्य के पालि प्रकाशन मण्डल द्वारा ६ भागों में सन् १९६१ में प्रकाशित।

जहाँ तक दार्शनिक परिस्थिति की पूर्णता का सवाल है, उसके लिए भी तथागत ने पर्याप्त अवकाश और आश्वासन दिया है। जिसे उन्होंने 'अनत्ता' (अनात्मा) के रूप में निषिद्ध किया है, उसे ही उन्होंने 'निब्बान' (निर्वाण) के रूप में प्रतिष्ठित किया है। सभी भौतिक और मानसिक अवस्थाएँ अनित्य, दुःख और अनात्म हैं, सापेक्ष हैं, कार्य और कारण की शृंखला से बद्ध है। किन्तु निर्वाण असंस्कृता धातु है। वह कार्य-कारण भाव से बद्ध नहीं हैं। वह उससे ऊपर है। अनपेक्ष है, परमार्थ है। सत्-असत् से ऊपर है, निसर्गतः विशुद्ध है। किन्तु दुःख-निवृत्ति की साधना तो भव-प्रवाह में ही करनी है, जो कार्य-कारण भाव से संचालित है। अतः उसी की गवेषणा प्रधान रूप से करना इष्ट है। भगवान् बुद्ध ने समग्र मानसिक और भौतिक जगत् में यदि किसी नियामक को नहीं, तो नियम को तो अवश्य ही देखा है, यदि किसी ऋत-धारी वरुण को नहीं, तो स्वयं ऋत को तो अवश्य देखा ही है। त्रसरेणु से भी सहस्रांश छोटे पदार्थों से लेकर महापिंड नीहारिकाओं तक और दृश्य इन्द्रिय-व्यापारों से लेकर सूक्ष्म अन्तश्चेतना की गहरी अनुभूतियों तक, इस सारे संसार-चक्र को तथागत ने नियम (नियाम) में बँधा हुआ अवश्य देखा है। भगवान् को इस सत्य का ज्ञान सम्यक्-सम्वोधि-प्राप्ति के समय ही हुआ था, इनके लिए तिपिटक में प्रभूत प्रमाण हैं[1] क्या है वह नियम, जिसका ज्ञान भगवान् बुद्ध ने सम्यक् सम्वोधि प्राप्त करने के समय ही किया? यही है वह गम्भीर[2] प्रतीत्य समुत्पाद (पटिच्च समुप्पाद) अथवा प्रत्ययों से उत्पत्ति का नियम। यह कोरा दार्शनिक सिद्धान्त नहीं है, बल्कि यह है सम्यक् सम्बुद्ध की प्रत्यक्षतम अनुभूति। यदि यह कोरा दार्शनिक सिद्धान्त होता तो तथागत के लिए इसका उपदेश करना ही अनावश्यक होता। उस हालत में तथागत भी प्लेटो, अरस्तू, शंकर या नागार्जुन की समकोटि के ही दार्शनिक होते। वे 'करुणा के देव' किस प्रकार होते, जिस रूप में मानवता को उनका एकमात्र सहारा मिला है? वास्तव में प्रतीत्य समुत्पाद भगवान् की करुणा का ही ज्ञानमय परिणाम है। भगवान् ने अशेष जीव-जगत् को दुःख की चक्की में पिसते देखा। जहाँ बुद्ध-नेत्रों से देखा, अखिल लोक में जरा, मरण, शोक, रोना-पीटना, दुःख, दौर्मनस्य और उपायासों का ही अखंड साम्राज्य देखा। जिज्ञासा हुई यह किसके

---

१. देखिए विशेषतः विनय-पिटक—महावग्ग १; उदान, प्रथम (बोधि) वर्ग।

२. महानिदान-सुत्त (दीघ० २-२) में भगवान् ने स्वयं इसकी गम्भीरता का वर्णन सारिपुत्र के प्रति किया है।

कारण ? स्थूल कारण अनेक थे जिन्हें साधारण आदमी आज भी देखते हैं और कुछ उन्हीं पर अधिक जोर भी देते हैं। किन्तु बुद्ध-नेत्रों से देखा गया कि जन्म ही इन दुःखों का मूल कारण है। जन्म का कारण क्या ? भव। भव का कारण क्या ? उपादान। उपादान का कारण क्या ? तृष्णा। तृष्णा का कारण क्या ? वेदना। वेदना का कारण क्या ? स्पर्श। स्पर्श का कारण क्या ? षडायतन। षडायतन का कारण क्या ? नाम-रूप। नाम-रूप का कारण क्या ? विज्ञान। विज्ञान का कारण क्या ? संस्कार। संस्कार का कारण क्या ? अविद्या। "भिक्षुओ ! अविद्या और तृष्णा से संचालित, भटकते-फिरते प्राणियों के आरम्भ का पता नहीं चलता।" आवागमन के चक्र को अविद्या ही गति प्रदान करती है। यदि अविद्या का निरोध कर दिया जाय, तो संस्कारों का निरोध ! संस्कारों का निरोध कर दिया जाय, तो विज्ञान का निरोध। विज्ञान का निरोध कर दिया जाय, तो नाम-रूप का निरोध। नाम-रूप का निरोध कर दिया जाय, तो छह आयतनों का निरोध। छह आयतनों का निरोध कर दिया जाय, तो स्पर्श का निरोध।...वेदना का निरोध !...तृष्णा का निरोध ! ...उपादान का निरोध !...भव का निरोध !...जन्म का निरोध !... जरा, मरण, शोक, रोदन-विलाप, दुःख, मानसिक कष्ट एवं सारे दुख-पुन्ज का निरोध ! यही बुद्धोक्त प्रतीत्य समुत्पाद हैं, जिसे दुःख के आवागमन और अस्तंगमन को हेतुपूर्वक दिखाने के लिए भगवान् ने करुणापूर्वक उपदेश किया।[1]

इस प्रतीत्य समुत्पाद का ही पूरे विस्तार के साथ विवेचन 'पट्ठान' में किया गया है। किन्तु सुत्तन्त की अपेक्षा पट्ठान की विवेचन-पद्धति की एक विशेषता है। जैसा प्रतीत्य समुत्पाद के उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है, प्रतीत्य समुत्पाद की कारण-कार्य परम्परा में १२ कड़ियाँ हैं, जो एक दूसरी से प्रत्ययों के आधार पर जुड़ी हुई हैं। सुत्तन्त में अधिकांश इन कड़ियों की व्याख्या मिलती है। पट्ठान में इन कड़ियों की व्याख्या पर जोर न देकर उन प्रत्ययों पर जोर दिया गया है, जिनके आश्रय से वे पैदा होती और निरुद्ध होती रहती हैं। पट्ठान में इस प्रकार के २४ प्रत्ययों का विवेचन किया गया है। यही उसकी एकमात्र विषयवस्तु है। जैसा उसके नाम से स्पष्ट है, 'पट्ठान' (पच्चय+ठान) वास्तव में प्रत्ययों का स्थान ही है।

---

१. देखिये विशेषतः महानिदान-सुत्त (दीघ० २-२), महाहत्थिपदोपम-सुत्त (मज्झिम, १।३।८), आदि।

'जातकट्ठकथा' की निदानकथा में कहा गया है कि बोधि-प्राप्ति के बाद का चौथा सप्ताह भगवान् ने अभिधम्म-पिटक का, विशेषतः उसके अनन्त नयों वाले सम्पूर्ण 'पट्ठान' का, चिन्तन करते हुए बिताया। "चतुत्थे पन सत्ताहे...अभिधम्मपिटक विसेसतो चेत्थ अनन्तनयं समन्तपट्ठानं विचिनन्तो सत्ताहं वीतिनामेसि।" इस प्रकार अभिधम्म-पिटक के अन्तर्गत पट्ठान' का विशेष महत्त्व स्पष्ट है। प्रतीत्यसमुत्पाद के समान अन्य कोई गम्भीर विषय बौद्ध तत्त्व-दर्शन में नहीं है अतः स्थविरवाद-परम्परा में 'पट्ठान' के महत्त्व को आसानी से समझा जा सकता है। उसके विस्तारमय नयों का चिन्तन करने से उदात्त आध्यात्मिक आनन्द मिलता है, ऐसा बुद्धघोष ने कहा है।[1] प्रत्ययों से उत्पन्न धर्मों के उदय-व्यय के चिन्तन से वास्तव में ऐसा ही प्रामोद्यबहुल आध्यात्मिक अनुभव होता, है। परन्तु जब वह नहीं होता, तो वह अध्ययन वैसे ही रूखा और सूखा लगने लगता है, जैसा श्रीमती सी० ए० एफ० रायस डेविड्स को 'यमक' और पट्ठान' का पढ़ना लगा, जिसके सम्बन्ध में हम पहले भी कुछ कह चुके हैं।

आकार और महत्त्व की दृष्टि से पट्ठान अभिधम्म-पिटक का एक महाग्रन्थ है। सम्भवतः इसीलिए उसे 'महापरकण' (महाप्रकरण') की संज्ञा दी गयी है। महत्त्व में उसका स्थान धम्मसंगणि के बाद ही है। स्यामी संस्करण की ६ जिल्दों में ३१२० पृष्ठ है। यह हालत तब है जब ग्रन्थ के चार मुख्य भागों में से अन्तिम तीन अत्यन्त संक्षिप्त कर दिये गये हैं। यदि उनका भी विवरण प्रथम भाग के समान ही किया जाता, तो महास्थविर ज्ञानातिलोक का यह अनुमान ठीक है कि कुल ग्रन्थ का आकार १४००० पृष्ठों से कम न होता। देवनागरी में तो वह छह बड़ी जिल्दों में है ही। जैसा अभी कहा जा चुका है, सम्पूर्ण ग्रन्थ चार बड़े भागों में विभक्त है, यथा—

(१) अनुलोम-पट्ठान—धम्मों के पारस्परिक प्रत्यय-संबंधों का विधानात्मक अध्ययन।

(२) पच्चनिय-पट्ठान—धम्मों के पारस्परिक प्रत्यय-संबंधों का निषेधात्मक अध्ययन।

(३) अनुलोम-पच्चनिय पट्ठान—धम्मों के पारस्परिक प्रत्यय-संबंधों का विधानात्मक और निषेधात्मक अध्ययन।

---

१. विशदीकरण के लिए देखिए मेबिल बोड : दि पालि लिटरेचर ऑव बरमा, पृष्ठ ६१।

(४) पच्चनिय-अनुलोम पट्ठान—धम्मों के पारस्परिक प्रत्यय-संबंधों का निषेधात्मक और विधानात्मक अध्ययन।

ग्रन्थ के आरम्भ में एक भूमिका है, जिसका नाम 'पच्चय-निद्देस' (प्रत्यय-निर्देश) है। इसमें उन २४ प्रत्ययों का उल्लेख और संक्षिप्त विवरण है जिनके आधार पर धम्मों का उदय और अस्तंगमन सारे ग्रन्थ में दिखाया गया है। स्यामी संस्करण की पहली जिल्द में यह भूमिका-भाग ही आया है। मूल ग्रन्थ के उपर्युक्त ४ भागों में से प्रत्येक की विषय-प्रतिपादन-शैली समान ही है। केवल प्रथम भाग के आधार पर शेष तीन में विषय-विवरण संक्षिप्त अवश्य कर दिया गया है। स्यामी संस्करण की २, ३, ४ और ५ जिल्दों में केवल प्रथम भाग आया है। शेष तीन भाग छठी जिल्द में है। प्रथम भाग की अध्याय-संख्या इस प्रकार है—२२ + ८६ + १३२ + ९४ + ४२ + ४८ = ४२७। इससे पहले पट्ठान के बृहत् आकार की कुछ कल्पना की जा सकती है।

उपर्युक्त चार भागों में विधानात्मक आदि अध्ययन-क्रम से २४ प्रत्ययों का सम्बन्ध धम्मों के साथ दिखाया गया है। प्रत्येक भाग में यह अध्ययन-क्रम छह प्रकार से प्रयुक्त किया गया है। इसका अर्थ यह है कि इन चार भागों में से प्रत्येक छह-छह उपविभागों में और भी बँटा हुआ है, जैसे कि

(१) तिक-पट्ठान—धम्मसंगणि में प्रयुक्त २२ त्रिकों के वर्गीकरण को लेकर धम्मों के साथ २४ प्रत्ययों का सम्बन्ध-निरूपण।

(२) दुक-पट्ठान—धम्मसंगणि में प्रयुक्त १०० द्विकों के वर्गीकरण को लेकर धम्मों के साथ २४ प्रत्ययों का सम्बन्ध निरूपण।

(३) दुक-तिक-पट्ठान—उपर्युक्त १०० द्विकों और २२ त्रिकों को लेकर पूर्ववत् अध्ययन।

(४) तिक-दुक-पट्ठान—उपर्युक्त २२ त्रिकों और १०० द्विकों को लेकर पूर्ववत् अध्ययन।

(५) तिक-तिक-पट्ठान—परस्पर मिश्रित २२ त्रिकों को लेकर पूर्ववत् अध्ययन।

(६) दुक-दुक-पट्ठान—परस्पर मिश्रित १०० द्विकों को लेकर पूर्ववत् अध्ययन।

इस प्रकार सम्पूर्ण महाग्रन्थ चौबीस भागों में बँटा हुआ है, जिनमें से प्रत्येक 'पट्ठान' कहलाता है। इसीलिए 'पट्ठान की अट्ठकथा में कहा गया है—"चतुवीसति-समन्त-पट्ठान-समोधान-पट्ठान-महाप्पकरणं नामाति"। अर्थात् 'पट्ठान' महाप्रकरण में कुल मिलाकर २४ 'पट्ठान' या प्रत्यय-स्थान है।

'पट्ठान' के दीर्घ आकार को देखते हुए उसके विषय या शैली का लघु से लघु संक्षेप देना भी कितना कठिन है, यह आसानी से समझा जा सकता है। किन्तु जैसा पहले कहा जा चुका है, उसकी भूमिका (पच्चय-निद्देस) में उन २४ प्रत्ययों का उल्लेख और संक्षिप्त विवेचन है, जिसके आधार पर सम्पूर्ण ग्रन्थ में प्रतीत्यसमुत्पाद को समझाया गया है। प्रत्यय-दर्शन का विवेचन पट्ठान की एक मुख्य विशेषता है। जैसा श्रीमती रायस डेविड्स ने कहा है, सम्पूर्ण अभिधम्म-दर्शन सम्बन्धी ज्ञान के लिए यह एक महत्त्वपूर्ण रचनात्मक दान हैं।[1] हमारा उद्देश्य यहाँ इन २४ प्रत्ययों का संक्षिप्त विवरण देना ही है। इनके नाम इस प्रचार हैं—

१. हेतु-प्रत्यय
२. आलम्बन-प्रत्यय
३. अधिपति-प्रत्यय
४. अनन्तर-प्रत्यय
५. समनन्तर-प्रत्यय
६. सहजात-प्रत्यय
७. अन्योन्य-प्रत्यय
८. निश्रय-प्रत्यय
९. उपनिश्रय-प्रत्यय
१०. पूर्वजात-प्रत्यय
११. पश्चात्-जात-प्रत्यय
१२. आसेवन-प्रत्यय
१३. कर्म-प्रत्यय
१४. विपाक-प्रत्यय
१५. आहार-प्रत्यय
१६. इन्द्रिय-प्रत्यय
१७. ध्यान-प्रत्यय
१८. मार्ग-प्रत्यय
१९. सम्प्रयुक्त-प्रत्यय
२०. विप्रयुक्त-प्रत्यय
२१. अस्ति-प्रत्यय
२२. नास्ति-प्रत्यय
२३. विगत-प्रत्यय
२४. अविगत-प्रत्यय

प्रत्येक प्रत्यय का क्या अर्थ है और किस प्रकार उसका आश्रय लेकर किसी एक धम्म या धम्मों की उत्पत्ति और निरोध किसी दूसरे धम्म या

---

१. देखिए, तिक-पट्ठान, प्रथम भाग (श्रीमती रायस डेविड्स द्वारा सम्पादित, पालि टैक्स्ट् सोसायटी से प्रकाशित, लन्दन १९२१-२३), पृष्ठ ५ (भूमिका), एवं तिक-पट्ठान, द्वितीय भाग, की सम्पादकीय टिप्पणी।

२. इन चौबीस प्रत्ययों में से अनेक एक-दूसरे में सम्मिलित हैं। अभिधम्मत्थसंगह में इनको चार मुख्य भागों में विभक्त कर दिया गया है, यथा आलम्बन, उपनिश्रय, कर्म और अस्ति। "आरम्भणूपनिस्सयकम्मत्थिपच्चयेसु च सब्बेपि पच्चया समोधानं गच्छन्ति।" पृष्ठ १५१ (धर्मानन्द कोसम्बी का संस्करण, नवनीत टीका सहित)।

धम्मों की उत्पत्ति और निरोध पर आधारित है, इसका भी कुछ दिग्दर्शन कराना यहाँ आवश्यक होगा।

१. हेतु-प्रत्यय (हेतु पच्चयो)—हेतु का अर्थ है मूल कारण या आधार। अभिधम्म-दर्शन में लोभ, द्वेष, मोह एवं उनके विपक्षी अलोभ, अद्वेष और अमोह को मूल कारण या हेतु कहा गया है। इनमें से पहले तीन कर्म-विपाक की दृष्टि से अकुशल हैं और बाद के तीन कुशल हैं। और कहीं-कहीं (जैसे कि अर्हत् के सम्बन्ध में) अव्याकृत अर्थात् अनिरुक्त (नितान्त स्वाभाविक या कर्म-विपाक उत्पन्न करने में निष्क्रिय) भी। जितनी भी कुशल या अकुशल अवस्थाएँ मानसिक या भौतिक जगत् में हो सकती हैं, उनके मूल आधार या हेतु क्रमशः उपर्युक्त कुशल या अकुशल धम्म ही है। इन मूल आधारों या हेतुओं की उपस्थिति या अनुपस्थिति पर ही अनिवार्यतः सब कुशल और अकुशल धम्मों की उपस्थिति या अनुपस्थिति निर्भर है। पट्ठान की भाषा में, "हेतुओं से संयुक्त धर्म और इन्हीं से उत्पन्न होने वाली भौतिक जगत् की सारी अवस्थाएँ, हेतुओं पर हेतु-प्रत्यय के रूप में अवलम्बित है।" उत्पन्न होने वाली वस्तु (पच्चयुप्पन्न—प्रत्ययोत्पन्न) तो यहाँ धम्म और भौतिक जगत् की अवस्थाएँ हैं। जिनसे वे उत्पन्न होती हैं (पच्चय-धम्म), वे 'हेतु' या कुशलादि मूल धम्म है। जिस प्रत्यय (पच्चय) से वे पैदा होती हैं, वह हेतु-प्रत्यय (हेतु-पच्चय) है। शेष प्रत्ययों में भी क्रमानुसार हम इन तीन बातों का उल्लेख करेंगे यथा (१) उत्पन्न होने वाली वस्तु (पच्चयुप्पन्न) क्या हैं? (२) जिस वस्तु से वह उत्पन्न होती है (पच्चय-धम्म), वह क्या है? (३) प्रत्यय क्या है?

२. आलम्बन प्रत्यय (आरम्मण पच्चयो)—आलम्बन का अर्थ है विषय या आधार। जिस वस्तु के आधार से कोई दूसरी वस्तु पैदा होती है, तो उस दूसरी वस्तु के प्रति पहली वस्तु का सम्बन्ध आलम्बन प्रत्यय का होता है। उदाहरणतः चक्षु-विज्ञान और उससे संयुक्त धर्मों की उत्पत्ति रूप-आयतन पर आधारित है। अतः रूप-आयतन आलम्बन है चक्षु-विज्ञान और उससे संयुक्त धर्मों का। दूसरे शब्दों में, रूप आयतन आलम्बन-प्रत्यय के रूप में चक्षु-विज्ञान और उससे संयुक्त धर्मों का प्रत्यय है। इसी प्रकार शब्दायतन, गन्धायतन, रसायतन और स्पृष्ट-व्यायतन क्रमशः श्रोत्र-विज्ञान, घ्राण-विज्ञान, जिह्वा-विज्ञान, काय-विज्ञान और उनसे संयुक्त धर्मों के आलम्बन-प्रत्यय के रूप में प्रत्यय है। इसी प्रकार उपर्युक्त पाँचों आयतन (रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पृष्टव्य) मिलकर मनो-धातु और उससे संयुक्त धर्मों के तथा सब धर्म मिलकर मनो-विज्ञान-धातु और उससे संयुक्त धर्मों के आलम्बन-प्रत्यय के रूप में प्रत्यय हैं। संक्षेप

में, जो-जो धर्म चित्त और चेतसिक धर्मों के आलम्बन हैं, वे सभी उनके प्रति आलम्बन-प्रत्यय के रूप में प्रत्यय हैं। यहाँ (१) चक्षु (२) श्रोत्र (३) घ्राण (४) जिह्वा और (५) काय्य-सम्बन्धी विज्ञान एवं उनसे संयुक्त धर्म तथा (६) मनोधातु और (७) मनो-विज्ञान-धातु और इनसे संयुक्त धर्म 'पच्च-युप्पन्न' अर्थात् प्रत्ययों से उत्पन्न होने वाली वस्तुएँ हैं। इनके 'पच्चय-धम्म' अर्थात् वे वस्तुएँ, जिनसे ये प्रत्ययों के आधार पर उत्पन्न होती है, क्रमशः ये हैं (१) रूप (२) शब्द (३) ग्रन्ध (४) रस और (५) स्पृष्टव्य सम्बन्धी आयतन और इनसे संयुक्त धर्म तथा (६) इन पाँचों आयतनों का सम्मिलित रूप और (७) सम्पूर्ण धर्म। जिस प्रत्यय के आधार पर यह उत्पत्ति होती है, वह आल-म्बन-प्रत्यय (आरम्मण-पच्चयो) है।

३. अधिपति-प्रत्यय (अधिपति पच्चयो)---किसी वस्तु की उत्पत्ति में अन्य की अपेक्षा जब इन चार पदार्थों यथा (१) इच्छा (छन्द), (२) उद्योग (विरिय) (३) चित्त और (४) मीमांसा (वीमंसा) की सहायता की अधि-कता होती है तो इन चार धर्मों में से जिस किसी की अधिकता होती है, वही उत्पन्न होने वाली वस्तु के साथ अधिपति-प्रत्यय के सम्बन्ध से सम्बन्धित होता है। उदाहरणतः, जो धर्म इच्छा (छन्द) से संयुक्त है या उससे उद्भूत हैं, वह इच्छा-अधिपति (छन्दाधिपति) के साथ अधिपति-सम्बन्ध से सम्बन्धित हैं। इसी प्रकार वीर्य, चित्त और मीमांसा अधिपतियों से जो धर्म संयुक्त हैं, वे क्रमशः इनके साथ अधिपति-सम्बन्ध से सम्बन्धित हैं। यहाँ इच्छा, वीर्य, चित्त और मीमांसा से संयुक्त धर्म, उत्पन्न होने वाली वस्तुएँ 'पच्चयुप्पन्न' है। क्रमशः इच्छा-अधिपति (छन्दाधिपति), वीर्याधिपति (विरियाधिपति), चित्ताधिपति, और मीमांसाधिपति (वीमंसाधिपति) इनके 'पच्चय-धम्म' है अर्थात् ये वे वस्तुएँ हैं, जिनसे उपर्युक्त धर्म उत्त्पन्न होते हैं। प्रत्यय अधिपति-प्रत्यय है।

४. अनन्तर-प्रत्यय (अनन्तर पच्चयो)---यदि कोई वस्तु अपने ठीक पीछे होने वाली वस्तु की उत्पत्ति में सहायक होती है, तो वह उसके साथ अनन्तर-प्रत्यय के सम्बन्ध से सम्बन्धित होती है। 'पट्ठान' में कहा गया है 'येसं येसं धम्मानं अनन्तरा ये ये धम्मा तेसं धम्मानं अनन्तरपच्चयेन पच्चयो' अर्थात् जिन-जिन धर्मों के अनन्तर जो-जो धर्म होते हैं, तो पूर्व के धर्म पश्चात् के धर्म के प्रति अनन्तर-प्रत्यय के रूप में प्रत्यय होते हैं। उदाहरणतः पाँच विज्ञान-धातुओं (चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा और काय सम्बन्धी विज्ञान-धातुओं) और उनसे संयुक्त धर्मों के अनन्तर मनो-धातु और उससे संयुक्त धर्मों

की उत्पत्ति होती है। अतः पाँच विज्ञान-धातु और उनसे संयुक्त धर्म मनोधातु और उससे संयुक्त धर्मों के प्रति अनन्तर-प्रत्यय के रूप में प्रत्यय हैं। इसी प्रकार मनो-धातु और उससे संयुक्त धर्म मनो-विज्ञान-धातु और उससे संयुक्त धर्मों के लिए, कुशल-धर्म, कुशल और अव्याकृत धर्मों की उत्पत्ति के लिए और अकुशल धर्म, अकुशल और अव्याकृत धर्मों की उत्पत्ति के लिए, अनन्तर-प्रत्यय के रूप में प्रत्यय होते हैं। यहाँ मनो-धातु, मनो-विज्ञान-धातु, कुशल और अव्याकृत धर्म, अकुशल और अव्याकृत धर्म तथा इनसे संयुक्त धर्म 'पच्चयुप्पन्न' अर्थात् प्रत्ययों के कारण उत्पन्न होने वाले धर्म हैं। जिन धर्मों से इनकी उत्पत्ति होती हैं, वे हैं क्रमशः (१) पाँच विज्ञान-धातु और उनसे संयुक्त धर्म (२) मनोधातु और उससे संयुक्त धर्म (३) कुशल-धर्म (४) अकुशल-धर्म। अतः ये प्रत्यय-धर्म हैं। जिस प्रत्यय के कारण उनकी उत्पत्ति होती है, वह अनन्तर-प्रत्यय।

५. समनन्तर-प्रत्यय (समनन्तर-पच्चयो)—बिलकुल अनन्तर-प्रत्यय के समान।

६ सहजात-प्रत्यय—(सहजात पच्चयो)—जब कोई धर्म किन्हीं अन्य धर्मों के साथ-साथ उत्पन्न होते हैं, तो उनके बीच सहजात-प्रत्यय का सम्बन्ध होता है। उदाहरणतः, संज्ञा, वेदना, संस्कार और विज्ञान एक-दूसरे के साथ सहजात-प्रत्यय के रूप में सम्बन्धित हैं, क्योंकि इनकी उत्पत्ति एक ही साथ होती है।

७. अन्योन्य-प्रत्यय—(अञ्ञमञ्ञ-पच्चयो)—एक-दूसरे के आश्रय से उत्पन्न होनेवाले धर्म इस प्रत्यय के द्वारा आपस में सम्बन्धित होते हैं। यहाँ भी पूर्वोक्त उदाहरण ही दिया जा सकता है, क्योंकि संज्ञा, वेदना, संस्कार और विज्ञान आपस में एक-दूसरे के आश्रय से ही उत्पन्न होते हैं।

८. निश्रय-प्रत्यय—(निस्सय पच्चयो)—निश्रय का अर्थ है आधार। पृथ्वी वृक्ष का निश्रय है। इसी प्रकार जिन धर्मों की उत्पत्ति जिन धर्मों के आधार पर होती है, उनके प्रति उनका निश्रय-प्रत्यय का सम्बन्ध होता है। उदाहरणतः, चक्षु-आयतन, श्रोत्र-आयतन, घ्राण-आयतन, जिह्वा-आयतन और काय-आयतन के आधार पर ही क्रमशः चक्षु-विज्ञान, श्रोत्र-विज्ञान, घ्राण-विज्ञान, जिह्वा-विज्ञान और काय-विज्ञान की उत्पत्ति होती है, अतः उनके बीच निश्रय-प्रत्यय का सम्बन्ध है।

९. उपनिश्रय-प्रत्यय—(उपनिस्सय पच्चयो)—उपनिश्रय का अर्थ है बलवान्-आधार। कुशल-धर्मों के दृढ़ आधार पूर्वगामी कुशल-धर्म ही होते हैं। अतः उनके बीच का सम्बन्ध उपनिश्रय-प्रत्यय का है। अन्य अनेक उदाहरण भी मूल पालि में दिए हुए हैं।

१०. पुरेजात-प्रत्यय--(पुरेजात पच्चयो)--जिस धर्म से किसी धर्म की उत्पत्ति पहले हुई हो, तो उनके बीच पुरेजात-प्रत्यय का सम्बन्ध होता है। उदाहरणतः, चक्षु-विज्ञान-धातु आदि की उत्पत्ति से पहले चक्षु-आयतन आदि की उत्पत्ति हो चुकी है। अतः उसके प्रति वह पुरेजात-प्रत्यय से सम्बन्धित है।

११. पश्चात्-जात-प्रत्यय--(पच्छाजात-पच्चयो)--शरीर की उत्पत्ति पहले हो जाती है। उसके बाद उसमें चित्त और चेतसिक पैदा होते हैं। अतः दोनों के बीच का सम्बन्ध पश्चात्-जात-प्रत्यय का है।

१२. आसेवन-प्रत्यय--(आसेवन-पच्चयो)--आसेवन का अर्थ है बार-बार आवृत्ति। किसी धर्म का बार-बार अभ्यास जिस किसी दूसरे धर्म को जन्म देने का कारण बनता है, तो उसके साथ उसका आसेवन-प्रत्यय का सम्बन्ध होता है। उदाहरणतः, प्रत्येक कुशल-धर्म की उत्पत्ति किसी पूर्वगामी कुशल धर्म के आसेवन या सतत अभ्यास से होती है। अतः दोनों के बीच आसेवन-प्रत्यय का सम्बन्ध होता है।

१३. कर्म-प्रत्यय--(कम्म-पच्चयो)--किसी भी कर्म-विपाक के पूर्वगामी कुशल या अकुशल धर्म होते हैं, अतः उनके बीच का सम्बन्ध कर्म-प्रत्यय का होता है।

१४. विपाक-प्रत्यय--(विपाक-पच्चयो)--वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान, इन चार स्कन्धों की उत्पत्ति पूर्व के वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान स्कन्धों के विपाक-स्वरूप होती हैं, अतः इनके बीच विपाक-प्रत्यय का सम्बन्ध होता है।

१५. आहार-प्रत्यय--(आहार-पच्चयो)--भोजन से यह हमारा शरीर बनता है। अतः शरीर का भोजन के प्रति आहार-प्रत्यय का सम्बन्ध है।

१६. इन्द्रिय-प्रत्यय--(इन्द्रिय-पच्चयो)--चक्षु-विज्ञान आदि की उत्पत्ति चक्षुरादि इन्द्रियों के प्रत्यय से है। अतः पहले का दूसरे के प्रति इन्द्रिय-प्रत्यय का सम्बन्ध है।

१७. ध्यान-प्रत्यय--(झान-पच्चयो)--ध्यान से संयुक्त अवस्थाओं (धर्मों) की उत्पत्ति ध्यान के अंगों के प्रत्यय से है। अतः पहले का दूसरे के साथ ध्यान-प्रत्यय का सम्बन्ध है।

१८. मार्ग-प्रत्यय--(मग्ग-पच्चयो)--उपर्युक्त के समान मार्ग से संयुक्त अवस्थाओं की भी उत्पत्ति मार्ग के अंगों के प्रत्यय से है, अतः उनके बीच मार्ग-प्रत्यय का सम्बन्ध है।

१९. संयुक्त-प्रत्यय--(सम्पयुत्त-पच्चयो)--पूर्वोक्त के समान ही संज्ञा,

वेदना, आदि से संयुक्त धर्मों की उत्पत्ति क्रमशः वेदना आदि के अंगों के प्रत्यय से ही है, अतः उनके बीच का सम्बन्ध संयुक्त-प्रत्यय का है।

२०. **वियुक्त-प्रत्यय—(विप्पयुत्त-पच्चयो)**—भौतिक धर्म मानसिक धर्मों के साथ और मानसिक धर्म भौतिक धर्मों के साथ विप्रयुक्त-प्रत्यय के सम्बन्ध से सम्बन्धित हैं, क्योंकि दोनों का स्वभाव एक-दूसरे से वियुक्त रहने का है।

२१. **अस्ति-प्रत्यय—(अत्थि-पच्चयो)**—जिस धर्म की उपस्थिति या विद्यमानता पर दूसरे धर्म की उत्पत्ति अनिवार्यतः निर्भर होती है, तो दोनों के बीच अस्ति-प्रत्यय का सम्बन्ध होता है, यथा सम्पूर्ण भौतिक विकारों की उत्पत्ति के लिए चार महाभूतों की उपस्थिति अनिवार्यतः आवश्यक है, अतः चार महाभूतों के साथ अस्ति-प्रत्यय के सम्बन्ध के द्वारा सम्पूर्ण भौतिक विकार सम्बन्धित हैं।

२२. **नास्ति-प्रत्यय—(नत्थि-पच्चयो)**—अपनी अनुपस्थित या अविद्यमानता से ही जो कोई धर्म किसी दूसरे धर्म की उत्पत्ति में सहायक हो, तो वह उत्पन्न होने वाले धर्म के प्रति नास्ति-प्रत्यय के सम्बन्ध से सम्बन्धित होता है। जो चित्त और चेतसिक अभी निरुद्ध हो चुके हैं, वे अपनी अविद्यमानता से ही अभी उत्पन्न होने वाले चित्त और चेतसिक धर्मों के प्रति नास्ति-प्रत्यय के सम्बन्ध से सम्बन्धित हैं।

२३. **विगत-प्रत्यय—(विगत-पच्चयो)**—उपर्युक्त (२२) के समान।

२४. **अविगत-प्रत्यय—(अविगत-पच्चयो)**—उपर्युक्त (२१) के समान।

ऊपर अभिधम्म-पिटक के ग्रन्थों के विषय और शैली का संक्षिप्त विवरण दिया गया है। सुत्तन्त में निहित बुद्ध-वचनों के प्रति उनका वही सम्बन्ध है, जो व्याख्यात्मक वेदान्त-ग्रन्थों का उपनिषदों के प्रति। वैसी ही शब्द-निरुक्तियाँ और उसी ढङ्ग के लम्बे अर्थ-निर्वचन, जो कभी-कभी मानसिक थकावट पैदा कर देते हैं और हम बोधित नहीं हो पाते। शब्दपरता और बौद्धिकता बाधक बन जाती है। अन्तर्ज्ञान और अपरोक्षानुभूति पर प्रतिष्ठित, जल और वायु के समान सब के लिए, सुलभ, बुद्धों (ज्ञानियों) के वचन भी, पंडितवाद और शास्त्रीय विवेचनों के फन्दे में फँसकर कितने सूखे, आकर्षण-विहीन और जनसाधारण के लिए कितने दुरूह हो जाते हैं, इसके लिए अभिधम्म-पिटक के समान ही उत्तरकालीन वेदान्तियों एवं बौद्ध और वैदिक परम्परा के आचार्यों के प्रज्ञान अच्छे उदाहरण हैं। चाहे नागार्जुन, असंग, वसुबन्धु, दिङ्नाग और धर्मकीर्ति हों, चाहे वात्स्यायन, कुमारिल वाचस्पति, उदयन और श्रीहर्ष हों, सब एक समान ही हैं। बुद्ध और

उपनिषदों के ऋषियों की-सी सरलता, स्वाभाविकता और मार्मिकता एक में भी नहीं हैं। बल्कि दोनों ही मूल अनुभव को छोड़ उसकी बौद्धिक व्याख्या में लग गये हैं। अभिधम्म-पिटक अति प्राचीन होते हुए भी बुद्ध-मन्तव्य को इसी ओर ले गया है। सन्तोष की बात यह है कि यहाँ बुद्ध के मौलिक सिद्धांतों में कोई परिवर्तन या परिवर्द्धन नहीं किया गया है, संशोधन की तो कोई बात ही नहीं। अतः मूल बुद्ध-दर्शन को जानने के लिए उसका उपयोग बच रहता है। बुद्ध-मन्तव्य स्वयं एक विस्मयकारी वस्तु है। बुद्ध की अनुत्तरा सम्यक् सम्बोधि साधारण ज्ञान नहीं है और न उनकी प्रज्ञापारमिता को बौद्धिक उहापोहों से कुछ लेना-देना है। अनन्तदर्शी बुद्ध के ज्ञान के कुछ आश्चर्यों और विस्मयों को यदि खोलना हैं, तो अभिधम्म-पिटक (और उसके साथ महायान के प्रज्ञापारमिता-साहित्य) का अध्ययन नितान्त आवश्यक है। यदि यह देखना है कि निरंतर परिवर्तनशील, अनित्य, दुःख और अनात्म धर्मों (पदार्थों) के प्रवर्तमान रहने पर भी संसार के सर्वश्रेष्ठ साधक और ज्ञानी पुरुष ने चित्त की निश्चल समाधि किस प्रकार सिखायी हैं, नियामक को न मानकर भी नियम को किस प्रकार प्रतिष्ठित किया है, ईश्वर-प्रणिधान न होने पर भी पावनता का कितना महान् और दृढ़ प्रणिधान किया है, प्रार्थना न होने पर भी ध्यान को किस पर टिकाया है, 'अत्ता' (आत्मा) न होने पर भी कर्म और पुनर्जन्मवाद को किस पर अवलम्बित किया है, परम सत्ता के विषय में मौन रखकर भी गम्भीर आश्वासन किस प्रकार दिया है, यदि यह सब और इसके साथ प्रारम्भिक बौद्ध धर्म के महान् मनोवैज्ञानिक अध्ययन सम्बन्धी दान को उसकी पूरी विभूति के साथ देखना है, कुशल-अकुशल के भेद को हेतु-प्रत्यय के सहित, सूक्ष्मतल धरातल पर समझना है, संसार की वस्तुओं के उदय-व्यय को देखकर शमथ और विपश्यना को बढ़ाना है, जलती आग (संसार) के बीच शीतलता (निर्वाण) के अनुभव को हृदयङ्गम करना है, स्मृति-प्रस्थानों के अनुभव को अभिज्ञा, अधिप्रज्ञा से देखना है, तो अभिधम्म की वीथियों में भ्रमण करना ही होगा। किन्तु बीसवीं सदी के मनुष्य के लिए, जो कामावचर-लोक (कामनाओं के लोक) की अभाव-पूर्तियों के प्रयत्न में ही अभी संलग्न और सन्तुष्ट है, इतना अवकाश मिल सकेगा, यह कहना सन्देह से खाली नहीं है।

छठा अध्याय

पूर्व-बुद्धघोष-युग

(१०० ई० पूर्व से ४०० ई० तक)

तेपिटक बुद्ध-वचनों का अन्तिम संकलन तृतीय शताब्दी ईसवी-पूर्व किया गया। तब से उनका रूप पूर्णतः निश्चित हो गया। ईसा की चौथी-पाँचवीं शताब्दी में बुद्धदत्त, बुद्धघोष और धम्मपाल ने उन पर अपनी प्रसिद्ध अट्ठकथाएँ लिखीं। पालि-तिपिटक के सुनिश्चित रूप धारण कर लेने और इन अट्ठकथाओं के रचना-काल के बीच जिस साहित्य की रचना हुई, उसमें नेत्तिपकरण, पेटकोपदेस और मिलिन्दपञ्ह अधिक प्रसिद्ध है। इनका विवरण हम इस परिच्छेद में देंगे।

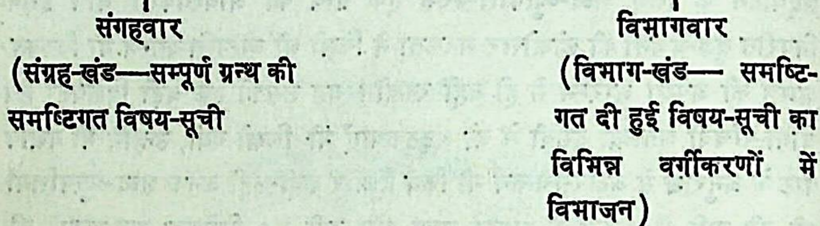
नेत्तिपकरण

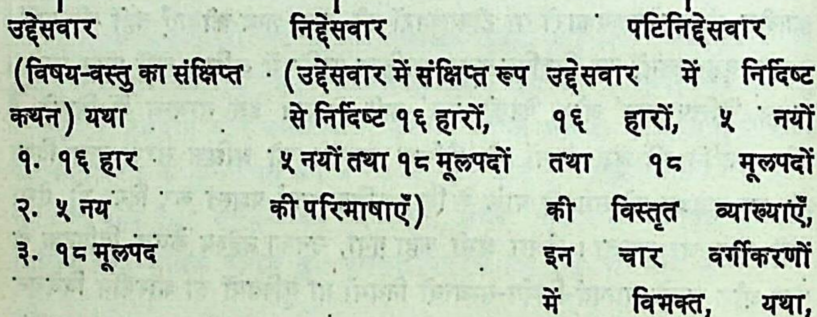
'नेत्तिपकरण' (या नेत्तिप्पकरण) का संक्षिप्त नाम 'नेत्ति' भी है। इसी को 'नेत्तिगन्धो' (नेत्ति-ग्रन्थ) भी कहते हैं। जैसा इसके नाम से स्पष्ट है, 'नेत्तिपकरण' सद्धम्म को समझने के लिए नेतृत्व या मार्ग-दर्शक का काम करने वाला एक प्रकरण-ग्रन्थ हैं। 'नेत्ति' का अर्थ है मार्गदर्शिका। वास्तव में बुद्ध-वचन इतने सरल और हृदयस्पर्शी हैं कि उनको समझने के लिए उनसे व्यतिरिक्त अन्य किसी सहायक की आवश्यकता नहीं। एकान्त-चिन्तन हो, बुद्ध-वचन हों, उनके बीच मध्यस्थता करने की किसी को आवश्यकता नहीं है। किन्तु पंडितवाद बुद्धधर्म में भी चल पड़ा। सरल बुद्ध-उपदेशों का वर्गीकरण किया गया, उनके पाठ का नियमबद्ध ज्ञान प्राप्त करने के लिए शास्त्रीय नियम बनाये गये, उनके मन्तव्यों को भिन्न-भिन्न दृष्टियों से सूचीबद्ध किया गया, उनके शब्दों की व्याख्या और उनके तात्पर्य का निर्णय करने के लिए ग्रन्थ-रचना की गयी। इस प्रवृत्ति के प्रथम लक्षण हम अभिधम्म-पिटक में ही देखते हैं। उसी का प्रत्यावर्तन हमें 'नेत्तिपकरण' और 'पेटकोपदेस' जैसे ग्रन्थों में मिलता है। 'नेत्तिपकरण' का सम्बन्ध एक प्रकार से तेपिटक बुद्ध-वचनों से वही है, जो यास्क-कृत निरुक्त' का वेदों से। फिर भी 'निरुक्त' की एक विशेष सार्थकता भी है, क्योंकि आठवीं शताब्दी ईसवी-

पूर्व ही वेदों की भाषा इतनी प्राचीन हो चुकी थी और उसमें रहस्यात्मक ज्ञान '(आचरिय-मुट्ठि)' भी इतना ही अधिक रक्खा हुआ बताया जाता था कि उसके उद्घाटन के लिए शब्द-व्युत्पत्ति-परक एक ग्रन्थ की आवश्यकता थी। इसके विपरीत बुद्ध-वचनों की लोकोत्तर सरलता ने किसी भी व्युत्पत्ति-शास्त्र या निरुक्त-शास्त्र की अपेक्षा आरम्भ से ही नहीं रक्खी। यह उसकी एक बड़ी विशेषता है। चौथी-पाँचवीं शताब्दी ईसवी से जो अट्ठकथाएँ भी लिखी गयीं, उन्होंने भी यद्यपि पाठ के अनुरोध से अक्षर-चिन्तन भी किये हैं और कहीं-कहीं अनेक शब्द-व्युत्पत्तियाँ भी की गयी हैं, परन्तु वे उनका मुख्य अंग नहीं हैं। विशेषतः बुद्ध-वचनों की ऐतिहासिक, भौगोलिक और दार्शनिक पृष्ठभूमि को ही पूरा किया गया है, उत्तर-कालीन संस्कृत भाष्यकारों या टीकाकारों की तरह शब्द-क्रीड़ाएँ नहीं की गयीं। फलतः बुद्ध-वचनों पर निरुक्ति-परक साहित्य पालि में अधिक नहीं पनप पाया। केवल 'नेत्तिपकरण' और 'पेटकोपदेस' यही दो ग्रन्थ इस सम्बन्ध में मिलते हैं और उन्होंने भी बुद्ध-वचनों की मौलिक सरलता को अधिक सरल बना दिया हो, या सद्धम्म को समझने वाले के लिए अधिक मार्ग प्रशस्त कर दिया हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता। जैसा अभी कहा गया, उनका उद्देश्य केवल तिपिटक के पाठ और उसके तात्पर्य-निर्णय-सम्बन्धी नियमों या युक्तियों का शास्त्रीय विवेचन मात्र करना है।

'नेत्तिपकरण' की विषयवस्तु और शैली बहुत कुछ अभिधम्म-पिटक से मिलती है। सुगमता के लिए उसे इस प्रकार तालिका-बद्ध किया जा सकता है—

नेत्तिपकरण





१. हार-विभंग
(हारों का अलग-अलग वर्गीकरण करके उनका विवेचन)

२. हार-सम्पात
(हारों का समष्टिगत विवेचन)

३. नय-समुट्ठान
(नयों का विवेचन)

४. सासन-पट्ठान
(बुद्ध-शासन एवं १८ मूलपदों का विवेचन)

इस तालिका से स्पष्ट है कि नेत्तिपकरण का विषय १६ हार (गुंथे हुए विषयों की मालाएँ), ५ नय (तात्पर्य-निर्णय करने की युक्तियाँ) और १८ मूलपदों (मुख्य

नैतिक विषयों) का विवेचन करना ही है। अधिक विस्तार में न जाकर यहाँ इन तीनों वर्गीकरणों में निर्दिष्ट तत्त्वों का नाम-परिगणन मात्र कर देना ही पर्याप्त होगा। नेत्तिपकरण में विवेचित १६ हार ये हैं; (१) देसना हार—इस हार में वताया गया है कि बुद्ध की देशना (धर्मोपदेश) की विधि छह प्रकार की होती थी। (अ) शील आदि का सुपरिणाम दिखाने वाली (अस्सादं), (आ) विषय-भोगों का दुष्परिणाम दिखाने वाली (आदीनवं), (इ) संसार से निकलने का मार्ग दिखाने वाली (निस्सरणं); (ई) श्रामण्य के फल का वर्णन करने वाली (फलं); (उ) निर्वाण-प्राप्ति का उपाय वताने वाली (उपायं) और (ऊ) नैतिक उद्देश्य दिखाने वाली (आर्नत्ति)। यहीं श्रुतमयी (अनुश्रव पर आश्रित), चिन्तामयी—(वौद्धिक चिन्तन पर आश्रित) और भावनामयी (पवित्र जीवन या ध्यान के विकास पर आश्रित), इन तीन प्रज्ञाओं (ज्ञानों) का भी निर्देश किया गया है। (२) विचय-हार या धर्म-चिन्तन और पर्यवेक्षण (३) युत्तिहार (युक्तिहार) अथवा युक्तियों के द्वारा धर्म-विश्लेषण कर उसके अर्थ को समझना, (४) पदट्ठानहार, मौलिक लक्षणों से पदों की व्याख्या करना; (५) लक्खण-हार, लक्षणों से अर्थ को समझना। यथा—कहीं रूप शब्द के आ जाने से ही ,वेदना आदि को भी समझना। (६) चतुव्यूह-हार (चतुर्व्यूह-हार), अर्थात् पाठ, शब्द, उद्देश्य और क्रम से अर्थ को समझना (७) आवत्तहार, किस प्रकार बुद्ध-उपदेशों में सभी विषय किसी-न-किसी प्रकार अविद्या, चार आर्य सत्य, आर्य अष्टांगिक मार्ग आदि जैसे मूलभूत सिद्धांतों में सन्निविष्ट हो जाते हैं, इसे समझना। वेदान्त-शास्त्र के तात्पर्य-निर्णय में जिसे 'अभ्यास' कहा गया है, उसकी इससे विशेष समानता है। (८) (विभत्तिहार) अर्थात् विभाजन या वर्गीकरण का ढंग। (९) परिवत्तन-हार अथवा बुद्ध का अशुभ को शुभ के रूप में परिवर्तित करने का ढंग। (१०) वेवचन-हार अथवा शब्दों के अन्य अनेक समानार्थवाची शब्द देकर अर्थ को स्पष्ट करने का ढंग। (११) पञ्ञत्ति-हार (प्रज्ञप्तिहार)—एक ही धम्म को अनेक प्रकार से रखने का ढंग। (१२) ओतरण-हार अथवा इन्द्रिय, पटिच्च-समुप्पाद, पञ्च स्कन्ध आदि के रूप में सम्पूर्ण बुद्ध-मन्तव्य का विश्लेषण। (१३) सोधन-हार, प्रश्नों को शुद्ध करने का ढंग, जिसे बुद्ध प्रयुक्त करते थे। (१४) अधिट्ठान-हार अथवा सत्य के आधार का निर्णय करना। (१५) परिक्खार-हार अथवा हेतुओं और प्रत्ययों सम्बन्धी ज्ञान। यह 'हार' बिलकुल अभिधम्म-पिटक; विशेषतः पट्ठान का ही एक अंग जान पड़ता है। (१६) समारोपनहार अथवा चार प्रकार से बुद्ध को समझाने का ढंग, यथा (अ) मूलभूत विचारों के द्वारा, (आ) समानार्थवाची शब्दों के द्वारा, (इ) चिन्तन के द्वारा (ई) अशुभ वृत्तियों के निरोध के द्वारा। जिन पाँच नयों का विवेचन

'नेत्तिपकरण' में किया गया है, उनके नाम ये हैं (१) नन्दियावत्त, (२) तीपुक्खल, (३) सीहविक्कीलित, (४) दिसालोचन, तथा (५) अंकुस। १८ मूल-पद इस प्रकार हैं (१) तण्हा (तृष्णा), (२) अविज्जा, (अविद्या), (३) लोभ, (४) दोस (द्वेष), (५) मोह (६) सुभ-सञ्ञा (शुभ-संज्ञा) (७) निच्च-सञ्ञा (नित्य-संज्ञा), (८) अत्तसञ्ञा (आत्म-संज्ञा), (९) सुक्ख सञ्ञा (सुख-संज्ञा); तथा इन नौ के क्रमशः विपरीत यथा (१०) समथ (शमथ-आन्तरिक शान्ति), (११) विपस्सना (विपश्यना-विदर्शना), (१२) अ-लोभ (१३) अ-दोस (अ-द्वेष); (१४) अ-मोह (१५) असुभ-सञ्ञा (अशुभ-संज्ञा) (१६) अनिच्च-सञ्ञा (अनित्य-संज्ञा) (१७) अनत्त-सञ्ञा (अनात्म-संज्ञा), तथा (१८) दुक्ख-सञ्ञा (दुःख-संज्ञा)। विषय की दृष्टि से बुद्ध-उपदेशों को कितने भागों में बाँटा जा सकता है, इसका भी निरूपण 'नेत्तिपकरण' में किया गया है। इस दृष्टि से विवेचन करते हुए उसने बुद्ध-वचनों को इन मुख्य सोलह भागों में बाँटा है, यथा (१) संकिलेस-भागिय, अर्थात् वे बुद्ध-उपदेश जो चित्त-मलों (संकिलेस) का विवेचन करते हैं, (२) वासना-भागिय, अर्थात् वे बुद्ध-उपदेश जो वासना या तृष्णा का विवेचन करते हैं, (३) निब्बेध-भागिय, अर्थात् वे बुद्ध-उपदेश जो प्रज्ञा के द्वारा सत्य को बेधने का विवेचन करते हैं; (४) असेख-भागिय, अर्थात् अर्हतों की अवस्था का विवेचन करने वाले, (५) संकिलेस-भागिय तथा वासना-भागिय, (६) संकिलेस-भागिय तथा निब्बेध-भागिय, (७) संकिलेस-भागिय तथा असेख-भागिय, (८) संकिलेस, असेख तथा निब्बेध-भागिय, (९) संकिलेस-वासना-निब्बेध-भागिय, (१०) वासना-निब्बेध-भागिय, (११) तण्हासंकिलेस-भागिय, (१२) दिट्ठि-संकिलेस-भागिय; (१३) दुच्चरित-संकिलेस-भागिय, (१४) तण्हावोदान-भागिय (तृष्णा की विशुद्धि का उपदेश करने वाले बुद्ध-वचन), (१५) दिट्ठिवोदान-भागिय (दृष्टि या मिथ्या मतवादों की विशुद्धि का उपदेश करने वाले बुद्ध-वचन) तथा (१६) दुच्चरित-वोदान-भागिय अर्थात् दुराचरण की शुद्धि का उपदेश करने वाले बुद्ध-वचन।

ऊपर विषयों के अनुसार बुद्ध-वचनों का जो वर्गीकरण किया गया है; उसमें पहले संक्षिप्त विवेचन करके फिर उनमें निर्दिष्ट धर्मों को एक-दूसरे से मिलाकर अन्य अनेक वर्गीकरण करने की प्रवृत्ति दिखलायी पड़ती है। संकिलेस, वासना, तण्हा और असेख के आधार पर ऐसे ही वर्गीकरण ऊपर किये गये हैं। निश्चयतः यह अभिधम्म की प्रणाली है। 'उद्देस' के बाद 'निद्देस' देने की अभिधम्म की निश्चित प्रणाली है, यह हम अभिधम्म-पिटक के विवेचन में देख चुके हैं। उसी का अनुवर्तन इस ग्रन्थ में किया गया है, जैसा उसकी ऊपरी दी हुई विषय-तालिका से स्पष्ट

है। इतना ही नहीं, सिद्धान्तों के विवेचन में भी अभिधम्म का प्रभाव स्पष्टतः दिखायी पड़ता है। जैसा ऊपर दिखाया जा चुका है, परिक्खार-हार के विवेचन में पट्ठान के हेतुओं और प्रत्ययों की स्पष्ट प्रतिध्वनि है। यहाँ 'नेत्ति' के लेखक ने उसे पूरी तरह न लेकर अपने निरुक्ति सम्बन्धी प्रयोजन के अनुसार ही लिया है। इसीलिये 'हेतु' और 'प्रत्यय' का विभेद यहाँ इतना स्पष्ट नहीं हो पाया है। लौकिक और अलौकिक का विभेद भी 'नेत्तिपकरण' में किया गया है। यह भी अभिधम्म के प्रभाव का सूचक है। नेत्तिपकरण और अभिधम्म की शैली के इस पारस्परिक सम्बन्ध का ऐतिहासिक अर्थ क्या है? स्पष्टतः यही कि नेत्तिपकरण की रचना अभिधम्म-पिटक के बाद हुई। किन्तु श्रीमती रायस डेविड्स ने इसके विपरीत यह निष्कर्ष निकाला है कि 'नेत्तिपकरण' कम-से-कम 'पट्ठान' से पूर्व की रचना है।[१] उनके इस मत का मुख्य आधार यही है कि नेत्तिपकरण में अभी हेतु और प्रत्यय का भेद उतना स्पष्ट नहीं हुआ है जितना 'पट्ठान' में। किन्तु क्या यह 'नेत्तिपकरण' की आवश्यकता के अनुरूप नहीं हो सकता? क्या इस कारण नहीं हो सकता कि 'नेत्तिपकरण' के लेखक को यहाँ अभिधम्म की सूक्ष्मता में न जाकर केवल उसके निरुक्ति-सम्बन्धी प्रयोजन को ग्रहण करना था? अभिधम्मपिटक के संकलन या प्रणयन के काल के सम्बन्ध में जो विवेचन हम पहले कर चुके हैं, उसकी पृष्ठभूमि में तो नेत्तिपकरण को उसके बाद की रचना ही माना जा सकता है। ई० हार्डी ने, जिन्होंने इस ग्रन्थ का सम्पादन पालि टैक्सट् सोसायटी के लिए किया है, आन्तरिक और बाह्य साक्ष्य का विवेचन कर यह निष्कर्ष निकाला है कि 'नेत्तिपकरण' ईसवी सन् के आसपास की रचना है।[२] गायगर ने इस मत को स्वीकार किया है।[३] श्रीमती रायस डेविड्स के मत की अपेक्षा यही मत अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। 'गन्धवंस' के वर्णनानुसार 'नेत्तिपकरण' के रचयिता महाकच्चायन (महाकात्यायन), भगवान् बुद्ध के परम ऋद्धिमान् शिष्य महाकच्चायन ही थे।[४] स्वयं मज्झिम-निकाय के मधुपिंडिकसुत्त (१।२।८) में महाकच्चान के अर्थ-विभाग की प्रशंसा

---

१. जर्नल ऑव रॉयल एशियाटिक सोसायटी, १९२५, पृष्ठ १११-११२; विंटरनित्ज ने भी उनके इस साक्ष्य को स्वीकार किया है। देखिये उनकी हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १८३।

२. नेत्तिपकरण (ई० हार्डी द्वारा सम्पादित, लन्दन १९०२), पृष्ठ ८ (भूमिका)।

३. पालि लिटरेचर एण्ड लैंग्वेज, पृष्ठ २६।

४. वही, पृष्ठ ४९।

की गयी है, "यह आयुष्मान् महाकात्यायन, बुद्ध द्वारा प्रशंसित, सब्रह्मचारियों द्वारा प्रशंसित और शास्ता द्वारा संक्षेप से कहे हुए उपदेश का विस्तार से अर्थ-विभाग करने में समर्थ हैं।" सम्भवतः इसी आधार पर 'नेत्तिपकरण' को गौरव देने के लिए उसे इस आर्य महाकात्यायन की रचना बतलाया गया है। किन्तु इन शास्त्रीय विवेचनों में पड़ने की बुद्ध के उन प्रथम शिष्यों को आवश्यकता नहीं थी, यह निश्चित है। यह तो उत्तरकालीन वैदिक परम्परा से प्राप्त प्रभाव का ही परिणाम था। जिस प्रकार कच्चायन और मोग्गल्लान व्याकरणों का सम्बन्ध बुद्ध के प्रथम शिष्यों के साथ किया जाता है, उसी प्रकार 'नेत्तिपकरण' के रचयिता महाकच्चायन के विषय में भी हमें जानना चाहिए। वास्तव में 'नेत्तिपकरण' ईसवी सन् के आसपास की रचना है और उसके रचयिता कोई कच्चायन नामक भिक्षु थे, जिनके विषय में हमें अधिक कुछ ज्ञात नहीं है।

'गन्धवंस'[1] में नेत्तिपकरण के रचयिता कच्चायन थेर को 'महाकच्चायन' नाम से पुकारा गया है और इस ग्रन्थ के अलावा उनकी पाँच और रचनाओं का उल्लेख किया गया है, जिनमें 'कच्चायन-गन्ध' (कच्चायन-व्याकरण) और 'पेटकोपदेस' भी सम्मिलित है। इस प्रकार कच्चायन-व्याकरण और पेटकोपदेस के रचयिता कच्चायन थेर ही नेत्तिपकरण के भी रचयिता होंगे। डॉ० मललसेकर ने 'गन्धवंस' के आधार पर ही माना है कि नेत्तिपकरण के रचयिता कच्चायन थेर ही कदाचित् कच्चायन-व्याकरण के भी रचयिता थे। उन्होंने यह भी कहा है कि यह कच्चायन थेर कदाचित् दक्षिण भारत के निवासी थे और उनका समय पाँचवीं या छठी शताब्दी ईसवी है।[2] परन्तु 'नेत्तिपकरण' के रचयिता कच्चायन थेर को व्याकरणकार कच्चायन थेर से अभिन्न मानने को ई० हार्डी बिलकुल तैयार नहीं।[3]

पाँचवीं शताब्दी ईसवी में या उसके कुछ बाद भदन्ताचार्य धम्मपाल थेर ने नेत्तिपकरण पर 'नेत्तिप्पकरणस्स अत्थसंवण्णना' (नेत्तिपकरण का अर्थ-विवरण) नाम की एक अट्ठकथा भी लिखी, जिसका निर्देश हम आगे के अध्याय में अट्ठ-कथा-साहित्य का विवरण देते समय करेंगे। ऐसा माना जाता है कि 'नेत्तिपकरण' को उसका वर्तमान रूप कदाचित् आचार्य धम्मपाल ने ही दिया। सिंहल और

---

१. पालि लिटरेचर एंड लैंग्वेज पृष्ठ ४९, ५९ (जर्नल ऑव पालि टैक्स्ट् सोसायटी, १८८६ में सम्पादित संस्करण)।

२. दि पालि लिटरेचर ऑव सिलोन, पृष्ठ १७९; डिक्शनरी ऑव पालि प्रॉपर नेम्स, जिल्द पहली, पृष्ठ ४७८।

३. देखिए, उनके द्वारा सम्पादित 'नेत्तिपकरण' की भूमिका, पृष्ठ बत्तीस।

बरमा की भाषाओं में इस ग्रन्थ का अनुवाद हुआ है और इसके कई संस्करण भी निकले हैं।

पेटकोपदेश[1]

'पेटकोपदेस' भी 'नेत्तिपकरण' के समान विषयवस्तु वाली एक दूसरी रचना है। श्रीमती मेबिल बोड ने हमें बताया है कि बरमा में इन दोनों ग्रन्थों का आदर तिपिटक के समान ही होता है।[2] 'पेटकोपदेस' का उद्देश्य तिपिटक के विद्यार्थियों को उसी प्रकार का उपदेश या शिक्षा देना है, जैसा हम 'नेत्तिपकरण' में देख आये हैं। 'नेत्तिपकरण' की ही विषयवस्तु को यहाँ एक दूसरे ढंग से उपन्यस्त कर विवेचित किया गया। कहीं जो कुछ बातें 'नेत्तिपकरण' में दुरूह रह गयीं हैं, उनको यहाँ स्पष्ट रूप से समझा दिया गया है। 'पेटकोपदेस' की एक मुख्य विशेषता यह भी है कि यहाँ विषय का विन्यास प्रधानतः चार आर्य सत्यों की दृष्टि से किया गया है, जो बुद्ध-शासन के मूल उपादान हैं। 'गन्धवंस' में 'पेटकोपदेस' के भी रचयिता 'नेत्तिपकरण' के लेखक महाकच्चायन या कच्चायन थेर ही बताये गये हैं। अतः उनके काल और जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में भी वही जानना चाहिये, जो 'नेत्तिपकरण' के रचयिता के सम्बन्ध में।

मिलिन्दपञ्ह[3]

'मिलिन्दपञ्हं', 'मिलिन्दपञ्हो' या 'मिलिन्दपञ्हा' (इन तीनों प्रकार यह

---

१. श्री अरविन्द बड़ुआ द्वारा रोमन लिपि में सम्पादित।

२. दि पालि लिटरेचर ऑव बरमा, पृष्ठ ४-५। बल्कि यहीं उन्होंने कहा है की बरमी परम्परा में 'मिलिन्दपञ्ह' और 'सुत्त-संगह' के साथ 'पेटकोपदेस' और 'नेत्तिपकरण' को भी 'खुद्दक-निकाय' के अन्तर्गत ही माना जाता है।

३. रोमन लिपि में सन् १८८० में लन्दन से ट्रेंकनर का प्रसिद्ध संस्करण निकला था। आज तो नागरी लिपि में भी सौभाग्यवश इसके मूल पाठ और अनुवाद दोनों उपलब्ध हैं। मिलिन्दपञ्हो : आर० डी० बड़ेकर द्वारा सम्पादित, बम्बई विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित, १९४०; भिक्षु जगदीश काश्यप द्वारा हिन्दी में अनुवादित, प्रकाशक भिक्षु उ० कित्तिमा, सारनाथ, बनारस, १९३७। द्वितीय संस्करण भी इस अनुवाद का निकल चुका है। प्रकाशक भिक्षु महानाम, प्रधानमंत्री, धर्मोदय सभा, कलकत्ता १९५१। मिलिन्दपञ्हो के स्यामी, सिंहली तथा बरमी अनेक संस्करण उपलब्ध हैं। मूल को देवनागरी लिपि में देते हुए स्वर्गीय पं० विधुशेखर भट्टाचार्य ने इस ग्रंथ का बंगला में अनुवाद किया था।

ग्रन्थ लिखा जाता है)[१] इस युग की सबसे अधिक प्रसिद्ध रचना है। सम्पूर्ण अनुपिटक साहित्य में इस ग्रन्थ की समता अन्य कोई ग्रन्थ नहीं कर सकता। बुद्ध-घोष ने इस ग्रन्थ को अपनी अट्ठकथा में तिपिटक के समान ही आदरणीय मानते हुए उद्धृत किया है,[२] यह उसकी महत्ता का सर्वोत्तम सूचक है। साहित्य और दर्शन दोनों दृष्टियों से 'मिलिन्द-पञ्ह' स्थविरवाद बौद्ध धर्म का एक बड़ा गौरव-ग्रन्थ है। पाश्चात्य विद्वान् तक उसके दार्शनिक और साहित्यिक गौरव पर इतने अधिक मुग्ध हुए हैं कि उन्हें इसमें ग्रीक प्रभाव और विशेषत: प्लेटो के संवादों की गन्ध आने लगी है। 'मिलिन्द-पञ्ह' (मिलिन्द-प्रश्न) जैसा, उसके नाम से स्पष्ट है, 'मिलिन्द' के 'प्रश्नों' के विवरण के रूप में लिखा गया है। 'मिलिन्द' शब्द ग्रीक 'मेनाण्डर' नाम का भारतीयकरण है। मेनाण्डर के प्रश्नों का विवरण मात्र इस ग्रन्थ में नहीं है। मेनाण्डर के प्रश्नों का समाधान इस ग्रन्थ का मुख्य विषय है। यह समाधान भदन्त नागसेन नामक बौद्ध भिक्षु ने किया। अत: मेनाण्डर और भदन्त नागसेन के संवाद के रूप में यह ग्रन्थ लिखा गया है। मेनाण्डर प्रश्न पूछते हैं और भदन्त नागसेन उनके प्रश्नों के उत्तर देते हैं। मेनाण्डर या मिलिन्द और भदन्त नागसेन का यह प्रश्नोत्तरमय संवाद ऐतिहासिक तथ्य था; इसके लिए प्रभूत इतिहास-सम्बन्धी सामग्री उपलब्ध है। 'मिलिन्द-पञ्ह' में ही मिलिन्द को योनकों अर्थात् यवनकों का राजा कहा गया है। 'योनकानं राजा मिलिन्दो') और उसकी राजधानी सागल (वर्तमान स्यालकोट) को बतलाया गया है। हम जानते हैं कि दूसरी शताब्दी ईसवी-पूर्व में भारत का उत्तर-पश्चिमी भाग ग्रीक शासक के हाथ में चला गया था। ग्रीक शासक मेनाण्डर या मेनाण्ड्रोस ही 'मिलिन्द-पञ्ह' का 'मिलिन्द' है, यह इति-

---

१. सिंहल में तो विशेषतः मिलिन्दपञ्हो ही कहा जाता है। हिन्दी में 'मिलिन्दप्रश्न' के आधार पर 'मिलिन्दपञ्ह' ही कहना हमने अधिक उचित समझा है।

२. अट्ठसालिनी, पृष्ठ ९४, ९८, ९९, ११६ (देवनागरी संस्करण, पूना, १९४२) में बुद्धघोष ने 'आयुष्मान् नागसेन' (आयस्मा नागसेन), 'नागसेन स्थविर' (नागसेनत्थेरो) और 'आयुष्मान् नागसेन स्थविर' (आयस्मा नागसेनत्थेरो) आदि कह कर मिलिन्द-पञ्ह के लेखक को स्मरण किया है। 'सुमंगलविलासिनी' (दीघनिकाय की अट्ठकथा) की 'सम्पसादनियसुत्तवण्णना' में भी उन्होंने एक प्रसंग में "अपि चेतं कारणं मिलिन्दरञ्ञा पुट्ठेन नागसेनत्थेरेन वित्थारितमेव" कह कर नागसेन स्थविर और उनकी रचना का उल्लेख किया है।

हासवेत्ताओं का निश्चित मत है। किन्तु इस मेनाण्ड्रोस के शासन-काल की निश्चित तिथि क्या है, इसके विषय में अभी एक मत नहीं हो सका है। स्मिथ के अनुसार १५५ ई० पूर्व मेनाण्डर ने भारत पर आक्रमण किया।[1] हेमचन्द्र राय चौधरी[2] के मतानुसार मेनाण्डर का शासन-काल प्रथम शताब्दी ईसवी-पूर्व है। स्वयं 'मिलिन्द-पञ्ह' के अनुसार मिलिन्द और नागसेन का आविर्भाव बुद्ध-परिनिर्वाण के ५०० वर्ष बाद 'परिनिब्बानतो पंचवस्ससते अतिक्कन्ते'' हुआ। अधिकतर विद्वानों की आज मान्यता है कि मेनाण्डर का शासन-काल प्रथम शताब्दी ईसवी-पूर्व है। अतः अपने मूल रूप में 'मिलिन्द-पञ्ह' इसी समय लिखा गया; यह निश्चित है। चूंकि ग्रीक-शासन मेनाण्डर के बाद शीघ्र भारत से लुप्त हो गया था और उसकी कोई स्थायी स्मृति भारतीय इतिहास में अंकित नहीं है; अतः यदि 'मिलिन्द-पञ्ह' की रचना को मिलिन्द और नागसेन के संवाद के आधार पर एक बाद के युग में लिखी हुई भी मानें, तो भी वह युग बहुत बाद का नहीं हो सकता। हर हालत में 'मिलिन्द-पञ्ह' की रचना ईसवी सन् के पहले ही हो गयी थी और उसका आधार था ग्रीक राजा मेनाण्डर और भदन्त नागसेन का ऐतिहासिक संलाप। सोलहवीं शताब्दी ईसवी में थाई-देश में लिखे गये 'जिनकालमालिनी' (या 'जिनकालमाली') नामक ग्रन्थ में 'मिलिन्द-पञ्ह' की रचना के काल और स्थान के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण सूचना दी गयी है, बल्कि उसे सिंहली इतिहास के सन्दर्भ में संयोजित करके भी वहाँ रक्खा गया है। हम ऊपर देख चुके हैं कि स्वयं 'मिलिन्द-पञ्ह' में कहा गया है कि बुद्ध-परिनिर्वाण के ५०० वर्ष बाद मिलिन्द और नागसेन का आविर्भाव हुआ। इसी का आधार लेकर 'जिनकालमालिनी' में उसके लेखक थाई भिक्षु रतनपञ्ञ महत्त्वपूर्ण रूप से कहते हैं कि "अनुराधपुर में जब कि कण्णतिस्स नामक राजा राज्य कर रहा था, तो उस समय जम्बुद्वीप (भारत) में 'सागला' नामक नगरी में मिलिन्द नामक राजा और महानागसेन नामक स्थविर, जो दोनों पण्डित थे, अपने प्रश्नोत्तरों से दशबल (बुद्ध) के शासन के

---

१. अर्ली हिस्ट्री ऑव इंडिया, पृष्ठ २२७, २३९, २५८ (चतुर्थ संस्करण)।

२. पॉलिटिकल हिस्ट्री ऑव एन्शियन्ट इंडिया, पृष्ठ ३८१-८२ (छठा संस्करण), कलकत्ता, १९५३ ई०।

३. मिलाइये, रायस डेविड्स : क्विशन्स ऑव किंग मिलिन्द (मिलिन्द-प्रश्न का अंग्रेजी अनुवाद), भाग प्रथम (सेक्रेड बुक्स ऑव दि ईस्ट, जिल्द ३५), पृष्ठ ४५ (भूमिका); विंटरनित्ज : हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १७५।

परम गम्भीर भाव को जैसे द्योतित करते हुए एक दूसरे से मिले, इसीलिये 'मिलिन्द-पञ्ह' में कहा गया है, 'मेरे परिनिर्वाण के पाँच सौ वर्ष बाद ये उत्पन्न होंगे।'[1] इस प्रकार इस ग्रन्थ का यह साक्ष्य है कि 'मिलिन्द-पञ्ह' की रचना भारत (जम्बु-द्वीप) में, बल्कि उसके सागल (स्यालकोट) नगर में सिंहली राजा कण्णतिस्स के शासन-काल में हुई, अर्थात् १६-३८ ईसवी के बीच के समय में।[2]

'मिलिन्द-पञ्ह' में निहित राजा मिलिन्द और भदन्त नागसेन के संवाद की ऐतिहासिकता को प्रमाणित करने के लिए एक और भी दृढ़तर साक्ष्य विद्यमान है। भारत के करीब २२ स्थानों में (विशेषतः मथुरा में और काबुल तक) ग्रीक राजा मेनाण्डर के सिक्के मिले हैं, जिन पर खुदा हुआ है "बेसिलियस-सोटिरस मेनण्ड्रोस"। एक आश्चर्य की बात यह है कि इन सिक्कों पर धर्म-चक्र का निशान बना हुआ है जो उसके बौद्ध धर्मावलम्बी होने का पक्का प्रमाण देता है। 'मिलिन्द-पञ्ह' में भी हम पढ़ते हैं कि भदन्त नागसेन के उत्तरों से सन्तुष्ट होकर राजा मिलिन्द उनसे अपने को उपासक (बौद्ध गृहस्थ-शिष्य) के रूप में स्वीकार करने की प्रार्थना करता है—'उपासकं मं भन्ते नागसेन धारेथ"।[3] बाद में हम वहीं यह भी देखते हैं कि राजा मिलिन्द ने बाद में अपने राज्य को अपने पुत्र को देकर प्रव्रज्या ग्रहण कर ली और विदर्शना-ज्ञान की वृद्धि करते हुए उसने अर्हत्त्व प्राप्त किया।[4] ग्रीक इतिहास-लेखक प्लूटार्क का कहना है कि मेनाण्डर के मरने के बाद अनेक भारतीय नगरों में उसकी अस्थियों के ऊपर समाधियाँ बनायी गयीं। स्पष्टतः यह मेनाण्डर के बौद्ध होने का साक्ष्य देता है और 'मिलिन्द-पञ्ह' के वर्णन का समर्थन करता है। भगवान् बुद्ध (महापरिनिब्बाण-सूत्त) और अनेक अर्हतों की अस्थियों पर इसी प्रकार स्तूप बनवाये गये थे। आचार्य बुद्धघोष के

---

१. "कण्णतिस्से पि अनुराधपुरे रज्जं कारेन्ते जम्बुदीपे सागलायं मिलिन्दो नाम राजा महानागसेनत्थेरो च उभो पञ्हविस्सज्जनेहि दसबलसासनस्स परमगम्भीरभावं जोतयन्ता व समागमिंसु। तेन वुत्तं मिलिन्दपञ्हे 'मयि परिनिब्बुते पंचवस्ससते काले एते उप्पज्जिस्सन्ती।" ति। पृष्ठ ६२ (ए० पी० बुद्धदत्त महाथेर द्वारा रोमन लिपि में सम्पादित संस्करण)।

२. देखिए, 'जिनकालमाली' (ए० पी० बुद्धदत्त महाथेर द्वारा सम्पादित) की भूमिका, पृष्ठ चौदह।

३. पृष्ठ ४११ (बम्बई विश्वविद्यालय का संस्करण)।

४. "पुत्तस्स रज्जं निय्यादेत्वा अगारस्मा अनगारियं पब्बजित्वा विपस्सनं वड्ढेत्वा अरहत्तं पापुणी" ति। पृष्ठ ४११ (बम्बई विश्वविद्यालय का संस्करण)।

परिनिर्वाण पर इसी प्रकार का वर्णन बुद्धघोसुप्पत्ति' (पृष्ठ ६६; जेम्स ग्रे-द्वारा सम्पादित) में मिलता है। अतः पूर्वोक्त विवरण, प्लूटार्क का साक्ष्य और सबसे अधिक राजा मेनाण्डर के सिक्कों पर धर्म-चक्र चिन्ह का पाया जाना, इन सब बातों के प्रकाश में हम 'मिलिन्द-पञ्ह' के इस साक्ष्य को अस्वीकार नहीं कर सकते कि मेनाण्डर बौद्ध हो गया था। शिनकोट-अभिलेख का साक्ष्य भी यही है। इतने ठोस प्रमाणों के होते हुए भी कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने यह स्वीकार नहीं किया कि मेनाण्डर बौद्ध हो गया था।[1] सम्भवतः पाश्चात्य संस्कृति की गौरव-रक्षा के अन्तर्हित भाव ने ही उन्हें इस स्पष्ट सत्य को स्वीकार करने से उन्मुख या उदासीन रखा है। ग्रीक राजा मेनाण्डर और भदन्त नागसेन के संवाद के रूप में 'मिलिन्द-पञ्ह' का लिखा जाना एक निश्चित ऐतिहासिक तथ्य होते हुए भी वह एक ग्रन्थ के रूप में किसके द्वारा लिखा गया, किस रूप में लिखा गया, बाद में उसमें क्या परिवर्तन या परिवर्द्धन किये गये; आदि समस्याएँ बाकी ही बच रहती हैं। इन समस्याओं पर आने से पूर्व हमें इतना तो निश्चयपूर्वक समझ ही लेना चाहिए कि मूल रूप में 'मिलिन्द-पञ्ह' का प्रणयन, उत्तर-पश्चिम भारत में, द्वितीय या प्रथम शताब्दी ईसवी-पूर्व हुए, भदन्त नागसेन और ग्रीक राजा मेनाण्डर के संवाद के आधार पर, उसी समय या कम-से-कम प्रथम शताब्दी ईसवी-पूर्व के निकट, बौद्ध धर्म सम्बन्धी शंकाओं के निवारणार्थ हुआ। उसके रचयिता भी भदन्त नागसेन ही माने जा सकते हैं। हम ऊपर देख ही चुके हैं कि स्याम देशवासी सोलहवीं शताब्दी ईसवी के स्थविर रतनपञ्ञ ने भी ऐसा ही माना है। बल्कि उनसे पूर्व महास्थविर बुद्धघोषाचार्य की भी यही मान्यता थी, क्योंकि उन्होंने 'मिलिन्द-पञ्ह' से उद्धरण देते हुए ग्रन्थ का नाम तक लेना आवश्यक न समझकर केवल स्थविर नागसेन के नाम से ही उसका उद्धरण दिया है। ग्रन्थ के नायक होने के साथ-साथ उनके इस ग्रन्थ के रचयिता होने के कोई विरोध नहीं है। ऐसी निर्वैयक्तिकता भारतीय साहित्य में अनेक बार देखी जाती है। कम-से-कम श्रीमती रायस डेविड्स ने जो 'मिलिन्द-

---

१. मिलाइए, रायस डेविड्स : मिलिन्द-पञ्ह का अंग्रेजी अनुवाद (क्विशन्स ऑव किंग मिलिन्द), भाग प्रथम (सेक्रेड बुक्स ऑव दि ईस्ट, जिल्द ३५, पृष्ठ १९ (भूमिका); स्मिथ : अर्ली हिस्ट्री ऑव इंडिया, पृष्ठ १८७, २२६; गायगर : पालि लिटरेचर एंड लैंग्वेज, पृष्ठ २७; ये विद्वान् इतना तक तो स्वीकार करते हैं कि बौद्धों से उसकी सहानुभूति थी। इससे कुछ अधिक विंटरनित्ज ने इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १७५, पद-संकेत १ में कहा है। परन्तु स्पष्ट साहस के सत्य बात कहने का वह भी नहीं कर सके।

पञ्ह' के रचयिता का नाम 'माणव' बतलाया है,[1] उसके लिए तो कोई ऐतिहासिक आधार नहीं मिलता और उसे उनकी कल्पना से प्रसूत ही समझना चाहिए।

अक्सर (विशेषतः पश्चिमी विद्वानों द्वारा) यह कहा जाता है कि 'मिलिन्द-पञ्ह' एक इकाई-बद्ध रचना नहीं है और उसका प्रणयन भिन्न-भिन्न लेखकों द्वारा भिन्न-भिन्न युगों में हुआ है। परिच्छेदों की एक दूसरे से भिन्नरूपता एवं शैली और विषयवस्तु की भी विभिन्नता के कारण यह मान लिया गया है कि मौलिक रूप में ग्रन्थ बहुत छोटा रहा होगा, सम्भवतः वह मिलिन्द और नागसेन के संवाद के संक्षिप्त विवरण के रूप में था, और बाद में स्थविरवाद बौद्ध धर्म की दृष्टि से जो विषय महत्त्वपूर्ण थे उनको प्राचीन नमूनों के आधार पर इसमें जोड़ा जाता रहा। ग्रन्थ का प्रस्तुत रूप इसी परिवर्द्धन का परिणाम है। 'मिलिन्द-पञ्ह' के अनेकरूपतामय आन्तरिक साक्ष्य के अलावा एक और प्रभावशाली बाह्य साक्ष्य इस मत के प्रतिपादन में दिया गया है कि प्रस्तुत पालि 'मिलिन्द-पञ्ह' एक मौलिक रचना न होकर अनेक परिवर्द्धनों का परिणाम है। अथवा स्वयं मौलिक रूप से संस्कृत में लिखे हुए ग्रन्थ का पालि रूपान्तर है। इस बाह्य साक्ष्य का आधार है इस ग्रन्थ का चीनी अनुवाद, जो सन् ३१७ और ४२० ई० के बीच किसी समय एक अज्ञात लेखक के द्वारा किया गया। पालि 'मिलिन्द-पञ्ह' में ७ अध्याय हैं; यथा (१) वाहिर-कथा; (२) लक्खण-पञ्हो, (३) विमतिच्छेदन-पञ्हो, (४) मेण्डक-पञ्हो, (५) अनुमान-पञ्हो, (६) धुतंग-कथा; तथा (७) ओपम्मकथापञ्हं। उपर्युक्त चीनी अनुवाद में, जिसका नाम वहाँ 'न-सियन्-पि-कियु-चिंग्' अर्थात् 'नागसेन भिक्षु सूत्र' या संक्षेप में 'न-सियन्-चिंग्' अर्थात् 'नागसेन सूत्र' दिया गया है, चौथे अध्याय से लेकर सातवें अध्याय तक नहीं हैं। वहाँ केवल प्रथम तीन अध्याय हैं जो १२४ परिच्छेदों के रूप में हैं।[2] इससे स्वाभाविक तौर पर विद्वानों

---

१. देखिए, उनका 'मिलिन्द क्विश्चन्स', लन्दन, १९३०। ऐसे अनेक काल्पनिक नाम बुद्ध के समकालिक व्यक्तियों के भी उन्होंने अपनी पुस्तक 'गोतम दि मैन' (लुज़ाक एण्ड कम्पनी, लन्दन, १९२८) में दिये हैं। इनसे भ्रम पैदा होता है, क्योंकि ये उनकी कल्पना से प्रसूत है और इसका कोई ऐतिहासिक आधार नहीं है।

२. चीनी 'नागसेन-भिक्षु-सूत्र' के कौन-कौन से परिच्छेद पालि 'मिलिन्द-पञ्ह' के किन-किन अध्यायों में समाविष्ट या अन्तर्भावित है, इसके लिए देखिए प्रभात कुमार मुखर्जी : इण्डियन लिटरेचर इन चाइना एण्ड दि फार ईस्ट, पृष्ठ ६५, पद-संकेत ३ (ग्रेटर इण्डिया सोसायटी, कलकत्ता, १९३१)। चीनी 'नागसेन-

ने यह निष्कर्ष निकाला है कि 'मिलिन्द-पञ्ह' के पहले तीन अध्याय ही ग्रन्थ के मौलिक स्वरूप के परिचायक हैं और वाकी बाद के परिवर्द्धन मात्र हैं। सेनाँ और वार्थ आदि अनेक विद्वानों के अलावा गायगर[1] और विंटरनित्ज[2] भी इसी मत के मानने वाले हैं। उन्होंने इसी के समर्थन में अन्य कारण भी दिये हैं। एक सब से वड़ा कारण तो यही है कि हमारे प्रस्तुत पालि 'मिलिन्द-पञ्ह' में ही तृतीय अध्याय के अन्त में लिखा है, "मिलिन्दस्स पञ्हानं पुच्छाविस्सज्जना निट्ठिता" अर्थात् "मिलिन्द के प्रश्नों के उत्तर समाप्त हुए।" इतना ही नहीं, आगे चौथे अध्याय के प्रारम्भ में जो गाथाएँ आती हैं, वे एक नये ही प्रकार से विषय की प्रस्तावना करती हैं। "वक्ता; तर्कप्रिय; अत्यन्त वुद्धि-विशारद (राजा) मिलिन्द ज्ञान-विवेचन के लिए नागसेन के पास आया।"[3] जब पहले मिलिन्द के प्रश्न समाप्त ही कर दिये गये, तो फिर इस प्रकार विषय का दुवारा अवतरण करने की क्या आवश्यकता थी ? निश्चय ही निष्पक्ष समालोचक को इस चौथे अध्याय के बाद के भाग की मौलिकता और प्रामाणिकता में सन्देह होने लगता है। यह भी कितने आश्चर्य की वात है कि आचार्य वुद्धघोष ने भी 'मिलिन्द-पञ्ह' के जिन अवतरणों को उद्धृत किया है, वे प्रायः प्रथम तीन अध्यायों से ही है। अतः इन्हीं को अपेक्षाकृत अधिक प्रामाणिक मानना पड़ता है। जहाँ तक इन प्रथम तीन अध्यायों की भी प्रामाणिकता का सवाल है, उनके विषय में भी कुछ विद्वानों ने सन्देह प्रकट किया है। स्वयं विंटरनित्ज ने प्रथम अध्याय के कुछ अंशों को मौलिक नहीं माना है। उनके मतानुसार ग्रन्थ की मौलिक प्रस्तावना अपेक्षाकृत कुछ छोटी थी।[4] गायगर भी इस मत में उनके साथ सहमत हैं।[5] इसी प्रकार तृतीय अध्याय (विमतिच्छेदन-पञ्हो) में भी निरन्तर परिवर्द्धनों की सम्भावना स्वीकार की गयी है। इस परिच्छेद

भिक्षु-सूत्र' का डेमी विले ने फ्रेंच भाषा में अनुवाद किया है। अभी हाल में पालि और चीनी स्रोतों का आधार लेकर "मिलिन्द-पञ्ह और नागसेन-भिक्षु-सूत्र" शीर्षक एक तुलनात्मक अध्ययन वियतनामी भिक्षु थिच्-मिन्-चाउ ने प्रस्तुत किया है, जिसे लेखक ने ही भारत में वियतनाम बुद्धिस्ट इन्स्टीट्यूट की ओर से प्रकाशित किया है।

१. पालि लिटरेचर एंड लैंग्वेज, पृष्ठ २७।

२. हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १७६-१७७।

३. "भस्सप्पवेदीवेतंडी अतिबुद्धिविचक्खणो। मिलिन्दो ञाणभेदाय नागसेन-मुपागमि।"

४-५. ऊपर उद्धृत क्रमशः २ एवं १ पद-संकेतों के समान।

में मिलिन्द के सन्देहों का निवारण किया गया है। जो-जो सन्देह स्थविरवाद बौद्ध धर्म की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण माने जाते थे, उन सब का समाधान-सहित समावेश इस परिच्छेद में कर दिया गया है, ऐसा इन विद्वानों ने मान लिया है। गार्बे और श्रेडर ने तो इस पूरे अध्याय तक को बाद का जोड़ा हुआ मान लिया है,[1] जो ठीक नहीं है। पालि 'मिलिन्द-पञ्ह' और चीनी भाषा में प्राप्त 'नागसेन-सूत्र' में विभिन्नता होने के आधार पर तथा अन्य उपर्युक्त आन्तरिक और वाह्य साक्ष्यों के आधार पर यह मान लिया गया है कि पालि 'मिलिन्द-पञ्ह' के अध्याय ४ से लेकर ७ तक बाद के परिवर्द्धन हैं। एक दूसरा निष्कर्ष यह भी निकाला गया है कि 'मिलिन्द-पञ्ह' के प्रारम्भिक काल से ही अनेक संस्करण या पाठ-भेद थे। जर्मन विद्वान् श्रेडर ने उसके सात पाठ-भेदों का उल्लेख किया है। निश्चय ही ये सब बातें कल्पना पर आश्रित हैं और केवल चीनी अनुवाद से पालि 'मिलिन्द-पञ्ह' की विभिन्नता के आधार पर निकाले हुए अनुमान मात्र हैं। यह एक अत्यन्त आश्चर्य की बात है कि 'मिलिन्द-पञ्ह' के प्रश्न को लेकर डॉ० गायगर जैसे विद्वान् को भी भ्रम में पड़ जाना पड़ा है। उन्होंने यह मान लिया है कि पालि 'मिलिन्द-पञ्ह' मौलिक रूप से संस्कृत में लिखा गया था और ईसवी सन् के करीब उसका अनुवाद पालि में किया गया। उन्होंने यह भी मान लिया है कि यह अनुवाद लंका में किया गया और प्राचीन नमूनों के आधार पर उसमें अनेक परिवर्द्धन भी कर दिये गये, यथा पूरण कस्सप, मक्खलि गोसाल आदि की कथाएँ दीघ-निकाय के सामञ्ञ फल-सुत्त के आधार पर और रोहण और नागसेन के सम्बन्ध की कथा महावंस ५।१३१ में निर्दिष्ट सिग्गव और तिस्स की कथा के आधार पर जोड़ दी गई।[2] परिवर्द्धनों की सम्भावना को स्वीकार करते हुए भी (यद्यपि पूरण कस्सप और मक्खलि गोसाल आदि को 'मिलिन्द-पञ्ह' में व्यक्तियों का वाचक न समझकर उनके सम्प्रदाय के आचार्यों या पदों का सूचक मान कर उन सम्बन्धी विवरणों को बाद का परिवर्द्धन मानने की भी अपेक्षा नहीं) 'मिलिन्द-पञ्ह' का मौलिक संस्कृत से लंका में पालि में रूपान्तरित किया जाना स्वीकार नहीं किया जा सकता। चूंकि यह मत डॉ० गायगर जैसे विद्वान् की ओर से आया है, इसलिए इसका उल्लेख भी यहाँ कर दिया गया है। अन्यथा यह इस योग्य भी नहीं है। 'मिलिन्द-पञ्ह' निश्चयतः अपने मौलिक पालि रूप में उत्तर-पश्चिमी भारत की प्रथम शताब्दी

---

१. देखिए, विंटरनित्ज : इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १७७, पद-संकेत २।

२. पालि लिटरेचर एंड लैंग्वेज, पृष्ठ २७, पद-संकेत २।

ईसवी-पूर्व की रचना है। सम्भव है उसमें वाद में भी परिवर्द्धन हुए हों। किन्तु उसका मौलिक रूप आज का-सा सात परिच्छेदों वाला ही रहा हो, इसके लिए भी कम अवकाश नहीं है, क्योंकि जैसा डॉ० टी० डब्ल्यू०रायस डेविड्स ने सुझाव रक्खा है, संभवतः चीनी अनुवादक ने ही अपने अनुवाद में अन्तिम चार अध्यायों को छोड़ दिया हो।[1] यद्यपि विंटरनित्ज ने अपने इस मत को स्वीकार नहीं किया ।[2] हमें चौथी-पाँचवीं शताब्दी ईसवी में (जिससे पहले चीनी अनुवाद नहीं हुआ था) बुद्धघोष के इस ग्रन्थ के प्रति आदर और श्रद्धा-भाव को देख कर सत्य की इसी ओर प्रवणता दिखाई पड़ती है। चीनी 'नागसेन-सूत्र' में हम केवल मिलिन्द को तात्त्विक विषयों पर प्रश्न पूछते देखते हैं, परन्तु पालि 'मिलिन्द-पञ्ह' यहीं समाप्त नहीं हो जाता। इसमें मिलिन्द पूर्ण सन्तुष्ट होकर उपासकत्व प्राप्त कर लेता है। अतः चीनी अनुवाद अपूर्ण है, यह निष्कर्ष अपने आप प्राप्त होता है। 'मिलिन्द-पञ्ह' के उपर्युक्त चीनी अनुवाद के अतिरिक्त दो और चीनी अनुवाद इस ग्रन्थ के किये गये। पहला अनुवाद तीसरी शताब्दी ईसवी में किया गया, जो पाँचवीं शताब्दी में नष्ट हो गया। दूसरा अनुवाद गुणभद्र ने सन् ४३५-४५५ के बीच किया, वह भी कालान्तर में नष्ट हो गया। इस प्रकार 'मिलिन्द-पञ्ह' के तीन अनुवाद चीनी भाषा में हुए, जिनमें से केवल एक 'नागसेन भिक्षु सूत्र' या 'नागसेन-सूत्र' नाम से उपलब्ध है। पालि-परम्परा की दृष्टि से यहाँ यह कहना आवश्यक है कि सुमंगल नामक भिक्षु ने अठारहवीं शताब्दी में 'मिलिन्द पञ्ह' का सिंहली भाषा में अनुवाद 'सद्धर्मादासय' या 'श्री धर्मादासय' शीर्षक से किया।[3] सन् १९०० में 'मिलिन्द प्रश्नय' शीर्षक से हीनटि कुम्बरे ने भी 'मिलिन्द-पञ्ह' का सिंहली भाषा में अनुवाद किया।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, 'मिलिन्द-पञ्ह' की विषय-वस्तु सात भागों या अध्यायों में विभक्त है (१) बाहिर-कथा, (२) लक्खण-पञ्हो, (३) विमति-च्छेदन-पञ्हो, (४) मेण्डक-पञ्हो, (५) अनुमान-पञ्हो, (६) धुतंग-कथा और (७) ओपम्मकथापञ्हं। 'बाहिर-कथा', 'मिलिन्द-पञ्ह' की भूमिका है। सर्व-प्रथम लेखक ने नागसेन की इस विचित्र कथा (चित्रा नागसेनकथा) को, जो अभि-धर्म, विनय और सुत्तों पर समाश्रित है, और जिसमें विचित्र उपमाएँ और युक्तियाँ

---

१. एन्साइक्लोपीडिया ऑव रिलिजन एंड एथिक्स, जिल्द आठवीं, पृष्ठ ६३२।
२. हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १७७ पद-संकेत १।
३. देखिए, मललसेकर 'दि पालि लिटरेचर ऑव सिलोन, पृष्ठ २७४।

प्रकाशित की गई हैं, सावधान होकर, ज्ञानपूर्वक, बुद्ध-शासन सम्बन्धी सन्देहों के निवारणार्थ, सुनने का आह्वान किया है—

अभिधम्मविनियोगाल्हा सुत्तजालसमत्थिता।
नागसेनकथा चित्रा ओपम्मेहि नयेहि च॥
तत्थ ञाणं पणिधाय हासयित्वान मानसं।
सुणाथ निपुणे पञ्हे कङ्खाठानविदालने'ति॥

उसके बाद ग्रीक राजा मिलिन्द (मेनाण्डर) की राजधानी सागल का रमणीय, काव्यमय वर्णन है। "अथ यं अस्थि योनकानं नानापुटभेदनं सागलं नाम नगरं ...नदीपब्बतरामणेय्यकं" आदि। उसके बाद उपर्युक्त सात भागों में ग्रन्थ की विषय-सूची तथा फिर नागसेन और मिलिन्द के पूर्वजन्म की कथा है। यह एक बड़े आश्चर्य की बात है कि भदन्त नागसेन ने अपने और अपने प्रतिवादी मिलिन्द के पूर्वजन्म (पुब्बयोग, पुब्ब-कम्म) के वर्णन में तो इतनी तत्परता दिखाई है, फिर भी अपने वर्तमान जन्म और कर्म के विषय में अधिक जानने का हमें अवकाश नहीं दिया। सम्भवतः जिसे हम इतना ठोस समझते हैं, वह उनके लिए इतना आवश्यक नहीं था और जो कुछ हमें अपने विषय में वह बताना आवश्यक समझते थे, उसे उन्होंने वहाँ बता भी दिया है। स्थविर नागसेन का जन्म मध्य देश की पूर्वी सीमा पर स्थित, हिमालय पर्वत के समीपवर्ती, कजंगला नामक प्रसिद्ध कस्बे में हुआ था। उनके पिता का नाम सोणुत्तर था, जो एक ब्राह्मण थे। तीनों वेदों, इतिहासों और लोकायत शास्त्र का ज्ञान प्राप्त कर नागसेन ने स्थविर रोहण से बुद्ध-शासन सम्बन्धी शिक्षा प्राप्त की एवं बौद्ध धर्म में प्रवेश किया। तदनन्तर वे वत्तनिय सेनासन के स्थविर अस्सगुप्त (अश्वगुप्त) के पास गये और उनसे शिक्षा प्राप्त की। यहीं उनको सोत्तापन्न (स्रोत आपन्न) फल की प्राप्ति हुई। तदनन्तर उन्हें पाटलिपुत्र भेज दिया गया, जहाँ उन्होंने स्थविर धर्मरक्षित से बौद्ध धर्म का विशेष अध्ययन किया। यहीं उन्हें अर्हत्त्व फल की प्राप्ति हुई। इसके बाद वे सागल (स्यालकोट) के संखेय्य परिवेण में गये, जहाँ राजा मिलिन्द से उनकी भेंट हुई। मिलिन्द की शिक्षा का वर्णन करते हुए उसे 'श्रुति, स्मृति, संख्यायोग (सांख्य योग), नीति, वैशेषिक (विसेसिका) आदि १९ शास्त्रों का मननशील विद्यार्थी बतलाया गया है। वह पूरा तर्कवादी, वितंडावादी और वाद-विवाद में अजेय था, यह भी दिखाया गया है। मिलिन्द को दार्शनिक वाद-विवाद से बड़ा प्रेम था और उसने 'लोकायत्त' सम्प्रदाय आदि के अनुयायी सभी विचारकों को परास्त कर दिया था। उसने बुद्धकालीन ६ प्रधान आचार्यों की गद्दियों पर प्रतिष्ठित

एवं उसके समान ही नाम धारण करने वाले छह प्रधान आचार्यों, यथा पूरण कस्सप, मक्खलि गोसाल, निगण्ठ नाटपुत्त, सञ्जय बेलट्ठिपुत्त, अजित केस कम्बलि और पकुध-कच्चायन के नाम भी अपने मन्त्रियों से सुन रक्खे थे, और प्रथम दो से वह मिला भी था,[1] किन्तु उसकी शान्ति उनसे नहीं हुई थी। अन्त में ग्रीक राजा को यह अभिमान होने लगा "तुच्छो वत भो जम्बुदीपो पलापो वत भो जम्बुदीपो। नत्थि कोचि समणो वा ब्राह्मणो वा यो मया सद्धिं सल्लपितुं सक्कोति कंखं पटिविनोदेतुंति।" "तुच्छ है भारतवर्ष! प्रलाप मात्र है भारतवर्ष! यहाँ कोई ऐसा श्रमण या ब्राह्मण नहीं है जो मेरे साथ, मेरे सन्देहों के निवारणार्थ, संलाप भी कर सके।" मिलिन्द के इन शब्दों में हम बुद्धिवादी ग्रीक ज्ञान की गौरवमय हुंकार देखते हैं, भारतीय राष्ट्र का गौरव भदन्त नागसेन के रूप में अपनी सारी संचित ज्ञान-गरिमा को लिए हुए अन्त में उसे मिल गया। नागसेन के ज्ञान की प्रशंसा में कहा गया है कि उन्होंने अपनी अल्पावस्था में ही निघंटु आदि के सहित तीनों वेदों को पढ़ लिया था और वे इतिहास, व्याकरण, लोकायत आदि शास्त्रों में पूर्ण निष्णात थे।[2] उसके बाद प्रव्रजित होकर उन्होंने अभिधम्म के सात प्रकरणों को तथा अन्य तेपिटक बुद्ध-वचनों को अपने गुरु रोहण से पढ़ा था। पहले उन्होंने धर्मरक्षित नामक भिक्षु के साथ पाटलिपुत्र में निवास किया। बाद में आयुपाल नामक भिक्षु के निमंत्रण पर वे सागल नगर के संखेय्य परिवेण नामक विहार में चले गये। वहीं राजा मिलिन्द उनसे मिलने के लिए गया। 'अथ खो मिलिन्दो राजा येनायस्मा नागसेनो तेनुपसंकमि'। (तदनन्तर राजा मिलिन्द जहाँ आयुष्मान् नागसेन थे, वहाँ गया।)

कुशल-प्रश्न पूछने और परिचय प्राप्त करने में ही दार्शनिक संलाप छिड़ गया। संवाद भी उस प्रश्न पर, जो बुद्ध-दर्शन की आधार भूमि है। अनात्म लक्षण! राजा मिलिन्द नागसेन के पास जाकर बैठ जाता है और उनसे पूछता है—

---

१. यूरोपीय विद्वानों में पूरण कस्सप, मक्खलि गोसाल आदि के नाम देखकर यह समझ लिया है कि यहाँ 'मिलिन्द-पञ्ह' के लेखक ने इन बुद्धकालीन आचार्यों का उल्लेख किया है। यह एक भ्रम है। देखिए, मिलिन्द-प्रश्न, हिन्दी अनुवाद की बोधिनी में भिक्षु जगदीश काश्यप की इस विषय-सम्बन्धी टिप्पणी।

२. "तीसु वेदेसु सनिघंटुकेटभेसु साक्खरप्पभेदेसु इतिहासपञ्चमेसु पदको व्याकरणो लोकायतमहापुरिसलक्खणेसु अनवयो अहोसि। पृष्ठ ११ (बम्बई विश्वविद्यालय का संस्करण)।"

भन्ते ! आप किस नाम से पुकारे जाते हैं ? आपका नाम क्या है ?"
(किं नामोसि भन्ते'ति)

"महाराज ! मैं 'नागसेन' नाम से पुकारा जाता हूँ। सब्रह्मचारी भिक्षु मुझे यही कह कर बुलाते हैं। माता-पिता अपने बच्चों के इस प्रकार के नाम रखते हैं, जैसे 'नागसेन', 'सूरसेन' आदि। लेकिन ये सब नाम केवल व्यवहार के लिए हैं। तात्त्विक दृष्टि से इस प्रकार का कोई व्यक्ति नहीं होता।

(न हेत्थ पुग्गलो उपलब्भतीति)

बस, संप्रश्न और संवाद का पूरा क्षेत्र खुल गया।

"भन्ते ! नागसेन ! यदि यथार्थ में कोई व्यक्ति है ही नहीं, तो आपको अपनी आवश्यक वस्तुएँ कौन देता है ? उन वस्तुओं का उपयोग कौन करता है ? पुण्य कौन करता है ? ध्यान कौन लगाता है ? आर्य-मार्ग और उसका फल निर्वाण कौन प्रत्यक्ष करता है ? ......भले-बुरे का फिर तो कोई कर्त्ता ही नहीं ? आपका कोई गुरु भी नहीं ? आप उपसम्पन्न भी नहीं ? आप कहते हैं आपको लोग 'नागसेन' नाम से पुकारते हैं। नागसेन है क्या ?

"क्या केश नागसेन हैं ?"

"केश किस प्रकार नागसेन हो सकते हैं ?"

"राजन् ! ये भी नहीं।"

"तो क्या पञ्च स्कन्धों का संयोग नागसेन है ?"

"नहीं, महाराज !"

"तो क्या फ़िर रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान, इन पाँच स्कन्धों से कोई अतिरिक्त वस्तु नागसेन है ?" (किं पन भन्ते अञ्ञत्र रूपवेदनासञ्ञा संखारविञ्ञाणं नागसेनोति)

"नहीं, महाराज !" (नहि महाराजाति)

मिलिन्द राजा थक जाता है। उसकी बुद्धि आगे संप्रश्न करना नहीं जानती।

"भन्ते ! मैं पूछते-पूछते हार गया, फिर भी मैं यह न जान सका कि 'नागसेन' क्या है ? तो क्या 'नागसेन' केवल एक नाम ही है ? अन्ततः 'नागसेन' है क्या वास्तव में ? भन्ते ! आप असत्य बोल रहे हैं कि 'नागसेन' नाम का कोई व्यक्ति-यथार्थ में विद्यमान नहीं है !"

वितंडावादी मिलिन्द की बुद्धि को परिश्रान्त जानकर भदन्त नागसेन उसे कुछ आसान मार्ग से समझाना चाहते हैं।

"महाराज ! आपका जन्म तो क्षत्रिय-कुल में हुआ है न ? इसलिए स्वभावतः आप सुकुमार हैं। फिर भी आप इतनी गर्मी में दोपहर को यहाँ चले ही आये। मुझे विश्वास है कि आप जरूर थक गये होंगे। आप पैदल आये हैं या रथ पर ?"

"भन्ते ! मैं पैदल नहीं चलता हूँ। मैं रथ पर आया हूँ।"

"महाराज ! यदि आप रथ पर आये हैं, तो कृपया मुझे यह बताइये कि रथ है क्या ?"

"क्या रथ के बाँस रथ हैं ?"

"नहीं भन्ते ! रथ के बाँस रथ नहीं हो सकते।"

"तो क्या धुरा, पहिये, रस्से, जुआ, पहियों के डंडे, अथवा बैल हाँकने की लाठी, रथ हैं ?"

"नहीं, भन्ते !"

"तो फिर कहिये कि क्या रथ इनसे अलग कोई वस्तु है ?"

"नहीं, भन्ते ! यह कैसे हो सकता है !"

"राजन् ! मैं पूछ-पूछ कर हार गया। उस पर भी मैं न जान सका कि यथार्थ में रथ क्या है ? तो फिर क्या आप का रथ केवल एक नाममात्र है ? राजन् ! आप असत्य बोल रहे हैं कि आप रथ पर आये हैं। आप इस सारे जम्बुद्वीप (भारतवर्ष) में सबसे प्रतापी राजा हैं। तो फिर आप किसके डर से असत्य बोल रहे हैं ?"

'भन्ते ! मैं असत्य नहीं बोल रहा हूँ। रथ के बाँस, पहिये, रथ का ढाँचा, पहियों के डंडे, हाँकने की लकड़ी, इन भिन्न-भिन्न हिस्सों पर 'रथ' का अस्तित्व निर्भर है। 'रथ' एक शब्द है जो केवल व्यवहार के लिये है। **"रथेति संखा समञ्ञा पञ्ञत्ति वोहारो नाममत्तं पवत्तीति।"**

"ठीक है महाराज ! आपने यथार्थ 'रथ' को समझ लिया। ठीक इसी प्रकार व्यक्ति की भी हालत है। रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान, इन पाँच स्कन्धों पर मेरा अस्तित्व निर्भर है। 'नागसेन' शब्द केवल व्यवहारमात्र है। यथार्थ में 'नागसेन' नाम का कोई व्यक्तित्व विद्यमान नहीं है। परमार्थ रूप से व्यक्ति की उपलब्धि नहीं होती **"परमत्थतो पनेत्थ पुग्गलो नूपलब्भति।"**

भदन्त नागसेन की यह अनात्मवाद की व्याख्या बड़ी महत्त्वपूर्ण है। इसके उद्धरण के विना मूल बुद्ध-दर्शन सम्बन्धी अनात्मवाद का कोई भी विवेचन पूरा नहीं माना जा सकता। कहाँ तक भदन्त नागसेन ने बुद्ध-मन्तव्य निषेधात्मक दिशा में बढ़ाया है, अथवा कहाँ तक उन्होंने उसके यथार्थ रूप का ही दिग्दर्शन किया है, इसके विषय में विभिन्न मत हो सकते हैं। पहले मत का प्रतिपादन योग्यतापूर्वक

डॉ० राधाकृष्णन ने किया है,[1] जबकि इसी कारण महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने भारतीय दर्शन-शास्त्र का इतिहास लिखने की उनकी योग्यता को ही संदेह की दृष्टि से देखा है।[2] इस विवाद में भाग न लेकर हम इतना ही कह देना अपने प्रस्तुत उद्देश्य के लिये पर्याप्त समझते हैं कि चाहे नागसेन की अनात्मवाद की व्याख्या बुद्ध-मन्तव्य का यथावत् निदर्शन करती हो या चाहे उन्होंने उसे निषेधात्मक दिशा में बढ़ाया हो, वह अपने आप में महत्त्वपूर्ण अवश्य है। न केवल स्थविरवादी बौद्ध साहित्य में ही, अपितु सम्पूर्ण बौद्ध साहित्य में, बुद्ध-वचनों को छोड़कर, अनात्म-वाद का उससे अधिक सुन्दर, उससे अधिक आकर्षक और उससे अधिक गम्भीर विवेचन कहीं नहीं मिल सकता। अतः बौद्ध दर्शन और बौद्ध साहित्य के विद्यार्थी के लिये हर हालत में उसका जानना आवश्यक है।

अनात्मवाद की उपर्युक्त व्याख्या मान लेने पर पुनर्जन्मवाद के साथ उसकी संगति किस प्रकार लगाई जा सकती है, यह भी समस्या मिलिन्द के सिर में चक्कर लगाती है। वह भदन्त नागसेन से पूछता है:

"भन्ते नागसेन कौन उत्पन्न होता है? क्या उत्पन्न होने पर व्यक्ति वही रहता है या अन्य हो जाता है? **यो उप्पज्जति सो एव सो उदाहू अञ्ञो'ति।**"

न तो वही और न अन्य ही—**न च सो न च अञ्ञो'ति**" स्थविर कहते हैं।

राजा की समझ में यह उत्तर नहीं आता। स्थविर उदाहरण देकर समझाते हैं कि जब पुरुष बच्चा होता है और जब वह तरुण, युवा होता है; तब क्या वह बालक और युवा एक ही होता है? नहीं ऐसा नहीं होता। बालक अन्य होता है और वह तरुण, युवा अन्य होता है। किन्तु यदि यही मान लिया जाय कि बालक अन्य होता है और तरुण अन्य होता है, तो फिर न कोई किसी की माता रहेगी; न कोई किसी का पिता रहेगा, न आचार्य रहेगा.......! फिर तो ऐसी ही प्रतीति होगा कि यह गर्भ की प्रथम अवस्था की माता है, यह दूसरी अवस्था की माता है, यह तीसरी अवस्था की, जो सब आपस में भिन्न-भिन्न हैं, अन्य से अन्य हो गये हैं। क्या एक ही व्यक्ति के बालकपन की माँ भिन्न है। उसकी युवावस्था की माँ से? **अञ्ञा खुद्दकस्स माता अञ्ञा महन्तस्स माता!** विद्यार्थी जब पाठ-शाला में पढ़ने जाता है, तब क्या वह अन्य ही है? और जब वह विद्याध्ययन समाप्त

---

१. इंडियन फिलासफी, जिल्द पहली, पृष्ठ ३८२-९०; कीथ, श्रीमती रायस डेविड्स और विंटरनित्ज की भी कुछ-कुछ इसी प्रकार की मान्यता है, देखिए विंटरनित्ज: इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १७८, पद-संकेत ३।

२. दर्शन-दिग्दर्शन, पृष्ठ ५३१-५३२।

करता है, अन्य ही है? **'अञ्ञो सिप्पं सिक्खति अञ्ञो सिक्खितो भवति'**—अन्य ही शिल्प सीखता है, अन्य ही शिक्षित होता है? अन्य ही पाप करता है और अन्य के ही अपराध-स्वरूप हाथ-पैर काटे जाते हैं? राजा घबड़ा जाता है क्योंकि वह पहले स्वयं ही स्वीकार कर चुका है कि बालक अन्य होता है और तरुण अन्य। अतः कुछ समझ नहीं सकता कि उसे क्या कहना चाहिए। विवश होकर वह भदन्त नागसेन से कहता है "भन्ते! आप ही मुझे बताइये कि क्या बात है? **त्वं पन भन्ते एवं वुत्ते किं वदेय्यासीति।** भन्ते! ऐसा पूछने पर आप स्वयं क्या कहेंगे? स्थविर उसे समझाते हैं कि "धर्मों के लगातार प्रवाह से, एक उत्पन्न होता है, दूसरा निरुद्ध होता है, और यह सब ऐसे होता है जैसे मानो युगपद्, एक-साथ हो। इसलिए न तो सर्वथा उसी की तरह और न सर्वथा अन्य की तरह, एक जीवन की अंतिम चेतनावस्था के लय होने पर दूसरे जन्म की प्रथम चेतनावस्था आ जाती है।"[1] फिर भी मिलिन्द पूरी तरह सन्तुष्ट नहीं हो पाता और वह पूछता है—

"भन्ते नागसेन! पर क्या है वह जो जन्म ग्रहण करता है? **भन्ते नागसेन को पटिसन्दहति?**

"हे महाराज! नाम-रूप जन्म ग्रहण करता है। **नाम-रूपं खो महाराज पटिसन्दहति।**"

"क्या यही नाम-रूप जन्म ग्रहण करता है?" "महाराज! यह नाम-रूप जन्म ग्रहण नहीं करता, किन्तु इस नाम-रूप के द्वारा जो शुभ या अशुभ कर्म किये जाते हैं और उन कर्मों के द्वारा जो अन्य नाम-रूप उत्पन्न होता है, वही जन्म ग्रहण करता है।"[3] आगे समझाते हुए स्थविर कहते हैं "हे राजन्! मृत्यु के समय जिसका अन्त होता है, वह तो एक अन्य नाम-रूप होता है और जो पुनर्जन्म ग्रहण करता है, वह एक अन्य होता है। किन्तु द्वितीय (नाम-रूप) प्रथम (नाम-रूप) से

---

१. **"एवमेव खो महाराज धम्मसन्तति सन्दहति, अञ्ञो उप्पज्जति, अञ्ञो निरुज्झति, अपुब्बं अचरिमं विय सन्दहति, तेन न च सो न च अञ्ञो पुरिमविञ्ञाणे पच्छिमविञ्ञाणं संगहं गच्छती' ति।** मिलिन्दपञ्हो, लक्खणपञ्हो, पृष्ठ ४३ (बम्बई विश्वविद्यालय का संस्करण)।

२. नाम अर्थात् सूक्ष्म चित्त और चेतसिक धर्म। रूप अर्थात् चार महाभूत और उनका विकार।

३. **"न खो महाराज इमं येव नामरूपं पटिसन्दहति। इमिना पन महाराज नामरूपेन कम्मं करोति सोभनं वा पापकं वा, तेन कम्मेन अञ्ञं नामरूपं पटिसन्दहती" ति।** वही पृ० ४८।

ही उत्पन्न होता है[1] . . . अतः हे राजन् ! धर्म-सन्तति ही संसरण करती है, जन्म ग्रहण करती है—**एवमेव खो महाराज धम्मसन्ततिसन्दहति।"**

इस प्रकार भदन्त नागसेन ने अनात्मवाद के साथ पुनर्जन्मवाद की संगति मिलाने का प्रयत्न किया है, जो बौद्ध दर्शन की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। द्वितीय परिच्छेद (लक्खण-पञ्हो) की मुख्य विषयवस्तु इतनी ही हैं।

तृतीय परिच्छेद (विमतिच्छेदन-पञ्हो) में राजा के सन्देहों (विमति) का, जो उसे अनेक छोटे-छोटे विषयों पर हुए थे, भदन्त नागसेन द्वारा निवारण किया गया है। इस प्रकार के अनेक सन्देहों का इस परिच्छेद में विवरण दिया गया है, जिनमें से कुछ का ही निदर्शन यहाँ किया जा सकता है। उदाहरणतः मिलिन्द पूछता है, "भन्ते नागसेन ! क्या सभी लोग निर्वाण्य प्राप्त कर लेते हैं **(भन्ते नागसेन सब्बेव लभन्ति निब्बाणं ति)** ? भन्ते नागसेन ! क्या बुद्ध अनुत्तर हैं ? 'भन्ते नागसेन ! क्या बुद्ध सर्वज्ञ, सर्वदर्शी हैं ? 'क्या बुद्ध ब्रह्मचारी हैं ?' 'क्या उपसंपदा (भिक्षु-संस्कार) ठीक (सुन्दर) है ? 'भन्ते नागसेन' 'कितने आकारों से स्मृति उत्पन्न होती है ?' भन्ते नागसेन क्या आप कहते हैं श्वास-प्रश्वास का निरोध किया जा सकता है।' "कैसे भन्ते ?" "भन्ते नागसेन ! भगवान् ने क्या कार्य अत्यन्त दुष्कर किया है ?" आदि, आदि। भदन्त नागसेन ने इन सब प्रश्नों और सन्देहों का अत्यन्त मनोरम शैली में उत्तर दिया है। प्रश्नकर्त्ता और उत्तर-दाता दोनों ही अपने-अपने प्रश्नोत्तरों से अन्त में सन्तुष्ट दिखाई पड़ते हैं। राजा मिलिन्द को ऐसा लगता है "जो सब मैंने पूछा, सबका भदन्त नागसेन ने मुझे उत्तर दिया **(सब्बं मया पुच्छितं ति सब्बं भदन्तेन नागसेनेन विस्सज्जितं ति।")** भदन्त नागसेन को भी ऐसा होता है "जो सब राजा मिलिन्द ने मुझसे पूछा, उस सबका मैंने उत्तर दे दिया **(सब्बं मिलिन्देन रञ्ञा पुच्छितं, सब्बं मया विस्सज्जितं, ति।")** उठकर भिक्षु संघाराम में चले गये। राजा मिलिन्द भी अपने साथियों के साथ लौट गया। यह तीसरे परिच्छेद की विषयवस्तु का संक्षेप है।

कुछ दिन बाद राजा मिलिन्द फिर भदन्त नागसेन के दर्शनार्थ आता है। इस बार वह उन विरोधों को भदन्त नागसेन के सामने रखता है जो उसे तेपिटक बुद्ध-वचनों के अन्दर मालूम पड़े हैं। मिलिन्द ने मननपूर्वक एक बुद्धिवादी की तरह तिपिटक के विभिन्न ग्रन्थों को पढ़ा है। उसे उनके अन्दर अनेक पारस्परिक विरोधी बातें दिखाई पड़ी हैं। इन्हें वह भदन्त नागसेन के सामने एक-एक करके रख देता

---

१. **"एवमेव खो महाराज किञ्चापि अञ्ञं मारणान्तिकं नामरूपं अञ्ञं पटिसन्धिस्मिं नामरूपं। अपि च ततो येव तं निब्बत्तं" ति। वही, पृष्ठ ५१।**

है। भदन्त नागसेन उनका उत्तर देते हैं। 'मिलिन्द-पञ्ह' का चौथा परिच्छेद (मेण्डक पञ्हो)[1] जो इस ग्रन्थ का सबसे लम्बा परिच्छेद है, इन्हीं संबंधी प्रश्नोत्तरों का विवरण है। ऊपर से विरोधी दिखाई देने वाले तिपिटक के विभिन्न विवरणों या बुद्ध-वचनों के विरोध का परिहार और उनमें समन्वय-स्थापन, यही इस परिच्छेद का लक्ष्य है, जो तिपिटक के विद्यार्थियों के लिए सदा महत्त्वपूर्ण रहेगा। इस प्रकरण में राजा मिलिन्द ने जो प्रश्न पूछे हैं या सुलझाने के लिए विरोधी वाक्य रक्खे हैं, वे इतने नाना प्रकार के हैं कि उनका संक्षेप देना बड़ा कठिन है। केवल कुछ उदाहरण देकर हम उनके स्वरूप और शैली की ओर संकेत भर कर सकेंगे। भदन्त के चरणों में सिर रखकर, हाथ जोड़कर राजा ने कहा, 'भन्ते नागसेन! भगवान् ने यह कहा "आनन्द! पाँच सौ वर्ष तक सद्धर्म ठहरेगा।" पुनः जब परिनिर्वाण के समय सुभद्र परिव्राजक ने भगवान् से पूछा तो उन्होंने कहा, 'सुभद्र!' यदि भिक्षु ठीक तरह विहार करेंगे तो यह लोक अर्हतों से कभी शून्य नहीं होगा।" "यदि भन्ते नागसेन! तथागत ने यह कहा कि सद्धर्म पाँच सौ वर्ष ठहरेगा तब तो यह वचन कि यह लोक कभी अर्हतों से शून्य नहीं होगा। मिथ्या ठहरता है। और यदि तथागत ने यह कहा कि यह लोक कभी अर्हतों से शून्य नहीं रहेगा, तो फिर यह वचन कि सद्धर्म पाँच सौ वर्ष ठहरेगा, मिथ्या ठहरता है? भन्ते नागसेन! यह दोनों ही ओर से कठिनता पैदा करने वाला, गहन से भी गहनतर, बलवान् से भी बलवत्तर, जटिल से भी जटिलतर, प्रश्न आपकी सेवा में उपस्थित है।" "भन्ते नागसेन! भगवान् ने यह कहा है, 'भिक्षुओं! मैं जानकर ही धर्मोपदेश करता हूँ, बिना जाने नहीं।' पुनः उन्होंने विनय-प्रज्ञप्ति के समय यह भी कहा, 'आनन्द! यदि संघ चाहे तो मेरे बाद छोटे-मोटे (क्षुद्रानुक्षुद्र) शिक्षाप्रदों को छोड़ दे।' भन्ते नागसेन! क्या क्षुद्रानुक्षुद्र शिक्षापद बिना जान-बूझकर ही दिये हुए उपदेश हैं, जो

---

१. संस्कृत 'मेण्डक प्रश्न'। यह नाम लक्षणीय है और कुछ व्याख्या चाहता है। 'मेण्डक' (सं० मेण्ढक) शब्द का अर्थ है मेंढ़ा। मेंढ़े के दो नुकीले सींग होते हैं, बड़े खतरनाक। इन्हीं के समान विकट प्रश्न, जिनसे कोई भिड़ न सके, जिनके सामने आने का साहस न कर सके, मेण्डक-प्रश्न हैं। 'महा उम्मग्ग' 'जातक' की कथा के अनुसार विदेह राजा ने उक्त प्रकार का ही एक गूढ़, जटिल प्रश्न 'मेण्डक पञ्ह) अपने मन्त्रियों से पूछा था जिसका वे कुछ उत्तर नहीं दे सके। केवल बोधिसत्त्व (महौषध) ने ही उसका उत्तर दिया। इस जातक-कथा के 'मेण्डक पञ्ह' से ही विचार ग्रहण कर कदाचित् भदन्त नागसेन ने अपने अमर ग्रन्थ('मिलिन्दपञ्ह') के चौथे परिच्छेद का यह नामकरण ('मेण्डक पञ्हो') किया है।

भगवान् ने उन्हें अपने बाद छोड़ देने के लिए कहा। भन्ते नागसेन ! यदि भगवान् का यह कहना ठीक है कि मैं जान-बूझकर ही उपदेश करता हूँ, बिना जाने-बूझे नहीं, तो भगवान् का यह वचन मिथ्या है, 'यदि संघ चाहें तो मेरे बाद छुद्रानुछुद्र शिक्षा-पदों को छोड़ दें', और यदि सचमुच ही भगवान् ने यह कहा कि मेरे बाद संघ क्षुद्रानु-क्षुद्र शिक्षापदों को छोड़ दे, तो उनका यह कहना मिथ्या है कि मैं जानबूझकर ही उपदेश करता हूँ, बिना जाने-बूझे नहीं।' वह भी दोनों ओर से कठिनता पैदा करने वाला सूक्ष्म, निपुण, गंभीर और उलझन पैदा करने वाला प्रश्न है जो आपकी सेवा में उपस्थित है। आप मुझे समझावें।" "भन्ते नागसेन ! भगवान् ने कहा है 'तथागत को धर्मों में आचार्य-मुष्टि (न बताने योग्य बात) नहीं है।' किन्तु जब मालुंक्यपुत्त ने उनसे प्रश्न पूछा तो भगवान् ने उसकी व्याख्या नहीं की, उसे नहीं बताया। क्या भगवान् जानते नहीं थे, इसलिए नहीं बताया, या भगवान् को वह रहस्य ही रखना था, इसलिए नहीं बताया। भन्ते नागसेन ! यदि भगवान् ने यह ठीक ही कहा था कि तथागत को रहस्य रखना नहीं है तो फिर क्या उन्होंने न जानने के कारण ही (अजानन्तेन) ही उसे नहीं बताया। यदि जानने पर भी नहीं बताया, तब तो फिर तथागत की आचार्य-मुष्टि (रहस्य रखना) है ही। यह भी दोनों ओर से कठिनता पैदा करने वाला प्रश्न आपकी सेवा में उपस्थित है।" "भन्ते नागसेन ! आप कहते हैं कि तथागत को भोजन, वस्त्र, निवास-स्थान, पथ्य-औषधादि सामग्री सदा मिल जाती थी। फिर आप कहते हैं कि एक बार पञ्च-शाला नामक ब्राह्मण-ग्राम में से भगवान् बिना भिक्षा प्राप्त किये ही धुले-धुलाये भिक्षापात्र को लेकर लौट आये ! . . .भन्ते नागसेन ! यह भी दोनों ओर कठिनता पैदा करने वाला प्रश्न आपकी सेवा में उपस्थित है।" भन्ते नागसेन ! भगवान् ने यह कहा 'आनन्द ! तुम तथागत के शरीर की पूजा की चिन्ता मत करो।' पुनः उन्होंने यह भी कहा 'पूजनीय पुरुष की धातुओं की पूजा करो'. . .दोनों ओर कठिनता पैदा करने वाला प्रश्न आपकी सेवा में उपस्थित है।" "भन्ते नागसेन ! भगवान् ने यह कहा है 'भिक्षुओ ! पूर्ण पुरुष, तथागत भगवान् सम्यक् सम्बुद्ध नवीन मार्ग का उद्‌भावन करने वाले हैं। पुनः एक दूसरी जगह उन्होंने यह भी कहा है, "भिक्षुओ ! जिस प्राचीन मार्ग पर पूर्व काल में ज्ञानी पुरुष चले, उसी का मैंने दर्शन प्राप्त किया है।'. . . .यह दोनों ओर कठिनता पैदा करने वाला प्रश्न आपकी सेवा में उपस्थित है।". . . .इस प्रश्न के अनेक विरोधाभासमय प्रश्न राजा मिलिन्द ने भदन्त नागसेन के सामने रक्खे हैं, जिनका उन्होंने अपनी अद्‌भुत शैली में उत्तर दिया है। प्रत्येक बौद्ध दर्शन के विद्यार्थी के लिए उनका पढ़ना अनिवार्य है। साहित्य की दृष्टि से भी वे अपने महत्त्व में अद्वितीय हैं।

'मिलिन्द-पञ्ह' के पाँचवें परिच्छेद का नाम है 'अनुमान-पञ्हो' (अनुमान-प्रश्न)। एक बार फिर मिलिन्द राजा भदन्त नागसेन के दर्शनार्थ आता है। वह उनसे पूछता है, "भन्ते नागसेन! क्या आपने बुद्ध को देखा है (किं पन बुद्धो तया दिट्ठो" ति) "नहीं महाराज" (नहि महाराजाति)। "क्या आपके आचार्यों ने बुद्ध को देखा है (किं पन ते आचरियेहि बुद्धो दिट्ठो, ति") (नहीं महाराज)!" "भन्ते नागसेन! यदि आपने भी बुद्ध को नहीं देखा, आपके आचार्यों ने भी बुद्ध को नहीं देखा, तो भन्ते! समझता हूँ बुद्ध है ही नहीं, बुद्ध का कुछ पता ही नहीं।" यदि किसी आधुनिक विद्वान् के सामने यह प्रश्न रक्खा जाता, तो वह उन ऐतिहासिक कारणों का उल्लेख करता जिनके आधार पर बुद्ध का अस्तित्व प्रमाणित किया जाता है। किन्तु नागसेन कालवादी नहीं हैं। इतिहासवादी नहीं हैं। वे धर्मवादी हैं। उनके लिए बुद्ध का धर्म ही बुद्ध के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त है। 'धम्म' के अस्तित्व से ही बुद्ध के अस्तित्व का अनुमान कर लेना चाहिए, यही इस सम्पूर्ण परिच्छेद की मूल ध्वनि है। "महाराज! उन भगवान् सम्यक् सम्बुद्ध द्वारा प्रयुक्त ये वस्तुएँ, जैसे कि चार स्मृति-प्रस्थान, चार सम्यक्-प्रधान, चार ऋद्धिपाद, पाँच इन्द्रिय, पाँच बल, सात बोध्यंग और आर्य अष्टांगिक मार्ग अभी विद्यमान हैं। उनको देखकर ही पता लगा लेना चाहिए कि भगवान् बुद्ध अवश्य हुए हैं।" "बहुत जनों को तार कर उपाधि (आवागमन-कारण) के मिट जाने से भगवान् निर्वाण को प्राप्त कर चुके। इस अनुमान से ही जान लेना चाहिए कि वे पुरुषोत्तम हुए हैं।" "संसार के मनुष्य और देवताओं ने धर्मामृत को प्राप्त किया है, यही देखकर पता लगा लेना चाहिए कि धर्म की बड़ी लहर अवश्य बही होगी।" "उत्तम गन्ध की महक पाकर लोग पता लगा लेते हैं कि जैसी गन्ध बह रही है, उससे मालूम होता है कि फूल पुष्पित अवश्य हुए होंगे। वैसे ही यह शील की गन्ध जो देवताओं और मनुष्यों में बह रही है, इसी से समझ लेना चाहिए कि लोकोत्तर बुद्ध अवश्य हुए होंगे" आदि, आदि। इसी प्रसंग में 'धम्म-नगर' (धम्म रूपी नगर) के सुन्दर सांगोपांग रूपक का भी वर्णन किया गया है।

छठे परिच्छेद में फिर राजा मिलिन्द भदन्त नागसेन के पास जाता है और इस बार वह उनसे फिर एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न पूछता है, "भन्ते नागसेन! क्या कोई गृहस्थ बिना घर को छोड़े, विषय का भोग करते हुए, स्त्री-पुत्रादि से घिरा हुआ, माला-गन्ध-विलेपन को धारण करता हुआ, सोने-चाँदी का आस्वाद लेता हुआ ....शान्त, निर्वाणपद का साक्षात्कार कर सकता है?" इसी के उत्तर में आगे बढ़ते-बढ़ते भदन्त नागसेन १३ अवधूत-नियमों (धुतंग) के विवेचन पर आ जाते हैं। इस परिच्छेद का नाम ही 'धुतंग'-कथा' अर्थात् 'अवधूत-व्रतों का विवरण' है। वास्तव

में 'मिलिन्द-पञ्ह' की विषयवस्तु की अपेक्षा यह 'विसुद्धि-मग्ग' (द्वितीय परिच्छेद) की विषयवस्तु का अधिक अभिन्न अंग है। अतः इन अवधूत-व्रतों का अधिक विवरण न देकर यहाँ उनके नाम निर्देश कर देना ही आवश्यक होगा। अवधूत-व्रतों की संख्या १३ है; जो इस प्रकार है—(१) पांशुकूलिक (फटे-पुराने, धूलि-धूसरित) वस्त्रों को साफ कर उनसे सीये हुए वस्त्र पहनने का नियम (पंसुकूलिकंग)। (२) तीन चीवर (भिक्षु-वस्त्र) पहनने का नियम (तेचीवरिकंग)। (३) भिक्षान्न मात्र पर ही निर्वाह करने का नियम (पिण्डपातिकंग)। (४) एक घर से दूसरे घर, बिना किसी घर को छोड़े हुए, भिक्षा माँगने का नियम (सपदानचारिकंग)। (५) भोजन के लिए दूसरी वार न बैठने का नियम (एकासनिकंग)। (६) केवल एक भिक्षा-पात्र में जितना भोजन आ जाय उतना ही भोजन करने का नियम (पत्तपिंडिकंग)। (७) एक बार भोजन समाप्त कर लेने पर फिर कुछ न खाने का नियम (खलुपच्छा-भृत्तिकंग)। (८) वनवासी होने का नियम (आरञ्ञिकंग)। (९) वृक्ष के नीचे रहने का नियम (रुक्खमूलिकंग)। (१०) खुले आकाश के नीचे रहने का नियम (अब्भोकासिकंग) (११) श्मशान में वास करने का नियम (सोसानिकंग)। (१२) यथाप्राप्त निवास-स्थान में रहने का नियम (यथासन्थतिकंग) और (१३) शय्या को त्याग कर केवल बैठने का नियम (नेसज्जिकंग)।

सातवें परिच्छेद (ओपम्मकथापञ्हं) में उपमाओं के द्वारा यह बताया गया है कि अर्हत्त्व को साक्षात्कार करने की इच्छा करने वाले व्यक्ति को किस प्रकार नाना गुणों का सम्पादन करना चाहिए। किस प्रकार उसे कछुए के पाँच गुण ग्रहण करने चाहिए, कौए के दो गुण ग्रहण करने चाहिए, हिरन के तीन गुण ग्रहण करने चाहिये, आदि, आदि। संवाद के आरम्भ से लेकर अन्त तक भदन्त नागसेन के गौरव की रक्षा की गई है। आरम्भ में ही उन्होंने राजा से तय कर लिया है कि संवाद 'पंडितवाद' के ढंग से होगा, राजवाद के ढंग से नहीं। राजा सदा उनसे नीचे आसन पर बैठता है। प्रथम बार ही उनके उत्तर से सन्तुष्ट होकर वह उन । भक्त बन जाता है। वह उनके पैरों में अपने सिर को रख देता है और विनम्रता-पूर्वक ही प्रत्येक प्रश्न को पूछता है। अन्त में तो, जैसा हम पहले देख चुके हैं, वह उनका उपासक ही बन जाता है और बुद्ध की, धम्म की और संघ की शरण जाता है; जो इतिहास के साक्ष्य के द्वारा भी प्रमाणित है।

'मिलिन्द-पञ्ह' दार्शनिक और धार्मिक दृष्टि से तो एक महाग्रंथ है ही, साहित्यिक और ऐतिहासिक महत्त्व भी उसका अल्प नहीं है। यद्यपि स्थविरवाद बौद्ध धर्म का वह कण्ठहार है; जिसकी प्रतिष्ठा वहाँ बुद्ध-वचनों के समान ही मान्य है, वह भारतीय साहित्य की भी अमूल्य निधि है। यद्यपि लंका, बरमा और स्याम

के समान भारत में उसकी आधुनिक लोक-भाषाओं में 'मिलिन्द-पञ्ह' संबंधी प्रचुर साहित्य नहीं लिखा गया; किन्तु इस कारण उसे उस गौरव से, जो 'मिलिन्द-पञ्ह' ने भारतीय साहित्य को दिया है, वंचित कर देना ठीक नहीं होगा। 'मिलिन्द-पञ्ह' प्रथम शताब्दी ईसवी-पूर्व की प्रभावशाली भारतीय गद्य-शैली का सर्वोत्तम नमूना है। विवेचनात्मक विषयों के लिए उपयुक्त हिन्दी की गद्य शैली का तो विकास हमारे साहित्य में अभी हुआ है। शंकर का प्रशस्त दार्शनिक गद्य अवश्य इस प्रसंग में स्मरण आता है, परन्तु उसका भी समय आठवीं शताब्दी ईसवी है। अंग्रेजी साहित्य की भी इस संबंधी परम्परा १००-२०० वर्ष से पहले नहीं जाती। बाण और दंडी का गद्य भी निश्चय ही इसके लिए उपयुक्त नहीं था। इस दृष्टि से 'मिलिन्द-पञ्ह' की विचारात्मक गद्य-बद्ध शैली कितनी महत्त्वपूर्ण है, इसका सम्यक् अनुपालन नहीं किया जा सकता। लेखक का शब्दाधिकार और उसकी शैली की प्रभावशीलता, उसका ओजमय शब्दचयन, प्रभावशाली कथन-प्रकार, उपमाओं और युक्तियों के द्वारा उसका स्वाभाविक अलंकार-विधान, सबसे बढ़कर उसकी सरलता, भव्यता और प्रसादगुण, ये सब गुण उसे साहित्यिक गद्य के निर्माताओं की उस श्रेणी में बैठा देते हैं, जहाँ उसका तेज सर्वोपरि है।[1] प्राचीन भारतीय गद्य-साहित्य में 'मिलिन्द-पञ्ह' के समान कोई रचना न पाकर ही संभवतः कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने यह अनुमान लगा लिया है कि 'मिलिन्द-पञ्ह' की शैली पर ग्रीक प्रभाव उपलक्षित है। यह एक बड़ा भ्रम है। भारतीय पराधीनता के युग में अधिकांश पश्चिमी विद्वान् यह विश्वास ही नहीं कर सकते थे कि भारत ने भी विश्व-संस्कृति को कुछ मौलिक योगदान दिया है। इसी कारण उन्होंने अनेक प्राचीन भारतीय विशेषतापूर्ण बातों पर भी पश्चिमी प्रभाव की कल्पना कर ली है। प्लेटो के संवादों के प्रभाव को 'मिलिन्द-पञ्ह' की शैली पर बताने के समान और कोई निरर्थक बात नहीं कही जा सकती। पहले तो ग्रीक भाषा और विचार से नागसेन के परिचित होने का साक्ष्य नहीं दिया जा सकता, फिर जब उनके सामने प्राचीन उपनिषदों और स्वयं बुद्ध-वचनों के रूप में गम्भीर संवादों की परम्परा प्रस्तुत की थी, तो वे उसे छोड़कर विदेश से उसे ग्रहण करने क्यों जाते? वह समय

---

१. पुण्यश्लोक डा० रायस डेविड्स 'मिलिन्द-पञ्ह' की शैली के बड़े प्रशंसक थे। देखिए उनके मिलिन्दपञ्ह के अंग्रेजी अनुवाद, (दि क्विश्चन्स ऑव किंग मिलिन्द—सेक्रेड बुक्स ऑव दि ईस्ट, जिल्द ३५वीं का भूमिकांश तथा एन्साइक्लोपीडिया ऑव रिलिजन एंड एथिक्स, जिल्द ८, पृष्ठ ६३१; मिलाइये, विंटरनित्ज : इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १७६ भी।

तो भारतीय संस्कृति के गौरव का था और हम समझते हैं कि भारतीय ज्ञान का वह गौरव ही 'मिलिन्द-पञ्ह' में प्रतिध्वनित हुआ है, जिससे नमित होकर ही बुद्धिवादी मिलिन्द राजा बुद्ध-धर्म में उपासकत्व ग्रहण करता है। यह भारतीय ज्ञान की महान् विजय का द्योतक है—उस ग्रीक ज्ञान पर जिसकी पाश्चात्य जगत् बड़ा दम भरता हैं और जिससे ही उसने अपना सारा ज्ञान वास्तव में प्राप्त भी किया है। 'मिलिन्द-पञ्ह' उस ज्ञान-विजय अथवा धम्म-विजय का स्मारक और परिचायक है, जिसे भरत ने उस समय के, अपने अलावा, सबसे अधिक ज्ञान-सम्पन्न देश पर प्राप्त किया था। इस दृष्टि से वह भारतीय वाङमय के अमर रत्नों में से एक है। जहाँ तक 'मिलिन्द-पञ्ह' की शैली के स्रोतों या उसकी प्रेरणा का सवाल है, वह निश्चय ही तेपिटक बुद्ध-वचनों में ही निहित है। दीघ-निकाय के पायासि-सुत्त और सक्कपञ्ह-सुत्त जैसे सुत्तों की जीवन्त संवाद-शैली उसकी प्रेरणा-स्वरूप मानी जा सकती है। 'कथावत्थु' के अप्रतिम आचार्य मोग्गलिपुत्त तिस्स के भी भदन्त नागसेन कम ऋणी नहीं हैं। यद्यपि इन दोनों ग्रन्थों का तुलनात्मक अध्ययन हम यहाँ विस्तार-भय के कारण नहीं कर सकते, किन्तु यह तो निश्चित ही हैं कि मोग्गलिसुत्त के समाधानों पर ही नागसेन के अधिकांश 'प्रश्न-व्याकरण' (प्रश्नों के उत्तर) आधारित हैं और जिस मन्तव्य को वहाँ 'स्थविरवाद' के रूप में अपनाया गया है, वहीं मन्तव्य 'मिलिन्द-पञ्ह' कार का भी है। यद्यपि उपनिषदों की शैली का कोई स्पष्ट-प्रभाव 'मिलिन्द-पञ्ह' पर उपलक्षित नहीं होता, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि श्वेतकेतु आरुणेय और प्रवाहण जैवलि (जिनके संवाद छान्दोग्य, ५।३ और वृहदारण्यक, ६।२।१ में आते हैं), आरुणि उद्दालक और याज्ञवल्क्य (जिनके संवाद बृहदारण्यक ३।७।१ में आते हैं), आरुणि और श्वेतकेतु (छान्दोग्य ६।१); आदि अनेक ऋषियों के संवाद अपनी विचित्र विशेषता रखते हुए भी मिलिन्द और नागसेन के प्रभावशाली संवादों में अपनी पूर्णता प्राप्त करते हैं। इतिहास की दृष्टि से, विशेषतः पालि साहित्य के इतिहास की दृष्टि से, मिलिन्द-पञ्ह' का यह महत्त्व है कि उसमें पालि तिपिटक के नाना ग्रन्थों के नाम दे देकर, पाँच निकायों, अभिधम्म-पिटक के सात ग्रन्थों, और उनके भिन्न-भिन्न अंगों के निर्देशपूर्वक अनेक अंश उद्धृत किये गये हैं, जिनसे यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि पालि तिपिटक प्रथम शताब्दी ईसवी-पूर्व अपने उसी नाम-रूप में विद्यमान था, जिसमें वह आज है।[1]

---

१. देखिये, रायस डेविड्स : दि क्विशन्स ऑव किंग मिलिन्द (मिलिन्दपञ्ह का अंग्रेजी अनुवाद), सेक्रेड बुक्स ऑव दि ईस्ट, जिल्द ३५वीं, पृष्ठ १४ (भूमिका)।

इस प्रकार 'मिलिन्द-पञ्ह' का साक्ष्य अशोक के अभिलेखों द्वारा प्रदत्त साक्ष्य का समर्थन करता है। 'मिलिन्द-पञ्ह' में अनेक स्थानों के वर्णन हैं, जैसे कलसिगाम, अलसन्द (अलेक्जेण्ड्रिया––कन्धार), योन (यवन-यूनान, बैक्ट्रिया), भरुकच्छ (भड़ौंच), चीन (चीन-देश), गन्धार, कलिंग, कजंगला, कोसल, मधुरा (मथुरा); सागल, साकेत, सुराष्ट्र (सुरट्ठ), वाराणसी, वंग, तक्कोल, उज्जेनी, आदि। इनसे तत्कालीन भारतीय भूगोल पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। सारांश यह कि धर्म, दर्शन, साहित्य, इतिहास, भूगोल, सभी दृष्टियों से 'मिलिन्द-पञ्ह' का भारतीय वाङ्मय के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण स्थान है और पालि अनुपिटक-साहित्य में तो उसके समान महत्त्वपूर्ण कोई दूसरा स्वतन्त्र ग्रन्थ है ही नहीं, यह तो निर्विवाद ही है।

अन्य साहित्य

पालि तिपिटक के संकलन और अट्ठकथा-साहित्य के प्रणयन के बीच के युग में उपर्युक्त तीन ग्रन्थों (नेत्तिपकरण, पेटकोपदेस, मिलिन्दपञ्ह) के अतिरिक्त एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ दीपवंस भी है। यह भी प्राग्बुद्धघोषकालीन पालि साहित्य की एक प्रमुख रचना है। 'वंश-साहित्य' का विवरण देते समय हम इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का परिचय देंगे। इसी प्रकार सिंहली अट्ठकथाएँ और पुराणाचार्यों (पोराणाचरिय) के ग्रन्थ आदि भी इन शताब्दियों में लिखे गये, जिनका विवरण अट्ठकथा-साहित्य के प्रकरण में ही दिया जायगा। इसी युग के साहित्य के रूप में गायगर ने 'सुत्त-संगह' की भी चर्चा की है, जो किसी अज्ञात लेखक के द्वारा किया हुआ सुत्तों का संग्रह है और 'विमानवत्थु' आदि के समान अल्प महत्त्व की रचना है। 'सुत्त-सङ्गह' में साधारणतः तो पालि-निकायों में आये सुत्तों का संकलन है, परन्तु तीन अवतरण, विनय-पिटक के भी हैं, एक अभिधम्म-पिटक का भी और पाँच उद्धरण अट्ठकथाओं से भी हैं, जिनमें एक धम्मपदट्ठकथा से, एक बुद्धवंसट्ठकथा से और तीन विमानवत्थु-अट्ठकथा से है। 'सुत्त-सङ्गह' पर सिंहली और बरमी भाषाओं में 'निस्सय' (सहायक) ग्रन्थ भी उपलब्ध हैं। 'सुत्त-सङ्गह' की 'सुत्तसङ्गहट्ठकथा' नामक एक अट्ठकथा या व्याख्या भी लिखी गयी जिसका सम्पादन साइमन हेवावितरणे ग्रन्थमाला में सिरि पियरतन थेर द्वारा किया गया है। 'सुत्त-सङ्गह' का संकलन-काल निश्चित नहीं है, किन्तु अनुमानतः उसे तेरहवीं शताब्दी माना गया है। 'सुत्तसङ्गह' को बरमी परम्परा बहुत महत्त्व देती है और उसे खुद्दक-निकाय के अन्तर्गत मानती है, किन्तु इसके

प्रणेता या प्रणयन-काल के विषय में कुछ ज्ञात नहीं है। मललसेकर ने सम्भावना प्रकट की है कि 'सुत्त-संगह' सम्भवतः अनुराधपुर में लिखा गया।[1] कुछ लोग इसके लेखक का नाम अरियवंस देते हैं और उन्हें महाविहारवासी भिक्षु मानते हैं।

---

१. डिक्शनरी ऑव पालि प्रॉपर नेम्स, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ११९१ (लन्दन, १९६०)। मिलाइये, मेबिल बोड : दि पालि लिटरेचर ऑव बरमा, पृष्ठ ५, पद-संकेत १ (रायल एशियाटिक सोसायटी, लन्दन, १९०९)। रामप्रसाद चौधरी तथा देवप्रसाद गुह नें सुत्तसंगह का सम्पादन किया है। एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता, १९५७।

सातवाँ अध्याय

बुद्धघोष-युग

(४०० ई० से ११०० ई० तक)

अट्ठकथा-साहित्य का उद्भव और विकास

बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार स्थविर महेन्द्र (महिन्द) और उनके साथी भिक्षु पालि तिपिटक के साथ-साथ उसकी 'अट्ठकथा' को भी अपने साथ लंका में ले गये। स्वभावतः यह मागधी (पालिभाषा) में ही थी। यह निश्चित है कि जिस रूप में यह 'अट्ठकथा' लंका में ले जायी गयी होगी, वह पालि तिपिटक के समान मौखिक ही रहा होगा। परन्तु प्रथम शताब्दी ईसवी-पूर्व में जब लंकाधिपति वट्टगामणि अभय के समय में पालि-तिपिटक लेखबद्ध किया गया, तो उसकी उपर्युक्त 'अट्ठ-कथा' के भी लेखबद्ध होने की कोई सूचना हम नहीं पाते। अतः स्थविर महेन्द्र द्वारा लंका में पालि-तिपिटक की 'अट्ठकथा' भी ले जाये जाने का कोई ऐतिहासिक आधार हमें नहीं मिलता। परन्तु बौद्ध परम्परा की मान्यता है कि पालि-तिपिटक की उक्त पालिभाषानिबद्ध प्राचीनतम अट्ठकथाएँ प्रथम धर्मसङ्गीति के समय ही संगीत की गई थीं और दूसरी और तीसरी धर्मसंगीतियों में 'अनुगीत' की गयी और इसके बाद महामहेन्द्र स्थविर के द्वारा वे श्रीलंका में ले जायी गयीं; जहाँ उनका प्राचीन सिंहली भाषा में अनुवाद किया गया और उनके इस प्राचीन सिंहली भाषा में अनुवाद को ही बुद्धघोषाचार्य ने और उनके समकालिक और परवर्ती अन्य अट्ठकथाचार्यों ने 'तन्तिनयानुच्छविका भासा' (पालि के अनुरूप भाषा) पुनः अनुवादित किया।[1] 'सद्धम्मसंगह'[2] में इस तथ्य को और साफ

---

१. देखिए, 'समन्तपासादिका' की बाहिरनिदानकथा तथा 'सुमंगलविला-सिनी' की निदानकथा भी। मिलाइये सद्धम्मसंगहो, पृष्ठ ३४ (देवनागरी संस्करण) तथा सासनवंस, पृष्ठ २९ (देवनागरी संस्करण) भी।

२. वही, पृष्ठ ३४ (देवनागरी संस्करण)।

तौर पर यह कह दिया गया है, "बुद्धघोसो सब्बं सीहलट्ठकथं मूलभासाय मागधिकाय परिवत्तेसि।" अर्थात् "बुद्धघोष ने सम्पूर्ण सिंहली अट्ठकथा का मूल मागधी भाषा में परिवर्तित किया।" परन्तु इन सिंहली अट्ठकथाओं के आधारभूत जो मूल अट्ठकथाएँ थीं, उनका क्या हुआ? उन अट्ठकथाओं का कोई अंश आज किसी रूप में सुरक्षित नहीं है। इसी प्रकार प्राचीन सिंहली भाषा में अनुवादित अट्ठकथाएँ भी जिन्हें 'पोराणट्ठकथा', 'सीहलट्ठकथा' या 'पोराणसीहलट्ठकथा' कहकर पुकारा गया है, आज कहीं उपलब्ध नहीं हैं। जैसा हम आगे अभी इसी प्रकरण में देखेंगे, आचार्य बुद्धघोष इन्हीं प्राचीन सिंहली अट्ठकथाओं का पुनः पालि रूपान्तर करने के लिये लंका गये थे। चौथी-पाँचवीं शताब्दी ईसवी में न केवल बुद्धघोष, बुद्धदत्त और धम्मपाल आदि के द्वारा रचित विस्तृत अट्ठकथा-साहित्य, बल्कि प्राग्बुद्धघोषकालीन लंका का इतिहास-ग्रन्थ 'दीपवंस' और बाद में उसी के आधार-पर रचित 'महावंस' भी अपनी विषयवस्तु के आधार और स्रोतों के लिये उक्त प्राचीन सिंहली अट्ठकथाओं के ऋणी हैं। महावंस-टीका (६३।५४९-५५०) के आधार पर गायगर ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि प्राचीन सिंहली अट्ठकथाएँ बारहवीं शताब्दी ईसवी तक प्राप्त थीं। आज न इनका कोई अंश सुरक्षित है और न उन मूल मागधी (पालि) भाषा में निबद्ध अट्ठकथाओं का ही, जिनकी ये (प्राचीन सिंहली अट्ठकथाएँ) महामहेन्द्र के समय में ही पालि से प्राचीन सिंहली भाषा में अनुवाद की गयी मानी जाती थीं।

जैसा अभी कहा गया, बुद्धघोष महास्थविर प्राचीन सिंहली अट्ठकथाओं का पालि रूपान्तर करने के लिये ही लंका गये थे। उन्होंने अपनी विभिन्न अट्ठकथाओं में जिन प्राचीन सिंहली अट्ठकथाओं का निर्देश किया है, या उनसे उद्धरण दिये हैं, उनमें ये मुख्य हैं (१) महा-अट्ठकथा, (२) महा-पच्चरी या महा-पच्चरिय, (३) कुरुन्दी या कुरुन्दिय, (४) अन्धट्ठकथा, (५) संखेपट्ठकथा, (६) आगमट्ठकथा और (७) आचरियानं समानट्ठकथा। दीघ, मज्झिम, संयुत्त और अंगुत्तर, इन चारों निकायों की अपनी 'अट्ठकथाओं' के अन्त में आचार्य बुद्धघोष ने अलग-अलग कहा है "सा हि महा-अट्ठकथाय सारमादाय निट्ठिता एसा" अर्थात् "इसे मैंने महा-अट्ठकथा के सार को लेकर पूरा किया है।" इससे निश्चित है कि बुद्धघोष-कृत 'सुमंगलविलासिनी', 'पपंचसूदनी', 'सारत्थप्पकासिनी' और 'मनोरथपूरणी' (क्रमशः दीघ, मज्झिम, संयुत्त और अंगुत्तर निकायों की अट्ठकथाएँ) प्राचीन सिंहली अट्ठकथा, जिसका नाम 'महा-अट्ठकथा' (सिंहली भाषा में 'महा-अतुवव') था, पर आधारित हैं। उपर्युक्त कथन के साक्ष्य पर 'सद्धम्मसंगह"

(१४वीं शताब्दी) का यह कहना कि 'महा-अट्ठकथा' सुत्त-पिटक की अट्ठकथा ('सुत्तन्तट्ठकथा' या 'चतुनिकायट्ठकथा') थी[१], ठीक मालूम पड़ता है। बल्कि इस ग्रन्थ में यह भी कहा गया है कि "महाअट्ठकथा प्रथम महासंगीति में ही आरूढ़ हुई थी, महाकाश्यप की प्रमुखता में स्थविरों के द्वारा की गई थी और (तत्पश्चात्) महामहेन्द्र ने इसे (सिंहल में) लाकर सिंहली भाषा में (परिवर्तित) किया और तभी से इसका नाम 'महाअट्ठकथा' पड़ा।"[२] इसी प्रकार 'सद्धम्म-संगह' के अनुसार कुरुन्दी और 'महापच्चरी' (महापच्चरिय) क्रमशः विनय और अभिधम्म की अट्ठकथाएँ थीं।[३] 'कुरुन्दी' 'विनयपिटक' की ही अट्ठकथा थी, इसे आचार्य बुद्धघोष की अट्ठकथाओं से पूरा समर्थन प्राप्त नहीं होता, क्योंकि विनय-पिटक की अट्ठकथा (समन्तपासादिका) के आरम्भ में उन्होंने अपनी इस अट्ठकथा के मुख्य आधार के रूप में 'कुरुन्दी' का उल्लेख नहीं किया है। वहाँ उन्होंने केवल यह कहा है कि ये तीनों अट्ठकथाएँ (महाअट्ठकथा, महापच्चरी एवं कुरुन्दी) प्राचीन अट्ठकथाएँ थीं और सिंहली भाषा में लिखी गयी थीं।[४]

---

१. देखिए, (सद्धम्मसङ्गहो, पृष्ठ ३४ (देवनागरी संस्करण) में, "सुत्तन्तपिटके महाअट्ठकथा सीहलभासं परिवत्तेत्वा, सुमंगलविलासिनी' नाम दीघनिकायट्ठकथं च उपेसि।"

२. "महा अट्ठकथा नाम पठममहासङ्गीतिमारूल्हा महाकस्सपपमुखेहि थेरेहि कता, महामहिन्देन आनेत्वा सीहलभासाय कता, महाअट्ठकथा नाम जाता।" सद्धम्मसङ्गहो, पृष्ठ ३४ (देवनागरी संस्करण)।

३. "बुद्धघोसो कुरुन्दकट्ठकथं ,सीहलभासं परिवत्तेत्वा मूलभासाय मागधिकाय निरुत्तिया समन्तपासादिका नाम विनयट्ठकथा अकासि।" वहीं पृष्ठ ३४। तथा "अभिधम्मपिटके महापच्चरियट्ठकथा सीहलभासं परिवत्तेत्वा मूलभासाय मागधिकाय निरुत्तिया अट्ठसालिनी नाम धम्मसङ्गणिअट्ठकथं च ठपेसि।" तथा सम्मोहविनोदिनी नाम विभङ्ग गप्पकरणट्ठकथं च ठपेसि।" वही पृष्ठ ३५।

४. उनकी इसी बात का अनुगमन 'सद्धम्म सङ्गह' में भी किया गया है और कहा गया है, "महा अट्ठकथा च महापच्चरियट्ठकथा च महा कुरुन्दट्ठकथा चा'ति इमा तिस्सो अट्ठकथायो सीहलट्ठकथा नाम।" पृष्ठ ३४ (देवनागरी संस्करण)।

'समन्तपासादिका' में उन्होंने अधिकतर 'महापच्चरी' का उल्लेख किया है और उसकी व्याख्याओं को उद्धृत किया है। इससे यह लगता हैं कि इसका सम्बन्ध विनय से ही अधिक था। महाअट्ठकथा को भी उन्होंने कहीं-कहीं उद्धृत किया है। कुरुन्दी अट्ठकथा (सिंहली भाषा में कुरुन्दिय अतुवव) का यह नाम इसलिए पड़ा बताया गया है क्योंकि इसकी रचना सिंहल के कुरुन्दवेलु नामक विहार में बैठ कर की गई थी[1] इसी प्रकार (महापच्चरिय अतुवव) नाम के पीछे इसका सिंहल में कहीं एक बेड़े में बैठ कर रचित होने का रहस्य अन्तर्हित बताया गया है।[2] 'गन्धवंस' में भी उपर्युक्त तीनों अट्ठकथाओं का उल्लेख किया गया है। वहाँ 'महा-अट्ठकथा' (सुत्त-पिटक की अट्ठकथा) को इन सब में प्रधान बताया गया है और उसे पुराणाचार्यों (पोराणाचरिया) की रचना बतलाया गया है, जब कि अन्य दो अट्ठकथाओं को ग्रन्थाचार्यों (गन्थाचरिया) की रचनाएँ बतलाया गया है। इससे स्पष्ट है कि 'गन्धवंस' के अनुसार 'महा-अट्ठकथा' की प्राचीनता और प्रामाणिकता अन्य दो की अपेक्षा अधिक थी। वस्तुतः यही अट्ठकथा सबसे महत्त्वपूर्ण सिंहली अट्ठकथा थी। इसलिए कभी-कभी 'सीहलट्ठकथा' नाम से इस एक अट्ठकथा का ही बोध होता है। कभी-कभी इसे केवल 'अट्ठकथा' भी कह दिया जाता है। बुद्धघोष की अट्ठकथाओं का मुख्य आधार-स्रोत यही है। साहित्यिक दृष्टि से ही नहीं, ऐतिहासिक दृष्टि से भी इन अट्ठकथाओं का बड़ा महत्त्व है। जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, परम्परागत मान्यता के अनुसार स्थविर महेन्द्र महा-अट्ठकथा को अपने साथ सिंहल ले गये थे, जिसका उन्होंने सिंहली भाषा में अनुवाद किया, जो बाद में पालि के अट्ठकथा-साहित्य का मूल बना और जिसने काफी हद तक पालि के प्राचीन वंश-साहित्य को भी आधार प्रदान किया। 'अन्धट्ठकथा' और 'संखेपट्ठकथा' तथा इनके साथ-साथ 'चूलपच्चरी' और 'पण्णवार' नाम की प्राचीन सिंहली अट्ठकथाओं का उल्लेख 'समन्तपासादिका' की दो टीकाओं—'वजिरबुद्धि' और 'सारत्थदीपनी'—में भी किया गया है।[3] किन्तु इनके विषय

---

१. "कुरुन्दट्ठकथा नाम कुरुन्दवेलुविहारो अत्थि, तस्मिं निसीदित्वा कतत्ता कुरुन्दि नाम जाता अट्ठकथा।" सद्धम्मसङ्गहो, पृष्ठ ३४ (देवनागरी संस्करण)।

२. "महापच्चरियं नाम सीहलभासायउलुम्पो किर अत्थि तस्मिं निसीदित्वा कतत्ता पच्चरियं नाम जाता अट्ठकथा। वही, पृष्ठ ३४।

३. देखिए, गायगर : पालि लिटरेचर एण्ड लैंग्वेज, पृष्ठ २५।

में भी हमारी कोई विशेष जानकारी नहीं है।[1] 'आचरियानं समानट्ठकथा', जिसका उल्लेख बुद्धघोष ने 'अट्ठसालिनी' के आदि में किया है, किसी विशेष अट्ठकथा का नाम न होकर केवल अनेक अट्ठकथाओं के समान सिद्धान्तों का सूचक है, यही मानना अधिक समीचीन जान पड़ता है। 'आगमट्ठकथा', जिसका उल्लेख आचार्य बुद्धघोष ने 'अट्ठसालिनी' और 'समन्तपासादिका' दोनों के आदि में किया है, सम्पूर्ण आगमों या निकायों की एक सामान्य अट्ठकथा ही रही होगी। कुछ भी हो, बुद्धघोष ने जिन प्राचीन सिंहली अट्ठकथाओं का उल्लेख किया है, वे किन्हीं लेखकों की व्यक्तिगत रचनाएँ न होकर अनुराधपुर के महाविहारवासी भिक्षुओं की परम्परा प्राप्त कृतियाँ थीं जो उनकी सामान्य सम्पत्ति के रूप में चली आ रही थीं। आचार्य बुद्धघोष ने इन महाविहारवासी भिक्षुओं की आदेशना-विधि को लेकर ही अपनी समस्त अट्ठकथाएँ और 'विसुद्धिमग्ग' लिखे, यह उन्होंने सब जगह स्पष्ट कर दिया है। "विसुद्धिमग्ग" के साक्ष्य का हम पीछे विवरण देंगे, अभी केवल 'समन्तपासादिका' और 'अट्ठसालिनी' के इस साक्ष्य को देखें—

"महाविहारवासीनं दीपयन्तो विनिच्छयं,
अत्थं पकासयिस्सामि आगमट्ठकथासु पि"।

आगे बुद्धघोष के जीवन-विवरण से भी यही स्पष्ट होगा कि 'महाविहार' की परम्परा पर आश्रित सिद्धान्तों के अनुसार ही उन्होंने अपने विशाल अट्ठकथा-साहित्य की रचना की है। यहाँ यह भी कह देना अप्रासंगिक न होगा कि 'महा-विहार' के अलावा 'उत्तर-विहार' नामक एक अन्य विहार के भिक्षुओं की परम्परा भी उस समय अनुराधपुर में प्रचलित थी। बुद्धदत्त का 'उत्तर-विनिच्छय' उसी पर आधारित है।

प्राचीन सिंहली अट्ठकथाओं को अपनी रचनाओं का आधार स्वीकार करने के अतिरिक्त आचार्य बुद्धघोष ने 'प्राचीन स्थविरों' (पोराणकत्थेरा) या 'पुराने लोगों' (पोराणा) के मतों के उद्धरण अनेक बार अपनी अट्ठकथाओं में दिये

---

१. इनके कुछ अनुमानाश्रित विवरण के लिए देखिये, लाहा: हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ३७६; श्रीमती रायस डेविड्स: ए बुद्धिस्ट मेनुअल ऑव साइकोलोजीकल एथिक्स, पृष्ठ २ (भूमिका)।

हैं।[1] ये 'प्राचीन स्थविर' या 'पुराने लोग' कौन थे? 'गन्धवंस' के मतानुसार प्रथम तीन धर्म-संगीतियों के आचार्य भिक्षु, आर्य महाकात्यायन को छोड़कर, 'पोराणा' या 'पुराने लोग' कहलाते हैं।[2] सम्भवतः प्राचीन सिंहली अट्ठकथाओं में इन प्राचीन आचार्यों के मतों का उल्लेख था। यहीं से उनका पालि रूपान्तर कर आचार्य बुद्धघोष ने अपनी अट्ठकथाओं में ले लिया है। इन 'पोराणों' के उद्धरणों की एक बड़ी विशेषता यह है कि ये प्रायः पद्यमय हैं और अनेक उद्धरण जो बुद्धघोष की अट्ठकथाओं में मिलते हैं, बिलकुल उन्हीं शब्दों में 'महावंस' में भी मिलते हैं। इससे इस मान्यता को दृढ़ता मिलती है कि बुद्धघोष की अट्ठकथाएँ और 'महावंस' दोनों के मूल स्रोत और आधार प्राचीन सिंहली 'अट्ठकथाएँ' ही हैं। 'यथाहु पोराणा' (जैसा पुराने लोगों ने कहा) या 'तेनं वे पोराणकत्थेरा' (इसी प्रकार प्राचीन स्थविर) या 'तेनाहु पोराणा' आदि शब्दों से आरम्भ होने वाले इन 'पोराण' आचार्यों के उद्धरणों को बुद्धघोष की अट्ठकथाओं और 'विसुद्धि-

---

१. उदाहरणतः 'सुमङ्गलविलासिनी, (ब्रह्मजालसुत्तवण्णना) में शील-वर्णन के प्रसंग में उन्होंने कहा है, "यथाहु पोराणा 'सीलं योगिस्स लङ्कारो ति।' अर्थात् "पुराने लोगों ने कहा है कि शील योगी का अलंकार है।" इसी प्रकार 'पपञ्चसूदनी' (अनुमानसुत्तवण्णना) में उन्होंने कहा है कि इस सुत्त (अनुमान-सुत्त) को पुराने लोग भिक्षुप्रातिमोक्ष के नाम से जानते थे।" "इदं हि सुत्तन्तं भिक्खुपातिमोक्खं नामा" ति पोराणा वदन्ती' ति। 'समन्तपासादिका' की बाहिर निदानकथा में उन्होंने पहले श्रीलंका में महेन्द्र स्थविर से आरम्भ कर विनयाचार्यों की परम्परा दी है और तदनन्तर 'यथाहु पोराणा' कह कर उनके कथन को उद्धृत करते हुए अपने मत की पुष्टि की है। 'अट्ठसालिनी' में तो उन्होंने इस प्रकार के कथनों की भरमार ही कर दी है, जैसे कि "चितुप्पादकण्डवण्णना' में "तेनाहु पोराणा-द्वारे चरन्ति कम्मानि।···तेनाहु पोराणा थावरियसभाव-सण्ठिता च पनेसा चेतना' ति, तेनाहु पोराणा विपाके अधिपति नत्थि ठपेत्वा लोकुत्तरं" ति, रूपकण्डवण्णना में "समानं हि पसादो, न विसमानं" ति पोराणा।" इसी प्रकार यहीं निक्खेपकण्डवण्णना में "पोराणा पनाहु—चक्खु रूपं न पस्सति" आदि। इसी प्रकार 'विसुद्धिमग्ग' के चतुर्थ परिच्छेद में "तेनाहु पोराणा-'कामेसु छन्दं पटिघं विनोदये", सातवें परिच्छेद में "तेनाहु पोराणा—पाटलि सिम्बलि, जम्बु", आदि तथा यहीं "तेनाहु पोराणा भगवाति, वचनं सेट्ठं, भगवा'ति वचनमुत्तमं"ति, आदि, आदि।

२. देखिए, आगे नवें अध्याय से गन्धवंस की विषयवस्तु का विवेचन।

मग्ग' से यदि संग्रह किया जाय और 'दीपवंस'; 'महावंस', 'सद्धम्मसंगह' और 'महावंसटीका' (वंसत्थप्पकासिनी) आदि के इसी प्रकार के साक्ष्यों से उनका मिलान किया जाय तो प्राचीन बौद्ध परम्परा सम्बन्धी एक व्यवस्थित और अत्यन्त मूल्यवान् सामग्री हमारे हाथ लग सकती है, जिसका ऐतिहासिक महत्त्व भी अल्प न होगा।

प्राचीन सिंहली अट्ठकथाओं और पुराने आचार्यों के अतिरिक्त आचार्य बुद्धघोष ने अपने पूर्वगामी सभी स्रोतों से प्रेरणा ग्रहण की है। 'दीपवंस' और 'मिलिन्द-पञ्ह' तो प्राग्बुद्धघोषकालीन रचनाएँ हैं ही; बुद्धघोष ने अपनी व्याख्याओं के लिये सबसे अधिक मूल्यवान् सामग्री तो बुद्ध और उनके प्रारम्भिक शिष्यों के वचनों के स्वकीय मन्थन से ही प्राप्त की है। इसी में उनकी मौलिकता भी है। चूँकि इसमें उन्हें इतनी अधिक सफलता मिली है, इसीलिये पालि-साहित्य में उनका दान अमर हो गया है। स्वयं तिपिटक-साहित्य में ऐसी अमूल्य सामग्री भरी पड़ी है, जिससे बुद्धघोष जैसे अगाध विद्वान् चाहे जितनी सहायता ले सकते थे। स्वयं भगवान् बुद्ध कभी-कभी पहले संक्षिप्त रूप में उपदेश कर बाद में विस्तार से उसकी व्याख्या किया करते थे। उनके ऐसे उपदेशों के उदाहरण सळायतन-विभंग-सुत्त (मज्झिम० ३।४।७); अरण-विभंग - सुत्त (मज्झिम० ३।४।९), धातु-विभंग-सुत्त (मज्झिम० ३।४।१०) एवं दक्खिणा-विभंग-सुत्त (मज्झिम० ३।४।१२) आदि हैं। इसी प्रकार कभी-कभी भगवान् के द्वारा संक्षिप्त रूप से दिये गये उपदेशों की विस्तार से व्याख्या उनके अनेक अधिगम सम्पन्न भिक्षु-शिष्य जैसे कि शारिपुत्र, महाकात्यायन, महाकौष्ठिल (महाकोट्ठित), महामौद्गल्यायन और आनन्द किया करते थे, बल्कि कजंगला जैसी उनकी भिक्षुणी-शिष्याएँ भी इसी महान् कार्य को करती थीं। भगवान् के संक्षिप्त उपदेश को विस्तार से विभाजन करने में, विश्लेषण करने में, महाकात्यायन तो उनके सब भिक्षु-शिष्यों में अग्रणी ही थे। इन सब तथ्यों के विस्तारपूर्वक वर्णन पालि सुत्तों में हैं। इन सब व्याख्यापरक निर्वचन और विश्लेषण की प्रवृत्ति को, विभज्यवाद की पद्धति को, अपनी चरम सीमा पर पहुँचाने वाली पूरे अभिधम्म की शैली भी बुद्धघोष के सामने थी जिसका पूरा-पूरा उपयोग कर उन्होंने पालि - साहित्य में उस विशाल अट्ठकथा साहित्य का प्रवर्तन किया, जो अपनी विशालता और गम्भीरता में, ऐतिहासिक बुद्धि में भी और सैद्धान्तिक विश्लेषण की सूक्ष्मता में भी, भारतीय साहित्य में उपलब्ध समान कोटि के प्रत्येक रूप से बढ़कर है।

अट्ठकथा-साहित्य की संस्कृत भाष्य और टीकाओं से तुलना-अट्ठकथाओं की कुछ सामान्य विशेषताएँ

वास्तव में पालि के अट्ठकथा-साहित्य के समान भारतीय भाष्य-साहित्य में अन्य कुछ नहीं है। संस्कृत में भाष्य और टीकाएँ अवश्य हैं, किन्तु उनकी तुलना सर्वांश में पालि अट्ठकथाओं से नहीं की जा सकती। भाष्य की परिभाषा संस्कृत में इस प्रकार की गई है—

"सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र वाक्यैः सूत्रानुसारिभिः।
स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः।"—शब्द कल्पद्रुम

इस परिभाषा से स्पष्ट है कि भाष्य का मुख्य उद्देश्य सूत्र के अर्थ का वर्णन करना है और इसी की पूर्ति के लिये वह कुछ स्व-कथन भी करता है, जिसकी भी व्याख्या में वह प्रवृत्त होता है। संस्कृत के भाष्य इस परिभाषा पर पूरे उतरते हैं। किन्तु यदि पालि अट्ठकथाओं का सम्बन्ध तिपिटक या बुद्ध-वचनों से उसी प्रकार का माना जाय जैसे भाष्यों का सूत्रों से, तो यह पालि के अट्ठकथा-साहित्य की एक प्रमुख विशेषता को व्यक्त न करेगा। पालि अट्ठकथाएँ अर्थ की कथाएँ, अर्थ की व्याख्याएँ तो हैं ही। दीघ-निकाय की अट्ठकथा ('सुमङ्गलविलासिनी') की लक्खणसुत्तवण्णना में उनके इसी अर्थ को स्पष्ट करते हुए कहा गया है, "अत्थकथं ति अत्थयुत्तं कथं।" अतः जिस अर्थ के लिए बुद्ध ने उपदेश दिया, उसे बताना तो अट्ठकथाओं का उद्देश्य है हीं, के परन्तु इसी सहायतार्थ वे उस परिस्ति ति को, सन्दर्भ को, भी स्पष्ट करती हैं जिसमें बुद्ध ने कभी किसी को कोई उपदेश दिया। 'अट्ठकथा' के लिये पर्यायवाची शब्द हैं 'अत्थवण्णना', 'अत्थसवण्णना'। अतः अर्थ को दिखाना अट्ठकथाओं का मुख्य लक्ष्य है और इसके लिये वे यथासम्भव कालसम्बन्धी, स्थान-सम्बन्धी और साधारण इतिहास-सम्बन्धी उन परिस्थितियों को भी स्पष्ट करती हैं जिनमें बुद्ध ने अपने वे-वे उपदेश दिये। यह बात हमें संस्कृत भाष्यों में प्रायः नहीं मिलती और यह पालि अट्ठकथाओं की एक प्रमुख विशेषता है। अर्थ की व्याख्या के साथ-साथ पालि अट्ठकथाओं का एक बड़ा उद्देश्य तथ्यों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को भी स्पष्ट रूप से विवृत कर देना है। किसी संस्कृत के भाष्यकार ने ऐसा किया हो, यह हम नहीं कह सकते। कम-से-कम जिस ऐतिहासिक बुद्धि का परिचय पालि अट्ठकथाकारों ने दिया है, वह संस्कृत के भाष्यकारों में तो उपलब्ध नहीं होती। संस्कृत भाष्यों में शब्दों और उनके निरुक्तिलब्ध अर्थों पर जोर होता है। यही काम उनकी टीकाएँ भी करती हैं। अनेक सिद्धान्तों या विचारधाराओं के विवरण वहाँ आते हैं किन्तु 'इत्येके', 'इत्यपरे' कहकर ही

छोड़, दिये जाते हैं। कौन सा सिद्धान्त कब उत्पन्न हुआ अथवा वह किनका था, आदि की गवेषणा वहाँ नहीं की जाती। वहाँ केवल सिद्धान्त का ही अर्थ-विवेचन अधिकतर किया जाता है। इसके विपरीत पालि-अट्ठकथाओं में पूरे विवरण की सूची रहती है। वहाँ शब्द-चिंता भी है, अर्थ-चिंता भी और साथ ही काफी हद तक उनकी पृष्ठभूमि की चिन्ता भी। 'कथावत्थु' की अट्ठकथा को इस दृष्टि से देखें तो आश्चर्यान्वित रह जाना पड़ता है। वहाँ निराकृत २१६ सिद्धान्तों में से कौन किस सम्प्रदाय का सिद्धान्त था और वह कब उत्पन्न हुआ, आदि का पूरा विवरण वहाँ दिया गया है। वेदों के भाष्यों में ऋषियों की जीवनियों के विषय में उतना भी नहीं कहा गया, जितना पालि अट्ठकथाओं में बुद्ध और उनके शिष्यों के विषय में कहा गया है। निश्चय ही उन्होंने जो ऐतिहासिक और भौगोलिक ब्यौरे दिये हैं, वे तो पूरे भारतीय साहित्य के लिये एकदम नई चीज हैं और उनकी इस विशेषता को हमें उनका महत्वांकन करते समय सदा ध्यान में रखना चाहिए।

पालि साहित्य के तीन बड़े अट्ठकथाकार : बुद्धदत्त, बुद्धघोष और धम्मपाल

पालि-साहित्य में अट्ठकथा-साहित्य का प्रारम्भ चौथी-पाँचवीं शताब्दी ईसवी से होता है। इस प्रकार बुद्ध-युग से लगभग एक हजार वर्ष बाद ये अट्ठकथाएँ लिखी गईं। निश्चय ही काल के इस इतने लम्बे व्यवधान के कारण इन अट्ठकथाओं की प्रामाणिकता उतनी सबल नहीं होती यदि ये परम्परा से प्राप्त प्राचीन सिंहली अट्ठकथाओं पर आधारित नहीं होतीं। चूँकि ये उनकी ऐतिहासिक परम्परा पर आधारित हैं, अतः इतनी आधुनिक होते हुए भी बुद्ध-युग के सम्बन्ध में इनका प्रामाण्य मान्य है, यद्यपि स्वयं तिपिटक के बाद। चौथी-पाँचवीं शताब्दी में प्रायः समकालिक ही तीन बड़े अट्ठकथाकार पालि साहित्य में हुए हैं, बुद्धदत्त, बुद्धघोष और धम्मपाल। ये तीनों ही आदरवश भदन्ताचार्य (भदन्ताचरिय) कहलाते हैं। इनमें धम्मपाल सम्भवतः कुछ बाद में हुए। इनके बाद कुछ और भी अट्ठ-कथाकार हुए, जिनका विवरण हम बाद में देंगे। अभी हम इन तीन आचार्यों के जीवन और कार्यों पर विहंगम दृष्टि डालें।

बुद्धदत्त की जीवनी और रचनाएँ

बुद्धदत्त और बुद्धघोष समकालिक थे, यह 'बुद्धघोसुप्पत्ति' (बुद्धघोष की जीवनी), 'सद्धम्मसङ्गह' और 'गन्धवंस' तथा 'सासनवंस' (१९वीं शताब्दी

के वंस-ग्रन्थ) के वर्णनों से ज्ञात होता है। 'बुद्धघोसुप्पत्ति' के वर्णनानुसार आचार्य बुद्धदत्त, बुद्धघोष से पहले लंका में बुद्ध-वचनों के अध्ययनार्थ गये थे। अपने अध्ययन को समाप्त कर जिस नाव से लौटकर वे भारत (जम्बुद्वीप) आ रहे थे, उसका मिलान उस नाव से हो गया जिसमें बैठकर इधर से आचार्य बुद्धघोष लंका को जा रहे थे। दोनों स्थविरों में धर्म-संलाप हुआ। कुशल-मंगल और एक दूसरे का परिचय प्राप्त करने के बाद आचार्य बुद्धघोष ने उन्हें बताया, "बुद्ध-उपदेश सिंहली भाषा में है। मैं उनका मागधी रूपान्तर करने लंका जा रहा हूँ।" बुद्धदत्त ने उनसे कहा, "आवुस बुद्ध घोष ! मैं तुमसे पूर्व इस लंका द्वीप में भगवान् के शासन को सिंहली भाषा से मागधी भाषा में रूपान्तरित करने के उद्देश्य से आया था। किन्तु मेरी आयु थोड़ी बची है। मैं अब अधिक नहीं जीऊँगा और इस काम को पूरा नहीं कर सकूँगा। तुम्हीं साधु रूप से इस काम को करो।"[1] जब इस प्रकार दोनों स्थविरों में आपस में बातचीत चल रही थी, तभी दोनों नावें एक दूसरी को छोड़कर चल दीं।[2] इस विवरण से दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं। एक तो यह कि बुद्धदत्त बुद्धघोष से पहले लंका गये थे और दूसरी यह कि वे आयु में बुद्धघोष से बड़े थे, क्योंकि उस संलाप में उन्होंने बुद्धघोष को 'आवुस' (आयुष्मान्) कहकर पुकारा है, जो बड़ों के द्वारा छोटों के लिये प्रयुक्त किया जाता है।[3] बुद्धदत्त ने अपने विनय-विनिच्छय (विनय-पिटक की अट्ठकथा) के आरम्भ में ही बुद्ध-घोष के साथ अपने मिलन और संलाप का वर्णन किया है। उससे प्रकट होता है कि बुद्धदत्त ने बुद्धघोष से यह प्रार्थना की थी कि जब से अपनी अट्ठकथाएँ समाप्त

---

१. "आवुसो बुद्धघोस अहं तया पुब्बे लंका दीपे भगवतो सासनं कातुं आगतोम्हीं' ति वत्त्वा अहं अप्पायुको त्वं येव साध करोही"ति। बुद्धघोसुप्पत्ति, पृष्ठ ६० (जेम्स ग्रे का संस्करण), यही वर्णन संक्षिप्त रूप से 'सासनवंस' में भी है, देखिये पृष्ठ २७-२८ (देवनागरी संस्करण); मिलाइये सद्धम्मसंगहो', पृष्ठ ३१ (देवनागरी संस्करण) भी।

२. "एवं तेसं द्विन्नं थेरानं अञ्जमञ्जं सल्लपन्तानं येव द्वे नावा सयं एव अपनेत्वा गच्छिसु।" बुद्धघोसुप्पत्ति एवं सासनवंस, ऊपर उद्धृत के समान।

३. मिलाइये, भदन्ताचरिय बुद्धदत्त के ग्रन्थों के सम्पादक उसी नाम के आधुनिक सिंहली भिक्षु ए० पी० बुद्धदत्त महाथेर का यह कथन "अयं पन बुद्धदत्ताचारियो बुद्धघोसाचरियेन समानवस्सिको वा थोकं वुड्ढतरो वा, ति सल्लक्खेम"। ("आचार्य बुद्धदत्त बुद्धघोष के समवयस्क या उनसे कुछ थोड़े ही बड़े थे, ऐसा हम समझते हैं)।

कर लें तो उनकी प्रतियाँ उनके पास भी भेज दें, ताकि वे उन्हें संक्षिप्त रूप प्रदान कर सकें। आचार्य बुद्धघोष ने उनकी इस प्रार्थना के अनुसार बाद में अपनी अट्ठकथाएँ उनके पास भेज दीं। आचार्य बुद्धदत्त ने आचार्य बुद्धघोष-कृत अभिधम्म-पिटक की अट्ठकथाओं का संक्षेप 'अभिधम्मावतार' में और विनय-सम्बन्धी अट्ठकथा का संक्षेप 'विनय-विनिच्छय' में किया। इस सूचना में सन्देह करने की कोई आवश्यकता ही नहीं क्योंकि यह स्वयं बुद्धदत्त द्वारा दी गई है। हाँ, 'बुद्धघोसुप्पत्ति' के वर्णन के साथ उसका कुछ विरोध अवश्य है, क्योंकि लंका से लौटने के समय ही वे 'अल्पायु' तक जीने की आशा रखते थे, फिर इतने काल तक बुद्धघोष की अट्ठकथाओं के संक्षेप लिखने के लिये किस प्रकार जीवित रहे? फिर भी इसमें कुछ वैसा विरोध नहीं है, जिस पर विश्वास ही न किया जा सके। हर हालत में 'बुद्धघोसुप्पत्ति' के वर्णन की अपेक्षा 'विनय-विनिच्छय' का वर्णन ही अधिक प्रामाणिक है, और यदि दोनों स्थविरों को हम प्रायः समवयस्क मान सके, तब तो उनमें कुछ ऐसा अन्तर भी नहीं है। आचार्य बुद्धदत्त चोल-राज्य में उरगपुर (वर्तमान उरइपुर) के निवासी थे। आचार्य बुद्धघोष के समान उन्होंने भी लंका के अनुराधपुर-स्थित महाविहार में जाकर भगवान् (बुद्ध) के शासन-सम्बन्धी उच्च शिक्षा प्राप्त की थी। लंका से लौट कर उन्होंने अपने ग्रन्थों की रचन कावेरी नदी के तट पर दक्षिण के कृष्णदास (कण्हदास) या विष्णुदास (वेण्हुदास) नामक वैष्णव द्वारा निर्मित विहार में बैठ कर की,[1] जो वैष्णवों और बौद्धों के मधुर सम्बन्ध के रूप में पालि साहित्य में सदा स्मृत रहेगी।

बुद्धदत्त द्वारा रचित ग्रन्थ या अट्ठकथाएँ इस प्रकार हैं (१) विनयविनिच्छय, (२) उत्तरविनिच्छय, (३) अभिधम्मावतार, (४) रूपारूपविभाग और (५) मधुरत्थविलासिनी (बुद्धवंस की अट्ठकथा)। 'उत्तरविनिच्छय' (उत्तर विनिश्चय) और 'विनय-विनिच्छय' दोनों बुद्धघोष-कृत 'समन्तपासादिका' (विनयपिटक की अट्ठकथा) के पद्यबद्ध संक्षेप हैं। वस्तुतः 'विनय-विनिच्छय' का परिशिष्ट ही 'उत्तर-विनिच्छय' है। विनय-विनिच्छय में ३१ और उत्तरविनिच्छय में २३ अध्याय हैं। उत्तर-विनिच्छय के २३ अध्यायों में ९६९ गाथाएँ हैं। विनय-पिटक की विषय-सूची का अनुसरण करते हुए इसमें भी पहले महा-विभंग या भिक्खु-विभंग सम्बन्धी नियमों का विवरण है, यथा पाराजिक-कथा,

---

१. 'अभिधम्मावतार' में उन्होंने स्वयं कहा है "विनय-विनिच्छयो··चोलरट्ठे भूतमंगलगामे वेण्हुदासस्स आरामे वसन्तेन···कावेरीपट्टने रम्मे नानारामो-पसोभिते कारिते कण्हदासेन दस्सनीये मनोरमे।"

पटिक्षेसनिय-कथा, सेखिय-कथा आदि। इसके बाद भिक्खुनी-विभंग के विषय हैं, यथा पाराजिक-कथा, संघादिसेस-कथा, निस्सग्गिय-कथा, अधिकरण-पच्चय-कथा, खन्धक-पुच्छा, आपत्ति-समुट्ठान-कथा आदि। 'उत्तर-विनिच्छय' सिहल के 'उत्तर विहार' की परम्परा के आधार पर लिखी गयी अट्ठकथा है, यह पहले कहा जा चुका है। विनय-विनिच्छय के ३१ अध्यायों में कुल मिलाकर ३१८३ गाथाएँ हैं। इसकी भी विषयवस्तु उत्तर-विनिच्छय से ही मिलती-जुलती है। केवल व्याख्या में कहीं कुछ अन्तर है। पहले महाविभंग (भिक्खु-विभंग) के अन्तर्गत पाराजिक-कथा, संघादिसेस-कथा, अनियत-कथा, निस्सग्गिय-पाचित्तिय-कथा, पटिदेसनिय-कथा तथा सेखिय-कथा का विवरण है। इसी प्रकार भिक्खुनी-विभंग के अन्तर्गत पाराजिक-कथा, संघादिसेस-कथा, निस्सग्गिय-पाचित्तिय-कथा और पटिदेस-निय-कथा के विवेचन हैं।[1] फिर खन्धक-कथा, कम्म-कथा, पकिण्णक-कथा, कम्मट्ठान-कथा आदि के विवेचन हैं। इस प्रकार उत्तर-विनिच्छय[2] और विनय-विनिच्छय[3] दोनोंही अट्ठकथाएँ विनय-पिटक की विषयवस्तु का 'समन्तपासादिका' के आधार पर पद्य में विवेचन करती हैं। इन पर क्रमशः 'उत्तर-लीनत्थ-दीपनी' और 'विनय-सारत्थ-दीपनी' नामक टीकाएँ भी बाद में चलकर वाचिस्सर (सारिपुत्त के शिष्य) के द्वारा लिखी गईं, जिनका उल्लेख हम आगे चलकर टीका-साहित्य के विवेचन में करेंगे। 'अभिधम्मावतार' गद्य-पद्य मिश्रित रचना है। मूल रचना पद्य में ही है और जहाँ-तहाँ गद्य में लेखक ने उसकी व्याख्या की है। बुद्धघोष की अभिधम्म-सम्बन्धी अट्ठकथाओं के आधार पर इसका प्रणयन हुआ है। किन्तु बुद्धघोष का अन्धानुसरण लेखक ने नहीं किया है। बुद्धघोष ने रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान के रूप में धर्मों (पदार्थों) का विवेचन किया है, जबकि बुद्धदत्त ने 'अभिधम्मावतार' में चित्त, चेतसिक, रूप और निर्वाण, इस चार प्रकार के वर्गीकरण को लिया है। श्रीमती रायस डेविड्स ने बुद्धदत्त के वर्गी-करण को अधिक उत्तम माना है।[4] वस्तुतः 'अभिधम्मावतार' की शैली बुद्धघोष की

---

१. इन विभिन्न शब्दों के अर्थ के लिए देखिए, पीछे विनय-पिटक का विवेचन (चौथे अध्याय में)।

२. ३. इन दोनों का रोमन लिपि में सम्पादन ए० पी० बुद्धदत्त महाथेर ने किया है, जिसे पालि टैक्स्ट सोसायटी ने प्रकाशित किया है। इन ग्रन्थों के सिंहली, बरमी और स्यामी संस्करण भी उपलब्ध हैं, जो क्रमशः कोलम्बो, रंगून और बैंकाक से प्रकाशित हुए हैं।

४. बुद्धिस्ट साइकोलोजी, पृष्ठ १७४।

अभिधम्म-सम्बन्धी अट्ठकथाओं और 'विसुद्धिमग्ग' की अपेक्षा अधिक प्रसाद-गुणपूर्ण है और उसकी पद-रचना भी अपेक्षाकृत सरल है। 'अभिधम्मावतार'[1] के समान 'रूपारूप-विभाग'[2] भी अभिधम्म-सम्बन्धी रचना है। इसका भी विषय रूप, अरूप, चित्त, चेतसिक आदि का विवेचन करना है। 'मधुरत्थविलासिनी'[3] ('मधुरत्थपकासिनी' भी) 'बुद्धवंस' की अट्ठकथा है जिसका साहित्यिक दृष्टि से अधिक महत्त्व नहीं है, परन्तु अन्य कई दृष्टियों से यह महत्त्वपूर्ण है। उदाहरणतः बुद्धदत्त महाथेर ने 'मधुरत्थविलासिनी' की निदानवण्णना में 'बुद्धवंस' सम्बन्धी कई महत्त्वपूर्ण प्रश्न किये हैं और उनके उत्तर दिये हैं। सबसे पहले उन्होंने प्रश्न उठाया है कि 'बुद्धवंस' का उपदेश किसने दिया है? ('अयं बुद्धवंसोज कव देसितो'?) फिर प्रश्न किया है कि कहाँ यह उपदेश दिया गया ('कुत्थ देसितो? कब दिया गया ('कदा देसितो') और किस अर्थ के लिए दिया गया ('किं अत्थाय देसितो'? इनके उत्तरस्वरूप उन्होंने कहा है कि बुद्धवंस का उपदेश धर्मराज, धर्मस्वामी तथागत, सर्वज्ञ, सम्यक् सम्बुद्ध के द्वारा दिया गया ('धम्मराजेन धम्मसामिना तथागतेन सब्बञ्ञुना सम्मा सम्बुद्धेन 'देसितो' और यह उनका ही वचन है ('सम्मा सम्बुद्धस्सेस वचनं') और इसका उपदेश कपिलवस्तु महानगर में न्यग्रोधाराम विहार में ('कपिलवत्थु महानगरे निग्रोधारामविहारे) ८२००० सम्बन्धियों के लिये दिया गया ('द्वासीतिया ञातिसहस्सानं अत्थाय देसितो')। यह प्रश्न भी बुद्धदत्त महाथेर ने यहाँ किया है कि यह उपदेश किसके द्वारा लाया गया है, 'केन आभतो; और इसके उत्तर में उन्होंने कहा है कि आचार्यों की परम्परा के द्वारा यह लाया गया है, "आचरियपरम्पराय आभतो।" यहीं 'निदानवण्णना' में ही अट्ठकथाकार ने भगवान् के वर्षावासों का क्रमिक वर्णन किया है जो अतिशय महत्त्व का है और इसलिए उसका उद्धरण करना आवश्यक है। वह इस प्रकार है, "भगवापठमवस्सं इसिपतने धम्मचक्कं पवत्तेत्वा. . .वाराणसिं उपनिस्साय इसिपतने मिग-

---

१. २. इनका भी रोमन लिपि में सम्पादन ए० पी० बुद्धदत्त महाथेर ने किया है, जिसे पालि टैक्स्ट सोसायटी ने प्रकाशित किया है।

३. 'मधुरत्थविलासिनी नाम बुद्धवंसट्ठकथा सिंहली लिपि में यगिरलपञ्ञानन्द नायक थेर द्वारा साइमन हेवावितरणे दातव्य निधि ग्रन्थ-माला में सम्पादित, कोलम्बो १९२२ ई० (बुद्धाब्द २४६५)। रोमन लिपि में आई० बी० हार्नर द्वारा सम्पादित, पालि टैक्सट् सोसायटी, लन्दन १९४६ ई०। अभी हाल में डॉ० पारसपति नाथ सिंह द्वारा देवनागरी लिपि में सम्पादित, नव नालन्दा महाविहार, १९७६ ई०।

दाये वसि। दुतियवस्सं राजगहं उपनिस्साय वेठुवनमहाविहारे। ततियं चतुत्थं पि तत्थेव। पञ्चमं वेसालिं उपनिस्साय महावने कूटागारसालायं। छट्ठमं मंकुलपब्बते। सत्तमं तावतिंसभवने। अट्ठमं भग्गे सुंसुमारगिरिं उपनिस्साय भेसकलावने। नवमं कोसम्बियं। दसमं पारिलेय्यकवनसण्डे, एकादसमं नालाय ब्राह्मणगामे। द्वादसमं वेरञ्जायं। तेरसमं चालियपब्बते। चुद्दसमं जेतवन-महाविहारे। पञ्चदसमं कपिलवत्थुमहानगरे। सोलसमं आलवकं दमेत्वा... आलवियं। सत्तरसमं राजगहे येव। अट्ठारसमं चालियपब्बते व। तथा एकून-वीसतिमं। वीसतिमं पन वस्सं राजगहे येव वसि। तेन वुत्तं भगवा हि पढमबोधियं वीसति वस्सानि अनिबद्धवासो हुत्वा यत्थ-यत्थ फासुकं होति तत्थ तत्थेव गन्त्वा वसी' ति। ततो पट्ठाय पन सावत्थिं येव उपनिस्साय जेतवनमहाविहारे च पुब्बारामे च धुवपरिभोगवसेन वसी" ति।[1] हम आगे बुद्धघोषाचार्य की अट्ठ-कथाओं के विवरण-प्रसंग में देखेंगे कि भगवान् के वर्षावासों के इसी क्रमिक वर्णन को कुछ अल्प शाब्दिक परिवर्तनों के सहित बुद्धघोष ने अङ्गुत्तर-निकाय की अट्ठकथा ('मनोरथपूरणी' की दुकनिपातवण्णना में ग्रहण किया है। 'मधु-रत्थविलासिनी' की 'गोतमसम्बुद्धवण्णना' में जन्म से लेकर बोधि-प्राप्ति तक की संक्षिप्त बुद्ध-जीवनी है जो प्रायः जातकट्ठकथा की निदान कथा के समान ही है। 'बुद्धवेमत्तवण्णना' में सब बुद्धों की कुल तीस प्रकार की धर्मता 'सब्बेस येव बुद्धानं समतिंसविधा धम्मता') का वर्णन किया गया है। इस प्रकार निदान-वण्णना, गोतम सम्बुद्ध वण्णना और बुद्धवेमत्तवण्णना, ये तीन 'मधुरत्थविलासिनी' के महत्त्वपूर्ण भाग हैं। यह लक्षणीय है कि कुछ बातों में 'मधुरत्थविलासिनी' का अनुसरण आचार्य बुद्धघोष ने अपनी अट्ठकथाओं में किया है, कुछ का नहीं। बुद्ध के वर्षावासों के वर्णन के बारे में हम ऊपर कह ही चुके हैं कि उसका बुद्धघोषाचार्य ने पूरी तरह अनुसरण किया है। 'मधुरत्थविलासिनी' की निदान-वण्णना में 'तथागत' शब्द की नैरुक्तिक ढंग से व्याख्या की गई है और उन आठ कारणों का उल्लेख किया गया है जिनके कारण भगवान् बुद्ध 'तथागत' कहलाते हैं। इसका अनुसरण बुद्धघोषाचार्य ने 'सुमंगलविलासिनी' की ब्रह्मजालसुत्तवण्णना में किया है। इसी प्रकार "ब्रह्मं अणती'ति ब्राह्मणो" के रूप में 'ब्राह्मण' शब्द का जो नैरुक्तिक ढंग से अर्थ-निर्वचन 'मधुरत्थविलासिनी' की निदानवण्णना में किया गया है, उसी का अनुसरण आचार्य बुद्धघोष ने 'समन्तपासादिका' की वेरञ्जकण्ड-

---

१. 'मधुरत्थविलासिनी' (बुद्धवंसट्ठकथा) पृष्ठ ३ (यगिरल पञ्आनन्द नायक थेर द्वारा सिंहली लिपि में सम्पादित संस्करण)

वण्णना में किया है। 'मधुरत्थविलासिनी' की निदानवण्णना में 'सहम्पति' शब्द की व्याख्या करते हुए महत्त्वपूर्ण शब्द-चिन्तन के साथ कहा गया है, "सहकपती'ति वत्तब्बे अनुस्सारागमं कत्वा रूळ्हिवसेन सहम्पती' ति वदन्ति।" बुद्धघोषाचार्य ने "पपञ्चसूदनी' (पासरासिसुत्तवण्णना) में सहम्पति ब्रह्मा के प्रसंग को लेकर उसके एक पूर्वजन्म की कथा तो कही है, परन्तु बुद्धदत्त महाथेर के समान शब्द-चिन्तन नहीं किया। 'ब्रह्मा', 'अज्झायक' आदि शब्दों के महत्त्वपूर्ण अर्थ-निर्वचन 'मधुरत्थविलासिनी' में किये गये हैं। जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, भदन्ताचार्य बुद्धदत्त महाथेर ने 'मधुरत्थविलासिनी' की 'बुद्धवेमत्तवण्णना' में सब बुद्धों की कुल तीस प्रकार की धर्मता का वर्णन किया है और आश्चर्यजनक रूप से उन्होंने 'परिनिर्वाण के दिन मांस-रस का भोजन" ("परिनिब्बानदिवसे मंसरसभोजनं") को सब बुद्धों की एक असाधारण धर्मता माना है। आचार्य बुद्धघोष ने तो उनकी इस बात को कहीं माना ही नहीं, कहीं पालि या उसकी किसी अट्ठकथा में भी इस 'धर्मता' का निर्देश नहीं है। वास्तव में बुद्धदत्त और बुद्धघोष दोनों की अट्ठकथाएँ महाविहार की परम्परा पर आधारित हैं, अतः अनेक तथ्यों में उनकी एकरूपता स्वयंसिद्ध है। भगवान् के वर्षावासों का वर्णन ऐसा ही है। 'तथागत' शब्द की व्याख्या जो दोनों ने की है, वह स्वतः 'इतिवुत्तक' पालि पर आधारित है। अतः इस प्रकार उनकी समानताएँ समझी जा सकती हैं। कुछ भी हो; 'मधुरत्थविलासिनी' के साथ बुद्धघोष की अट्ठकथाओं की विशेषताओं को देखकर कुछ विद्वानों ने इस बारे में सन्देह प्रकट किया है कि क्या वास्तव में 'मधुरत्थविलासिनी' उन्हीं भदन्ताचार्य महास्थविर की रचना है, जो बुद्धघोष के समकालिक या कुछ पूर्व-कालिक थे। परन्तु सिंहली परम्परा दृढ़तम रूप से 'मधुरत्थविलासिनी' को उन्हीं बुद्धदत्त महाथेर की रचना मानती है, जो उनके प्रायः समकालिक या कुछ पूर्वकाल के हैं। तेरहवीं शताब्दी की सिंहली रचना 'पूजावलिय' (पूजावली) में बुद्ध-वंसट्ठकथा को बुद्धदत्त महाथेर की ही रचना माना गया है।

बुद्धघोष की जीवनी

अब हम पालि-साहित्य के युग-विधायक आचार्य बुद्धघोष पर आते हैं। 'बुद्ध-घोष' अनुपिटक साहित्य का सबसे बड़ा नाम है। आचार्य बुद्धघोष ने बुद्ध-शासन की सेवा और उसकी चिरस्थिति के लिए जितना अधिक काम किया है, उतना शायद ही अन्य किसी व्यक्ति ने किया हो। पालि-साहित्य को जो कुछ उन्होंने

---

१. देखिये, मललसेकर : दि पालि लिटरेचर ऑव सिलोन, पृष्ठ १०९।

दिया है, वह आकार और महत्त्व दोनों में ही इतना महान् है कि यह समझना कठिन हो जाता है कि एक जीवन में इतना काम कैसे कर लिया गया। इन महापुरुष की जीवनी की पावन अनुस्मृति पहले हम करें। आचार्य बुद्धघोष ने अन्य अनेक भारतीय मनीषियों की तरह अपने जीवन के विषय में हमें अधिक नहीं बताया है। केवल अपनी अट्ठकथाओं के आदि और अन्त में उन्होंने कुछ सूचनाएँ दी हैं, जो उनकी रचना आदि पर ही कुछ प्रकाश डालती हैं अथवा जिनकी प्रेरणा पर, और जिस उद्देश्य से वे लिखी गईं, उनके विषय में वे कुछ संक्षेप से कहती हैं, किन्तु मनुष्य रूप में बुद्धघोष के विषय में हमें उनसे कुछ सामग्री नहीं मिलती। यह पक्ष सम्भवतः बुद्धघोष के लिए इतना अ-महत्त्वपूर्ण था कि उसे उन्होंने अपने महत् उद्देश्य में ही खो दिया है। उपनिषदों के ऋषियों ने भी ऐसा ही किया है और भारतीय मनीषियों की यह एक निश्चित परम्परागत प्रणाली ही रही है कि अपने साधारण व्यक्तिगत जीवन के विषय में उन्होंने कुछ कहना उचित नहीं समझा है। उनकी यह निर्वैयक्तिकता उनके सन्देश को निश्चय ही अधिक बल प्रदान करती है, इसमें सन्देह नहीं, किन्तु मनुष्य होने के नाते हम उनके मानव-रूप को भी जानना चाहते ही हैं। और उससे इस अवस्था में जानने का अवकाश नहीं रह जाता। बुद्धघोष की जीवनी को जानने के लिये उनकी अट्ठकथाओं में दी गयी थोड़ी-बहुत सामग्री के अतिरिक्त प्रधान साधन हैं—(१) 'चूलवंस'[1] के सैंतीसवें परिच्छेद की २१५-२४६ गाथाएँ, (२) बुद्धघोसुप्पत्ति या महाबुद्धघोसस्स निदानवत्थु, (३) गन्धवंस, (४) सासनवंस और (५) सद्धम्मसंगह। 'महावंस' का उपर्युक्त परिवर्द्धित अंश, जिसमें बुद्धघोष की जीवनी वर्णित है, धम्मकित्ति (धर्मकीर्ति) नामक भिक्षु की रचना है, जिनका काल तेरहवीं शताब्दी का मध्य-भाग है। चूँकि बुद्धघोष का जीवन-काल चौथी-पाँचवीं शताब्दी ईसवी है, अतः उनके आठ सौ नौ-सौ वर्ष बाद लिखी गई उनकी जीवनी सर्वांश में प्रामाणिक नहीं मानी जा सकती, यह तो निश्चित ही है। फिर भी सबसे अधिक प्रामाणिक वर्णन जो बुद्धघोष की जीवनी का मिलता है, वह यही है। 'गन्धवंस' और 'सासनवंस' तो ठीक उन्नीसवीं शताब्दी की रचनाएँ हैं, अतः उनका इस सम्बन्ध में प्रामाण्य नहीं माना जा सकता। फिर बुद्धघोष की जो कथा 'सासनवंस' के द्वितीय परिच्छेद में दी गई है, वह प्रायः 'बुद्धघोसुप्पत्ति' और 'चूलवंस' से उद्धरण के रूप में ही है। अतः मौलिक

---

१. अर्थात् 'महावंस' का परिवर्द्धित अंश। ३७।५० तक महावंस है। उसके बाद का परिवर्द्धित अंश 'चूलवंस' के नाम से प्रसिद्ध है। देखिये आगे नवें अध्याय में वंस-साहित्य का विवेचन।

रूप में उसका कुछ महत्त्व नहीं है। 'वुद्धघोसुप्पत्ति' महामंगल या मंगल नामक सिंहली भिक्षु की चौदहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग की रचना है, जो महावंस के उपर्युक्त अंश के बाद, किन्तु गन्धवंस और सासनवंस से पहले, लंका में लिखी गयी। इस रचना में इतनी अतिशयोक्तियाँ भरी पड़ी हैं कि इसके भी प्रामाण्य को सर्वांश में नहीं माना जा सकता। धम्मकित्ति महासामी-रचित 'सद्धम्मसंगह' (चौदहवीं शताब्दी) के सातवें परिच्छेद में बुद्धघोष की जीवनी दी हुई है, जो न केवल पूरी तरह 'चूलवंस' पर आधारित है, बल्कि उसकी अनेक गाथाओं को यहाँ "तिनाहु पोराणा" कह-कह कर बीच-बीच में उद्धृत भी किया गया है। केवल 'चूलवंस' के उपर्युक्त अंश का वर्णन ही प्रायः इस सम्बन्ध में अधिक प्रामाणिक माना जाता है। उसके अनुसार बुद्धघोष की जीवनी की रूपरेखा यह है—आचार्य बुद्धघोष का जन्म बुद्धगया में बोधिवृक्ष के पास हुआ। बाल्यावस्था में ही शिल्प और तीनों वेदों में पारंगत होकर वह ब्राह्मण-विद्यार्थी वाद-विवाद के लिये भारत-वर्ष भर में घूमने लगा। ज्ञान की बड़ी उत्कट जिज्ञासा थी। योगाभ्यास में भी बड़ी रुचि थी। एक दिन रात में किसी विहार में पहुँचा। वहाँ पातंजल मत (पातञ्जलीमतं) पर बड़ा अच्छा प्रवचन दिया। किन्तु रेवत नामक बौद्ध स्थविर ने उन्हें वाद में पराजित कर दिया। इन बौद्ध भिक्षु के मुख से बुद्ध-शासन का वर्णन सुनकर बुद्धघोष को विश्वास हो गया 'निश्चय ही (मोक्ष का) यही एक-मात्र मार्ग है' ('एकायनो अयं मग्गो') और उन्होंने प्रव्रज्या ले ली। प्रव्रजित होकर उन्होंन पिटक-त्रय का अध्ययन किया। वास्तव में भिक्षु होने से पहले बुद्ध-घोष एक ब्राह्मण विद्यार्थी (ब्राह्मणमाणवो) मात्र थे। बाद में भिक्षु-संघ ने उनके घोष को बुद्ध के समान गम्भीर जानकर उन्हें 'बुद्धघोष' की पदवी दे दी।[1] जिस विहार में उनकी प्रव्रज्या हुई थी, वहीं उन्होंने 'ञाणोदय' (ज्ञानोदय) नामक ग्रन्थ की रचना की। इसके बाद यहीं उन्होंने 'धम्मसंगणि' पर 'अट्ठसालिनी' नाम की अट्ठकथा भी लिखी और अन्त में तिपिटक पर 'परित्तट्ठकथा' नाम से एक संक्षिप्त अट्ठकथा (या 'परित्त' की अट्ठकथा, जैसा गायगर समझते हैं) लिखने का उपक्रम किया, जिसे देखकर उनके गुरु महास्थविर रेवत ने उनसे कहा "(लंका

---

१. बुद्धस्स विय गम्भीरघोसत्ता नं व्याकरुं।
बुद्धघोसो ति घोसो हि बुद्धो विय महीतले॥ चूलवंस ३७।२२४;
सद्धम्मसंगहो पृष्ठ ३१ (देवनागरी संस्करण) में उद्धृत।

२. तत्थ ञाणोदयं नाम कत्वा पकरणं तदा।
धम्मसंगणियाकासि कण्डं सो अट्ठसालिनिं॥

से) यहाँ (भारत में) केवल मूल पालि-तिपिटक ही लाया गया है। अट्ठकथाएँ यहाँ नहीं हैं। उसी प्रकार विभिन्न आचार्यों की परम्पराएँ भी यहाँ उपलब्ध नहीं हैं। हाँ, लंका द्वीप में महास्थविर महेन्द्र द्वारा संगृहीत सिंहली भाषा में प्रामाणिक अट्ठकथाएँ सुरक्षित हैं। तुम वहाँ जाकर उनका मागधी भाषा में रूपान्तर करो, ताकि वे सब के लिए हितकारी हों।" इस प्रकार अपने गुरु से आज्ञा पाकर आचार्य बुद्धघोष लंकाधिपति महानाम के शासन-काल में लंका गये। अनुराधपुर के महाविहार के महापधान नामक भवन में रहकर उन्होंने संघपाल नामक स्थविर से सिंहली अट्ठकथाओं और स्थविरवाद की परम्परा को सुना। बुद्धघोष को निश्चय हो गया कि धर्म-स्वामी (बुद्ध) का यही ठीक अभिप्राय है।[1] तब उन्होंने महाविहार के भिक्षु-संघ से सादर प्रार्थना की, "मैं अट्ठकथाओं का (मागधी) रूपान्तर करना चाहता हूँ। मुझे अपनी सब पुस्तकों को देखने की अनुमति दें।"[1] इस पर भिक्षुओं ने उन्हें दो गाथाएँ परीक्षा-स्वरूप व्याख्या करने के लिये दीं। बुद्धघोष ने उनकी व्याख्यास्वरूप 'विसुद्धिमग्ग' की रचना की। 'विसुद्धिमग्ग' की विद्वत्ता को देख कर भिक्षुओं को इतनी प्रसन्नता हुई कि उन्होंने

परित्तट्ठकथं चेव कातुं आरभि बुद्धिमा।
तं दिस्वा रेवतो थेरो इदं वचनमब्रवि॥ चूलवंस ३७।२२५-२२६; 'सद्धम्मसंगहो', पृष्ठ ३२ (देवनागरी संस्करण) में उद्धृत।

१. पालिमत्तं इधानीतं नत्थि अट्ठकथा इध।
तथाचरियवादा च भिन्नरूपा न विज्जरे॥
सीहलट्ठकथा सुद्धा महिन्देन मतीमता।
..............................॥
कता सीहलभासाय सीहलेसु पवत्तति।
तं तत्थ गन्त्वा त्वं मागधानं निरुत्तिया।
परिवत्तेहि सा होति सब्बलोकहितावहा॥ चूलवंस ३७।२२७-२३०; 'सद्धम्मसंगहो' में उपर्युक्त रूप से उद्धृत।

२. महापधानघरं गन्त्वा संघपालस्स सन्तिका।
सीहलट्ठकथं सुत्वा थेरवादञ्च सब्बसो॥
धम्मसामिस्स एसो व अधिप्पायो ति निच्छिय।
चूलवंस ३७।२३२-२३३; 'सद्धम्मसंगहो' में उपर्युक्त रूप से उद्धृत।

३. तत्थ संघं समानेत्वा कातुं अट्ठकथं मम पोत्थके देथ सब्बे ति आह।
चूलवंस ३७।२३४; 'सद्धम्मसंगहो' में उपर्युक्त रूप से उद्धृत।

बुद्धघोष को साक्षात् भगवान् मैत्रेय बुद्ध (भावी बुद्ध) ही मान लिया और उन्हें अपनी सब पुस्तकें देखने की अनुमति दे दी।[1] अनुराधपुर में महाविहार से लगे 'ग्रन्थाकर' (ग्रन्थाकर) परिवेंण में बैठकर बुद्धघोष ने सिंहली अट्ठकथाओं के मागधी रूपांतर करने सम्बन्धी अपने कार्य को पूर्ण किया।[2] इसके बाद वे अपनी जन्मभूमि भारत लौट आये और यहाँ आकर बोधिवृक्ष की पूजा की।[3] इस वर्णन से एक बड़े महत्त्व की बात यह निश्चित हो जाती है कि बुद्धघोष महास्थविर लंका के राजा महानाम के समय में लंका में गये। यह राजा महानाम चौथी शताब्दी के अन्तिम और पाँचवीं शताब्दी के आदि भाग में लंका में शासन करता था। अतः निश्चित है कि बुद्धघोष का जीवन-कार्य इसी समय किया गया। बुद्धघोष ने किसी भी ऐसे ग्रन्थ आदि का उद्धरण नहीं दिया है, जो उस काल के बाद का हो। बरमी परम्परा भी यही मानती है कि आचार्य बुद्धघोष ने पाँचवीं शताब्दी के प्रारंभिक भाग में लंका द्वीप में गमन किया। चूँकि उस समय उनकी अवस्था कम-से-कम तरुण तो रही ही होगी, अतः उनका जीवन-काल चौथी-पाँचवीं शताब्दी कहा जा सकता है। हाँ, 'महावंस' के उपर्युक्त परिवर्द्धित अंश में आचार्य बुद्धघोष का जन्मस्थान बुद्धगया के समीप बतलाया गया है।[4] आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी का कहना है कि बुद्धघोष महास्थविर संभवतः उत्तर भारत के नहीं हो सकते थे। उनकी किसी भी कथा की पृष्ठभूमि उत्तर भारत में नहीं रखी गयी है। इसके अतिरिक्त विसुद्धिमग्ग १।८६ (धर्मानन्द कोसम्बी का संस्करण) में 'वन-दाह' की उनके द्वारा व्याख्या

---

१. निस्संसयं स मेत्तेयो'ति वत्वा पुनप्पुनं।
....
सद्धिं अट्ठकथायादा पोत्थके पिटकत्तये॥ चूलवंस ३७।२४२-२४३; मिलाइये "अथ खो भिक्खुसंघो पिटकत्तयपालिपोत्थके सीहलट्ठकथापोत्थकेहि सद्धिं अदासि।" सद्धम्मसङ्गहो, पृष्ठ ३३ (देवनागरी संस्करण)।

२. गन्थाकरे वसन्तो सो विहारे दूरसंकरे।
परिवत्तेसि सब्बा पि सीहलट्ठकथा तदा॥
सब्बेसं मूलभासाय मागधाय निरुत्तिया चूलवंस ३७।२४४-२४५

३. अथ कत्तब्बकिच्चेसु गतेसु परिनिट्ठितं।
वन्दितुं सो महाबोधिं जम्बुदीपं उपागमि॥ चूलवंस ३७।२४६

४. बोधिमण्डसमीपम्हि जातो ब्राह्मणमाणवो।
चूलवंस ३७।२१५; सद्धम्मसङ्गहो में उद्धृत, पृष्ठ ३० (देवनागरी संस्करण)।

तथा मज्झिम-निकाय के गोपालक-सुत्त की व्याख्या में उनके द्वारा किया हुआ गंगा का विवरण, सब यही दिखलाते कि जिस वन-दाह का उन्होंने वर्णन किया है वह भी दक्षिण की वस्तु है और जिस गंगा का उन्होंने वर्णन किया है, वह उत्तर भारत की गंगा न होकर श्रीलंका की महावल्ली गंगा है। इस प्रकार आन्तरिक साक्ष्य के आधार पर आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी ने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि आचार्य बुद्धघोष उत्तरी भारत की भौगोलिक परिस्थिति से परिचित नहीं थे, अतः वे वहाँ के निवासी नहीं हो सकते। आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी ने उस बरमी परम्परा को प्रामाणिक माना है जो बुद्धघोष को दक्षिण भारत का ब्राह्मण मानने की पक्षपातिनी है। 'विसुद्धिमग्ग' के निगमन (उपसंहार) में अपना परिचय देते हुए आचार्य बुद्धघोष ने अत्यन्त निर्वैयक्तिकतापूर्वक कहा है **"बुद्धघोसो'ति गरूहि गहितनामधेय्येन थेरेन मोरण्ड-खेटक-वत्तब्बेन कतो विसुद्धि-मग्गो नाम"** (बड़ों के द्वारा 'बुद्धघोष' नाम दिये हुए, **मोरंड-खेटक** के निवासी, **स्थविर (बुद्धघोष) ने इस विशुद्धि-मार्ग को लिखा)**। इसके आधार पर आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी ने यह मत प्रकट किया है कि आचार्य बुद्धघोष दक्षिण भारत के **मोरण्डखेटक (मोरंड नामक खेटक, खेड़ा) नामक छोटे गाँव के निवासी थे।** आचार्य बुद्धघोष कुछ दिन, जैसा उन्होंने अपनी मज्झिम-निकाय की अट्ठकथा ('पपञ्च-सूदनी') में कहा है, **मयूरसुत्तपट्टन या मयूररूपपट्टन** (सिंहली पाठ) में भी रहे थे और वहीं बुद्धमित्र नामक स्थविर के साथ रहते हुए उनकी प्रार्थना पर इस अट्ठकथा को लिखा था।[1] आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी की धारणा है कि यह मयूरसुत्तपट्टन या मयूररूपपट्टन कहीं तेलुगु प्रदेश में था। इसी प्रकार आचार्य बुद्धघोष कांचीपुर आदि दक्षिण के नगरों में भी रहे थे, जैसा उनके अंगुत्तर-निकाय की अट्ठकथा ('मनोरथपूरणी') के अन्त में इस वाक्य से प्रकट होता है—

"स्थविर ज्योतिपाल के साथ काञ्चीपुर तथा अन्य स्थानों में रहते हुए मैंने उनकी प्रार्थना पर अंगुत्तर-महानिकाय की इस अट्ठकथा को लिखना आरम्भ किया।"[2] इस प्रकार बुद्धघोष ने चूँकि अपने जीवन का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण

---

१. आयाचितो सुमतिना थेरेन भदन्तबुद्धमित्तेन।
पुब्बे मयूररूपपट्टनम्हि सद्धिं वसन्तेन॥
यमहं पपञ्चसूदनिमट्ठकथं कातुरमारद्धो॥

२. आयाचितो सुमतिना थेरेन भदन्त-जोतिपाल।
कञ्चीपुरादिसु मया पुब्बे सद्धिं वसन्तेन॥
अट्ठकथं अंगुत्तरमहानिकायस्स कातुमारद्धो॥

कार्य दक्षिण के इन नगरों में ही किया, अतः वे दक्षिण के ही निवासी थे, ऐसा निष्कर्ष आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी ने उनकी अट्ठकथाओं के साक्ष्य पर निकाला है,[१] जो उस हद तक ठीक कहा जा सकता है। फिर भी उनका जन्म-स्थान भी दक्षिण-प्रान्त था, यह उपर्युक्त विवरणों से प्रमाणित नहीं हो जाता। अधिक से अधिक हम यही कह सकते हैं कि उनका जीवन-कार्य अधिकतर दक्षिण-भारत में किया गया। 'महावंस' के ऊपर उद्धृत अंश और 'बुद्धघोषसुप्पत्ति' आदि में भी बुद्धघोषाचार्य को ब्राह्मण कहा गया है और उन्हें तीनों वेद, नाना शिल्पों तथा पातंजल योग आदि मतों का पारंगत बताया गया है।[२] आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी ने उनके ब्राह्मण होने में भी सन्देह किया है और इसी प्रकार उनके वेद तथा पातंजल मत आदि शास्त्रों में पारंगत होने में भी सन्देह प्रकट किया है। बुद्धघोष के ब्राह्मण न होने के विषय में आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी ने यह तर्क दिया है कि बुद्धघोष को वेद के पुरुष-सूक्त जैसे महत्त्वपूर्ण अंश से भी जानकारी नहीं थी, क्योंकि इस सूक्त की एक ऋचा में क्षत्रिय को ब्रह्मा के बाहु से उत्पन्न बताया गया है, जब कि बुद्धघोष ने इसी सूक्त की ओर संकेत करते हुए उसे हृदय से उत्पन्न बता डाला है।[३] चूंकि बाहु और हृदय दोनों ही साहस के प्रतीक हैं, अतः सम्भव है आचार्य बुद्धघोष ने, जो स्मृति से लिख रहे होंगे, दोनों के साधर्म्य के कारण यह गलती हो गयी हो। यदि इस गलती को गलती के रूप में स्वीकार कर भी लिया जाय, तो भी यह उनके ब्राह्मण या अ-ब्राह्मण होने से किस प्रकार सम्बन्धित हो सकती है? यह सूक्त-विषयक अनभिज्ञता तो बुद्धघोष के ब्राह्मण या अ-ब्राह्मण दोनों के ही होते हुए हो सकती थी। अतः इसके कारण आचार्य कोसम्बी का बुद्धघोष को अ-ब्राह्मण ठहराना ठीक नहीं जान पड़ता। इसी प्रकार चूंकि बुद्धघोष ने 'पपञ्चसूदनी' (चूलहत्थिपदोपमसुत्तवण्णना) में 'गृहपति' या कृषक-वर्ग की प्रशंसा की है, पसीने से सने, उनके शरीरों पर मिट्टी को जमते उन्होंने देखा है

---

१. देखिये उनके द्वारा सम्पादित 'विसुद्धमग्ग' का अंग्रेजी-प्राक्कथन, पृष्ठ १५-१८।

२. मिलाइये 'बुद्धघोसुप्पत्ति' "सत्तवस्सिककाले सो तिण्णं वेदानं पारगू अहोसि" (सात वर्ष की अवस्था में ही वह (बुद्धघोष) तीनों वेदों के पारंगत हो गये)।

३. पुरुष सूक्त में शब्द हैं—'बाहू राजन्यः कृतः' जब कि बुद्धघोष ने लिखा है 'खत्तिया उरतो निक्खन्ता' (क्षत्रिय हृदय से निकले)। विसुद्धिमग्ग (कोसम्बी जी द्वारा सम्पादित) के प्राक्कथन, पृष्ठ १३ में उद्धृत।

और उनमें मान का होना सम्भव नहीं माना है और इसीलिए कहा है कि बुद्ध के भिक्षु-संघ में उन्हीं की संख्या सबसे अधिक थी, इस आधार पर ही स्वयं बुद्धघोष को किसी किसान के घर उत्पन्न हुआ मानना भी ठीक नहीं होगा, जैसा मानने का आचार्य कोसम्बी ने प्रस्ताव किया है।[1] संस्कृत शास्त्रों का बुद्धघोष का ज्ञान अपूर्ण था, यह भी उद्धरण देकर आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी ने दिखाने का प्रयत्न किया है।[2] उधर डॉ० विमलाचरण लाहा ने कोई ऐसा भारतीय ज्ञान-शास्त्र ही नहीं छोड़ा है, जिस पर बुद्धघोष का पूर्ण अधिकार न दिखा दिया हो।[3] हम समझते हैं कि सत्य इन दोनों कोटियों के बीच में है। आचार्य बुद्धघोष को संस्कृत-साहित्य से अवगति अवश्य थी[4] किन्तु वह उस अगाध पांडित्य के रूप में नहीं थी जिसे हम एक वेदज्ञ ब्राह्मण के साथ संयुक्त कर सकते हैं। परन्तु बुद्ध के युग और उसकी परम्पराओं का उनका ज्ञान एक अगाध महासागर के समान था, जिसमें कोई कमी या अपूर्णता दिखाना (जो भी काम कहीं-कहीं आचार्य कोसम्बी जी ने किया है) हास्यास्पद ही होगा। बरमी परम्परा की यह मान्यता है कि आचार्य बुद्धघोष श्रीलंका से बरमा में भी बुद्ध-धर्म के प्रचारार्थ गये थे। किन्तु इसका अब तक कोई निश्चित ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिला है। उसके अभाव में हम यही मान सकते हैं कि बुद्धघोष की रचनाओं के अत्यधिक प्रसार और आदर के कारण ही उनके नाम के साथ इतनी आत्मीयता वहाँ प्रचलित हो गयी है। आचार्य बुद्धघोष के निर्वाण के विषय में भी कुछ ज्ञात नहीं। किन्तु कम्बोदिया (कम्पूचिआ)

---

१. विसुद्धिमग्ग (कोसम्बी जी द्वारा सम्पादित) पृष्ठ १३ एवं (प्राक्कथन)।

२. विसुद्धिमग्ग (धर्मानन्द कोसम्बी का संस्करण) के प्राक्कथन में पृष्ठ १३-१४।

३. उन्होंने अपने ग्रन्थ 'दि लाइफ एण्ड वर्क ऑव बुद्धघोष' में एक पूरा परिच्छेद (छठा) ही आचार्य बुद्धघोष की विश्वकोश-जैसी बहुज्ञता के विवेचन के लिए दिया है, पृष्ठ १०४-१३५। उनसे पूर्व लार्ड चार्मर्स ने भी बुद्धघोष को एक 'सच्चा विश्वकोशीय विद्वान्' कहा था।

४. उन्होंने पाणिनि के नियम के अनुसार अनेक पालि शब्दों की व्युत्पत्ति की है। देखिये आगे दसवें अध्याय में पालि के व्याकरण-साहित्य का विवेचन। बुद्धघोसुप्पत्ति (पृष्ठ ६१, ग्रे का संस्करण) के अनुसार सिंहली भिक्षुओं ने भी बुद्धघोष के संस्कृत-ज्ञान के विषय में सन्देह किया था, जिसका उन्होंने एक प्रभावशाली भाषण देकर निराकरण भी कर दिया था। देखिए लाहा : दि लाइफ एण्ड वर्क ऑव बुद्धघोष, पृष्ठ ३८-३९।

के निवासियों का यह विश्वास है कि बुद्धघोष महास्थविर का परिनिर्वाण उनके देश में ही हुआ। वहाँ 'बुद्धघोष-विहार' नामक एक अत्यन्त प्राचीन विहार आज तक उनकी स्मृति को खंडहर के रूप में खड़ा रह कर सुरक्षित बनाये हुए हैं।[1] हमें कम्बोदिया (कम्पूचिआ) के निवासियों के विश्वास में सन्देह करने का कोई कारण नहीं दिखायी पड़ता।

बुद्धघोष की रचनाएँ

आचार्य बुद्धघोष की रचनाएँ ये हैं—

१. विसुद्धिमग्ग	—संयुत्त-निकाय की दो गाथाओं की व्याख्या के रूप में एक मौलिक कृति
२. समन्तपासादिका	—विनय-पिटक की अट्ठकथा
३. कंखावितरणी	—पातिमोक्ख की अट्ठकथा
४. सुमंगलविलासिनी	—दीघ-निकाय की अट्ठकथा
५. पपञ्चसूदनी	—मज्झिम-निकाय की अट्ठकथा
६. सारत्थप्पकासिनी	—संयुत्त-निकाय की अट्ठकथा
७. मनोरथपूरणी	—अंगुत्तर-निकाय की अट्ठकथा
८. परमत्थजोतिका	—खुद्दक-निकाय के खुद्दक-पाठ और सुत्त-निपात की अट्ठकथा
९. अट्ठसालिनी	—धम्मसंगणि की अट्ठकथा
१०. सम्मोहविनोदिनी	—विभंग की अट्ठकथा
११-१५. पञ्चप्पकरणट्ठकथा	—धम्मसंगणि और विभंग को छोड़कर शेष ५ अभिधम्म-ग्रंथों की अट्ठकथाएँ
१६. जातकट्ठवण्णना	—जातक की अट्ठकथा
१७. धम्मपदट्ठकथा	—धम्मपद की अट्ठकथा
१८. अन्य ग्रन्थ	—ज्ञानोदय आदि (जो प्राप्त नहीं)

इनका कुछ संक्षिप्त परिचय देना यहाँ आवश्यक होगा।

---

१. देखिये विमलाचरण लाहा : दि लाइफ एण्ड वर्क ऑव बुद्धघोष, पृष्ठ ४२, पद-संकेत २।

विसुद्धिमग्ग[1]

'विसुद्धिमग्ग' या 'विसुद्धिमग्गो' (विशुद्धि-मार्ग) सम्भवतः आचार्य बुद्ध-घोष का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसे बुद्ध-धर्म का विश्वकोश ही समझना चाहिए। बौद्ध धर्म या साधना सम्बन्धी कोई ऐसा महत्त्वपूर्ण विषय नहीं है जिसका विस्तृत विवेचन इस ग्रन्थ में न किया गया हो। अपने पूर्वगामी सम्पूर्ण पिटक और अनुपिटक साहित्य का मन्थन ही जैसे आचार्य बुद्धघोष ने इस ग्रन्थ में किया है। आचार्य बुद्धघोष ने भी अपनी रचनाओं में इस ग्रन्थ को विशेष महत्त्व-पूर्ण माना है। दीघ, मज्झिम, संयुत्त और अंगुत्तर, इन चारों निकायों की अपनी अट्ठकथाओं की प्रस्तावनाओं (निदानकथाओं) में उन्होंने पुनरुक्तिपूर्वक यह कहा है, "चारों आगमों (निकायों) के बीच में स्थित होकर यह 'विसुद्धि-मग्ग' (बुद्ध भाषित) उनके यथार्थ अर्थ को प्रकाशित करेगा।"[2] ऐसा मालूम पड़ता है कि उन्होंने पहले 'विसुद्धि-मग्ग' की रचना की और फिर चार निकायों की अट्ठकथाओं की। इसीलिए जिस विषय का विस्तृत निरूपण उन्होंने पहले 'विसुद्धि-मग्ग' में कर दिया है, उसे फिर निकायों की अट्ठकथाओं में नहीं दुहराया है। इसके विषय में भी उन्होंने प्रत्येक निकाय की अट्ठकथा के आरम्भ में कहा है "चूँकि मैंने इस सब का शुद्ध निरूपण 'विसुद्धि-मग्ग' में किया है, इसलिए उसके सम्बन्ध में फिर यहाँ दुबारा विचार नहीं करूँगा।"[3] इसी भाव की बातें उन्होंने अनेक बार 'अट्ठ-सालिनी' में भी कही हैं। उदाहरणतः प्रथम ध्यान के निर्देश में उन्होंने कहा है, "सव्वकम्मट्ठानानं हि भावनाविधानं सव्वं अट्ठकथानयेन गहेत्वा 'विसुद्धिमग्गे'

---

१. इस ग्रन्थ का देवनागरी लिपि में सम्पादन आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी ने किया है, जो भारतीय विद्या भवन, बम्बई (१९४०) में प्रकाशित हुआ है। इस महत्त्वपूर्ण संस्करण का उल्लेख कर देने के बाद अन्य किसी संस्करण के उल्लेख करने की अपेक्षा नहीं रह जाती। निश्चय ही यह इतना ही महत्त्वपूर्ण सम्पादन है और हिन्दी का तो विशेष गौरव है। वैसे 'विशुद्धि-मग्ग' के रोमन, सिंहली, बरमी और स्यामी लिपियों में संस्करण उपलब्ध हैं। 'विसुद्धि-मग्ग' का हिन्दी अनुवाद त्रिपिटकाचार्य भिक्षु धर्मरक्षित ने दो भागों में किया है। ये दोनों भाग महाबोधि सभा, सारनाथ, द्वारा क्रमशः सन् १९५६ और १९५७ में प्रकाशित किये गये हैं।

२. मज्झे विसुद्धिमग्गो एस चतुन्नम्पि आगमानं हि।
ठत्वा पकासयिस्सति तत्थ यथाभासितं अत्थं॥

३. इति पन सब्बं यस्मा विसुद्धिमग्गे मया सुपरिसुद्धं।
वुत्तं तस्मा भिय्यो न तं इध विचारयिस्सामि॥

वित्थारितं। किं तेन तत्थ-तत्थ पुनवुत्तेना'ति न तं पुन वित्थारयाम"। इसी प्रकार चार प्रतिपदाओं के निर्देश में वे कहते हैं "सप्पायासप्पायानि 'विसुद्धिमग्गे' निद्दिट्ठानि।" इसी प्रकार अन्य प्रसंगों में उन्होंने कहा है, "तं सब्बं 'विसुद्धिमग्गे' वुत्तनयेन", "सब्बं वत्थु 'विसुद्धिमग्गे' वित्थारितमेव", "सा च तेसं सप्पायता वित्थारतो 'वसुद्धिमग्गे' वुत्ता", "तां मेत्तादीनं भावनाविधानं विसुद्धिमग्गे वित्था-रितमेव।" इसी प्रकार 'सुमंगलविलासिनी' (संगीतिसुत्तवण्णना) में एक व्याख्या-प्रसंग में उन्होंने कहा है, "अयमेत्थ संखेपो। वित्थारो पन इद्धिपादविभंगे आगतो येव 'विसुद्धिमग्गे' पनस्स अत्थो दीपितो। झानकथा पि 'विसुद्धिमग्गे' वित्थारिता येवा" ति। निश्चय ही आचार्य बुद्धघोष 'विसुद्धि-मग्ग' को अपनी सम्पूर्ण रचनाओं का मध्य विन्दु मानते थे और अपनी अट्ठकथाओं के अध्ययन से पहले पाठक से वे उसके अध्ययन की अपेक्षा रखते थे। अन्य अट्ठकथाओं के अन्दर भी उन्होंने जहाँ-तहाँ नाना विषयों के प्रसंग में अपनी रचना 'विसुद्धिमग्ग' को स्मरण किया है। इससे लगता है कि यह सतत उनके ध्यान में रहती थी, इसमें निरूपित विषयों से वे सन्तुष्ट थे और उनकी पुनरुक्ति नहीं करना चाहते थे और अपनी यह रचना उन्हें प्रिय और अभीष्ट थी।

यद्यपि 'विसुद्धिमग्ग' (विशुद्धि-मार्ग) पूरे अर्थों में एक मौलिक रचना है, किन्तु वह दो गाथाओं की व्याख्या के रूप में ही लिखी गयी थी। वे दो गाथाएँ हैं—

"अन्तो जटा बहि जटा, जटाय जटिता पजा। तं तं गोतम पुच्छामि को इमं विजटये जटं" ति। यह प्रथम गाथा है।

दूसरी गाथा है—

"सीले पतिट्ठाय नरो सपञ्ञो चित्तं पञ्ञञ्च भावये।
आतापी निपको भिक्खु सो इमं विजटये जटं" ति।

पहली गाथा प्रश्न के रूप में है और दूसरी गाथा उसका उत्तर है। विसुद्धि-मग्ग के प्रारम्भ में ही 'संयुत्तनिकाय' पालि के उद्धरण स्वरूप कहा गया है कि एक वार जब भगवान् श्रावस्ती में विहर रहे थे तो किसी देवपुत्र ने उनके पास आकर उनसे प्रथम गाथा के रूप में प्रश्न पूछा, जिसका अर्थ है "अन्दर भी उलझन है; वाहर भी उलझन है। यह जनता उलझन में जकड़ी हुई। अतः हे गौतम! मैं तुमसे पूछता हूँ—कौन इस उलझन को सुलझा सकता है?" भगवान् ने दूसरी गाथा के द्वारा इसका उत्तर दिया, जिसका अर्थ यह है "शील में प्रतिष्ठित होकर प्रज्ञावान् मनुष्य जब समाधि और प्रज्ञा की भावना करता है, तो इस प्रकार उद्योगी

और ज्ञानवान् भिक्षु होते हुए वह उस उलझन को सुलझा देता है।" बस भगवान् के इस उत्तर को लेकर ही आचार्य बुद्धघोष ने सम्पूर्ण बौद्ध ज्ञान और दर्शन को एक निश्चित उद्देश्य के सूत्र में पिरो दिया है। वह उद्देश्य क्या है? साधना-मार्ग के उत्तरोत्तर विकास का स्पष्टतम निर्देश कर देना। दूसरे शब्दों में 'विसुद्धि-मग्ग' बौद्ध योग को एक अत्यन्त क्रमबद्ध ढंग से उपस्थित करने का प्रयत्न करता है। हम पहले देख चुके हैं कि आचार्य बुद्धघोष बुद्ध-मत में प्रव्रजित होने से पहले पातंजल योग-दर्शन में निष्णात थे। निश्चय ही उन्होंने 'विसुद्धि-मग्ग' के रूप में बौद्धों के योग-दर्शन को ही साधकों के कल्याण के लिए प्रकाशित किया है। पातंजल योग-दर्शन की अपेक्षा 'विसुद्धि-मग्ग' अधिक सुव्यवस्थित और नियमबद्ध है, यदि यह कहा जाय तो अतिरंजना नहीं होगी।[1] बुद्धघोष महास्थविर ने साधकों के कल्याण के लिए ही इस महाग्रन्थ की रचना की है, इसे उन्होंने इस ग्रन्थ के प्रत्येक परिच्छेद के अन्त में यह कहकर दुहराया है, **'साधुजनपामुज्जत्थाय कते विसुद्धिमग्ग'** (साधुजनों की प्रसन्नता के लिए रचित 'विशुद्धिमार्ग' में, आदि)। इसी प्रकार इस ग्रन्थ के आदि में उन्होंने कहा है, "मैं विशुद्धि के मार्ग का भाषण करूँगा। सभी साधु पुरुष, जिन्हें पवित्रता की इच्छा है, मेरे कहे हुए को आदर-पूर्वक सुनें"[2] **(विसुद्धिमग्गं भासिस्सं तं मे सक्कच्च भासतो। विसुद्धिकामा सब्बे पि निसामयथ साधवो' ति)**। यह ग्रन्थ महाविहारवासी भिक्षुओं की उपदेश-विधि पर ही आधारित है, इसे भी बुद्धघोष ने यही दिशा दिया है **"महाविहारवासी भिक्षुओं की उपदेश-विधि पर आधारित विशुद्धि-मार्ग का मैं कथन करूँगा।" (महाविहारवासिनं देसनानयनिस्सितं भासिस्सं)**।

जैसा अभी कहा गया, 'विशुद्धि-मार्ग' साधना-मार्ग की नाना भूमियों का क्रमबद्ध वर्णन करता है। 'विशुद्धि' का अर्थ किया है आचार्य बुद्धघोष ने 'सर्वमल-रहित, अत्यन्त परिशुद्ध निर्वाण' और 'मग्ग' या मार्ग का अर्थ किया है 'प्राप्ति का उपाय।' अतः 'विशुद्धि-मार्ग' का अर्थ है 'सर्वमल-रहित, अत्यन्त परिशुद्ध, निर्वाण की प्राप्ति का उपाय।' इस उपाय की मुख्य तीन भूमियाँ हैं, जो उत्तरोत्तर

---

१. देखिये भिक्षु जगदीश काश्यप : पालि महाव्याकरण, पृष्ठ सैंतालीस (वस्तुकथा)।

२. 'विसुद्धिमग्ग' के अन्त में उन्होंने फिर अपनी इसी अभिलाषा को दुहराया है, 'तस्मा विसुद्धिकामेहि सुद्धपञ्ञेहि योगिहि। विसुद्धिमग्गे एतस्मि करणीयो व आदरो' ति (विशुद्धि के इच्छुक शुद्ध ज्ञान वाले योगी इस विशुद्धि-मार्ग में आदर-बुद्धि करें।) पृष्ठ ५०६ (धर्मानन्द कोसम्बी का संस्करण)।

क्रमिक साधना के द्वारा प्राप्त की जाती है। इन तीन भूमियों के नाम हैं, शील, समाधि और प्रज्ञा। भगवान् बुद्ध के शब्दों में यही तीन धर्मस्कन्ध अर्थात् धर्म के आधार हैं। शील, समाधि और प्रज्ञा के रूप में साधना के पूरे मार्ग का विवरण करना ही 'विसुद्धि-मग्ग' का लक्ष्य है।[1] इस महाग्रंथ में कुल मिलाकर २३ परिच्छेद हैं, जिनमें प्रथम दो परिच्छेद शील या सदाचार का निरूपण करते हैं। ३—१३ परिच्छेद समाधि का निरूपण करते हैं। १४—२३ परिच्छेद प्रज्ञा का निरूपण करते हैं।

शील-स्कन्ध (परिच्छेद १-२)

शील का निरूपण करने वाले प्रथम दो परिच्छेदों का नाम है क्रमशः 'शील-निर्देश' (सील-निद्देसो) और 'अवधूत-व्रतों का निर्देश' (धुतंग-निद्देसो)। प्रथम परिच्छेद में आचार्य बुद्धघोष ने अपने विवेच्य विषय को प्रश्नों के रूप में वर्गीकृत किया है—

(१) शील क्या है?
(२) किस अर्थ से 'शील' है?
(३) शील के लक्षण, सार, प्रकटित रूप और आसन्न कारण क्या है?
(४) शील का सुपरिणाम क्या है?
(५) शील कितने प्रकार का है?
(६) शील का मैला होना क्या है?
(७) शील का निर्मल होना क्या है?

इन प्रश्नों के जो उत्तर बुद्धघोष ने दिये हैं, उनका यदि यहाँ संक्षेप भी दिया जाय, तो वह भी कई पृष्ठ ले लेगा। फिर इनके साथ-साथ अनेक अवान्तर विषय भी 'विसुद्धि-मग्ग' में सम्मिलित हैं, जिनका साधकों के लिए अपना महत्त्व है, किन्तु पालि साहित्य के इतिहास में जिन्हें विस्तार-भय से उद्धृत नहीं किया जा सकता। उदाहरणतः बुद्धघोष द्वारा शील की प्रशंसा[2], ब्रह्मचर्य के उच्चतम आदर्श का

---

१. 'विसुद्धि-मग्ग' की विषयवस्तु का विशद विश्लेषण भिक्षु जगदीश काश्यप ने अपनी अभिधम्म-फिलॉसफी, जिल्द दूसरी, पृष्ठ २१८-२५७ में किया है। त्रिपिटकाचार्य भिक्षु धर्मरक्षित ने भी "धर्मदूत" अप्रैल-मई १९४७, पृष्ठ ६१-६६ में इसका सुन्दर विश्लेषण किया है। देखिये उनके द्वारा अनुवादित 'विशुद्धि-मार्ग' (पहला भाग) की भूमिका में "विशुद्धि-मार्ग की विषय-भूमि" सम्बन्धी विवरण (पृष्ठ १९-४०) भी।

२. पृष्ठ ६-७।

प्रकाशन,[1] और सबसे बढ़कर कुछ बौद्ध साधकों के पवित्र जीवन सम्बन्धी अभ्यास के उदाहरण[2], आदि बड़े मार्मिक प्रसंग हैं। तेरह अवधूत-व्रतों (जो दूसरे परिच्छेद के विषय हैं) के नामों का विवरण हम 'मिलिन्द-पञ्ह' का विवरण करते समय दे चुके हैं। उन्हीं का यहाँ भी विस्तृत विवरण है। प्रत्येक अवधूत-नियम के विषय में यहाँ इतनी दृष्टियों से विचार किया गया है (१) अर्थ, (२) लक्षण, (३) ग्रहण की विधि, (४) विभिन्न प्रकार, यथा उत्तम, मध्यम, हीन, (५) भंग होना, (६) व्रत-रक्षण की प्रशंसा, (७) कुशल त्रिक के रूप में वर्गीकरण; (८) समष्टि-गत विवरण और (९) व्यष्टिगत विवरण। अल्पेच्छता, सन्तोष आदि गुणों की वृद्धि के लिए ही इन नियमों के अभ्यास का विधान किया गया है। वास्तव में ये चित्त के मैल को शुद्ध करने के लिए ही हैं। अतः इनका अभ्यास सबके लिए अनिवार्य नहीं है। आचार्य बुद्धघोष ने इन कठिन नियमों के विवेचन में तथागत के मध्यम-मार्ग को कभी दृष्टि से ओझल नहीं होने दिया है। इसीलिए उन्होंने एक महत्त्व-पूर्ण प्रश्न किया है, 'कस्स धुतंगसेवना सप्पाया ति' अर्थात् किसका अवधूत व्रतों का अभ्यास अनुकूल है? उत्तर दिया है 'रागचरितस्स चेव मोहचरितस्स च' अर्थात् उस व्यक्ति का, जिसके आचरण में अभी राग वर्तमान है, मोह वर्तमान है। उन्होंने स्वीकार किया है कि 'धुतंगसेवना हि दुक्खा पटिपदा चेव सल्लेखविहारो च' अर्थात् अवधूत-व्रतों का अभ्यास कष्ट का मार्ग है और तपश्चर्या का जीवन है। उनका उपयोग साधक के लिए केवल इसीलिए है कि वे चित्त-मलों को नष्ट कर देते हैं और इस प्रकार वे भिक्षु के अंग (शरीर) ही बन जाते हैं। कष्ट के मार्ग के आश्रय लेने वाले का राग शान्त हो जाता है, तपश्चर्या से रहने वाले अप्रमादी व्यक्ति का मोह नष्ट हो जाता है। इसीलिए रागद्वेषादियुक्त व्यक्तियों का चित्त-शुद्धि के लिए स्वेच्छापूर्वक इन व्रतों को स्वीकार करना आवश्यक है। इस प्रकार उनके दोष शान्त हो जाते हैं।

समाधि-स्कन्ध (परिच्छेद ३-१३)

शील या सदाचार के बाद 'विशुद्धि-मार्ग' उस दूसरी ऊँची भूमि का वर्णन करता है, जिसका नाम समाधि है। समाधि की परिभाषा करते हुए आचार्य बुद्ध-

---

१. पूर्ववत्, पृष्ठ ३४-३५।

२. देखिये विशेषतः पृष्ठ १४, २२, २६-२८, ३१-३२ आदि, आदि।

३. "दुक्खापटिपदं च निस्साय रागो वूपसम्मति ('वूपसमति'?)। सल्लेखं निस्साय अप्पमत्तस्स मोहो पहीयति।" पृष्ठ ५४-५५।

घोष ने कहा है, 'कुसलचित्तेकग्गता समाधि' अर्थात् कुशल चित्त की एकाग्रता ही समाधि है। किसी एक आलम्बन (विषय) में चित्त और चेतसिक धर्मों को समान और सम्यक् रूप से बिना विक्षेप और विकीर्णता के रखना ही चित्त की समाधि या समाधान (सम्यक् आधान) कहलाता है।[1] समाधि के विषय में भी आचार्य बुद्धघोष ने वही प्रश्न किये हैं, जो शील के विषय में, यथा (१) समाधि क्या है? (२) किस अर्थ में 'समाधि' है? (३) समाधि के लक्षण, सार, प्रकटित रूप और आसन्न कारण क्या है? (४) समाधि कितने प्रकार की होती है? (५) समाधि का मलिन होना क्या है? (६) समाधि का निर्मल होना क्या है? और (७) समाधि की भावना किस प्रकार करनी चाहिए? इनके उत्तरों का संक्षेप देना तो यहाँ असम्भव ही होगा। केवल कुछ मोटी बातें कही जा सकती हैं। आचार्य बुद्धघोष ने समाधि का प्रधानतः दो भागों में विवरण किया है, यथा (१) उपचार समाधि (२) अर्पणा समाधि चार भागों में भी, यथा—

(१) दुक्खा-पटिपदा-दन्धाभिञ्ञा।
(२) दुक्खा-पटिपदा-खिप्पाभिञ्ञा।
(३) सुखा-पटिपदा-दन्धाभिञ्ञा।
(४) सुखा-पटिपदा-खिप्पाभिञ्ञा।

जैसा अभी कहा गया है, समाधि-स्कन्ध का विवरण 'विसुद्धिमग्ग' के ३—१३ परिच्छेदों में है। इन परिच्छेदों की विषयवस्तु का तो संक्षिप्त निर्देश भी यहाँ प्रायः असम्भव ही है; अतः हम उनके नाम देकर उनकी विषयवस्तु को इंगित मात्र करेंगे।

३. कर्मस्थानों (समाधि के आलम्बनों) को ग्रहण करने का निर्देश (कम्मट्ठानगहण-निद्देसो)—समाधि भावना की दस बाधाओं[2] ('पलिबोधा') को छोड़ने का उपदेश।

४. पृथ्वी-कृत्स्न (ध्यान-विशेष) का निर्देश (पथवीकसिणनिद्देसो)—पृथ्वी-कृत्स्न नामक ध्यान का विवरण। समाधि के अयोग्य १८ स्थानों[3] को छोड़ने का आदेश एवं चार ध्यानों का विस्तृत विवरण।

---

१. "एकारम्मणे चित्तचेतसिका समं सम्मा च (अविक्खिपमान-अविप्पकिण्णा च हुत्वा तिट्ठन्ति, इदं समाधानं ति वेदितब्बं।" (पृष्ठ ५७)।

२. यथा-आवास, कुल, लाभ, गण, काम, मार्ग, ज्ञाति-बन्धु, रोग, ग्रन्थ (रचना) और ऋद्धि (योग-विभूति)।

३. यथा (१) बहुत बड़ा विहार, (२) बिलकुल नया विहार, (३) बहुत

५. शेष कृत्स्नों (ध्यान-विशेषों) का निर्देश (सेसकसिण-निद्देसो)—पृथ्वी-कृत्स्न से अतिरिक्त शेष आपोकृत्स्न (जल-कृत्स्न) आदि ९ ध्यानों का विवरण।

६. अशुभ कर्मस्थान का निर्देश (असुभकम्मट्ठान-निद्देसो)—शरीर की गन्दगियों के ध्यान के द्वारा अर्पणा-समाधि की प्राप्ति का उपाय।

७. छह अनुस्मृतियों का निर्देश (छ-अनुस्सति-निद्देसो)—बुद्ध, धर्म, संघ, शील, त्याग और देवताओं की अनुस्मृतियाँ। अशुभ भावना का भी यहाँ बुद्ध-घोषाचार्य ने बड़ा मार्मिक वर्णन किया है और मानव-शरीर को रोगों का आयतन (रोगानं आयतनं') और दुःख-धर्मों की वस्तु ('दुक्खधम्मानं वत्थु') कहा है। अन्य प्रकार से भी इसका बड़ा संवेगमय वर्णन किया है।

८. अनुस्मृति और कर्म-स्थान का निर्देश (अनुस्सति-कम्मट्ठान-निद्देसो)—मरण, कायगतासति, आनापान-सति और उपशम, इन चार अनुस्मृतियों तथा योग-आलम्बनों का विवरण।

९. ब्रह्म-विहार का निर्देश (ब्रह्मविहार-निद्देसो)—मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा, यही चार भावनाएँ 'ब्रह्म-विहार' कहलाती हैं। इनका विशद विवरण। इन भावनाओं का निर्देश पतंजलि ने भी अपने योग-दर्शन में किया है।

१०. अ-रूपता का निर्देश (आरुप्प-निद्देसो)—अरूपता-सम्बन्धी ध्यानों का विवरण, यथा; आकाशानन्त्यायतन, विज्ञानानन्त्यायतन, आकिञ्चन्यायतन तथा नैवसंज्ञानासंज्ञायतन ध्यानों का विवरण।

११. समाधि का निर्देश (समाधि-निद्देसो)—समाधि-भावना का उपदेश एवं शरीर की अशुभता आदि पर ध्यान। आहार में प्रतिकूल-संज्ञा आदि का विवेचन भी।

१२. ऋद्धिविध का निर्देश (इद्धिविध-निद्देसो)—दिव्यश्रोत्र, परचित्त-ज्ञान, पूर्वजन्म की स्मृति और दिव्य चक्षु, इन चार योग-विभूतियों का विवरण।

पुराना विहार, (४) सड़क के किनारे स्थित, (५) तालाब के किनारे स्थित, (६-८) पेड़, फूल और फलों वाले बागों से युक्त, (९) अति प्रसिद्ध, (१०) नगर के बीच में स्थित, (११) अधिक पेड़ों के बीच में स्थित, (१२) खड़ी फसलों वाले खेत के समीप, (१३) झगड़ालू भिक्षु जहाँ रहते हों, (१४) जहाँ के व्यक्ति अ-धार्मिक हों, (१५) सीमा-प्रान्त में अवस्थित, (१६) अ-रक्षित स्थान में स्थित और (१७) जहाँ कल्याणमित्र (आध्यात्मिक मित्र) न मिल सकें।

१३. अभिज्ञा (उच्चतम गूढ़ ज्ञान) का निर्देश (अभिञ्ञा-निद्देसो)—पूर्वजन्म की स्मृति आदि का ही विस्तृत विवरण।

प्रज्ञास्कन्ध (परिच्छेद १४-२३)

प्रज्ञा की परिभाषा करते हुए आचार्य बुद्धघोष ने कहा है, 'कुसलचित्तसम्पयुत्तं विपस्सनाञाणं पञ्ञा अर्थात् कुशल-चित्त से युक्त विपश्यना-ज्ञान ही प्रज्ञा है। प्रज्ञा-स्कन्ध के परिच्छेदों की विषयवस्तु इस प्रकार है—

१४. स्कन्द-निर्देश (खन्ध-निद्देसो)—पञ्च-स्कन्धों (रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान) का विवेचन।

१५. आयतन और धातुओं का निर्देश (आयतन-धातु-निद्देसो)— १२ आयतन और अठारह धातुओं का विवरण।

१६. इन्द्रिय और सत्यों का निर्देश (इन्द्रिय-सच्च-निद्देसो)—पाँच इन्द्रियों और चार आर्य-सत्यों का विवरण।

१७. प्रज्ञा की भूमियों का निर्देश (पञ्ञाभूमि-निद्देसो)—स्कन्ध, आयतन, धातु, इन्द्रिय, सत्य और प्रतीत्यसमुत्पाद, ये प्रज्ञा की भूमियाँ हैं। प्रथम पाँच का वर्णन पहले हो चुका है। यहाँ प्रतीत्यसमुत्पाद का विस्तृततम विवरण उपलब्ध होता है।

१८. दृष्टि की विशुद्धि का निर्देश (दिट्ठिविसुद्धि-निद्देसो)—नाम और रूप का यथावत् दर्शन ही दृष्टि-विशुद्धि है—इसका विस्तृत विवरण।

१९. संशय को पार करने के रूप में विशुद्धि का निर्देश (कंखावितरणविसुद्धि-निद्देसो) यथाभूत ज्ञान, सम्यक् दर्शन और संशय को पार करना, ये सब एक ही वस्तु है, केवल शब्द नाना हैं।

२०. मार्ग और अमार्ग के ज्ञान और दर्शन के रूप में विशुद्धि का निर्देश (मग्गामग्गञाणदस्सनविसुद्धि-निद्देसो)—पदार्थों के उदय और व्यय को देखना एवं विपश्यना-प्रज्ञा की भावना करना।

२१. प्रतिपदा (मध्यम-मार्ग) के ज्ञान और दर्शन के रूप में विशुद्धि का निर्देश (पटिपदाञाणदस्सनविसुद्धि-निद्देसो) 'न मैं, न मेरा, न मेरा आत्मा', अर्थात् अनात्म तत्त्व की भावना का विवरण।

२२. ज्ञान और दर्शन रूपी विशुद्धि का निर्देश (ञाणदस्सनविसुद्धि-निद्देसो) स्रोतापत्ति, सकृदागामी, अनागामी और अर्हत्, इन चार मार्गों सम्बन्धी ज्ञान का विवरण। बोधिपक्षीय धर्मों का भी इन्हीं के अन्दर समावेश।

२३. प्रज्ञा की भावना के सुपरिणामों का निर्देश (पञ्ञाभावनानिसंस-निद्देसो) नाना चित्त-मलों का विध्वंस, आर्य-फल के रस का अनुभव, निरोध-समाधि को प्राप्त करने की योग्यता और लोक में पूज्य होने की पात्रता, प्रज्ञा की भावना के इन चार सुपरिणामों का विवरण।

उपर्युक्त विषय-सूची के संकेत-मात्र से स्पष्ट है कि 'विशुद्धि-मार्ग' का क्षेत्र कितना अधिक विस्तृत है। अतः यदि इतने निरूपण से हम केवल यह भी इंगित करने में सफल हो सके कि 'विशुद्धि-मार्ग' बुद्ध-धर्म सम्बन्धी महान् ज्ञानकोश को संचित किये हुए है, तो भी हमने पालि साहित्य की दृष्टि से अपना कर्त्तव्य पूरा कर दिया। विवरण में आगे चले जाने पर तो इस विषय का अन्त ही नहीं हो सकता, क्योंकि पातंजल योग और 'विमुत्तिमग्ग' के साथ इसका तुलनात्मक अध्ययन किये विना, कोई इस सम्बन्धी विवेचन पूरा नहीं माना जा सकता।[1] अब हम बुद्धघोष की अट्ठकथाओं पर आते हैं।

समन्तपासादिका[2]

समन्तपासादिका पूरे विनय-पिटक की अट्ठकथा है। आचार्य बुद्धघोष की

---

१. एम० नगई ने सन् १९१९ में विद्वानों का ध्यान बुद्धघोष-कृत 'विसुद्धि-मग्ग' के समान विषय वाले और उससे पूर्व लिखित चीनी ग्रन्थ 'विमुत्ति-मग्ग' (चि-तो-तओ-लुन्) की ओर आकृष्ट किया था। बाद में डॉ० पी० वी० (पु० वि०) बापट ने इन दोनों का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए अपना शोध-प्रबन्ध लिखा "विमुत्तिमग्ग एण्ड विसुद्धिमग्ग : ए कम्पेरेटिव स्टडी।" (पूना १९३७) अरहन्त उपतिस्स-कृत चीनी 'विमुत्ति-मग्ग' का अंग्रेजी अनुवाद एन० आर० एम० एहार, सोम थेर और खेमिन्द थेर ने किया है। कोलम्बो, १९६१। यहाँ इन दोनों ग्रन्थों के बारे में इतना ही कहा जा सकता है कि बुद्धघोष-कृत 'विसुद्धिमग्ग' महाविहार के देशना-नय पर निश्रित है, जब कि चीनी अनुवाद के रूप में प्राप्त 'विमुत्तिमग्ग अभयगिरि विहार की परम्परा पर आधारित है।

२. 'समन्तपासादिका नाम विनयट्ठकथा'—श्री बीरबल शर्मा, एम० ए० द्वारा देवनागरी लिपि में तीन भागों में सम्पादित, नव नालन्दा महाविहार द्वारा प्रकाशित, १९६४, १९६५, १९६७ ई०। सिंहली लिपि में यह अट्ठकथा 'समन्तपासादिका नाम 'विनयत्थसंवण्णना' शीर्षक से पञ्ञालोकासभ द्वारा

रची हुई यह सम्भवतः प्रथम अट्ठकथा है। बुद्ध श्री (बुद्धसिरि) नामक स्थविर की प्रार्थना पर उन्होंने यह अट्ठकथा लिखी थी। ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही उन्होंने इस सम्बन्ध में 'अज्झेसनं बुद्धसिरिसव्हस्स थेरस्स सम्मा समनुस्सरन्तो' आदि रूप से कहा है और यहीं आगे यह भी कहना नहीं भूले हैं कि इसमें 'महापच्चरियं' और 'कुरुन्दि' नामक प्राचीन सिंहली अट्ठकथाओं का आश्रय लिया गया है— 'महापच्चरियं तथा कुरुन्दि नामादिसु विस्सुतासु विनिच्छयो अट्ठकथासु वुत्तो'ति। प्राचीन भारत की सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक अवस्था का इस अकेले ग्रन्थ से ही एक पूरा इतिहास निर्मित किया जा सकता है। समन्तपासादिका में लक्षणीय रूप से शिवलिंग-पूजा का निर्देश है। प्रथम तीन बौद्ध संगीतियों के विवरण में हमने इस ग्रन्थ से कितनी सहायता ली है, यह पूर्व के विवरणों से स्पष्ट हो गया होगा। भगवान् बुद्ध और उनके शिष्यों के जीवन-सम्बन्धी अनेक विवरणों के अतिरिक्त तत्कालीन अन्य प्रसिद्ध ऐतिहासिक व्यक्तियों और भौगोलिक स्थानों के विवरण जो हमें यहाँ मिलते हैं, बड़े ही महत्त्वपूर्ण हैं। इस अट्ठकथा के बाद ही बुद्धघोष ने सुत्तपिटक के निकायों पर अट्ठकथाएँ लिखीं। यह उल्लेखनीय है कि सन् ४८९ ई० में ही इस ग्रन्थ का चीनी भाषा में अनुवाद हो गया था। सम्भवतः पालि से चीनी भाषा में अनुवादित होने वाला यह प्रथम ग्रन्थ था। इससे पूर्व केवल बौद्ध संस्कृत ग्रन्थों के चीनी भाषा में अनुवाद हुए थे।

कंखावितरणी[1]

'कंखावितरणी' 'पातिमोक्ख' की अट्ठकथा है। यह 'मातिकट्ठकथा' भी कहलाती है। इस अट्ठकथा में हमें न केवल बुद्धकालीन भिक्षु-संघ के जीवन की ही झलक मिलती है, अपितु उसके उत्तरकालीन विकास का भी पर्याप्त ज्ञान होता है।

सम्पादित, कोलम्बो, १९१७। रोमन लिपि में चार जिल्दों में जे० तकाकुसु तथा एम० नगई द्वारा सम्पादित, पालि टैक्स्ट सोसायटी संस्करण। 'समन्तपासादिका' के बरमी (छट्ठ संगायन) तथा स्यामी (महामकुट राजविद्यालय) संस्करण भी उपलब्ध हैं।

१. 'कंखावितरिणी नाम मातिकट्ठकथा' शीर्षक से जिनरतन थेर द्वारा सिंहली लिपि में सम्पादित। साइमन हेतवितरणे दातव्य निधि ग्रन्थमाला, संख्या ३० कोलम्बो, बुद्धाब्द २४७४ (सन् १९३० ई०)।

सुमंगलविलासिनी[1]

'सुमंगलविलासिनी' दीघ-निकाय की अट्ठकथा है। संघस्थविर दाठानाग नामक भिक्षु की प्रार्थना पर आचार्य बुद्धघोष ने यह अट्ठकथा लिखी, ऐसा उन्होंने स्वयं कहा है।[2] बुद्धकालीन भारत की राजनैतिक, सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थिति के अनेक चित्रों एवं अनेक प्रकार के आख्यानों से यह अट्ठकथा भरी पड़ी है। सुत्तों के अनेक प्रकार के विवेचन, बुद्ध और उनके शिष्यों के जीवन-सम्बन्धी अनेक विवरण, इस अट्ठकथा में भी भरे पड़े हैं। उदाहरणतः भगवान् 'बुद्ध तथागत' क्यों कहलाते हैं, उनकी दैनिक चर्या क्या थी, 'बुद्ध-काल में भूतों और यक्षों की पूजा किस प्रकार होती थी, किस प्रकार मनुष्य उनसे गृहीत हो जाते थे और भूत-वैद्य किस-किस विचित्र प्रकार से उनकी चिकित्सा करते थे, आदि अनेक महत्त्व-पूर्ण विवरण इस अट्ठकथा में हैं। इसी प्रकार बुद्धकालीन महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों,, यथा जीवक कौमारभृत्य, बिम्बिसार, अजातशत्रु, तिष्य श्रामणेर, अम्बट्ठ-सुम माणव तोदय्यपुत्त आदि के विषय में अधिक जानकारी यहाँ दी गयी है। अनेक सुत्तों की वण्णनाओं में विस्तृत आनुपूर्वी कथाएँ दी गयी हैं, जिसका ऐति, हासिक महत्त्व स्पष्ट है। इसी प्रकार भौगोलिक दृष्टि से अंग-मगध, दक्षिणापथ घोषिताराम, कोसल, राजगृह आदि के प्राचीन आख्यान-बुद्ध इतिहास और उनके विषय में अन्य महत्त्वपूर्ण विवरण दिये गये हैं, जो पालि-तिपिटक में नहीं मिलते। इन सब के अलावा 'सुमंगलविलासिनी' में दीघ-निकाय के कठिन शब्दों की निरुक्तियाँ और उनके अर्थ-निर्वचन भी हैं, जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। उसका सबसे अधिक महत्त्व तो ऐतिहासिक ही है, इसमें संदेह नहीं।

---

१. साइमन हेवावितरणे दातव्य निधि संस्करण दो भागों में है, प्रथम भाग, धम्मकित्ति सिरि देवमित्त महाथेर द्वारा सम्पादित, बुद्धाब्द २४६२ (सन् १९१८ ई०), द्वितीय भाग बोरुग्गमुवे सिरि रेवत थेर द्वारा सम्पादित, बुद्धाब्द २४६९ (१९२५ ई०)। अभी हाल में डॉ० महेश तिवारी द्वारा देवनागरी लिपि में तीन भागों में सम्पादित, नवनालन्दा महाविहार, १९७४, १९७५, १९७६ ई०।

२. "आयाचितो सुमंगलपरिवेणनिवासिना थिरगुणेन।
दाठानाग संघत्थेरेन थेरवंसन्वयेन ॥
. . . .
यं आरभिं सुमंगलविलासिनिं नाम नामेन।"

पपञ्चसूदनी[1]

सुमंगलविलासिनी की ही शैली में लिखित पपञ्चसूदनी मज्झिम-निकाय की विस्तृत अट्ठकथा है। यह अट्ठकथा आचार्य बुद्धघोष ने बुद्धमित्र नामक स्थविर की प्रार्थना पर लिखी।[2] ऐतिहासिक और भौगोलिक दृष्टि से इस अट्ठ-कथा का भी प्रभूत महत्त्व है। कुरु प्रदेश, श्रावस्ती (सावत्थि), हिमवन्त प्रदेश आदि के महत्त्वपूर्ण विवरण इस अट्ठकथा में मिलते हैं। विषय-विन्यास मज्झिम-निकाय के समान ही है और उसी के अनुसार बुद्ध-वचनों की क्रमानुसार व्याख्या भी यहाँ की गयी है, जो उस दृष्टि से भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। 'अनुमान-सुत्त' की वण्णना में कहा गया है कि पुराने आचार्यों को यह सुत्त 'भिक्खु पातिमोक्ख' के नाम से विदित था। "इदं हि सुत्तं भिक्खुपातिमोक्खं नामाति पोराणा वदन्ति।" 'दक्खिणाविभंगसुत्तवण्णना' में यह सूचना है कि जब भगवान् प्रथम बार कपिल-वस्तु आये, तो उसी समय महाप्रजावती गौतमी ने उन्हें घुस्से के जोड़े को देने का संकल्प किया। इस प्रकार बुद्ध और उनके धर्म से सम्बद्ध जो महत्त्वपूर्ण पूरक सूचनाएँ इस अट्ठकथा में भरी पड़ी हैं, उनका कोई अन्त ही नहीं है और उनका ऐतिहासिक महत्त्व भी अल्प नहीं है।

सारत्थप्पकासिनी

'गन्धवंस' और 'सद्धम्मसंगह' के वर्णनानुसार ज्योतिपाल (जोतिपाल) नामक भिक्षु की प्रार्थना पर आचार्य बुद्धघोष ने सारत्थप्पकासिनी या संयुत्त-निकाय की अट्ठकथा लिखी। अर्थ और ऐतिहासिक तथा भौगोलिक दृष्टियों से यह अट्ठकथा भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। तिष्य श्रामणेर और उनके वन-प्रेम की कथा इसमें है और इसी प्रकार सारिपुत्र के परिनिर्वाण की कथा भी, जो इस अट्ठ-

---

१. साइमन हेवावितरणे दातव्य निधि संस्करण चार भागों में है। प्रथम भाग धम्मकित्ति धम्मानन्द नायक महाथेर द्वारा सम्पादित (१९४८), द्वितीय भाग भी उन्हीं के द्वारा, तृतीय और चतुर्थ भाग धम्मकित्ति सिरि पञ्ञासार नायक थेर द्वारा (कोलम्बो, १९४७, १९५२)। 'पपञ्चसूदनी' का अलुविहार ग्रन्थमाला में प्रकाशित संस्करण भी उल्लेखनीय है। देवनागरी लिपि में डॉ० ऊ० धम्मरतन तथा डॉ० ऊ० जगराभिवंस द्वारा सम्पादित संस्करण का प्रथम भाग ही अभी मेरे देखने में आया है। नव नालन्दा महाविहार, १९७५ ई०।

२. "आयाचितो सुमतिना थेरेन भदन्तबुद्धमित्तेन।
यमहं पपञ्चसूदनिमट्ठकथं कातुमारद्धो।"

कथा की अपनी विशेषताएँ हैं। इसी प्रकार महाकाश्यप के सम्बन्ध में इस अट्ठ-कथा में कई नयी महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ हैं। इसके अलावा यहाँ इसके विषय में स्थानाभाव के कारण और कुछ नहीं कहा जा सकता।[१] 'सारत्थप्पकासिनी' का साइमन हेवावितरणे दातव्य निधि द्वारा प्रकाशित सिंहली संस्करण तीन भागों में है और विदुरपोळ पिय तिस्स महाथेर द्वारा सम्पादित है।

मनोरथपूरणी[२]

मनोरथपूरणी या अंगुत्तर-निकाय की अट्ठकथा आचार्य बुद्धघोष ने भदन्त जोतिपाल और जीवक नामक स्थविरों की प्रार्थना पर लिखी।[३] इस अट्ठकथा की एक बड़ी विशेषता यह है कि इसकी एक कनिपातवण्णना में भगवान् बुद्ध के शिष्य अनेक भिक्षु और भिक्षुणियों की जीवनियों का वर्णन किया गया है। उदाहरणतः पिंडोल भारद्वाज, पुण्ण मन्तानिपुत्त, महाकच्चान, सोण कोळिवीस, राहुल, रट्ठ-पाल, वंगीस, कुमार कस्सप, उपालि, उरुवेल कस्सप आदि के महत्त्वपूर्ण विवरण दिये हुए हैं। इसी प्रकार महाप्रजावती गौतमी तथा अन्य अनेक भिक्षुणियों के भी विवरण हैं। नाना गुणों में अग्र उपासक-उपासिकाओं की भी कथा-वस्तुएँ इसी प्रकार वर्णित हैं। ये वर्णन थेर-थेरी-गाथा, थेर-थेरी अपदान, इनकी अट्ठ-कथाओं और धम्मपदट्ठकथा आदि के महत्त्वपूर्ण पूरक हैं और इन सबको साथ मिलाकर पढ़ने से हमें बुद्ध के साक्षात् दर्शी शिष्य-शिष्याओं के बारे में यथासम्भव पूरी जानकारी मिल सकती है। भगवान् बुद्ध के वर्षावासों का भी (मधुरत्थ-विलासिनी के समान) बड़ा अच्छा विवरण यहाँ दिया गया है। बुद्धत्व-प्राप्ति से लेकर महापरिनिर्वाण के एक वर्ष पूर्व तक के ४५ वर्षावासों को भगवान् ने कहाँ-कहाँ विताया, इस ऐतिहासिक महत्त्वपूर्ण तथ्य के विषय में कहा गया है—

---

१. सारत्थप्पकासिनी के भौगोलिक महत्त्व के लिए देखिये लेखक का "बुद्धकालीन भारतीय भूगोल", पृष्ठ ४५-४६ (हिन्दी साहित्य सम्मेलन, सं० २११८)।

२. दो भागों में साइमन हेवावितरणे दातव्य निधि ग्रन्थमाला में प्रकाशित, सम्पादक धम्मकित्ति सिरि धम्मानन्द, बुद्धाब्द २४७४ (१९३१ ई०)।

३. इस अट्ठकथा के अन्त में वे कहते भी हैं—

आयाचितो सुमतिना थेरेन भदन्त-जोतिपालेन।
कंचीपुरादिसु मया पुब्बे सद्धिं वसन्तेन॥
परिसुद्धाजीवेनाभियाचितो जीवकेनापि।
अट्ठकथं अङ्गुत्तरमहानिकायस्स कातुमारद्धो॥"

"तथागत प्रथम बोधि में बीस वर्ष तक अस्थिर वास हो, जहाँ-जहाँ ठीक रहा, वहीं-वहीं जाकर वास करते रहे। पहली वर्षा में ऋषिपतन में धर्म-चक्र प्रवर्तन कर वाराणसी के पास ऋषिपतन में वास किया। दूसरी वर्षा में राजगृह के समीप वेणुवन में। तीसरी और चौथी में भी वहीं। पाँचवीं वर्षा में वैशाली में महावन कूटागारशाला में रहे। छठवीं वर्षा में मंकुल-पर्वत पर। सातवीं त्रायस्त्रिंश भवन में। आठवीं वर्षा भर्गदेश में सुंसुमारगिरि के भेसकलावन में। नवीं कौशाम्बी में। दसवीं पारिलेय्यक वनखंड में। ग्यारहवीं नाला ब्राह्मण-ग्राम में। बारहवीं वेरंजा में। तेरहवीं चालिय पर्वत पर। चौदहवीं जेतवन में। पन्द्रहवीं कपिलवस्तु में। सोलहवीं आलवक यक्ष को दमन कर आलवी में। सत्रहवीं राजगृह में। अठारहवीं चालिय पर्वत पर। उन्नीसवीं भी वहीं। बीसवीं वर्षा में राजगृह में रहे। इस प्रकार तथागत ने बीस वर्ष, जहाँ-जहाँ ठीक हुआ, वहीं वर्षावास किया। इससे आगे दो ही निवास-स्थान स्थिर वास के लिए किये। कौन से दो? जेतवन और पूर्वाराम....।"[1] अतः इस अट्ठकथा के अनुसार बुद्ध के वर्षावासों का यह प्रामाणिक ब्यौरा इस प्रकार होगा:

---

१. 'मनोरथ पूरणी' (दुकनिपातवण्णना) में आया मूल पालि पाठ इस प्रकार है, "तथागतो हि पठमबोधियं वीसति वस्सानि अनिबद्धवासो हुत्वा यत्थ-यत्थ फासुकं होति, तत्थ तत्थेव गन्त्वा वसि। पठमकअन्तोवस्सं हि इसिपतने धम्मचक्कं पवत्तेत्वा बाराणसिं उपनिस्साय इसिपतने वसि। दुतियं अन्तोवस्सं राजगहं उपनिस्साय वेळुवने। ततियचतुत्थानि पि तत्थेव। पञ्चमं अन्तोवस्सं वेसालिं उपनिस्साय महावने कूटागारसालायं। छट्ठं अन्तोवस्सं मंकुलपब्बते, सत्तमं तावतिंसभवने, अट्ठमं भग्गे सुंसुमारगिरं निस्साय भेसकलावने। नवमं कोसम्बियं दसमं पारिलेय्यके वनखण्डे। एकादसमं नालायं ब्राह्मणगामे, द्वादसमं वेरञ्जायं, तेरसमं चालियपब्बते, चतुद्दसमं जेतवने, पञ्चदसमं कपिलवत्थुस्मिं, सोलसमं आलवकं दमेत्वा....आलवियं, सत्तरसमं राजगहे येव। अट्ठारसमं चालिय-पब्बते येव, तथा एकूनवीसतिमं। वीसतिमं पन अन्तोवस्सं राजगहं येव उपनिस्साय वसि। एवं वीसति वस्सानि अनिबद्धवासो हुत्वा यत्थ-यत्थ फासुकं होति तत्थ तत्थेव गन्त्वा वसि। ततो पट्ठाय पन द्वे सेनासनानि धुवपरि-भोगानि अकासि। कतरानि द्वे? जेतवनं च पुब्बारामं चा'ति। मनोरथ-पूरणी, प्रथम भाग, पृष्ठ ३१४ (धम्मकित्ति सिरि धम्मानन्द द्वारा सिंहली लिपि में सम्पादित संस्करण, साइमन हेवावितरणे दातव्य निधि ग्रन्थमाला में प्रकाशित)।

वर्षा-वास	जहाँ बिताया
१	ऋषिपतन मृगदाव
२-४	राजगृह (वेणुवन)
५	वैशाली (महावन में कूटागारशाला)
६	मंकुल पर्वत
७	त्रायस्त्रिंश देवभवन
८	सुंसुमारगिरि (भेसकलावन)
९	कौशाम्बी
१०	पारिलेय्यक वनखण्ड
११	नाला ब्राह्मणग्राम
१२	वेरंजा
१३	चालिय पर्वत
१४	श्रावस्ती (जेतवन)
१५	कपिलवस्तु
१६	आलवी
१७	राजगृह
१८-१९	चालिय पर्वत
२०	राजगृह
२१-२२	श्रावस्ती (जेतवन और पूर्वाराम में)

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि बुद्ध के द्वारा वैशाली के समीप वेलुव (या बेलुव) गाँव में बिताये गये अन्तिम वर्षावास का निर्देश नहीं किया गया है।

'मनोरथपूरणी' (तिकनिपात वण्णना) में ही यह महत्त्वपूर्ण सूचना दी गयी है कि 'तथागत' ने बोधि प्राप्त करने के बाद बीस वर्षों में अधिकतर देव-मन्दिरों में ही वास किया, जैसे कि कभी चापाल चैत्य में, कभी सारन्दद चैत्य में, कभी बहुपुत्र चैत्य में, कभी सप्ताम्र चैत्य में"—"तथागतो हि पठमबोधियं वीसति वस्सानि कदाचि चापाले चेतिये, कदाचि सारन्दक्षे, कदाचि बहुपुत्ते, कदाचि सत्तम्बे'ति एवं ये—मुय्येन देवकुलेसु येव विहासी"ति।

परमत्थजोतिका[1]

परमत्थजोतिका खुद्दक-निकाय के खुद्दक-पाठ और सुत्त-निपात की अट्ठकथा है। खुद्दकपाठट्ठकथा में लिच्छवियों की उत्पत्ति की मनोरंजक कथा है; जिसका विवरण हम यहाँ विस्ताराभय के कारण नहीं दे सकते। यहीं (रतनसुत्तवण्णना में) वैशाली में पड़े दुर्भिक्ष और महामारी का वर्णन है और भगवान् के वहाँ जाकर आधे मास वास का भी। परमत्थजोतिका के अन्तर्गत खुद्दक-पाठ की अट्ठकथा के प्रसंग में अनाथपिंडिक के आराम जेतवन, राजगृह के १८ विहारों, सप्तपर्णी गुफा और वैशाली आदि के विषय में विशेष सूचना दी गयी है। महाकाश्यप, आनन्द और उपालि आदि भिक्षुओं तथा विशाखा, धम्मदिन्ना आदि भिक्षुणियों के विषय में भी कुछ अधिक सूचना दी गयी है। 'सरणत्तयवण्णना' में बुद्ध, धर्म और संघ सम्बन्धी विस्तृत व्याख्याएँ हैं। 'सुत्तनिपातट्ठकथा' में धनियसुत्तवण्णना में धनिय गोप को विदेह राष्ट्र का बताया गया है और उसके 'गोकुल' (गोशाला) का विस्तार से वर्णन किया गया है। इसी अट्ठकथा में बताया गया है कि भगवान् के दूसरी बार कपिलवस्तु में आने पर रोहिणी नदी के जल को लेकर शाक्य और कोलियों में विवाद हुआ।

धम्मपदट्ठकथा[2]

धम्मपदट्ठकथा या धम्मपद की अट्ठकथा में जातक के ढंग की कहानियों का प्राधान्य है। चार निकायों और जातक आदि से ही ये कहानियाँ संगृहीत की गयी हैं। जातक की अनेक गाथाएँ यहाँ उद्धृत की गयी हैं और उसकी कहानियों में से अनेक यहाँ उसी रूप में रखी हुई हैं। इस प्रकार लगभग ५०

---

१. "परमत्थजोतिका नाम सुत्तनिपातट्ठकथा' सुरियगोड सुमंगल थेर तथा मापलगम चन्दजोति थेर द्वारा सिंहली अक्षरों में सम्पादित, साइमन हेवावितरणे दातव्य निधि संस्करण, कोलम्बो, बुद्धाब्द २४६४ (सन् १९२० ई०)। इसी प्रकार 'परमत्थजोतिका नाम खुद्दकपाठट्ठकथा' का सिंहली संस्करण देवानन्द थेर द्वारा सम्पादित है। साइमन हेवावितरणे दातव्य निधि द्वारा ही प्रकाशित। कोलम्बो, बुद्धाब्द २४६५ (सन् १९२२ ई०)। इस अट्ठकथा (खुद्दकपाठट्ठकथा) का रोमन संस्करण भी उल्लेखनीय है, हेमर स्मिथ द्वारा सम्पादित, पालि टैक्स्ट सोसायटी, लन्दन, १९५९ ई०)।

२. सिंहली लिपि में दो भागों में श्री सुमंगल रतनसार थेर द्वारा सम्पादित, साइमन हेवावितरणे दातव्य निधि, कोलम्बो, बुद्धाब्द २४६३ (१९१९ ई०) तथा बुद्धाब्द २४६६ (१९२२ ई०)। अन्य कई सिंहली संस्करण भी उपलब्ध हैं।

कथाएँ 'धम्मपदट्ठकथा' और 'जातकट्ठकथा' में समान हैं। वास्तव में धम्मपदट्ठकथा कहानियों का एक संग्रह ही है। वासवदत्ता और उदयन की कथा भी इस अट्ठकथा में एक जगह मिलती है। अनेक कथाएँ जातक के अलावा विनय-पिटक से भी ली गयी हैं, जैसे देवदत्त, बोधिराजकुमार, छन्न आदि की कथाएँ। निश्चय ही जातक और धम्मपदट्ठकथा का पारस्परिक सम्बन्ध पालि साहित्य के इतिहास की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। धम्मपदट्ठकथा को 'सद्धम्मसंगह'[१] में आचार्य बुद्धघोष की रचना ही बताया गया है, परन्तु यह वास्तव में उनकी ही रचना है या नहीं, इसके विषय में सन्देह प्रकट किया गया है। डॉ० गायगर ने इसे आचार्य बुद्धघोष की रचना नहीं माना है।[२] उन्होंने धम्मपदट्ठकथा को जातकट्ठवण्णना से भी बाद की रचना माना है, क्योंकि दोनों में अनेक कहानियाँ समान हैं। यह एक आश्चर्य की बात है कि जो कहानियाँ यहाँ दी गयीं हैं और जिनके आधार पर धम्मपद की प्रत्येक गाथा को समझाया गया है; उन्हें भी साक्षात् बुद्धोपदेश (बुद्धदेसना) ही यहाँ बताया गया है, जो ऐतिहासिक रूप से ठीक नहीं हो सकता। कुछ भी हो, धम्मपदट्ठकथा की कहानियों में जातक के समान ही प्राचीन भारतीय जीवन, विशेषतः सामान्य जनता के जीवन की पूरी झलक मिलती है और भारतीय कथा-साहित्य में उसका भी एक स्थान है।

जातकट्ठकथा[३] या जातकत्थवण्णना

जातकट्ठकथा या जातकट्ठवण्णना या जातकत्थवण्णना जातक-गाथाओं की अट्ठकथा है। 'गन्धवंस' के अनुसार 'जातकट्ठकथा' बुद्धघोष-कृत अट्ठकथा ही है। परन्तु इसके बुद्धघोष-कृत होने में सन्देह प्रकट किया गया है। प्रधान कारण भाषा-शैली की भिन्नता का होना है।[४] डॉ० गायगर ने इसे किसी सिंहली भिक्षु

---

१. "थेरेन बुद्धघोसेन धीमता रचिता. . .धम्मपदट्ठकथा च।" पृष्ठ ४३ (देवनागरी संस्करण)।

२. उन्होंने इसे किसी मौलिक सिंहली अट्ठकथा का पालि अनुवाद माना है। देखिये उनका पालि लिटरेचर एण्ड लैंग्वेज, पृष्ठ ३२।

३. 'जातकट्ठकथा' का पाँच जिल्दों में रोमन लिपि में सम्पादन वी० फॉसबाल ने किया है, जो अति प्रसिद्ध ही है। छठे भाग में डी० एण्डरसन ने अनुक्रमणी प्रस्तुत की है। देखिये पीछे तीसरे अध्याय में जातक का विवरण।

४. कुछ अन्य निषेधात्मक कारणों के लिए देखिये डी० हुपुत्ते, रायस डेविड्स : बुद्धिस्ट बर्थ स्टोरीज, पृष्ठ ५९-६०

की रचना माना है, फिर चाहे वह भले ही बुद्धघोष क्यों न हो।[1] वस्तुतः जातक-ट्ठवण्णना के लेखक सिंहली भिक्षु चुल्ल बुद्धघोष थे; जो बुद्धघोष के प्रायः सम-कालिक थे, या उनके थोड़े ही बाद हुए। 'गन्धवंस' में भी एक सिंहली भिक्षु चुल्ल बुद्धघोषाचार्य का उल्लेख है, जिनकी दो रचनाएँ वहाँ बतायी गयी हैं 'जातत्तगीनिदान' और 'सोतत्तगीनिदान'। सम्भव है कि 'जातत्तगीनिदान' ही जातकट्ठकथा या जातकट्ठवण्णना हो?[2] प्राचीन सिंहली अट्ठकथाओं से लेखक ने अपनी सामग्री का संकलन किया है। एक मान्यता यह भी है कि सिंहली भाषा में पहले से ही 'जातकट्ठवण्णना' नाम की एक जातक-अट्ठकथा प्रचलित थी, जिसमें गाथाएँ मूल पालि में थीं और शेष अंश सिंहली में था और पालि जातकट्ठकथा उसी का पालि में अनुवाद है। इसके विपरीत यह भी माना जाता है कि जातक-कथाओं का पाठ आरम्भ से ही अपने मौलिक पालि रूप में सिंहल में सुरक्षित रहा है। कुछ भी हो, जातक की कहानियों या आख्यानों की अपेक्षा धम्मपदट्ठकथा की कहानियाँ अपने स्वरूप में बुद्ध-उपदेशों की भावना से अधिक भावित हैं। वास्तव में यहाँ तो लोक-विश्वासों की ही झलक अधिक मिलती है। भूत और वर्तमान के (बुद्ध) जीवन की कहानियों की पृष्ठभूमि में बहुत कुछ अन्तर पाया जाता है, अतः उत्तरकालीन क्षेपकों और परिवर्द्धनों की भी इस ग्रन्थ में आशंका की गयी है। दो जातक कथाओं (हत्थिपाल जातक और मूगपक्ख जातक) में तो कुछ सिंहली भिक्षुओं के नाम तक आये हैं। कुछ भी हो; भारतीय कथानक-साहित्य के प्राचीन रूप को जानने के लिए जातक (गाथा-जातक) के समान उसकी इस अट्ठकथा को भी पढ़ना आवश्यक है; इसमें सन्देह नहीं। उसके सम्बन्ध में अन्य बातों का विवेचन हम पहले 'जातक' के प्रसंग में कर चुके हैं।

अभिधम्म-पिटक सम्बन्धी अट्टकथाएँ

आचार्य बुद्धघोष की अभिधम्म-पिटक सम्बन्धी अट्ठकथाएँ भी बड़ी महत्त्व-

---

(श्रीमती रायस डेविड्स द्वारा संशोधित संस्करण, जार्ज रटलेज ऐण्ड संस, लन्दन)।

१. पालि लिटरेचर ऐण्ड लैंग्वेज, पृष्ठ ३१।

२. देखिए मललसेकर : दि पालि लिटरेचर ऑफ सिलोन, पृष्ठ १२६।

पूर्ण हैं। इनमें सबसे पहला स्थान 'अट्ठसालिनी'[1] का है, जो 'धम्मसंगणि' की अट्ठकथा है। वास्तव में इसके समान गम्भीर और दुरूह दूसरी रचना अनुपिटक साहित्य में नहीं है। जैसा हम पहले देख चुके हैं, 'महावंस' के धम्मकित्ति-विरचित परिवर्द्धित अंश के अनुसार आचार्य बुद्धघोष ने 'अट्ठसालिनी' की रचना लंका को प्रस्थान करने से पहले ही की थी। यह बात ठीक नहीं हो सकती। लंका जाकर बुद्धघोष महास्थविर ने 'विसुद्धिमग्ग' लिखा, यह तो निश्चित ही है। उसके बाद ही 'अट्ठसालिनी' लिखी गयी, यह हमें जानना चाहिए। इसका कारण यह है कि 'अट्ठसालिनी' के आरम्भ की गाथाओं में स्वयं आचार्य बुद्धघोष ने कहा है, "सब कर्म-स्थान (समाधि के आलम्बन), चर्या, अभिज्ञा और विपश्यना का प्रकाशन मैं 'विसुद्धिमग्ग' में कर चुका हूँ, इसलिए फिर उनका यहाँ विवरण नहीं करूँगा।"[2] अतः 'अट्ठसालिनी' को 'विसुद्धिमग्ग' के बाद की ही रचना मानना चाहिए। यह हो सकता है कि उसकी एक प्राथमिक रूपरेखा आचार्य बुद्धघोष ने यहाँ बनायी हो। प्रस्तुत रूप में तो वह निश्चित रूप से 'विसुद्धिमग्ग' के बाद की रचना है। अभिधम्म के जिज्ञासुओं के लिए 'अट्ठसालिनी' का कितना अधिक महत्त्व है, यह बताने की आवश्यकता नहीं। 'अट्ठसालिनी' के अलावा 'सम्मोहविनोदनी' नाम की अट्ठकथा आचार्य बुद्धघोष ने विभंग पर लिखी।[3] अन्य पाँच अभिधम्म-ग्रन्थों पर भी उन्होंने अट्ठकथाएँ लिखीं, जिनके नाम हैं क्रमशः धातुकथापकरणट्ठकथा, पुग्गलपञ्ञत्तिपकरणट्ठकथा, कथावत्थु-पकरण-अट्ठकथा[4], यमकपकरणट्ठकथा और पट्ठानपकरणट्ठकथा। ये पाँचों अट्ठकथाएँ मिलकर

---

१. पालि टैक्स्ट सोसायटी संस्करण एडवर्ड मुलर द्वारा सम्पादित, लन्दन, १८९७ ई०। देवनागरी लिपि में पी० वी० बापट तथा आर० डी० बड़ेकर द्वारा सम्पादित, भण्डारकर ओरियन्टल सीरीज, संख्या ३, प्रथम संस्करण, पूना, १९४२।

२. कम्मट्ठानानि सब्बानि चरियाभिञ्ञा विपस्सना।
विसुद्धिमग्गे पनिदं यस्मा सब्बं पकासितं ॥आदि॥

३. 'सम्मोहविनोदिनी नाम विभंगट्ठकथा' देवनागरी लिपि में भिक्षु ऊ० धम्मरतन द्वारा सम्पादित, नव नालन्दा महाविहार, नालन्दा, १९६१ ई०।

४. इस अट्ठकथा के अनुसार अशोक के काल तक उत्पन्न १८ बौद्ध सम्प्रदायों और उनके मतों का उल्लेख हम पाँचवें अध्याय में 'कथावस्तु' के विश्लेषण के प्रसंग में कर चुके हैं।

'पञ्चप्पकरणट्ठकथा' कहलाती हैं। 'पञ्चप्पकरणट्ठकथा' का दो भागों में देवनागरी लिपि में सम्पादन प्रो० महेश तिवारी ने किया है, जिसे नव नालन्दा, महाविहार ने प्रकाशित किया है।

अन्य रचनायें

जैसा बुद्धघोष की जीवनी के प्रसंग में कहा जा चुका है, लंका-गमन से पूर्व आचार्य बुद्धघोष ने रेवत स्थविर के पास रहते हुए 'आणोदय' (ज्ञानोदय) नामक ग्रन्थ लिखा था और 'परित्तट्ठकथा' नाम से सम्पूर्ण तिपिटक पर एक संक्षिप्त अट्ठकथा लिखनी आरम्भ की थी। ये रचनाएँ आज नहीं मिलतीं। 'सासन-वंस'[1] के अनुसार आचार्य बुद्धघोष 'पिटकत्तयलक्खण गन्थ' (पिटकत्रयलक्षण ग्रन्थ) नामक ग्रन्थ के भी रचयिता थे, किन्तु यह ग्रन्थ भी आज नहीं मिलता। महाकाव्य की शैली पर बुद्ध-जीवनी के रूप में लिखित 'पद्यचूड़ामणि' नामक ग्रन्थ भी, जिसे मद्रास सरकार ने प्रकाशित करवाया था, उसके सम्पादक कुप्पूस्वामी शास्त्रों के द्वारा अट्ठकथाचरिय बुद्धघोष की रचना बतलाया गया है। उसकी भिन्न शैली के साक्ष्य पर डॉ० विमलाचरण लाहा ने उसे पालि अट्ठकथाकार बुद्धघोष की रचना नहीं माना है।[2] हमें भी यही मत समीचीन जान पड़ता है।

'गन्धवंस'[3] में यद्यपि 'अपदानट्ठकथा' को बुद्धघोष की रचना बताया गया है, परन्तु यह ठीक नहीं जान पड़ता। इसके लेखक कोई अज्ञात भिक्षु हैं, जो बुद्धदत्त, बुद्धघोष और धम्मपाल के बाद हुए। इसकी भाषा पर संस्कृत का बढ़ता हुआ प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है। यह इसके उत्तरकालीन होने का ही सूचक हो सकता है। अपदानट्ठकथा 'विसुद्धजनविलासिनी' के नाम से भी विदित है।[4] इसमें स्वयं बुद्ध और उनके भिक्षु-शिष्यों की जीवन-घटनाओं सम्बन्धी बहुत सी नयी सूचनाएँ मिलती हैं।

---

१. पृष्ठ १२५-१२६ (देवनागरी संस्करण)।

२. पद्य-चूड़ामणि की विषयवस्तु और शैली के विवरण तथा डॉ० लाहा के तत्सम्बन्धी निष्कर्ष के लिए देखिये उनका 'दि लाइफ ऐण्ड वर्क आफ बुद्धघोष' पृष्ठ ८५-९१।

३. पृष्ठ ५९; देखिये आगे नवें अध्याय में 'गन्धवंस' का विवरण भी।

४. विसुद्धजनविलासिनी नाम अपदानट्ठकथा (केवल थेरापदान संवण्णना) रोमन लिपि में सी० ई० गोदकुम्बुर द्वारा सम्पादित, पालि टैक्स्ट सोसायटी, १९५४ ई०।

पालि साहित्य में बुद्धघोष का स्थान

इस प्रकार आचार्य बुद्धघोष के विशाल ज्ञान की कुछ झलक हमने देखी है। वास्तव में पालि साहित्य के एक पूरे युग के वे विधायक हैं, जिनका प्रभाव अभी भी निःशेष नहीं हुआ है। उनके 'विसुद्धि-मग्ग' की ज्ञान-गरिमा पालि साहित्य में ही नहीं सम्पूर्ण भारतीय दार्शनिक इतिहास में अपना एक विशेष स्थान रखती है। इसी प्रकार उनकी अट्ठकथाओं का अर्थ-सम्बन्धी महत्त्व तो है ही, उनमें जो शब्द-चिन्तन है, वह भी महत्त्वपूर्ण है और जो महान् ऐतिहासिक और भौगोलिक सामग्री उनमें भरी पड़ी है, जिससे सम्पूर्ण प्राचीन भारतीय सामाजिक और राजनैतिक जीवन पुनरुज्जीवित हो उठता है, वह तो भारतीय इतिहास के विद्यार्थी के लिए निरन्तर उपयोग की वस्तु ही है। प्राचीन भारत, विशेषतः बुद्धकालीन भारत, सम्बन्धी नानाविध सूचनाओं का महासागर ही उनकी अट्ठकथाओं में उमड़ पड़ता है। आचार्य बुद्धघोष उन प्राचीन भारतीय आचार्यों की परम्परा में से थे जो ज्ञान के क्षेत्र को मौलिक देते हुए भी भाष्यकार के विनीत रूप में रहना ही पसंन्द करते थे। आचार्य बुद्धघोष ने हमें बहुत कुछ नया आलोक दिया है, ज्ञान के क्षेत्र को अपने ढंग से काफी विस्तृत किया है, फिर भी सदा अपने को महाविहारवासी भिक्षुओं की आदेशना-विधि का अनुगामी ही बताया है। यह उनकी विनम्रता का सूचक है। यह बड़े आश्चर्य की बात हैं कि इतना बृहत् साहित्य देते हुए भी उन्होंने अपने आपको सदा उससे मुक्त रक्खा है। सचमुच इस गुण में वे आनन्द और खुज्जुत्तरा के समान ही हैं जिनमें से प्रथम ने 'एवं मे सुत्तं' कहकर केवल बुद्ध-वचनों को दुहराया और अपनी ओर से कुछ नहीं कहा, अपने को मुक्त रक्खा और द्वितीय (खुज्जुत्तरा) ने भी इसी प्रकार "वुत्तं हेतं भगवता वुत्तमरहता ति मे सुत्तं" कहा और अपनी ओर से कुछ नहीं जोड़ा; अपने को मुक्त रक्खा। बुद्धघोषाचार्य इतना कुछ हमें बताते हैं; परन्तु अपने को उससे मुक्त रखते हैं और मानते हैं कि जो कुछ प्राचीन सिंहली अट्ठकथाओं में है या बुद्ध-वचनों की प्राचीन परम्परा में है; वही उन्होंने हमें दिया है और इसमें उनका अपना कुछ नहीं है। इतनी सारी अट्ठकथाओं में उन्होंने केवल कुछ ही जगह "अयं पन में अत्तनो मति" (यह मेरी अपनी मति है) या "अम्हाकं खन्ति" (ऐसा हमें लगता है, रुचता है) जैसा कहा है। यह अपने आपको छोड़ना, मुक्त रखना, गहरी अनासक्ति की देन है और इसे मैं बुद्धघोष का सबसे बड़ा गुण मानता हूँ। बुद्धघोष महास्थविर ने सद्धम्म की चिरस्थिति के लिए जो काम किया है; उसी के कारण हम आज बुद्ध और उनके युग को इतनी सजीवता के साथ समझ सके हैं। बुद्धघोष की अट्ठकथाओं से लुम्बिनी, कौशाम्बी, राजगृह,

उरुवेला और कपिलवस्तु की स्मृतियों को आज भी नया बनाया जा सकता है और बुद्ध के मानस की खोजकर उससे स्वयं फिर जिया जा सकता है अर्थात् चित्त को राग, द्वेष और मोह से मुक्त किया जा सकता है। जब तक 'विसुद्धिमग्ग' और 'अट्ठसालिनी' जैसे गम्भीर दार्शनिक ग्रन्थ और 'सुमंगलविलासिनी' और 'समन्तपासादिका' जैसी ऐतिहासिक सामग्री-परिपूर्ण अट्ठकथाएँ पालि में विद्यमान हैं, तब तक ज्ञान और इतिहास के गवेषक सदा उसके दरवाजे पर आते रहेंगे और प्रसंगवश उस विनीत, साक्षात् मैत्रेय, महास्थविर की अनुस्मृति भी करते रहेंगे जो ज्ञानपिपासावश भारत से लंका दौड़ा गया था और जिसने वहाँ ग्रन्थाकार परिवेण में बैठकर दिन-रात बुद्ध-शासन का चिन्तन किया था और उसके मर्म को भी पाया था। हम आचार्य बुद्धघोष की इसी अनुस्मृति के साथ इस प्रकरण को समाप्त करते हैं।

धम्मपाल और उनकी अट्ठकथाएँ

आचार्य बुद्धघोष के समकालिक बुद्धदत्त (जिनका विवरण पहले दिया जा चुका है) के अलावा एक अन्य प्रसिद्ध अट्ठकथाकार आचार्य धम्मपाल हैं। आदरपूर्वक वे भदन्ताचार्य धर्मपाल स्थविर (भदन्ताचरियो धम्मपालत्थेरो) के रूप में निर्दिष्ट किये जाते हैं। धम्मपाल बुद्धघोष के कुछ परवर्ती ही थे; परन्तु कितने, यह निश्चित करना कठिन है। वास्तव में बुद्धदत्त और धम्मपाल दोनों ने बुद्धघोष के काम को ही पूरा किया है। धम्मपाल का जन्म तमिल-प्रदेश में काञ्चीपुर में हुआ था। इनकी भी शिक्षा सिंहल के महाविहार में हुई थी। तदनन्तर इन्होंने दमिल (तमिल) प्रदेश के पदरतित्थ (या बदरतित्थ) नामक विहार में आकर निवास किया और यहीं अपनी अट्ठकथाएँ लिखीं। आचार्य धम्मपाल की रचनाएँ ये हैं—

१. परमत्थदीपनी—खुद्दक-निकाय के उन ग्रन्थों की अट्ठकथा है जिन पर बुद्धघोष ने अट्ठकथा नहीं लिखी। इस प्रकार धम्मपाल की इस अट्ठकथा के अन्तर्गत उदान, इतिवुत्तक, विमानवत्थु, पेतवत्थु, थेरगाथा, थेरीगाथा एवं चरियापिटक की अट्ठकथाएँ सम्मिलित हैं। इनमें विशेषतः उदान, इतिवुत्तक और थेर-थेरी गाथाओं की अट्ठकथाएँ ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। 'थेरगाथट्ठकथा' और 'थेरीगाथट्ठकथा' में अट्ठकथाकार ने भगवान् बुद्ध के शिष्य-शिष्याओं भिक्षु-भिक्षुणियों की जीवनियों को अनुविद्ध किया है।[1] अन्य

---

१. प्रस्तुत लेखक ने 'थेरीगाथाएँ' शीर्षक अपने थेरीगाथा-अनुवाद में, जो

अट्ठकथाएँ भी अपनी-अपनी दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। 'उदानट्ठकथा' में 'खन्धदेवसिवादिपरिचरणं' ('स्कन्धदेवशिवादिपरिचरणं') का उल्लेख है। 'इतिवुत्तकट्ठकथा' में विस्तार से दिखाया गया है कि 'इतिवुत्तक' में उन बुद्ध-वचनों का संग्रह है जिन्हें खुज्जुत्तरा ने बुद्ध-मुख से कौशाम्बी में सुना था। इस प्रकार 'परमत्थदीपनी' नाम के अन्तर्गत आनेवाली सब अट्ठकथाओं का अपना-अपना महत्त्व है, जिसके विस्तार में हम यहाँ नहीं जा सकते।

२. नेत्तिपकरणट्ठकथा या नेत्तिप्पकरणस्स अत्थसंवण्णना (नेत्तिपकरण की अट्ठकथा)। सिंहली लिपि में इसका सम्पादन विदुरुपोल पिय तिस्स थेर द्वारा किया गया है। साइमन हेवावितरणे दातव्य निधि संस्करण, बुद्धाब्द २४६४ (१९२१ ई०)।

३. नेत्तित्थकथाय टीका या लीनत्थवण्णना उपर्युक्त नेत्तिपकरण-अट्ठ कथा की टीका)।

४. परमत्थमञ्जूसा[1] या महाटीका-विसुद्धिमग्ग की अट्ठकथा या टीका।

५. लीनत्थप्पकासिनी या लीनत्थवण्णना—प्रथम चार निकायों की बुद्ध-घोष-कृत अट्ठकथाओं की टीका। इसी नाम से जातकट्ठकथा की एक टीका भी इन्होंने लिखी, ऐसा गन्धवंस से प्रकट होता है।

६. जातकट्ठकथा की टीका, जिसका भी नाम 'लीनत्थवण्णना' या लीनत्थप्पकासिनी है।

७. बुद्धदत्त-कृत मधुरत्थविलासिनी (बुद्धवंस की अट्ठकथा) की टीका। धम्मपाल-कृत उपर्युक्त ग्रन्थ में सबसे अधिक प्रसिद्ध परमत्थदीपनी[2] है।

सस्ता साहित्य मण्डल, नयी दिल्ली, द्वारा प्रकाशित हुआ है, परमत्थदीपनी के आधार पर भिक्षुणियों की जीवनियों को संक्षिप्त रूप से ग्रथित किया है। द्वितीय संस्करण, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९६७ ई०।

१. देवनागरी लिपि में 'परमत्थमञ्जूसा' टीका (मूल 'विसुद्धिमग्ग' के सहित) तीन भागों में वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी द्वारा प्रकाशित। सिंहली लिपि में 'परमत्थमञ्जूसा' नाम विसुद्धिमग्गट्ठकथा' बुद्धदत्त थेर द्वारा सम्पादित है।

२. यह अलग-अलग जिल्दों में साइमन हेमावितरणे दातव्य निधि ग्रन्थमाला में सिंहली अक्षरों में प्रकाशित हो चुकी है। उदानट्ठकथा—विहलपोल सिरि देवरक्खित थेर द्वारा सम्पादित। इतिवुत्तक अट्ठकथा—मोरोन्तुडुवे धम्मानन्द नायक थेर द्वारा सम्पादित, पेतवत्थु—अट्ठकथा—सिरि धम्माराम तिस्स नायक थेर

शेष में से कुछ प्राप्त भी नहीं है। कुछ ऐसी भी हैं जिनके विषय में यह निश्चय नहीं किया जा सकता कि ये किस धम्मपाल की हैं, क्योंकि इस नाम के कई भिक्षु कई शताब्दियों में हो चुके हैं। बुद्धदत्त, बुद्धघोष और धम्मपाल की उपर्युक्त अट्ठकथाओं में से अधिकांश के रोमन, वरमी, सिंहली और स्यामी संस्करण मिलते हैं। विशेषतः साइमन हेवावितरणे दातव्य निधि की ओर से प्रकाशित सिंहली संस्करण उल्लेखनीय हैं। नागरी लिपि में अभी कुछ ही के संस्करण हुए हैं, हिन्दी अनुवादों की तो कोई बात ही नहीं !

आचार्य धम्मपाल-कृत अट्ठकथाओं के मूल्यांकन के लिए यहाँ अवकाश नहीं है। फिर भी साधारणतः इतना कह देना आवश्यक है कि उन्होंने बहुत अधिक हद तक बुद्धघोषाचार्य का अनुसरण ही किया है और कहीं-कहीं बुद्धघोष की व्याख्याओं को ही कुछ अधिक कह कर परिपूर्णता प्रदान की है। ग्रामों, नगरों; नदियों, व्यक्तियों आदि के नामों की व्याख्याएँ प्रायः बुद्धघोष का ही अनुसरण करती हैं। कहीं-कहीं उन्होंने महत्त्वपूर्ण अक्षर-चिंतन किये हैं, जैसे उदानट्ठकथा में 'मुचलिन्द' वृक्ष के सम्बन्ध में, 'नेरञ्जरा' नदी के सम्बन्ध में, 'उरुवेला' नामक स्थान के सम्बन्ध में, आदि। इसी प्रकार उन्होंने उदानट्ठकथा में ही कपिल और कणाद के मतों के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण अतिरिक्त सूचना दी है। थेर-थेरी गाथाओं की अट्ठकथाओं में बुद्ध के भिक्षु-भिक्षुणी शिष्य-शिष्याओं के सम्बन्ध में जो सामग्री दी गयी है वह तो शैली में प्रशस्त और महत्त्व में अनन्य साधारण ही कही जा सकती है। विशेषतः थेरगाथट्ठकथा में जो बुद्ध के अस्सी महाश्रावक स्थविरों के नामों की पूरी सूची दी गयी है, वह लक्षणीय रूप से महत्त्वपूर्ण है। इस प्रकार आचार्य

द्वारा सम्पादित, थेरगाथट्ठकथा—दो भागों में सम्पादित, प्रथम भाग के सम्पादक सुरियगोड सुमंगल थेर तथा द्वितीय भाग के सम्पादक अरियानण थेर। थेरीगाथट्ठकथा, सिरि देवरक्खित नायक थेर द्वारा सम्पादित है। 'थेरगाथट्ठकथा' का रोमन लिपि में सम्पादन एफ० एल० वुडवर्ड ने तीन जिल्दों में किया है, जो भी उल्लेखनीय है। पालि टैक्स्ट सोसायटी, लन्दन, १९५२-५९। जहाँ तक देवनागरी संस्करणों का सम्बन्ध है, अभी हाल में कुछ निकले हैं और आगे निकलने वाले हैं। थेरगाथा-अट्ठकथा, प्रथम भाग, डॉ० अंगराज चौधरी द्वारा सम्पादित, नव नालन्दा महाविहार, १९७६ ई०। इतिवुत्तक-अट्ठकथा, श्री मिथिलेश्वर प्रसाद द्वारा सम्पादित, नव नालन्दा महाविहार, १९७५ ई०। सुत्तनिपात-अट्ठकथा, दो भागों में, डॉ० अंगराज चौधरी द्वारा सम्पादित, नव नालन्दा महाविहार, १९७४, १९८५ ई०।

धम्मपाल ने बुद्धघोष के काम को पूरा किया है और उसकी अट्ठकथाओं का महत्त्व बुद्धघोष के बाद लक्षणीय ही माना जाना चाहिए। उन्होंने स्वयं 'थेरगाथेट्ठकथा' में जहाँ-तहाँ भिक्षुओं की जीवन-स्मृतियों में बुद्धघोष-कृत धम्म पदट्ठकथा, अङ्गुत्तर-निकाय की अट्ठकथा (मनोरथपूरणी) और खुद्दकपाठट्ठकथा आदि का निर्देश उनसे काफी सूचना भी ली है। इस प्रकार धम्मपालाचार्य बुद्धघोष के काम को पूरा करने वाले महान् अट्ठकथाकार हैं।

बुद्धघोष-युग के अन्य पालि अट्ठकथाकार

बुद्धदत्त, बुद्धघोष और धम्मपाल के अलावा इस युग के बाद में आने वाले अन्य पालि अट्ठकथाकारों में इनके नाम मुख्य हैं—(१) आनन्द, (२) चुल्ल (या चूल); धम्मपाल, (३) उपसेन, (४) महानाम (नव महानाम), (५) काश्यप (कस्सप); (६) वज्रबुद्धि (वंजिर बुद्धि), (७) क्षेम (खेमं), (८) अनिरुद्ध (अनुरुद्ध) (९) धर्मश्री (धम्मसिरि) और (१०) महास्वामी (महासामि)। आनन्द भारतीय भिक्षु थे। इनकी शिक्षा लंका में हुई थी। इनका समय आठवीं या नवीं शताब्दी ईसवी है।[१] यह आनन्द 'वनरतन तिस्स' भी कहलाते थे, क्योंकि इनका सम्बन्ध श्रीलंका के वनवासी सम्प्रदाय (अरण्यवासी निकाय) से था। इन्होंने बुद्धघोष की अभिधम्म-सम्बन्धी अट्ठकथाओं की सहायक स्वरूप 'मूल-टीका' या 'अभिधम्म-मूल टीका'[२] लिखी, जो 'परमत्थप्पकासिनी' या 'सत्ताभिधम्मगन्धट्ठकथाय मूल टीका' के नाम से प्रसिद्ध है। यही इनकी एकमात्र प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण रचना है।[३] चुल्ल धम्मपाल इन्हीं आनन्द (वनरतन तिस्स) के शिष्य थे और

---

१. देखिये मललसेकर : दि पालि लिटरेचर ऑव सिलोन, पृष्ठ २१०; श्रीमती मेबिल बोड के अनुसार इनका समय छठी शताब्दी है। देखिये उनका 'दि पालि लिटरेचर ऑफ बर्मा, पृष्ठ ७। गायगर इन्हें बुद्धघोष का समकालिक मानते हैं। देखिये उनकी 'पालि लिटरेचर ऐण्ड लैंग्वेज', पृष्ठ ३३-३४।

२. "अभिधम्मटीकं पन आनन्दथेरो अकासि। सा च सब्बासं टीकानं आदिभूतत्ता मूलटीका'ति पाकटा।" सासनवंसो, पृष्ठ ३१ (देवनागरी संस्करण)।

३. आनन्द नाम के कई स्थविर श्रीलंका (और बरमा) में हुए हैं, जिनका पालि साहित्य के इतिहास में स्थान है और उनके विभेद को हमें समझ लेना चाहिए। एक तो आनन्द वनरतन तिस्स हैं ही, अट्ठकथाकार, जिनका उल्लेख हम यहाँ कर चुके हैं। चुल्ल धम्मपाल के गुरु भारतीय भिक्षु, जिन्होंने श्रीलंका में अध्ययन किया,

इन्होंने 'सच्च संखेप' (सत्य संक्षेप) लिखा। अपने गुरु (आनन्द वनरतन तिस्स) की 'मूल टीका' पर इन्होंने 'लीनत्थवण्णना' नाम की एक अनुटीका भी

वनवासी सम्प्रदाय से सम्बन्धित, 'मूल टीका' या 'अभिधम्म-मूल-टीका' के लेखक, समय आठवीं-नवीं शताब्दी। एक दूसरे आनन्द हैं आनन्द वनरतन। यह एक सिंहली भिक्षु थे और इनका समय बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी है। इनका भी सम्बन्ध वनवासी या अरण्यवासी सम्प्रदाय से था। यह आनन्द वनरतन उदुम्बर गिरि मेधंकर के शिष्ट के और बुद्धप्पिय या 'चोलिय दीपंकर' (रूपसिद्धि और पज्जमधु के रचयिता) और वेदेह थेर (समन्तकूटवण्णना और रसवाहिनी के लेखक) के गुरु थे। बुद्धप्पिय ने इन्हें 'तम्बपण्णिद्धज' कहा है, इसलिए इनका सिंहली भिक्षु होना सिद्ध है। आनन्द वनरतन सम्भवतः विजयबाहु तृतीय (१२३२-३६ ई०) के समकालिक थे। इन्होंने पियदस्सि-कृत पद-साधन और धम्मसिरि-कृत खुद्द-सिक्खा या खुद्दकसिक्खा का सिंहली भाषा में अनुवाद किया। बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी के ही एक अन्य भिक्षु थे आनन्द, जिन्हें बरमी भिक्षु छपद (सद्धम्मजोतिपाल) अन्य तीन भिक्षुओं (राहुल, सीवली और तामलिन्द) के साथ लंका से बरमा ले गये थे, जहाँ उनकी सहायता से उन्होंने पगान में 'सीहल-संघ' की स्थापना की। इन आनन्द भिक्षु को 'सासनवंस' (पृष्ठ ३८, ६४, देवनागरी संस्करण) में 'कञ्चिपुर नगर' का वासी बताया गया है। इससे यह स्पष्ट है कि वे मूलतः भारत की काञ्चीपुरी के निवासी थे, तदनन्तर वहाँ से सिंहल गए और सिंहल से भी छपद के साथ बरमा गए। यद्यपि इन भिक्षु आनन्द ने कोई रचना नहीं छोड़ी है, परन्तु इस कारण उन्हें पालि साहित्य के इतिहास में स्थान देने से वंचित नहीं किया जा सकता। उनके साथ एक मनोरंजक कहानी जो लगी है। एक बार बरमी राजा नरपति ने उन्हें एक हाथी भेंट किया। उस हाथी को उन्होंने अपने सम्बन्धियों के के पास काञ्चीपुरी में भिजवाना चाहा। इस पर जब उनके साथी भिक्षुओं ने आपत्ति की, तो आनन्द स्थविर ने उनसे प्रत्युत्तर-स्वरूप कहा, "किं नाम, भन्ते, ञातकानं संगहो न वट्टती" ति? ननु "ञातकानञ्च संगहो" ति भगवतावुत्त"ति। सासनवंसो, पृष्ठ ६४ (देवनागरी संस्करण)। एक अन्य आनन्द 'सद्धम्मोपायन' के रचयिता हैं, जो 'अभयगिरि कवि चक्रवर्ती आनन्द' भी कहलाते हैं। इनका भी समय बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी है। एक अन्य आनन्द हंसवती या हंसावती (पेगू नगर-वर्मा) में भी हुए हैं, सोलहवीं शताब्दी में, जिन्होंने आनन्द वनरतन तिस्स द्वारा लिखित 'अभिधम्म मूल टीका' या ('मूल टीका') पर ही 'मधुसारत्थदीपनी' नाम से एक अनुटीका लिखी, बरमी ग्रन्थ 'पिटकत्थमेन्' के अनुसार।

लिखी।[1] उपसेन 'सद्धम्मप्पजोतिका'[2] या 'सद्धम्मट्ठितिका' नामक महानिद्देस की अट्ठकथा के लेखक हैं। सिंहली भिक्षु महानाम ने पटिसम्भिदामग्ग की अट्ठकथा 'सद्धम्मप्पकासिनी' (या सद्धम्मविलासिनी) शीर्षक से लिखी।[3] यह महानाम महाविहार के उत्तरमन्ति-परिवेण में रहते थे। काश्यप ने (जो चोलरट्ठवासी होने के कारण भदन्ताचरिय चोलिय कस्सप महाथेर के नाम से भी प्रसिद्ध हैं और 'दमिलरट्ठवासी कस्सप थेर' के नाम से भी विदित हैं), मोहविच्छेदनी और विमति-च्छेदनी (या विमतिविनोदिनी—'समन्तपासादिका' की टीका) नामक विवे-चनात्मक ग्रन्थों की रचना की।[4] गन्धवंस के अनुसार 'अनागतवंस' के भी लेखक

'सासनवंस' में भी 'मधुसारत्थदीपनी' को हंसावती के ही और इसी काल के आनन्द स्थविर की रचना बतलाया गया है। "हंसावतीनगरवासी पन आनन्दथेरो मधु-सारत्थदीपनिं नाम अभिधम्मटीकाय संवण्णनं अकासि।" पृष्ठ ४५ (देवनागरी संस्करण)। इन्हीं आनन्द स्थविर को महानन्द या महानाम भी कह कर पुकारा जाता है, जिसके लिए देखिए आगे आठवें परिच्छेद में सोलहवीं शताब्दी के पालि साहित्य के विवरण-प्रसंग में महानाम या महानन्द नामक बरमी भिक्षु लेखक का परिचय।

१. "····अनुटीकं पन आचरियधम्मपाल थेरो (अकासि)। सा च मूलटीकाय अनुत्तानत्थानि उत्तानानि कत्वा संवण्णितत्ता अनुटीका"ति वुच्चति।" सासनवंसो, पृष्ठ ३१ (देवनागरी संस्करण)। यहाँ आनन्द=आनन्द वनरतन तिस्स और आचरिय धम्मपालथेर चुल्ल धम्मपाल, यह स्पष्ट ही है।

२. सिंहली लिपि में बोरुग्गभुवे आचार्य सिरि रेवत थेर द्वारा सम्पादित, साइमन हेवावितरणे दातव्य निधि ग्रन्थमाला, संख्या १० में प्रकाशित, कोलम्बो, १९२१ ई०। सी० वी० जोशी द्वारा तीन जिल्दों में रोमन लिपि में सम्पादित, पालि टैक्स्ट सोसायटी, लंदन १९३३, १९४०, १९४७ ई०।

३. "पटिसम्भिदामग्गट्ठकथं महानामो नाम थेरो अकासि।" सासनवंसो, पृष्ठ ३१ (देवनागरी संस्करण)। सिंहली लिपि में मंगल धम्मकित्ति सिरि जिनरतन नायक थेर तथा पण्डित सोरत थेर द्वारा सम्पादित, साइमन हेवा-वितरणे दातव्य निधि संस्करण, कोलम्बो, १९२७ ई०।

४. "विमतिविनोदनिं नाम विनयटीकं दमिलरट्ठवासी कस्सप थेरो अकासि····मोहविच्छेदनिं पन लक्खणगन्धं कस्पथेरो अकासि।" सासनवंसो, पृष्ठ ३१ (देवनागरी संस्करण)। मिलाइए "थेरेन कस्सपव्हेन चोलरट्ठनिवासिना। कविना रचिता टीका विमत्यादिविनोदनी।" सासनवंस-

यही थे। वज्रबुद्धि ने 'वजबुद्धि' नाम की ही टीका 'समन्तपासादिका' पर लिखी।[1] क्षेम ने 'खेमप्पकरण' नामक ग्रन्थ की रचना की।[2] यह 'परमत्थदीप' के नाम से भी प्रसिद्ध है। अनिरुद्ध (अनुरुद्ध) (अभिधम्म-साहित्य सम्बन्धी प्रसिद्ध ग्रन्थ 'अभिधम्मत्थसंगह' के रचयिता हैं। अनिरुद्ध ने ही अभिधम्म-सम्बन्धी दो ग्रन्थ और लिखे हैं (१) परमत्थ-विनिच्छय और (२) नामरूप-परिच्छेद। इन दोनों ग्रन्थों पर बाद में अनेक टीकाएँ लिखी गयीं। अनिरुद्ध सिंहली भिक्षु थे। उनका समय सम्भवतः ग्यारहवीं या बारहवीं शताब्दी और सम्भवतः उन्होंने कुछ समय काञ्चीपुर में भी बिताया।[3] मुख्यतः वे पोलोन्नरुवा के मूलसोम विहार में निवास करते थे। यहीं उन्होंने 'अभिधम्मत्थ-संगह' लिखा। सम्भवतः 'अनुरुद्ध-सतक' भी उन्होंने लिखा। अनिरुद्ध के ग्रन्थों पर बाद में एक बड़ा सहायक साहित्य लिखा गया, जिसका विवरण हम आगे टीकाओं के युग में देंगे। अनुराधपुर के भिक्षु धर्मश्री ने विनय-सम्बन्धी अट्ठकथा-साहित्य को 'खुद्दक-सिक्खा' (क्षुद्रक-शिक्षा) या 'खुद्द-सिक्खा' नामक ग्रन्थ दिया और अनुराधपुर के ही सिंहली भिक्षु महास्वामी ने इसी विषय-सम्बन्धी 'मूल-सिक्खा' (मूल-शिक्षा)। धम्मसिरि और महासामि का समय परम्परागत रूप से चौथी शताब्दी ईसवी माना जाता है,[4] जो कुछ पूर्व मालूम पड़ता है।

बुद्धदत्त, बुद्धघोष और धम्मपाल के बाद जिस अट्ठकथा-साहित्य का ऊपर उल्लेख किया गया है, उसमें अनिरुद्ध-कृत 'अभिधम्मत्थसंगह'[5] का एक अपना

दीप, गाथा १२०४। 'मोहविच्छेदनी' ही 'अभिधम्ममातिकत्थवण्णना' भी कहलाती है। रोमन लिपि में अग्ग महापण्डित ए० पी० बुद्धदत्त महाथेर द्वारा सम्पादित, पालि टैक्स्ट सोसायटी, लन्दन, १९६१ ई०।

१. "वजिरबुद्धि नाम विनयगण्ठिपदं वजिरबुद्धिथेरो अकासि।" सासनवंसो पृष्ठ ३२ (देवनागरी संस्करण)।

२. "खेमं खेमथेरो (अकासि)।" वही पृष्ठ ३२।

३. मललसेकर : दि पालि लिटरेचर ऑव सिलोन, पृष्ठ १६९-१७०। श्रीमती मेबिल बोड अनरुद्ध को सिंहली भिक्षु मानती हैं, परन्तु उनका समय छपद (बारहवीं शताब्दी) से कुछ पूर्व ही मानती हैं। देखिए उनकी 'दि पालि लिटरेचर ऑव बरमा', पृष्ठ १८।

४. देखिए मललसेकर : दि पालि लिटरेचर ऑव सिलोन, पृष्ठ ७७।

५. अभिधम्मत्थसंगह, मूल पालि तथा आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी-रचित उसकी पालि टीका 'नवनीत टीका' के सहित, देवनागरी लिपि में महाबोधि सभा

अलग स्थान है। उसके अध्ययन का एक अलग इतिहास ही है। सुमंगल, छपद, वेपुल्लवुद्धि और अरियवंश जैसे विद्वान् भिक्षुओं ने उस पर व्याख्याएँ विभिन्न युगों में लिखी हैं। 'पिटकत्यमेन' में कहा गया है कि अकेली बरमी भाषा में उस पर कम से कम तेईस 'निस्सय' लिखे गये हैं।[१] पालि साहित्य के इतिहास की किसी भी योजना में वह एक स्वतन्त्र परिच्छेद का अधिकारी हैं। उतना अवकाश तो इस कृति को यद्यपि हम यहाँ नहीं दे सकते, फिर भी अन्य की अपेक्षा इसका कुछ अधिक विस्तृत विवरण यहाँ अपेक्षित है। वह भी न केवल इसकी स्वतन्त्र महत्ता की दृष्टि से ही, बल्कि इसलिए भी कि इसकी विषयवस्तु का उल्लेख या विवेचन करते समय न केवल सम्पूर्ण अभिधम्म-पिटक की ही विषयवस्तु बल्कि उसकी अट्ठकथाओं का भी बहुत कुछ सारांश यहाँ स्वतः आ जाता है।

अभिधम्मत्थसंगह के सिद्धान्तों का संक्षिप्त विश्लेषण

'अभिधम्मत्थसंगह' में परमार्थ रूप से चार पदार्थों (धर्मों) की सत्ता मानी गयी है, यथा चित्त, चेतसिक, रूप और निर्वाण।[२] हेतुओं से युक्त चित्त को 'सहेतुक' और उनसे वियुक्त चित्त को 'अ-हेतुक' कहते हैं। हेतु का अर्थ है अभिधम्म में लोभ, द्वेष, मोह या अ-राग, अ-द्वेष और अ-मोह। इन मूल प्रवृत्तियों को लेकर ही मनुष्य किसी भी कार्य में प्रवृत्त होता है, अतः यही 'हेतु' कहलाते हैं। सहेतुक चित्त तीन प्रकार के होते हैं; यथा कुशल, अकुशल और अव्याकृत। कुशल, अकुशल और अव्याकृत से अभिधम्म में क्या तात्पर्य लिया जाता है, यह हम अभिधम्म-पिटक के अन्तर्गत धम्मसंगणि के विवेचन में देख चुके हैं। अव्याकृत सहेतुक चित्त दो प्रकार का होता है 'विपाक-चित्त' और 'क्रिया-चित्त'। विपाक और

द्वारा प्रकाशित, सारनाथ, १९४१ ई०। अभिधम्मत्थसंगहो-भदन्त आनन्द कौसल्यायन द्वारा सम्पादित तथा हिन्दी में अनुवादित। बुद्ध-विहार, लखनऊ, १९६० ई०। अभिधम्मत्थसंगहो—भदन्त रेवतधम्म एवं श्री रामशंकर त्रिपाठी द्वारा सम्पादित और हिन्दी में अनुवादित, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, द्वारा प्रकाशित। भिक्षु जगदीश काश्यप ने अभिधम्म फिलासफी, जिल्द पहली, में अभिधम्मत्थसंगह की विषयवस्तु का अत्यन्त विशदतापूर्वक विश्लेषण किया है। साथ में रोमन-लिपि में पालि-पाठ भी दे दिया गया है।

१. देखिए मेबिल बोड : दि पालि लिटरेचर ऑव बरमा, पृष्ठ ६१।

२. तत्थ वुत्ताभिधम्मत्था चतुधा परमत्थतो। चित्तं, चेतसिकं रूपं निब्बान मति सब्बथा। अभिधम्मत्थसंगहो।

क्रिया (किरिया) चित्तों से क्या तात्पर्य है, यह भी हम विस्तारपूर्वक धम्मसंगणि के विवेचन में देख चुके हैं। 'विपाक-चित्त' अव्याकृत इसलिए है कि पहले किये हुए कर्म का फल होने के कारण उसे न 'कुशल' ही कहा जा सकता है और न 'अकुशल' ही। 'क्रिया सहेतुक चित्त' वह चित्त है, जिसमें अ-लोभ', 'अ-द्वेष', और 'अ-मोह' ये तीन हेतु रहते तो हैं, किन्तु तृष्णा के क्षय के कारण इनका 'विपाक' नहीं बनता अर्थात् ये पुनर्जन्म के लिए कारण-स्वरूप नहीं बनते। 'क्रिया सहेतुक चित्त' अर्हत् का ही हो सकता है। वह चाहे अ-लोभ, अ-द्वेष और अ-मोह के कारण कुछ कुशल कर्म भले ही सम्पादन करे, किन्तु अनासक्त होने के कारण उसका वह सब कर्म केवल 'क्रिया' मात्र ही होता है। वह आगे के लिए विपाक पैदा नहीं करता।

चित्त के साथ उत्पन्न और निरुद्ध होने वाले एवं एक ही विषय (आलम्बन) और इन्द्रिय वाले चित्त के धर्मों को 'कभिधम्मत्थसंगह' में 'चेतसिक' कहा गया है।[1] इनकी संख्या ५२ है। चेतसिक धर्मों को तीन मुख्य भागों में विभक्त किया गया है। (१) १३ 'अन्य समान', (२) १४ 'अकुशल' और (३) २५ 'शोभन'।[2] फिर इनका भी विश्लेषण किया गया है। अब कोई 'चेतसिक' का चित्त-कर्म 'शोभन-चित्त' से युक्त होता है, तव वह 'अशोभन' से अन्य होता है, और जब वह 'अशोभन' से युक्त होता है, तव शोभन से अन्य होता है। इसीलिए उसे 'अन्य समान' कहते हैं। इस 'अन्य समान' चेतसिक का भी द्विविध विभाजन है, यथा (१) साधारण चेतसिक, (२) प्रकीर्ण चेतसिक। साधारण चेतसिक धर्म वे हैं जो सभी चित्तों में साधारण रूप से रहतेहैं और वे संख्या में सात हैं; यथा (१) स्पर्श, (२) वेदना; (३) संज्ञा; (४) चेतना, (५) एकाग्रता, (६) जीवितेन्द्रिय और (७) मनसिकार।[3] प्रकीर्ण चेतसिक धर्म वे हैं जो केवल जब कभी होने वाले हैं। वे संख्या में छह हैं, यथा (१) वितर्क, (२) विचार, (३) अधिमोक्ष, (४) वीर्य, (५) प्रीति और (६) छन्द (इच्छा)।[4] विषयों (आलम्बनों) को स्पर्श करने

---

१. एकुप्पादनिरोधा च एकालम्बनवत्थुका। चेतोयुत्ता द्विपञ्ञास धम्मा चेतसिका मता। अभिधम्मत्थ-संगहो, चेतसिक-कण्डो।

२. तेरसञ्ञसमाना च चुद्दसा कुसला तथा। सोभना पञ्चवीसाति द्विपञ्ञास पवुच्चरे। अभिधम्मत्थसंगहो, चेतसिक-कण्डो।

३. फस्सो वेदना सञ्ञा चेतना एकग्गता जीवितिन्द्रियं मनसिकारो चेति सत्तिमे चेतसिका सब्बचित्त-साधारणा नाम। उपर्युक्त के समान ही।

४. वितक्को विचारो अधिमोक्खं विरियं पीति छन्दो चाति छ इमे चेतसिका पकिण्णका नाम। उपर्युक्त के समान ही।

वाले चेतसिक-धर्म को स्पर्श, विषयों के स्वाद भोगने वाले को वेदना, विषयों के स्वभाव को ग्रहण करने वाले को संज्ञा, विषयों में प्रेरणा करने वाले को चेतना, विषय में स्थिर रहने वाले को एकाग्रता, प्राप्त विषयों की मन में रक्षा करने वाले को 'मनसिकार' कहते हैं। इसी प्रकार विषय-चिन्तन करने वाले चेतसिक को वितर्क, उस पर बार-बार सोचने वाले को विचार, विषयों में प्रवेश कर निश्चल भाव से रहने वाले को अधिमोक्ष, उत्साह करने वाले को वीर्य, विषयों में आनन्द लेनेवाले को प्रीति और उनकी इच्छा करने वाले चेतसिक धर्मों को 'छन्द' कहते हैं। पूर्वोक्त १४ अकुशल चेतसिक इस प्रकार हैं—मोह, निर्लज्जता (अह्री), अ-पापभयता (अनपात्रप्य), औद्धत्य, लोभ, (मिथ्या-) दृष्टि, मान, द्वेष, ईर्ष्या, मात्सर्य, पश्चात्तापकारी कृत्य (कौकृत्य), स्त्यान (मन को भारी करने वाला), मृद्ध (चेतसिकों को भारी करने वाला) और विचिकित्सा (संशय)। शोभन-चित्त २५ हैं, यथा (१) श्रद्धा, (२) स्मृति, (३) ह्री, (४) अपात्रप्य (पाप-कर्म में भय होना), (५) अलोभ, (६) अद्वेष, (७) मध्यस्थता, (८) कायप्रश्रब्धि (कायिक शान्ति), (९) चित्त-प्रश्रब्धि (चित्त-शान्ति), (१०) कायलघुता, (११) चित्त-लघुता, (१२) काय-मृदुता, (१३) चित्त-मृदुता, (१४) कार्य-कर्मज्ञता (१५) चित्त-कर्मज्ञता, (१६) काय-प्रागुण्य (काया का समर्थ-भाव), (१७) चित्त-प्रागुण्य (चित्त का समर्थ-भाव), (१८) काय-ऋजुता, (१७) चित्त-ऋजुता, (२०) सम्यक् वाणी (२१) सम्यक् कर्मान्ति, (२२) सम्यक् आजीव (इन अंतिम तीन अर्थात् सम्यक् वाणी, सम्यक् कर्मान्ति और सम्यक् आजीव को 'धम्मसंगणि' में तीन विरतियाँ कह कर पुकारा गया है।), (२३) करुणा, (२४) मुदिता और (२५) अमोह (प्रज्ञा)। इस प्रकार ५२ चेतसिक धर्मों की कुशल, अकुशल और अव्याकृत कर्ममयी व्याख्या अभिधम्मत्थसंगह में की गयी है। किन्तु यह सब तो दिग्दर्शन मात्र है और बहुत कुछ अस्पष्ट भी। अभी तो हमने केवल 'सहेतुक चित्त' के इन तीन प्रकारों यथा 'कुशल', 'अकुशल' और 'अव्याकृत' चेतसिकों के साथ सम्बन्ध को व्यक्त किया है। किन्तु जिस गहनता और मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मता एवं अन्तर्दृष्टि के साथ इनका विश्लेषण और व्याख्यान 'अभिधम्मत्थसंगह' में किया गया है, उसकी तो यह एक प्रतिच्छाया भी नहीं है। कहाँ चित्त के चार प्रकार के वर्गीकरण, कामावचार, रूपावचार, अरूपावचर और लोकोत्तर! कहाँ फिर इनमें भी कामावचार-चित्त के ५४ प्रकार! कहाँ फिर उनकी भी व्याख्या और उसमें भी यह निर्णय कि इनमें से १२ अकुशल चित्त (जिनमें से भी ८ लोभ-मूलक, २ द्वेष-मूलक और २ मोह-मूलक), १८ अहेतुक-चित्त (जिनमें भी फिर ७ अकुशल-विपाक, आठ कुशल विपाक और ३ अहेतुक-चित्त) और २४ सहेतुक चित्त

(जिनके भी फिर वेदना, विज्ञान और संस्कार के भेद से वर्गीकरण)। इतना ही नहीं, इन्हीं कामावचर-भूमि में होने वाले चित्तों में फिर २३ विपाक चित्त, २० कुशल और अकुशल एवं ११ क्रिया-चित्तों का विभाजन। ऊपर निर्दिष्ट द्वितीय भूमि के चित्त अर्थात् रूपावचर चित्त के फिर १५ प्रकार, जिनमें ५ कुशल-चित्त, ५ विपाक-चित्त और ५ क्रिया-चित्त। इसके बाद तृतीय भूमि के चित्त अर्थात् अरूपावचर-चित्त के बारह विभागों का निरूपण, जिनमें चार कुशल-चित्त, चार विपाक-चित्त और चार क्रिया-चित्त। अन्त में चतुर्थ भूमि के चित्त अर्थात् लोकोत्तर चित्त के इसी प्रकार ८ भेद, जिनमें चार कुशल चित्त और चार विपाक चित्त। इस प्रकार कुल ५४ कामावचर, १५ रूपावचर, १२ अरूपावचर और ८ लोकोत्तर चित्तों अर्थात् कुल ८९ प्रकार के चित्तों की परिभाषाएँ, व्याख्याएँ, और 'कर्म' के स्वरूप के साथ उनके सम्बन्ध का निर्णय, यह सब 'अभिधम्मत्थसंगह' की संख्याओं में भरने का प्रयत्न किया गया है। चित्त और चेतसिक धर्मों के इस निरूपण में कितनी सूक्ष्मता, कितनी विश्लेषण-प्रियता 'अभिधम्मत्थसंगह' ने अभिधम्म का अनुगमन कर दिखायी है, इसे देखकर साधारण विद्यार्थी का साहस छूट जाता है। फिर भी 'अभिधम्मत्थसंगह' के महत्त्व का यह कुछ कम बड़ा साक्ष्य नहीं है कि अभिधम्म-पिटक पर बुद्धघोष जैसे आचार्य की अट्ठकथाएँ रहते हुए भी बौद्ध विद्यालयों में अभिधम्म का अध्ययन प्रायः इसी ग्रन्थ के द्वारा होता आया है और विशेषतः बरमा में तो इसके चारों ओर एक सहायक साहित्य की अटूट परम्परा ही १५वीं शताब्दी से बनती चली आ रही है, जिसका वर्णन हम ११०० ई० से वर्तमान समय तक के पालि के व्याख्यापरक साहित्य का विवरण देते समय अभी आठवें अध्याय में करेंगे।

बुद्धघोष-युग में अट्ठकथाओं और व्याख्यापरक साहित्य के अतिरिक्त वंश-सम्बन्धी कई ग्रन्थ भी लिखे गये, और इसी प्रकार काव्य और व्याकरण-सम्बन्धी पर्याप्त रचनाएँ भी हुईं। इनका विवरण हम अपनी योजना के अनुसार क्रमशः नवें और दसवें अध्यायों में देंगे।

●

आठवाँ अध्याय

बुद्धघोष-युग की परम्परा अथवा टीकाओं का युग

(११०० ई० से वर्तमान समय तक)

विषय-प्रवेश

लंकाधिराज पराक्रमबाहु प्रथम (११५३-११८६ ई०) का शासन-काल पालि-साहित्य के उत्तरकालीन विकास के इतिहास में बड़ा गौरवमय माना जाता है। इसी समय से पालि अट्ठकथाओं के ऊपर टीकाएँ लिखने की वह महत्त्वपूर्ण परंपरा चल पड़ी जो ठीक उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी तक अप्रतित रूप से चलती रही। न केवल टीकाओं के रूप में ही; बल्कि काव्य, व्याकरण, कोश, छन्दःशास्त्र एवं 'वंश' (इतिहास) सम्बन्धी साहित्य भी इन शताब्दियों में प्रभूत मात्रा में लिखा गया। इस सब साहित्यिक प्रगति के क्षेत्र प्रधानतः लंका और बरमा ही रहे। बारहवीं शताब्दी से लेकर चौदहवीं शताब्दी तक साहित्य-सृजन के क्षेत्र में लंका का प्रमुख स्थान रहा। बरमा में वैसे तो ग्यारहवीं शताब्दी में ही पगान के निवासी महाविमलबुद्धि ने 'कच्चायन-व्याकरण' पर 'न्यास' जैसा ग्रन्थ दिया, परन्तु बारहवीं शताब्दी में पगान के राजा नरपति-सिथु के शासन-काल से तो पालि ग्रन्थ-रचना की परम्परा ही बरमा में चल पड़ी जो अब तक चली आ रही है। विशेषतः पन्द्रहवीं शताब्दी से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी तक के समय को बरमी पालि-साहित्य का युग कहा जा सकता है। टीकाओं तक ही अपने को सीमित रखकर सिंहल और बरमा की इस विशाल साहित्य-रचना का विवेचन हम इस अध्याय में करेंगे। हाँ, कहीं-कहीं थाई-देश आदि की भी पालि रचनाओं का उल्लेख करेंगे और इसी प्रकार टीका-साहित्य के अतिरिक्त भी जहाँ-तहाँ कुछ अन्य लक्षणीय पालि रचनाओं का भी संक्षिप्त निर्देश करेंगे।

सिंहली भिक्षु सारिपुत्त और उनके शिष्यों की टीकाएँ

पराक्रमबाहु प्रथम के शासन-काल में लंका में एक बौद्ध सभा (संगीति) बुलवायी गयी। इस सभा का उद्देश्य अट्ठकथाओं पर मागधी (पालि) भाषा में

टीकाएँ लिखवाना था। इस सभा के संयोजक उदुम्बरगिरि (दिम्बुलागल) विहार के निवासी प्रसिद्ध सिंहली स्थविर महाकस्सप थे, जो विनय के एक महान् आचार्य थे और जिन्होंने अभिधम्मत्थसंगह पर एक 'पोराण-टीका' लिखी तथा चान्द्र-व्याकरण के आधार पर; बल्कि उसके संक्षेप स्वरूप ही, संस्कृत में 'बालाव-वोधन' नामक व्याकरण-ग्रन्थ भी लिखा। इस सभा के प्रयत्नों के परिणामस्वरूप बुद्धघोष की अट्ठकथाओं पर पालि-भाषा में टीकाएँ लिखी गयीं, जिनका विवरण इस प्रकार है—

१. सारत्थदीपनी—समन्तपासादिका (विनय-पिटक की अट्ठकथा) की टीका।

२. पठम-सारत्थमंजूसा—सुमंगलविलासिना (दीघ-निकाय की अट्ठकथा) की टीका।

३. दुतिय-सारत्थमंजूसा—पपञ्चसूदनी (मज्झिम-निकाय की अट्ठकथा) की टीका।

४. ततिय-सारत्थमंजूसा—सारत्थप्पकासिनी (संयुत्त-निकाय की अट्ठ-कथा) की टीका।

५. चतुत्थ-सारत्थमंजूसा—मनोरथपूरणी (अंगुत्तर-निकाय की अट्ठकथा) की टीका।

६. पठम-परमत्थप्पकासिनी—अट्ठसालिनी (धम्मसंगणि की अट्ठकथा) की टीका।

७. दुतिय-परमत्थप्पकासिनी—सम्मोहविनोदनी (विभंग की अट्ठकथा) की टीका।

८. ततिय-परमत्थप्पकासिनी—पञ्चप्पकरणट्ठकथा (धातुकथा, पुग्गल-पञ्ञत्ति, कथावत्थु, यमक और पट्ठान की अट्ठकथा) की टीका।

उपर्युक्त टीकाओं में से केवल 'सारत्थदीपनी' आज उपलब्ध है। यह तत्कालीन सिंहली भिक्षु सारिपुत्त की रचना है। इस रचना के अतिरिक्त इन स्थविर की तीन कृतियाँ और प्रसिद्ध हैं। (१) लीनत्थप्पकासिनी—बुद्धघोष-कृत मज्झिम-निकाय की अट्ठकथा की टीका, (२) विनय-संगह या विनय-महासंगह—विनय सम्बन्धी नियमों का संग्रह। इस रचना का दूसरा नाम 'पालिमुत्तक विनय-विनिच्छय संगहो (पालिमुक्तकविनय - विनिश्चय - संग्रह) या 'महाविनयसंगहप्पकरणं'

---

१. 'सद्धम्म संगह' के 'पिटकत्तयटीकावण्णना' शीर्षक आठवें परिच्छेद में सिंहल में किये गये इस टीका-कार्य का विशद विवरण दिया गया है।

(महाविनयसंग्रह-प्रकरण) भी है।[1] (३) सारत्थ मंजूसा—बुद्धघोष-कृत अंगुत्तर-निकाय की अट्ठकथा की टीका। स्थविर सारिपुत्त उस समय श्रीलंका में संघराज थे।[2] और उनके शिष्यों ने भी इस टीका-रचना-कार्य में बड़ा योग दिया। उनके शिष्यों में ये प्रधान थे—(१) संघरक्खित, (२) बुद्धनाग, (३) वाचिस्सर, (४) सुमंगल, (५) सद्धम्मजोतिपाल या छपद, (६) धम्मकित्ति, (७) बुद्धरक्खित और (८) मेधंकर। सुबोधालंकार, सम्बन्ध-चिन्ता, सुसद्दसिद्धि और वुत्तोदय आदि अनेक ग्रन्थों के लेखक सिंहली स्थविर संघरक्खित की प्रसिद्ध टीका-रचना 'खुद्दकसिक्खाटीका' है, जो धम्मसिरि (धर्म श्री) रचित 'खुद्दक-सिक्खा' की टीका है। स्थविर संघरक्खित से पहले महायस (या रेवत) ने भी 'खुद्दक-सिक्खा' पर 'खुद्दकसिक्खा-टीका' नाम से ही एक टीका लिखी थी। इन दोनों में भेद करने के लिए स्थविर संघरक्खित-कृत टीका को 'अभिनव-खुद्दक सिक्खा-टीका' और महायस (या रेवत)–कृत टीका को 'पोराण-खुद्दक-सिखा टीका' भी

---

१. जैसा इसके 'पालि-मुत्तक-विनय-विनिच्छय-संगहो' शीर्षक से स्पष्ट विदित होता है, इसमें विनय-सम्बन्धी ऐसे विनिश्चयों का उल्लेख है जो मूल पालि तिपिटक में नहीं मिलते, परन्तु भिक्षु-संघ की परम्परा ने जिन्हें समय-समय पर प्रमाणस्वरूप मान लिया है। 'पालिमुत्तकविनयविनिच्छयसंगहो' सिंहली अक्षरों में प्रकाशित है, १९३५ ई०।

२. इसलिए वे 'संघराज श्री सारिपुत्त महास्थविर' के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। यह उस समय के महाविद्वान् और प्रभावशाली भिक्षु थे। अपने अगाध पाण्डित्य के कारण वे 'सागरमति' कहलाते थे। संस्कृत का भी उसका ज्ञान अगाध था। संघराज श्री सारिपुत्त महास्थविर ने संस्कृत व्याकरण पर 'पदावतार' नामक एक ग्रन्थ भी लिखा, जो अब अनुपलब्ध है। इनसे पूर्व दसवीं या ग्यारहवीं शताब्दी में श्रीलंका में रत्न श्री ज्ञान नामक एक विद्वान् भिक्षु हो चुके थे, जो अपनी विद्वत्ता के कारण 'रतनमतिपाद' कहलाते थे। इस 'रतनमतिपाद' में 'शब्दार्थ-चिन्ता' नामक एक संस्कृत व्याकरण-ग्रन्थ लिखा और इसके साथ ही चन्द्रगोमिन् के चन्द्र-व्याकरण पर 'चन्द्रगोमिव्याकरण-पञ्जिका' या 'चन्द्रगोमि व्याकरण-पञ्चिका' या केवल 'चन्द्र-पञ्चिका'—'चन्द्र-पञ्चिका' नामक टीका भी लिखी थी। महास्थविर सारिपुत्त संघराज ने इस पर 'रतनमति पञ्चिका टीका' लिखी, जो 'पञ्चिकालंकार' भी कहलाती है। संघराज श्री सारिपुत्त महास्थविर लंकाधिराज पराक्रमबाहु प्रथम द्वारा पुलत्थिपुर (पोलोन्नरुवा) में बनवाये गये चेतवन-विहार में वास करते थे।

कहा जाता है। इसी अभिप्राय से सासनवंस; (देवनागरी संस्करण, पृष्ठ ३२) में कहा गया है, "खुद्दकसिकवाय पुराण टीकं महायस थेरो (अकासि), ताय येव अभिनवटीकं संघरक्खितथेरो" ति। ये दोनों टीकाएँ हस्तलिखित प्रतियों के रूप में आज भी सिंहल में सुरक्षित हैं। स्थविर बुद्धनाग की रचना 'विनयत्थ-मंजूसा' है, जो कंखावितरणी (पातिमोक्ख पर बुद्धघोष-कृत अट्ठकथा) की टीका है। यह टीका भी सिंहल में हस्तलिखित प्रति के रूप में सुरक्षित है। प्रसिद्ध सिंहली भिक्षु वाचिस्सर (वागीश्वर) जिन्हें आदरवस, 'सासनवंस' में वाचिस्सर महा-'सामि थेर' कहकर पुकारा गया है, अनेक ग्रन्थों के रचयिता थे। 'गन्धवंस' में उनके १८ ग्रन्थों का उल्लेख किया गया है। प्रसिद्ध वेदान्ती आचार्य वाचस्पति मिश्र और इन स्थविर (वाचिस्सर) के नाम या उपनाम में समानता होने के साथ साथ दोनों की विद्वत्ता भी प्रायः समान रूप से गहरी और विस्तृत है। स्थविर वाचिस्सर की प्रधान रचनाएँ ये हैं—(१) मूलसिक्खा-टीका—यह टीका महा-स्वामी (महासामि)-कृत 'मूल-सिक्खा' की टीका है। वाचिस्सर से पहले विमल-सार ने भी इसी (मूलसिक्खा-टीका) नाम की एक टीका 'मूल-सिक्खा' पर लिखी थी। अतः विमलसार-कृत टीका 'मूलसिक्खा-पोराण-टीका' कहलाती है और वाचिस्सरकृत टीका' मूल-सिक्खा-अभिनव-टीका' (२) सीमालंकार संगह—जो सीमालंकारप्पकरण भी कहलाता है—विनय-संबंधी ग्रन्थ है जिसमें विहार की सीमा का निर्णय किया गया है। (जहाँ तक भिक्षु प्रातिमोक्ष आदि विशेष संस्कारों में सम्मिलित होने के लिए किसी एक विहार में एकत्र हों, वह उस विहार की सीमा कहलाती है)।[1] (३) खेमप्पकरण टीका—यह टीका भिक्षु खेम (क्षेम)-कृत 'खेमप्पकरण' की टीका है। (४) नामरूप-परिच्छेद-टीका—यह अनिरुद्ध (पालि अनुरुद्ध)-कृत 'नाम-रूप-परिच्छेद' की टीका है।[2] (५) सच्चसंखेप टीका—यह स्थविर आनन्द के

---

१. इस विषय पर पन्द्रहवीं शताब्दी में बरमी भिक्षु-संघ में एक बड़ा विवाद उठ खड़ा हुआ। देखिए आगे दसवें अध्याय में कल्याणी-अभिलेख का विवरण।

२. 'सासनवंसो' (पृष्ठ ३२, देवनागरी संस्करण) में 'नामरूप परिच्छेद की 'अभिनवटीका' नामक एक अन्य टीका का उल्लेख किया गया है और उसके लेखक का नाम 'महासामि थेर' दिया गया है। "नामरूपपरिच्छेदाभिनवटीकं महासामि थेरो अकासि।" स्पष्टतः यहाँ महासामि थेर से तात्पर्य 'सुमंगल महासामि थेर' से। आश्चर्यजनक रूप से 'गन्धवंस' (पृष्ठ ६२) में सुबोधालंकार-टीका' के लेखक भी महासामि थेर ही बताये गये हैं। परन्तु निश्चयतः वहाँ इनसे अभिप्राय वाचिस्सर महासामि थेर से ही है और उन्हीं की यह रचना भी। यह संभ्रम

शिष्य चूल (या चुल्ल) धम्मपाल-कृत 'सच्च-संखेप' की टीका । 'अत्थदीपनी' के नाम से भी यह विदित है। (६) अभिधम्मावतार-टीका—यह रचना बुद्धदत्त-कृत 'अभिधम्मावतार' की टीका है। (७) 'रूपारूपविभाग'—यह अभिधम्म सम्बन्धी रचना है। (८) विनयविनिच्छय-टीका—यह टीका बुद्धदत्त-कृत 'विनय-विनिच्छय' की टीका है।[1] (९) उत्तरविनिच्छय टीका—यह रचना बुद्धदत्त-कृत 'उत्तरविनिच्छय' की टीका है। (१०) सुमंगलप्पसादनी—यह रचना धम्मसिरि (धर्म श्री)-कृत 'खुद्दक-सिक्खा' की टीका है। इन रचनाओं के अलावा 'योग-विनिच्छय', (मललसेकर के मतानुसार विनयविनिच्छय-टीका का ही दूसरा नाम), लीनत्थदीपनी (पटिसम्भिदामग्ग की टीका) और 'पच्चय-संगह' जैसे अनेक ग्रंथ भी वाचिस्सर द्वारा रचित बताये जाते हैं। चूंकि 'वाचिस्सर उपाधिधारी अनेक भिक्षु सिंहल में हो गये हैं, अतः निश्चयपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि कौन-सी रचनाएँ किस 'वाचिस्सर' की हैं। फिर भी ऊपर जिन प्रधान दस रचनाओं का उल्लेख किया जा चुका है, वे सिंहली भिक्षु सारिपुत्त के शिष्य 'वाचिस्सर' की ही मानी जाती है।[2] सिंहली भिक्षु सुमंगल 'सुमंगल साथी'

इसलिए उत्पन्न हुआ है कि उक्त दोनों ही थेर 'महासामि' थेर उपाधि ग्रहण करते हैं।

१. 'सासनवंस' के अनुसार विनय-विनिच्छय की एक अन्य टीका रेवत नामक स्थविर ने भी लिखी। 'विनयविनिच्छयटीकं रेवतथेरो (अकासि)।" पृष्ठ ३२ (देवनागरी संस्करण)। इस प्रकार इसे 'विनय-विनिच्छय' की दूसरी टीका समझना चाहिए। इसके लेखक, रेवत स्थविर के सम्बन्ध में हमारी अधिक स्पष्ट जानकारी नहीं है।

२. मललसेकर अवश्य इनमें कुछ घटाना और कुछ बढ़ाना चाहेंगे। उनके मतानुसार उपर्युक्त २, ३, ६, ७, ८ और ९ रचनाएँ एक अन्य 'वाचिस्सर' की है, जिनका समय भी १२वीं शताब्दी है। 'दि पालि लिटरेचर ऑव सिलोन', पृष्ठ २०२; सारिपुत्त के शिष्य वाचिस्सर की रचनाओं में वे इन्हें और जोड़ना चाहेंगे, सम्बन्ध-चिन्ता-टीका, सुबोधालंकार-टीका, वुत्तोदय-विवरण और थूपवंस। वही, पृष्ठ २०४; 'पटिसम्भदामग्ग' पर लिखी गयी 'लीनत्थदीपनी' नामक टीका भी वाचिस्सर-कृत मानी जाती है। 'दि पालि लिटरेचर ऑव सिलोन', पृष्ठ २१७। इसी प्रकार अत्थप्पकासना नाम से इन्होंने एक टीका 'विसुद्धि मग्ग' पर लिखी और 'विसुद्धिमग्गसंखेपसन्नय' नामक एक अन्य संक्षिप्त टीका भी इन्होंने 'विसुद्धिमग्ग' पर लिखी। उन्होंने कई ग्रन्थ सिंहली में भी लिखे।

के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। इनकी तीन रचनाएँ हैं, (१) अभिधम्मत्थ-विभावनी, जो अनिरुद्ध-कृत अभिधम्मत्थ-संगह की टीका है। अभिधम्मत्थ-विभावनी का बरमा में बहुत आदर हुआ। पहले यह वहाँ 'टीका ह्रै' (सुन्दर टीका) कहलाती थी, परन्तु जब पन्द्रहवीं शताब्दी में बर्मी भिक्षु अरियवंस ने उस पर अपनी टीका 'मणिसारमंजूसा' लिखी, तो यह उस समय से 'टीका-ग्यु' (प्रसिद्ध टीका) कहलाने लगी। (२) अभिधम्मत्थविकासिनी, जो बुद्धदत्त-कृत अभिधम्मावतार की टीका है, (३) सच्चसंखेप-टीका (सारत्थसालिनी)—जो चुल्ल धम्मपाल-कृत सच्च-संखेप की टीका है।[1] ये तीनों ग्रंथ हस्तलिखित प्रतियों के रूप में सिंहल में सुरक्षित हैं। 'अभिधम्मत्थ-विभावनी' का महाबोधि प्रेस, कोलम्बो, से (विद्योदय टीका पब्लिकेशन्स सीरीज़ में) सन् १९३३ में सिंहली अक्षरों में प्रकाशन भी हो चुका है। अभी हाल में 'अभिधम्मत्थ विभावनी' टीका के सहित 'अभिधम्मत्थ संगह' का देवनागरी संस्करण भी निकला है, जिसके सम्पादन और संशोधक हैं भदन्त रेवतधर्म शास्त्री। (बौद्ध स्वाध्याय सत्र, वाराणसी १९६५ ई०) "सासनवंस' (पृष्ठ ३२) में कहा गया है 'अभिधम्मत्थसंगहाभिधम्मावताराभिनवटीकायो सुमंगलसामिथेरो 'अकासि'।" यहाँ तात्पर्य भिक्षु सुमंगल कृत अभिधम्म सम्बन्धी उपर्युक्त टीकाओं से ही हैं यह स्पष्ट है। सद्धम्मजोतिपाल या छपद[2] (छपट भी) का नाम सारिपुत्त के शिष्यों में विशेषतः प्रसिद्ध है। यह पगान

---

१. वाचिस्सर-कृत 'सच्चसंखेप-टीका' का हम पहले उल्लेख कर चुके हैं। यह सुमंगल-कृत दूसरी टीका है। एक तीसरी टीका का उल्लेख 'सासनवंस' (पृष्ठ ३२) में है जिसे वहाँ 'सच्चसंखेपाभिनव टीका' कह कर पुकारा गया है और जिसके लेखक का नाम वहाँ 'अरण्यवासी स्थविर' बताया गया है। "सच्च संखेपा-भिनव टीकं अरञ्ञवासी थेरो अकासि।" अनुमान है कि यह अरण्यवासी स्थविर सिंहली भिक्षु सुमंगल के समकालिक कोई बरमी भिक्षु रहे होंगे।

२. "छपदो नाम सद्धम्मजोतिपालो थेरो।" सासनवंसो, पृष्ठ ७१ (देवनागरी संस्करण)। छपद का जन्म अरिमद्दन नगर (पगान) के पास छपद नामक गाँव में हुआ था, अतः वे 'छपद' कहलाये। जैसा 'सासनवंस' में ही कहा गया है, "छपदगामे जातत्ता ठानस्स नामेन 'छपदो' ति पाकटो।" (पृष्ठ ७१ देवनागरी संस्करण)। यहीं कहा गया है कि छपद ने अपने ग्रन्थों के अन्त में अपना परिचय अपने मूल नाम 'सद्धम्मजोतिपाल' के रूप में ही दिया है। "अत्तनो कतानं गन्धानं निगमने सद्धम्म-जोतिपालो' ति मूलनामेन वुत्तो।" 'सासनवंस' (पृष्ठ ६२, देवनागरी संस्करण)। यहीं (पृष्ठ ३७ में) सूचना है कि छपद बीस वर्ष की अवस्था में श्रामणेर के रूप में

नगर (बरमा) के निवासी और बरमी भिक्षु थे जिन्होंने बौद्ध धर्म के शिक्षार्थ सिंहल में प्रवास किया था। सारिपुत्त के शिष्यत्व में वे वहाँ ११७० से ११८० ई० तक रहे। बाद में वे कुछ सिंहली भिक्षुओं के सहित, जिनमें सिंहली भिक्षु तो थे ही, तामलित्ति, कम्बोज (कम्बूजिया) और काञ्चीपुरी के भी कुछ भिक्षु सम्मिलित थे, बरमा वापस आये और वहाँ महाविहार की परम्परा के अनुसार पगान में 'सिंहल संघ' (सीहल संघ) की स्थापना की। छपद पगान के राजा नरपति-सिथु (११६७-१२०२) के समकालिक थे। उनका बरमी पालि साहित्य के इतिहास में वही स्थान होना चाहिये जो सिंहली पालि साहित्य रचना के क्षेत्र में वाचिस्सर थेर का है इन दोनों ही महाविद्वान् भिक्षुओं ने पालि को अमर टीका-ग्रंथ प्रदान किये और ये दोनों ही लक्षणीय रूप से, जैसा हम पहले देख चुके हैं, सिंहली भिक्षु सारिपुत्त संघराज के शिष्य थे। इनकी ये रचनायें अधिक प्रसिद्ध हैं, (१) विनय-समुट्ठान-दीपनी (विनय-सम्बन्धी टीका-ग्रन्थ), (२) पातिमोक्ख-विसोधनी, (३) विनय-गूलहत्थ-दीपनी—विनय-पिटक के कठिन शब्दों की व्याख्या, (४) सीमालंकार-संगह-टीका, जो वाचिस्सर-कृत सीमालंकार-संगह की टीका है। इस प्रकार चार रचनाएँ छपद की विनय-सम्बन्धी हैं। अभिधम्म साहित्य को भी इन्होंने पाँच टीका-ग्रन्थ प्रदान किये हैं, (१) मातिकत्थ-दीपनी, (२) पट्ठान-गणनानय, (३) नामचार-दीप या नामचार-दीपनी, (४) अभिधम्मत्थसंगह-संखेप-टीका (या संखेपवण्णना) जो अनिरुद्ध-कृत 'अभिधम्मत्थ-संगह' की नौ परिच्छेदों में विभक्त टीका हैं। कुछ स्रोतों के अनुसार छपद ने इसे मौलिक रूप में लिखा और कुछ के अनुसार उन्होंने सिंहली लिपि से इसकी अनुलिपि मात्र की। (५) गन्धसार या गण्ठिसार, जिसमें तिपिटक के ग्रन्थों के सारभूत अंश संकलित हैं। छपद की व्याकरण-सम्बन्धी रचनाओं का उल्लेख हम अलग से आगे दसवें अध्याय में करेंगे। धम्मकित्ति की रचना 'दाठावंस' है, जिसका विवेचन हम वंश-साहित्य का विवरण देते समय आगे नवें अध्याय में करेंगे। बुद्धरक्खित की रचना 'जिनालंकार', जो काव्य-ग्रंथ है, इसी युग की है। इसका विवरण हम पालि-काव्य का विवेचन करते समय दसवें अध्याय में देंगे। सिंहली भिक्षु सारिपुत्त के शिष्य मेधंकर सिंहली गद्य ग्रन्थ 'विनयार्थ-समुच्चय) के लेखक

अपने गुरु उत्तराजीव के साथ श्रीलंका गये और वे वहाँ दस वर्ष तक रहे। "दस वस्सं तत्थ वसित्वा।" आदि।

१. विस्तृत विवरण के लिए देखिए 'सासनवंसो', पृष्ठ ३८-३९, ६२-६४ (देवनागरी संस्करण)।

हैं। उन्होंने पालि ग्रन्थ भी लिखे, परन्तु वे आज़ प्राप्त नहीं हैं। यह मेधंकर उदुम्बर-गिरि-विहार के निवासी थे। अतः स्वयं 'उदुम्बरगिरि मेधंकर' के नाम से प्रसिद्ध हो गये हैं। यही 'आरण्यक मेधंकर' भी कहलाते हैं। इन्हें 'जिन-चरित' और 'पयोग-सिद्धि' के लेखक वनरतन मेधंकर से पृथक् समझना चाहिए। सारिपुत्त और उनके शिष्यों का यह उपर्युक्त साहित्य पराक्रमबाहु प्रथम के शासनकाल में लिखा गया, अतः इसका समय बारहवीं शताब्दी का उत्तर भाग ही है। इसी समय 'वंसत्थप्पकासिनी'[1] नाम की 'महावंस' की टीका भी लिखी गयी।[2] यह 'महावंस-टीका' के नाम से ही सामान्यतः प्रसिद्ध है। ऐतिहासिक दृष्टि से 'महावंस-टीका का बड़ा महत्त्व है। इसके लेखक का नाम भी 'महावंस' के लेखक के समान महानाम ही था। इन्हें हम महानाम द्वितीय कह सकते हैं। इन्होंने 'महावंस' के रचयिता महानाम को 'आचरिय' कह कर पुकारा है।

बरमी पालि साहित्य की दृष्टि से भी बारहवीं शताब्दी अति लक्षणीय है। अरिमद्दन नगर (पगान) के राजा नरपति-सिंघु के शासन-काल में अनेक प्रसिद्ध बरमी स्थविरों ने अपनी पालि-रचनाएँ कीं, जिनमें छपद और अग्गवंस ('सद्दनीति' व्याकरण के कर्ता) के नाम तो अति विदित ही हैं। अरिमद्दन नगर (पगान) को सही रूप में ही बरमी पालि साहित्य का पालना कहा गया है। वास्तव में

---

१. वंसत्थप्पकासिनी का रोमन लिपि में सम्पादन डॉ० जी० पी० मललसेकर ने किया है, जिसे दो जिल्दों में पालि टैक्स्ट् सोसायटी, लन्दन ने सन् १९३५-३६ में प्रकाशित किया था। 'वंसत्थप्पकासिनी नाम महावंस टीका' का देवनागरी लिपि में सम्पादन डॉ० श्रीधर वासुदेव सोहोनी द्वारा किया गया है, नवनालन्दा महाविहार, १९७१ ई०।

२. बारहवीं शताब्दी का समय गायगर ने पर्याप्त विवेचन के पश्चात् 'वंसत्थप्पकासिनी' के लिए निश्चित किया है। देखिए उनकी 'पालि लिटरेचर एण्ड लैंग्वेज', पृष्ठ ४२। डॉ० मललसेकर ने इसका रचना-काल 'पालि लिटरेचर ऑव सिलोन', पृष्ठ १४४ में सातवीं या आठवीं शताब्दी ईसवी निश्चित किया है, परन्तु अपने द्वारा सम्पादित 'वंसत्थप्पकासिनी' (पालि टैक्स्ट् सोसायटी द्वारा प्रकाशित) की भूमिका में तथा 'डिक्शनरी ऑव पालि प्रॉपर नेम्स, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ७९८ में इसके लिए नवीं शताब्दी समय निश्चित किया है। स्वयं गायगर भी इस सम्बन्ध में पूर्णतः निश्चित नहीं, क्योंकि 'दीपवंस एण्ड महावंस' (अंग्रेजी अनुवाद) में वही इसका समय दसवीं शताब्दी निश्चित करते हैं। हमारी समझ में बारहवीं शताब्दी ही 'महावंस-टीका' की रचना का सुनिश्चित समय है।

बारहवीं, तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दियों में बरमा में पगान ही पालि साहित्य-रचना का मुख्य विकास-केन्द्र रहा है। इस युग की विशेषतः पालि-व्याकरण रचनाओं का उल्लेख हम आगे दसवें अध्याय में करेंगे।

तेरहवीं शताब्दी का पालि-साहित्य

तेरहवीं शताब्दी के पालि-साहित्य के प्रसिद्ध नाम वैदेह स्थविर (वैदेह थेर), बुद्धप्पिय और धम्मकित्ति हैं। वैदेह स्थविर की दो प्रसिद्ध रचनाएँ 'समन्तकूट-वण्णना' और 'रसवाहिनी' है। बुद्धप्पिय की रचना 'पज्जमधु' है। यह एक काव्य-ग्रन्थ है। इसका विवेचन हम दसवें अध्याय में करेंगे। इस शताब्दी की सम्भवतः सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण घटना 'महावंस' का 'चूलवंस' के नाम से परिवर्द्धन है। 'महावंस' का इस प्रकार प्रथम परिवर्द्धन तेरहवीं शताब्दी में और दूसरा परिवर्द्धन १८वीं शताब्दी के मध्य भाग में किया गया। तेरहवीं शताब्दी में इस परिवर्द्धन को करने वाले 'धम्मकित्ति' नामक भिक्षु थे। सिंहल और बरमा में इस नाम के अनेक शताब्दियों में इतने अधिक भिक्षु हुए हैं कि यह धम्मकित्ति उनमें से कौन से थे, इसका सम्यक् रूप से निर्णय नहीं किया जा सकता। सम्भवतः यह वही स्थविर धम्मकित्ति थे उन्होंने चूलवंस ८४।११-१२ के अनुसार तम्बरट्ठ (बरमा?) से लंका में जाकर बौद्ध धर्म का अध्ययन किया और जो पराक्रमबाहु द्वितीय के द्वारा सम्मानित किये गये थे। इस प्रकार इनका काल तेरहवीं शताब्दी का मध्य भाग है। इसी समय 'अत्तनगलुविहारवंस' नामक वंश-ग्रंथ भी लिखा गया, जिसके लेखक का नाम अभी अज्ञात ही है। तेरहवीं शताब्दी के अंतिम या चौदहवीं शताब्दी के आदि भाग के पालि-साहित्य के इतिहास में सिद्धत्थ भिक्षु का नाम प्रसिद्ध है। सिद्धत्थ 'पज्जमधु' के रचयिता बुद्धप्पिय के शिष्य थे। इनकी रचना 'सारसंगह' या 'सारत्थसंगह' है जो गद्य-पद्य मिश्रित बुद्ध-धर्म-सम्बन्धी ग्रन्थ है। इसमें साठ परिच्छेद हैं। इसी नाम का एक सिंहली ग्रन्थ 'सारार्थसंग्रह' भी मिलता है। तेरहवीं शताब्दी के आदि भाग या बारहवीं के उत्तर भाग में ही 'सद्धम्मोपायन' काव्य-ग्रन्थ लिखा गया, जिसके लेखक सिंहली भिक्षु अभयगिरि कविचक्रवर्ती आनन्द माने जाते हैं। तेरहवीं शताब्दी में या बारहवीं शताब्दी के उत्तर भाग में ही सिंहली स्थविर आनन्द वनरतन के एक शिष्य ने 'चतुभाण-वारट्ठकथा' लिखी, जिसका भी दूसरा नाम 'सारत्थ-समुच्चय' है। यह चतु-

---

१. इनके विवरण के लिए देखिए आगे दसवें अध्याय में पालि-काव्य का विवरण।

माणवार की अट्ठकथा है। चतुभाणवार पाँच निकायों से २७ उद्धरणों का एक संग्रह है और इसका सम्बन्ध 'परित्त' से है। यह चार भाणवारों (परिच्छेदों) में विभक्त है। इसके संकलन-काल या संकलनकर्ता का कुछ पता नहीं है। परन्तु चूँकि यह 'सुत्त-संगह' में उद्धृत है, अतः इतना निश्चित है कि इसे 'सुत्त-संगह' से पूर्व का संकलन होना चाहिए। परन्तु 'सुत्त-संगह' का भी तो समय निश्चित नहीं है। 'चतुभाणवारट्ठकथा' हेवावितरणे विक्वैस्ट सीरीज (कोलम्बो) में सम्पादित है।

जहाँ तक बरमा का सम्बन्ध है, वहाँ तेरहवीं शताब्दी में क्यच्वा या क्यस्वा नामक राजा हुआ जो अपने पूर्ववर्ती राजा नरपति-सिथु के समान ही बौद्ध धर्म और उसके साहित्य का संरक्षक था। वह स्वयं पालि तिपिटक का अध्येता था और उसने स्वयं और उसको पुत्रों ने भी व्याकरण-सम्बन्धी रचनाएँ कीं जिनका उल्लेख हम आगे दसवें अध्याय में करेंगे।

चौदहवीं शताब्दी का पालि-साहित्य

इस शताब्दी की महत्त्वपूर्ण रचनाएँ कुछ काव्य-ग्रंथ और वंश-ग्रन्थ हैं। इनका विशेष विवरण तो हम क्रमशः दसवें और नवें अध्यायों में देंगे, किन्तु यहाँ नामोल्लेख करना आवश्यक है। प्रसिद्ध काव्य-ग्रन्थ हैं (१) सिंहल-प्रवासी बर्मी भिक्षु, मेघकर-कृत लोकप्पदीपसार या लोकदीपसार (२) पंचगतिदीपन, जिसके लेखक का पता नहीं, (३) तेलकटाहगाथा, जो तेरहवीं या चौदहवीं शताब्दी की रचना है, जिसके भी लेखक का नाम अज्ञात है; यद्यपि परम्परागत रूप से वह कल्याणिय थेर के द्वारा उच्चरित मानी जाती है। वंश-ग्रन्थों में भिक्षु महामंगल-कृत 'बुद्धघोसुप्पत्ति', जिसमें बुद्धघोष की जीवनी का वर्णन किया गया है, इसी शताब्दी में लिखा गया और इसी प्रकार धम्मकित्ति महासामि का 'सद्धम्मसंगह' भी। छन्द-शास्त्र और काव्य-शास्त्र पर लिखने वाले पगान के भिक्षु सद्धम्मञाण भी इसी शताब्दी में हुए। उनकी रचनाओं का उल्लेख हम आगे यथास्थान करेंगे। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि उन्होंने शर्ववर्मा (चतुर्थ शताब्दी ईसवी के) का तन्त्र व्याकरण (जिसे कलाप या कौमार व्याकरण भी कहा जाता है) का पालि में अनुवाद किया। चौदहवीं शताब्दी में बरमा में कित्ति सीह सूर नामक राजा हुआ जो राजा क्यच्वा का पुत्र था। इसने भी अपने पिता और राजा नरपति-सिथु की परम्परा को जीवित रखा और बौद्ध धर्म की हृदय से सेवा की। इसके शासनकाल में ही कण्टक खिप नागित, वेंपुल्लबुद्धि, चूल विमलबुद्धि या नव विमलबुद्धि और सद्धम्मञाण आदि भिक्षु लेखक हुए जिनके कार्य का विवरण हम आगे देंगे।

थाई देश में चौदहवीं शताब्दी में ही 'मिलिन्द पञ्ह' पर एक टीका लिखी गयी, जिसका शीर्षक 'मधुरत्थपकासिनी' है।[1]

पन्द्रहवीं शताब्दी का पालि-साहित्य

पन्द्रहवीं शताब्दी में श्रीलंका में वाचिस्सर और संघराज श्री राहुल जैसे कई मनीषी साहित्यकार हुए जिनके कार्य का उल्लेख हम यहाँ पुनरुक्ति-भय से नहीं कर सकते। आगे दसवें अध्याय में करेंगे। पन्द्रहवीं शताब्दी में पगान (बरमा) में सिरि सुधम्मराजाधिपति नामक राजा राज्य करता था। वह बौद्ध धर्म और पालि साहित्य का बड़ा संरक्षक था। जैसा हम पहले भी कह चुके हैं; पन्द्रहवीं शताब्दी से बरमा पालि साहित्य के अध्ययन और ग्रन्थ-रचना का केन्द्र हो गया। जिस विषय की ओर बरमी बौद्ध भिक्षुओं की विशेष दृष्टि गयी, वह अभिधम्म था। वास्तव में यह उनके अध्ययन और ग्रन्थ-रचना का एकमात्र मुख्य विषय ही बन गया। फलतः एक लम्बी परम्परा हम इस साहित्य सम्बन्धी रचना की वहाँ देखते हैं। पन्द्रहवीं शताब्दी के बरमी पालि साहित्य के इतिहास के प्रसिद्ध नाम हैं अरियवंस, सद्धम्मसिरि (सद्धर्म श्री) सीलवंस और रट्ठसार। अरियवंस पगान (अरिमद्दन नगर) के निवासी थे। परन्तु वे सेगेंग् (जेय्यपुर) और आवा (रतनपुर) में भी काफी समय तक रहे। सेगेंग् में इन्होंने प्रसिद्ध स्थविर थे-दिन् से शिक्षा पायी और वहीं आवा के राजा नरपति के शासन-काल (१४४२-६८ ई०) में बस गये। पन्द्रहवीं शताब्दी का यह आवा का राजा नरपति बारहवीं शताब्दी के पगान के राजा नरपति-सिथु से भिन्न है, जिसे भी कभी-कभी संक्षिप्त रूप से नरपति राजा कह दिया जाता है। अरियवंस की रचनाएँ ये हैं; (१) मणिसारमञ्जूसा, जो सुमंगल-कृत 'अभिधम्मत्थविभावनी' की टीका है। (२) मणिदीप—बुद्धघोष-कृत अट्ठसालिनी की टीका, (३) जातक-विसोधन —जातक-सम्बन्धी रचना। 'गन्धाभरण' नामक एक व्याकरण-ग्रन्थ भी अरियवंस ने पालि भाषा में लिखा। अभिधम्म पर ,जैसा हम पहले देख चुके हैं, आनन्द वनरतन तिस्स ने बुद्धघोष की अभिधम्म-पिटक की अट्ठकथाओं पर 'मूलटीका' या 'अभिधम्म मूल टीका' लिखी थी और उनके शिष्य चुल्ल धम्मपाल ने उस 'मूल टीका' पर 'लीनत्थवण्णना' नामक एक अनुटीका लिखी थी। अब इसी 'अनुटीका' पर अरियवंस ने बरमी भाषा में 'अत्थयोजना' नामक व्याख्या लिखी।

---

१. पद्मनाथ एस० जैनी द्वारा रोमन लिपि में सम्पादित, पालि टैक्स्ट् सोसायटी, लन्दन, १९६१ ई०।

वास्तव में अरियवंस बरमी साहित्य के प्राथमिक लेखकों में हैं, जिन्होंने दार्शनिक विषयों पर अपने देश की लोकभाषा में साहित्य लिखा। 'सद्धमसिरि, अरियवंस के ही समकालिक थे। इनकी एकमात्र प्रसिद्ध रचना नेत्तिभावनी' है, जो नेत्तिप्पकरण की टीका है। आवा के भिक्षु सीलवंस का काल अरियवंस और सद्धम्मसिरि के कुछ बाद का है, किन्तु है पन्द्रहवीं शताब्दी ही। इनकी प्रसिद्ध रचना 'बुद्धालंकार' है, जो जातकट्ठकथा की निदानकथा की सुमेध-कथा का काव्यमय रूपान्तर है। सीलवंस ने 'नेत्तिप्पकरण' पर बरमी भाषा में 'अत्थयोजना' नामक एक पद्यात्मक व्याख्या लिखी; जिसे अरियवंस-कृत 'अत्थयोजना' से भिन्न समझना चाहिए, जिसका हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं। सीलवंस ने ही 'पारायणवत्थु' नामक एक अन्य काव्य-रचना बरमी भाषा में की। रट्ठसार ने भूरिदत्त-जातक, हत्थिपाल जातक और संवर-जातक के काव्यमय रूपान्तर किये। पन्द्रहवीं शताब्दी की ही एक रचना 'कायविरतिगाथा' है। 'गन्धवंस' (पृष्ठ ६५; ७५) में इसका उल्लेख है। 'कायविरतिगाथा' में २७४ गाथाएँ हैं, जिनमें काया की तुच्छता, गन्दगी और नश्वरता दिखायी गयी है; एक प्रकार से 'काये कायानुपश्यना' ही की गयी है और वैराग्य का उपदेश दिया गया है। यहाँ बताया गया है कि किस प्रकार काम-वासना को जीता जा सकता है। अललसेकर ने माना है कि 'कायविरति गाथा' सत्रहवीं शताब्दी ईसवी में सिंहल में लिखी गयी, बल्कि उन्होंने यह भी कहा है कि इसके लेखक ने ही कदाचित् इसका सिंहली भाषा में अनुवाद भी किया।[1] परन्तु गायगर[2] और मेबिल बोड[3] इसे पन्द्रहवीं शताब्दी के बरमी पालि साहित्य के अन्तर्गत रखते हैं। मेबिल बोड ने 'गन्धवंस' के आधार पर यह भी माना है कि पकुध नगर (पेगू) के एक भिक्षु ने इस पर एक टीका भी लिखी।[4] मललसेकर ने पकुध नगर के पेगू होने पर तो प्रश्नवाचक चिन्ह लगाया है, परन्तु स्वयं टीका की रचना के विरोध में कुछ नहीं कहा।[5] इस प्रकार हम यही कह सकते हैं कि

---

१. देखिये उनका पालि लिटरेचर ऑफ सिलोन, पृष्ठ २८५; डिक्शनरी ऑफ पालि प्रॉपर नेम्स, जिल्द पहली, पृष्ठ ५६८।

२. पालि लिटरेचर एण्ड लैंग्वेज पृष्ठ ४७।

३. पालि लिटरेचर ऑफ बरमा, पृष्ठ ४४।

४. उपर्युक्त पद-संकेत के समान।

५. देखिये उनकी 'डिक्शनरी ऑफ पालि प्रॉपर नेम्स', जिल्द पहली, पृष्ठ ५६८।

'क्षायविरतिगाथा' के रचयिता या उसके काल के सम्बन्ध में हमें निश्चित रूप से कुछ ज्ञात नहीं है। 'एकक्खरकोस' के रचयिता बरमी भिक्षु सद्धम्मकित्ति का समय भी पन्द्रहवीं शताब्दी ईसवी ही है। पन्द्रहवीं शताब्दी ईसवी में ही थाई देश में 'रतनबिम्बवंसपकरणवण्णना' नामक रचना लिखी गयी, जिसमें बुद्ध भगवान् की रत्नमय प्रतिमा (जो 'मरकतमणि बुद्ध' के नाम से भी प्रसिद्ध है, थाई देश की सर्वोत्तम राष्ट्रीय निधि है और थाई-नरेश के राज-प्रासाद के अहाते में एक चैत्य में सुरक्षित है) का इतिहास है।

सोलहवीं शताब्दी का पालि-साहित्य

सोलहवीं शताब्दी के पालि-साहित्य के इतिहास में सद्धम्मालंकार और महानाम या महानन्द, इन दो भिक्षुओं के नाम अधिक प्रसिद्ध हैं। सद्धम्मालंकार हंसवती या हंसावती (पेगू नगर, बरमा) के निवासी थे। उनकी रचना 'पट्ठानदीपनी' या 'पट्ठानसारत्थदीपनी' है,[2] जो पट्ठानप्पकरण की टीका है। महानाम या महानन्द भी हंसावती के ही निवासी थे और उन्होंने 'मधुसारत्थदीपनी' लिखी, जो स्थविर आनन्द वनरतन तिस्स द्वारा लिखित 'अभिधम्ममूलटीका' या संक्षेपतः 'मूल-टीका' नामक अभिधम्म-टीका की अनुटीका है। इसी (सोलहवीं) शताब्दी में लाओस के सिरि मंगल (श्री मंगल) नामक स्थविर ने मंगल-सुत्त की टीका 'मंगल-दीपनी' या 'मंगलत्थदीपनी' लिखी। स्याम देश (थाई-देश) में आज भी इस टीका का बड़ा आदर है। 'उप्पात-सत्ति' नामक एक अन्य रचना भी इसी शताब्दी में लाओस में लिखी गयी। पन्द्रहवीं-सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दियाँ थाई-देश के पालि-साहित्य के इतिहास में भी लक्षणीय हैं। इन शताब्दियों में यहाँ ञाण कित्ति, सिरि सुमंगलाचार्य, रतनपञ्ञ और बोधिरसि आदि अनेक आचार्य लेखक हुए और इन शताब्दियों में उक्त देश में लिखी गयी समन्तपासादिका-

---

१. यह महानाम या महानन्द ही आनन्द स्थविर के नाम से भी प्रसिद्ध थे। इसका आधार यह है कि 'सासनवंस' में 'मधुसारत्थदीपनी' को हंसावती के वासी आनन्द स्थविर की ही रचना बताया गया है। "हंसावतीनगरवासी पन आनन्दथेरो मधुसारत्थदीपनि नाम अभिधम्म टीकाय संवण्णनं अकासि।" पृष्ठ ४५ (देवनागरी संस्करण)। देखिये मेबिल बोड : दि पालि लिटरेचर ऑफ बरमा, पृष्ठ ४७, पद-संकेत ८।

२. "हंसावतीनगरवासी येव सद्धम्मालंकारथेरो पट्ठानसारत्थदीपनिं नाम पकरणं अकासि।" सासनवंसो, पृष्ठ ४५ (देवनागरी संस्करण)।

अत्थयोजना, अभिधम्मत्थविभाविनी, मंगलत्थदीपनी, छामदेवीवंस और जिन-कालमाली (जिनकालमालिनी) लक्षणीय रचनाएँ हैं।

सत्रहवीं शताब्दी का पालि-साहित्य

तिपिटकालंकार, तिलोकगुरु, सारदस्सी और महाकस्सप, ये चार भिक्षु सत्रहवीं शताब्दी के पालि-साहित्य के इतिहास के प्रकाश-स्तम्भ हैं। प्रोम के भिक्षु तिपिटकालंकार (त्रिपिटकालंकार) की ये तीन रचनाएँ हैं (१) वीसतिवण्णना—अट्ठसालिनी के आरंभ की २० गाथाओं की टीका, (२) यसवड्ढनवत्थु, (३) विनयालंकार-टीका—सारिपुत्त-कृत 'विनय-संगह' की टीका। तिलोकगुरु की चार रचनाएँ प्रसिद्ध हैं, जिनमें दो धातु-कथा की ही टीका और अनुटीका स्वरूप हैं, यथा (१) धातुकथा-टीका-वण्णना, (२) धातुकथा-अनुटीका-वण्णना। शेष दो रचनाएँ हैं (१) यमक-वण्णना, (२) पट्ठान-वण्णना। आवा (रतनपुर) के भिक्षु सारदस्सी थेर ने अभिधम्म-पिटक के कठिन शब्दों की व्याख्या-स्वरूप अपनी 'गूल्हत्थदीपनी' लिखी और इसी प्रकार 'विसुद्धिमग्ग' पर 'विसुद्धिमग्ग-गण्ठिपदत्थ।'[1] महाकस्सप या कस्सप की प्रसिद्ध रचना 'अभिधम्मत्थ गण्ठिपद' है, जो अभिधम्म के कठिन शब्दों की व्याख्या है। उन्होंने 'नेत्तिप्पकरण का बरमी

---

१. यह 'विसुद्धिमग्गगण्ठिपदत्थ' क्या है, इसका कुछ विशदीकरण यहाँ आवश्यक है, क्योंकि यह एक महत्त्वपूर्ण टीका-ग्रन्थ है। हम पहले इसी परिच्छेद में बरमी आचार्य भिक्षुछपद-कृत कुछ टीकाओं का परिचय दे चुके हैं। बरमी ग्रन्थ 'पिट्कत्थमेन्' के अनुसार छपद ने ही 'विसुद्धिमग्गगण्ठि' शीर्षक से 'विसुद्धिमग्ग' की एक टीका भी लिखी, जिसमें 'विसुद्धिमग्ग' में आये कठिन शब्दों की व्याख्या है। कदाचित् यह वही टीका-ग्रन्थ है जिसका 'गन्धवंस' में 'विसुद्धिमग्गगन्थि' शीर्षक से उल्लेख है। इसी को 'विसुद्धिमग्गगण्ठिपद' या औति संक्षिप्त रूप में केवल 'गण्ठि' भी कह दिया जाता है। 'विसुद्धिमग्गस्स गण्ठिपदं नाम टीका' के नाम से भी विदित है। भिक्षु सारदस्सी ने इसी 'विसुद्धिमग्गगण्ठि' या 'विसुद्धि-मग्गगण्ठिपद' या 'गण्ठि' पर व्याख्या-स्वरूप उक्त 'विसुद्धि मग्गगण्ठिपदत्थ' नामक अनुटीका लिखी। हमारे स्वर्गीय आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी जी ने 'विसुद्धिमग्ग' पर जो 'विसुद्धिमग्गदीपिका' नाम से पालि में टीका लिखी, उसमें धम्मपालाचार्य-कृत 'परमत्थमञ्जूसा' (विसुद्धिमग्ग की टीका) के साथ-साथ उक्त 'गण्ठि' से भी, जो उन्हें काफी ढूँढ़-ढकोर करने और करवाने के बाद बरमा से ताड़पत्र पर लिखी एक प्रति के रूप में मिली थी, काफी सहायता ली गयी है।

भाषा में अनुवाद भी किया। सत्रहवीं शताब्दी में अनेक पालि ग्रन्थों के बरमी भाषा में अनुवाद हुए, यह उसकी एक बड़ी विशेषता है। इस दिशा में अरियालङ्कार और अग्गधम्मालङ्कार नामक भिक्षुओं ने सराहनीय कार्य किया।

अठारहवीं शताब्दी का पालि-साहित्य

अठारहवीं शताब्दी बरमा में 'एकंसिक' और 'पारुपण' विवाद के कारण अति प्रसिद्ध है। इसका सम्बन्ध चीवर के पहनने के ढंग से है। 'एकंसिक' का अर्थ है चीवर को एक (दाहिना) कंधा खुला रखकर पहनना और 'पारुपण का अर्थ है चीवर को इस प्रकार पहनना कि दोनों कन्धे ढँक जायँ। यह एकंसिक-पारुपण' विवाद बरमा में अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुआ और इससे इस सम्बन्धी विनय-व्याख्याएँ भिक्षु-संघ में चर्चा का विषय बन गयीं। जहाँ तक साहित्य का सम्बन्ध है इस शताब्दी के तीन बड़े प्रसिद्ध लेखक ञाणाभिवंस (ज्ञानाभिवंश) ञाणवर और सारदस्सी हैं। ज्ञानाभिवंश बरमा के संघराज थे। तत्कालीन बरमी राज बोदोपया (बुद्धप्रिय) इनका बड़ा आदर करता था। 'ञाण सासन राज महाधम्मराज गुरु' की राजकीय उपाधि मिली थी। ञाणाभिधज थेर' भी कहलाते हैं। इनकी तीन रचनाएँ अधिक प्रसिद्ध हैं (१) पेटकालंकार—नेत्ति-पकरण की टीका (२) साधुजन विलासिनी (दीघ-निकाय की आंशिक व्याख्या) और (३) राजाधिराज-विलासिनी—गद्य काव्य-ग्रन्थ।[1] इन्हीं ज्ञानाभिवंश संघराज ने 'चतुसामणेरवत्थु' और 'राजोवाद-वत्थु' नामक भावमयी रचनाएँ भी लिखी हैं। पगान में जन्मे ञाणवर ने अभिधान-प्पदीपिका का बरमी भाषा में अनुवाद किया। 'राजाधिराज नापत्तप्पकासिनी' भी इन्होंने लिखी। इसमें बर्मी राजा महाराजाधिपति की प्रशंसा है। पगान के ही भिक्षु सारदस्सी ने 'धातुकथा-योजना' लिखी जो धातुकथा की टीका है। गायगर ने इन्हें सत्रहवीं शताब्दी में रख दिया है।[2] वस्तुतः सत्रहवीं शताब्दी के सारदस्सी थेर आवा (रतनपुर) के निवासी थे और इनसे भिन्न हैं।[3] अठारहवीं शताब्दी में ही बरमा में 'मालालंकारवत्थु' नाम की बुद्ध-जीवनी भी लिखी गयी (रचना-काल १७७३ ई०)। किन्तु इसके लेखक के नाम के विषय में हमारी कोई जानकारी नहीं है। थाई देश (स्याम) में संगीति वंस भी इसी

---

१. देखिये दसवें अध्याय में पालि काव्य-ग्रन्थों का विवेचन।
२. पालि लिटरेचर ऐण्ड लैंग्वेज, पृष्ठ ४७।
३. देखिये मेबिल बोड: दि पालि लिटरेचर ऑफ बरमा, पृष्ठ ५६ तथा ६७।

शताब्दी में वहाँ के भदन्त वनरतन (सोमदेज फ्रावनरत) के द्वारा लिखा गया। इसमें नौ संगीतियों का उल्लेख है। सागू (बरमा) के निवासी भिक्षु कण्टकखिप नागित भी इसी शताब्दी में हुए। इन्होंने 'सद्दसारत्थजालिनी' लिखी। सिंहल में सरणंकर संघराज जैसे बहुभाषाविद् विद्वान् इसी शताब्दी में हुए। इन्होंने पालि और सिंहली भाषाओं में कई व्याख्या-ग्रन्थ लिखे। पालि में लिखित इनके दो ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं (१) रूपमाला पालि में संज्ञाओं के रूपों पर है, और (२) 'अभिसम्बोधि-अलंकार जिसमें सौ गाथाओं में बुद्ध-जीवनी है। सिंहली भाषा में इनके दो ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध हैं। (१) मधुरार्थ-प्रकाशिनी जो 'बोधिवंस' की व्याख्या है और (२) 'सारार्थसंग्रह' जिसमें बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों का सार-संग्रह है। सरणंकर संघराज ने तत्कालीन सिंहली राजा कित्ति सिरि राजसीह के द्वारा स्याम के राजा धम्मिक के पास एक सन्देश भी भिजवाया जिसके परिणामस्वरूप स्याम से कुछ भिक्षु लंका आये और वहाँ उपसम्पदा की पुनः स्थापना हुई।

उन्नीसवीं शताब्दी का पालि-साहित्य

नळाटधातुवंस, छकेसधातुवंस, सन्देसकथा और सीमा-विवाद-विनिच्छय उन्नीसवीं शताब्दी की रचनाएँ हैं जिनके लेखकों के विषय में हमें कुछ ज्ञात नहीं है। इस शताब्दी की दो बड़ी महत्त्वपूर्ण रचनाएँ 'गन्धवंस' और 'सासनवंस' हैं। इसी प्रकार 'सासनवंसदीप' के भी महत्त्व को माना जा सकता है। चूँकि ये सभी वंश-ग्रंथ हैं अतः इनका विस्तृत विवरण हम नवें अध्याय में इस सम्बन्धी साहित्य का विवेचन करते समय देंगे। उन्नीसवीं शताब्दी में लंका और बरमा में पालि-साहित्य सम्बन्धी अन्य अनेक ग्रन्थ भी लिखे गये जिनके नाम-परिगणन मात्र से कोई विशेष उद्देश्य सिद्ध नहीं हो सकता। हाँ, प्रसिद्ध बरमी भिक्षु लेदि सयदाव की 'परमत्थदीपनी-टीका' नामक अभिधम्मत्थ-संगह की टीका और उनका 'यमक-सम्बन्धी पालि निबन्ध जो उन्होंने श्रीमती रायस डेविड्स की कुछ शंकाओं के निवारणार्थ लिखा था, अवश्य महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं और उन्नीसवीं शताब्दी के पालि-साहित्य के इतिहास में अपना एक विशेष स्थान रखती हैं।'[१] बल्कि उनकी अनेक रचनाएँ जैसे कि निब्बानदीपनी, आनापानदीपनी, बोधि पक्खिय दीपनी, मग्गदीपनी, सच्चत्थदीपनी, पटिच्चसमुप्पाददीपनी, धम्मदीपनी, सीलविनिच्छय, ओवाद (ध्यान-शिक्षा सम्बन्धी ग्रन्थ) परमत्थसंखेप, पब्बाजनिय

---

१. देखिये पीछे पांचवें अध्याय में 'यमक' का विवरण।

कम्मवाका, सद्दसंखेप, निरुत्तिदीपनी आदि रंगून से सन् १९०५-०६ में प्रकाशित हुई और ये पालि-साहित्य-रचना की जीवित-परम्परा को दिखाती हैं। अस्थविर छक्किन्दाभिसिरि का 'काव्यसारत्थसंगह' सन् १८७२ ई० में प्रकाशित हुआ। इन्हीं की एक लोकप्रिय नैतिक रचना 'लोकनीति' सन् १८८२ ई० में निकली। 'उपासक-विनिच्छय' भी इसी शताब्दी में बरमा में लिखा गया। यह उपासकों के लिए उपयोगी एक पालि-संग्रह है। उन्नीसवीं शताब्दी में राजा मिन्-दोन्-मिन् के शासन-काल में हुई पाँचवीं धर्मसंगीति सुविदित ही है और उसका कुछ उल्लेख हम पहले द्वितीय अध्याय में कर भी चुके हैं। 'नमक्कार' और 'रतनपञ्जर' जैसी भावपूर्ण पालि काव्य-रचनाएँ भी उन्नीसवीं शताब्दी में बरमा में लिखी गयीं। संयुक्त-निकाय और अंगुत्तर-निकाय के उनकी अट्ठकथाओं के सहित बरमी भाषा में अनुवाद भी इसी शताब्दी में हुए। इसी प्रकार जातकट्ठकथा का भी अनुवाद हुआ। एक बड़ी लक्षणीय रचना इस शताब्दी में बरमा में हुई, जिसका शीर्षक 'कम्म विनिच्छय' है। इसके लेखक स्थविर सागरवंसाभिधज थे। यह उपासकों के कर्त्तव्यों पर है। इसका शीर्षक पालि में है, परन्तु वास्तव में यह बरमी भाषा में लिखी गयी है। प्रोम के पञ्ञारंसि नामक भिक्षु द्वारा इस पुस्तक की बरमी भाषा में व्याख्या भी लिखी गयी है। वास्तव में उन्नीसवीं शताब्दी में बरमा में अनेक अभिधम्म-सम्बन्धी और व्यारण-संबंधी ग्रन्थ भी लिखे गये, जिनका विवरण हम यहाँ विस्तार-भय से देने में असमर्थ हैं। इसी प्रकार लंका में समरसेकर, सिरि धम्मरतन, विक्रम सिंघे, वस्कड्वे सिरि सुभूति, विमलसार थेर, महागोड सिरि ञाणिस्सर, हिक्क डुवे सिर सुमंगल और सिरि सिद्धत्थ धम्मानन्द आदि ने जो कार्य किया, वह भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है। इनकी रचनाओं का हम यहाँ विस्तार-भय से उल्लेख करने में असमर्थ हैं। परन्तु सिरि सिद्धत्थ धम्मानन्द की लोकोपकार' नामक रचनाओं १०७ गाथाओं में है; लक्षणीय ही है। इसी शताब्दी में बरमा के यशस्वी लेखक यू यन् (जिनका पालि में नाम जेय्यसूर है) हुए। इन्होंने अनेक पालि ग्रन्थों के अलावा वर्मी भाषा में 'पिटकत्थमेन्' लिखा, जिसमें तत्कालीन मांडले ('रतन पुण्ण' नगर) के राजकीय संग्रहालय में प्राप्त पालि ग्रन्थों की विस्तृत विवरण-सूची हैं। यह ग्रन्थ वाद में सन् १९०६ में रंगून से छपा। बरमी पालि साहित्य की जानकारी के लिए 'सासनवंस' के समान इसका भी अपरिहार्य और परिपूरक महत्त्व है। सीमा-विवाद-विनिच्छय-कथा भी बरमा में सन् १८०१ में लिखी गयी। इसमें बरमा और सिंहल के धार्मिक सम्बन्धों पर अच्छा प्रकाश है।

बीसवीं शताब्दी का पालि साहित्य

बीसवीं शताब्दी में भी पालि-भाषा में टीकाओं का लिखा जाना कुछ आश्चर्य-मय लगता है, किन्तु वह एक तथ्य हैं। वह एक ऐसी परम्परा का सूचक है, जो अभी विच्छिन्न नहीं हुई है। भारत में पालि-अध्ययन की जो दुरवस्था है, जिसमें अब सुधार हो रहा है, वह लंका, बरमा और स्याम जैसे देशों की परिस्थिति की भी, जहाँ बौद्ध धर्म आज एक जीवित धर्म के रूप में विद्यमान है, सूचक नहीं है। वहाँ पालि का अध्ययन आज भी उसी उत्साह के साथ किया जाता है, जैसी उन्नीसवीं या उसकी पूर्व की शताब्दियों में, या कुछ अवस्थाओं में तो उससे अधिक भी। श्रीलंका में भदन्त विदुरुपोल पियतिस्स ने नेत्तिप्पकरण और सारत्थप्पकासिनी पर अपनी टीकाएँ इसी शताब्दी में लिखी हैं। बल्कि इन महाविद्वान्, महा-विनम्र और भक्तिमान् सिंहली महास्थविर ने 'कमलञ्जलि' नामक एक बुद्ध-भक्तिमयी पालि काव्य-रचना भी दी है, जो चार परिच्छेदों में विभक्त ६० गाथाओं में है। यह बुद्ध की शरणागति के लिए उनके हृदय का निवेदन ही है। एक भक्त की तरह उन्होंने अपने हृदय के अन्दर विद्यमान छिपी वासनाओं या अनु-शयों की ओर झाँका है और "खम गोतम नरसारथि तमिदं मम खलितं" (हे पुरुष-सारथी गौतम ! आप मेरी इस गलती को क्षमा करें) के रूप में जो क्षमा-याचना की है, वह सिंहली बुद्ध-भक्ति-चेतना की चरम निधि ही कही जा सकती है। इस प्रसंग में बुद्ध भगवान् के लिए जो 'पुरिसुत्तम', 'दिपदुत्तम', 'वसिसत्तम', 'वसिपुङ्गव', 'करुणानिधि', 'मतिसागर', 'नरकेसरी', 'वदतंवर', 'मुनिसत्तम', 'मुनिपुङ्गव', 'करुणाभर' आदि विशेषण प्रयुक्त किये गये हैं, वे बड़े सार्थक और मार्मिक हैं। बुद्ध को सम्बोधन कर "न सरिं सकिदपि ते पित भजितुं पदनलिनं" (गाथा ३४) ("हे पिता ! मैंने एक बार भी आपके चरण-कमलों की शरण लेने की सुध नहीं ली') जैसे आत्म-निवेदन उत्तरकालीन पालि गीत-काव्य के आभूषण ही कहे जा सकते हैं।

कमलञ्जलि की अन्तिम गाथा का यह अंश भी कितना मार्मिक और आत्म-निवेदन परायण है—"पित मे भव सरणं भगवं पटिसरणं मम भवनीरधितरणं।" "हे पिता ! आप मेरे लिए शरण बनें। हे भगवन् ! "इस भव-सागर को तरने के लिए आप ही मेरे लिए प्रतिशरण हैं।" 'कमलञ्जलि' का रोमन लिपि से सम्पादन और अंग्रेजी में सुन्दर अनुवाद ग्रन्थकार के प्रिय शिष्य भिक्षु बुद्धरक्षित जी ने किया है (श्रीमती एन० मूनसिंह द्वारा प्रकाशित, कोलम्बो, १९५२ ई०), जिनके व्यक्तित्व में अपने गुरु का सौम्यत्व स्वयं झलकता है। 'कमलञ्जलि'

'महानेक्खम्म चम्पू' और 'महाकस्सप चरितं' भी भदन्त के अतिरिक्त विदुरुपोल पियतिस्स ने लिखीं जो लक्षणीय रचनाएँ हैं और इसी प्रकार 'व्याकरण-सद्दसिन्धु' नामक व्याकरण-ग्रन्थ भी जो ६० गाथाओं में है। स्थविर यगिरल पञ्ञानन्द नायक थेर ने चूलवंस का अन्तिम परिवर्द्धन इसी शताब्दी में किया, यह हम आगे भी 'वंश'-साहित्य के विवरण में देखेंगे।

श्रीलंका में ही सन् १९११ में कोदागोद उपसेन थेर ने विनय-सम्बन्धी रचना 'सम्मोहनासनी' की। इसी प्रकार बीसवीं शताब्दी में ही श्रीलंका में लिखी गयी एक अन्य रचना का भी उल्लेख करना बहुत जरूरी है। वह है 'जिनवंसदीपनी'। यह बुद्ध-जीवनी के रूप में है और इसका एक दूसरा नाम 'पबन्ध-सिरोमणि' भी है। यह दो हजार गाथाओं में है जो तीस परिच्छेदों में बँटी हुई हैं। इसके लेखक मोरटुवे मेघानन्द थेर हैं और यह सन् १९१७ में प्रकाशित हुई। इसी प्रकार कई अन्य सिंहली भिक्षुओं ने महत्त्वपूर्ण व्याख्यापरक साहित्य पालि में लिखा है। बरमा में अभिधज महारट्ठ गुरु भदन्त रेवत, न्योंग्यन सयदाव (१८७४-१९५५) ने, जो छट्ठ संगायन के संघनायक चुने गये थे, हमें सीलक्खन्ध-टीका और नमक्कार-टीका जैसे ग्रन्थ दियें हैं। इसी प्रकार थातोन (सुधम्मपुर-बरमा) के भिक्षु मिंगुन् सयदाव (१८६८-१९५५) ने हमें मिलिन्द-अट्ठकथा (१९४९), पेटकोपदेश अट्ठकथा, कठिन-विनिच्छय और निब्बाण-कथा जैसे ग्रन्थ दिये हैं। स्याम (थाई देश) आरम्भ से ही पालि तिपिटक, अट्ठकथाओं और टीकाओं के अनुशीलन और उन सम्बन्धी रचनाओं के प्रणयन और प्रकाशन में अग्रणी रहा है, जिसकी अवगति हमारे देश में बहुत कम है। बैंकाक के वजिरञाण पाण्डुलिपि पुस्तकालय में ऐसी अनेक पाण्डुलिपियों का भण्डार है जो स्याम में रचित पालि साहित्य की महत्त्वपूर्ण व्याख्यात्मक रचनाएँ हैं और जिनकी परम्पराएँ वहाँ अब तक जारी हैं। संखेपत्थजोतनी (विसुद्धिमग्ग की टीका), संगीति-वंस (रचना-काल १७८९ ई०); पंचिका-नामअट्ठयोजना, (अभिधम्मत्थविभावनी की टीका), छामदेवीवंस और समन्तपासादिक-अत्थ-योजना जैसी रचनाओं का सम्बन्ध स्याम की पालि-परम्परा से है; जिनका प्रणयन मध्य-युग तथा गत शताब्दियों में हुआ है और जिनका साहित्य तथा राजनैतिक और धार्मिक इतिहास की दृष्टि से महत्त्व है।

---

१. स्याम देश (थाई देश) में लिखित पालि साहित्य का परिचय प्रो० बी० कोड्स ने 'बुलेटिन' डि ल इकोल फ्रांसेज ड एक्स्ट्रीम-ऑरियण्ट' में

पालि ग्रन्थों के अनेक 'निस्सय' (सहायक ग्रन्थ) लाओस में लिखे गये हैं। इसी प्रकार कम्बोदिया (कम्पूचिया) में भी आज तक पालि में रचनाएँ होती रही हैं, जिनका पूरा विवरण हमें प्राप्त नहीं है। भारत में भी ज्ञान की ज्योति क्षीण भले ही हो गयी हो, किन्तु बुझी नहीं है। आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी के रूप में हम फिर भी कुछ गौरव अनुभव कर सकते हैं। उन्होंने पालि साहित्य को, जैसा हम पहले भी कह चुके हैं, दो अमूल्य टीका-ग्रन्थ प्रदान किये हैं (१) विसुद्धिमग्गदीपिका, जो विसुद्धिमग्ग पर विद्यार्थियों के उपयोग के लिए लिखी गयी उत्तम टीका है, और (२) अभिधम्मत्थसंगह की 'नवनीत-टीका'।[२] अपने वर्षों के प्रयास के परिणाम-स्वरूप प्राप्त ज्ञान को यहाँ आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी ने अभिधम्म के जिज्ञासुओं के लिए अत्यन्त सुगम भाषा में प्रस्तुत किया है। भारतीय पालि अनुशीलन की दृष्टि से ये रचनाएँ ठीक हैं, परन्तु लंका, बरमा और स्याम में इस दिशा में जो कार्य हुआ है, उसको देखते हुए इनका अधिक महत्त्व नहीं माना जा सकता। परन्तु यहाँ इनको ही पढ़ने वाले कितने हैं?

इस युग की अन्य रचनाएँ

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि पालि-स्वाध्याय की जो परम्परा बुद्धघोष, बुद्धदत्त और धम्मपाल ने पाँचवीं शताब्दी में छोड़ी, वह अविच्छिन्न रूप से बीसवीं शताब्दी तक चलती आ रही है। यद्यपि उसमें मौलिकता न हो, किन्तु वह एक सतत साधना की सूचक तो है ही। यहाँ हमने बारहवीं शताब्दी से लेकर बीसवीं शताब्दी तक के टीका-साहित्य का ही प्रधानतः दिग्दर्शन किया है। कहीं-कहीं काव्य-सम्बन्धी ग्रन्थों का भी उल्लेख किया है और इसी प्रकार वंश-सम्बन्धी ग्रन्थों की ओर भी संकेत मात्र कर दिया है। उनका विवरण हमें कालक्रम और विकास की दृष्टि से अलग देना

१९१५, जिल्द तीसरी, पृष्ठ ३९-४६ में 'पालि लिटरेचर ऑव स्याम' शीर्षक लेख में दिया है। स्वयं कई थाई विद्वानों ने अपने देश में रचित पालि-ग्रन्थों का परिचय दिया है, जिसमें से कुछ लघु निबन्ध मेरे देखने में भी आये हैं।

१. महाबोधि सभा, सारनाथ, द्वारा प्रकाशित, १९४३ ई०।

२. अभिधम्मत्थसंगहो, नवनीतटीका-सहित, महाबोधि सभा, सारनाथ, १९४१ ई०।

इष्ट है। व्याकरण-सम्बन्धी प्रभूत साहित्य का निर्माण इन्हीं शताब्दियों में अर्थात् बारहवीं शताब्दी से लेकर उन्नीसवीं या बीसवीं शताब्दी तक लंका और बरमा दोनों देशों में किया गया। उसका हमने बिल्कुल उल्लेख इस प्रकरण में नहीं किया है। उसके विकास की परम्परा को हम अलग से (दसवें अध्याय में) लेंगे, क्योंकि वह काफी विस्तृत है और अलग विवेचन की ही अपेक्षा रखती है। पालि में इन्हीं शताब्दियों में ही धर्म-शास्त्र (धम्मसत्थ, बर्मी थम्मथत्) सम्बन्धी ग्रन्थों की रचना हुई। सर्वप्रथम बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी में रामण्य-वासी बरमी भिक्षु धम्म-विलास (सारिपुत्त) ने राजा नरपति-सि-थु के शासन-काल (११६७-१२०२ ई०) में 'धम्मविलास,' 'धम्मसत्थ' नामक विधि शास्त्रीय ग्रन्थ पालि में लिखा। तदनन्तर तेरहवीं शताब्दी में 'वगरु धम्मसत्थ' नामक विधि-ग्रन्थ तलैङ्ग भाषा (दक्षिणी बरमा की भाषा) में बरमी राजा वगरु के द्वारा लिखा गया; जिसका 'मनु-सार' नाम से सोलहवीं शताब्दी में एक बर्मी भिक्षु के द्वारा पालि भाषा में अनुवाद किया गया। सत्रहवीं शताब्दी में 'मनु-धम्मसत्थ' नाम से एक और संस्करण 'धम्मविलास धम्मसत्थ' का किया गया। इसे धम्मविलास द्वितीय नामक बरमी भिक्षु ने किया। अठारहवीं शताब्दी में अनेक 'धम्मसत्थ' ग्रन्थ बरमा में लिखे गये, जिनमें 'मनु-वण्णना' अधिक प्रसिद्ध है। इसके लेखक वन्न क्यव-दिन् थे। इसके बरमी और पालि दोनों ही संस्करण हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में राजबल क्यव-दिन् ने पालि गाथाओं में 'मोह-विच्छेदनी' लिखी, जो इस परम्परा का अन्तिम महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। यह रचना सन् १८३२ ई० में लिखी गयी। यह मनु के धर्मशास्त्र का ही एक रूपांतर है। सन् १८९४ ई० में, तौंगू के राजा ह्सिन्-प्यु-म्य-शिन् ने 'नव-धम्मसत्थ' शीर्षक से पालि में नौ धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों का सार-संकलन किया। यह पुस्तक दाय-भाग पर है। इस प्रकार हम देखते हैं कि बर्मी पालि-साहित्य के इतिहास में धर्मशास्त्र-सम्बन्धी साहित्य का लक्षणीय विकास बारहवीं शताब्दी से आज तक हुआ है और इसका आधार और मूल-प्रेरणा-स्रोत रहा है मनुस्मृति। इस प्रकार मनस्मृति का बरमा के धर्मशास्त्र-सम्बन्धी साहित्य के विकास में, जो पालि और बर्मी दोनों भाषाओं में ही लिखा गया, महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। परन्तु हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि जैसे-जैसे हम इन बर्मी पालि विधि-शास्त्रीय ग्रन्थों का क्रमिक रूप से अनुशीलन करते हैं, तो हमें यह जानते देर नहीं लगती कि धीरे-धीरे बुद्ध की उदार शिक्षाएँ मनु की व्यवस्था का स्थान लेती गयी हैं और यह प्रक्रिया 'मोह-विच्छेदनी' में अपनी पूर्ण निष्पत्ति को प्राप्त हुई है। यहाँ मनु का स्थान पूर्णतः बुद्ध ने ले लिया है। बरमा जैसे बुद्ध-शासन के प्रति गहरी निष्ठा

और श्रद्धा वाले देश के साहित्य और समाज के लिए यह एक स्वाभाविक घटना ही है। काव्य, व्याकरण, वंश और धर्मशास्त्र के अलावा छन्द-शास्त्र, काव्य-शास्त्र, कोश आदि पर इन शताब्दियों में काफी साहित्य लिखा गया, जिसका इस प्रकरण में विवेचन नहीं किया गया है। उसका संक्षेपतः निदर्शन हम आगे के प्रकरणों में करेंगे।

---

१. बरमा में लिखित पालि विधिशास्त्रीय ग्रन्थों के विस्तृत विवेचन के लिए देखिए मेबिल बोड : दि पालि लिटरेचर ऑफ बरमा, पृष्ठ ३२, ३३, ८४-८९।

नवाँ अध्याय

वंस-साहित्य

"वंस शब्द का अर्थ और इतिहास से भेद

'वंस' (सं० वंश)—साहित्य पालि-साहित्य की एक मुख्य विशेषता है। यद्यपि 'वंश' नाम से कोई ग्रन्थ संस्कृत भाषा या अन्य किसी प्राचीन आर्य-भाषा के साहित्य के इतिहास में नहीं मिलता, किन्तु वैदिक साहित्य के ब्राह्मण-ग्रन्थों में 'वंश-ब्राह्मण' जैसा एक अंश है, जिसमें प्राचीन ब्राह्मण आचार्यों का परम्परा का वर्णन है। 'हरि-वंश-पुराण' नामक एक सुविदित पुराण ग्रन्थ भी है। बृहदारण्यक उपनिषद् के कुछ अध्यायों में भी विशिष्ट आध्यात्मिक ज्ञान के ऋषियों की परम्पराएँ दी गयी हैं। उदाहरणतः इस उपनिषद् के द्वितीय अध्याय के षष्ठ ब्राह्मण में मधुकाण्ड के वंश या मधु-विद्या की सम्प्रदाय-परम्परा का उल्लेख है और चतुर्थ अध्याय के षष्ठ ब्राह्मण में याज्ञवल्कीय काण्ड की विस्तृत वंश-परम्परा का। पुनः जिसे छान्दोग्य-उपनिषद् में 'इतिहास-पुराण' कहा गया है, उसकी तुलना विषय और शैली की दृष्टि से पालि 'वंस'-ग्रन्थों से की जा सकती है। 'इतिहास-पुराण' या ठीक कहें तो 'पुराण-इतिहास' ग्रन्थों के सर्वोत्तम उदाहरण संस्कृत भाषा में महाभारत और अष्टादश पुराण जैसे ग्रन्थ ही हैं। इनके विषयों में धर्म-वृत्त और कथाओं के साथ-साथ प्राचीन भारतीय इतिहास का भी संनिवेश है। इनका निश्चित आधार ऐति-हासिक होते हुए भी वर्णन-शैली प्रायः इतनी अतिरंजनामयी और नैतिक उद्देश्यों से (कहीं-कहीं साम्प्रदायिक मतवादों से भी, जैसा कि उत्तरकालीन पुराणों में) ओतप्रोत होती है कि उनमें से निश्चित इतिहास को निकालना बड़ा कठिन हो जाता है। पार्जिटर आदि विद्वानों को उनका वास्तविक ऐतिहासिक मूल्यांकन करने में कितना परिश्रम करना पड़ा, यह इसी से जाना जा सकता है। जो बात संस्कृत के पुराण-इतिहासों के बारे में ठीक है, वही बात पालि के 'वंस' ग्रन्थों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। कुछ अन्तर, केवल मात्रा का, यह अवश्य है कि पालि 'वंस'-कारों ने भारतीय 'पुराण'-कारों की अपेक्षा कुछ अधिक ऐति-हासिक बुद्धि का परिचय दिया है। संस्कृत में पुराण मुख्यतः प्राचीन आख्यान हैं,

जब कि पालि 'वंस'-ग्रन्थ अधिकतर इतिहास हैं या कम-से-कम पुराणेतिहास हैं। संस्कृत में केवल 'राजतरंगिणी' को छोड़कर और कोई ग्रन्थ उनकी कोटि का नहीं है। निश्चय ही उनके वर्णनों में निश्चित इतिहास की सामग्री संस्कृत पुराण-इतिहासों से तो बहुत अधिक मात्रा में और अधिक स्पष्ट रूप से मिलती है। भारतीय परम्परा के अनुसार पुराण; इतिहास-पुराण या पुराणेतिहास' के पाँच लक्षण कहे गये हैं, सर्ग (सृष्टि-क्रम-वर्णन), प्रतिसर्ग (प्रलय के बाद पुनः सृष्टि-क्रम का वर्णन), वंश (देवताओं और आचार्यों के वंश, (मन्वन्तर और वंशानुचरित (राजाओं के वंश-क्रम के वर्णन)। इनमें वंश और वंशानुचरित हमारे प्रस्तुत विषय की दृष्टि से बड़े महत्त्व के हैं। राजाओं की विस्तृत वंशावलियाँ विष्णु, वायु. मत्स्य, भागवत आदि पुराणों में दी हुई हैं। इसी प्रकार देवताओं और आचार्यों के भी वंशानुक्रम के अनुसार वर्णन हैं। पालि का वंश-साहित्य भी प्रधानतः राजाओं और आचार्यों की वंशावलियों का ही वर्णन करता है, यद्यपि महाभारत और पुराणों की तरह उसमें भी इसके अलावा बहुत कुछ है। पालि-वंश-ग्रन्थों में बौद्ध धर्म के इतिहास का वर्णन है। वे मुख्यतः बुद्ध-शाक्य के वंश (इतिहास) हैं और स्वभावतः इस प्रसंग में सद्धर्म के आचार्यों की परम्परा भी उनमें हैं। पालि में बुद्धवंस और अपदान जैसे ग्रन्थ पहले से ही विद्यमान थे। इनमें से पहले में गौतम बुद्ध और उनके पूर्ववर्ती २४ बुद्धों की वंश-परम्परा है और दूसरे में स्थविर-स्थविरियों के जीवन-चरित। यह सब सामग्री पालि के वंश-साहित्य की प्रेरक स्रोत मानी जा सकती है। धर्म-वृत्त और कथाएँ संस्कृत पुराण और पालि 'वंस'-ग्रन्थ दोनों के ही महत्त्वपूर्ण अंग हैं। जहाँ तक बौद्ध संस्कृत-साहित्य का सम्बन्ध है, 'महावस्तु' (जिल्द पहली, पृष्ठ ३१७-३३८ ई० सेनाँ का संस्करण) में 'राजवंश' अर्थात् राजाओं के उस वंश की कथा; जिसमें शाक्यमुनि उत्पन्न हुए। इस प्रकार यहाँ सृष्टि की उत्पत्ति के समय से आरम्भ कर चक्रवर्ती राजा मान्धाता के वंश का वर्णन करते हुए शाक्यों का इतिहास दिया गया है और कपिलवस्तु की स्थापत्ता आदि का वर्णन किया गया है। नेपाल में पद्मगिरि-कृत 'वंशावली' नामक वंश जातिक ग्रन्थ ही है, जिसमें तथागत के नेपाल जाने आदि का वर्णन है। इतने सामान्य कथन के बाद अब हम पालि के वंश-साहित्य की विशेषताओं में प्रवेश कर सकते हैं।

---

१. "सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्खणं।" प्राचीन कथन।

पालि 'वंस' ग्रन्थ

पालि में 'वंस'-साहित्य की परम्परा बुद्धघोष-युग के पहले से ही चली आ रही थी और उसका अविच्छिन्न प्रवर्तन तो ठीक उन्नीसवीं या बीसवीं शताब्दी तक मिलता है। पालि के मुख्य वंस-ग्रन्थ ये हैं, (१) दीपवंस, (२) महावंस, (३) चूलवंस; (४) बुद्धघोसुप्पत्ति, (५) सद्धम्मसंगह, (६) महाबोधिवंस, (७) थूपवंस, (८) अत्तनगलुविहारवंस, (९) दाठावंस, (१०) जिनकालमालिनी, (११) छकेसघातुवंस, (१२) नळाटधातु वंस, (१३) सन्देस-कथा, (१४) गन्धवंस, (१५) संगीति-वंस, (१६) सासनवंस और (१७) सासनवंसदीप। इनका अलग-अलग संक्षिप्त परिचयात्मक विवेचन आवश्यक होगा।

दीपवंस[1]

'दीपवंस' पालि वंश-साहित्य की सर्वप्रथम रचना है। यह लंका-द्वीप का इतिहास है। लंका-द्वीप की ऐतिहासिक परम्परा का आधार एवं आदि स्रोत यही ग्रन्थ है। 'दीपवंस' प्राग्बुद्धघोषकालीन रचना है। इसके लेखक का नाम अभी अज्ञात ही है। सम्भवतः यह किसी एक विशिष्ट लेखक की रचना है भी नहीं। परम्परा से प्राप्त वृत्तों का यह एक संकलन है और इसमें एक युग-विशेष के भिक्षुसंघ का सामूहिक कृतित्व है। 'दीपवंस' कार ने स्वयं आरम्भ में कहा है, "वंस पवक्खामि परम्परागतं "मैं परम्परा से प्राप्त इतिहास का वर्णन करूँगा।" 'दीपवंस' बाईस भाणवारों (परिच्छेदों) में विभक्त है। आरम्भिक काल से लेकर अथवा (निश्चित रूप में लंकाधिराज मुटसीव के शासन-काल (३०७-२४७ ईसवी पूर्व) से लेकर राजा महासेन के शासन-काल (३२५-३५२ ई०) तक का लंका का इतिहास इस ग्रन्थ में वर्णित है। बुद्धघोष ने इस ग्रन्थ को अपनी अट्ठकथाओं में कई जगह (विशेषतः कथावत्थुप्पकरण की अट्ठकथा में) उद्धृत किया है। बुद्धघोष का समय चौथी-पाँचवीं शताब्दी है। अतः यह निश्चित

---

१. रोमन लिपि में ओल्डनबर्ग द्वारा सम्पादित एवं अनुवादित, विलियम्स एण्ड नॉरगेट, लन्दन, १८७९। रोमन लिपि में ही डॉ० विमला चरण लाहा द्वारा सम्पादित एवं अंग्रेजी में अनुवादित, दि सिलोन हिस्टोरिकल जर्नल, भाग ४, संख्या १-४। पुस्तक रूप में प्रथम संस्करण, १९५९ ई०। हिन्दी में अभी तक इस ग्रन्थ का कोई मूल संस्करण या अनुवाद नहीं निकला। इस ग्रन्थ के बरमी और सिंहली संस्करण उपलब्ध हैं।

२. देखिये मललसेकर : दि पालि लिटरेचर ऑफ सिलोन, पृष्ठ १३२।

है कि 'दीपवंस' का प्रणयन-काल ३५२ ई० (महासेन के शासन-काल का अन्तिम साल, जब तक का वर्णन 'दीपवंस' में मिलता है) और ४५० ई० के बीच ही होना चाहिए। चूलवंस (३८।५९) में उल्लेख है कि लंकानरेश धातुसेन (४६०-४७८ ई०) प्रति वर्ष महेन्द्र-उत्सव के अवसर पर 'दीपवंस' का सार्वजनिक पाठ करवाया करता था और उसने एक हजार मोहरें देकर इसके ऊपर एक 'दीपिका' लिखवाने की आज्ञा भी दी थी। इस प्रसंग में हम कुछ आगे कहेंगे। इससे स्पष्ट है कि 'दीपवंस' पाँचवीं शताब्दी के मध्य भाग में एक सुप्रसिद्ध रचना की ख्याति प्राप्त कर चुका था। 'दीपवंस' की ऐतिहासिक परम्परा और विषयवस्तु प्राचीन सिंहली अट्ठकथाओं के ऐतिहासिक अंशों पर आधारित हैं। ये सिंहली अट्ठ-कथाएँ अत्यन्त प्राचीन काल में सिंहल में लिखी गयी थीं। इनकी भाषा सिंहली गद्य थी; किन्तु बीच-बीच में कहीं-कहीं पालि-गाथाएँ भी इनमें सम्मिलित थीं। इन्हीं अट्ठकथाओं पर बुद्धघोष की पालि-अट्ठकथाएँ आधारित हैं और इन्हीं पर 'दीप वंस' भी। 'महा-अट्ठकथा', 'महापच्चरी', 'कुरुन्दी', 'चुल्ल-पच्चरी', 'अन्ध-ट्ठकथा' आदि जिन सिंहली अट्ठकथाओं से बुद्धघोष ने सामग्री ली, उन्हीं पर 'दीपवंस' भी आधारित है। विशेषतः जिसे 'महावंस-टीका' ('वंसत्थप्पकासिनी') में 'सीहलट्ठकथा-महावंस' कहा गया है, उससे भी सम्भवतः 'दीपवंस' में अधिक सहायता ली गयी है। इस तथ्य का निर्देश हम आगे 'महावंस' के विवरण-प्रसंग में भी करेंगे। 'दीपवंस' की कुछ गाथाएँ (उदाहरणतः ४।५०-५४ तथा १२। ३५-३७) कुछ अल्प पाठ-भेद के सहित बुद्धघोष-कृत 'समन्तपासादिका' (विनयट्ठ-कथा) में उद्धृत की गयी हैं तथा कुछ अन्य गाथाएँ (उदाहरणतः १।६६-७३; १९।९; २०।३०) 'महावंस-टीका' में पुराने लोगों के कथन के रूप में तेनाहु 'पोराणा' कहकर उद्धृत की गयी हैं। इससे यह स्पष्ट रूप से प्रकट है कि न केवल 'दीपवंस' ही प्राचीन सिंहली अट्ठकथाओं पर आधारित है, बल्कि उन्हीं पर आधा-रित बुद्धघोष की अट्ठकथाएँ भी हैं। आज उक्त सिंहली अट्ठकथाएँ नष्ट हो चुकी हैं। कुछ भी हो, अनेक स्रोतों से सहायता लेने के कारण और उनमें निर्दिष्ट पर-म्पराओं को उनके मौलिक रूप में ही रख देने की प्रवृत्ति के कारण, 'दीपवंस' में अनेक पुनरुक्तियाँ मिलती हैं और अव्यवस्थित वर्णन भी। हालाँकि 'दीपवंस' कार ने आरम्भ में कहा है कि उसने नाना वृत्तों को इस ग्रन्थ में इस प्रकार पिरोया है जैसे कि मानो नाना कुसुम एक माला में गूँथ दिये गये हों; "एतम्हि नाना कुसुमं व गन्थितं।" परन्तु इसमें संकलनकार को पूरी सफलता नहीं मिली है, ऐसा कहा ही जा सकता है। विभिन्न स्रोतों से सामग्री संकलित की गयी है; किन्तु उस संकलन को व्यवस्थित एवं एकात्मतापरक रूप प्रदान नहीं किया गया है। एक ही घटना

का वर्णन एक जगह संक्षिप्त रूप से कर दिया गया है, दूसरी जगह उसी घटना का वर्णन विस्तृत रूप से दे दिया गया है। उदाहरणतः पहले चतुर्थ माणवार की १-३१ गाथाओं में प्रथम संगीति का वर्णन है और फिर आगे चलकर पाँचवें माणवार की १-१५ गाथाओं में पुनः प्रथम संगीति का वर्णन है। यह विभिन्न स्रोतों से संकलित सामग्री को व्यवस्थित रूप न दे सकने के कारण ही है। अतः साहित्यिक कला की दृष्टि से यह ग्रन्थ उतना महत्त्वपूर्ण नहीं हो पाया है। भाषा और छन्द दोनों ही निर्दोष नहीं है। जबकि ऐतिहासिक सामग्री इस ग्रन्थ ने उपर्युक्त सिंहली अट्ठकथा-साहित्य से ली है, भाषा और शैली की दृष्टि से यह ग्रन्थ तिपिटक पर भी आधारित कहा जा सकता है। बुद्धवंस, चरियापिटक, जातक, परिवार-पाठ आदि ग्रन्थों की शैली की 'दीपवंस' की भाषा-शैली से पर्याप्त समानता है। फिर भी, जैसा अभी निर्दिष्ट किया जा चुका है; भाषा पर लेखक का अधिक अधिकार दिखायी नहीं पड़ता। साहित्यिक दृष्टि से 'दीपवंस' एक अव्यवस्थित, पुनरुक्तिमय, भाषा और शैली के दोषों से परिपूर्ण एवं नीरस पद्यात्मक (केवल दो जगहों पर गद्य-मिश्रित) रचना है। उसके पाठों का ठीक विनिश्चय करना एक बड़ा दुस्तर कार्य है और यह अभी तक सुनिश्चित रूप में नहीं हो पाया है और कदाचित् कभी हो भी नहीं सकेगा, क्योंकि इस ग्रन्थ की भाषा कहीं-कहीं व्याकरण से सर्वथा दूर चली गयी है और पाठानुसन्धान की मर्यादाओं में बँधकर उसका संशोधन नहीं किया जा सकता।

किन्तु साहित्यिक दृष्टि से दोषमय होते हुए भी ऐतिहासिक दृष्टि से 'दीपवंस' एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। फ्रैंक जैसे कुछ-एक विद्वानों ने उसकी साहित्यिक अपूर्णताओं के कारण या उनसे अधिक प्रभावित होकर ही उसे एक प्रामाणिक ऐतिहासिक ग्रन्थ के गौरव से भी वंचित रखना चाहा है।[१] निश्चय ही यह सन्तुलन को खो देना है। 'दीपवंस' के ऐतिहासिक रूप से प्रामाणिक ग्रन्थ होने में संदेह की गुंजाइश नहीं, यह डॉ० गायगर की इस सम्बन्धी खोजों ने अन्तिम रूप से निश्चित कर दिया है।[२] 'दीपवंस' में एक प्राचीन ऐतिहासिक परम्परा मिलती है,

---

१. यथा स्मिथ : इंडियन एंटिक्वेरी, ३२, १९०३ पृष्ठ ३६५ फ्रैंक : जर्नल ऑफ पालि टैक्स्ट् सोसायटी, १९०८, पृष्ठ १।

२. देखिये विशेषतः उनका महावंस (अंग्रेजी अनुवाद), पृष्ठ १२-२०; गायगर से पहले मैक्समुलर तथा डॉ० रायस डेविड्स ने भी सिंहली इतिहास-ग्रन्थों की प्रामाणिकता को प्रतिपादित किया था। देखिये क्रमशः सेक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट, जिल्द १० (१), पृष्ठ १३-२५ (भूमिका); बुद्धिस्ट इंडिया, पृष्ठ २७४।

जिसको सिंहल में सदा आदर और विश्वास की दृष्टि से देखा गया है। यह इसी से जाना जा सकता है कि पाँचवीं शताब्दी ईसवी में सिंहल के राजा धातुसेन ने इस ग्रन्थ का पाठ राष्ट्रीय गौरव के साथ एक वार्षिक उत्सव के अवसर पर करवाया था। सिंहली इतिहासों में निश्चय ही इस ग्रन्थ को पहला और अत्यन्त ऊँचा स्थान प्राप्त है। ग्रन्थ की विषयवस्तु, जैसा पहले कहा जा चुका है, लंका के प्रारम्भिक इतिहास से लेकर वहाँ के राजा महासेन के शासन-काल (३२५-३५२ ई०) तक है। सर्वप्रथम बुद्ध के तीन बार लंका-गमन का वर्णन किया गया है। यहाँ बुद्ध की प्राचीन वंशावली का भी वर्णन किया गया है और उनके वंश के आदि पुरुष का नाम महासम्मत बतलाया गया है। फिर प्रथम दो बौद्ध संगीतियों का वर्णन है। यहाँ विनय-पिटक—चुल्लवग्ग आदि के वर्णनों से कोई विशेष विभिन्नता नहीं है। वही मगधराज अजातशत्रु के तत्त्वावधान में, महाकाश्यप के सभापतित्व में, प्रथम संगीति का होना, एवं आनन्द और उपालि के द्वारा क्रमशः धम्म और विनय का संगायन किया जाना, यहाँ भी प्रथम संगीति के विवरण में दिया गया है। इसी प्रकार द्वितीय संगीति के प्रसंग में वज्जिपुत्तक भिक्षुओं का अलग होना, 'महासंघिकों' के रूप में विकसित हो जाना आदि वर्णित है। अशोक के काल तक, स्थविरवाद सम्प्रदाय को सम्मिलित कर, बुद्ध-धर्म १८ सम्प्रदायों में विभक्त हो गया था, यह भी 'दीपवंस' का वर्णन अन्य इस सम्बन्धी स्रोतों के साक्ष्य से अनुमत है, यह सब हम द्वितीय अध्याय में बौद्ध संगीतियों के विवरण में देख चुके हैं। प्रथम दो संगीतियों का वर्णन करने के बाद 'दीपवंस' तीसरी संगीति के वर्णन पर आता है। किन्तु यहाँ सम्बन्ध मिलाने के लिए वह पहले लंका-द्वीप के उस समय तक के इतिहास को अंकित करता है। लंकाद्वीप की स्थापना एक भारतीय उपनिवेश के रूप में "लाल"[1] नरेश सिंहबाहु के विद्रोही पुत्र विजय ने की। वह अपने पिता के द्वारा, अपने उच्छृङ्खल व्यवहार के कारण देश से बाहर निकाल दिया गया था। अपने कुछ साथियों को लेकर विजय लंका द्वीप आया। यात्रा के प्रसंग में भरुकच्छ, सुप्पारक आदि

---

१. प्राचीन लाट अर्थात् गुजरात-प्रदेश। गायगर ने लाल को 'राढ़' मानते हुए इसे बंग-प्रदेश माना है, जो निश्चय ही ठीक नहीं है। देखिये महावंश, पृष्ठ ६ (परिचय, भदन्त आनन्द कौसल्यायन का अनुवाद।) यद्यपि भाषा-विज्ञान की दृष्टि से 'लाळ' का 'राढ़' भी रूप-परिवर्तन शक्य है, परन्तु भौगोलिक समीचीनता की दृष्टि से 'लाट' मानना ही ठीक है। विजय और उसके साथी पोत में बैठकर भरुकच्छ से सुप्पारक होते हुये सिंहल गये थे। अतः लाळ (लाट) गुजरात ही होना चाहिए, बंगाल मानने पर कोई संगति नहीं बैठती।

बन्दरगाहों का भी वर्णन कर दिया गया है, जो ग्रन्थकार की ऐतिहासिक बुद्धि का पर्याप्त साक्ष्य देता है। किन्तु साथ ही यह भी दिखाया गया है कि लंका में उस समय यक्ष, दानव और राक्षस रहते थे, जो 'पुराण-इतिहास' शैली का एक अच्छा नमूना कहा जा सकता है। विजय सिंहल का प्रथम अभिषिक्त राजा हुआ। उसके बाद अनेक राजा हुए। जिस समय भारत में अशोक राजा राज्य करता था, सिंहल में विजय का वंशधर देवानंपिय तिस्स नामक राजा था। अशोक ने तृतीय संगीति के बाद अपने पुत्र और पुत्री महेन्द्र और संघमित्रा को बौद्ध-धर्म का संदेश लेकर लंका में भेजा। वे अपने साथ बोधिवृक्ष की शाखा भी ले गये। देवानंपिय तिस्स ने उनका स्वागत किया और बुद्ध-धर्म को स्वीकार किया। इस प्रकार देवानंपिय तिस्स के शासन-काल में बौद्ध धर्म सर्वप्रथम लंका में प्रविष्ट हुआ। बोधिवृक्ष की शाखा, जिसे महेन्द्र और संघमित्रा अपने साथ ले गये थे, बड़े सम्मान के साथ अनुराधपुर में लगायी गयी और वहीं 'महाविहार' नामक विहार की स्थापना की गयी। देवानंपिय तिस्स के बाद लंका के ऊपर एक बड़ी विपत्ति आयी। दक्षिण भारत से तमिलों (दमिळों) ने वहाँ जाकर उसकी राष्ट्रीय एकता को भंग करना आरम्भ कर दिया और बहुत सा भाग अपने अधिकार में कर लिया। तमिलों के द्वारा निरन्तर तंग किये जाने पर भी सिंहल के मैत्री-भावना-परायण बौद्ध राजाओं ने उनसे युद्ध करने की नहीं सोची। जो भाग तमिलों ने अपने अधिकार में कर लिया था, उस प्रदेश की सिंहली जनता उनके अत्याचारों से दुःखी थी। अन्त में उन्हें 'दुट्ठगामणि' के रूप में उपयुक्त नेता मिला। दुट्ठ-गामणि का वास्तविक नाम 'गामणि' था। वह तत्कालीन बौद्ध लंकाधिपति काकवण्ण तिस्स का पुत्र था। बड़ा उद्धत और वीर स्वभाव का था। सोलह वर्ष की अवस्था में ही उसने तमिलों से लड़ने के लिए अपने पिता से आज्ञा माँगी। अहिंसक बौद्ध पिता ने नर-हिंसामय युद्ध की अनुमति नहीं दी। गामणि उसी समय से विद्रोही हो गया। पिता के आदेश को न मानने के कारण उसके नाम के साथ इसी कारण 'दुष्ट' (दुट्ठ) शब्द भी लगने लगा। बाद में पिता के मरने के बाद वह शोषित सिंहली जनता का स्वाभाविक नेता हुआ। उसने एक सुसंगठित सेना तैयार कर दमिलों (तमिलों, द्रविड़ों) को परास्त किया और सिंहल को एक सूत्र में बाँधा। दुट्ठगामणि सिंहल का सबसे बड़ा शासक माना जाता है। उसने बौद्ध धर्म की भी बड़ी सेवा की। नौ मंजिलों का 'लौह प्रासाद' (लोह पासाद) नामक विहार उसने अनुराधपुर में बनवाया। इसकी प्रत्येक मंजिल में सौ कमरे थे। इसकी छतें ताँबे (लोह) की खपरैलों से पटी थीं, इसीलिए यह 'लोह पासाद' कहलाया। अनुराधपुर में ही 'महाथूप' (महास्तूप) तथा अन्य

अनेक स्तूप और विहार भी उसने बनवाये। दमिलों (तमिलों) के नेता एलार को परास्त कर उसकी मृत्यु पर दुट्ठगामणि ने राजकीय सम्मान के साथ उसका दाह-कर्म करवाया और उसके भस्मावशेषों पर एक स्तूप भी बनवाया गया, जिसके समीप गीत आदि गाना निषिद्ध कर दिया गया। शत्रु के प्रति भी एक विशेष मैत्री-भावना उसमें थी। दुट्ठगामणि के बाद उसके वंशधरों में कई राजाओं के बाद प्रसिद्ध सिंहली राजा वट्ठगामणि अभय हुआ। उसी के समय में पालि तिपिटक को लेखबद्ध किया गया। अतः उसका शासन-काल (प्रथम शताब्दी ईसवी-पूर्व) पालि-साहित्य के इतिहास में बड़ा महत्त्वपूर्ण है। वट्ठगामणि अभय के बाद अनेक राजाओं और उनकी वंशावलियों का वर्णन करता हुआ 'दीपवंस' लंकाधिपति महासेन (३२५-३५२ ई०) के शासन-काल तक आकर समाप्त हो जाता है।

'दीपवंस' के वर्णनों का वास्तविक ऐतिहासिक महत्त्वांकन क्या है, लंका के निश्चित इतिहास के रूप में वह कहाँ तक मान्य है, भारतीय इतिहास की परम्पराओं से उसके वर्णनों का क्या और कहाँ तक सामञ्जस्य या विरोध है, पालि साहित्य और बौद्ध धर्म के विकास के इतिहास में उसके क्या महत्त्वपूर्ण साक्ष्य हैं, इन सब समस्याओं का विवेचन हम यहाँ अलग से न कर 'दीपवंस' पर ही आश्रित और सम्भवतः उसकी व्याख्या या दीपिका स्वरूप लिखित एक अन्य वंश-ग्रन्थ के साथ करेंगे, जिसका नाम 'महावंस' (महावंश) है।

'महावंस-टीका' में 'दीपवंसट्ठकथा' नामक दीपवंस की अट्ठकथा का उल्लेख है। परन्तु यह रचना आज नहीं मिलती। डॉ० मललसेकर का अनुमान है कि 'चूलवंस' ३८।५९ में 'दीपवंस' की जिस 'दीपिका' की ओर संकेत है, वह कदाचित् वही रचना रही होगी जिसका 'महावंस-टीका' में 'दीपवंसट्ठकथा' के नाम से निर्देश है।[1] इस सम्बन्ध में हम अभी आगे भी कुछ कहेंगे।

महावंस[2]

'महावंस' भी 'दीपवंस' के समान ही लंका का एक सुव्यवस्थित इतिहास-ग्रन्थ है। उसकी न केवल विषयवस्तु, किन्तु क्रम भी विलकुल 'दीपवंस' के समान

---

१. दि पालि लिटरेचर ऑफ सिलोन, पृष्ठ १३५।

२. डॉ० गायगर द्वारा रोमन लिपि में सम्पादित, पालि टैक्स्ट सोसायटी द्वारा प्रकाशित, लन्दन, १९०८। उन्हीं के द्वारा, जर्मन भाषा में अनुवादित तथा श्रीमती मेबिल बोड की सहायता से अंग्रेजी में भी अनुवादित, पालि टैक्स्ट

है। सम्भवतः 'दीपवंस' के आधार पर ही वह लिखा गया है। उसके स्रोत बिलकुल 'दीपवंस' के समान ही हैं। 'दीपवंस' और अन्य प्राचीन सिंहली अट्ठकथाओं के अलावा 'सीहलट्ठकथा-महावंस' नामक अट्ठकथा का भी उसने अधिक आश्रय लिया है, यह हमें 'महावंस' टीका से, जिसका नाम 'वंसत्थप्पकासिनी' या 'महावंस-टीका' (बारहवीं शताब्दी) है, विदित होता है। 'सीहलट्ठकथामहावंस' के बारे में 'महावंस-टीका' में कहा गया है कि यह पुराने आचार्यों के द्वारा सिंहली भाषा में लिखा गया था। "एसो सीहलट्ठकथा महावंसो पोराणेहि सीहलाय निरुत्तिया कतो।" इसका आधार काफी हद तक 'दीपवंस' और 'महावंस' दोनों में ही लिखा गया है। परन्तु 'महावंस' की विषयवस्तु 'दीपवंस' के समान होते हुए भी उससे अधिक विस्तृत है। एक बड़ी भारी विशेषता यह है कि 'दीपवंस' की-सी अव्यवस्थित भाषा या नीरस शैली यहाँ बिलकुल नहीं मिलती। 'महावंस' सच्चे अर्थों में एक ऐतिहासिक काव्य है। उसे 'ऐतिहासिक महाकाव्य' भी कहा जा सकता है। उसकी भाषा और शैली में वही उदात्तता है, जिसे हम महाकाव्यों की शैली से सम्बन्धित करते हैं। देवानंपिय तिस्स (२४७ ई० पू० से २०७ ई० पू० तक) और दुट्ठगामणि (१०१ ई० पू० से ७७ ई० पू० तक) के विस्तृत, उदात्त वर्णन निश्चय ही महाकाव्योचित प्रभावशीलता से ओतप्रोत हैं। 'महावंस' अपने मौलिक रूप में ३७वें परिच्छेद की ५०वीं गाथा पर समाप्त हो जाता है। उसके बाद ही 'महावंसो निट्ठितो' ('महावंश समाप्त'), इस प्रकार के शब्द लिखित थे। किन्तु बाद में इस ग्रन्थ का कई शताब्दियों तक परिवर्द्धन किया गया। ३७वें परिच्छेद की ५०वीं गाथा से आगे के परिवर्द्धित स्वरूप का नाम 'चूलवंस' है। इस परिवर्द्धित संस्करण के ३८वें परिच्छेद की उनसठवीं गाथा में यह प्रसिद्ध पाठ आता है 'दत्वा सहस्सं दीपेतुं दीपवंस समादिसि'। इसका अर्थ यह है, 'उसने सोने की एक सहस्र मुद्राएँ देकर 'दीपवंस' पर एक दीपिका लिखवाने की आज्ञा दी।" जिस राजा के विषय में यह कहा गया है, वह धातुसेन है। इस धातुसेन का काल ईसा की पाँचवीं शताब्दी का अन्तिम या छठीं शताब्दी का आदि भाग है।

सोसायटी, लन्दन १९१२। इस ग्रन्थ के अनेक सिंहली संस्करण हो चुके हैं, जिनमें हिक्कडुवे सिरि सुमंगल थेर का संस्करण लक्षणीय और पूर्वकालीन है, कोलम्बो १९०८ ई०। बम्बई विश्वविद्यालय ने इस ग्रन्थ का देवनागरी संस्करण भी प्रकाशित किया है, प्रो० एन० के० भागवत द्वारा सम्पादित, द्वितीय संस्करण, १९५९ ई०। हिन्दी में भदन्त आनन्द कौसल्यायन ने इस ग्रन्थ का अनुवाद किया है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, द्वारा १९४२ में प्रकाशित।

जिस 'दीपिका' की ओर उपर्युक्त पाठ में संकेत किया गया है, उसे यहाँ 'महावंस' ही मान लिया गया है। यह मान्यता पहले फ्लीट नामक विद्वान् ने प्रचारित की।[1] गायगर[2] और उनके बाद विमलाचरण लाहा[3] महाशय ने भी इसे स्वीकार कर लिया है। विंटरनित्ज़ अवश्य इसे मानने को प्रस्तुत नहीं।[4] यदि वास्तव में 'दीपवंस' पर लिखित उपर्युक्त 'दीपिका' से तात्पर्य 'महावंस' से ही हो, तो इससे यह प्रमाणित हो जाता है कि 'महावंस' की रचना का काल पाँचवीं शताब्दी का अन्तिम या छठीं शताब्दी का प्रारम्भिक भाग ही है। विंटरनित्ज ने उपर्युक्त 'दीपिका' को 'महावंस' न मान कर भी 'महावंस' का रचना-काल पाँचवीं शताब्दी का अन्तिम भाग ही माना है। कुछ भी हो, 'महावंस' का 'दीपवंस' पर आश्रित होना एक निश्चित तथ्य है। अनेक पद्य दोनों में समान हैं। समान उपादानों का अवलम्बन करके भी 'महावंस'-कार ने अपनी रचना को अपनी उच्चतर भाषा और शैली से एक विशेष गौरव दे दिया है, इसमें सन्देह नहीं। 'महावंस' के रचयिता का नाम 'महावंस-टीका' के अनुसार महानाम था। स्थविर महानाम दीघसन्द (दीघसन्दक या दीघसन्दन भी) सेनापति द्वारा निर्मित विहार में रहते थे, यह भी वहाँ कहा गया है। दीघसन्द या दीघसन्दन देवानंपिय तिस्स के प्रधान सेनापति थे और इन्होंने 'चूल पासाद' नामक विहार स्थविर महेन्द्र के लिए बनवाया था। यही विहार बाद में 'दीघसन्द-सेनापति-परिवेण' या 'दीघसन्द-विहार' के नाम से प्रसिद्ध हुआ, जहाँ महानाम ने निवास किया। 'चूलवंस' (३८।१६) के अनुसार महानाम लंकानरेश धातुसेन (४६०-४७८) के मामा ('मातु सोदरियो') थे। इससे अधिक 'महावंस' के रचयिता और उनके जीवन-वृत्त के विषय में हमें कुछ ज्ञात नहीं है।

दीपवंस और महावंस की तुलना

'दीपवंस' और 'महावंस' का विषय एक समान है, यह पहले दिखाया जा चुका है। पाँचवीं शताब्दी ईसवी-पूर्व से लेकर चौथी शताब्दी ईसवी तक के लंका के इतिहास का वर्णन दोनों का विषय है। दोनों ही प्राचीन अट्ठकथा (पोराणट्ठकथा), सिंहली अट्ठकथाओं (सोहलट्ठकथा) या 'सोहलट्ठकथा महावंस' नाम से विदित

---

१. जर्नल ऑफ रॉयल एशियाटिक सोसायटी, १९०९, पृष्ठ ५, पद-संकेत १।
२. पालि लिटरेचर ऐण्ड लैंग्वेज, पृष्ठ ३६।
३. हिस्ट्री ऑफ लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ५२२ एवं ५३६।
४. हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ २१२, पद-संकेत ४।

उनके ऐतिहासिक अंशों पर आधारित हैं। किन्तु 'दीपवंस' की अपेक्षा 'महावंस' की विषय-वस्तु अधिक विस्तृत, अधिक व्यवस्थित और अधिक काव्यमय है। 'महावंस' के आदि में ही इस कवि-इतिहास लेखक ने कहा है "पुराने लोगों ने भी इस (महावंस) का वर्णन किया है। उसमें कहीं अति विस्तार, कहीं अति संक्षेप और पुनरुक्ति की अधिकता है। उन सम्पूर्ण दोषों से मुक्त, समझने और स्मरण रखने में सरल, सुनने पर प्रसन्नता और वैराग्य को देने वाले, परम्परागत, प्रसादजनक स्थलों पर प्रसाद और वैराग्यजनक स्थलों पर वैराग्य उत्पन्न करने वाले इस महावंस को सुनो।"[1] 'महावंस-टीका' ने भी इसी बात का अनुमोदन करते हुए स्वीकार किया है "इन आचार्य (महानाम) ने पुरानी सिंहल अट्ठकथा में से अति विस्तार तथा पुनरुक्ति दोषों को छोड़ सरलता से समझ में आने योग्य 'महावंस' को लिखा।"[2] वस्तुतः यह वर्णन प्राचीन 'सीहलट्ठकथा-महावंस' के समान 'दीपवंस' पर भी घटित होता है, जिसके भी इन सब दोषों का परिहार 'महावंस' में किया गया है। 'महावंस' का लेखक निश्चय ही एक कवि-हृदय का व्यक्ति था। उसने जिस स्थल को स्पर्श किया है, प्रत्येक को रसात्मकता प्रदान की है। इस 'महावंस' या महान् पुरुषों (राजाओं और आचार्यों) के वंश-इतिहास[3] को लिखने में उसका मन्तव्य उसके उदय-व्यय को दिखाकर पाठकों के हृदय में निर्वेद प्राप्त करना ही था, यह उसने प्रत्येक परिच्छेद के अन्त में स्पष्ट कर दिया है। 'महावंस' का प्रत्येक परिच्छेद इन शब्दों के साथ समाप्त होता है, "सुजानों के प्रसाद और वैराग्य के लिए रचित 'महावंस' का . . परिच्छेद समाप्त।" 'दीपवंस' के साथ 'महावंस' के वर्णित विषयों की तुलना करने के लिए यहाँ 'महावंस'

---

१. महावंस १।२-४ (भदन्त आनन्द कौसल्यायन का अनुवाद)। मूल पालि इस प्रकार है—"पोराणेहि कतो पेसो अतिवित्थारितो क्वचि। अतीव क्वचि संखित्तो अनेकपुनरुत्तको। वज्जितं तेहि दोसेहि सुखग्गहणधारणं। प्रसाद संवेगकरं सुतितो च उपागतं। पसादजनके ठाने तथा संवेगकारके। जनयन्ता पसादं च संवेगं च सुणाथ तं।"

२. "अयं हि आचरियो पोराणम्हि सीहलट्ठकथामहावंसे अतिवित्थार-पुनरुत्तदोसभावं पहाय तं सुखग्गहणादिपयोजनसहितं कत्वा कथेसि।" महावंस, पृष्ठ १ (परिचय) में उद्धृत। मिलाइये 'दीपवंस', भूमिका, पृष्ठ ३, (ओल्डनवर्ग का संस्करण) भी।

३. "महन्तानं वंसो तन्ति पवेणि परम्परा'ति पि· · ·महावंसो।" महावंस-टीका।

की विषय-सूची का दिग्दर्शन मात्र करा देना आवश्यक होगा। ऊपर दीपवंस के विषय का जो संक्षिप्त वर्णन किया गया है, उसकी पृष्ठभूमि में वह स्पष्ट भी हो जायगा। 'महावंस' के प्रथम परिच्छेद में बुद्ध के तीन बार लंका में आगमन का वर्णन है। विशेष विस्तार के अलावा 'दीपवंस' के वर्णन से इसकी कुछ भी भिन्नता नहीं है। दूसरे परिच्छेद में भगवान् बुद्ध के पूर्वतम कुल-पुरुष महासम्मत का वंश-वर्णन है। यह भी 'दीपवंस' के आधार पर और उसके समान ही है। तीसरे, चौथे और पाँचवें परिच्छेदों में, क्रमशः प्रथम, द्वितीय और तृतीय धर्म संगीतियों का वर्णन है। इन वर्णनों में कोई उल्लेखनीय विभिन्नता नहीं है। चूँकि इनका विस्तृत विवरण हम दूसरे अध्याय में दे चुके हैं, अतः फिर 'महावंस' के आधार पर उसी वर्णन को दुहराना उपयुक्त न होगा। अन्य स्रोतों से जो कुछ भी अन्य विभिन्नताएँ यहाँ हैं, वे वहीं (द्वितीय अध्याय में) निर्दिष्ट कर दी गयी हैं। 'महावंस' के छठे परिच्छेद में विजय के लंका-आगमन का तथा सातवें में उसके राज्याभिषेक का वर्णन है, जो भी 'दीपवंस' के इस सम्बन्धी वर्णन का विस्तृत और क्रमबद्ध रूप ही है। आठवें, नवें और दसवें परिच्छेदों में विजय के वंशानुक्रम का वर्णन है। जिसमें अनेक राजाओं के नाम और शासन-काल आते हैं। ग्यारहवें अध्याय में देवानंपिय तिस्स के अभिषेक का वर्णन है। इसी समय बुद्ध-धर्म का प्रवेश लंका में होता है। 'दीपवंस' की अपेक्षा 'महावंस' में विस्तार बहुत अधिक है और उसकी सूचनाएँ भी उसकी अपेक्षा अधिक हैं। 'महावंस' के वर्णनानुसार "देवानंपिय तिस्स और धम्मासोक (धर्माशोक-अशोक राजा) दोनों राजा एक-दूसरे के न देखने पर भी चिरकाल से मित्र चले आ रहे थे।"[१] देवानंपिय तिस्स ने अपने राज्याभिषेक के समय अनेक नीलम, हीरे, लाल, मणि आदि की भेंट अशोक के पास भेजी। 'महावंस' के वर्णनानुसार "राजा (देवानंपिय तिस्स) ने अपने भानजे महारिष्ठ प्रधान मंत्री, पुरोहित, मन्त्री और गणक, इन चार व्यक्तियों को दूत बना, बहुमूल्य रत्नादि. . . .देकर सेना सहित वहाँ (पाटलिपुत्र) भेजा।"[२] इन दूतों के मार्ग का वर्णन भी महावंस में किया गया है "जम्बुकोल (लंका के उत्तर में सम्बलहुरि नामक स्थान) से नाव पर चढ़कर सात दिन में वे बन्दरगाह पहुँचे। वहाँ से फिर एक सप्ताह में पाटलिपुत्र पहुँचे। वहाँ जाकर राजा को भेंट समर्पित की, जिसे देख कर वह प्रसन्न हुआ।"[३]

---

१. महावंस ११।१९ (भदन्त आनन्द कौसल्यायन का अनुवाद)।
२. महावंस ११।२०-२२ (भदन्त आनन्द कौसल्यायन का अनुवाद।
३. महावंस ११।२३-२४ (भदन्त आनन्द कौसल्यायन का अनुवाद)।

अशोक राजा ने अन्य प्रभूत भेंट-सामग्री के साथ सद्धर्म की यह भेंट भी भेजी, "मैंने बुद्ध, धर्म और संघ की शरण ग्रहण की है और शाक्य-पुत्र के शासन में उपासक हुआ हूँ। हे नरोत्तम! आप भी आनन्दपूर्वक श्रद्धा के साथ इन उत्तम रत्नों की शरण ग्रहण करें।"[1] तृतीय धर्म-संगीति के बाद देश-विदेश में बुद्ध धर्म के प्रचार के लिए अशोक ने जो कार्य किया, उसका वर्णन 'महावंस' के एक अलग परिच्छेद में ही किया गया है। बारहवें परिच्छेद का शीर्षक है "नाना-देश-प्रचार"। इस नाना-देश-प्रचार की योजना के अन्तर्गत ही आगे चलकर तेरहवें परिच्छेद में महेन्द्र के लंका-गमन का वर्णन है। 'नाना-देश-प्रचार' के वर्णन में हम पढ़ते हैं, संगीति समाप्त करके बुद्ध धर्म के प्रकाशक स्थविर मौद्गलिपुत्र तिष्य (मोग्गलिपुत्त तिस्स) ने भविष्य को देखते हुए, प्रत्यन्त-देशों (पड़ोसी देशों) में (धर्म-) शासन की स्थापना का विचार कर, कार्तिक मास में स्थविर मज्झन्तिक को कश्मीर और गन्धार को भेजा और महादेव स्थविर को महिष-मण्डल भेजा। रक्षित नामक स्थविर को वनवास (मैसूर का उत्तरी भाग) की ओर भेजा और यवन (ग्रीक) धर्मरक्षित को अपरान्त (बम्बई से सूरत तक का प्रदेश) देश में भेजा। महाधर्मरक्षित स्थविर को महाराष्ट्र में तथा महारक्षित स्थविर को यवन देशों में भेजा। हिमालय-प्रदेश में मज्झिम स्थविर को भेजा और सुवर्णभूमि (बरमा) में सोण और उत्तर नामक दो स्थविरों को भेजा। अपने शिष्य महामहेन्द्र स्थविर तथा वट्ठिय, उत्तिय, सम्बल और भद्दसाल— इन पाँच स्थविरों को कहकर लंका भेजा— "तुम मनोज्ञ लंका-द्वीप में, मनोज्ञ बुद्ध धर्म की स्थापना करो।"[2] इन सब भिक्षुओं के अलग-अलग कार्य का वर्णन करने के बाद महेन्द्र के लंका-गमन का वर्णन बड़े उदात्त और काव्यमय ढंग से 'महावंस'-कार ने किया है। "अन्तिम शय्या पर सोये हुए लोक-हितैषी मुनि (बुद्ध) ने लंका के हित के लिए, जिनके बारे में भविष्यवाणी की थी, वही लंका के लिए दूसरे बुद्ध, लंकावासी, देवताओं द्वारा पूजित, महेन्द्र लंका के हितार्थ वहाँ पधारे।"[3] चौदहवें अध्याय में उनके नगर-प्रवेश

---

१. महावंस ११।३४-३५; मूल इस प्रकार है—
"अहं बुद्धं च धम्मं च संघं च सरणं गतो।
उपासकत्तं वेदेसिं सक्यपुत्तस्स सासने॥
त्वंपि मानि रतनानि उत्तमानि नरुत्तम।
चित्तं पसादयित्वान सद्धाय सरणं भज॥"

२. महावंस १२।१-८।

३. महावंस १३।२१।

का वर्णन है। राजा देवानंपिय तिस्स को अपना परिचय देते हुए स्थविर महेन्द्र उन्हें कहते हैं, "महाराज! हम धर्मराज (वुद्ध) के अनुयायी भिक्षु हैं। आप पर ही अनुग्रह करने के लिए हम भारत (जम्बुद्वीप) से यहाँ (लंका में) आये हैं।"[१] पन्द्रहवें अध्याय से लेकर वीसवें अध्याय तक क्रमशः महाविहार-निर्माण, चैत्यपर्वत, विहार-प्रतिग्रहण, महाबोधि-ग्रहण, वोधि-आगमन, एवं स्थविर-परिनिर्वाण आदि के वर्णन हैं, जो उस काल तक लंका में वौद्ध धर्म की प्रगति के चरण-चिह्न हैं। इक्कीसवें अध्याय में देवानंपिय तिस्स के वाद और दुट्ठगामणि से पहले आनेवाले पाँच राजाओं के वर्णन हैं। वाईसवें परिच्छेद से लेकर वत्तीसवें परिच्छेद तक, अर्थात् पूरे ग्यारह परिच्छेदों में दुट्ठगामणि का इतिहास वर्णित है, जव कि 'दीप-वंस' में इस वर्णन की केवल १३ गाथाएँ दी गयी हैं। दुट्ठगामणि ने किस प्रकार सैनिक वल का संग्रह कर तमिलों का निष्कासन किया, यह हम पहले देख चुके हैं। युद्ध में विजय प्राप्त करने के वाद उसने वौद्ध धर्म की सेवा भी की और 'लोह-प्रासाद' और 'महसतूप' नामक अनेक विहार और स्तूप भी वनवाये। इस विजेता राजा के इस प्रकार वुद्ध धर्म के उपासक रूप का वर्णन कर उसे एक राष्ट्रीय नेता और महापुरुष के रूप में 'महावंस' में चित्रित किया गया है और उसके आधार पर ग्यारह परिच्छेदों में एक महाकाव्य की ही सृष्टि कर दी गयी है। वाईसवें अध्याय से ३२ वें अध्याय तक की विषय-सूची उसके इन विभिन्न क्रिया-कलापों को अच्छी प्रकार दिखा सकती है। वह इस प्रकार है (२२) ग्रामणी कुमार का जन्म, (२३) योद्धाओं की प्राप्ति, (२४) दो भाइयों का युद्ध, (२३) दुष्टग्रामणी की विजय, (२६) मारिचवट्टि-विहार-पूजा, (२७) लोह-प्रासाद-पूजा, (२८) महास्तूप की साधन-प्राप्ति, (२९) महास्तूप का आरम्भ, (३०) धातुगर्भ की रचना, (३१) धातु-निधान और (३२) तुषितपुर-गमन। दुट्ठगामणि के जीवन का सबसे बड़ा काम उसकी विजयों के अलावा उसके द्वारा ९ मंजिलों वाले लोह-प्रासाद तथा मरिचवट्टि और महास्तूप आदि विहारों और स्तूपों का वनवाना था। लोह-प्रासाद के पूर्ण होने से पहले ही उसे मरणान्तक रोग उत्पन्न हुआ और उसे निश्चय हो गया कि उसका अन्तकाल समीप है। अपने छोटे भाई तिस्स को बुलवा कर स्तूप के वचे हुए काम को समाप्त करवाने का आदेश दिया, जिसे उसने पूरा किया। मृत्यु से पूर्व अशक्य होने पर भी इस श्रद्धालु राजा ने पालकी में बैठकर इस चैत्य की प्रद-क्षिणा की और दक्षिण-द्वार पर आकर वुद्ध-वन्दना की। "फिर भिक्षु-संघ से घिरे

---

१. महावंस १४।८; मूल पालि-पाठ इस प्रकार है—"समणा मयं महाराज धम्मराजस्स सावका। तवेव अनुकम्पाय जम्बुदीपा इधागता।"

हुए राजा ने दायीं करवट लेते हुए उत्तम महास्तूप की ओर, वायीं करवट लेटे हुए उत्तम लोह-प्रासाद को देखकर चित्त प्रसन्न किया।"[१] मरण-शय्या पर पड़ा हुआ राजा अपने पूर्व युद्ध के साथियों को सम्बोधित कर कहने लगा "पहले मैंने तुम दस योद्धाओं को साथ लेकर युद्ध किया था अब मृत्यु के समय अकेले ही युद्ध आरम्भ कर दिया। इस मृत्यु रूपी शत्रु को मैं पराजित नहीं कर सका।"[२] शरीर छोड़ने से पहले दुट्ठगामणि ने अपने छोटे भाई तिस्स को आदेश दिया "हे तिस्स! असमाप्त महास्तूप का शेष सब कृत्य आदरपूर्वक समाप्त करवाना। स्वयं प्रातःकाल उस पर पुष्प चढ़ाना। प्रतिदिन तीन बार उसकी पूजा करना। बुद्ध-शासन के सत्कार-सम्बन्धी जो कृत्य मैंने निश्चित किये हैं, उन सभी कृत्यों को हे तात! तुम अविच्छिन्न रूप से चलाते रहना। संघ-सम्बन्धी कार्य में हे तात! कभी प्रमाद न करना।"[३] धर्म-श्रवण करने के बाद रथ पर खड़े होकर तीन बार महास्तूप की प्रदक्षिणा कर, स्तूप और संघ को प्रणाम कर दुट्ठगामणि तुषित-लोक को गया। इस प्रकार दुट्ठगामणि की जीवन-गाथा को यहाँ एक राष्ट्र के आदर्शों से व्याप्त महाकाव्यगत महत्ता और प्रभावशीलता दी गयी है; यह उसकी उपर्युक्त शैली से ही स्पष्ट हो जाता है। दुट्ठगामणि के बाद उसके उत्तराधिकारी राजाओं की एक क्रमबद्ध लम्बी सूची क्रमशः 'दश राजा', 'एकादश राजा', 'द्वादश राजा', 'त्रयोदश राजा' इस प्रकार क्रमशः तैंतीसवें, चौंतीसवें, पैंतीसवें और छत्तीसवें परिच्छेदों में दी गयी है, जब कि 'दीपवंस' में इस सम्बन्धी संक्षिप्त वर्णन ही उपलब्ध है। सैंतीसवें परिच्छेद की पचासवीं गाथा तक (जहाँ तक ही मौलिक 'महावंस' की विषय-सीमा है) राजा महासेन के शासन-काल का वर्णन है। इस प्रकार 'दीपवंस' और 'महावंस' दोनों एक ही जगह से प्रारम्भ कर महासेन के शासन-काल (३२५-३५२ ई०) तक आकर लंका के इतिहास को समाप्त कर देते हैं। 'महावंस' से कम-से-कम डेढ़ सौ वर्ष पूर्व की रचना होने के कारण 'दीपवंस' जब कि अपने स्रोतों, अर्थात् सिंहली अट्ठकथाओं के अधिक समीप है, 'महावंस' ने उसे विस्तृत और व्यवस्थापन कर दिया है। दोनों के द्वारा वर्णित विषयों के विवरणों में अद्भुत समानता होते हुए भी कहीं कुछ वंशावलियों के कालानुक्रमों में अन्तर भी है, जिस पर हम अभी आयेंगे। 'महावंस' को चाहे 'दीपवंस' की अर्थकथा या

---

१. महावंस ३२।२-३।
२. महावंस ३२।१६-१७।
३. महावंस ३२।५९-६२।

टीका स्वीकार किया जाय या नहीं, उसकी शैली अपनी एक मौलिक विशेषता रखती है, यद्यपि उसकी विषय-वस्तु अन्ततोगत्वा 'दीपवंस' पर ही आधारित है।

क्या 'दीपवंस' और 'महावंस इतिहास हैं ?

'दीपवंस' और 'महावंस' दोनों ही इतने अतिरंजनामय और अलौकिक वर्णनों से भरे हुए ग्रन्थ हैं कि उन्हें शब्दशः तो इतिहास नहीं माना जा सकता। पालि तिपिटक से हम जानते हैं कि शास्ता मध्य-मण्डल के बाहर शायद ही कहीं गये। हाँ, एक-दो अवसरों पर उत्तरकुरु द्वीप, कैलास, मानसरोवर, चन्द्रभागा (चिनाव) नदी के तट और नर्मदा नदी को पार कर सूनापरान्त (सुनापरन्त) जनपद और उसके मंकुलकाराम तक जाने की बात तो अवश्य आती है, परन्तु लंका-गमन का वर्णन नहीं है। किन्तु 'महावंस' में तथा उससे पूर्व 'दीपवंस' में भी उनका तीन बार लंका-गमन दिखाया गया है, जो सुखकर होते हुए भी तिपिटक के प्रमाण पर आधारित नहीं है। विजय का उसी दिन लंका में पहुँचना जिस दिन भगवान् का परिनिर्वाण हुआ, यह भी वास्तविक घटनाश्रित नहीं दीखता। नाना चमत्कारमय वर्णन जो 'दीपवंस' और 'महावंस' में भरे पड़े हैं, उनकी तो कोई इयत्ता ही नहीं। महेन्द्र और उनके साथी भिक्षुओं का आकाश से उड़कर लंका में पहुँचना, लोह-प्रासाद और महास्तूप के निर्माण के समय अनेक प्रकार के चमत्कारों का होना, आदि बातें निश्चित घटनापरक ऐतिहासिक शैली को व्यक्त नहीं करतीं। यदि इन सब बातों को उचित अवकाश देकर 'दीपवंस' और 'महावंस' की मूल विषय-वस्तु का परीक्षण किया जाय, तो वहाँ से हम निश्चय ही बहुत कुछ निश्चित इतिहास का निर्माण कर सकते हैं। न केवल लंका के धार्मिक और राजनैतिक इतिहास में ही, बल्कि भारतीय इतिहास की अनेक समस्याओं के सुलझाने में भी, विशेषतः उसके काल-क्रम की समस्या के सुलझाने में, इस प्रकार के अध्ययन से काफी सहायता मिल सकती है। चाहे 'दीपवंस' और 'महावंस' के अन्य विवरण कितने ही अधिक अतिरंजनामय क्यों न हों, कालानुक्रम के सम्बन्ध में उनका प्रामाण्य और महत्त्व निर्विवाद है। उनकी इसी विशेषता की ओर लक्ष्य करते हुए प्रो० रॉयस डेविड्स ने कहा है कि सिंहल के इतिहास-ग्रन्थों की कालानुक्रमणिका इंगलैण्ड और फ्रांस के उन सर्वोत्तम ग्रन्थों की कालानुक्रमणिकाओं से भी, जो उन देशों में बहुत शताब्दियों बाद तक लिखे गये, किसी भी प्रकार कम महत्त्व वाली नहीं है।[1] यद्यपि विजय से लेकर देवानंपिय तिस्स तक की कालानुक्रमणिका के विषय में तो उतना निश्चयपूर्वक

---

१. बुद्धिस्ट इण्डिया, पृष्ठ २७४।

नहीं कहा जा सकता, किन्तु देवानंपिय तिस्स और हर हालत में दुट्ठगामणि से लेकर महासेन तक की कालानुक्रमणिका तो प्रामाणिक ही मानी जा सकती है। 'महावंस' में दी हुई इस पूरी कालानुक्रमणिका को हम यहाँ विस्तार-भय से उद्धृत नहीं कर सकते।[१] यहाँ केवल इतना ही कहना अपेक्षित है कि चूंकि बुद्ध-परिनिर्वाण से काल-गणना कर यहाँ विभिन्न राजाओं के शासन-काल की गणना की गयी है, अतः उससे न केवल बुद्ध के परिनिर्वाण, अपितु अन्य अनेक भारतीय ऐतिहासिक घटनाओं के तिथि-विनिश्चय में भी पर्याप्त सहायता मिली है। इस विषय का अधिक विवेचन करना तो यहाँ पूरे प्राचीन भारतीय इतिहास की एक अत्यन्त विवाद-ग्रस्त समस्या में ही प्रवेश करना होगा, जो हमारे प्रस्तुत प्रयोजन को देखते हुए अप्रासंगिक होगा। काल-क्रम के अलावा भारतीय इतिहास के लिए इन लंका के इतिहास-ग्रन्थों का और भी प्रभूत महत्त्व है। भारतीय इतिहास की अनेक घटनाओं का वे अद्भुत रूप से समर्थन करते हैं। उदाहरणतः अशोक के पहले के राजाओं यथा नन्दों, चन्द्रगुप्त (चन्द्रगुप्त) और बिम्बिसार के वर्णन, बिम्बिसार और अजातशत्रु के पारस्परिक सम्बन्ध और बुद्ध के साथ उनका समकालिक होना, भगवान् बुद्ध का बिम्बिसार से आयु में पाँच वर्ष बड़ा होना, चन्द्रगुप्त और उसके ब्राह्मण मन्त्री चाणक्य (चाणक्क) के विवरण, और सब से अधिक अशोक का बुद्ध-परिनिर्वाण के २१८ वर्ष बाद अभिषिक्त होना, आदि तथ्य ऐसे हैं, जो इन सिंहली इतिहास-ग्रन्थों ने भारतीय इतिहास के समर्थनस्वरूप दिये हैं। भारतीय और सिंहली इतिहास की अनेक महत्त्वपूर्ण समकालिक घटनाएँ और विशेषतः बिम्बिसार के समय से लेकर अशोक के समय तक के कालक्रमिक वृत्त 'दीपवंस' में वर्णित हैं। उदाहरण के लिए इस ग्रन्थ (५।७६-७७) में कहा गया है कि जब लोकनाथ (बुद्ध) के परिनिर्वाण को सोलह वर्ष हुए थे, तो उस समय अजातशत्रु के राज्य का बीसवाँ वर्ष था और विजय के राज्य का सोलहवाँ वर्ष; उस समय उपालि पण्डित की उपसम्पदा को पूरे साठ साल हुए थे और इसी समय स्थविर उपालि के समीप दासक की उपसम्पदा हुई थी। इसी प्रकार यहीं ५।८२ में कहा गया है कि जब राजा अशोक को (राज्य करते) छह वर्ष व्यतीत हो चुके थे, तो उस समय मुटसीव को (राज्य करते), अड़तालीस वर्ष हुए थे। इसी प्रकार 'दीपवंस' में ही ६।१ में कहा गया है, "भगवान् सम्यक् सम्बुद्ध

---

१. "महावंस के आधार पर विजय से लेकर महासेन तक के लंका के ६१ राजाओं की तथा बिम्बिसार से लेकर अशोक तक के १३ भारतीय राजाओं की कालानुक्रमणिकाओं के उद्धरण के लिए देखिए महावंस (भदन्त आनन्द कौसल्यायन का हिन्दी-अनुवाद), पृष्ठ ७-९ (भूमिका)।

के परिनिर्वाण के २१८ वर्ष वाद प्रियदर्शन (राजा अशोक) का राज्याभिषेक हुआ। इसी प्रकार के अन्य अनेक तुलनात्मक कालक्रमिक वर्णन भारतीय और सिंहली इतिहास की घटनाओं से सम्वद्ध 'दीपवंस' में हैं, जिनमें से वहुतों का और भी अधिकतर विशदतर वर्णन 'महावंस' में किया गया है। 'महावंस' में वर्णित तृतीय बौद्ध संगीति के सभापति मोग्गलिपुत्त तिस्स और उनके द्वारा देश-विदेश को भेजे हुए मज्झिम (हिमवन्त-प्रदेश के धर्मोपदेशक) आदि धर्मोपदेशकों की वात सही है, इसे साँची-स्तूप में प्राप्त धातु-डिब्बियों के ऊपर उत्कीर्ण लेखों से समर्थन प्राप्त होता है। यहाँ प्राप्त एक डिबिया पर लिखा हुआ है "सपुरिसस मज्झिमस" (सत्पुरुष मज्झिम का) और एक-दूसरी पर लिखा है 'सपुरिसस मोगलिपतस' (सत्पुरुष मोग्गलिपुत्त का)। साँची-स्तूप की एक पाषाणवेष्टनी पर उरुवेला से लंका को वोधि-वृक्ष की टहनी ले जाये जाने का चित्र अंकित है। उससे भी 'महा-वंस' में वर्णित महेन्द्र द्वारा धर्म-प्रचार के कार्य को ऐतिहासिक समर्थन प्राप्त होता है। इसी प्रकार पुरातत्त्व-सम्वन्धी खोजों तथा चीनी-यात्रियों के वर्णनों से अशोक तथा देवानंपिय तिस्स का समकालिक होना भी प्रमाणित होता है। तीन बौद्ध संगीतियों का विवरण भी, जो 'महावंस' और 'दीपवंस' में दिया हुआ है, तत्त्वतः ऐतिहासिक आधार पर ही आश्रित है। अतः इन इतिहास-ग्रन्थों के वर्णन ऐति-हासिक दृष्टि से भी समाश्रयणीय हैं। विशेषतः उत्तरकालीन इतिहास के सम्बन्ध में तो इनका साक्ष्य अधिक स्पष्ट और प्रामाणिक है ही। 'महावंस' का विशेष महत्त्व तो लंका के धार्मिक इतिहास के रूप में ही है। सर्वप्रथम तो उपालि से लेकर महेन्द्र तक के विनय-धरों की जो कालानुक्रम-पूर्वक परम्परा यहाँ दी हुई है, वह लंका और भारत दोनों देशों में बुद्ध धर्म के विकास की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह परम्परा इस प्रकार है, (१) उपालि, (२) दासक, (३) सोणक, (४) सिग्गव, (५) मोग्गलिपुत्त तिस्स तथा (६) महिन्द। सर्वास्तिवादियों के मता-नुसार एक दूसरी परम्परा है;[१] जो उनके सम्प्रदाय के अनुसार प्रामाणिक मानी जाती है। चूँकि भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों ने अपने-अपने सम्प्रदायों के अनुसार इन परम्पराओं का उल्लेख किया है; अतः उनमें कम या अधिक प्रामाणिक होने का सवाल ही नहीं उठता। वे सब अपनी-अपनी दृष्टि से प्रामाणिक हैं और आदिम स्रोत तो हर हालत में बुद्ध और उनके प्राथमिक शिष्य ही हैं। सिंहल के स्तूप, विहार और चैत्यों के तो बड़े ही विस्तृत विवरण 'महावंस' में उपलब्ध हैं। महा-

---

१. जिसके उद्धरण के लिए देखिए राहुल सांकृत्यायन : अभिधर्मकोश, पृष्ठ ८ (भूमिका)।

विहार, अभयगिरि विहार, (उत्तर विहार भी नाम) थूपाराम, महामेघ-वण्णाराम, लोहपासाद आदि विहारों के वर्णन लंका में बौद्ध धर्म के विकास पर बड़ा अच्छा प्रकाश डालते हैं और पुरातत्त्व के विद्यार्थी के लिए अध्ययन के अच्छे विषय हैं। इसी प्रकार धार्मिक उत्सवों के भी बड़े चित्रमय वर्णन उपलब्ध हैं। सबसे बड़ी बात तो भारत और सिंहल के शताब्दियों तक के पारस्परिक आदान-प्रदान का इन ग्रन्थों में बड़ा सुन्दर चित्रण है। तत्कालीन भारतीय इतिहास और भूगोल तो मानो इन ग्रन्थों में पुनरुज्जीवित हो उठते हैं। राजगृह, कौशाम्बी, वैशाली, उज्ज-यिनी, पुष्पपुर, नालन्दा आदि भारतीय सांस्कृतिक केन्द्रों की स्मृति 'दीपवंस' और 'महावंस' में कितनी हरी-भरी है, यह उन्हें पढ़ते ही देखते बनता है। कपिल-वस्तु, कुशीनारा, गिरिब्बज, जेतवन, माधुरा (मथुरा), उरुवेला, काशी, ऋषिपतन (इसिपतन), पाटलिपुत्र, वाराणसी आदि बुद्ध-स्मृति से अंकित भारतीय नगरों तथा इसी प्रकार अंग, मगध, चम्पा, मल्ल, वेणुवन, इन्द्रप्रस्थ, भरुकच्छ, सुप्पारक, तक्षशिला, सागल (स्यालकोट), अवन्ती, मद्र, प्रयाग (पयाग) आदि स्थानों तथा उतने ही अधिक लंका-द्वीप के सांस्कृतिक केन्द्रों और स्थानों से, जो इन ग्रन्थों में वर्णित हैं, तत्कालीन ऐतिहासिक भूगोल का भी निर्माण किया जा सकता है। पालि साहित्य के इतिहास में भी इन ग्रन्थों का साक्ष्य तिपिटक की प्राचीनता सम्बन्धी उस परम्परा का समर्थन करता है, जिसके दर्शन हम पहले अशोक के अभिलेखों और 'मिलिन्द-पञ्ह' में करते हैं। इन दोनों ग्रन्थों में ही तीनों पिटकों, पाँचों निकायों और उनके विभिन्न ग्रन्थों के नाम ले-लेकर उनके वर्गों, पण्णासकों, संयुत्तों और वर्गों के पूरे ब्योरे दे-देकर उद्धृत किया गया है। इससे यह स्पष्ट रूप से प्रमाणित होता है कि पालि तिपिटक इनके प्रणयन-काल में उसी नाम और वर्गीकरण में विद्यमान था, जिसमें वह आज है। ऊपर हमने कई जगह 'महावंस' की टीका 'महावंस-टीका' का उल्लेख किया है। इसे ही 'वंसत्थप्पकासिनी' भी कहा जाता है। इसके लेखक का नाम 'महावंस' के लेखक के समान 'महानाम' ही दिया जाता है। इसके सम्भावित रचना-काल के सम्बन्ध में हम पहले आठवें अध्याय में पर्याप्त रूप से कह ही चुके हैं। प्राचीन ऐतिहासिक परम्पराओं का प्राधान्य होने के कारण 'महावंस-टीका' बुद्ध-शासन की इतिहास-परम्परा में बहुत महत्त्वपूर्ण मानी जाती है।

चूलवंस

जैसा पहले कहा जा चुका है, 'महावंस' ३७वें परिच्छेद की ५०वीं गाथा पर

---

१. रोमन लिपि में डॉ० गायगर द्वारा दो जिल्दों में सम्पादित एवं उन्हीं के

समाप्त हो जाता है और वह लंका के इतिहास का महासेन के शासन-काल (३२५-३५२ ई०) तक वर्णन करता है। उसके बाद का लंका का क्रमवद्ध इतिहास भी इसी ग्रन्थ के परिवर्द्धित अंश के रूप में बाद में उसके साथ ही जोड़ दिया गया। यह जुड़ा हुआ अंश अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक अथवा यदि उसके आधुनिकतम रूप को भी उसके साथ संयुक्त मानें तो ठीक १९३५ ई० तक लंका के इतिहास का क्रमवद्ध निरूपण करता है। 'महावंस' के ३७वें परिच्छेद की ५०वीं गाथा के वाद का यह परिवर्द्धित अंश 'चूलवंस' के नाम से प्रसिद्ध है। सिंहली भाषा में यही 'सेलुवंसथ' कहलाता है। 'चूलवंस' सन् ३५२ ई० (महासेन के शासनकाल का अन्तिम साल) से लेकर ठीक आधुनिक काल तक (उसके आधुनिकतम विकसित रूप को सम्मिलित कर) लंका के इतिहास का वर्णन करता है। यह रचना पाँच भिन्न-भिन्न कालों में हुई है, जिसका क्रमानुसार विवरण इस प्रकार है—

(१) सिंहल-प्रवासी स्थविर धम्मकित्ति (धर्मकीर्ति) नामक भिक्षु ने, जिन्हें तम्बरट्ठ का निवासी वतलाया गया है और जो प्रसिद्ध सिंहली राजा पराक्रमवाहु द्वितीय (१२३६-१२६८ ई०) के समकालिक थे, तेरहवीं शताब्दी के मध्य भाग में सर्वप्रथम महानाम द्वारा ३७वें परिच्छेद की ५०वीं गाथा पर छोड़े हुए 'महावंस' का परिवर्द्धन किया। सैंतीसवें अध्याय में १९८ गाथाएँ जोड़कर उसे 'सात राजा' शीर्षक दिया और फिर ७९ परिच्छेदों तक ग्रन्थ-रचना की। राजा महासेन और उसके पुत्र सिरिमेघवण्ण (श्री मेघवर्ण) से इन्होंने अपने विषय का आरम्भ किया और उसे पराक्रमबाहु द्वतीय के शासन-काल तक छोड़ा। इस वीच में उन्होंने ७८ राजाओं का कालानुक्रमपूर्वक वर्णन किया, जो निश्चिततम इतिहास ही है। अकेले पराक्रमबाहु प्रथम (११५३-११८६ ई०) का ही वर्णन इस भाग में १८ अध्यायों में किया गया है। पराक्रमबाहु ने दमिळों (तमिलों) को हराया था और बौद्ध धर्म की स्तूपों, विहारों आदि के निर्माण के द्वारा वड़ी सेवा की थी। महानाम ने जिस प्रकार दुट्ठगामणि के वर्णन से एक ऐतिहासिक महाकाव्य की रचना की है; उसी प्रकार यहाँ पराक्रमबाहु प्रथम को एक महाकाव्योचित प्रभावशाली वर्णन का विषय बनाया गया है।

द्वारा दो जिल्दों में अनुवादित, पालि टैक्स्ट सोसायटी द्वारा प्रकाशित, १९३५। इस ग्रन्थ के सिंहली और बरमी संस्करण भी उपलब्ध हैं।

१. गायगर ने इन्हें बरमा का निवासी माना है। देखिये उनकी 'पालि लिटरेचर एण्ड लैंग्वेज', पृष्ठ ४४।

(२) 'चूलवंस' का द्वितीय परिवर्द्धन बुद्धरक्षित नामक भिक्षु ने किया। इन्होंने ८०वें परिच्छेद से लेकर ९०वें परिच्छेद तक रचना की। पराक्रमबाहु द्वितीय से आरम्भ कर इन्होंने अपना विषय पराक्रमबाहु चतुर्थ पर (जो सन् १३२५ में राजगद्दी पर बैठा) छोड़ा। इस भाग में इन्होंने २३ राजाओं का वर्णन किया।

(३) 'चूलवंस' का तृतीय परिवर्द्धन तिब्बोतुवावे सुमंगल स्थविर ने किया। इन्होंने ९१वें परिच्छेद से १००वें परिच्छेद तक रचना की। पराक्रमबाहु चतुर्थ के काल से लेकर इन्होंने अपने विषय को कीर्ति श्री राजसिंह (कित्ति सिरि राजसीह) (१७४७-१७८० ई०) तक छोड़ा। इस बीच में उन्होंने २४ राजाओं का वर्णन किया। इसी अंश में हमें ईसाई धर्म-प्रचारकों के लंका में आने की सूचना भी मिलती है।

(४) 'चूलवंस' का चौथा परिवर्द्धन हिक्कडुवे सिरि सुमंगल तथा देवरक्षित ने किया। यह परिवर्द्धन केवल १०१वें परिच्छेद के रूप में लिखा गया। लंकाधिराजकित्ति सिरि राजसीह के समय से लेकर १८१५ ई० तक का इतिहास वर्णित है। इस प्रकार लंका के दो अन्तिम राजा सिरि राजाधिराज सीह (श्री राजाधिराज सिंह) और सिरिविक्कम राज सीह (श्री विक्रमराज सिंह) का वर्णन है, और लंका के अंग्रेजों के हाथ में चले जाने की भी सूचना है। यह अंश १७८५ और १८१५ ई० के बीच के लंका के इतिहास का वर्णन करता है। यह सन् १८७७ ई० में प्रकाशित हुआ।

(५) सन् १८१५ से १९३५ ई० तक का लंका का इतिहास सिंहली स्थविर युगिरल पञ्ञानन्द नायक थेर द्वारा लिखा गया। यदि चाहें तो इसे भी 'चूलवंस' का ही परिवर्द्धित स्वरूप कह सकते हैं, और चाहें तो अलग स्वतंत्र ग्रन्थ भी मान सकते हैं। प्रकाशित (सन् १९३६ ई०) तो यह स्वतंत्र ग्रन्थ के रूप में ही हुआ है। सिंहल की आधुनिक पालि-रचना की प्रगति पर इस ग्रन्थ से पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

बुद्धघोसुप्पत्ति

बुद्धघोसुप्पत्ति (बुद्धघोषोत्पत्ति) बुद्धघोष की जीवनी के रूप में लिखी गयी रचना है। इसके प्रणेता महामंगल नामक सिंहली भिक्षु थे। महावंस के प्रथम परिवर्द्धित अंश (चूलवंस) में बुद्धघोष का जीवनवृत्त दिया गया है। बुद्धघोसुप्पत्ति के वर्णन के साथ इसे मिलाने से यह स्पष्ट हो जाता है कि बुद्धघोसुप्पत्ति का वर्णन चूलवंस के बाद रचित हुआ है। चूंकि महावंस का प्रथम संवर्द्धन, जिसमें बुद्धघोष

की जीवनी है, तेरहवीं शताब्दी के मध्य भाग में किया गया, अतः बुद्धघोसुप्पत्ति[१] को उसके कुछ बाद, अर्थात् चौदहवीं शताब्दी की रचना मान सकते हैं। इसी शताब्दी में पगान में मंगल नामक भिक्षु हुए, जिन्होंने 'गन्धट्ठि' नामक व्याकरण ग्रन्थ (उपसर्गों पर) लिखा।[२] गायगर ने इन मंगल नामक बरमी भिक्षु के साथ बुद्धघोसुप्पत्ति के लेखक महामंगल को मिलाने का सन्देहपूर्ण सुझाव दिया है।[३] परन्तु यह बिलकुल भी संभव नहीं है। जैसा रोमन लिपि में बुद्धघोसुप्पत्ति के सम्पादक जेम्स ग्रे ने स्वीकार किया है, महामंगल एक सिंहली भिक्षु थे।[४] अतः उन्हें बरमी मंगल से नहीं मिलाया जा सकता। तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी में सिंहल में मंगल नाम के एक अन्य महास्थविर भी हो गये हैं, जो वेदेह थेर के गुरु थे।[५] इनसे अपने महामंगल को मिलाया जाय या नहीं, यह भी एक समस्या ही है। अस्तु, 'बुद्धघोसुप्पत्ति' में अलौकिक विधान इतना अधिक है कि उसका वास्तविक ऐतिहासिक महत्त्वांकन नहीं किया जा सकता। बुद्धघोष की बाल्यावस्था और प्रारम्भिक शिक्षा तथा धर्म-परिवर्तन का वर्णन करते समय ऐसा मालूम पड़ता है मानो 'मिलिन्दपञ्ह' के नागसेन और रोहण तथा 'महावंस' (परिच्छेद ५) के सिग्गव तथा मोग्गलिपुत्त तिस्स सम्बन्धी प्रकरणों के नमूनों को ही रूपान्तर करके रख दिया गया है।[६] यद्यपि लेखक ने बुद्धघोष के जन्म, बाल्यावस्था, प्रारम्भिक शिक्षा, धर्म-परिवर्तन, ग्रन्थ-रचना आदि सभी का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है, किन्तु ऐतिहासिक बुद्धि का उसने अधिक परिचय नहीं दिया है। बुद्धदत्त-कृत 'विनय-विनिच्छय' के अनुसार बुद्धदत्त ने बुद्धघोष-कृत विनय और अभिधम्म पिटक सम्बन्धी अट्ठकथाओं को ही क्रमशः अपने 'विनय-विनिच्छय' और 'अभिधम्मावतार' में संक्षिप्त रूप दिया था। किन्तु 'बुद्धघोसुप्पत्ति'

---

१. जेम्स ग्रे द्वारा रोमन लिपि में सम्पादित, लन्दन, १८९२।

२. देखिये मेबिल बोड : दि पालि लिटरेचर ऑफ बरमा, २६; डे जायसा : केटेलाग, पृष्ठ २३, देखिये आगे दसवें अध्याय में व्याकरण-साहित्य का विवेचन।

३. पालि लिटरेचर ऐण्ड लैंग्वेज, पृष्ठ ४६, ५७।

४. बुद्धघोसुप्पत्ति, पृष्ठ ३३ (रोमन संस्करण)।

५. देखिये मललसेकर : दि पालि लिटरेचर ऑफ सिलोन, पृष्ठ २२३।

६. देखिये विमलाचरण लाहा : दि लाइफ ऐण्ड वर्क ऑफ बुद्धघोष, पृष्ठ ४४-४७; देखिये उन्हीं का हिस्ट्री ऑफ पालि लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ५५९; मिलाइये जेम्स ग्रे द्वारा सम्पादित एवं अनुवादित 'बुद्धघोसुप्पति' की भूमिका भी।

में बुद्धदत्त का प्रथम लंका-गमन दिखा कर बुद्धघोष को अपना अपूर्ण काम पूरा करने का उन्हें आदेश देते दिखाया गया है। निश्चय ही 'विनय-विनिच्छय' का ही प्रमाण यहाँ दृढ़तर माना जा सकता है। इस प्रकार की एक-दो ऐतिहासिक भूलें 'बुद्धघोसुप्पत्ति' के रचयिता ने और भी की हैं।[१] वास्तव में बात यह है कि स्थविर महामंगल ने केवल अनुश्रुति के आधार पर चौदहवीं शताब्दी में इस रचना को ग्रथित किया था, अतः साक्षात् जीवन से प्राप्त मौलिकता या सच्चाई उनकी रचना में नहीं आ सकती थी। 'महावंस' के ३७वें परिच्छेद के परिवर्द्धित संस्करण में सिंहल-प्रवासी बरमी भिक्षु धम्मकित्ति (१३वीं शताब्दी) ने भी यद्यपि बुद्धघोष से शताब्दियों बाद अपने वर्णन को ग्रथित किया था, किन्तु उसकी प्रामाणिकता फिर भी 'बुद्धघोसुप्पत्ति' से अधिक है। 'महावंस' (या ठीक कहें तो 'चूलवंस') के इस प्रकरण की तुलना में बुद्धघोसुप्पत्ति का वर्णन कम ऐतिहासिक मूल्य का ही मानना पड़ेगा। 'महावंस' के उपर्युक्त विवरण का साक्ष्य स्वयं बुद्धघोष और बुद्ध-दत्त आदि की अट्ठकथाओं के कतिपय वर्णनों से मिल जाता है, जब कि बुद्धघोसुप्पत्ति के वर्णनों से उनका कहीं-कहीं विरोध भी है, जैसा एक उदाहरण में हम ऊपर देख चुके हैं। अतः ऐतिहासिक रूप से वह उतना विश्वसनीय नहीं माना जा सकता। जो तथ्य उसके प्रामाणिक भी हैं, वे भी 'महावंस' के वर्णन पर ही आधारित हैं, यह उनकी शैली से ही स्पष्ट हो जाता है। स्वयं लेखक ने भी स्वीकार किया है कि उसका वर्णन 'पूर्वाचार्यों' (पुब्बाचरिया) पर आधारित है। उत्तरकालीन वंश-ग्रन्थों यथा गंधवंस,[२] सासनवंस,[३] तथा सद्धम्मसंगह[४] में भी बुद्धघोष की जीवनी के साथ-साथ इस ग्रन्थ (महावंस) का भी उल्लेख हुआ है (विशेषतः सासनवंस में)। ये सभी 'महावंस' के उपर्युक्त परिवर्द्धित अंश पर इतने आधारित हैं कि इनमें कोई नयी बात ही ढूँढ़ना व्यर्थ है। 'बुद्धघोसुप्पत्ति' का दूसरा नाम 'महाबुद्धघोसस्स निदानवत्थु' (महाबुद्धघोसस्स निदानवस्तु) भी है।

---

१. देखिये विमलाचरण लाहा : दि लाइफ ऐण्ड वर्क ऑफ बुद्धघोष, पृष्ठ ४३-४४।

२. जर्नल ऑफ पालि टैक्स्ट सोसायटी, १८८६, में प्रकाशित संस्करण, पृष्ठ ६६।

३. पृष्ठ ३० (मेबिल बोड द्वारा सम्पादित, पालि टैक्स्ट सोसायटी, १८९७)।

४. जर्नल ऑफ पालि टैक्स्ट सोसायटी, १८९० में प्रकाशित संस्करण, पृष्ठ ५५।

सद्धम्मसंगह[1]

'सद्धम्मसंगह' ग्यारह परिच्छेदों में लिखित एक गद्य-पद्य मिश्रित रचना है, जिसमें बुद्ध-शासन के संग्रह के साथ-साथ प्रारम्भिक काल से लेकर १३वीं शताब्दी तक के भिक्षु-संघ के इतिहास का वर्णन है। दीघ, मज्झिम, संयुत्त, अंगुत्तर और खुद्दक-निकायों का निर्देश इस ग्रन्थ में हुआ है। अभिधम्मपिटक के ग्रन्थों का भी उल्लेख हुआ है। प्रथम तीन परिच्छेदों में तीन बौद्ध संगीतियों के वर्णन हैं, जिनमें कोई नयी बात नहीं कही गयी है। चुल्लवग्ग (विनयपिटक), बुद्धघोष की अट्ठकथाओं, दीपवंस और महावंस के आधार पर संकलित सामग्री का उपयोग करके ही इन वर्णनों को ग्रथित कर लिया गया है। तृतीय संगीति के बाद के धर्म-प्रचार-कार्य का विस्तृत विवरण इस ग्रन्थ के चतुर्थ परिच्छेद में दिया गया है और दीपवंस, महावंस तथा समन्तपासादिका के समान उन भिक्षुओं के नामों का उल्लेख भी किया गया है, जिन्हें धर्म-प्रचार के लिए देश-विदेश में भेजा गया था। इस प्रकार 'सद्धम्मसंगह' के वर्णनानुसार थेर मज्झन्तिक कश्मीर और गन्धार को भेजे गये, महादेव थेर महिष-मण्डल को भेजे गये, रक्खित थेर वनवासी-प्रदेश को, योनक (ग्रीक) धम्मरक्खित थेर अपरान्तक को, महाधम्मरक्खित थेर महारट्ठ (महाराष्ट्र) को, महारक्खित थेर योनक (यवनक-ग्रीक) प्रदेश को, मज्झिम थेर हिमालय-प्रदेश को, सोणक और उत्तर सुवण्णभूमि (सुवर्णभूमि-बरमा) को, और महेन्द्र (महिन्द) तथा इत्तिय, उत्तिय, सम्बल और भद्दसाल भिक्षु लंका को भेजे गये। स्थविर महेन्द्र के लंका-गमन और वहाँ उनके द्वारा किये गये सद्धर्म के प्रचार का विशेष रूप से वर्णन किया गया है। देवानंपिय तिस्स ने स्थविर महेन्द्र और उनके साथी भिक्षुओं के लिए चेतिय पब्बत (चैत्य पर्वत) पर विहार बनवाया जिसे स्थविर महेन्द्र ने अनुग्रहपूर्वक स्वीकार किया। इसी तथ्य के आधार पर इस परिच्छेद का शीर्षक "चेतियपब्बतविहारपटिग्गहण-वण्णना" दिया गया है। यह वर्णन महावंस के समान ही है। पाँचवाँ परिच्छेद 'चतुत्थसंगीतिवण्णना' के रूप में है। यह संगीति लंकाधिराज देवानंपिय तिस्स के समय में हुई। छठे परिच्छेद में श्रीलंका में वट्टगामनि (वट्टगामणि)

---

१. सद्धानन्द द्वारा जर्नल ऑफ पालि टैक्स्ट सोसायटी, १८९०, में सम्पादित। डॉ० विमलाचरण लाहा द्वारा "ए मैनुअल ऑफ बुद्धिस्ट हिस्टोरिकल ट्रैडीशन्स" शीर्षक से अंग्रेजी में अनुवादित, कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९४१। 'सद्धम्मसंगहो' का देवनागरी संस्करण डॉ० महेश तिवारी ने प्रस्तुत किया है, जिसे नवनालन्दा महाविहार ने सन् १९६१ ई० में प्रकाशित किया है।

अभय के शासन-काल में प्रथम बार तीनों पिटकों के लेखवद्ध किये जाने का उल्लेख है। इसलिए इसका शीर्षक ही है 'पिटकत्तयलेखनवण्णना'। इस कार्य को पञ्चम धर्मसंगीति के सदृश माना गया है। यह कार्य एक साल में सम्पन्न हुआ, यह भी महत्त्वपूर्ण सूचना यहाँ है। "अयं पिटकत्तयलेखना एक संवच्छरेन निट्ठिता।" सातवें परिच्छेद ('तेपिटकट्ठकथापरिवत्तनवण्णना') में तिपिटक पर लिखी गयी अट्ठकथाओं का वर्णन है। इस प्रकार यहाँ वुद्धघोष और उनके जीवन-कार्य का पूरा विवरण आया है, जो 'चूलवंस' पर आधारित है और इस सम्बन्ध में 'चूलवंस' की अनेक गाथाओं को भी यहाँ उद्धृत किया गया है। आठवें परिच्छेद (पिटकत्तय-टीकावण्णना') में तिपिटक की अट्ठकथाओं पर लिखी गयी टीकाओं का विवरण है। ये टीकाएँ लंकाधिराज पराक्रमवाहु प्रथम के शासन-काल में महाकस्सप नामक भिक्षु की प्रमुखता में अनेक विद्वान् भिक्षुओं के द्वारा लिखीं गयी। नवें परि-च्छेद ('सब्बप्पकरणकत्तथेरवण्णना') में बुद्ध-शासन से सम्बद्ध ग्रन्थों की, उनके लेखकों के नामों के सहित, सूची दी गयी है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह परिच्छेद पालि-साहित्य के इतिहास की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। नवें परि-च्छेद में ही तिपिटक की अनुलिपि करने और दसवें परिच्छेद में धर्म-श्रवण के लाभों का वर्णन है। अन्त में लेखक ने अपना परिचय दिया है और कहा है, "धम्म कित्त्याभिधानो...पाकटो सींहले दीपे-तस्स सिस्सो धम्मकित्ति महासामी... पत्वा लंकं मनोरमं... पुनरागतो सकं देसं सम्पत्तो योदयं पुरं। परमराजाभि-धानेन महाराजेन कारिते लंकाराममहावासे वसता सन्तवुत्तिना धम्मकित्यो-रुसामिना धीमता रचितं इदं। सद्धम्मसंगहं नाम सब्बसो परिनिट्ठितं।" इससे स्पष्ट विदित होता है कि यह धम्मकित्ति नामक प्रसिद्ध सिंहली भिक्षु के शिष्य थे और स्वयं इनका नाम धम्मकित्ति महासामी था। यह लंका में आये और पुनः अपने देश चले गये। वहाँ योदयपुर में महाराज परमराज द्वारा निर्मित 'लंकाराम' में वास किया और वहीं रहते हुए उन्होंने 'सद्धम्मसंगह' की रचना की। यह लक्षणीय है कि यहाँ "पुनरागतो सकं देसं" कहकर अपने देश के नाम को अप्रकट ही छोड़ दिया है। और इसी प्रकार 'योदयं पुरं" भी एक समस्या ही है। यह भारत की अयोध्या नहीं हो सकती, क्योंकि यहाँ चौदहवीं शताब्दी में बौद्ध धर्म कहाँ और 'लंकाराम' भी कहाँ? परमराज नामक महाराज भी कहाँ? वास्तव में इसलिए हम मललसेकर के इस मत से सहमत नहीं कि धम्मकित्ति महासामि भारतीय भिक्षु थे। वास्तव में ऐसा लगता है कि 'योदयं पुरं' जिसके पाठान्तर 'योधपुरं' और 'अयोज्झपुरं' भी हैं, थाई देश का 'अयुध्या' नगर ही है, जो चौदहवीं शताब्दी ईसवी से लेकर अठारहवीं शताब्दी ईसवी तक थाई देश की राजधानी

रहा पालि विद्या का केन्द्र भी बना और इस युग में थाई और श्रीलंका के भिक्षुओं का एक-दूसरे के देशों में आवागमन भी हुआ। यहीं 'लंकाराम' में वास करते हुए धम्मकित्ति महासामी थेर ने 'सद्धम्मसंगह' की रचना की।[1] इनका जीवन-काल चौदहवीं शताब्दी का उत्तर भाग है।

जैसा हम ऊपर स्वयं 'सद्धम्मसंगह' के साक्ष्य पर देख चुके हैं, धम्मकित्ति महासामि धम्मकित्ति संघराज के शिष्य थे। धम्मकित्ति संघराज श्रीलंका के निवासी थे, जब कि धम्मकित्ति महासामि शिक्षार्थ लंका में आये थे और यहीं उनकी उपसम्पदा हुई थी। बाद में अपने देश (सम्भवतः भारत या थाई देश) में वापस जाकर उन्होंने योदय या योधपुर (अयोज्झपुर-अयोध्या-अजुध्या) नगर के लंकाराम में, जिसे परमराज ने बनवाया था, 'सद्धमसंगह' की रचना की। 'बालावतार'-व्याकरण को 'गन्धवंस' में वाचिस्सर की रचना बताया गया है, किन्तु एक अन्य परम्परा के अनुसार (जिसे गायगर ने स्वीकार किया है) उसके भी रचयिता 'सद्धम्मसंगह' के रचयिता धम्मकित्ति महासामि नामक स्थविर ही हैं।[2] मललसेकर के मतानुसार 'बालावतार' के रचयिता धम्मकित्ति, धम्मकित्ति महासामि न होकर सिंहली स्थविर धम्मकित्ति संघराज हैं, जिन्होंने सिंहली भाषा में 'सद्धर्मालंकार' ('रसवाहिनी का एक परिवर्द्धित अनुवाद) और 'निकाय-संगह' (सिंहली गद्य ग्रन्थ) लिखे।[3] इनका भी समय चौदहवीं शताब्दी ही है। चूंकि

---

१. मिलाइये महेश तिवारी : 'सद्धम्मसंगहो', पृष्ठ बारह (भूमिका); ए० पी० बुद्धदत्त महाथेर : 'जिनकालमाली', पृष्ठ आठ (भूमिका)। मुझे यह आश्चर्यजनक ही लगता है कि सामान्यतः थाई विद्वान् अपने देश में रचित पालि ग्रन्थों का परिचय देते हुए उसमें 'सद्धम्मसंगह' या उसके लेखक धम्मकित्ति महासामि का कोई उल्लेख नहीं करते। कदाचित् वे 'सद्धम्मसंगह' के लेखक को भारतीय या सिंहली भिक्षु ही समझते हैं। ऐसा क्यों।

२. देखिये गायगर : पालि लिटरेचर ऐण्ड लैंग्वेज, पृष्ठ ४५, ५१।

३. दि पालि लिटरेचर ऑफ सिलोन, पृष्ठ २२६, २४०, २४३। परन्तु धर्मकीर्ति श्री धर्माराम स्थविर ने अपने द्वारा सम्पादित 'धर्म-प्रदीपिका' (पालि 'महाबोधिवंस' की सिंहली परिकथा) की प्रस्तावना में 'निकाय-संगह' के लेखक को धम्मकित्ति महासामि कह कर ही पुकारा है। यह मललसेकर के मत के विरोध में है। यह अपने आप में भी ठीक नहीं है। 'सद्धम्मसंगह' के लेखक धम्मकित्ति महासामि कभी भी 'निकाय-संगह' के लेखक नहीं हो सकते। धम्मकित्ति महासामि को 'निकाय-संगह' का लेखक बताना एक नये भ्रम को जन्म देना है। इसी प्रकार

'निकाय-संगह' के रचयिता धम्मकित्ति महाथेर 'जयबाहु' और 'देवरक्खित' के नाम से भी प्रसिद्ध हैं, अतः उनके साथ धम्मकित्ति महासामि को मिलाना हम उचित नहीं समझते। हमें 'सद्धम्मसंगह' और 'बालावतार' व्याकरण के अलग-अलग रचयिता मानना ही अभीष्ट है।

महाबोधिवंस[1]

'महाबोधिवंस' या 'बोधिवंस' अनुराधपुर में आरोपित बोधिवृक्ष की कथा है। इसका मूल सिंहली भाषा में था और उससे यह पालि में अनुवादित है। यह एक गद्य-पद्य मिश्रित रचना है। सारी गाथाएँ प्रायः 'महावंस' से ली गयी हैं। 'वंसत्थ-प्पकासिनी' या महावंस-टीका में एक प्राचीन ग्रन्थ 'महाबोधिवंसट्ठकथा' या 'बोधि-वंसत्थकथा' का उल्लेख है। इसे प्रस्तुत 'महाबोधिवंस' के समरूप माना जाय या उसका मूल सिंहली रूप, इसके सम्बन्ध में अभी विद्वानों में एक मत नहीं हो पाया है। महाबोधिवंस के लेखक ने बोधिवृक्ष के इतिहास के रूप में बुद्ध-धर्म के प्रारम्भिक इतिहास का यहाँ वर्णन किया है, जो जातकट्ठकथा की निदान-कथा 'समन्त-पासादिका' की बाहिरनिदान कथा, 'सुमंगलविलासिनी' की निदानकथा, दीपवंस, महावंस आदि प्राचीन स्रोतों पर आधारित है। बुद्ध दीपंकर से प्रारम्भ कर, जैसा वंश-ग्रन्थकारों ने अक्सर किया है, तीन बौद्ध संगीतियों का विवरण, महेन्द्र का लंकागमन, महाविहार, चेतियगिरि विहार आदि का निर्माण, इन सब बातों का विवरण इस ग्रन्थ में भी किया गया है। नव नन्दों का इस ग्रन्थ में उल्लेख है, यह इसकी एक बड़ी विशेषता मानी जा सकती है। 'महाबोधिवंस' के रचयिता सिंहली भिक्षु उपतिस्स उस (उपतिष्य) थे। उन्नीसवीं शताब्दी में श्रीलंका में लिखित 'सासनवंसदीप' ग्रन्थ में कहा भी गया है, 'उपतिस्स महाथेरो मागधाय निरुत्तिया। बोधिवंस अका धीरो धीरेहि अभिवण्णियं।' उपतिस्स थेर का समय डॉ० मललसेकर के मतानुसार लगभग दसवीं शताब्दी[2]

'सद्धम्मसंगह' के रचयिता धम्मकित्ति महासामि का 'बालावतार' व्याकरण के लेखक सिंहली भिक्षु धमकित्ति संघराज थेर से भी अभिन्नता-भाव नहीं है। देखिए आगे दसवें परिच्छेद में 'बालावतार' व्याकरण का विवरण भी।

१. रोमन लिपि में एस० ए० स्ट्रांग द्वारा सम्पादित, पालि टैक्स्ट सोसायटी द्वारा प्रकाशित, लन्दन १८९१।

२. दि पालि लिटरेचर ऑफ सिलोन, पृष्ठ १५६-१५७।

और डॉ० गायगर के मतानुसार ग्यारहवीं शताब्दी का मध्य भाग है।[1] एस० ए० स्ट्रांग ने इन्हें बुद्धघोष का समकालिक माना है,[2] जिसका प्रतिवाद डॉ० गायगर ने किया है।[3] वर्णन-शैली को देखते हुए 'महाबोधिवंस' की समानता उत्तरकालीन वंश-ग्रन्थों से ही अधिक दिखाई पड़ती है, अतः उसे दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी की रचना मानना ही ठीक लगता है। बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी में गुरुलुगोमि (गुरुलु महा-उपासक) ने सिंहली भाषा में 'महाबोधिवंस' पर 'धर्म-प्रदीपिका' नामक व्याख्या या परिकथा लिखी। तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी में महाबोधिवंस का सिंहली भाषा में १२ अध्यायों में अनुवाद किया गया। अठारहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध सिंहली भिक्षु सरणंकर संघराज ने 'मधुरार्थ प्रकाशिनी' नामक एक व्याख्या संस्कृतनिष्ठ सिंहली भाषा में 'महाबोधिवंस' पर लिखी। बरमा में भी 'महाबोधिवंस' एक लोकप्रिय रचना रही। 'पिटकत्थमेन्' में दी गयी सूचना के अनुसार पगान के सहस्सरंसी नामक भिक्षु ने बारहवीं शाब्दी में उस पर एक टीका लिखी।

थूपवंस[4]

'थूपवंस' सिंहली भिक्षु सारिपुत्त के शिष्य वाचिस्सर की रचना है। इस ग्रन्थ के अन्त में लेखक ने अपना परिचय दिया है, "सासनं सुट्ठिनं यस्स अन्तेवासिकभिक्खुसु। तेन वाचिस्सरथेर पाक्षेन लिखितो अयं।" इससे लगता है कि इनकी शिष्य-संख्या काफी बड़ी थी, वे बुद्ध धर्म के प्रचार में रुचि रखते थे और उस समय के सिंहली भिक्षु-संघ में इनका बड़ा आदर था। इन्होंने

---

१. देखिये उनका पालि लिटरेचर ऐण्ड लैंग्वेज, पृष्ठ ३७, परन्तु देखिये उनका दीपवंस ऐण्ड महावंस, पृष्ठ ७९ (कुमारस्वामी का अंग्रेजी अनुवाद); इनके साथ मिलाइये पूर्व का पद-संकेत।

२. देखिए उनके द्वारा सम्पादित 'महाबोधिवंस' की प्रस्तावना।

३. पालि लिटरेचर ऐण्ड लैंग्वेज, पृष्ठ ३७, पद-संकेत १।

४. इस ग्रन्थ का रोमन लिपि में सम्पादन डॉ० लाहा ने किया है, जिसे पालि टैक्स्ट सोसायटी, लन्दन, ने सन् १९३५ में प्रकाशित किया। सिंहली लिपि में यह ग्रन्थ धम्मरतन द्वारा सम्पादित है, कोलम्बो १८९६। डॉ० विमला-चरण लाहा ने इस ग्रन्थ का अंग्रेजी अनुवाद 'दि लीजेंण्ड ऑफ दि टोप्स' शीर्षक से किया है, जो विविलियोथैका इंडिया सीरीज में प्रकाशित हुआ है। रॉयल एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता, १९४५।

यहीं अपने आप को 'पिटकत्तयपारगू' भी कहा है, जो आत्म-प्रशंसा अवश्य है; परन्तु यथार्थ जान पड़ती है। यह वाचिस्सर स्थविर सिंहली राजा पराक्रमबाहु प्रथम (११५३-११८६) के धार्मिक पुस्तकालय के अध्यक्ष थे। जैसा उन्होंने स्वयं इस ग्रन्थ में कहा भी है "परक्कमनरिन्दस्स धम्मागारे नियुत्तो।" 'चूलवंस' के ८१वें परिच्छेद में वाचिस्सर का उल्लेख है, जिन्हें वहाँ राजा विजयबाहु तृतीय (१२३२-१२३६ ई०) के समकालिक बताया गया है। कदाचित् यह 'थूपवंस' के रचयिता वाचिस्सर थेर ही हैं, जो साथ ही सामंजस्यगत रूप से सिंहली स्थविर सारिपुत्त के शिष्यों में भी हैं। इन्होंने पालि में अनेक टीका-ग्रन्थ लिखे और अनेक सिंहली ग्रन्थों की भी रचना की, जिनका कुछ उल्लेख हम पहले आठवें अध्याय में कर चुके हैं। 'गन्धवंस' में 'थूपवंस' का उल्लेख तो है, किन्तु इसके लेखक का कोई नाम वहाँ नहीं दिया गया है। यह ग्रन्थ गद्य-पद्य मिश्रित है और इसमें कुल १६ परिच्छेद हैं। ये सोलह परिच्छेद जातकट्ठकथा की निदान-कथा, समन्त-पासादिका, महावंस तथा महावंस-टीका आदि से संकलित किये गये हैं। 'थूपवंस' की रचना बारहवीं शताब्दी के अन्तिम या तेरहवीं शताब्दी के आदिम भाग में हुई। तेरहवीं शताब्दी में ही इस ग्रन्थ का सिंहली रूपान्तर भी किया गया।

जैसा इसके नाम से स्पष्ट है, 'थूपवंस' (स्तूपवंश) भगवान् बुद्ध की धातुओं पर स्मारक रूप से निर्मित 'स्तूपों' का इतिहास है। विशेषतः उसमें लंकाधिपति दुट्ठगामणि (१०१-७७ ई० पू०) द्वारा अनुराधपुर में बनवाये गये महास्तूप

---

१. पृष्ठ ७०।

२. कहीं-कहीं इस सिंहली रूपान्तर की पालि 'थूपवंस' से अल्प विभिन्नता भी है; उदाहरणतः सिंहली 'थूपवंस' में 'धम्मचक्कपवत्तन-सुत्त' के उपदेश का विवरण है, जब कि पालि 'थूपवंस' में केवल 'धम्मचक्कपवत्तन-सुत्त' का निर्देश मात्र कर दिया गया है। मौलिक रूप से दोनों समान हैं। देखिये 'दि महाबोधि जर्नल', मई-जून १९४६, पृष्ठ ५७-६० में डॉ० विमलाचरण लाहा का 'थूपवंस' शीर्षक लेख। डॉ० मललसेकर का कहना है कि पालि 'थूपवंस' की रचना से पूर्व सिंहल में स्तूपों के इतिहास से सम्बद्ध दो ग्रन्थ प्रचलित थे, जिनमें एक सिंहली भाषा में था और दूसरा पालि में। पालि में लिखित यह स्तूपों के इतिहास में सम्बद्ध पूर्ववर्ती ग्रन्थ कदाचित् वही था, जिसे 'महावंस-टीका' में 'चेतियवंसट्ठ-कथा' कहा गया है, ऐसा भी मललसेकर का अनुमान है। देखिये उनका दि पालि लिटरेचर ऑफ सिलोन, पृष्ठ २१७।

का विस्तृत विवरण है। पूरे ग्रन्थ के परिच्छेदों में से आठ का सम्बन्ध इसी से है। ग्रन्थ के अन्त में इसे 'थूपवरस्स वंसो' कहकर पुकारा गया है। इससे यह पता लगता है कि इसका मुख्य उद्देश्य महास्तूप का वर्णन करना ही है और अन्य स्तूपों या धातु-चैत्यों के विवरण इसी की पृष्ठभूमि स्वरूप दिये गये हैं। 'महापरिनिब्बाण-सुत्त' में ही हमने देखा है कि भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद उनके शरीर के अवशिष्ट चिह्नों पर आठ बड़े स्तूपों का निर्माण किया गया था और इनके अलावा एक कुम्भ-स्तूप और एक अंगार-स्तूप भी बनवाया गया था। 'महावंस' के विवरण में भी हम देख चुके हैं कि किस प्रकार लंका के राजा दुट्ठगामणि ने 'महास्तूप' आदि कई विशाल स्तूपों का निर्माण किया था। बुद्ध-परिनिर्वाण-काल से लेकर दुट्ठ-गामणि के समय तक निर्मित स्तूपों का क्रमबद्ध इतिहास-वर्णन करना ही इस ग्रन्थ का विषय है। बुद्ध-भक्ति से प्रेरित होकर लंका के अनेक राजाओं ने विशाल विहारों और स्तूपों का निर्माण करवाया था, अतः उसके इतिहास में उनका भी एक विशेष महत्त्व है, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु स्तूपों का वर्णन करना ही केवल एक मात्र विषय 'थूपवंस' का नहीं है। उसने इसे आधार मानकर बौद्ध धर्म के पूरे इतिहास का ही वर्णन दुट्ठगामणि के समय तक कर दिया है। इस ग्रन्थ के तीन मुख्य भाग हैं। पहले भाग में गौतम बुद्ध के पूर्ववर्ती २४ बुद्धों का वर्णन किया गया है। बोधिसत्त्वों की चर्या का यह वर्णन प्रसिद्ध दीपंकर बुद्ध के समय से प्रारंभ किया गया है, जैसा कि प्रायः अन्य सब वंश-ग्रन्थों ने भी किया है। इस भाग में 'अभिनीहार-कथा' और 'बुद्धानं थूपकथा' हैं। दूसरे भाग में भगवान् गौतम बुद्ध की जीवनी है। जन्म से लेकर महापरिनिर्वाण तक भगवान् बुद्ध की जीवनी यहाँ संक्षिप्त रूप में किन्तु बड़ी प्रभावशाली शैली में वर्णित की गयी है। इसमें 'चूला-मणिदुस्सथूपद्वयकथा', 'दस थूपकथा' और 'धातुनिधान कथा' है। तीसरे भाग में, जिसे ग्रन्थ के शीर्षक को देखते हुए उसका प्रधान अंश ही कहा जा सकता है, भगवान् बुद्ध की धातुओं पर निर्मित स्तूपों का और उनके उत्तरकालीन इतिहास का वर्णन किया गया है। इसमें १२ कथाएँ या परिच्छेद हैं, पाँचवीं चतुरासीतिसहस्स 'धातुकथा' से लेकर सोलहवीं 'महाचेतियकथा' तक। जैसा अभी कहा जा चुका है 'थूपवंस' में 'महावंस', 'समन्तपासादिका', जातकट्ठकथा की 'निदान-कथा' आदि की अपेक्षा नवीन कुछ नहीं है। देवानंपिय तिस्स के काल से लेकर दुट्ठा-गामणि के काल तक का वर्णन तो प्रायः शब्दशः 'महावंस' पर ही आधारित है। लेखक ने स्तूपों के चारों ओर व्यवस्थित कर उसे एक नया रूप अवश्य दे दिया है। उसकी विषयवस्तु का कुछ संक्षिप्त विवरण यहाँ अपेक्षित होगा।

ग्रन्थ के आरम्भ में लेखक ने बताया है कि उसके समय में 'थूपवंस' का एक संस्करण सिंहली भाषा में विद्यमान था और एक अन्य मागधी भाषा में भी। और इन दोनों के पूर्ववर्ती वर्णनों को पूर्णता देने के लिए ही उसने इस ग्रन्थ की रचना की है। अपने समय से पूर्व विद्यमान सिंहली 'थूपवंस' के सम्बन्ध में उसका कहना है कि किसी प्राचीन यत्ती पुरुष ने सिंहली जनों के अर्थ के लिए, उसे सिंहली भाषा में लिखा, इसलिए वह "सब जनों के हित को सम्यक् रूप से नहीं साधता।" "किञ्चापि सो यतिजनेन पुरातनेन अत्थाय सीहलजनस्स कतो पुरापि। वाक्केन सीहलभावेनमि सङ्खतत्ता अत्थं न साधयति सब्बजनस्स सम्मा।" इसलिए सब जनों के हित को सम्यक् रूप से साधने के लिए मैं पुनः इसको मागध निरुत्ति में कह रहा हूँ, ऐसा कवि का अभिप्राय है। "तस्मा अहं पुन पि वंसमिदं...।" और जो स्वयं मागधी भाषा (पालि) में भिक्षु-कवि के समय से पूर्व 'थूपवंस' विद्यमान था, उसके सम्बन्ध में उसका कहना है कि उसमें अनेक विरोधी नये और शब्द भरे पड़े हैं। "यस्माच्च मागधनिरुत्तिकतोपि थूपवंसो विरुद्धनयसद्दसमाकुलो।" स्पष्ट है कि इस पूर्व विद्यमान पालि 'थूपवंस' के वर्णनों में सामञ्जस्य लाने और उसकी अनेक अशुद्धियों को शुद्ध करने की दृष्टि से ही लेखक ने पुनः मागधी भाषा (पालि भाषा) में ही अपने इस 'थूपवंस' को लिखा। इस कथन के बाद लेखक ने अंगुत्तर-निकाय के 'थूपारह-सुत्तं' के आधार पर बताया है कि चार प्रकार के व्यक्ति स्तूपार्ह हैं, यथा तथागत, प्रत्येक बुद्ध (व्यक्तिगत रूप से ज्ञानी, किन्तु दूसरों के उपदेष्टा नहीं), तथागत के शिष्य और राजा चक्रवर्ती। जिस चैत्य में इनमें से किसी के शरीर के अवशिष्ट चिह्न रक्खे जायें, वही 'स्तूप' (थूप) है। इसके वाद गौतम बुद्ध के पूर्ववर्ती बुद्धों के विस्तृत वर्णन हैं। उनके सम्बन्ध में जो स्तूप बनाये गये, उनका भी वर्णन है। यह सब इतना पौराणिक है कि इसका वर्णन करना यहाँ अप्रासंगिक होगा। ग्रन्थ के दूसरे भाग में लेखक ने बुद्ध-जीवनी का वर्णन किया है और तीसरे या अन्तिम भाग में उनके शरीर-चिह्नों के ऊपर निर्मित स्तूपों का। भगवान् बुद्ध के महापरिनिर्वाण के बाद उनके शरीर का दाह-संस्कार जिस प्रकार किया गया, उसका यहाँ बिल्कुल उसी प्रकार वर्णन है; जैसा महापरिनिब्बाण-सुत्त में। अतः उसकी यहाँ पुनरावृत्ति करने की आवश्यकता नहीं। 'महापरिनिब्बाण-सुत्त' के मूल आधार पर ही यहाँ बताया गया है कि भगवान् बुद्ध की धातुओं को बाँटने के लिए कुशीनारा के मल्लों, मगध के अजातशत्रु, वैशाली के लिच्छवियों, कपिल-वस्तु के शाक्यों, अल्लकप्प के बुलियों, रामगाम के कोलियों, वेठदीपक के एक ब्राह्मण और पावा के मल्लों में आपस में झगड़ा होने ही वाला था कि द्रोण नामक ब्राह्मण के सामयिक शब्दों (हमारे शास्ता क्षान्ति वादी थे, उनकी धातुओं

पर इस प्रकारन्नका झगड़ा उचित नहीं) को मानकर उन्होंने उसी के द्वारा भगवान् की धातुओं को आठ भागों में विभक्त करवा लिया, जिन पर आठ महास्तूपों का निर्माण राजगृह, वैशाली, कपिलवस्तु, अल्पकप्प, रामगाम, वेठदीप, पावा और कुसिनारा, इन आठ स्थानों में किया गया। स्वयं द्रोण ब्राह्मण ने कुम्भ-स्तूप और तिप्फलिवन के मौर्य ने अंगार-स्तूप बनवाया। रामगाम के स्तूप में निहित धातुएँ बाद में सिंहल ले जायी गयीं। इनका इतिहास इस प्रकार है। स्थविर महाकाश्यप के आदेश पर मगधराज अजातशत्रु ने वैशाली, कपिलवस्तु, अल्लकप्प, वेठदीप, पावा और कुसिनारा से बुद्ध की धातुओं को इकट्ठा करवा कर और उन्हें राजगृह की धातुओं के साथ मिलाकर इन पर राजगृह के दक्षिण-पूर्वी भाग में ("राजगहस्स पाचीनदक्खिणदिसाभागे") एक महास्तूप में स्थापित किया। बाद में धर्मराज अशोक के समय में इन्हीं धातुओं के विभवत अंशों पर ८४ हजार चैत्यों का निर्माण हुआ। ("अपरभागे असोकराजा ता धातुयो गहेत्वा जम्बुदीपे चतुरासीतिया चेतियसहस्सेसु पतिट्ठापेसि।") अशोक की राज्य-प्राप्ति, अभिषेक, बुद्ध-धर्म में उसके श्रद्धोत्पाद, सम्प्रसादन आदि का भी उल्लेख यहाँ 'महावंस' के वर्णन के अनुसार ही किया गया है। श्रामणेर न्यग्रोध से उपदेश ग्रहण कर सम्राट् अशोक ने ८४००० नगरों में ८४००० धर्म-स्कन्धों की स्मृति में ८४००० विहारों का निर्माण करवाया। राजगृह में अजातशत्रु द्वारा पूर्व स्थापित धातुओं के विभक्त अंशों पर ही इन ८४००० विहारों का निर्माण हुआ था, यह हम अभी कह ही चुके हैं। तृतीय बौद्ध संगीति के बाद स्थविर मोग्गलिपुत्त तिस्स द्वारा देश-विदेश में नाना धर्मोपदेशकों का भिजवाया जाना दिखाया गया है। भिक्षुओं के नामों की सूची तथा जिन-जिन प्रदेशों में वे भेजे गये थे, 'महावंस' से किसी भी प्रकार भिन्न नहीं हैं। हम पहले देख ही चुके हैं कि 'सद्धम्मसंगह' और 'महाबोधिवंस' जैसे ग्रन्थों की भी यही स्थिति है। 'दीपवंस', 'महावंस'; 'समन्तपासादिका' और 'महावंस-टीका' आदि में कही हुई बातों को ही यहाँ बार-बार दुहराया गया है। स्थविर मोग्गलिपुत्त तिस्स के आदेशानुसार थेर मज्झन्तिक कश्मीर और गन्धार को, थेर महादेव महिंसक मण्डल को, थेर रक्खित वनवासी-प्रदेश को, थेर योनक (ग्रीक) धम्मरक्खित अपरान्तक को, महाधम्मरक्खित महाराष्ट्र को, थेर महारक्खित योनक लोक को, थेर मज्झिम हिमवन्त प्रदेश को, थेर सोण और उत्तर सुवर्णभूमि को और थेर महिन्द (महेन्द्र); इत्तिय, उत्तिय और भद्दसाल तम्बपण्णिदीप (लंका द्वीप) को भेजे गये। 'दीपवंस' और 'महावंस' के समान 'थूपवंस' में भी इस धर्म-प्रचार का श्रेय स्थविर मोग्गलिपुत्त तिस्स को ही दिया गया है और इस प्रसंग में अशोक

के नाम का उल्लेख नहीं किया गया है। इसके विपरीत अशोक ने अपने दूसरे और तेरहवें शिलालेखों में अपने द्वारा किये गये धर्म-प्रचार-कार्य का उल्लेख किया है और वहाँ स्थविर मोग्गलिपुत्त तिस्स का कोई उल्लेख नहीं है। सम्भवत: भिक्षु-संघ और धम्म-राजा दोनों की ओर से ही स्वतन्त्र रूप से धर्म-प्रचार का कार्य आरम्भ किया गया था। इस समस्या का विवेचन हम 'महावंस' का वर्णन करते समय कर चुके हैं। किस प्रकार 'दीपवंस', 'महावंस' आदि के धर्म-प्रचार कार्य का विवरण, जिसके आधार पर ही इन उत्तरकालीन वंश-ग्रन्थों ने अपने वर्णन ग्रथित किये हैं, साँची और भरहुत के स्तूपों से समर्थित है, यह भी हम वहाँ दिखा चुके हैं। अशोक और उसके समकालीन लंकाधिपति देवानंपिय तिस्स के बीच पारस्परिक भेंटों के आदान-प्रदान का वर्णन करने के बाद 'थूपवंस' में महेन्द्रादि भिक्षुओं के धर्म-प्रचार-कार्य का वर्णन किया गया है। देवानंपिय तिस्स के बौद्ध धर्म स्वीकार कर लेने के बाद उसके भाई की पत्नी अनुलादेवी को प्रव्रज्या ग्रहण करने की इच्छा हुई। इस विधि को सम्पन्न कराने के लिए सम्राट् अशोक की प्रव्रजित पुत्री संघमित्रा भारत से बुलायी गयी। वह बोधिवृक्ष की डाली लेकर वहाँ पहुँची। अनुलादेवी की प्रव्रज्या के बाद देवानंपिय तिस्स ने सम्पूर्ण लंका द्वीप (तम्बपण्णि दीप) में एक-एक योजन के फासले पर स्तूपों का ताँता फैला दिया। "सकलतम्बपण्णिदीपे योजने योजने थूपं कारेत्वा धातुयो पतिट्ठापेसि।" इन स्तूपों में रखने के लिए तथागत के शरीर के अवशिष्ट चिह्नों (धातुओं) को उसने श्रामणेर सुमन को भेजकर अपने मित्र राजा अशोक से मँगवाया। राजा अशोक ने धातुओं को बुद्ध द्वारा प्रयुक्त भिक्षा-पात्र में रखकर अपने कल्याणमित्र (राजा देवानंपिय तिस्स) के पास आदरपूर्वक भेजा। देवानंपिय तिस्स के बाद दमिळों (तमिलों) द्वारा लंका के सताये जाने का वर्णन है। यह वर्णन 'महावंस' के समान ही है। लंका के इतिहास-ग्रन्थों में इसकी निरन्तर पुनरावृत्ति इसकी सत्यता की सूचक है। राजा दुट्ठगामणि ने इन दमिळों (तमिलों) को परास्त कर लंका को एक अभिन्न राजनैतिक और सांस्कृतिक सूत्र में बाँध दिया। 'लंक-दीपं एकछतमकासि।' लंकाद्वीप में उसने एकछत्र राज्य की स्थापना की। जिस प्रकार 'महावंस' में दुट्ठगामणि को एक राष्ट्रीय नेता के रूप में चित्रित किया गया है, वही बात यहाँ भी पायी जाती है। दमिळों और उनके नेता एलार की दुट्ठगामणि के हाथ पराजय आदि के ऐतिहासिक वर्णनों के लिए इस ग्रन्थ का 'महावंस' आदि की अपेक्षा भी अतिरिक्त महत्त्व है, इसमें सन्देह नहीं। राजा दुट्ठगामणि (१०१-७७ ई० पूर्व) ने ९९ विहार बनवाये, जिनमें मरिचवट्टि, लौह प्रासाद (लोह पासाद) और महास्तूप बड़े निर्माण-कार्य थे। किस प्रकार अनुराधपुर में निर्मित

महास्तूप पर छत्र चढ़ाने से पूर्व ही उसकी मृत्यु हो गयी और अपने छोटे भाई को उसे पूरा करने का आदेश देकर, भिक्षु-संघ को विहार को समर्पित कर तथा रोग शय्या पर पड़े एक ही स्तूप की तीन बार प्रदक्षिणा कर, बुद्ध, धर्म और संघ की वन्दना करते हुए, इस श्रद्धालु राजा ने तुषित लोक में गमन किया, यह हम 'महावंस' के वर्णन में देख चुके हैं। उसी के समान यह यहाँ वर्णित है। महास्तूप का निर्माण दुट्ठगामणि ने बड़े प्रयास और रुचि से करवाया था। उसके अन्दर भगवान् बुद्ध की जीवन-सम्बन्धी अनेक चित्र; यथा धर्म-चक्र-प्रवर्तन, महापरिनिर्वाण-प्राप्ति आदि दिखाये गये थे। महास्तूप में रखने के लिए बुद्ध-शरीर के अवशिष्ट चिह्न वही थे, जिन्हें रामगाम के कोलियों ने अपने यहाँ स्थापित किया था और जो बाद में लाये गये थे। दुट्ठगामणि द्वारा निर्मित स्तूपों, विशेषतः महास्तूप के वर्णन के साथ ही 'थूपवंस' का वर्णन समाप्त हो जाता है।

'थूपवंस' की महत्त्वपूर्ण विषय-वस्तु को हृदय :गम करने के लिए यहाँ उसकी विषय-सूची को ही कुछ देख लेना कदाचित् अच्छा रहेगा। वह इस प्रकार है— (१) अभिनीहार-कथा—बुद्धानं थूपकथा च, (२) चूळामणिदुस्सथूपद्वयकथा, (३) दसथूपकथा; (४) धातुनिधानकथा; (५) चतुरासीति सहस्सधातुकथा, (६) थूपारामकथा, (७) बोधिआगमन कथा, (८) योजनथूपकथा, (९) अथमनुपुब्बिकथा, (१०) महियङ्गनथूपकथा, (११) मरिचवट्टि विहारकथा, (१२) थूपसाधनलाभकथा, (१३) थूपारम्भकथा, (१४) धातुगब्भ-रूपवण्णनाकथा; (१५) धातुनिधानकथा और (१६) महाचेतियकथा। इन सोलह वर्णनों को ही डॉ० लाहा ने अपने द्वारा सम्पादित संस्करण में तीन परिच्छेदों में बाँट दिया है।

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि लंका के धार्मिक इतिहास में 'थूपवंस' का बड़ा महत्त्व है। आज खंडहरों के रूप में भग्न या आधुनिक शहरों के नीचे विलीन प्रभूत पुरातत्त्व-सम्बन्धी सामग्री का वह परिचय देता है। लंका की बुद्ध-भक्ति का भी वह परिचायक है। भारत और लंका के मधुर, धर्म-मिश्रित सम्बन्धों की भी वह याद दिलाता है। दमिळों (तमिल लोगों) द्वारा लंका पर किये गये आक्रमणों की याद दिला कर वह इस परिच्छेद को कुछ दुःखानुविद्ध भी करता है, भारतीय संस्कृति के अ-शोषक तत्त्व की कुछ कटु व्याख्या भी करता है। फिर भी मनुष्यों के लोभ ने जिसे नष्ट किया, क्षत-विक्षत किया, धम्म ने उसे पुनरुज्जीवित किया, यह आश्वासन भी हमें यहाँ मिलता है। लंका के राजा और उनकी जनता आध्यात्मिक प्रेरणा के लिए सदा भारत की ओर देखते रहे। अनुलादेवी की प्रव्रज्या के लिए संघमित्रा बुलायी गयी। बोधिवृक्ष की डाली रोपी गयी। तब से दोनों देश

आध्यात्मिक रूप से एक हो गये। भारत के देश-काल का, उसके गन्धार, काश्मीर और महिष-मंडल का, वनवासी, अपरान्तक, महाराष्ट्र और सुवर्णभूमि का, उसके विदिशा, रामग्राम, पावा, राजगृह, वैशाली और कपिलवस्तु का, लंका के इस ग्रन्थ में निरन्तर स्मरण, यही दिखाता है कि बुद्ध की स्मृति के साथ इस देश की स्मृति को भी लंका-वासियों ने अपने इतिहास में कभी भूला नहीं है।

अत्तनगलुविहार-वंस

'अत्तनगलुविहार-वंस' का दूसरा नाम 'हत्थवनगल्लविहारवंस' भी है। सन् १८७० के जेम्स डि एल्विस के संस्करण में वह प्रथम नाम ('अत्तनगलुवंस') से ही छपा है; परन्तु 'हत्थवनगल्लविहारवंस' पाठ भी प्रचलित है, क्योंकि 'चूलवंस' के ८५वें परिच्छेद में विहार का नाम 'हत्थवनगल्ल' विहार ही दिया गया है। बम्बई विश्वविद्यालय ने भी 'हत्थवनगल्लविहारवंसो' शीर्षक से ही इस ग्रन्थ को देवनागरी लिपि में प्रकाशित किया है; प्रो० एन० के० भागवत के सम्पादकत्व में। तेरहवीं शताब्दी के मध्य भाग की यह गद्य-पद्य मिश्रित रचना है। इसमें ११ अध्याय हैं और इसकी सबसे बड़ी विशेषता इसकी सरल, स्वाभाविक वर्णन-शैली है। ऐतिहासिक उपन्यास जैसा लगता है। परन्तु कहीं-कहीं अलंकृत वर्णन भी है। प्रथम आठ परिच्छेदों में लंकाधिपति सिरि-संघबोधि (श्रीसंघबोधि) का वर्णन है। अन्तिम तीन परिच्छेदों में उन अनेक विहारों के निर्माण का वर्णन है; जो उपर्युक्त राजा के अन्तिम निवास-स्थान पर बनाये गये थे। 'अत्तनगल्ल' या 'अत्तनगलु' नामक स्थान पर निर्मित विहार इनमें अधिक प्रसिद्ध होने के कारण, इसी के आधार पर इस ग्रन्थ का नाम 'अत्तनगलुविहारवंस' या संक्षेप में 'अत्तनगलुवंस' पड़ा है। सिंहली भिक्षु अनोमदस्सी संघराज के अनुरोध पर, जिन्हें पराक्रमबाहु द्वितीय (१२२९-१२४६ ई०) ने, चूलवंस ८६।३७ के अनुसार, यह विहार समर्पित किया था, यह रचना उनके एक शिष्य द्वारा लिखी गयी थी।[1] इसके लेखक के नाम आदि का कुछ पता नहीं चलता।

जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, 'हत्थवनगल्लविहारवंस' या 'अत्तनगलुविहारवंस' में राजा सिरिसंघबोधि के अन्तिम निवास-स्थान पर निर्मित विहार की कहानी है। इसे कुछ अधिक विवृत कर देना आवश्यक होगा। श्री लंका में सिरिसंघबोधि (३०७-३०९ ई०) एक बड़े उदार, सन्त, धार्मिक राजा

---

१. गायगर : पालि लिटरेचर ऐण्ड लैंग्वेज, पृष्ठ ४४; मिलाइये मललसेकर दि पालि लिटरेचर ऑफ सिलोन, पृष्ठ २१९।

हो गये हैं। उनकी साधुवृत्ति को देख उनके कोषाध्यक्ष गोठाभय (गोठकाभय) ने उनके विरुद्ध विद्रोह कर दिया और स्वयं राजा बन बैठा। वस्तुतः सिरिमंघबोधि स्वयं ही गद्दी छोड़कर भिक्षु हो गये। गोठाभय ने उनके सिर पर इनाम की भी घोषणा कर दी। एक दिन वे अत्तनगलु (हत्थवनगल्ल) नामक स्थान पर ठहरे थे। यहाँ एक गरीब आदमी ने उन्हें भोजन दिया, जिससे कृतज्ञतावश उन्होंने उसे अपना सिर दे दिया; ताकि राजा से वह उनके सिर पर रक्खा इनाम प्राप्त कर सके। इसी स्थान पर बाद में गोठाभय ने पश्चात्ताप से अभिभूत होकर अत्तनगलु-विहार या उत्थवनगल्ल-विहार (कोलम्बो से लगभग बीस मील उत्तर-पूर्व में) बनवाया, जिसकी करुणकहानी इस वंश-ग्रन्थ में दी गयी है।

एक विशेष बात 'हत्थवनगल्ल-विहार वंस' में यह दिखायी पड़ती है कि यहाँ आर्यशूर-कृत संस्कृत ग्रन्थ 'जातकमाला' के बीस श्लोक पालि में अनुवाद के रूप में रखे हुए हैं। डॉ० पी० एल० वैद्य ने अपने द्वारा सम्पादित 'जातकमाल (मिथिला, विद्यापीठ, १९५९ ई०) की प्रस्तावना (पृष्ठ बारह) में इस तथ्य को दिखाया है। इस प्रकार यह बात प्रायः वैसी ही हो जाती है, जैसी कि 'जातकमाला' के ही 'व्याघ्रीजातक' का, 'व्यग्घी जातक' के रूप में 'जिनकालमालिनी' में पालि में अनुवादित किया जाना, जिसका हम अभी आगे उल्लेख करेंगे।

'दाठावंस'[1]

'दाठावंस' की रचना बारहवीं शताब्दी के अन्त या तेरहवीं शताब्दी के आदि भाग में पुलत्थिपुर (पोलोन्नरुवा) वासी सिंहली भिक्षु सारिपुत्त के शिष्य धर्मकीर्ति महास्थविर (धम्मकित्ति महाथेर) ने की। यह भिक्षु संस्कृत, मागधी भाषा (पालि), तर्कशास्त्र, व्याकरण, काव्य और आगम आदि में निष्णात थे। अपने समकालीन सिंहली राजा पराक्रमबाहु प्रथम (११९७-१२००) के राजगुरु थे। इनका छन्दों पर अगाध अधिकार था, यह 'दाठावंस' में प्रयुक्त जगती, स्रग्धरा, मन्दाक्रान्ता, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा आदि नाना छन्दों से विदित होता है। 'दाठावंस'

---

१. रोमन लिपि में डॉ० रायस डेविड्स द्वारा जर्नल ऑफ पालि टैक्स्ट सोसायटी, १८८४ में सम्पादित। देवनागरी लिपि में डॉ० विमलाचरण लाहा द्वारा सम्पादित एवं अंग्रेजी में अनुवादित, पंजाब संस्कृत सीरीज १९२५। सिंहली लिपि में असभतिस्स द्वारा सम्पादित, केलानिया, १८८३। मुट्टु कुमारस्वामी ने भी इस ग्रन्थ का अंग्रेजी में अनुवाद किया था। ट्रूबनर, लन्दन, १८७४।

बुद्ध के दाँत-धातु की कथा है। यह संस्कृत काव्य-शैली में लिखी गयी है और इसमें पाँच परिच्छेद हैं। 'दाठावंस' के अन्त में स्वयं ग्रन्थकार ने अपनी इस रचना को 'जिनदन्तधातुवंस' कहकर पुकारा है। इसका एक दूसरा नाम 'दन्तधातुवंस' भी है। चूलवंस ३७/९३ में 'दाठाधातुवंस' ('दाठाधातुस्स वंसम्हि') का उल्लेख है। मललसेकर इस दाठाधातुवंस को दाठावंस से एक भिन्न और उसके समकालीन या किंचित् उत्तरकालीन रचना मानते हैं,[1] परन्तु डॉ० लाहा का मत है कि ये दोनों एक ही रचनाएँ हैं।[2] 'दाठावंस' की विषय-वस्तु बहुत कुछ 'थूपवंस' के समान ही है। उसके समान यहाँ यद्यपि गौतम बुद्ध के पूर्ववर्ती बुद्धों का विस्तृत वर्णन नहीं किया गया है, किन्तु अन्य वर्णन प्रायः समान ही हैं। 'थूपवंस' में कथा का अन्त दुट्ठगामणि (१०१-७७ ई० पूर्व) पर लाकर कर दिया गया है, जबकि 'दाठावंस' में वह लंकाधिपति कित्ति सिरि मेघवण्ण (कीर्ति श्री मेघवर्ण) तक चलती है, जिनका शासन-काल ३४४-३६२ ई० है। बुद्ध के दाँत के इतिहास के चारों ओर यहाँ बौद्ध धर्म के विकास के इतिहास का वर्णन किया गया है, जैसे 'थूपवंस' में स्तूपों की कथा के चारों ओर। कलिंग के राजा गुहसीव के जामाता दन्तकुमार द्वारा लंका में बुद्ध की बाँयीं डाढ़ का लाया जाना और वहाँ कीर्ति श्री मेघवर्ण (सिरि मेघवण्ण) द्वारा उसका आदर-पूर्वक ग्रहण करना तथा अनुराधपुर में लंका के राजा, भिक्षु-संघ और उपासक जनता के द्वारा उसकी पूजा किया जाना आदि तथ्यों का वर्णन इस ग्रन्थ की मुख्य विषय-वस्तु है। ऐसा माना जाता है कि 'दाठावंस' एक पूर्वकालीन सिंहली रचना 'दळदावंस' पर आधारित है। स्वयं 'दाठावंस' के आदि में लेखक ने स्वीकार किया है कि सिंहल देश में कवियों ने स्वदेश भाषा (सिंहली) में बुद्ध के दन्त-धातु का इतिहास वर्णित किया है ("सदेसभासाय कवीहि सीहले कतं पि वंसं जिनदन्तधातुया") और उसी का वे अन्य देशों के लोगों के लाभार्थ मागधी भाषा में रूपान्तर कर रहे हैं। धम्मकित्ति महाथेर ने अपने इस ग्रन्थ पर एक व्याख्या (सन्ने) भी सिंहली भाषा में लिखी। सन् १४४२ ई० के पगान (बरमा) के प्रसिद्ध अभिलेख में कदाचित् इसी का 'दाठाधातुवंस-टीका' नाम से उल्लेख है। 'दाठाधातुवंस-टीका' 'दाठाधातुवंस' पर ही पालि भाषा में लिखी गयी कोई अन्य रचना भी हो सकती है। बाद में स्वयं दाठावंस पर आधारित एक सिंहली वंस-ग्रन्थ लिखा गया, जिसका नाम है, 'दळदा पूजावली'।

---

१. दि पालि लिटरेचर ऑफ सिलोन, पृष्ठ ९६, २०९।

२. ऑनु दि क्रोनिकल्स ऑफ सिलोन, पृष्ठ २२ (रॉयल एशियाटिक सोसायटी), कलकत्ता, १९४७)।

जिनकालमालिनी[1]

'वंश' साहित्य के प्रसंग में ही हमें थाई देश में सोलहवीं शताब्दी (सन् १५१६ ई०) में स्थविर रतनपञ्ञ द्वारा लिखित जिनकालमालिनी' या 'जिनकालमाली' नामक रचना का भी उल्लेख कर देना चाहिए, क्योंकि यह बुद्ध-शासन और उनके ऐतिहासिक विकास से सम्बद्ध तथ्यों का कालक्रमिक वर्णन ही है और विशेषतः इसमें बुद्ध के जीवन और शासन से सम्बद्ध तथ्यों के काल की माला ही पिरोयी गयी है, अर्थात् तथ्यों के वर्णन में काल-निर्देश का विशेष रूप से ध्यान रखा गया है। यही इस ग्रन्थ की बड़ी विशेषता है और इस प्रकार इसका ऐतिहासिक महत्त्व स्पष्ट ही है। ग्रन्थ के आदि के परिच्छेदों में बुद्ध भगवान् की जीवनी है। बोधिसत्त्व के बुद्ध होने के लिए अभिनीहार (अभिनिर्हार—प्रणिधान, वाञ्छा, संकल्प) का परम्परागत रूप से वर्णन किया गया है और इसी प्रकार दस पारमिताओं को पूरा कर बोधि-प्राप्ति तक की कथा यहाँ है। परन्तु, एक बात यहाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय यह है कि जो 'व्याघ्रीजातक' आर्यशूर-कृत 'जातकमाला' ('बोधिसत्त्वावदान माला') में प्रथम जातक के रूप में आया है और जिसका निर्देश क्षेमेन्द्र-कृत 'अवदानकल्पलता' में भी है, बल्कि 'दिव्यावदान' ('रूपावत्यावदानम्') की दो गाथाओं में "व्याघ्रीनखावलि" आदि रूप से जिसका उल्लेख आया है और प्रसिद्ध महायानी सूत्र-ग्रन्थ 'सुवर्णप्रभासमूत्र' के उन्नीसवें परिवर्त ('व्याघ्री-परिवर्त') में भी जो ही कथा आयी है, वही यहाँ इस पालि 'वंश' ग्रन्थ में 'व्यग्घी-जातक' के

---

१. 'जिनकालमाली' शीर्षक से रोमन लिपि में अग्गमहापण्डित ए० पी० बुद्धदत्त महाथेर द्वारा सम्पादित। पालि टैक्स्ट सोसायटी, लन्दन, १९६२ ई०। यद्यपि मूलतः थाई लिपि में सम्पादित जिस मुद्रित प्रति से लिप्यान्तर कर ए० पी० बुद्धदत्त महाथेर ने अपने उक्त रोमन लिपि में संस्करण प्रस्तुत किया है, उसमें पुस्तक का नाम 'जिनकालमालिनी' ही दिया गया है, परन्तु चूंकि ग्रन्थकार ने स्वयं इस ग्रन्थ के आदि में "वक्खामि ग्रन्थं जिनकालमालिं" कहा है और अन्त में 'निगमन' में भी ऐसी ही बात कही है, अतः इसे देख कर ए० पी० बुद्धदत्त महाथेर ने इस पुस्तक का शीर्षक ही 'जिनकालमाली' दे दिया है और इसी रूप में उसे रोमन लिपि में प्रकाशित कराया है। मूल थाई प्रति का अनुसरण कर मैं इसे 'जिनकालमालिनी' कहना ही अधिक पसन्द करता हूँ और कदाचित् यह नाम हमारे कानों को भी अधिक प्रिय लगता है। जी० कोड्स ने 'जिनकालमाली' का 'जिनकालमालिनी' का फ्रेंच भाषा में अनुवाद किया है।

रूप में रखी हुई है। पालि 'जातक' में तो यह कहीं है ही नहीं, अन्यत्र भी पालि साहित्य में यह कहीं नहीं है। यहाँ एक सद्यःप्रसूता व्याघ्री है, जो भूख से तड़फड़ा रही है। इस हालत में या तो वह अपने बच्चों को खा लेगी या स्वयं भूखी मर जायगी। बोधिसत्त्व उसके और उसके बच्चों के लिए अपने प्राण विसर्जित करते हैं। वे अपने को उसके सामने फेंक देते हैं और व्याघ्री उन्हें खा जाती है। इस प्रकार व्याघ्री के भी और उसके बच्चों के भी प्राण बच जाते हैं और बोधिसत्त्व बलिदान हो जाते हैं। फाह्यान् ने गन्धार जनपद में उस स्थान को देखा था, जहाँ बोधिसत्त्व ने भूखी बाघिन के लिए अपने प्राणों को छोड़ा था। अतः महायान में यह कथा सुविदित है। स्पष्ट ही है कि रतनपञ्ञ थेर ने 'जातकमाला' या 'दिव्यावदान' या 'अवदानकल्पलता' या 'सुवर्णप्रभास-सूत्र' को पढ़ा होगा और वहीं से यह कथा ली होगी। बौद्ध संस्कृत साहित्य में प्राप्त और पालि साहित्य में अन्यत्र कहीं अप्राप्त, इस जातक-कथा का इस प्रकार इस पालि-वंश ग्रन्थ में आना एक लक्षणीय बात ही है।

बुद्ध के वर्षावासों का भी इस ग्रन्थ में लक्षणीय रूप से वर्णन है, जो सर्वांश में पालि-अट्ठकथाओं पर ही आधारित है। वस्तुतः महापरिनिर्वाण तक बुद्ध-जीवन की कथा, जो इस ग्रन्थ में दी गयी है, परम्परागत पालि निदानों पर ही आधारित है।

तदनन्तर 'महावंस' 'थूपवंस' 'बोधिवंस', 'दाठावंस' और 'नळाटधातुवंस' आदि के आधार पर बुद्ध-शासन के भारत से श्रीलंका जाने की कहानी है। तदनन्तर लाओस, कम्बोदिया (कम्पूचिया) और स्याम में बुद्ध-शासन के विकास का वर्णन किया गया है। विशेषतः सिंहल और थाईदेश के धार्मिक सम्बन्धों के विषय में यहाँ अनेक ऐसी बातें भी कही गयी हैं, जिनका सिंहली 'वंश' ग्रन्थों में कहीं उल्लेख नहीं है। इसी प्रसंग में बुद्ध भगवान् की 'रत्न-प्रतिमा' ('रतन-पटिमा'—जो आजकल 'मरकतमणि बुद्ध' के नाम से प्रसिद्ध है और बैंकाक नगर में स्याम-नरेश के प्रासाद की सीमा में अवस्थित है) के भी इतिहास का वर्णन है कि किस प्रकार वह भारत से श्रीलंका गयी और फिर वहाँ से थाई देश, जहाँ राजकीय चैत्य ('राजकूट') में उसकी प्रतिष्ठा की गयी।

'मिलिन्दपञ्ह' की रचना के काल के सम्बन्ध में भी 'जिनकालमालिनी'-कार ने लक्षणीय सूचना दी है, जिसके बारे में हम 'मिलिन्दपञ्ह' विवरण-प्रसंग में कह ही आये हैं।

इस प्रकार बुद्ध-शासन के इतिहास की दृष्टि से और विशेषतः सिंहल और थाई देश के पारस्परिक सम्बन्धों की दृष्टि से इस ग्रन्थ का प्रभूत मौलिक महत्त्व है।

ग्रन्थ के अन्त में 'निगमन' है, जो कुछ गाथाओं के रूप में है। यहाँ ग्रन्थकार ने अपना कुछ परिचय दिया है और अपनी इस रचना के स्वरूप के सम्बन्ध में भी कुछ कहा है। उन्होंने अपना नाम 'रतनपञ्ञ' ('रतनपञ्ञ सञ्ञितो') बताते हुए कहा है कि इस ग्रन्थ की रचना उन्होंने रक्तवन ('रत्तवन') नामक विहार में ('रत्तवने विहारम्हि') वास करते हुए की। यह विहार उत्तरी स्याम में था। 'जिनकालमाली' ग्रन्थ की रचना किस उद्देश्य से उन्होंने की, इसके बारे में बताते हुए उन्होंने कहा है कि इसमें जिन-काल की अर्थात् बुद्ध और उनके धर्म से सम्बद्ध तथ्यों की काल-गणना की गयी है। साथ ही उन्होंने स्वीकार किया है कि उनका काल-वर्णन पूरी तरह थेरवाद-परम्परा पर आधारित है, परम्परागत है, जैसा कि वह नाना ग्रन्थों में विराजित है। "कालं जिनस्सापि परम्परागतं नानासु गन्थेसु विराजितं।" सभी 'वंश' ग्रन्थों की यही स्थिति है। अतः बुद्ध धर्म के एशिया-व्यापी प्रसार के लिए कुछ रूप को देखने के लिए, लाओस, कम्बोदिया (कम्पूचिया) और स्याम में उसके विकास को कुछ जानने के लिए और थाई देश और सिंहल के एक-दूसरे के साथ धार्मिक सम्बन्धों को भी समझने के लिए 'जिनकालमालिनी' का अपना विशिष्ट महत्त्व है, यह स्पष्ट ही है।

छकेसधातुवंस[1]

'छकेसधातुवंस' १९वीं शताब्दी की रचना है। यह किसी बरमी भिक्षु की रचना है, जिसके नाम का पता नहीं। इसमें भगवान् बुद्ध के छह केशों के ऊपर बनवाये गये स्तूपों का वर्णन है। ये छह केश कौन से हैं? 'सासनवंस'[2] में कथा है कि बोधि-प्राप्ति के आठवें वर्ष में जब भगवान् आकाश-मार्ग से रामण्य राष्ट्र के सुधम्मपुर (थतोन्) नामक नगर में गये, तो वहाँ उन्होंने अपने दर्शन के लिए आये हुए छह तपस्वियों को पूजा के लिए छह केश-धातु दिये। इन्हीं का इतिहास यहाँ वर्णित है। 'छकेसधातुवंस' एक गद्य-पद्य मिश्रित रचना है और इसकी शैली सरल है। 'छकेसधातुवंस' से पृथक् एक अन्य रचना भी थी, जिसका नाम था 'केसधातुवंस'। बुद्ध भगवान् का केश-धातु सिलाकाल (अम्ब सामणेर) नामक भिक्षु द्वारा भारत से लंका लाया गया था, मोग्गल्लान प्रथम (४९६-५१३ ई०) के शासन-काल में। केसधातुवंस में बुद्ध के इसी केश-धातु का इतिहास था। आज वह उपलब्ध नहीं है। केवल चूलवंस के उन्तालीसवें परिच्छेद में इसका उल्लेख मिलता है। इससे

---

१. जर्नल ऑफ पालि टैक्स्ट सोसायटी, १८८५, में मिनयेफ द्वारा सम्पादित।

२. पृष्ठ ३४-३५ (देवनागरी संस्करण)।

यह पता लगता है कि सम्भवतः तेरहवीं शताब्दी ईसवी के मध्यभाग में यह रचना लंका में विद्यमान थी। चूलवंस (३९।४९-५६) के उल्लेख से ही पता चलता है कि बुद्ध के केश-धातु के ऊपर लंका में एक स्तूप बनवाया गया था और सिलाकाल को उसका प्रथम रक्षक नियुक्त किया गया था।

नळाटधातुवंस

नळाटधातुवंस (ललाटधातुवंस या संक्षेप में ललाटवंस) पाँच अध्यायों में बुद्ध के ललाट की हड्डी का इतिहास है। इसके युग और लेखक का ठीक पता नहीं है। परन्तु गायगर ने इसे एक आधुनिक युग की या उन्नीसवीं शताब्दी की रचना माना है।[1] परन्तु यदि वह ग्रन्थ सचमुच सिंहली भाषा में लिखित 'धातुवंस' का मूल रूप है (जैसा कि गायगर भी मानते हैं) तो यह इतना उत्तरकालीन नहीं हो सकता। इसका कारण यह है कि सिंहली धातुवंस के लेखक स्थविर ककुसन्ध थे जिनका समय पन्द्रहवीं शताब्दी ईसवी माना जाता है।[2] अतः नळाटधातुवंस इससे कुछ पूर्वकालीन रचना होना ही चाहिए। हम ऊपर देख ही चुके हैं कि 'नळाटधातुवंस' का कुछ आधार सोलहवीं शताब्दी ईसवी में थाई देश में लिखी गयी 'जिनकालमाली' या 'जिनकालमालिनी' नामक पालि रचना में भी लिया गया है। अतः 'नळाटधातुवंस' का उन्नीसवीं शताब्दी में लिखा जाना सन्दिग्ध ही लगता है और उसे इससे पूर्व की रचना ही कदाचित् होना चाहिए।

सन्देस-कथा

सन्देस-कथा (सन्देस-कथा) एक पत्र के रूप में है, जिसे कुछ सिंहली व्यक्तियों ने बरमी राजा मिन्-दोन्-मिन् (१८५२-७२ ई०) को लिखा। सन् १८५८ में लिखा गया यह पत्र सद्धर्म-सम्बन्धी एक सन्देश के रूप में है। पत्र-लेखकों ने (जिनकी निश्चित संख्या दस है), पहले इस बात पर प्रकाश डाला है कि किस प्रकार ईसाई धर्म-प्रचारकों ने नाना उपायों से लंका द्वीप में ईसाई धर्म का प्रचार किया है और बौद्ध धर्म की कितनी दुरवस्था हो गयी है। बाद में उन्होंने यह इच्छा प्रकट की है कि बौद्ध धर्म के पुनरुत्थान के लिए वे कोलम्बो (कोलम्बक) के समीप (वस्सकडव वर्तमान वस्कडुव) नामक कस्बे में एक संघाराम बनवाना

---

१. पालि लिटरेचर ऐण्ड लंग्वेज, पृष्ठ ४८।
२. दि पालि लिटरेचर ऑफ सिलोन, पृष्ठ २५५।

चाहते हैं, जिसमें एक चैत्य, धर्मशाला, प्रतिमाघर, उपोसथागार भी होंगे। इस काम के लिए बरमा राजा की सहायता माँगी गयी है। ऐसा माना जाता है कि मिन्-दोन्-मिन् ने इसका उत्तर दिया था, परन्तु वह आज उपलब्ध नहीं है। इस सन्देश-कथा का एक विशेष महत्त्व यह है कि इससे उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तर भाग में लंका में बौद्ध धर्म की स्थिति पर प्रकाश पड़ता है। लंका और बरमा के सम्बन्धों की दृष्टि से भी इनका महत्त्व है। 'सन्देस-कथा'[1] नाम से कयी रचनाएँ लंका और बरमा में मिलती हैं। एक अन्य 'सन्देस-कथा' सन् १८०० ई० में लिखी गयी थी। इसका सम्पादन मिनयेफ ने जर्नल ऑफ टैक्स्ट सोसायटी, १८८५, पृष्ठ १७-२८ में किया था। इससे भी सिंहल और बरमा के धार्मिक सम्बन्धों पर प्रकाश पड़ता है। उन्नीसवीं शताब्दी में लंका में लिखित 'राम-सन्देस' भी एक प्रकार का सन्देश-काव्य ही है। विद्वानों का अनुमान है कि लंका और बरमा में ही नहीं, कम्बोदिया (कम्पूचिया) और थाई देश में भी अन्य अनेक सन्देश-कथाएँ या सन्देश-काव्य गद्य और पद्य पाण्डुलिपियों के रूप में खोजे जा सकते हैं और उनसे इन देशों के धार्मिक सम्बन्धों पर काफी नया प्रकाश पड़ने की सम्भावना है।

गन्धवंस[2]

'गन्धवंस' (ग्रन्थवंश) उन्नीसवीं शताब्दी में बरमा में लिखा गया।[3] बहुलतर रूप से यह एक गद्य-ग्रन्थ है और आकार में छोटा भी। परन्तु इतनी

---

१. देखिये दि लाइट ऑफ दि धम्म (यूनियन ऑफ बरमा बुद्ध-शासन काउंसिल द्वारा प्रकाशित), जिल्द दूसरी, संख्या २ (अप्रैल १९५४) में देवप्रसाद गुह का 'सन्देस-कथा' शीर्षक लेख।

२. मिनयेफ द्वारा रोमन लिपि में जर्नल ऑफ पालि टैक्स्ट सोसायटी, १८८६ में सम्पादित। 'गन्धवंस' से सब उद्धरण इसी संस्करण से दिये गये हैं।

३. परन्तु, यह निश्चित नहीं है कि यह ग्रन्थ उन्नीसवीं शताब्दी में ही लिखा गया। 'गन्धवंस' के रोमन लिपि में सम्पादक मिनयेफ ने बरमी भाषा में लिखित 'पिटकत्थमेन्' (प्रकाशित १९०६ ई०) तथा 'सासनवंस' से इसकी तुलना कर यह निष्कर्ष निकाला था कि 'गन्धवंस' कदाचित् सत्रहवीं शताब्दी ईसवी की रचना है। उनके इस मत को मेबिल बोड ने उद्धृत किया है। 'दि पालि लिटरेचर ऑफ बरमा', पृष्ठ दस (भूमिका)। परन्तु, गायगर ने 'गन्धवंस' की रचना-तिथि अनिश्चित मानते हुए उसे उन्नीसवीं शताब्दी के पालि-साहित्य के अन्तर्गत रखा

संक्षिप्त और उत्तरकालीन रचना होते हुए भी इसी कोटि के अन्य वंश-ग्रन्थों के समान इसका भी प्रभूत महत्त्व है। पालि-साहित्य के इतिहास-लेखक के लिए तो यह एक बड़ा सहायक ग्रन्थ है। जैसा इसके नाम में विदित है, यह पालि-ग्रन्थों का इतिहास है। पालि ग्रन्थकारों और उनके ग्रन्थों का विवरण देना ही इसका मुख्य लक्ष्य है। यहाँ पुस्तकों और उनके रचयिताओं की सूची, रचना-स्थान और रचना के उद्देश्य दिये गये हैं। पहले तिपिटक का विश्लेषण किया गया है। फिर ग्रन्थकारों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया गया है, जो कालानुक्रम-परक भी हैं, (१) पोराणाचरिय, (२) अट्ठकथाचरिय और (३) गन्धकाचरिय। पोराणाचरिय (पुराणाचार्य) धर्मसंगीतिकार प्राचीन भिक्षु थे, जिन्होंने बुद्ध-वचनों का संगायन और संकलन किया। अट्ठकथाचरिय (अर्थकथाचार्य) वे भिक्षु थे, जिन्होंने अत्यन्त प्राचीन काल में पालि तिपिटक पर अट्ठकथाएँ लिखीं। उसके बाद गन्धकाचरियों (ग्रन्थकाचार्यों) का समय आता है, जिनमें पहले कुरुन्दी और महापच्चरी आदि सिंहली अट्ठकथाओं के लेखक और बाद में बुद्धदत्त, बुद्धघोष, धम्मपाल आदि आते हैं। जिन ग्रंथों के लेखकों के नामों का पता नहीं है, उनकी भी सूची 'गन्धवंस' कार ने दी है। लेखकों में कौन से भारतवासी थे, या कौन से लंकावासी थे, या कौन से बरमी, किसने रचना अपनी प्रेरणा से की; या किनने दूसरों के अनुरोध से की, इस प्रकार का भी विवरण देकर रचनाओं के रचना-स्थान और रचनोद्देश्य पर प्रकाश डाला गया है। 'गन्धवंस' के प्रणेता वनवासी भिक्षु नन्दपञ्ञ थे। इस ग्रन्थ के प्रत्येक परिच्छेद के अन्त में ग्रन्थ का नाम 'चुल्ल गन्धवंस' दिया गया है। इससे यह अनुमान सही लगता है कि वर्तमान रूप में प्राप्त गन्धवंस एक पूर्वकालीन बृहत् ग्रन्थ का संक्षिप्त संस्करण है। 'गन्धवंस' निर्दिष्ट ग्रन्थकारों और उनके ग्रन्थों की सूची इस प्रकार है—

ग्रन्थकार	रचित ग्रन्थ
१. महाकच्चायन	—(१) कच्चायनगन्धो, (२) महानिरुत्तिगन्धो, (३) चुल्लनिरुत्तिगन्धो (चूलनिरुत्तिगन्धो), (४) नेत्तिगन्धो, (५) पेटकोपदेसगन्धो, (६) वण्णनीतिगन्धो।

है। 'पालि लिटरेचर ऐण्ड लैंग्वेज, पृष्ठ ४८। एक लक्षणीय बात यह है कि 'गन्धवंस' में 'कायविरतिगाथा' नामक पालि काव्य-रचना का उल्लेख है, जो स्वयं सत्रहवीं शताब्दी ईसवी की रचना है। अतः इसके बाद तो 'गन्धवंस' का रचना-काल होना ही चाहिए।

२. बुद्धघोस (बुद्धघोष) —(१) विसुद्धिमग्गो, (२) सुमंगलविलासिनी, (३) —पपंचसूदनी, (४) सारत्थप्पकासिनी, (५) मनोरथ-पूरणी, (६) समन्तपासादिका, (७) परमत्थकथा, (८) कंखावितरणी; (९) धम्मपदट्ठकथा, (१०) जातकट्ठकथा, (११) खुद्दकपाठट्ठकथा; (१२) अपदानट्ठकथा।

३. बुद्धदत्त —(१) विनयविनिच्छयो, (२) उत्तरविनिच्छयो, (३) अभिधम्मावतारो, (४) मधुरत्थविलासिनी।

४. आनन्द —मूलटीकं

५. धम्मपाल —(१) नेत्तिपकरणट्ठकथा, (२) इतिवुत्तक-अट्ठकथा; (३) उदानट्ठकथा, (३) चरियापिटक-अट्ठकथा; (५) थेरगाथा-अट्ठकथा, (६) विमानवत्थुस्सविम-लविलासिनी नाम अट्ठकथा, (७) पेतवत्थुस्स विमलविलासिनी नाम अट्ठकथा, (८) परमत्थ-मंजूसा, (९) दीघनिकायट्ठकथादीनं चतुन्नं अट्ठ-कथानं लीनत्थप्पकासिनी नाम टीका, (१०) जातक-ट्ठकथाय लीनत्थप्पकासिनी नाम टीका, (११) परमत्थदीपनी, (१२) लीनत्थवण्णना।

६. महावजिरबुद्धि (महावज्रबुद्धि) —विनय-गण्ढि (विनय-गण्ठि या विनय-गन्थि भी)

७. विमलबुद्धि —मुखमत्तदीपनी।

८. चुल्लवजिरो[1] —अत्यब्धख्यानं।[2]

९. दीपंकरो[3] —(१) रूपसिद्धिपकरणं, (२) रूपसिद्धिटीकं-सुम्म-पञ्चसुत्तं।

१०. चुल्लधम्मपालो —सच्चसंखेपं।

११. कस्सपो —(१) मोहविच्छेदनी, (२) विमतिच्छेदनी, (३) बुद्धवंस, (४) अनागतवंस।

१.–२. परन्तु 'गन्धवंस' में ही अन्यत्र (पृष्ठ ७०) 'अत्यब्याख्यानं' को चूल विमलबुद्धि (या चुल्ल विमलबुद्धि) की रचना बताया गया है। यह असंगति है।

३. यह वास्तव में 'बुद्धप्पिय दीपङ्कर' ही हैं, क्योंकि 'रूपसिद्धिपकरणं' के अन्त में उन्होंने अपना यही पूरा नाम दिया है।

१२. महानाम —(१) सद्धम्मप्पकासिनी, (२) महावंस, (३) चुल्ल-वंस।

१३. उपसेन —सद्धम्मट्ठितिकं[1]।

१४. मोग्गल्लान —मोग्गल्लान व्याकरणं।

१५. संघरक्खित —सुबोधालंकार।

१६. वुत्तोदयकार —(१) वुत्तोदय, (२) सम्बन्ध-चिन्ता, (३) नवटीकं।

१७. धम्मसिरि (धर्मश्री) —खुद्द-सिक्खं।

१८. अनुरुद्ध —खुद्द-सिक्खं।

१९. अनुरुद्ध —(१) परमत्थविनिच्छयं, (२) नाम-रूप-परिच्छेदं, (३) अभिधम्मत्थसंगहप्पकरणं।

२०. खेम —खेमं।

२१. सारिपुत्त— —(१) सारत्थदीपनी, (२) विनयसंगहपकरणं, (३) सारत्थमंजूसं, (४) पञ्चकं।

२२. बुद्धनाग —विनयत्थमंजूसं।

२३. नव मोग्गल्लान —अभिधानप्पदीपिकं।

२४. वाचिस्सरो —(१) सम्बन्धचिंताटीका, (२) मोग्गल्लान व्याकरणस्स टीका, (३) नामरूपपरिच्छेदटीका, (४) पदरूपविभावनं, (५) खेमप्पकरणस्स टीका, (६) मूलसिक्खाय टीका, (७) वुत्तोदयविवरणं, (८) सुमंगलपसादनी, (९) बालावतारो, (१०) योगविनिच्छयो।

---

१. सासनवंस में इसे 'सद्धम्मप्पज्जोतिका' कह कर पुकारा गया है। सिंहल में यह प्रायः इसी नाम से प्रसिद्ध है। देखिये मललसेकर: दि पालि लिटरेचर ऑफ सिलोन, पृष्ठ ११७। 'सासनवंस' में उपसेन की रचना 'महानिद्देसट्ठकथा' बतायी गयी है। "महानिद्देसट्ठकथं उपसेनो नाम थेरो अकासि।" पृष्ठ ३१ (देवनागरी संस्करण)। अन्यत्र इसी ग्रन्थ में (पृष्ठ १३६—देवनागरी संस्करण) में इस 'महानिद्देस की अट्ठकथा' को ही 'सद्धम्मप्पज्जोतिका' कहकर पुकारा गया है। "सद्धम्मप्पज्जोतिकाय नाम महानिद्देसट्ठकथाय।" इस प्रकार यह स्पष्ट है कि "सद्धम्मट्ठितिकं (जो सद्धम्मट्ठितिका भी कहलाती है) महानिद्देस की अट्ठकथा है और यही 'सद्धम्मप्पज्जोतिका' भी कहलाती है, जैसा हम ऊपर कह चुके हैं।

(११) सीमालंकार; (१२) रूपारूपविभाग, (१३) पच्चयसंगहो।

२५. सुमंगल —(१) अभिधम्मत्थविकासनी, (२) अभिधम्मत्थ-विभावनी।

२६. धम्मकित्ति —दन्तधातुपकरणं।

२७. मेधंकरो —जिनचरितं।

२८. सद्धम्मसिरि —सद्दत्थभेदचिन्ता।

२९. देवो —सुमणकूटवण्णना।

३०. चुल्लवुद्धघोसो —(१) जातत्तगीनिदानं, (२) सोतत्तगीनिदानं।

३१. रट्ठपाल —मधुरसवाहिनी।

३२. अग्गवंस —सद्दनीतिपकरणं।

३३. विमलवुद्धि —महाटीकं।

३४. उत्तम —(१) बालावतारटीकं; (२) लिंगत्थविवरणटीकं।

३५. क्यच्वारञ्ञो —(१) सद्दविन्दु, (२) परमत्थबिन्दुपकरणं।
(राजा क्यच्वा) —बरमी राजा शासन-काल १२२७-१२९८ ई०—क्यस्वा भी।

३६. सद्धम्मगुरु —(१) सद्दवुत्तिपकासकं, (२) निरुत्तिसारमञ्जूसा

३७. अग्गपण्डित[1] —लोकुप्पत्ति।

३८. सद्धम्मजोतिपाल[2] — (१) सीमालंकारस्स टीका, (२) मातिकत्थदीपनी, (३) विनयसमुट्ठानदीपनी, (४) गन्धसारो, (५) पट्ठानगणनानयो, (६) संखेपवण्णना, (७) सुत्तनिद्देसो, (८) पातिमोक्ख-विसोधनी।

३९. नवविमलवुद्धि —अभिधम्मपण्णरसट्ठानं।

४०. वेपुल्लवुद्धि —(१) सद्दसारत्थजालिनिया टीका; (२) वुत्तोदयटीका; (३) परसत्यमंजूसा, (४) दसगण्ढिवण्णना (या दसगण्ठिवण्णना); (५) मगधभूताविदगं।

---

१. यह महाकच्चायन-कृत 'महानिरुत्ति' और 'चूलनिरुत्ति' (जो दोनों मिलकर 'निरुत्ति' भी कहलाती हैं) की टीका है।

२. अर्थात् छपद या छपट।

(६) विदधिमुखमंडनटीका[1] (या दसगण्ठिवण्णना)।

४१. अरियवंस —(१) मणिसारमंजूसं; (२) मणिदीपं, (३) गन्धाभरणं (गन्थाभरणं); (४) महानिस्सरं, (५) जातकविसोधनं।

४२. चीवरो —जंघदासस्स टीकं।

४३. नवमेघंकरो —लोकदीपकसारं।

४४. सारिपुत्तो —सद्दवुत्तिपकासकस्स टीकं।

४५. सद्धम्मपाल —सद्धवुत्ति (सद्दवुत्तिपकासकं)।

४६. धम्मसेनापति —(१) कारिकं, (२) एतिमासमिदीपकं, (३) मनोहरं

४७. ञाणसागरो (ज्ञानसागर) —लिंगत्थविवरणपकासनं।

४८. अभय —सद्दत्थभेदचिन्ताय महाटीकं।

४९. गुणसागरो —मुखमत्तसारं तट्टीकं।

५०. सुमूतचन्दन —लिंगत्थविवरणपकरणं।

५१. उदुम्बरनामाचरियो—पेटकोपदेसस्स टीकं।

५२. उपतिस्साचरिय —अनागतसवंसस्स अट्ठकथा।

५३. बुद्धप्पिय —सारत्थसंगहनाम गन्धो।

५४. धम्मानन्दाचरिय —(१) कच्चायनसारो, (२) कच्चायनभेदं, (३) कच्चायनसारस्स टीका।

५५. गन्धाचरियो —कुरुन्दिगन्ध।

५६. नागिताचरिय —सद्दसारत्थजालिनी।

उपर्युक्त ग्रन्थकारों और उनके ग्रन्थों के अलावा नीचे लिखे ग्रन्थ भी निर्दिष्ट हैं; जिनके ग्रन्थकारों के नाम आदि के विषय में कुछ नहीं कहा गया।

(१) महापच्चरियं; (२) पुराणटीका; (३) मूलसिक्खाटीका; (४) लीनत्थप्पकासिनी (यह पूर्वोक्त आचार्य धम्मपाल-'कंखा' कृत इसी नाम की दो टीकाओं से भिन्न है। कदाचित् यह वितरणी की टीका थी); (५) निसन्देहो ,(६) धम्मानुसारिणी; (७) ञेय्यासन्दति; (८) ञेय्यासन्दतिया टीका, (९) सुमहावतारो

---

१. या 'विदग्धमुखमण्डन-टीका'। 'विदग्धमुखमण्डन' के लेखक धर्मदास थे, जिनका समय 'विदग्धमुखमण्डन-टीका' के लेखक वेपुल्लबुद्धि (चौदहवीं शताब्दी) से पूर्व ही होना चाहिये।

(१०) लोकपञ्ञत्तिपकरणं[१] (११) तथागतुप्पत्तिप्पकरणं, (१२) नलातधातु वण्णना, (१३) सीहलवत्थु[२] (१४) धम्मदीपको, (१५) पटिपत्ति-संगहो, (१६) विसुद्धिमग्गगन्धि[३] (या विसुद्धि मग्गगण्ठि), (१७) अभिधम्मगन्ध (या अभिधम्मगण्ठि), (१८) नेत्तिपकरणगन्धि (या नेत्तिपकरणगण्ठि), (१९) विसुद्धिमग्गचुल्लनव टीका, (२०) सोतप्पमालिनी, (२१) पसादजननी, (२२) सुबोधालंकारस्स नवटीका, (२३) गूल्हत्थटीकं, (२४) बालप्पबोधनं, (२५) सद्दत्थभेदचिन्ताय मज्झिमटीकं, (२६) कारिकाय टीकं, (२७) एतिमासमिदीपिकाय टीकं, (२८) दीपवंस, (२९) थूपवंस, तथा (३०) बोधिवंस। उपर्युक्त ग्रन्थों और ग्रन्थकारों में से अधिकांश का विवेचन पिछले पृष्ठों में किया जा चुका है और कुछ का आगे किया जायगा। निश्चय ही 'गन्धवंस' की सूचीबद्ध सामग्री पालि साहित्य के इतिहासकार के लिए बड़ी सहायक है।

संगीतिवंस

जैसा हम पहले देख चुके हैं, संगीतिवंस की रचना थाई-देश में अठारहवीं शताब्दी (सन् १७८९ ई०) में हुई। इसके लेखक भदन्त वनरतन (सोमदेज फ्र वनरतन) थे। थाई देश में रचित यह एक महत्त्वपूर्ण वंश ग्रन्थ है।

सासनवंस[४]

'सासनवंस' (शासन-वंश) भी 'गन्धवंस' के समान एक महत्त्वपूर्ण रचना है। यह गद्य में है। इसका प्रणयन उन्नीसवीं शताब्दी (सन् १८६१ ई०) में बरमा में

---

१. मेबिल बोड ने इसे थातोन् के सद्धम्मघोस नामक भिक्षु की रचना बताया है, परन्तु उनके समय को निश्चित नहीं किया है। देखिये उनकी पुस्तक 'दि पालि लिटरेचर ऑफ बरमा', पृष्ठ १०४, पद-संकेत ७।

२. सम्भव है इससे अभिप्राय 'गन्धवंस' कार का प्राचीन 'सीहलट्ठकथा' से रहा हो।

३. बरमी ग्रन्थ 'पिटकत्थमेन्' में इसे छपट (छपद) की रचना बताया गया है। देखिये मेबिल बोड : दि पालि लिटरेचर ऑफ बरमा, पृष्ठ १९। इसमें 'विसुद्धिमग्ग' के कठिन शब्दों के अर्थ हैं। देखिये पीछे आठवें अध्याय में इस प्रसिद्ध टीका-ग्रन्थ का कुछ परिचय भी।

४. मेबिल बोड द्वारा रोमन लिपि में सम्पादित, पालि टैक्स्ट सोसायटी लन्दन, १८९७। देवनागरी लिपि में डॉ० चन्द्रिका सिंह उपासक द्वारा सम्पादित

हुआ। यह बरमी भिक्षु पञ्ञसामि या पञ्ञासामि (पञ्ञासामी) (प्रज्ञास्वामी) की रचना है। प्राचीन पालि साहित्य पर आधारित होने के कारण इसका बड़ा महत्त्व है। 'सासनवंस', जैसा उसके शीर्षक से स्पष्ट है, बुद्ध-शासन का इतिहास है। बुद्ध-काल से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी तक स्थविरवाद बौद्ध धर्म के विकास का इस ग्रन्थ में वर्णन है। 'सासनवंस' में दस परिच्छेद हैं। विशेषतः छठा परिच्छेद अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस परिच्छेद में बरमा में बौद्ध धर्म के विकास का वर्णन किया गया है। 'सासनवंस' का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण भाग यही है। वैसे इस ग्रन्थ में बुद्ध की जीवनी तथा अजातशत्रु, कालाशोक और धर्माशोक के समय में हुई तीन बौद्ध संगीतियों आदि के भी वर्णन हैं। तृतीय बौद्ध संगीति के बाद मोग्गलिपुत्त तिस्स द्वारा धर्मोपदेशकों को देश-विदेश में भेजने का विवरण यहाँ दिया गया है।

ग्रन्थ के प्रथम परिच्छेद में बुद्ध भगवान् की संक्षिप्त जीवनी है; तीन संगीतियों का वर्णन है और ग्रन्थ के परिच्छेदों की विषय-वस्तु का संक्षिप्त निर्देश है। दूसरे परिच्छेद से लेकर दसवें परिच्छेद तक क्रमशः इन-इन देशों में बुद्ध-शासन के प्रचार का वर्णन है, जैसे कि सिहल देश, सुवर्णभूमि, यवनक राष्ट्र, बनवासी राष्ट्र, अपरान्त राष्ट्र (अपरन्त रट्ठ), कश्मीर-गन्धार राष्ट्र, महिषराष्ट्र (महिंसक रट्ठ), महाराष्ट्र और चीन राष्ट्र। इस सम्बन्ध में ग्रन्थ की मुख्य विशेषता बरमा में बौद्ध-धर्म के प्रचार की कथा का वर्णन करना है। 'अपरन्त रट्ठ' को 'सुनापरन्त' से अभिन्न बताया गया और उसे बरमा ('मरम्म-मण्डल') में ही स्थित बताया गया है। "अपरन्तरट्ठं च नाम अम्हाकं मरम्ममण्डले सुनापरन्तं येव।"[1] इसलिये बरमा में बुद्ध-शासन के प्रचार का वर्णन करने से पूर्व लेखक ने संगीतिपूर्वक कहा है, "इदानि पन मरम्ममण्डले अपरन्तरट्ठे सासनवंसं वक्खामि।"[2] बल्कि एक अन्य जगह (पृष्ठ ४४ में) 'सुनापरन्त' को सम्पूर्ण बरमा राष्ट्र ही मान लिया गया है। "सुनापरन्तसंखातेन मरम्मरट्ठेन।" इसी प्रकार पृष्ठ १५० में भी है "एवं अपरन्तसंखातेन एकदेसेन सकलं पि परम्मरट्ठं गहेत्वा।" सुवर्णभूमि से अभिप्राय

नव नालन्दा महाविहार, १९६१ ई०। डॉ० विमलाचरण लाहा ने 'दि हिस्ट्री ऑफ दि बुद्धाज रिलिजन' शीर्षक से 'सासनवंस' का अनुवाद किया है। लुजाक ऐण्ड कम्पनी, लन्दन, १९५२ ई०।

१. पृष्ठ ५२ (देवनागरी संस्करण)। मिलाइये वहीं "अपरन्तरट्ठं नाम सुनापरन्तरट्ठमेवा ति।" पृष्ठ १०।

२. पृष्ठ ५२ (देवनागरी संस्करण)।

रामण्यराष्ट्र 'रामञ्ञ रट्ठं)' से लिया गया है। "सुवण्णभूमि नाम रामञ्ञ-रट्ठं।"[१] इस प्रकार इस ग्रन्थ में सम्पूर्ण बरमा को रामण्यराष्ट्र कहकर भी पुकारा गया है और साथ ही ऐसा भी कहा गया है कि हंसावती, मुत्तिम (मर्तवान) और सुवर्णभूमि, ये तीनों मिलकर पूरे रामण्यराष्ट्र हैं। "तीणि हि रामञ्ञरट्ठानि होन्ति हंसावती-मुत्तिम-सुवण्णभूमिवसेन, एकदेसेन[२] सब्बं पि रामञ्ञ रट्ठं गहेतब्बं।"

'सासनवंस' के वर्णनानुसार बरमा में बुद्ध-शासन की प्रथम प्रतिष्ठा बुद्ध भगवान् के जीवन में ही हुई। यहाँ कहा गया है कि बुद्ध भगवान् के अभिसम्बोधि प्राप्त करने के बाद सात सप्ताह बीतने पर आषाढ़ मास की शुक्ल पक्ष की पञ्चमी के दिन से ही रामण्यराष्ट्र के उक्लाप जनपद के तपस्सु और मल्लिक को आदि मानकर रामण्यराष्ट्र में बुद्ध-धर्म की प्रतिष्ठा हुई। "तत्थ पन रामञ्ञरट्ठे उक्लापजनपदे तपस्सुमल्लिके आदिं कत्व भगवतो अभिसम्बुज्झित्वा सत्तसत्ताहेसु अतिक्कन्तेसु एव आसाल्हमासस्स जुण्हपक्खपञ्चमदिवसतो पट्ठाय रामण्यरट्ठे सासनं पतिट्ठहि।"[३] इसे रामण्यराष्ट्र में शासन का प्रथम प्रतिष्ठान कहा गया है। "इदं रामञ्ञरट्ठे सासनस्स पठमं पतिट्ठानं अहु।"[४]

तत्पाश्चात् यहाँ गवम्पति थेर (गवाम्पति स्थविर) की कथा विस्तार से दी गयी है और कहा गया है कि मिथिला नगर में उत्पन्न गवाम्पति नामक स्थविर भगवान् की बोधि-प्राप्ति के आठवें वर्ष में उनकी अनुमति से रामण्यराष्ट्र के सुधम्मपुर (आधुनिक थातोन्) नामक नगर में आकाश-मार्ग से आये और यहाँ उन्होंने बुद्ध-शासन की प्रतिष्ठा की। फिर गवाम्पति स्थविर लौट कर भारत गये और भगवान् से बरमा जाने की प्रार्थना की। उनकी प्रार्थना पर स्वयं भगवान् अपनी बोधि-प्राप्ति के आठवें वर्ष में ही रामण्यराष्ट्र के सुधम्मपुर नगर में आकाश-मार्ग से गये और वहाँ अपने दर्शनार्थ आये हुए छह तापसों को उन्होंने छह केश-धातु पूजार्थ दिये। इसके बाद, 'सासनवंस' के वर्णनानुसार, सैंतीस वर्ष बीतने पर, भगवान् के परिनिर्वाण के समय, भगवान् की चिता के स्थान से तेतीस दाँतों को लेकर गवाम्पति स्थविर फिर सुधम्मपुर गये और वहाँ उन्होंने उन पर तेतीस चैत्यों की

---

१. पृष्ठ ३५ (देवनागरी संस्करण)।
२. पृष्ठ ३३ (देवनागरी संस्करण)।
३. ४. सासनवंस, पृष्ठ ३३ (देवनागरी संस्करण)।

स्थापना की। गवाम्पति स्थविर द्वारा किया गया कार्य रामण्य-राष्ट्र में बुद्ध-शासन का द्वितीय प्रतिष्ठान था।[1]

बल्कि उपर्युक्त दोनों तथ्यों के अलावा एक अन्य समय भी 'सासनवंस' में भगवान् का 'अपरन्त रट्ठ' या 'मरम्ममण्डल' में जाना दिखाया गया है, जब कि वें 'मरम्म रट्ठ' के 'सुप्पारक तित्थ' के 'वाणिजगाम' के निवासी चूलपुण्ण और महापुण्ण नामक दो भाइयों पर अनुग्रह करने के लिए वहाँ गये और उनके द्वारा निर्मित 'लोहितचन्दन विहार' को ग्रहण किया तथा वहाँ सात सप्ताह तक ध्यान में बैठे और अनेक लोगों को-देवों और मनष्यों को-धम्म-रस का पान भी कराया।[2] दिया गया है और उसे बुद्ध के बरमा-राष्ट्र में जाने से सम्बद्ध कर दिया गया है, क्योंकि ग्रन्थकार ने पहले ही 'सुनापरन्त' या 'अपरन्त रट्ठ' को बरमा से अभिन्न कर दिया है। स्वभावतः पूर्ण स्थविर की जन्मभूमि 'सुप्पारकपट्टन' नामक नगर यहाँ 'सुप्पारक तित्थ' के रूप में अपरान्त राष्ट्र अर्थात् बरमा में आ गया है। वैसे अन्यत्र पालि स्रोतों के अनुसार अपरान्त को साधारणतः महाराष्ट्र से लेकर गुजरात तक के समुद्र-तट से लगे प्रदेश को अपरान्त माना गया है और वर्तमान थाना और सूरत जिलों को 'सुनापरन्त'। 'थेरगाथट्ठकथा' आदि अट्ठकथाओं में वर्णित पूर्ण स्थविर की कथा को यहाँ 'सासनवंस' में बरमा की ओर मोड़ दिया गया है और एक प्रकार से भौगोलिक विपरिवर्तन ही कर दिया गया है, जैसे कि स्थविर गवाम्पति की कथा में ऐतिहासिक विपरिवर्तन कर दिया गया है। किसी भी हालत में यह नहीं माना जा सकता कि बुद्ध के जीवन-काल में 'गवम्पति' नाम के उनके दो भिक्षु शिष्य थे, जिनमें से एक बरमा गये। इसी प्रकार स्थविर पूर्ण से सम्बद्ध 'सुनापरन्त' को बरमा देश नहीं माना जा सकता। तृतीय धर्म-संगीति के बाद सो और उत्तर नामक स्थविरों द्वारा सुवर्णद्वीप में जो धर्म-प्रचार किया गया, उसे यहाँ बरमा में बुद्ध-शासन का तृतीय प्रस्थान कहा गया है। हम पहले देख ही चुके हैं कि सुवर्णभूमि से तात्पर्य 'सासनवंस' में रामण्य-राष्ट्र (बरमा) के तीन भागों में से एक भाग से भी लिया गया है और सम्पूर्ण रामण्यराष्ट्र (बरमा) से भी। इस प्रकार यहाँ वर्णन पालि-अट्ठकथाओं और अन्य 'वंश'-ग्रन्थों के प्रायः समान ही है।

---

१. देखिये सासनवंस, पृष्ठ ३५ (देवनागरी संस्करण)।

२. देखिये सासनवंस, पृष्ठ ५२ (देवनागरी संस्करण)।

हम ऊपर कह ही चुके हैं कि 'सासनवंस' का छठा परिच्छेद उसका कदाचित् सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण भाग है। उपर्युक्त वर्णन के साथ-साथ यहाँ बारहवीं शताब्दी ईसवी से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी ईसवी तक के बरमा में लिखित पालि साहित्य का भी लेखा इस ग्रन्थ के उपर्युक्त परिच्छेद में ही दिया गया है, जो पूरे ग्रन्थ के आधे भाग से कुछ ही कम है। इतना ही नहीं, स्वयं बरमी भाषा में किये गये पालि ग्रन्थों के अनुवादों और बौद्ध धर्म-सम्बन्धी अन्य बरमी कृतियों का उल्लेख भी इस ग्रन्थ के इसी परिच्छेद में है। इस प्रकार बौद्ध बरमी साहित्य की दृष्टि से भी इस ग्रन्थ का बड़ा महत्त्व है। यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि श्रीमती मेबिल बोड ने जो अपना 'पालि लिटरेचर ऑफ बरमा' शीर्षक शोध-निबन्ध लिखा है, वह मुख्यतः 'सासनवंस' में दी गयी सामग्री पर ही आधारित है। बरमा में रचित बौद्ध धर्म-सम्बन्धी लगभग ३०० ग्रन्थों का निर्देश प्रज्ञास्वामी ने 'सासनवंस' में किया है। इन सबका नाम-निर्देश करना भी यहाँ कठिन है। अति संक्षेप में कहा जा सकता है कि बारहवीं शताब्दी में बरमी राजा नरपति सिथु (११६७-१२०२ ई०) के शासन-काल में अरिमद्दन नगर (पगान) में हुए पालि साहित्य-सम्बन्धी रचना-कार्य से प्रारम्भ कर लेखक ने उत्तरोत्तर कालों में हुई बरमी पालि साहित्य की रचनाओं का स्पष्टतः पूर्ण ढंग से विवरण दिया है। इस प्रकार उसने व्याकरण-सम्बन्धी कार्य का भी निर्देश करते हुए अग्गवंस-कृत 'सद्दनीति' की उदार प्रशंसा की है, छपद के 'सुत्त-निद्देस' संखेत वण्णना', 'विनयगूळ्हत्थदीपनी' और 'सीमालंकार' आदि का भी निर्देश किया है और इसी प्रकार सद्धम्मकित्ति के 'एकक्खरकोस' का भी। जेय्यसिङ्घ के पुत्र बरमी राजा क्यच्वा (तेरहवीं शताब्दी ईसवी) का शासन-काल बरमा में, विशेषतः उसके अरिमद्दन नगर (पगान) में, बौद्ध धर्म के इतिहास का स्वर्णयुग ही माना जाता है। उसने 'धम्मराजा' की उपाधि धारण की और स्वयं 'सद्दबिन्दु' व्याकरण लिखा। 'सासनवंस' में कहा गया है कि उक्त बरमी राजा का मन तिपिटक शास्त्र के अध्ययन में ही रमता था। 'तस्स हि चित्तं परियत्तियं येव रमति।"[1] उसकी पुत्री ने, जो स्वयं भी पालि स्वाध्याय में रत रहती थी, 'विमत्यत्थ' लिखा। इस युग के अन्य अनेक लेखकों की पालि रचनाओं का भी विवरण 'सासनवंस' में दिया गया है। अरिमद्दन नगर में स्त्रियों को भी पालि पढ़ने में कितनी रुचि थी, इसे लेखक ने अनेक उदाहरण देकर सुरुचिपूर्ण ढंग से दिखाया है। ग्रन्थकार का कहना हैं कि पूर्वकाल में अरिमद्दन नगर में स्त्रियाँ भी ग्रन्थ पढ़ती थीं और उन्हें कण्ठस्थ करती थीं। "पुब्बे

---

१. सासनवंसो, पृष्ठ ७३ (देवनागरी संस्करण)।

किर अरिमद्दननगरे मातुगामा पि गन्थं उग्गण्हिसु वाचुग्गतं अकुंस।" अरिमद्दन नगर की स्त्रियों के पारस्परिक सुरुचिपूर्ण, स्वाभाविक संलाप और विशेषतः एक माता के अपनी पुत्री के साथ संलाप को उद्धृत करके लेखक ने दिखाया है कि किस प्रकार उस नगर की स्त्रियाँ "शब्द-शास्त्र में भी अति निपुण" ("सद्दनयेसु अतिकोविदा") होती थीं। क्यच्वा के पुत्र कित्तिसीहसूर (कीर्ति सिंह शूर—राज्यारोहण सन् १३५१ ई०) के शासन-काल में विजयपुर (पन्या) में अनेक ग्रन्थ लिखे गये। कित्तिसीहसूर के एक मन्त्री ने 'अभिधानप्पदीपिका' पर अपनी 'संवण्णना' लिखी और सागू के नागित या कण्टकखिपनागित (खण्टकखिप-नागित) थेर ने 'सद्दसारत्थजालिनी' ('जालिनी') लिखी। कित्तिसीहसूर के शासन-काल में ही 'कच्चायन-वण्णना', 'वाचकोपदेस' और 'सद्दवुत्ति' जैसे ग्रन्थ लिखे गये, जिनका 'सासनवंस' में विवरण है। जेय्यपुर (सेगेंग—इरावदी ('एरावती') नदी के तीर पर नगर) में भी अनेक राजाओं के शासन-काल में पालि साहित्य की रचना की लक्षणीय गति रही, जिसका इस ग्रन्थ में वर्णन है। सिरि सुधम्मराजाधिपति के शासन-काल (पन्द्रहवीं शताब्दी में थेर सीलवंस ने 'सुमेधकथा' का गाथाबद्ध रूपान्तर किया और रट्ठसार ने 'भूरिदत्त-जातक', 'हत्थिपाल-जातक' और 'संवर-जातक' की कथाओं को पद्यबद्ध रूप दिया। तदनन्तर सोलहवीं शताब्दी में भिक्षु सद्धम्मकित्ति के साहित्यिक कार्य का परिचय दिया गया है और अठारहवीं शताब्दी में बौद्ध धर्म और पालि साहित्य के महान् संरक्षक राजा बो दो पया (बुद्धप्रिय) के शासन-काल में पालि-रचना सम्बन्धी कार्य का विवरण देते हुए ञाणाभिवंस की रचनाओं का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है।

उपालि से लेकर मोग्गलिपुत्त तिस्स तक के विनयाचार्यों की परम्परा का भी उल्लेख सासनवंस में है। इस प्रकार यहाँ 'थेरपरम्पराकथा' में कहा गया है, "सम्मा सम्बुद्धस्स हि भगवतो सद्धिविहारिको उपालित्थेरो, तस्स सिस्सो दासक-थेरो; तस्स सिस्सो सोणकथेरो, तस्स सिस्सो सिग्गवथेरो चण्डवज्जिथेरो च, तेमं सिस्सो मोग्गलिपुत्ततिस्सथेरो।"[1] यह थेर-परम्पराक्रम सम्पूर्ण स्थविरवाद-परम्परा के अनुसरण पर ही है।

'सासनवंस' के रचयिता प्रज्ञास्वामी तत्कालीन बरमी संघराज ञेढधम्मा-भिवंस के मुख्य शिष्य थे। इस ञेय्यधम्माभिवंस संघराज ने सिंहली भिक्षु महानाम-कृत 'सद्धम्मविलासिनी' (पटिसम्भिदमग्ग' की अट्ठकथा) का और

---

१. सासनवंसो, पृष्ठ १२ (देवनागरी संस्करण)।

सिंहली भिक्षु उपसेन-कृत 'सद्धम्मप्पज्जोतिका' ('महानिद्देस' की अट्ठकथा) का भी बरमी भाषा में अनुवाद किया था। स्वयं प्रज्ञास्वामी ने भी 'सासनवंस' के अतिरिक्त अन्य कई ग्रन्थ लिखे, जिनका 'सासनवंस' में उल्लेख है, जैसे कि (१) 'सद्दत्थभेदचिन्ता' (बारहवीं शताब्दी के बरमी भिक्षु सद्धम्मसिरि-कृत व्याकरण-ग्रन्थ) पर लिखे गये 'गण्ठिपदवण्णना' ('सद्दत्थभेदचिन्ता' में आये कठिन शब्दों की व्याख्या) का बरमी भाषा में अनुवाद किया। (२) 'अभिधानप्प-दीपिका' की व्याख्या की और उसका बरमी भाषा में अनुवाद भी किया। (३) 'नागराजुप्पत्तिकथा' नामक काव्य-ग्रन्थ लिखा, जिसमें सन् १८५७ में हुई माण्डले नगर (रतनपुण्ण नगर) की स्थापना का वर्णन है। (४, ५) 'सीलकथा' और 'उपायकथा', जो दोनों नैतिक ग्रन्थ हैं। (६) अक्खरविसोधनी—यह पालि में वर्तनीविधान पर पुस्तक है और शुद्ध अक्षर-लेखन की विधि बतायी गयी है। (७) 'सद्दनीति' व्याकरण पर 'संवण्णना' नाम से एक व्याख्या लिखी। (८) 'सद्दत्थभेद-चिन्ता' व्याकरण-ग्रन्थ की व्याख्या 'गंठिपदत्थवण्णना' का बरमी भाषा में अनुवाद किया। "सद्दनीतिया संवण्णनं पालिभासाय अकासिं।"[१] (८, ९, १०) 'निरय-कथा दीपक', 'आपत्ति विनिच्छय' और 'राजसेवकदीपनी' जैसे ग्रन्थ भी लिखे, जो अल्प महत्त्व के हैं। (११) 'उपोसथ-विनिच्छय' नामक एक रचना उन्होंने उपासकों के लिए भी लिखी। (१२) इसी प्रकार 'विवाद-विनिच्छय' नामक उनकी एक रचना का भी उल्लेख है, जिससे तात्पर्य कदाचित् 'सीमा-विवाद-विनिच्छय' से ही है।

वरमी राजा सिरिमहासीह सूरसुधम्मराजा (श्री महासिंह शूर सुधर्मराज) के समय (सत्रहवीं शताब्दी) में भिक्षु-संघ में हुए पारुपण (चीवर को दोनों कन्धों को ढँककर ओढ़ना) और एकंसिक (एक दाहिने) कन्धे को खोलकर रखते हुए चीवर को ओढ़ना) सम्बन्धी विवाद हुआ, जिसका निर्देश इस ग्रन्थ में किया गया है। इसी प्रकार विहार-सीमा सम्बन्धी विवाद का उल्लेख किया गया है।

स्थविर प्रज्ञास्वामी पारुपण के पक्षपाती थे। श्रामणेरों को नगर में प्रवेश करते समय किस प्रकार वस्त्र धारण करने चाहिए, इनका उन्होंने उल्लेख किया है। हम पहले बरमा में छपद (बारहवीं शताब्दी) के द्वारा 'सीहल-संघ' की स्थापना का वर्णन कर चुके हैं। प्रज्ञास्वामी इसी के अनुगामी थे। 'सीहल-संघ' की कुछ मान्यताएँ मरम्मत-संघ (बरमी संघ) से नहीं मिलतीं। इस प्रकार, संक्षेप में, बरमी बौद्ध धर्म के विकास, सिंहल के साथ

---

१. सासनवंसो, पृष्ठ १४१ (देवनागरी संस्करण)।

इसके धार्मिक सम्बन्ध एवं बरमी राजाओं और भिक्षु-संघ के पारस्परिक सम्बन्ध आदि को जानने के लिए 'सासनवंस' का आज के विद्यार्थी के लिए भी प्रभूत महत्त्व है। बुद्ध-जीवनी और संगीतियों तथा अशोक के काल में मोग्गलिपुत्त तिस्स के द्वारा किये गये धर्म-प्रचार आदि के विवरण के लिए वह दीपवंस; महावंस तथा समन्तपासादिका आदि पर आधारित है, इसमें सन्देह नहीं। तृतीय संगीति के बाद जिन-जिन देशों में भारतीय बौद्ध भिक्षु उपदेश करने के लिए भेजे गये, उनके विवरणों में 'दीपवंस' और 'महावंस' की अपेक्षा यहाँ कुछ विभिन्नता भी है। उदाहरणतः अपरान्त राष्ट्र (अपरन्त-रट्ठ) को यहाँ बरमा से अभिन्न माना गया है, यह हम ऊपर देख ही चुके हैं। 'महाराष्ट्र' (महारट्ठ) को 'सासनवंस' के लेखक ने स्याम राष्ट्र (थाई देश) माना है। "महारट्ठं सियामरट्ठं ति पि वदन्ति आचरिया।"[१] 'महिंसक-मण्डल' को आन्ध्र राष्ट्र माना गया है। "महिंसकमण्डलं नाम अन्धकरट्ठं।"[२] पालि-अट्ठकथाओं में तृतीय संगीति के बाद हिमवन्त-प्रदेश (हिमालय-प्रदेश) में स्थविर मध्यम (मज्झिम) के द्वारा बुद्ध-धर्म के प्रचार किये जाने का उल्लेख है। हिमवन्त-प्रदेश के स्थान पर यहाँ 'सासनवंस' में स्पष्टतः चीन राष्ट्र का ही उल्लेख किया गया है और उसकी स्थिति के बारे में भी साफ तौर पर बता दिया गया है, "चीनरट्ठं नाम हिमवन्तेन एकाबद्धं हुत्वा ठितं चीनरट्ठं येवा ति।"[३] इस प्रकार यहाँ विशदतर वर्णन ही है; कोई असंगति या विभिन्नता नहीं, ऐसा कहा जा सकता है। सबसे बड़ी विचित्र बात तो यहाँ स्थविर गवाम्पति को बरमा में बुद्ध-शासन के प्रचार से जोड़ना ही है; जो बात न पालि तिपिटक में आती है, न कहीं अट्ठकथाओं में और न 'वंश' ग्रन्थों में ही। फिर यह बात 'सासनवंस' कार ने कहाँ से ली? ऐसा माना जाता है कि किसी प्राचीन शिलालेख पर आधारित 'राजवंस' नामक ग्रन्थ का आश्रय यहाँ लिया गया है। परन्तु न तो उस प्राचीन शिलालेख का ही कुछ पता चलता है और न 'राजवंस' नामक ग्रन्थ के कर्ता या उसके काल का ही कुछ निश्चित रूप से पता है। ऐसा माना जाता है कि 'राजवंस' या 'राजवंससंखेप' नामक रचना सत्रहवीं शताब्दी ईसवी से ही बरमा में प्रचलित चली आ रही थी और उसके लेखक उस शताब्दी के प्रसिद्ध बरमी विद्वान् अग्गधम्मालंकार नामक भिक्षु थे। परन्तु कुछ विद्वान् 'राजवंस' को उन्नीसवीं शताब्दी की ही रचना मानते

---

१. सासनवंसो, पृष्ठ ११ (देवनागरी संस्करण)।

२. सासनवंसो, पृष्ठ ११।

३. वही, पृष्ठ ११ (देवनागरी संस्करण)।

हैं, जो सन् १८३० ई० में अर्थात् 'सासनवंस' के रचना-काल से सिर्फ ३१ वर्ष पूर्व लिखी गयी। कुछ भी हो, उसी के आधार पर 'सासनवंस' में बुद्ध के भिक्षु-शिष्य स्थविर गवाम्पति (गवम्पति) को बुद्ध के जीवन-काल में ही बरमा में जाते और वहाँ शासन का प्रचार करते दिखाया गया है, जिसका अन्यत्र कहीं उल्लेख पालि साहित्य में नहीं है। इस प्रकार अन्य कई तथ्य भी हैं जो 'सासनवंस' में वर्णित हैं और जिनके लिए 'सासनवंस' कार ने 'राजवंस' का आश्रय लिया है। वें उतने प्रामाणिक नहीं माने जा सकते। कुल मिलाकर बरमी भिक्षु-संघ की दृष्टि से और उस देश में रचित पालि-साहित्य के प्रामाणिक विवरण की दृष्टि से भी इस ग्रन्थ का प्रभूत धार्मिक, ऐतिहासिक और साहित्यिक महत्त्व है, इसमें सन्देह नहीं।

सासनवंसदीप

यह एक पद्यबद्ध रचना है, जो श्रीलंका में उन्नीसवीं शताब्दी में लिखी गयी। इसके लेखक आचार्य विमलसारतिस्स थेर हैं जो संक्षेप में आचार्य विमलसार थेर भी कहलाते हैं। ग्रन्थ के अन्त में उन्होंने अपना नाम 'आचरिय विमलसारत्थेर' दिया है, परन्तु ग्रन्थ के शीर्षक में लेखक के रूप में 'विमलसार तिस्स थेर' नाम दिया हुआ है।' 'सासनवंसदीप' का पहला सिंहली संस्करण सन् १८८० में कोलम्बो से प्रकाशित हुआ था और दूसरा संस्करण वहीं से सन् १६२६ (बुद्धाब्द २४७३) में निकला, जिसे लेखक की इच्छानुसार बिना मूल्य, विद्वानों में वितरित किया गया। 'सासनवंसदीप' ('सासनवंसदीपो') एक महत्त्वपूर्ण काव्य-रचना है, जिसका रूप 'वंश' ग्रन्थों जैसा है। इसमें कुल १६७१ गाथाएँ हैं, जो बारह 'अधिकारों' (परिच्छेदों) में विभक्त हैं। प्रथम 'अधिकार' में सुमेध तापस के रूप में बोधि-सत्त्व के जीवन से लेकर तुषित-भवन में उनकी उत्पत्ति तक का वर्णन है। द्वितीय 'अधिकार' में जन्म से लेकर महाभिनिष्क्रमण तक बोधिसत्त्व के जीवन का वर्णन है। तृतीय 'अधिकार' में अनोमा नदी के तीर पर बोधिसत्त्व के पहुँचने से लेकर क्रमशः उनकी तपश्चर्या, मार-विजय, बोधि-प्राप्ति, उसके बाद के सात सप्ताह, धर्मचक्र प्रवर्तन, यश-प्रव्रज्या, सहस्र जटिल-प्रव्रज्या, अग्गसावक-प्रव्रज्या, कपिल-वस्तुपुर-प्रवेश, राहुल कुमार-प्रव्रज्या और भगवान् के आयुसंस्कारोत्सृजन का वर्णन है। चौथे 'अधिकार में जेतवन-विहार-प्रवेश, सारिपुत्र-मौद्गल्यायन-परिनिर्वाण, बुद्ध-परिनिर्वाण और स्तूप-निर्माण का वर्णन है। पाँचवें, छठे और सातवें, 'अधिकारों' में क्रमशः प्रथम, द्वितीय और तृतीय धर्म-संगीतियों के वर्णन हैं। आठवें 'अधिकार' में कश्मीर-गन्धार, वनवासि-राष्ट्र, अपरान्त-राष्ट्र,

महाराष्ट्र, यवनक राष्ट्र (योनक रट्ठ) आदि में बुद्ध-शासन के प्रचार की कथा है। नवें 'अधिकार' में श्रीलंका में बुद्ध-शासन की प्रतिष्ठा का वर्णन है। दसवें 'अधिकार' में राजा देवानंपिय तिस्स और महा महेन्द्र स्थविर के परिनिर्वाण का वर्णन है और श्रीलंका में पालि तिपिटक के लेखबद्ध किये जाने की कथा है। ग्यारहवें 'अधिकार' में बुद्धघोष महास्थविर द्वारा अट्ठकथाओं के मागधी भाषा में अनुवाद की कथा ('बुद्धघोसत्थेरस्स अट्ठकथानं मागधाय परिवत्तनादिकथा') है और तदनन्तर अन्य लेखकों की पालि रचनाओं का ब्यौरा है, जिसमें लेखकों के नाम और उनके द्वारा लिखित पुस्तकों के शीर्षक दिये गये हैं। इस प्रकार बुद्धघोष से लेकर लंका-नरेश पण्डित पराक्रमबाहु के समय तक के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थकारों का विवरण यहाँ आ गया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि 'ससनवंसदीप' का यह ग्यारहवाँ 'अधिकार' जो ११५८वीं गाथा से १२७० संख्या तक की गाथा तक है, साहित्यिक दृष्टि से इस ग्रन्थ का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण अंश है। हम पहले देख ही चुके हैं कि इसी प्रकार 'सासनवंस' का भी वह अंश अतिशय महत्त्वपूर्ण है जिसमें बरमा में लिखित पालि ग्रन्थों और उनके रचयिताओं का विवरण दिया गया है। 'गन्धवंस' के साथ मिल कर ये सब अंश पालि साहित्य के इतिहास की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं और विशेषतः वे उत्तर-काल में बरमा और श्रीलंका में लिखित पालि-साहित्य की जानकारी के लिए अनिवार्य ही है।

'सासनवंसदीप' के बारहवें अध्याय में 'सासनपतिट्ठापनादिकथा' है और श्रीलंका में असिग्गह सिलामेघ के समय से लेकर 'अमरपुर निकाय' की शासन-प्रतिष्ठा तक संघ की 'सोधापनादिकथा' है, अर्थात् इस समय के बीच संघ में जो संशोधन और सुधार हुए, उनका वर्णन है।

ऊपर हमने पालि के वंश-साहित्य का संक्षिप्त विवरण दिया है, जो लंका और बरमा में लिखा गया था। इसी प्रकार थाई देश में लिखे गये 'संगीति-वंस' का भी कुछ परिचय हमने दिया है। इन सब देशों के साथ वंश-साहित्य ने भारतीय धर्म और संस्कृति के सम्बन्ध जोड़े हैं। विशेषतः सिंहल के भाषा और साहित्य के विकास पर पालि वंश-साहित्य का बड़ा प्रभाव है। यह इस तथ्य से हम जान सकते हैं कि अनेक पालि वंश-ग्रन्थों के पालि और सिंहली दोनों ही संस्करण मिलते हैं, कुछ पालि वंश-ग्रन्थों के मूल सिंहली में हैं और कुछ उत्तरकालीन सिंहली वंश-ग्रन्थ पालि वंश-ग्रन्थों पर आधारित हैं। इस प्रकार के उत्तरकालीन सिंहली वंश-

ग्रन्थ हैं, धातुवंस,[१] दळदा पूजावली,[२] निकाय-संग्रह,[३] सद्धर्मरत्नाकर,[४] राजरत्नाकर[५] और राजावली[६] (राजावलिय) आदि। इस प्रकार यह आदान-प्रदान हुआ है और लंका की लोकभाषा पालि से प्रभावित और विकसित हुई है। विधि-शास्त्र (धर्म-शास्त्र), व्याकरण और अभिधम्म के क्षेत्र में किस प्रकार वरमी भाषा पालि से समृद्ध हुई है, यह हम पहले देख ही चुके हैं। इन विषयों में अनेक ग्रन्थों के

---

१. 'धातुवंस' पालि 'नळाटधातुवंस' के आधार पर लिखा गया है। बल्कि इसका सिंहली अनुवाद ही है। इसके रचयिता सिंहली स्थविर ककुसन्ध थे, जिनका समय निश्चित नहीं है।

२. 'दळदा पूजावली' (पूजावलिय) पालि 'दाठावंस' पर आधारित है। वह तेरहवीं शताब्दी की रचना है। इसके लेखक मयूरपाद नामक सिंहली स्थविर-थे, जो 'चूलवंस' के रूप में 'महावंस' के प्रथम परिवर्द्धनकर्ता स्थविर धम्मकित्ति (धमकीर्ति) के समकालिक थे।

३. 'निकाय-संग्रह' एक महत्त्वपूर्ण सिंहली वंश-ग्रन्थ है, जो चौदहवीं शताब्दी ईसवी में लिखा गया। इसमें आदि काल से लेकर तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी ईसवी तक सिंहली भिक्षु-संघ का इतिहास है। इसके लेखक जयबाहु नामक महा-थेर थे, जो देवरक्खित भी कहलाते थे और जिन्हें कभी-कभी धम्मकित्ति सङ्घराज थेर से भी अभिन्न कर दिया जाता है, जिन्होंने 'बालावतार' व्याकरण की रचना की और सिंहली भाषा में 'सद्धर्मालङ्कार', ('सद्धर्मालङ्कारय'—सिंहली भिक्षु वैदेह स्थविर-कृत 'रसवाहिनी' का सिंहली अनुवाद) लिखा और दस पारमिदों (पारमिताओं) पर 'पारमी महासतक' नाम से सौ गाथाओं में एक शतक-काव्य भी पालि भाषा में लिखा, जो 'जातक' और 'चरियापिटक' पर आधारित है और जिसमें इस परिमिताओं के वर्णन के साथ-साथ विक्रमबाहु तृतीय के मन्त्री अलकेश्वर की प्रशंसा भी है।

४. यह बौद्ध धर्म का इतिहास है, जो 'निकाय-संग्रह' के कुछ समय पश्चात् लिखा गया। यह सङ्घराज श्री राहुल के समकालिक धम्मदिन्न विमल कित्ति नामक भिक्षु की रचना है।

५. यह एक सिंहली वंश-ग्रन्थ है और सोलहवीं शताब्दी के मध्य भाग में लिखा गया।

६. राजावली (राजावलिय) या 'राजावली संग्रह' अठारहवीं शताब्दी ईसवी के आदि भाग में लिखा गया। इसमें कीर्ति श्री राजसिंह तक के सिंहली इतिहास का वर्णन है।

बरमी और पालि संस्करण साथ-साथ मिलते हैं; यह बात इनके गहरे सम्बन्ध की द्योतक है। इसी प्रकार अन्य गहरे सम्बन्धों को, भावात्मक और साहित्यिक प्रभावों को, हम कम्बोदिया (कम्पूचिया) और थाई देश में पालि साहित्य और इन देशों की लोकभाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन से खोज सकते हैं।

'जिनकालमालिनी' ('जिनकालमाली'), 'सद्धम्मसंगह' और 'सासनवंस' जैसे ग्रन्थ स्याम (थाई देश), श्रीलंका और बरमा के पारस्परिक धार्मिक सम्बन्धों को जोड़ने वाले ही नहीं, बुद्ध-शासन के माध्यम से वे बुद्ध धर्म की मूल भूमि भारत को भी इन देशों को जोड़ने वाले हैं। उनके इस व्यापक सांस्कृतिक महत्त्व को भुलाया नहीं जा सकता। 'सद्धम्मसंगह', 'गन्धवंस', 'सासनवंस' और 'सासनवंसदीप' जैसे ग्रन्थों में श्रीलंका, बरमा और कुछ हद तक भारत में भी लिखी गयी उत्तर-कालीन पालि रचनाओं की उनके रचनाकारों-सहित जो सूचनाएँ दी गयी हैं, वे पालि साहित्य के इतिहास की दृष्टि से कितनी महत्त्वपूर्ण हैं, इस पर कोई पुनरुक्ति करने की जरूरत नहीं।

दसवाँ अध्याय

काव्य, व्याकरण, कोष, छन्दः शास्त्र, अभिलेख आदि

पालि काव्य

पालि का काव्य-साहित्य उतना विस्तृत, प्रौढ़ और समृद्ध नहीं है, जितना संस्कृत का या बौद्ध संस्कृत साहित्य का भी। कालिदास या अश्वघोष की-सी काव्य-प्रतिमा यहाँ नहीं मिलती। निश्चय ही यदि काव्य का अर्थ मानव-जीवन के व्यापक, गहन और मार्मिक अनुभवों की, शब्द और अर्थ की निर्व्याज सुन्दरता के साथ (सात्थं सव्यञ्जनं) 'बहुजन हिताय' अभिव्यक्ति ही है, तब तो सम्पूर्ण 'तिपिटक बुद्ध-वचन' ही सर्वोत्तम काव्य हैं। कितना विचार-वैभव, कितना अर्थ गौरव, कितनी उदात्त, भव्य किन्तु सरल शैली! सौमनस्य की अवस्था में निसृतः कितनी ज्ञानमयिक अभिसम्बुद्ध-गाथाएँ! यह भगवान् बुद्धदेव का वह शाश्वत और अनन्त सौन्दर्यमय काव्य है, जिसका जीवन में साक्षात्कार कर लेने पर मनुष्य केलिए जरा और मरण ही नहीं रह जाते। उसके लिए, अथर्ववेद की भाषा में', यह कहना सर्वथा ठीक ही है—'देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति।' जो पवित्र सौन्दर्य हिमगिरि में नहीं हैं, जो निष्पापता उषा में नहीं है, जो गहनता महा समुद्र में नहीं है, संक्षेप में जो काव्यत्व विश्व में अन्यत्र कहीं नहीं है, वह ज्ञानी (बुद्ध) की चर्या में है, तथागत के ईर्यापथ में है, सम्यक् सम्बुद्ध के शब्दों में है। पालि ने इस सब को ही प्रस्फुटित किया है। अतः वह काव्यत्व में हीन है, ऐसा कौन कहेगा? फिर बुद्ध के शिष्य-शिष्याओं के संलाप और गाथाएँ भी हैं, जो बुद्ध के द्वारा अनुमोदित हैं। हम जानते हैं कि बुद्ध के शिष्यों में स्थविर वंगीश एक कवि ही थे और कहा गया है कि उन्हें अर्थ भासित हुआ करते थे। थेर-थेरीगाथाओं में सुन्दर प्रकृति-काव्य और गीति-काव्य हैं। अतः बुद्ध और उनके शिष्यों के वचनों में काव्य है, काव्यत्व का आकर्षण है। परन्तु, फिर भी हम उन्हें 'काव्य' कहना उचित नहीं समझते। जब हम पालि के काव्य-साहित्य का विवेचन करते हैं और

उसे संस्कृत की अपेक्षा कम उन्नत कहते हैं, तो हमारा तात्पर्य तिपिटक-गत काव्य या काव्यत्व से नहीं होता, बल्कि काव्य-शिल्पियों की उन रचनाओं से होता है, जो उन्होंने बौद्ध विषयों को आधार मान कर उत्तर काल में पालि भाषा में की हैं। इस प्रकार की रचनाएँ प्रधानतः लंका और अंशतः बरमा में दसवीं शताब्दी से लेकर पन्द्रहवीं शताब्दी तक और उसके बाद तक भी होती रहीं। इन रचनाओं की विषय-वस्तु तिपिटक से ही ली गयी है। तिपिटक में प्राप्त नमूनों का ही कुछ संशोधन और परिवर्द्धन के साथ छन्दोबद्ध संस्करण कर देना यहाँ कवियों का प्रधान व्यवसाय रहा है। वैसे तो पालि काव्य-ग्रन्थ हैं ही अल्प; और जो हैं, भी उनमें भी किसी महनीय काव्य-परम्परा का प्रवर्तन नहीं मिलता। सब से बढ़कर तो कला के उस सृजनात्मक सौन्दर्य एवं कल्पना के दर्शन यहाँ नहीं होते, जो किसी साहित्य को विशेषता प्रदान किया करते हैं। सम्भवतः इसका कारण यह भी हो कि कल्पनात्मक मनोरोगों के प्रदर्शन को स्थविरवादी बौद्ध परम्परा ने आरम्भ से ही अपनी साधना का अंग नहीं बनाया है। इतना ही नहीं, उसने इसे हेयता की दृष्टि से भी देखा है। विनय-संवृत भिक्षु कभी अपने को आवश्यकता से अधिक अभिव्यक्त नहीं कर सकता। स्वयं तथागत-भाषित सूत्रान्त गम्भीर, गम्भीरार्थ और शून्यता से प्रतिसंयुक्त हैं। उनको काव्य का रूप देना या संगीत की तरह गाना निषिद्ध है। कवि-कृत रचनाओं ('कविताओं') और सामान्यतः काव्य ('कावेय्या') को यहाँ भिक्षु-संघ के लिए एक अनागत-भय बताया गया है। 'विचित्र अक्षरों वाली ('चित्तक्खरा') और 'विचित्र व्यंजनों वाली' ('चित्त व्यंजना') रचनाएँ शून्यता के गहन सिद्धान्त की उपयुक्त वाहक नहीं बन सकतीं, ऐसी यहाँ मूल मान्यता है। जहाँ सत्य ही सबसे स्वादिष्ट रस हो, वहाँ काव्य के नव रस क्या चलेंगे? जहाँ स्वादनीय ही कुछ न हो, वहाँ रस क्या करेंगे? काव्य और काव्य-शास्त्र, दोनों ही बौद्ध साधकों के अध्ययन के क्षेत्र के बाहर हैं। इसलिए काव्य-प्रतिभा को पालि परम्परा में अधिक प्रोत्साहन नहीं मिल सका है। भाषा की दृष्टि से भी पालि के इस काव्य-साहित्य का अधिक महत्त्व नहीं है। पालि साहित्य की प्राचीन मौलिकता के स्थान पर यह साहित्य संस्कृतापेक्षी अधिक हो गया है। अतः पालि साहित्य के इतिहास में उसके काव्य-साहित्य का विवेचन एक गौण स्थान का ही अधिकारी हो सकता है।

काव्य-ग्रन्थ

विषय की दृष्टि से पालि काव्य-ग्रन्थ दो भागों में विभक्त किये जा सकते हैं, (१) वर्णनात्मक काव्य-ग्रन्थ, (२) काव्य-आख्यान। यह भेद सिर्फ विषय के

वाह्य स्वरूप का है। मुख्य प्रवृत्ति और शैली तो सब जगह एक-सी ही है—नैतिक आदर्शवाद और नीरस इतिवृत्तात्मक शैली। हाँ, कहीं-कहीं रसात्मकता के भी पर्याप्त दर्शन होते हैं। मुख्य वर्णनात्मक काव्य-ग्रन्थ ये हैं (१) अनागतवंस, (२) तेलकटाहगाथा, (३) जिनालंकार, (४) जिनचरित, (५) पज्जमधु, (६) सद्धम्मोपायन, (७) पञ्चगतिदीपन और (८) लोकप्पदीपसार या लोकदीप-सार। प्रधान काव्य-आख्यान, जिनमें कुछ गद्य में भी हैं, ये हैं—(१) रसवाहिनी, (२) बुद्धालंकार, (३) सहस्सवत्थुप्पकरण और (४) राजाधिराजविलासिनी। इनका कुछ संक्षिप्त परिचयात्मक विवरण देना यहाँ आवश्यक होगा।

अनागतवंस[1]

जैसा उसके नाम से स्पष्ट है, 'अनागत-वंस' भविष्य (अनागत) में उत्पन्न होने वाले भगवान् बुद्ध मैत्रेय के जीवन-इतिहास (वंस) के रूप में लिखा गया है। 'अनागतवंस' का वास्तविक स्वरूप अभी बहुत कुछ अनिश्चित है। बरमी हस्त-लिखित प्रतियों में उसके तीन रूप मिलते हैं। (१) गद्य-पद्य-मिश्रित रूप, जो सुत्तों की शैली में लिखा गया है। इसका विषय बुद्ध मैत्रेय की जीवन-गाथा का वर्णन करना नहीं है। बल्कि यह भविष्य में संघ पर आने वाले भयों का वर्णन करता है। बुद्ध और सारिपुत्र के संवाद के रूप में यह ग्रन्थ लिखा गया है। साथ ही इसके अन्त में उन दस भावी बुद्धों के नाम भी दिये हुए हैं, जो भविष्य में क्रमशः बोधि प्राप्त करेंगे।[2] डॉ० विमलाचरण लाहा का यह कहना कि 'अनागतवंस' का यह संस्करण पालि-तिपिटक के (अंगुत्तर-निकाय के पञ्चक निपात के अन्तर्गत आये) अनागत-भय सूत्रों और उन सूत्रों, जिनमें दस भावी बुद्धों का निर्देश हुआ है, के पूरक रूप में लिखा गया है,[3] ठीक मालूम पड़ता है। (२) गद्य-मय रूप; जिसमें दस अध्याय हैं और जिसका विषय दस भावी बुद्धों की जीवनी का वर्णन करना है।

---

१. मिनयेफ द्वारा जर्नल ऑफ पालि टैक्स्ट सोसायटी, १८८६, में रोमन अक्षरों में सम्पादित।

२. मेत्तेय्यो उत्तमो रामो पसेनदि कोसलोभिभू।
दीघसोणि व संकच्चो सुभो तोदेय्यब्राह्मणो॥
नालागिरिपललेय्यो बोधिसत्ता इमे दस।
अनुक्कमेण सम्बोधिं 'पापुणिस्सन्ति' नागते ति॥
जर्नल ऑफ पालि टैक्स्ट सोसायटी, १८८६, पृष्ठ ३७।

३. हिस्ट्री ऑफ पालि लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६१२।

(३) पद्य-मय रूप, जो १४२ गाथाओं में केवल बुद्ध मैत्रेय की जीवन-गाथा का वर्णन करता है। यह संस्करण भी भगवान् बुद्ध और उनके शिष्य धर्मसेनापति सारिपुत्र के संवाद के रूप में लिखा गया है। भगवान् बुद्ध भावी बुद्ध मैत्रेय के विषय में भविष्यवाणी करते दिखाये गये हैं। 'अनागतवंस' का यह संस्करण ही उसका प्रामाणिक और वास्तविक रूप माना जाता है। अपने इस रूप में 'अनागतवंस' 'बुद्धवंस' का परिवर्द्धित और पूरक रूप माना जा सकता है। 'बुद्धवंस' पूर्व के चौबीस बुद्धों का वर्णन करता है। पच्चीसवें बुद्ध अर्थात् गौतम बुद्ध की जीवन-गाथा के साथ ही वहाँ वर्णन समाप्त कर दिया गया है। अतः स्वाभाविक रूप से 'अनागतवंस', जो छब्बीसवें बुद्ध, बुद्ध मैत्रेय, की जीवन-गाथा को अपना विषय बनाता है, 'बुद्धवंस' को कथावस्तु को पूर्णता देने की दृष्टि से ही लिखा गया जान पड़ता है। दोनों की शैली में भी पर्याप्त समानता है।[1] दीघ-निकाय के चक्कवत्ति-सीहनाद-सुत्त (३।३) में भी बुद्ध मैत्रेय के भावी आविर्भाव के विषय में उल्लेख किया गया है। वहाँ कहा गया है कि जब भगवान् बुद्ध मैत्रेय उत्पन्न होंगे, तो मनुष्य ८०,००० वर्ष की आयु में तरुण हुआ करेंगे और कुमारियाँ ५०० वर्ष की आयु में विवाह-योग्य हुआ करेंगी। 'अनागतवंस' के भी वर्णनों की यही बानगी समझी जा सकती है। बुद्ध मैत्रेय जम्बुद्वीप (भारतवर्ष) में केतुमती नामक नगरी में ब्राह्मण-वंश में उत्पन्न होंगे। उनकी माता का नाम ब्रह्मवती और पिता का नाम सुब्रह्मा होगा। उनका आरम्भ का नाम अजित होगा। वे बड़े समृद्धशाली होंगे। ८००० वर्ष तक गृहस्थ-सुख का उपभोग करेंगे। उसके बाद प्रव्रज्या लेंगे। शाक्यमुनि बुद्ध के ऐतिहासिक जीवन-वृत्त के आधार पर ही ये अतिशयोक्तिमय वर्णन गढ़ लिये गये हैं, जिनमें काव्यत्व या विचार की अपेक्षा हम बौद्ध पौराणिकवाद के ही अधिक दर्शन करते हैं। 'सद्धर्मपुण्डरीक-सूत्र' और 'महावस्तु' आदि अनेक बौद्ध संस्कृत ग्रन्थों में मैत्रेय बुद्ध के सम्बन्ध में विवरण मिलते हैं, जो सब काल्पनिक हैं।

'अनागतवंस' की रचना कब और किसके द्वारा हुई, इसके विषय में निश्चित मत नहीं है। रायस डेविड्स ने इस ग्रन्थ को बहुत प्राचीन माना है—यहाँ तक कि बुद्धघोष से भी प्राचीन। इसका कारण उन्होंने यह दिया है कि 'विसुद्धिमग्ग' में बुद्ध-घोष ने बुद्ध मैत्रेय का वर्णन करते हुए उनके माता-पिता के विषय में कहा है "सुब्रह्म

---

१. कुछ उद्धरणों के लिए देखिये लाहा : हिस्ट्री ऑफ पालि लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६१३।

नामस्स ब्राह्मणो पिता भविस्सति, ब्रह्मवती नाम ब्राह्मणी माता ति"।[१] 'अनागत-वंस' में भी बिलकुल इन्हीं शब्दों में बुद्ध मैत्रेय के माता-पिता का वर्णन मिलता है।[२] अतः रायस डेविड्स ने बुद्धघोष के शब्दों को 'अनागतवंस' से उद्धरण मानकर 'अनागतवंस' को प्राक्-बुद्धघोषकालीन ठहराया है।[३] विण्टरनित्ज़ ने यह स्वीकार नहीं किया कि बुद्धघोष के उपर्युक्त शब्द 'अनागतवंस' से ही उद्धृत किये गये हैं।[४] अतः उनको 'अनागतवंस' की इतनी प्राचीनता मान्य नहीं है। चूंकि बुद्धघोष ने अपने उपर्युक्त शब्दों में केवल बुद्ध मैत्रेय के माता-पिता के नाम का ही उल्लेख किया है, अतः यह कोई इतना विशेषतापूर्ण सैद्धान्तिक या अन्य दृष्टि से महत्त्वपूर्ण तथ्य नहीं है कि बुद्धघोष जैसे आचार्य को 'अनागतवंस' से इसका उद्धरण देने की आवश्यकता पड़ती। यह तो बौद्ध परम्परा की एक अति सामान्य मान्यता थी, जो 'अनागतवंस' के रचयिता के समान बुद्धघोष को भी मालूम हो सकती थी, फिर कालानुक्रम से कोई किसी का पूर्ववर्ती क्यों न रहा हो, शब्द-साम्य इस सम्बन्ध में अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं माना जा सकता। अतः हम बुद्धघोष के उपर्युक्त शब्दों ओ 'अनागतवंस' से उद्धरण मानने को बाध्य नहीं। मललसेकर भी इसे सम्भव नहीं मानते कि 'अनागतवंस' का उद्धरण 'विसुद्धिमग्ग' में हो।[५] 'गन्धवंस' में 'अनागत-वंस' के रचयिता का नाम कस्सप (काश्यप) दिया गया है।[६] 'गन्धवंस' के वर्णन के अनुसार 'अनागतवंस' पर एक अट्ठकथा भी लिखी गयी, जिसके लेखक उपतिस्सा-चरिय (आचार्य उपतिष्य) नामक भिक्षु थे। चूंकि कस्सप और उपतिस्स नाम के अनेक भिक्षु अनेक समयों में लंका और बरमा में हो गये हैं, अतः निश्चित रूप से यह कह सकना कठिन है कि कौन-से कस्सप और उपतिस्स क्रमशः 'अनागतवंस' के रचयिता और अट्ठकथाकार हैं। 'गन्धवंस' में 'अनागतवंस' के रचयिता कस्सप

---

१. विसुद्धिमग्ग १३।१२७ (धर्मानन्द कोसम्बी का संस्करण)। देखिये अट्ठसालिनी पृष्ठ ३२६-३२७ (देवनागरी संस्करण, पूना, १९४२)।

२. पृष्ठ ९६ (जर्नल ऑफ पालि टैक्स्ट सोसायटी, १८८६, में प्रकाशित संस्करण)।

३. विसुद्धिमग्ग, पृष्ठ ७६१, ७६४ (श्रीमती रायस डेविड्स का संस्करण, पालि टैक्स्ट सोसायटी, १९२०-२१)।

४. हिस्ट्री ऑफ इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ २२१, पद-संकेत १।

५. देखिये उनका दि पालि लिटरेचर ऑफ सिलोन, पृष्ठ १६१।

६. पृष्ठ ६१, ७२ (जर्नल ऑफ पालि टैक्स्ट सोसायटी, १८८६, में प्रकाशित संस्करण)।

और 'मोहविच्छेदनी' और 'विमतिच्छेदनी' नामक ग्रन्थों के रचयिता कस्सप को एक ही व्यक्ति माना गया है।[1] हम पहले सातवें अध्याय में देख चुके हैं कि 'मोहविच्छेदनी' और 'विमतिच्छेदनी', इन दोनों रचनाओं के लेखक 'दमिळरट्ठवासी' कस्सप थेर या 'चोळिय' कस्सप थेर ही थे। इस प्रकार यही 'चोळिय' कस्सप थेर 'अनागतवंस' के भी रचयिता हो जाते हैं। गायगर ने इसी स्थिति का अनुसरण किया है।[2] 'सासनवंसदीप'[3] के अनुसार कस्सप चोळ देश के निवासी थे। परन्तु वहाँ उन्हें 'विमतिविनोदनी' का रचयिता बताया गया है, जो विनयट्ठकथा ('समन्त पासादिका') की टीका थी। जहाँ तक उपतिस्स का सम्बन्ध है, उन्हें 'महाबोधिवंस' के रचयिता उपतिस्स (१०वीं-११वीं शताब्दी) से एकाकार किया जा सकता है। इस प्रकार कस्सप को इनसे एक-दो शताब्दी पूर्व का माना जा सकता है।

तेलकटाहगाथा[4]

१०० (किन्हीं संस्करणों में केवल ९८) गाथाओं में लिखी हुई एक परिष्कृत, प्रौढ़ और रमणीय काव्य-रचना है। 'तेलकटाहगाथा' का अर्थ है (खौलते हुए) तेल की कड़ाही में लिखी हुई गाथाएँ (पालि श्लोक)। ये गाथाएँ बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार कल्याणिय नामक भिक्षु के द्वारा लिखी गयी थीं। अनुश्रुति है कि कल्याणी (वर्तमान केलानिया, श्रीलंका) के राजा तिष्य (ई० पू० ३०६—ई० पू० ३०७) ने उपर्युक्त भिक्षु को अपनी रानी के साथ किसी षड्यन्त्र में सम्मिलित होने के सन्देह में वन्दी वना लिया था और खौलते हुए तेल की कड़ाही में डाल देने की आज्ञा दी थी।[5] भिक्षु निरपराध थे, किन्तु यह असह्य दुःख उन्हें सहना ही पड़ा।

---

१. पृष्ठ ६१।

२. पालि लिटरेचर ऐण्ड लैंग्वेज, पृष्ठ ३६।

३. "थेरेन कस्सपव्हेन चोळरट्ठ निवासिना। कविना रचिता टीका विमत्यादि विनोदिनी।" गाथा १२०४।

४. ई० आर० गुणरत्न द्वारा जर्नल ऑफ पालि टैक्स्ट सोसायटी, १८८४, में रोमन अक्षरों में सम्पादित। इसमें ९८ गाथाएँ हैं। इस ग्रन्थ का मूल पालि-सहित हिन्दी-अनुवाद त्रिपिटिकाचार्य भिक्षु धर्मरक्षित ने किया है, जो सन् १९४८ में महाबोधि सभा, सारनाथ द्वारा प्रकाशित किया जा चुका है। इस अनुवाद का द्वितीय संस्करण भी सन् १९५५ (बुद्धाब्द २४९९) में निकल चुका है।

५. कुछ अन्य स्रोतों के अनुसार कहानी के वर्णन के लिए देखिये मललसेकर दि पालि लिटरेचर ऑफ सिलोन, पृष्ठ १६२।

खौलते हुए तेल की कड़ाही में उनकी मृत्यु हो गयी। किन्तु मृत्यु से पूर्व उन्होंने बुद्ध-शासन का चिन्तन किया और ९८ गाथाओं को गाया। ये गाथाएँ क्या हैं, संसार की अनित्यता, जीवन की असारता और वैराग्य की महत्ता पर गम्भीर प्रवचन हैं। उपर्युक्त अनुश्रुति में सत्यांश कितना है, यह कह सकना कठिन है। हाँ, स्वयं 'तेलकटाहगाथा' में इसका कोई उल्लेख नहीं है। किन्तु 'महावंस' में इस कथा का निर्देश मिलता है।[1] बाद में 'रसवाहिनी' में भी इस कथा का सविस्तार वर्णन किया गया है। सहली ग्रन्थ 'सद्धर्म्मालंकार' में भी इस कथा का वर्णन मिलता है।[2] सिंहली साहित्य में यह कथा इतनी प्रसिद्ध है कि इसकी सत्यता पर सन्देह करना कठिन हो जाता है। फिर भी 'तेलकटाहगाथा' की मार्मिक गाथाओं को पढ़ जाने के बाद और कहीं भी उनमें उपर्युक्त घटना का निर्देश न पाने पर यही लगता है कि यहाँ भिक्षु कल्याणिय ने खौलते हुए तेल वाली किसी विशेष कड़ाही से उत्तप्त होकर ही नहीं, बल्कि इस 'महामोहमय' संसार रूपी उस खौलती हुई कड़ाही से व्यथित होकर ही अपने अन्तर्मन को इन गाथाओं में प्रवाहित किया है, जिसके विषय में महाभारतकार ने कहा है—

> अस्मिन् महामोहमये कटाहे सूर्याग्निना रात्रिदिवेन्धनेन,
> मासर्तुदर्वीपरिघट्टनेन भूतानि कालः पचतीति वार्ता।

'तेलकटाहगाथा' शतक-काव्य की शैली पर लिखी गयी रचना है। अतः उसमें नैतिक ध्वनि प्रधान है। फिर भी काव्यमयता का उसमें अभाव नहीं है। वह एक सुन्दर रचना है, जो बुद्ध धर्म के मूल सिद्धान्तों को एक भावनामय भिक्षु की पूरी तन्मयता और मार्मिकता के साथ उपस्थित करती है। ९८ गाथाएँ ९ वर्गों या भागों में विभक्त हैं; जिनके नाम हैं; (१) रतनत्तय (तीन रत्न—बुद्ध, धर्म, संघ), (२) मरणास्सति (मरण की अनुस्मृति), (३) अनिच्चलक्खण (अनित्यता का लक्षण); (४) दुक्खलक्खण, (५) अनत्तलक्खण (अनात्म का लक्षण); (६) असुभ लक्खण, (७) दुच्चरित-आदीनवा (दुराचार के दुष्परिणाम), (८) चतुरारक्खा (चार आरक्षाएँ) और (९) पटिच्चसमुप्पाद (प्रतीत्यसमुत्पाद)। विषय-सूची से यह देखा जा सकता है कि बुद्ध धर्म के सभी महत्त्वपूर्ण विषय इन

---

१. २२।१२।१३ (गायगर का संस्करण)।

२. देखिये जर्नल ऑफ पालि टैक्स्ट सोसायटी, १८८४, पृष्ठ ४९; देखिये गायगर : पालि लिटरेचर ऐण्ड लैंग्वेज, पृष्ठ ४६।

गाथाओं में आ गये हैं। किन्तु सबसे बड़ी बात तो ग्रन्थकार की अपने विषय के साथ तल्लीनता है, जिसके दर्शन प्रत्येक गाथा में होते हैं। अनात्म-संज्ञा पर यह उक्ति देखिये—

पोसो यथा हि कदलीसु विनिब्भुजन्तो,
सारं तदप्पमपि नोपलभेय्य कामं।
खन्धेसु पञ्चसु छळायतनेसु तेसु,
सुञ्ञेसु किञ्चिदपि नोपलभेय्य सारं॥गाथा ६०॥

(जिस प्रकार केले के तने को उधेड़ते हुए मनुष्य उसमें कुछ भी सार न पाये, उसी प्रकार इन शून्य पंच स्कन्धों और छह आयतनों में भी कुछ सार नहीं है।)

'प्रतिकूल-मनसिकार' (गीता के शब्दों में 'दुःखदोषानुदर्शनं') पर,

गंडूपमे विविधरोगनिवासभूते,
काये सदा रुधिरमुत्तकरीसपुण्णे।
यो एत्थ नन्दति नरो ससिगालभक्खे,
कामं हि सोचति परत्थ स बालबुद्धि॥गाथा ६९॥

(जो मूर्ख आदमी फोड़े के समान, विविध बीमारियों के घर, खून, पेशाब और पखाना से भरे हुए, गीदड़ों के भक्ष्य, इस शरीर को देखकर आनन्दित होता है, वह अवश्य ही यहाँ से जाकर परलोक में दुःख पाता है।)

उपर्युक्त गाथाएँ 'तेलकटाहगाथा' की काव्यगत सुन्दरता का परिचय देने में अलम् हैं। प्रथम बार पढ़ने पर ही उनमें भर्तृहरि के वैराग्य-सम्बन्धी पदों का सा निर्वेद प्रकाशित होने लगता है। भाषा और शैली की दृष्टि से इस तीसरी गाथा को देखिये—

सोपानमालममलं तिदसालयस्स
संसारसागरसमुत्तरणाय सेतुं।
सब्बागतीभय विवज्जितखेममग्गं,
धम्मं नमस्सथ सदा मुनिना पणीतं॥

(मुनि (बुद्ध) द्वारा प्रणीत उस धर्म की वन्दना करो, जो स्वर्ग की विमल सीढ़ी के समान है, जो संसार रूपी सागर को तरने के लिए पुल के समान है और जो सम्पूर्ण आपत्तियों और भयों से रहित एवं कल्याण का मार्ग है।)

'सोपानमालममलं' एवं 'संसारसागरसमुत्तरणाय' जैसे पदों में अनुप्रास की छठा तो देखने ही योग्य है 'सब्बागतोभयविवज्जितममग्गं धम्मं नमस्सथ सदा मुनिना पणीतं' तो बिलकुल संस्कृत श्लोक का अंश सा ही जान पड़ता है। संस्कृत का यह बढ़ता हुआ प्रभाव 'तेलकटाहगाथा' की आपेक्षिक अर्वाचीनता का सूचक है। विंटरनित्ज़ ने कहा है कि यह ग्रन्थ बारहवीं शताब्दी ईसवी से पूर्व की रचना नहीं हो सकता।[1] कम से कम ई० पू० तीसरी शताब्दी की रचना तो 'तेलकटाहगाथा' मानी ही नहीं जा सकती। फिर भी भाषा और शैली का साक्ष्य किसी भी अवस्था में इतना दृढ़ और अन्तिम नहीं हुआ करता कि उसके आधार पर हम किसी ग्रन्थ की तिथि असंदिग्ध रूप से निश्चित कर सकें। अतः विंटरनित्ज़ द्वारा निश्चित बारहवीं शताब्दी ईसवी भी 'तेलकटाहगाथा' की प्रामाणिक रचना-तिथि नहीं मानी जा सकती। विंटरनित्ज़ की स्थापना केवल अनुमान पर आश्रित है। इसी प्रकार अनुमान से ही गायगर ने इस रचना का काल चौदहवीं शताब्दी माना है।[2] जब तक कोई और महत्त्वपूर्ण बाह्य साक्ष्य न मिले, 'तेलकटाहगाथा' के रचयिता और रचना-काल का सुनिश्चित ज्ञान हमारे लिए अज्ञात ही रहेगा।

जिनालङ्कार

यह २५० गाथाओं में बुद्ध भगवान् की जीवनी है। 'जिनालंकार' पालि काव्य-साहित्य की उसी कोटि की रचना है, जिस कोटि के संस्कृत में किरातार्जुनीयम और शिशुपालवध जैसे महाकाव्य हैं। काव्य-चमत्कार की प्रवृत्ति यहाँ बहुत अधिक उपलक्षित होती है और शैली में भी पर्याप्त कृत्रिमता है। 'जिनालंकार' की रचना बारहवीं शताब्दी में बुद्धरक्षित (बुद्धरक्खित) नामक भिक्षु के द्वारा हुई। एक बुद्धरक्षित नामक स्थविर सिंहल में ४२६ ई० पू० में भी हुए हैं और कभी-कभी जिनालंकार को उनके नाम से भी सम्बद्ध कर दिया जाता है, परन्तु

---

१. हिस्ट्री ऑफ इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ २२३; गायगर ने इस ग्रन्थ का वास्तविक रचना-काल अज्ञात मानते हुए तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी की रचनाओं में इसका उल्लेख किया है। देखिये उनका पालि लिटरेचर ऐण्ड लैंग्वेज, पृष्ठ ४६।

२. पालि लिटरेचर ऐण्ड लैंग्वेज, पृष्ठ ४६।

३. जेम्स ग्रे द्वारा अंग्रेजी अनुवाद-सहित रोमन लिपि में सम्पादित (लन्दन, १८९४)। सिंहली लिपि में इस ग्रन्थ का दीपंकर और धम्मपाल का उत्कृष्ट संस्करण सिंहली अनुवाद-सहित (गैले, १९००) उपलब्ध है।

यह ठीक नहीं है।[१] ग्रन्थ का विषय ज्ञान-प्राप्ति तक बुद्ध-जीवनी का वर्णन करना है। ग्रन्थ के अन्त में लेखक ने उसका रचना-काल बुद्ध-परिनिर्वाण से १७०० वर्ष बाद दिया है।[२] इसका अर्थ यह है कि इसकी रचना ११५६ ई० में हुई। यह तिथि विद्वानों को मान्य है। उत्तरकालीन संस्कृत काव्यों की शैली का इस ग्रन्थ पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। एक पद्य में 'न्' व्यंजन का ही प्रयोग किया गया है। यह प्रवृत्ति किरातार्जुनीयम जैसे संस्कृत-काव्यों में भी दृष्टिगोचर होती है। इस प्रकार के चमत्कारमय प्रयत्न चाहे भाषा-सम्बन्धी विद्वत्ता के परिणाम भले हीं हों, किन्तु संस्कृत काव्य-विवेचकों ने उन्हें 'अधम काव्य' ही माना है। यही बात हम 'जिनालंकार' की इस प्रवृत्ति के सम्बन्ध में भी कह सकते हैं। सम्पूर्ण ग्रन्थ में २५० गाथाएँ हैं। ग्रन्थ की मुख्य विशेषता उसकी कृत्रिम शैली, पौराणिक अतिरंजनामयी वर्णन-प्रणाली एवं विद्वत्ता-प्रदर्शक प्रवृत्ति ही है। महायानी प्रभाव भी कहीं-कहीं उपलक्षित है। बुद्धरक्षित ने अपने इस ग्रन्थ पर 'जिनालंकार-टीका' नाम से एक टीका भी लिखी थी। 'जिनालंकार' नाम का एक अन्य ग्रन्थ भी बताया जाता है, जिसकी रचना 'गन्धवंस' के अनुसार प्रसिद्ध अट्ठकथाकार बुद्धदत्त (चौथी-पाँचवीं शताब्दी ईसवी) ने की थी। 'सासनवंस'[३] में भी अट्ठकथाकार बुद्धदत्त की 'जिनालंकार' नामक एक रचना बतायी गयी है। बल्कि यहाँ स्वयं बुद्धदत्त स्थविर, नाव के द्वारा बुद्धघोष से मिलते हुए उनसे यह कहते दिखाये गये हैं, "आयुष्मन् ! मैंने 'जिनालंकार' नामक ग्रन्थ लिखा है, जो अल्पसार है।"—"मया, आवुसो, कतो जिनालंकारो अप्पसारो" ति। निश्चयतः इस 'जिनालंकार' को प्रस्तुत 'जिनालंकार' से भिन्न होना चाहिए। 'गन्धवंस' के वर्णनानुसार ही बुद्धदत्त द्वारा लिखित 'जिनालंकार' पर बुद्धरक्षित ने एक टीका भी लिखी थी।[४] कुछ भी हो, हमें उपर्युक्त दोनों रचनाओं को मिलाने की गलती नहीं करनी चाहिये और यह स्मरण रखना चाहिए कि सिंहली परम्परा, अट्ठकथाकार भदन्ताचार्य बुद्धदत्त को वर्तमान रूप में प्राप्त 'जिनालंकार' काव्य का रचयिता नहीं मानती।

---

१. देखिये मललसेकर : दि पालि लिटरेचर ऑफ सिलोन, पृष्ठ ११०-१११।

२. पृष्ठ २७१ (ग्रे का संस्करण); देखिये गन्धवंस, पृष्ठ ७२ (मिनयेफ द्वारा सम्पादित)।

३. पृष्ठ २८ (देवनागरी संस्करण)।

४. पृष्ठ ६९, ७२ (मिनयेफ द्वारा सम्पादित, जर्नल ऑफ पालि टेक्स्ट सोसायटी, १८८६)।

जिनचरित[1]

'जिनालंकार' के समान 'जिनचरित' का भी विषय बुद्ध-जीवनी का वर्णन करना है। 'जिनालंकार' में, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, सम्बोधि-प्राप्ति तक बुद्ध-जीवनी का वर्णन किया गया है। किंतु 'जिनचरित' में भगवान् बुद्ध के उपदेश-कार्य का भी वर्णन किया गया है और उनके ४५ वर्षावासों का ब्योरेवार वर्णन किया गया है। 'जिनचरित' में ४७२ गाथाएँ हैं। जहाँ तक विषय-वस्तु का सम्बन्ध है, 'जिनचरित' में कोई नवीनता नहीं है। बुद्ध-जीवन के विषय में उसने कोई नयी बात हमें नहीं बतायी है। उसके सारे वर्णन जातकट्ठकथा की निदानकथा पर आधारित हैं। एक हद तक तो वह जातक-निदान-कथा का छन्दोबद्ध संस्करण ही जान पड़ता है। चार्ल्स डुरोइसिल का यह कथन ठीक है कि जहाँ कवि इस अन्धानुकरण से बच सका है और उसने अपनी प्रेरणा से लिखा है, वहीं उसके काव्य में कुछ रसात्मकता भी आ सकी है।[2] यद्यपि काव्य-गुणों की दृष्टि से 'जिनचरित' की 'बुद्ध-चरित' से कोई तुलना नहीं की जा सकती, फिर भी यह कहना ठीक है कि पालि साहित्य में 'जिनचरित' का वही स्थान है, जो बौद्ध संस्कृत साहित्य में 'बुद्धचरित' का। 'जिनचरित' पर संस्कृत काव्यों का भी कुछ प्रभाव पड़ा है। चार्ल्स डुरोयिसिल ने 'जिनचरित' पर अश्वघोष और कालिदास के प्रभाव की बात कही है। उन्होंने 'जिनचरित' और 'महाभारत' की कुछ पंक्तियों की भी तुलना की है।[3] यह सम्भव है कि 'जिनचरित' के रचयिता को संस्कृत काव्यों की जानकारी रही हो और उससे उन्होंने लाभ उठाया हो, किन्तु काव्य-शैली के लिए वे संस्कृत काव्यों के ऋणी नहीं कहे जा सकते। जहाँ तक 'जिनचरित' के स्रोतों का सवाल है, हमें संस्कृत काव्यों की ओर नहीं जाना चाहिए। जैसा डॉ० लाहा ने कहा है, जातक-साहित्य और सुत्त-निपात के नालक-सुत्त जैसे सुत्तों की गाथाएँ 'जिनचरित' के लिए सर्वोत्तम नमूने हो सकते थे।[4] इतना ही

---

१. डबल्यू० एच० डी० राउज द्वारा जर्नल ऑफ पालि टैक्स्ट सोसायटी, १९०४-०५, में अंग्रेजी अनुवाद-सहित रोमन लिपि में सम्पादित, रंगून १९०६।

२. देखिये जिनचरित (चार्ल्स डुरोइसिल द्वारा सम्पादित) पृष्ठ १-२ (भूमिका)।

३. उदाहरणतः जिनचरित—कोयं सक्को नु खो ब्रह्मा मारो नागो ति आदिना। (दस-दस)
महाभारत—कोऽयं देवोऽथवा यक्षो गन्धर्वो वा भविष्यति।

४. हिस्ट्री ऑफ पालि लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६१५।

नहीं, कालिदास के पूर्ववर्ती अश्वघोष को भी इन स्रोतों से अपनी काव्य-शैली के निर्धारण में पर्याप्त प्रेरणा मिली होगी, ऐसा हम मान सकते हैं। 'जिनचरित' के विषय और शैली के स्रोत मूलतः पालि साहित्य में हैं, संस्कृतसाहित्य में नहीं।[1]

'सद्धम्म-संगह' और 'गन्धवंस'[2] के वर्णनों के अनुसार 'जिनचरित' के रचयिता का नाम मेघंकर था। मेघंकर नाम के अनेक व्यक्ति, सिंहल में हो चुके हैं।[3] एक बरमा में भी हुए हैं चौदहवीं शताब्दी में, 'लोकदीपसार' के रचयिता। प्रस्तुत मेघंकर 'वनरतन मेघंकर' के नाम से प्रसिद्ध सिंहली भिक्षु थे। उपर्युक्त स्रोतों के अनुसार वनरतन मेघंकर लंकाधिप भुवनेकबाहु प्रथम (१२७७ ई०-१२८८ ई०) के समकालीन थे। टी० डब्ल्यू० रायस डेविडस[4] और विण्टरनित्ज़[5] ने उनके इसी काल को प्रामाणिक माना है। किन्तु गायगर का दूसरा मत है। 'गन्धवंस' में मेघंकर का उल्लेख वाचिस्सर, सुमंगल और धम्मकित्ति के बाद किया गया है अतः गायगर ने यह अनुमान लगाया है कि वे भी उपर्युक्त भिक्षुओं के समान सिंहली स्थविर सारिपुत्त के शिष्य थे। 'जिनचरित' के अन्तिम पद्यों में लेखक ने कहा है कि उन्होंने इस ग्रन्थ की रचना विजयबाहु-परिवेण अर्थात् राजा विजयबाहु द्वारा निर्मित परिवेण में की। गायगर ने इससे अनुमान किया है कि यहाँ लेखक को लंका का राजा विजयबाहु तृतीय (१२२५ ई०-१२२९ ई०) अभिप्रेत था। उन्होंने आगे यह भी अनुमान किया है कि विजयबाहु तृतीय मेघंकर का समकालीन था, क्योंकि उसी हालत में उसकी प्रशंसा का कुछ अर्थ हो सकता है। इतने अनुमानों के बाद गायगर ने यह निष्कर्ष निकाला है कि मेघंकर विजयबाहु तृतीय के समकालीन और सिंहली भिक्षु सारिपुत्त के शिष्य थे। उन्होंने मेघंकर और वाचिस्सर का एक ही समय माना है।[6] चार्ल्स डुरोइसिल ने उपर्युक्त विजयबाहु को विजयबाहु द्वितीय माना है, जो सन ११८६ ईसवी में गद्दी पर बैठा था और जो लंका के

---

१. सद्धम्मसंगह, पृष्ठ ६३, (जर्नल ऑफ पालि टैक्स्ट सोसायटी १८८६)।
२. गन्धवंस, पृष्ठ ६२, ७२ (जर्नल ऑफ पालि टैक्स्ट सोसायटी, १८८६)।
३. देखिये जर्नल ऑफ पालि टैक्स्ट सोसायटी १९०४-०५, पृष्ठ २।
४. देखिये जर्नल ऑफ पालि टैक्स्ट सोसायटी, १९०४-०५, पृष्ठ चार में डॉ० टी० डबल्यू० रायस डेविड्स का 'नोट ऑन मेघंकर।
५. हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ २२४।
६. पालि लिटरेचर ऐण्ड लैंग्वेज, पृष्ठ ४२।

प्रसिद्ध राजा पराक्रमबाहु का उत्तराधिकारी था।[1] विजयबाहु से तात्पर्य हम चाहे किसी विजयबाहु से लें, 'जिनचरित' के लेखक ने तो सिर्फ इतना कहा कि विजयबाहु द्वारा निर्मित परिवेण में उसने 'जिनचरित' की रचना की। अतः समकालीनता का आरोप इतना आवश्यक नहीं जान पड़ता। इसलिए 'गन्धवंस' और 'सद्धम्मसंगह' के वर्णन, जो वनरतन मेघंकर को भुवनेकबाहु प्रथम (१२७७ ई०—१२८८ ई०) के समकालीन बतलाने के पक्षपाती हैं, 'जिनचरित' के वर्णन के विरोधी नहीं कहे जा सकते। अतः मेघंकर या वनरतन मेघंकर को भुवनेकबाहु प्रथम (१२७७ ई०—१२८८ ई०) का ही समकालीन मानना अधिक युक्ति-युक्त जान पड़ता है। हर हालत में उनका समय तेरहवीं शताब्दी ही होना चाहिए। 'पयोग-सिद्धि' व्याकरण के रचयिता भी वनरतन मेघंकर ही हैं।[2] परन्तु गायगर इन्हें भिन्न व्यक्ति समझते हैं।[3] यह ठीक नहीं जान पड़ता। जैसा हम पहले दिखा चुके हैं, सिंहली भिक्षु सारिपुत्त के शिष्य मेघंकर सिंहली ग्रन्थ 'विनयार्थ-समुच्चय' के लेखक हैं और वे उदुम्बर गिरि विहार के निवासी थे। 'जिन-चरित' और 'पयोग-सिद्धि' के लेखक वनरतन मेघंकर सुमंगल महाथेर के शिष्य थे।

पज्जमधु[4]

१०४ गाथाओं में शतक ढंग की रचना है। बुद्ध-स्तुति इसका विषय है। प्रथम ६९ गाथाओं में बुद्ध की सुन्दरता का वर्णन है, शेष में उनके ज्ञान और संघ की प्रशंसा है। शैली कृत्रिम और काव्योचित रसात्मकता से रहित है। कम से कम अपने नाम (पज्जमधु-पद्यमधु) को वह सार्थक नहीं करती। संस्कृत का बढ़ता हुआ प्रभाव भी उसका एक विशेष लक्षण है। 'पज्जमधु' बुद्धप्पिय (बुद्धप्रिय) नामक स्थविर की रचना है, जो स्थविर वेदेह (वैदेह थेर) के समकालीन भिक्षु थे। बुद्ध-प्पिय चोल देश के निवासी थे, परन्तु शिक्षा उन्होंने लंका में सिंहली भिक्षु आनन्द वनरतन के शिष्यत्व में पायी थी। 'चोळिय दीपंकर' के नाम से भी ये प्रसिद्ध हैं,

---

१. जिनचरित (डेरोइसिल का संस्करण, रंगून १९०६) पृष्ठ ३ (भूमिका)। मललसेकर का भी ऐसा ही मत है। देखिये उनकी 'दि पालि लिटरेचर ऑफ सिलोन', पृष्ठ २३०।

२. देखिये मललसेकर : दि पालि लिटरेचर ऑफ सिलोन, पृष्ठ २३०-२३१।

३. पालि लिटरेचर ऐण्ड लैंग्वेज, पृष्ठ ५४।

४. गुणरत्न द्वारा जर्नल ऑफ पालि टैक्स्ट सोसायटी, १८८७ पृष्ठ १-१६ में सम्पादित। देवमित्त द्वारा भी सम्पादित; कोलम्बो १८८७।

चोळ देश में अपनी जन्मभूमि के कारण। 'पज्जमधु' की १०३वीं गाथा में कवि-भिक्षु ने अपना परिचय देते हुए अपने को आनन्द का शिष्य बताया है।[1] इन आनन्द से तात्पर्य आनन्द वनरतन से ही है। आनन्द वनरतन बुद्धप्पिय के साथ-साथ वैदेह स्थविर के गुरु थे। अतः वैदेह स्थविर के साथ बुद्धप्पिय का समकालिक होना निश्चित है। इसलिए इनका काल भी वैदेह स्थविर के साथ तेरहवीं शताब्दी ही होना चाहिए। यह निश्चित है।[2] सम्भवतः यही 'बुद्धप्पिय' 'रूपसिद्धि' व्याकरण के रचयिता भी हैं। उस रचना के अन्त में उन्होंने अपना नाम बुद्धप्पिय 'दीपंकर' बताया है और अपने को आनन्द स्थविर का शिष्य कहा है। अतः दोनों का एक व्यक्ति होना प्रायः सिद्ध ही है।

सद्धम्मोपायन[3]

६२९ गाथाओं में सद्धम्म की भेंट (उपायन) के रूप में बुद्ध धर्म के नैतिक मार्ग के गुणों का वर्णन है। विषय नवीन न होते हुए भी शैली में पर्याप्त ओज और मौलिकता है। ग्रन्थ को दो मुख्य भागों में बाँटा जा सकता है, (१) दुराचार के दुष्परिणाम, (२) सदाचार की प्रशंसा या उसके सुपरिणाम। इसके साथ-साथ बुद्ध धर्म के प्रायः सभी मौलिक सिद्धान्तों का समावेश इस ग्रन्थ के अन्दर हो गया है, जिसे अत्यन्त प्रभावशाली और मननशील ढंग से कवि ने उपस्थित किया है। पाप-दुष्परिणाम, पुण्य-फल, दान-प्रशंसा, शील-प्रशंसा, अ-प्रमाद आदि के काव्यमय वर्णन काफी अच्छे हुए हैं। पद्यबद्ध होते हुए भी 'सद्धम्मोपायन' के विवेचन इस विषय-सम्बन्धी गद्य-ग्रन्थों से अच्छी तरह मिलाये जा सकते हैं। उनको काव्य-मय रूप देने में और साथ ही उनका विचारात्मक अंश अक्षुण्ण रखने में कवि को पर्याप्त सफलता मिली है। 'सद्धम्मोपायन' के रचयिता सिंहली स्थविर आनन्द थे,

---

१. आनन्दरञ्ना रतनादिमहायतिन्द निच्चप्पबुद्ध पदुमप्पिय सेवि नंगी। बुद्धप्पियेन धनबुद्धगुणप्पियेन थेरालिना रचितपज्जमधुं पिबन्तु।

२. मिलाइये गायगर : पालि लिटरेचर ऐण्ड लैंग्वेज, पृष्ठ ४४, ५१; विंटर-नित्ज हिस्ट्री ऑफ इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ २२३; मललसेकर : दि पालि लिटरेचर ऑफ सिलोन, पृष्ठ २११, २२०। गुणरत्न ने बुद्धप्रिय का काल सन् ११०० ई० के लगभग बताया है। देखिये जर्नल ऑफ पालि टैक्स्ट सोसायटी, १८८७, पृष्ठ १।

३. रिचार्ड मॉरिस द्वारा जर्नल ऑफ टैक्स्ट सोसायटी, १८८७, पृष्ठ ३५-९८ में सम्पादित।

जो 'अभयगिरि कविचक्रवर्ती आनन्द' भी कहलाते थे। उन्होंने यह रचन ;अपने प्रिय सब्रह्मचारी वुद्धसोम ('बुद्धसोमस्स पियसब्रह्मचारिनो') को भेंट करने के लिए और उन्हें भिक्षुपन न छोड़ने की सलाह देने के लिए लिखी थी।[1] जहाँ तक उनके काल का सम्बन्ध है, आनन्द या अभयगिरि कविचक्रवर्ती आनन्द को मललसेकर ने सिंहली भिक्षु वेदेह थेर और वुद्धप्पिय (चोळिय दीपंकर) के गुरु सिंहली भिक्षु आनन्द वनरतन का समकालीन माना है।[2] इस प्रकार उनका समय बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी के आसपास ही होना चाहिए। गायगर ने 'सद्धम्मोपायन' का रचना-काल चौदहवीं शताब्दी माना है,[3] जो ठीक नहीं माना जा सकता। 'सद्धम्मोपायन' पर 'सद्धम्मोपायन-विग्गह' नाम की एक व्याख्या भी लिखी गयी।

पञ्चगतिदीपन[4]

११४ गाथाओं में उन पाँच गतियों या योनियों का वर्णन है, जिन्हें प्राणी अपने भले या बुरे कायिक, वाचिक और मानसिक कर्मों के कारण प्राप्त करते हैं, यथा नरक-योनि, पशु-योनि, भूत-प्रेतादि की योनि, मनुष्य-योनि और देव-योनि। वर्णन अत्यन्त सरल और स्वाभाविक एवं प्रसादगुणमय होते हुए भी यह रचना अत्यन्त साधारण कोटि की ही मानी जायगी। स्वर्ग-नरक के वर्णन काव्य के अच्छे विषय बनाये ही नहीं जा सकते, उनमें नैतिक तत्त्व चाहे जितना भी हो गहरा हो। वास्तव में बुद्ध ने भी स्वर्ग के प्रलोभन या नरक के भय के कारण अपने नीतिवाद का उपदेश नहीं दिया था। उनके नैतिक आदर्शवाद की यही तो एक विशेषता थी। वहाँ विशुद्धि का मार्ग अपने आप में एक आचरणीय वस्तु थी। ब्रह्मचर्य का क्या उद्देश्य होना चाहिए, इसे शास्ता ने अनेक बार स्पष्ट कर दिया था। किन्तु लोक-धर्म इसे कब सुनता है? वहाँ तो भय या पारितोषिक का प्रलोभन होना ही चाहिए।

---

१. परन्तु डॉ० विमलाचरण लाहा ने 'ब्रह्मचारी बुद्धसोम पिय' को इस ग्रन्थ का रचयिता ही मान लिया है। देखिये उनकी हिस्ट्री ऑफ पालि लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६२६। यह ठीक नहीं जान पड़ता। वस्तुतः बुद्धसोम को तो भेंट करने के लिए यह रचना लिखी गयी थी। देखिये मललसेकर दि पालि लिटरेचर ऑफ सिलोन, पृष्ठ २१२।

२. देखिये उनकी 'दि पालि लिटरेचर ऑफ सिलोन', पृष्ठ २११-२१२।

३. पालि लिटरेचर ऐण्ड लैंग्वेज, पृष्ठ ४६।

४. लियोन फियर द्वारा जर्नल ऑफ पालि टैक्स्ट सोसायटी, १८८४, पृष्ठ १५२-१६१ में सम्पादित।

फलतः अशोक को ही हम अपनी जनता को स्वर्ग-प्राप्ति के उद्देश्य से शुभ-कर्म करने के लिए प्रेरणा करते हुए देखते हैं। यह नितान्त स्वाभाविक भी है। बुद्ध-मन्तव्य इससे बहुत अधिक ऊँचा था। उसे लोक-धर्म की भूमि पर ला कर अर्थात् लोक-विश्वासों का उसमें समावेश कर, उसके नैतिक तत्त्व की व्याख्या का प्रारम्भ हम स्वयं सुत्त-पिटक के कुछ अंशों में ही देखते हैं। बाद में कुछ जातकों और पेतवत्थु जैसे ग्रन्थों में तो वह बहुत ही स्फुट हो गया है। महायान-परम्परा में जिस विस्तार के साथ स्वर्ग-नरक के वर्णन मिलते हैं, वह तो निश्चय ही एक आश्चर्य की वस्तु है। निश्चय ही इस प्रकार के बौद्ध वर्णनों में चाहे वे स्थविरवादियों के हों, चाहे अन्य सम्प्रदायों के, पुराणों (विशेषतः ब्रह्माण्ड, मार्कण्डेय, पद्मपुराण आदि) के इस विषयक वर्णनों से कुछ भी विशेषता नहीं है। किसी युग में जब मनुष्य अधिक विश्वास करने की क्षमता रखता हो, इन सब का चाहे भले ही उपयोग रहा हो, किन्तु आज तो ये सभी मननशील व्यक्तियों के लिए विरतिकर हो चुके हैं, इसमें सन्देह नहीं। स्वभावतः 'पंचगतिदीपन' भी इसका अपवाद नहीं। प्रारम्भ में ही कम-से-कम आठ प्रकार के नरकों का वर्णन किया गया है, यथा संजीव, काल-सूत्र, (कालसुत्त), संघात, रौरव, (रोरुव) महारौरव (महारोरुव), तप, महातप और अवीचि। इनकी यातनाओं का वर्णन तो निश्चय ही रोमांचकारी है। केवल महत्त्वपूर्ण भाग वह है जहाँ नाना प्रकार के पाप-कर्मों के परिणामस्वरूप वहाँ जाना दिखलाया गया है। इसके अलावा इस ग्रन्थ में अन्य कुछ ज्ञातव्य नहीं है। तुलनात्मक पौराणिक तत्त्व के विद्यार्थी के लिए 'पंचगतिदीपन' में प्रभूत सामग्री मिल सकती है, इसमें सन्देह नहीं। इसके रचयिता या उसके काल के सम्बन्ध में कुछ ज्ञात नहीं है।

लोकप्पदीपसार[1] या लोकदीपसार

इस ग्रन्थ की विषय-वस्तु 'पञ्चगतिदीपन' के समान ही है। 'सासनवंस' के वर्णनानुसार यह चौदहवीं शताब्दी के बरमी भिक्षु मेघंकर की रचना है, जिन्होंने अध्ययनार्थ सिंहल में प्रवास किया था और जो बाद में मर्तबान (बरमा) में आकर रहे।[2] पाँच प्रकार की योनियों का वर्णन करने के अतिरिक्त यहाँ आख्यानों के द्वारा उनमें निहित नैतिक उपदेशों को समझाया भी गया है। 'महावंस' से इस ग्रन्थ में काफी सामग्री ली गयी है। अन्य कुछ काव्यगत विशेषता इस ग्रन्थ की नहीं है।

---

१. देखिये मेबिल बोड : दि पालि लिटरेचर ऑफ बरमा, पृष्ठ ३६।
२. मेबिल बोड : दि पालि लिटरेचर ऑफ बरमा, पृष्ठ ३५-३६।

पालि आख्यान : रसवाहिनी[1]

उत्तरकालीन पालि साहित्य में गद्य-पद्य मिश्रित कुछ आख्यानों की भी रचना हुई। नैतिक ध्वनि की प्रधानता के अतिरिक्त इन सब की एक बड़ी विशेषता यह है कि इन्होंने जातक, अर्थकथाओं और कुछ अंश तक 'महावंस' आदि से पर्याप्त सामग्री ली है। पालि आख्यानों में 'रसवाहिनी' का नाम अधिक प्रसिद्ध है। मौलिक रूप में यह सिंहली भाषा की रचना थी। महाविहारवासी रट्ठपाल (राष्ट्रपाल) नामक स्थविर ने इसका प्रथम पालि रूपान्तर किया। बाद में प्रसिद्ध सिंहली भिक्षु वैदेह स्थविर (वेदेह थेर) ने इसको शुद्ध कर नवीन रूप प्रदान किया। अतः 'रसवाहिनी' का कर्तृत्व वैदेह स्थविर (वेदेह थेर) के नाम के साथ ही संबद्ध हो गया है। वैदेह स्थविर का काल निश्चित रूप से तेरहवीं शताब्दी ही माना जाता है,[2] यद्यपि कुछ विद्वान् उसे चौदहवीं शताब्दी मानने के भी पक्षपाती हैं।[3] सम्भवतः तेरहवीं शताब्दी के अंतिम और चौदहवीं शताब्दी के मध्य भाग में वे जीवित थे। वैदेह स्थविर का जन्म विप्रग्राम (विप्पगाम) के एक ब्राह्मण वंश में हुआ था। बाद में उन्होंने बौद्ध धर्म में प्रविष्ट होकर प्रव्रज्या ले ली। उनके गुरु प्रसिद्ध सिंहली भिक्षु आनन्द स्थविर थे, जो 'वनरतन' या 'अरण्यायतन' (अरञ्ञायतन—अरण्यवासी) भी कहलाते थे। इनका सम्बन्ध अरण्यवासी निकाय या वनवासी सम्प्रदाय से था। वैदेह स्थविर ने भी स्वयं अपने को वनवासी सम्प्रदाय का अनुयायी बतलाया है।[4] इन्हीं की रचना 'समन्तकूट

---

१. सिंहली लिपि में सरणतिस्स द्वारा दो भागों में सम्पादित, कोलम्बो १९० एवं १८९९; उसी लिपि में सिंहली व्याख्या-सहित देवरक्खित द्वारा सम्पादित१' कोलम्बो, १९१७।

२. गायगर : पालि लिटरेचर ऐण्ड लैंग्वेज, पृष्ठ ४३, पद-संकेत २; विण्टरनित्जः हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ २२४। मललसेकर के मतानुसार वेदेह थेर के गुरु सिंहली भिक्षु आनन्द वनरतन, बुद्धिप्पिय (रूपसिद्धि और पज्जमधु के रचयिता) के भी गुरु थे और वे (आनन्द वनरतन) विजयबाहु तृतीय के समकालिक थे। दि पालि लिटरेचर ऑफ सिलोन, पृष्ठ २१०-२१२; २२०-२२५। इस प्रकार भी वेदेह थेर का काल तेरहवीं शताब्दी ही ठहरता है।

३. देखिये विमलाचरण लाहा : हिस्ट्री ऑफ पालि लिटरेचर, जिल्द दूसरी, ६२५।

४. 'रसवाहिनी' के अन्त में। देखिये मललसेकर : दि पालि लिटरेचर ऑफ सिलोन, पृष्ठ २१०।

वण्णना'[1] नामक कविता भी है, जिसमें बुद्ध के जीवन और विशेषतः उनके तीन बार लंकागमन तथा तृतीय यात्रा, उनके चरण (श्रीपाद) चिह्न द्वारा अंकित समन्त कूट (सुमन-कूट) पर्वत का भी वर्णन है। इस ग्रन्थ में ७९६ पालिवृत्त (गाथाएँ) हैं। किन्तु इनकी अधिक प्रसिद्ध रचना 'रसवाहिनी' ही है। 'रसवाहिनी' १०३ आख्यानों का संग्रह है। इनमें प्रथम ४० के देश और परिस्थिति का चित्रण भारत (जम्बुद्वीप) में और शेष ६३ का लंका में किया गया है। कहानियाँ प्रायः गद्य में ही हैं, किन्तु बीच-बीच में कहीं-कहीं गाथात्मक अंश भी छिटका दिखायी देता है। भाषा की दृष्टि से यह उतनी सफल रचना नहीं कही जा सकती, किन्तु आख्यानात्मक कला के पर्याप्त दर्शन इस सुन्दर रचना में होते हैं। नैतिक उपदेश की प्रधानता होते हुए भी अनेक कहानियाँ कलात्मक दृष्टि से भी बहुत महत्त्वपूर्ण हुई हैं। कृतज्ञ पशु और अकृतज्ञ मनुष्य की कहानी (जिसका एक रूप सच्चंकिर जातक में भी पाया जाता है) निश्चय ही विश्व-साहित्य की एक सम्पत्ति है। जातक अपदानपालि, अट्ठकथाएँ और महावंस की पृष्ठभूमि में लिखा हुआ यह ग्रन्थ निश्चय ही सिंहली और भारतीय आख्यान-साहित्य का एक महत्त्वपूर्ण रत्न है। कुछ कहानियों के देश-काल को भारत और कुछ को लंका में रखकर, यह ग्रन्थ उक्त दोनों देशों की अभिन्न सांस्कृतिक और धार्मिक एकता को एक सुन्दर कलात्मक रूप में उपस्थित करता है। खेद है कि इस ग्रन्थ का अभी कोई नागरी-संस्करण या हिन्दी-अनुवाद प्रकाशित नहीं हुआ। दोनों देशों के सांस्कृतिक सम्वन्ध और विशेषतः भारतीय साहित्य के सिंहली साहित्य पर प्रभाव के अध्ययन के लिए इस ग्रन्थ का पारायण अत्यन्त आवश्यक है। बुद्ध-पूजा का तत्त्व इस ग्रन्थ की कुछ कहानियों में ध्वनित होता है, जो इस सम्बन्धी महायानी प्रवृत्ति या भारतीय भक्तिवाद के प्रभाव का सूचक हो सकता है। 'रसवाहिनी' की एक 'रसवाहिनीगण्ठि' नामक पालि-टीका भी लिखी गयी। सिंहली भाषा में इसका शब्दशः अनुवाद भी मिलता है। उस भाषा में इस विषय-सम्बन्धी अन्य भी प्रभूत साहित्य उपलब्ध है। बरमा में यह ग्रन्थ 'मधुरसवाहिनी' या 'मधुररसवाहिनी' के नाम से प्रसिद्ध है।

---

१. सिंहली अनुवाद-सहित सिंहली लिपि में धम्मानन्द और ञाणिस्सर (ज्ञानेश्वर) द्वारा सम्पादित, कोलम्बो, १८९०।

२. मिलाइये आगे इसी अध्याय में स्याम देश में 'बुद्ध-पाद' की स्थापना का कुछ वर्णन भी।

बुद्धालङ्कार[1]

१५वीं शताब्दी के आवा (बरमा)-निवासी शीलवंस (सीलवंस) नामक भिक्षु की रचना है। यह पद्यबद्ध है। जातकट्ठकथा की निदान-कथा की सुमेध-कथा पर यह आधारित है। अन्य कुछ ध्यान देने योग्य विशेषता इसमें नहीं है।

सहस्सवत्थुप्पकरण

इस ग्रन्थ में लगभग एक हजार कहानियों का संग्रह बताया जाता है। सम्भवतः 'रसवाहिनी' का यही आधार था। कम-से-कम इन दोनों का सम्बन्ध तो स्पष्ट ही है। बरमा से इस ग्रन्थ का लंका में प्रचलन हुआ। किन्तु सम्भवतः यह मौलिक रूप में लंका में ही लिखा गया था। इस ग्रन्थ की 'सहस्सवत्थट्ठकथा', नामक एक टीका भी थी, जिसका उल्लेख कई बार महावंस-टीका (ग्यारहवीं-तेरहवीं शताब्दियों के बीच में रचित) में किया गया है। मललसेकर ने इसे पालि 'रसवाहिनी' और सिंहली वंश-ग्रन्थ 'सद्धर्मालंकार' का स्रोत माना है।[2]

राजाधिराजविलासिनी

यह एक गद्य-ग्रन्थ है, जिसमें बौद्ध धर्म और उसके साहित्य के महान् संरक्षक, १८वीं शताब्दी के बरमी राजा बोदोपया (बुद्धप्रिय) की प्रशंसा की गयी है। केवल आदि और अन्त में कुछ गाथाएँ हैं। इसके लेखक ञाणाभिवंस नामक स्थविर थे जो राजा बोदोपया के आचार्य थे और उस समय बरमा के संघराज थे। इसकी कहानियों का आधार प्रधानतः जातक ही है, यद्यपि अट्ठकथा तथा वंश-साहित्य से भी लेखक ने पर्याप्त सामग्री ली है और उनसे उद्धरण दिये हैं। विशेषणों का प्रयोग अतिरंजित है और पण्डिताऊपन के ढंग पर किया गया है, जो अरुचिकर है। संस्कृत के व्याकरण और ज्योतिष शास्त्र से भी लेखक का पर्याप्त परिचय था, यह उसके विद्वत्तामय, अलंकृत वर्णनों से और साहित्यिक निर्देशों से, जो उसने दिये हैं, विदित होता है।[3]

उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त कुछ अल्प महत्त्व के भी ग्रन्थ कथा-साहित्य पर इस उत्तरकालीन युग में लिखे गये। इनकी प्रेरणा का मुख्य आधार जातक ही

---

१. मेबिल बोड : दि पालि लिटरेचर ऑफ बरमा, पृष्ठ ४३।

२. मललसेकर : दि पालि लिटरेचर ऑफ सिलोन, पृष्ठ २२५-२२६।

३. विस्तृत विवरण के लिए देखिये मेबिल बोड : दि पालि लिटरेचर ऑफ बरमा, पृष्ठ ७८-८२।

रहा, यह तो निश्चित ही है। इस प्रकार पन्द्रहवीं शताब्दी में आवा (बरमा) के निवासी रट्ठसार ने कुछ जातकों का पद्यबद्ध अनुवाद किया।[1] प्रोम के भिक्षु तिपिटकालंकार ने १७वीं शताब्दी में वेस्सन्तर जातक का पद्यबद्ध अनुवाद किया।[2] अठारहवीं शताब्दी में 'मालालंकारवत्थु' नामक बुद्ध-जीवनी भी किसी बरमी भिक्षु ने सन १७७३ ई० में पालि भाषा में गद्य में लिखी। इसी का बरमी भाषा में अनुवाद 'म-ल-लेन्-ग-र-वोतू' शीर्षक से अठारहवीं शताब्दी में ही हुआ। जातक-अट्ठकथा और वंश-साहित्य के बाद इस दिशा में मौलिक कुछ नहीं किया गया, यह हम इस सब कथा-साहित्य के पर्यवेक्षण स्वरूप कह सकते हैं।

पालि का व्याकरण-साहित्य : उसके तीन सम्प्रदाय

पालि साहित्य के इतिहास में व्याकरण का विकास बहुत बाद में चलकर हुआ। बुद्धदत्त, बुद्धघोष और धम्मपाल के समय तक अर्थात् पाँचवीं शताब्दी ईसवी या उसके कुछ बाद तक हमें किसी पालि व्याकरण या व्याकरणकार का पता नहीं चलता। जहाँ तक ज्ञात हुआ है, आचार्य बुद्धघोष ने भी अपनी व्याख्याओं में किसी प्राचीन पालि व्याकरण का आश्रय न लेकर पाणिनीय अष्टाध्यायी का ही लिया है। 'विसुद्धि-मग्ग' में उनके द्वारा की हुई 'इन्द्रिय' शब्द की व्याख्या इसका सर्वोत्तम उदाहरण है। 'विसुद्धि-मग्ग' के सोलहवें परिच्छेद 'इन्द्रिय-सच्च-निद्देसो' (इन्द्रिय और सत्य का निर्देश) में आता है "को पन नेसं इन्द्रियट्ठो नामाति? इन्दलिंगट्ठो इन्द्रियट्ठो, इन्ददेसितट्ठो, इन्द्रियट्ठो, इन्ददिट्ठो इन्द्रियट्ठो, इन्दसिट्ठट्ठो इन्द्रियट्ठो, इन्दजुट्ठट्ठो इन्द्रियट्ठो"।[4] निश्चय ही यहाँ पाणिनीय अष्टाध्यायी व्याकरण का यह सूत्र प्रतिध्वनित है "इन्द्रियं इन्द्रलिंगं इन्द्रदृष्टं, इन्द्रजुष्टं, इन्द्रदत्तमिति वा" (५।२।९३)। इसी प्रकार पाणिनीय

---

१. २. मेबिल बोड : दि पालि लिटरेचर ऑफ बरमा, पृष्ठ ४४, ५३।

३. इसी बरमी रूपान्तर का विशप बिगेण्डेट ने अंग्रेजी-अनुवाद किया है, जिसका शीर्षक है 'दि लाइफ़ आर लाजेण्ड आफ गौतम दि बुद्ध', प्रथम संस्करण, रंगून, १८५८ ई०। बाद में यह अनुवाद लन्दन से छपा, द्वितीय संस्करण, १८६६ ई०, तृतीय संस्करण १८८० ई० तथा चतुर्थ संस्करण १९११ ई०। विशप बिगेण्डेट से पूर्व चेस्टर बेनेट ने भी इसका अंग्रेजी भाषा में अनुवाद किया था, जो जर्नल ऑफ अमेरिकन ओरियण्टल सोसायटी की जिल्द तीसरी में सन् १८५३ ई० में छपा था।

४. विसुद्धिमग्ग १६।४ (धर्मानन्द कोसम्बी द्वारा सम्पादित देवनागरी संस्करण)।

सूत्र "वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा" (३।१।३३१) भी सुत्तनिपात की अटठकथा[1] में प्रतिध्वनित हुआ है। "वत्तमानसमीपे वत्तमानवचनलक्खणं।" दोनों निरुक्तियाँ आपस में शब्दशः इतनी मिलती हैं कि आचार्य बुद्धघोष ने पाणिनीय व्याकरण का आश्रय लिया है, इस निष्कर्ष का प्रतिवाद नहीं किया जा सकता।[2] इसी प्रकार पाणिनि ने 'आपत्ति' शब्द का प्रयोग 'प्राप्ति' के अर्थ में किया है। आचार्य बुद्धघोष ने इस विषय में भी उनका अनुसरण कर इस शब्द का उसी अर्थ में प्रयोग 'समन्तपासादिका' (विनयपिटक की अट्ठकथा) में अनेक बार किया हैं।[3] यहाँ हमारा यह कहना है कि यह प्रयोग पाणिनीय व्याकरण के प्रभावस्वरूप उतना नहीं भी माना जा सकता, क्योंकि पालि-तिपिटक के स्वयं 'सोत आपत्ति' शब्द में यह प्रयोग रखा हुआ है। यह सम्भव है कि पालि और संस्कृत का विकास समकालिक होने के कारण पाणिनीय व्याकरण में कुछ एसे प्रयोग भी दृष्टिगोचर होते हों जो उस समय की साहित्यिक भाषा (संस्कृत) और लोक-भाषा (पालि) में समान रूप से प्रतिष्ठित हों। अतः बुद्धघोष ने ऐसे प्रयोगों को पाणिनीय व्याकरण से न लेकर सम्भवतः पालि-तिपिटक से ही लिया हो, ऐसा मानना भी अधिक समीचीन जान पड़ता है।[4] यहाँ तक भी कहा जा सकता है कि उनकी अनेक निरुक्तियाँ-

---

१. जिल्द पहली, पृष्ठ २३ (पालि सोसायटी का संस्करण)। इसी प्रकार विसुद्धिमग्ग ७।५८ (कोसम्बी जी का संस्करण) में 'भाग्यवा' ति वत्तब्बे भगवा'ति वुच्चती'ति के रूप में 'भगवा' शब्द का निरुक्ति-लक्षण करते हुए आचार्य बुद्धघोष उसके प्रमाणस्वरूप "वण्णागमो वण्णविपरिययो" ति अक्षरशः 'काशिका' (६।३।१०९) का उद्धरण देते हैं, जिसे उन्होंने प्राचीन संस्कृत-व्याकरण की परम्परा से लिया है। अष्टाध्यायी की काशिका वृत्ति का समय सातवीं शताब्दी ईसवी है, बुद्धघोष से दो शताब्दी बाद।

२. इस मत की स्थापना बड़ी योग्यता के साथ डॉ० विमलाचरण लाहा ने की है। देखिये उनका 'दि लाइफ़ ऐण्ड वर्क ऑफ़ बुद्धघोष', पृष्ठ १०४-१०५, हिस्ट्री ऑफ पालि लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६३२-३३; मिलाइये जर्नल ऑफ़ पालि टैक्स्ट सोसायटी १९०६-०७, पृष्ठ १७२-७३।

३. देखिये 'दि लाइफ एेण्ड वर्क ऑफ बुद्धघोष' पृष्ठ १०५; हिस्ट्री ऑफ़ पालि लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६३३।

४. यह इससे भी प्रकट होता है कि बुद्धघोष ने शब्द-निरुपित करनेवाले तिपिटक के अंशों, विशेषतः अभिधम्म-पिटक, को 'वेय्याकरण' कहा है। देखिये

तिपिटक और विशेषतः अभिधम्म-पिटक के एतत्सम्बन्धी विशाल भांडार पर ही आश्रित हैं। यद्यपि बुद्धघोष से पहले पारिभाषिक अर्थों में पालि में व्याकरण या निरुक्ति-शास्त्र (पालि-निरुत्ति—पालि तिपिटक के शब्दों की व्याकरण-सम्मत व्याख्या) न भी रहा हो, किन्तु तिपिटक के शब्दों की व्याख्या (वेय्याकरण) के लिए कुछ नियम तो अवश्य ही रहे होंगे। सुत्त-पिटक के प्राचीनतम अंशों में भी 'ब्राह्मण', 'श्रमण', 'भिक्षु', 'तथागत' आदि शब्दों की जो निरुक्तियाँ और व्युत्पत्तिलब्ध अर्थ किये गये हैं, उनसे यह बात आसानी से समझ में आ सकती है। स्वयं बुद्ध भगवान् नें धर्मचक्र-प्रवर्तन करने के बाद 'महावग्ग' पालि में आये वर्णन के अनुसार भिक्षुओं को आदेश दिया था कि "अर्थ-सहित, व्यञ्जन के सहित, केवल परिपूर्ण, सुपरिशुद्ध ब्रह्मचर्य को प्रकाशित करो"—"सात्थं सव्यञ्जनं केवलपरिपुण्णं परिसुद्धं ब्रह्मचरियं पकासेथ।" इसी प्रकार अंगुत्तर-निकाय (पञ्चक निपात) के 'ततिय सद्धम्मसम्मोस-सुत्त' में उन्होंने कहा है कि "गलत ढंग से रखे गये पद-व्यञ्जनों का अर्थ भी बुरे रूप में ले जाने वाला होता है, सुन्दर रूप से गृहीत (पद-व्यञ्जनों) का अर्थ भी सुन्दर रूप से ले जाने वाला होता है।"—दुन्निक्खित्तस्स भिक्खवे, पदव्यञ्जनस्स अत्थो पि दुन्नयो होति। सुग्गहितस्स अत्थो पि सुनयो होति।" इस प्रकार स्थविरवाद में अर्थ और व्यञ्जन के महत्त्व के सम्बन्ध में सर्वत्र सन्तुलन है। अर्थ को व्यञ्जित करने के कारण ही व्यञ्जन व्यञ्जन हैं। आचार्य बुद्धघोष ने 'अट्ठसालिनी' में कहा भी है "यस्मा पनेतं (व्यञ्जनं) अत्थं व्यञ्जयति, तस्मा एवं वुत्तं" ति। 'मिलिन्दपञ्ह' की बाहिरनिदानकथा में कहा गया है कि स्थविर नागसेन ने पहले त्रैपिटक बुद्धवचनों को व्यञ्जनतः सीखा और फिर उनका अर्थ से मनन किया। "तेपिटकं बुद्धवचनं व्यञ्जनतो परियापुणित्वा दुन अत्थतो मनसाकासी" ति। यही क्रम है। अतः व्याकरण या शब्द-शास्त्र भी यहाँ अपना महत्त्व ग्रहण कर लेता है। 'धम्मपद' में महाप्रज्ञ भिक्षु के लिए यह आवश्यक माना गया है कि वह 'निरुक्ति और पदों का ज्ञाता' ('निरुत्ति-पदकोविदो') हो और 'अक्षरों के सन्निपात' (अक्खरानं सन्निपातं) अर्थात् शब्द-योजना से परिचित हो।[1] इससे भी यही प्रकट होता है कि शब्दों की निरुत्ति और व्याकरण सम्बन्धी साधारण नियमों की कोई परम्परा पालि साहित्य के प्राचीनतम युग में भी अवश्य रही होगी। सम्भवतः इसी परम्परा का प्रवर्तन हमें नेत्तिप्प

"सकलं पि अभिधम्मपिटकं तं वेय्याकरणं'ति वेदितब्बं"। अट्ठसालिनी की निदानकथा।

१. धम्मपद २४-१९।

करण और पेटकोपदेस में मिलता है। फिर भी बौद्ध अनुश्रुति का यह सामान्य विश्वास है कि भगवान् बुद्ध के एक प्रमुख शिष्य महाकच्चान (महाकात्यायन) ने भी एक पालि व्याकरण की रचना की थी। तत्सम्बन्धी साहित्य के अभाव में इसे ठीक नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार 'बोधिसत्त' और 'सब्बगुणाकर' नामक दो प्राचीन व्याकरण भी, जिनका नाम बौद्ध परम्परा में सुना जाता है, आज उपलब्ध नहीं हैं। आज जो व्याकरण-साहित्य पालि का हमें उपलब्ध है, तीन शाखाओं या सम्प्रदायों में विभक्त है (१) कच्चायन-व्याकरण और उसका उपकारी व्याकरण-साहित्य, (२) मोग्गल्लान-व्याकरण और उसका उपकारी व्याकरण-साहित्य और (३) अग्गवंस-कृत सद्दनीति और उसका उपकारी व्याकरण-साहित्य। लंका और बरमा में ही प्रभूत पालि व्याकरण-सम्बन्धी साहित्य का प्रणयन सातवीं शताब्दी के बाद से हुआ है। अब हम उपर्युक्त तीनों सम्प्रदायों की परम्परा का अलग-अलग विवेचन करेंगे।

कच्चायन-व्याकरण[1] और उसका उपकारी साहित्य

'कच्चायन-व्याकरण' (कात्यायन-व्याकरण) पालि साहित्य का प्राचीनतम व्याकरण है। इसका दूसरा नाम 'कच्चायन गन्ध' (कात्यायन-ग्रन्थ) भी है। इस व्याकरण के रचयिता का बुद्ध के एक प्रधान शिष्य महाकच्चान या महाकच्चायन (महाकात्यायन) से कोई सम्बन्ध नहीं, इसे बौद्ध विद्वान् भी स्वीकार करते हैं।

---

१. डॉ० सतीशचन्द्र विद्याभूषण द्वारा सम्पादित एवं अनुवादित, कलकत्ता, १८९१; डॉ० रेवरेण्ड फादर मेसन ने भी इस ग्रन्थ का सम्पादन किया था। तौंगू (बरमा), १८६८-७० ई०। अभी हाल में लक्ष्मीनारायण तिवारी एवं बीरबल शर्मा ने 'कच्चायन-व्याकरण' का सम्पादन और हिन्दी-अनुवाद किया है। तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी, १९६२ ई०।

२. देखिये सुभूति : नाममाला, पृष्ठ ६ (भूमिका)। 'गन्धवंस', 'सासनवंस दीप' तथा स्वयं कच्चायन-व्याकरण पर लिखे गये कुछ व्याख्या-ग्रन्थों में भी कच्चायनव्याकरण को बुद्ध के साक्षात् शिष्य महाकच्चान या महाकच्चायन की ही रचना बताया गया है। बल्कि 'गन्धवंस' में तो और भी स्पष्टतापूर्वक कहा गया है कि यह महाकच्चायन अवन्ती राष्ट्र के उज्जयिनी नगर में राजा चण्डप्रद्योत के पुरोहित थे। यही इन्हीं महाकच्चायन की ही रचनाएँ 'नेत्तिप्पकरण' और 'पेटकोपदेस' भी मानी गयी हैं। इस मत से सहमत होना कठिन है। 'नेत्तिप्पकरण' बुद्धघोष से पूर्व की रचना है। व्याकरणकार कच्चायन बुद्धघोष के उत्तरकालीन

इसी प्रकार पाणिनीय व्याकरण के वार्तिककार कात्यायन (तृतीय शताब्दी ईसवी पूर्व) से भी ये भिन्न हैं, ऐसा भी निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है। नेत्तिपकरण (नेत्तिप्पकरण) और पेटकोपदेस के रचयिता कच्चायन से भी व्याकरणकार कच्चायन भिन्न हैं। व्याकरणकार कच्चायन यदि बुद्धघोष के पूर्वगामी होते तो यह असम्भव था कि कच्चायन-व्याकरण जैसे प्रामाणिक पालि-व्याकरण का वे अपनी व्याख्याओं में कहीं भी उद्धरण न देते। इस निषेधात्मक साक्ष्य के अलावा अन्य स्पष्ट साक्ष्य भी कच्चायन-व्याकरण के बुद्धघोष के काल से उत्तरकालीन होने के दिये जा सकते हैं। कच्चायन ने अपने व्याकरण में शर्ववर्मा के कातन्त्र व्याकरण (चतुर्थ शताब्दी ईसवी) का अनुगमन किया है। उन्होंने स्पष्टतापूर्वक पाणिनि व्याकरण का उसकी काशिकावृत्ति के साथ अनुसरण किया है। काशिकावृत्ति की रचना का समय सातवीं शताब्दी ईसवी है। अतः यह निश्चित है कि कच्चायन-व्याकरण भी सातवीं शताब्दी से पूर्व का नहीं हो सकता। स्वयं कच्चायन-व्याकरण में ही उसके संस्कृत सम्बन्धी ऋण को स्वीकार किया गया है। इस प्रकार सूत्र १।१।८ में कहा गया है 'परसमञ्ञापयोगे'। इसकी व्याख्या करते हुए उसकी वुत्ति (वृत्ति) में कहा गया है 'या च पन सक्कतगन्थेसु समञ्ञा···आदि।' इन 'संस्कृत ग्रन्थों' में (सक्कतगन्थेसु), जैसा हम अभी कह चुके हैं, कातन्त्र-व्याकरण (चौथी शताब्दी ईसवी) और पाणिनीय सूत्रों की काशिका वृत्ति (सातवीं शताब्दी) प्रधान हैं। अतः कच्चायन-व्याकरण का काल सातवीं शताब्दी के बाद का ही है। कच्चायन-व्याकरण में ६७५ सूत्र हैं। ये आठ परिच्छेदों में

हैं। मललसेकर ने किसी प्रकार यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि बुद्ध के शिष्य महाकच्चायन ने व्याकरण का एक सम्प्रदाय चलाया था—अवन्ती-सम्प्रदाय—और न केवल कच्चायन-व्याकरण का बल्कि 'नेत्तिप्पकरण' और 'पेटकोपदेस' का भी (जिन तीनों रचनाओं को 'गन्धवंस' में महाकच्चायन-कृत बताया गया है) उद्‌गम उस सम्प्रदाय की परम्परा में है। देखिये उनका 'पालि लिटरेचर ऑफ सिलोन, पृष्ठ १७९; डिक्शनरी ऑफ पालि प्रॉपर नेम्स, जिल्द पहली, पृष्ठ ४७८; जिल्द दूसरी, पृष्ठ ४७०। परन्तु यहाँ यह नहीं सोचा गया कि कहाँ बुद्ध के उन प्राथमिक शिष्यों के पास व्याकरण-शास्त्र लिखने के लिए या उसकी परम्परा चलाने के लिए समय था, या कि कहाँ तक उनके शास्त्र उनकी इस वृत्ति का अभ्यनुमोदन भी कर सकते थे? ये सब बातें बाद के व्याकरण-शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों को और अधिक प्रामाणिकता और आदरभाव दिलाने के लिए ही गढ़ ली गयी हैं, यह स्पष्ट ही है।

विभक्त हैं, जिनमें प्रत्येक में चार बातों का विवेचन है, (१) सुत्त (सूत्र, नियम; संक्षिप्त रूप में), (२) वुत्ति (वृत्ति-पूरक विवरण, सूत्रों को सुगम बनाने के लिए), (३) पयोग (प्रयोग) और (४) न्यास (व्याख्यात्मक टिप्पणियाँ)। 'न्यास' सामान्यतः अलग पुस्तक के रूप में प्राप्त है और उसका नाम 'मुखमत्तदीपनी' भी है, हम जैसा आगे देखेंगे। कच्चायन-व्याकरण के एक उपकारी ग्रन्थ 'कच्चायन-भेद' (जिसका परिचय हम आगे देंगे) में माना गया है कि सुत्त कच्चायन-रचित हैं, वुत्ति संघनंदी नामक स्थविर द्वारा रचित, पयोग ब्रह्मदत्त-रचित और न्यास विमलबुद्धि द्वारा रचित हैं। इस व्याकरण के अलावा 'कच्चायन-महानिरुत्ति गन्थ' (महानिरुक्ति-ग्रन्थ) और 'चुल्ल निरुत्त गन्थ' (लघु निरुक्ति-ग्रन्थ) नामक दो व्याकरण-ग्रन्थों के भी ये रचयिता बताये जाते हैं।[1] कच्चायन-व्याकरण का सहायक साहित्य काल-क्रमानुसार इस प्रकार है—(१) कच्चायन-व्याकरण का सबसे प्राचीन और महत्त्वपूर्ण भाष्य 'न्यास' है। इसी का दूसरा नाम 'मुखमत्तदीपनी' भी है। यह आचार्य विमलबुद्धि की रचना है।[2] यह महाविमलबुद्धि भी कहलाते थे और इनका काल ग्यारहवीं शताब्दी से पहले और कच्चायन-व्याकरण की रचना (सातवीं शताब्दी) के बाद है। 'सासनवंस' के अनुसार अरिमद्दन नगर (पगान) के निवासी महाविमलबुद्धि 'न्यास' के रचयिता थे। "महाविमलबुद्धि (अरिमद्दननगरवासी) थेरो कच्चायनस्स संवण्णनं 'न्यास' गन्थं अकासि।" परन्तु यहीं आगे कहा गया है कि कुछ लोग इसे सिंहल द्वीपवासी विमलबुद्धि स्थविर की भी रचना बताते हैं। "के चि पन सीहल दीपवासी विमलबुद्धि थेरो तं अकासी'ति वदन्ति।" इस प्रकार यह अनिश्चित हो जाता है कि 'न्यास' या 'मुखमत्तदीपनी' के लेखक विमलबुद्धि (या महाविपुल बुद्धि) बरमी भिक्षु थे या सिंहली? (२) 'न्यास' की टीका-स्वरूप 'न्यास-प्रदीप' बारहवीं शताब्दी के अंतिम भाग में लिखा गया। इसके रचयिता 'छपद' नामक आचार्य थे। यह बरमी भिक्षु थे, किन्तु इनकी शिक्षा लंका में हुई थी। यह सिंहली भिक्षु सारिपुत्त के शिष्यों में से थे। इनकी अन्य रचनाओं का परिचय हम पहले दे चुके हैं। 'न्यास' पर अन्य साहित्य भी उत्तरकालीन शताब्दियों में बहुत लिखा जाता रहा।[3] छपद ने कच्चायन

---

१. देखिये गन्धवंस, पृष्ठ ५९ (मिनयेफ़ द्वारा जर्नल ऑफ पालि टैक्स्ट सोसायटी में सम्पादित)। सुभूति ने इन ग्रन्थों को यमक की रचना बताया है। देखिये उनकी नाममाला, पृष्ठ २८ (भूमिका)।

२. गन्धवंस, पृष्ठ ६०; सुभूति : नाममाला, पृष्ठ ९ (भूमिका)।

३. उदाहरणतः बरमी राजा नरपति-सिथु के शासन-काल में 'न्यास' की

व्याकरण-साहित्य को एक ग्रन्थ और भी दिया—(३) सुत्त-निद्देस या 'कच्चायन-सुत्त-निद्देस—छपद-कृत यह ग्रन्थ कच्चायन-व्याकरण की टीका-स्वरूप लिखा गया है। इसका, निश्चित रचना-काल ११७१ ई० (बुद्धाब्द १७१५) है। (४) स्थविर संघरक्खित (संघरक्षित) द्वारा रचित 'सम्बन्ध-चिन्ता'। यह ग्रन्थ कच्चायन-व्याकरण के आधार पर पालि पद-योजना या शब्द-सम्बन्ध का विवेचन करता है। पालि क्रियाओं और वाक्यों में उनके प्रयोग का विवेचन है और कारकों का भी। स्थविर संघरक्खित सिंहली भिक्षु सारिपुत्त के शिष्यों में से थे; अतः निश्चित रूप से इनका काल १२वीं शताब्दी का अन्तिम भाग ही है। इस प्रकार ये छपद के समकालिक थे। इन्होंने विनय-साहित्य पर भी 'खुद्दक-सिक्खा' (क्षुद्रक-शिक्षा-रचयिता भिक्षु धर्मश्री-धम्मसिरि) के टीका स्वरूप 'खुद्दकसिक्खा-टीका' लिखी थी। 'सम्बन्ध-चिन्ता' पर एक टीका भी पायी जाती है, किन्तु उसके लेखक के नाम और काल का पता नहीं है। कुछ के मतानुसार सम्बन्ध-चिन्ता-टीका के लेखक सिंहली भिक्षु सारिपुत्त के ही शिष्य वाचिस्सर हैं। पगान के अभय नामक स्थविर ने भी सम्बन्ध-चिन्ता पर एक टीका लिखी। (५) स्थविर सद्धर्मश्री (सद्धम्मसिरि), विरचित 'सद्दत्थभेदचिंता' (शब्दार्थभेदचिन्ता)। यह ग्रन्थ बरमा में १२वीं शताब्दी के अन्तिम भाग में लिखा गया। इस पर भी एक अज्ञात लेखक की टीका मिलती है। उन्नीसवीं शताब्दी में 'सासनवंस' के लेखक बरमी भिक्षु पञ्ञासामी ने 'सद्दत्थभेदचिन्ता' में आये कठिन शब्दों की व्याख्यास्वरूप एक रचना 'गण्ठिपदत्थ वण्णना' का बरमी भाषा में अनुवाद किया। (६) स्थविर बुद्धप्रिय (दीपंकर) विरचित 'रूपसिद्ध' या 'पद-रूप-सिद्धि'। महत्त्व की दृष्टि से इसे ही महारूपसिद्धि भी कहा जाता है। इसी शीर्षक से इसे धर्मकीर्ति श्री धर्माराम ने सिंहली अक्षरों में सम्पादित किया है। कोलम्बो, १९१५ ई०। स्थविर बुद्धप्रिय दीपंकर ने इस ग्रन्थ के अन्त में अपना परिचय देते हुए

एक 'पोराण-टीका' उसके एक मन्त्री ने लिखी, जिसके विषय में 'सासनवंस' में कहा गया है, "यास' गन्धस्स पोरिणटीकं नरपतिरञ्ञो काले एको अमच्चो अकासि।" सासनवंसो, पृष्ठ ७१-७२ (देवनागरी संस्करण)। सत्रहवीं शताब्दी के मध्य में बरमी भिक्षु दाठानाग द्वारा रचित 'निरुत्तिसारमंजूसा' नामक 'न्यास' की टीका भी प्रसिद्ध है। देखिये मेबिल बोड: दि पालि लिटरेचर ऑफ बरमा, पृष्ठ ५५; सुभूति : नाममाला, पृष्ठ १० (भूमिका)।

१. सुभूति : नाममाला, पृष्ठ १५ (भूमिका); मेबिल बोड : दि पालि लिटरेचर ऑफ बरमा, पृष्ठ १७-१८।

अपने को आनन्द स्थविर का शिष्य कहा है। 'पज्जमधु' के रचयिता स्थविर बुद्धप्पिय से, जो चोळिय दीपंकर भी कहलाते थे और सिंहली स्थविर आनन्द के शिष्य थे, यह सम्भवतः अभिन्न हैं। इनका काल इस प्रकार तेरहवीं शताब्दी का अन्तिम भाग ही है।[1] 'रूपसिद्धि' सात परिच्छेदों में विभक्त है और कुछ अल्प परिवर्तनों के साथ कच्चायन-व्याकरण का ही रूपान्तर मात्र है या उस पर आधारित है। बल्कि उसका संक्षिप्त रूप ही है। 'रूप-सिद्धि' पर बुद्धिप्रिय स्थविर ने ही एक टीका लिखी और सिंहली भाषा में उसका रूपान्तर भी किया गया। (७) बालावतार-व्याकरण—यह व्याकरण विशेषतः बरमा और स्याम में बड़ा लोकप्रिय है। लंका में इसके कई संस्करण निकले हैं।[2] यह भी कच्चायन-व्याकरण के आधार पर ही लिखा गया है। यह ग्रन्थ 'धम्मकित्ति' (धर्मकीर्ति) की रचना माना जाता है। यह धम्मकित्ति (धर्मकीर्ति), डॉ० गायगर के मतानुसार, 'सद्धम्मसंगह' के रचयिता 'धम्मकित्ति महासामि' (धर्मकीर्ति महास्वामी) ही हैं, जिनका जीवन-काल चौदहवीं शताब्दी का उत्तर भाग है।[3] गन्धवंस[4] के वर्णनानुसार यह वाचिस्सर (वागीश्वर) की रचना है। वाचिस्सर सिंहली भिक्षु सारिपुत्त के शिष्यों में से थे। उनका जीवन-काल निश्चित रूप से बारहवीं शताब्दी का उत्तर भाग और तेरहवीं शताब्दी का प्रारम्भिक भाग है। इस प्रकार उनकी रचना मानने पर 'बालावतार' का रचना-काल भी उसी समय मानना पड़ेगा। परन्तु ,जैसा हम 'सद्धम्मसंगह' के प्रकरण में स्पष्ट कर चुके हैं, 'बालावतार' व्याकरण के रचयिता सिंहली भिक्षु धम्मकित्ति संघराज थेर हैं, जिन्होंने सिंहली भाषा में 'निकाय-संग्रह' और 'सद्धर्मालंकार' आदि ग्रन्थ भी लिखे और जिनका समय चौदहवीं शताब्दी ही है। हिक्कडुवे सिरि सुमंगल नायक थेर ने 'बालावतार' व्याकरण के अपने द्वारा सम्पादित सिंहली संस्करण में उसके रचयिता का नाम धम्मकित्ति संघराज थेर ही दिया है। यह 'सद्धम्म-संगह

---

१. परन्तु श्रीमती मेबिल बोड ने 'रूप-सिद्धि' को बारहवीं शताब्दी की रचना माना है। देखिये उनकी 'दि पालि लिटरेचर ऑव बरमा, पृष्ठ ३७।

२. विशेषतः श्री धर्माराम द्वारा सम्पादित, पलियगोड, १९०२; बालावतार (पालि व्याकरण) टीका-सहित हिक्कडुवे सिरि सुमंगल नायक थेर द्वारा सम्पादित, कोलम्बो १८९३, द्वितीय संस्करण, १९१३ (बुद्धाब्द २४५७)।

३. पालि लिटरेचर ऐण्ड लैंग्वेज, पृष्ठ ४५, ५१।

४. पृष्ठ ६२, ७१ (जर्नल ऑफ पालि टैक्स्ट सोसायटी १८८६ में सम्पादित संस्करण)।

के रचयिता धम्मकित्ति महासामि से भिन्न थे। 'बालावतार' व्याकरण पर लिखी हुई एक टीका भी मिलती है, किन्तु उसके लेखक का नाम और काल आदि सब अज्ञात हैं। (८) सागू (बरमा) के भिक्षु कण्टकखिप नागित'[१] (या खण्टकखिप नागित) या केवल नागित-विरचित 'सद्दसारत्थजालिनी' नामक कच्चायन व्याकरण की टीका १३५६ ई० (बुद्धाब्द १९००) में लिखी गयी। (९) 'कच्चायन-भेद' नामक कच्चायन-व्याकरण की टीका, जिसकी रचना चौदहवीं शताब्दी के उत्तर भाग में थातोन् (सुधम्मपुर-बरमा) के स्थविर महायस ने की। इन्हीं स्थविर की एक और व्याकरण-सम्बन्धी रचना 'कच्चायन-सार' है।[२] 'गंधवंस'[३] के वर्णनानुसार 'कच्चायन-भेद' और 'कच्चायन-सार' दोनों धम्मानन्द नामक भिक्षु की रचनाएँ हैं। 'कच्चायन-भेद' और 'कच्चायन-सार' पर टीकाएँ भी लिखी गयीं। 'कच्चायन-भेद' की दो टीकाएँ अति प्रसिद्ध हैं, (१) 'सारत्थविकासिनी', जिसकी रचना १६०८ ई० (बुद्धाब्द २१५२) के लगभग अरियालंकार नामक बरमी भिक्षु ने की, जो आवा (रतनपुर) के निवासी थे। (२) 'कच्चायनभेद-महाटीका' जिसके रचयिता उत्तमसिक्ख (उत्तम-शिक्ष) माने जाते हैं, जिनके काल का कुछ निश्चित पता नहीं है। 'कच्चायन-सार' पर स्वयं इसके रचयिता महायस ने एक टीका लिखी थी। गायगर के मतानुसार यह 'कच्चायनसार-पुराणटीका' थी,[४] जो आज उपलब्ध है। सिंहली विद्वान् सुभूति ने इसे किसी अज्ञात लेखक की रचना माना है।[५] 'कच्चायनसार' की एक और टीका 'कच्चायनसार-अभिनव टीका' या 'सम्मोह-विनासिनी' पगान के भिक्षु सद्धम्मविलास के द्वारा लिखी गयी।[६] (१०) पन्द्रहवीं

---

१. इन भिक्षु का यह नाम लक्षणीय-सा लगता है और इसके पीछे एक कहानी है। कहा जाता है कि बाल्यावस्था में नागित का मन पढ़ने में नहीं लगता था और वे संघाराम न जाकर बीच मार्ग में से ही घर लौट कर आ जाया करते थे। इस पर एक दिन क्रोध में आकर उनके पिता ने उन्हें काँटों की झाड़ी में फेंक दिया। इसी घटना को लेकर बाद में उन्होंने 'कण्टकखिप नागित' नाम पाया।

२. सुभूति : नाममाला, पृष्ठ ८३ (भूमिका); मेबिल बोड : दि पालि लिटरेचर ऑफ बरमा, पृष्ठ ३६।

३. पृष्ठ ७४ (जर्नल ऑफ पालि टैक्स्ट सोसायटी १८८६ में सम्पादित संस्करण)।

४. पालि लिटरेचर एण्ड लैंग्वेज, पृष्ठ ५२।

५. नाममाला, पृष्ठ ८४-८५ (भूमिका)।

६. बोड : दि पालि लिटरेचर ऑफ बरमा, पृष्ठ ३६-३७।

शताब्दी के मध्य भाग में कच्चायन-व्याकरण पर 'सद्दबिन्दु' (शब्द-बिन्दु) नामक सहायक ग्रन्थ लिखा गया। 'स-सनवंस'[1] के वर्णनानुसार अरिमद्दन (अरिमर्दन-पगान-बरमा) का राजा क्यच्वा इसका रचयिता था। सुभूति ने इस ग्रन्थ का निश्चित रचना-काल १४८१ ई० (बुद्धाब्द २०२५) बताया है।[2] 'सद्दबिन्दु' पर 'लीनत्थ-विसोधनी' नामक टीका ञाणविलास (ज्ञान-विलास) नामक बरमी भिक्षु द्वारा १६वीं शताब्दी के अंतिम भाग में पगान (अरिमद्दन) नगर में लिखी गयी।[3] (११) सोलहवीं शताब्दी के मध्य भाग में 'बालप्पबोधन' (बालप्रबोधन) नामक व्याकरण लिखा गया। इसके रचयिता का ठीक नाम पता नहीं है। (१२) 'अभिनव-चुल्लनिरुत्ति' नामक व्याकरण में, जिसके रचयिता या रचना-काल के विषय में कुछ निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता, कच्चायन व्याकरण के नियमों के अपवादों के विवरण हैं। सत्रहवीं शताब्दी के आदि भाग में बरमी भिक्षु महाविजितावी या विजितावी ने 'कच्चायन-वण्णना' नामक व्याकरण-ग्रन्थ की रचना की। कच्चायन-व्याकरण के सन्धिकप्प (सन्धि-कल्प) का यह विवेचन है। 'कच्चायन-वण्णना' नामक एक प्राचीन ग्रन्थ भी है, जिससे इस अर्वाचीन रचना को भिन्न समझना चाहिए। महाविजितावी ने 'वाचकोपदेस' नामक एक और व्याकरण-ग्रन्थ की रचना की,[4] जिसमें उन्होंने व्याकरण-शास्त्र का नैयायिक दृष्टि से विवेचन किया है। इस ग्रन्थ का आज भी महत्त्व माना जाता है। (१४) धातुमंजूसा—कच्चायन-व्याकरण के अनुसार धातुओं की सूची इस ग्रन्थ में संगृहीत की गयी है। इस ग्रन्थ के अन्त में लेखक ने अपना नाम स्थविर

---

१. पृष्ठ ७६ (पालि टैक्स्ट सोसायटी का मेबिल बोड द्वारा सम्पादित संस्करण)। देखिये बोड : दि पालि लिटरेचर ऑफ बरमा, पृष्ठ २५ भी।

२. नाममाला, पृष्ठ ९१-९२ (भूमिका)। मिलाइये बोड : दि पालि लिटरेचर ऑफ बरमा, पृष्ठ २५, पद-संकेत ४।

३. श्रीमती मेबिल बोड ने इसका यही नाम दिया है। देखिये उनकी 'दि पालि लिटरेचर ऑफ बरमा', पृष्ठ २५, पद-संकेत।[4] मललसेकर ने भी यही नाम स्वीकार किया है। डिक्शनरी ऑफ पालि प्रॉपर नेम्स, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १०१५। परन्तु गायगर ने इसे 'लीनत्थसूदनी' नाम से पुकारा है। पालि लिटरेचर ऐण्ड लैंग्वेज, पृष्ठ ५२। पता नहीं गायगर का आधार क्या है?

४. "'वाचकोपदेसं' पि सो येव (महाविजितावी नाम थेरो) अकासि।" सासनवंसो, पृष्ठ ८५ (देवनागरी संस्करण)।

सीलवंस (शीलवंस) बताया है। यह एक पद्यबद्ध रचना है। सुभूति ने कहा है कि वोपदेव के 'कवि-कल्पद्रुम' से इस ग्रन्थ में काफी सहायता ली गयी है।[1] फ्रैंक ने पाणिनीय धातुपाठ का भी इस ग्रन्थ पर पर्याप्त प्रभाव दिखाया है।[2] (१५) अठारहवीं शताब्दी में अत्तरगाम बण्डार राजगुरु नामक भिक्षु ने, जिनकी दो अन्य व्याकरण सम्बन्धी रचनाओं का उल्लेख हम आगे करेंगे, कच्चायन-व्याकरण पर भी आधारित एक ग्रन्थ लिखा, जिसका नाम 'सद्दमाला' है। यह एक महत्त्वपूर्ण व्याकरण-ग्रन्थ है।

मोग्गल्लान-व्याकरण और उसका उपकारी साहित्य

कच्चायन-व्याकरण के समान मोग्गल्लान या मोग्गल्लायन[3] व्याकरण पर भी प्रभूत सहायक साहित्य की रचना हुई है। सर्वप्रथम 'मोग्गल्लान-व्याकरण' को ही लेते हैं। इस व्याकरण का लंका और बरमा में बड़ा आदर है। पालि-व्याकरणों में निश्चय ही इसका एक ऊँचा स्थान है। कच्चायन-व्याकरण के समान प्राचीन न होने पर भी यह उससे अधिक पूर्ण है और भाषा-उपादानों को इसने अधिक विस्तृत रूप से संकलित और व्यवस्थित किया है। जैसा भिक्षु जगदीश काश्यप ने कहा है, "पालि-व्याकरणों में 'मोग्गल्लान-व्याकरण' पूर्णता तथा गंभीरता में श्रेष्ठ है।"[4] मोग्गल्लान-व्याकरण में ८१७ सूत्र हैं और यह छह काण्डों में विभक्त है, जिनमें क्रमशः सन्धि, समास, स्त्री-प्रत्यय, तद्धित, कृदन्त और क्रिया-प्रकरण हैं। मोग्गल्लान-व्याकरण की विषय-वस्तु को समझने के लिए भिक्षु जगदीश काश्यप-कृत 'महापालि व्याकरण' द्रष्टव्य है। यह स्वयं हिन्दी में पालि-व्याकरण पर प्रथम और अपनी श्रेणी की उच्च कोटि की रचना है, एवं मोग्गल्लान-व्याकरण पर आधारित है। मोग्गल्लान-व्याकरण का दूसरा नाम 'मागध सद्दलक्खण' या संक्षेप में 'सद्दलक्खण' भी है। ग्रन्थ के आदि में ही व्याकरणकार ने कहा है "सिद्ध-मिद्धगुणं साधु नमस्सित्वा तथागतं। सधम्मसंघं भासिस्सं मागधं सद्दलक्खणं।।" पाणिनि (४५० ई० पूर्व); का तंत्र-व्याकरण (चौथी शताब्दी ईसवी) और अन्य प्राचीन पालि-व्याकरणों का आधार लेने के अतिरिक्त मोग्गल्लान-व्याकरण

---

१. देखिये नाममाला, पृष्ठ ९५ (भूमिका)।

२. देखिये गायगर : पालि लिटरेचर एण्ड लैंग्वेज, पृष्ठ ५६।

३. पालि व्याकरण की दृष्टि से कच्चान और कच्चायन, मोग्गल्लान और मोग्गल्लायन, इन शब्दों में ये दोनों ही रूप शुद्ध हैं।

४. पालि महाव्याकरण, पृष्ठ पचास (वस्तुकथा)।

पर चन्द्र या चन्द्रगोमिन्[1] के चान्द्र-व्याकरण (सातवीं शताब्दी ईसवी) का भी पर्याप्त प्रभाव उपलक्षित होता है। मोग्गल्लान-व्याकरण लिखने के अतिरिक्त मोग्गल्लान महाथेर ने उसकी 'वृत्ति (वुत्ति) भी लिखी और फिर उस वृत्ति पर 'पञ्चिका' या 'पञ्जिका' नामक पाण्डित्यपूर्ण टीका भी। 'मोग्गल्लान-पञ्चिका' अभी तक अनुपलब्ध थी। किन्तु जैसा भिक्षु जगदीश काश्यप ने हमें सूचना दी है "परमपूज्य विद्वद्वर श्री धर्मानन्द नायक महास्थविर को ताड़पत्र पर लिखी 'पञ्चिका' की एक पुरानी पुस्तक लंका के किसी विहार में मिल गयी। उन्होंने उसे सम्पादित कर विद्यालंकार परिवेण, लंका से प्रकाशित करवाया है।"[2] निश्चय ही मोग्गल्लान-व्याकरण[3] और मोग्गल्लान-पञ्चिका पालि-व्याकरण का शास्त्रीय अध्ययन करने के लिए आज भी बड़े आवश्यक ग्रन्थ हैं। मोग्गल्लान-व्याकरण की वृत्ति (वुत्ति) के अन्त में व्याकरणकार ने अपना परिचय दिया है, जिससे हमें मालूम होता है कि भदन्ताचार्य मोग्गल्लान महाथेर-अनुराधपुर (लंका) के थूपाराम नामक विहार में निवास करने और उन्होंने अपने व्याकरण की रचना परक्कमभुज (पराक्रमबाहु) के शासन-काल में की। विद्वानों का अनुमान है कि इस परक्कमभुज से तात्पर्य पराक्रमबाहु प्रथम (११५३-११८६ ई०) से है, जिनके शासन-काल में लंका में पालि-साहित्य की बड़ी समृद्धि हुई। अतः मोग्गल्लान महाथेर का काल बारहवीं शताब्दी का अंतिम भाग ही मानना चाहिए। वे अपने समय के संघराज थे। मोग्गल्लान-व्याकरण के आधार पर बाद में चलकर अन्य व्याकरण-साहित्य की रचना हुई, जिसके अन्तर्गत मुख्य ग्रंथ ये हैं।

---

१. 'गोमिन्' या 'गोमी' शब्द पूज्य भाव को प्रकट करता है। देखिये पीछे 'महाबोधिवंस' पर सिंहली भाषा में 'धर्मप्रदीपिका' नामक व्याख्या लिखने वाले 'गुरुळु गोमि' का निर्देश भी। कहने की आवश्यकता नहीं कि चन्द्र गोमी भी एक महान् बौद्ध उपासक थे।

२. पालि महाव्याकरण, पृष्ठ इक्यावन (वस्तुकथा)।

३. मोग्गल्लान-व्याकरण का एच० देवमित्त थेर द्वारा सम्पा दितसिंहली संस्करण, कोलम्बो, १८९० (बुद्धाब्द २४३४) प्रसिद्ध है। अन्य भी बरमी और सिंहली संस्करण उपलब्ध हैं। देवनागरी लिपि में मोग्गल्लान-व्याकरण सूत्र-वृत्ति सहित सम्पादित तथा हिन्दी में अनुवादित, भदन्त आनन्द कौसल्यायन द्वारा—मोग्गल्लान-व्याकरण—विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर, १९६५ ई०।

(१) 'पद-साधन'[1], जिसकी रचना मोग्गल्लान के शिष्य पियदस्सी ने की। पियदस्सी
मोग्गल्लान के समकालिक ही थे। 'पद-साधन' एक प्रकार से मोग्गल्लान के
व्याकरण का ही संक्षिप्त रूप है। प्रसिद्ध सिंहली विद्वान् डे जॉयसा का कथन
है कि पियदस्सी के 'पद-साधन' का मोग्गल्लान-व्याकरण के साथ वही सम्बन्ध है,
जो बालवतार का कच्चायन-व्याकरण के साथ।[2] १४७२ ई० में तित्थगाम
(लंका) के निवासी स्थविर श्री राहुल ने, जिनकी उपाधि 'वाचिस्सर' (वागीश्वर)
थी, 'पद-साधना' पर 'पद-साधन-टीका' या 'बुद्धिप्पसादिनी' नाम की टीका लिखी।
(२) वनरतन मेघंकर विरचित 'पयोग-सिद्धि' (प्रयोग-सिद्धि)—मोग्गल्ला
व्याकरण-सम्प्रदाय पर लिखा गया यह संभवतः सर्वोत्तम ग्रन्थ है। डे जॉयसा ने
मोग्गल्लान-व्याकरण के साथ इनका वही सम्बन्ध दिखाया है, जो 'रूपसिद्धि' का
'कच्चायन-व्याकरण' के साथ।[3] वनरतन मेघंकर तेरहवीं शताब्दी में हुए। 'जिन-
चरित' के रचयिता के रूप में हम उनके काल का पहले विवेचन कर चुके हैं। वे
भुवनेकबाहु प्रथम (१२७७-१२८८) के समकालिक थे। अतः उनका जीवन-
काल तेरहवीं शताब्दी है। यहाँ यह ध्यान में अवश्य रखना चाहिए कि 'पयोग-
सिद्धि' कार और 'जिन-चरित' कार मेघंकर इसी नाम के 'लोकप्पदीपसार' के
कवि से भिन्न हैं। पहले मेघंकर (या वनरतन मेघंकर) भिक्षु सिंहली थे और
दूसरे मेघंकर बरमी, जैसा हम पहले भी दिखा चुके हैं। गायगर 'पयोग-सिद्धि'
के रचयिता वनरतन मेघंकर को 'जिन-चरित' के इसी नाम के लेखक से भिन्न
समझते हैं,[4] जिसे हम पहले ही अस्वीकार कर चुके हैं। हमने दोनों को एक ही
व्यक्ति मानना उचित समझा है। (३) 'मोग्गल्लान-पञ्चिका-प्रदीप' (या मोग्ग-
ल्लान-पञ्चिका-प्रदीप)—'मोग्गल्लान-पञ्चिका' की व्याख्या है। 'पदसाधन-
टीका' के लेखक श्री राहुल 'वाचिस्सर' या 'वाचिस्सर' श्री राहुल ही 'मोग्गल्लान
पञ्चिका-प्रदीप' के लेखक हैं। 'पञ्चिका-प्रदीप' के अन्त में उन्होंने अपना परिचय
देते हुए अपने को "वाचिस्सरो विदितराहुलसामिनामो" कहा है। यही 'वाचि-
स्सर' के रूप में विदित राहुल स्वामी नामक स्थविर सङ्घराज श्री राहुल महा-

---

१. सिंहली लिपि में धम्मकित्ति सिरि धम्मानन्द द्वारा सम्पादित, कोलम्बो १९३२ ई०।

२. केटेलाग, पृष्ठ २५।

३. केटेलाग, पृष्ठ २६; मिलाइये मललसेकर : दि पालि लिटरेचर ऑफ सिलोन, पृष्ठ २३१।

४. पालि लिटरेचर ऐण्ड लैंग्वेज, पृष्ठ ५४।

स्थविर के नाम से प्रसिद्ध हैं। ऊपर हम कह ही चुके हैं कि 'पद-साधन-टीका' ('बुद्धिप्पसादिनी टीका') के लेखक भी यही 'वाचिस्सर' उपाधिधारी श्री राहुल महास्थविर हैं। 'मोग्गल्लान-पञ्चिका-प्रदीप' अंशतः पालि और अंशतः सिंहली में लिखा गया है। 'गन्धवंस'[1] के वर्णनानुसार 'वाचिस्सर' ने 'मोग्गल्लान-व्याकरण' पर एक टीका लिखी थी। डॉ० गायगर ने इन 'वाचिस्सर' को उसी नाम के सिंहली भिक्षु सारिपुत्त के शिष्य (१२वीं शताब्दी का उत्तर-भाग) न मानकर मोग्गल्लान-पञ्चिका प्रदीप' के लेखक इन स्थविर राहुल को ही माना है; जिनकी भी उपाधि 'वाचिस्सर' (वागीश्वर) थी।[2] डे ज़ॉयसा के मतानुसार 'मोग्गल्लान-पञ्चिका-प्रदीप' व्याकरण-शास्त्र पर एक अत्यन्त गम्भीर और पाण्डित्यपूर्ण रचना है।[3] इसमें भाषा-सम्बन्धी बहुत मूल्यवान् सामग्री संकलित की गयी है। अनेक प्राचीन संस्कृत और पालि-व्याकरणों से भी उद्धरण दिये गये हैं। संस्कृत, पालि; सिंहली और तमिल भाषाओं के उद्धरणों से यह ग्रन्थ परिपूर्ण है। इसकी रचना-तिथि १४५७ ई० है।[4] आचार्य श्री धम्माराम नायक महाथेर ने सन १८९६ ई० में इस ग्रन्थ का सम्पादन किया, जो विद्यालंकार परिवेण, लंका से उसी साल प्रकाशित भी हुआ। डॉ० मललसेकर ने इस संस्करण को उनके द्वारा पालि विद्वत्ता के लिए सिंहल में की गयी एक स्पष्ट सेवा माना है।[5] श्री राहुल (संघराज श्री राहुल महास्थविर) वस्तुतः पन्द्रहवीं शताब्दी के एक महान् बहुभाषातत्त्व-विद और वैयाकरण थे, ऐसा उनके उपर्युक्त दो ग्रन्थों से सिद्ध है। वे 'षड्भाषा-परमेश्वर' कहलाते थे। इन 'षड् भाषाओं' में सम्मिलित हैं संस्कृत, मागधी (पालि), अपभ्रंश, पैशाची, शौरसेनी और तमिल। इनके अतिरिक्त सिंहली तो उनकी मातृभाषा ही थी; जिसके वे अगाध विद्वान् ही नहीं; महत्त्वपूर्ण कवि भी थे। 'काव्य-शेखर' नामक सिंहली काव्य के भी वे लेखक हैं। इसी

---

१. पृष्ठ ६२, ७१।

२. पालि लिटरेचर ऐण्ड लैंग्वेज, पृष्ठ ५३। मललसेकर भी इन्हीं राहुल 'वाचिस्सर' या श्री राहुल को निर्विवाद रूप से (मोग्गल्लान-पञ्चिका-प्रदीप) का रचयिता मानते हैं। देखिये उनकी दि पालि लिटरेचर ऑफ सिलोन, पृष्ठ २५१।

३. केटेलाग : पृष्ठ २४; मिलाइये मललसेकर : दि पालि लिटरेचर ऑफ सिलोन, पृष्ठ २५१-२५२।

४. गायगर : पालि लिटरेचर ऐण्ड लैंग्वेज, पृष्ठ ५४।

५. दि पालि लिटरेचर ऑफ सिलोन, पृष्ठ २५२।

प्रकार उन्होंने 'सळलिहिणी' और 'परवि-सन्देश' नामक दो सन्देश-काव्य भी सिंहली भाषा में लिखे हैं; जिन पर 'मेघदूत' का प्रभाव है। सिंहली भाषा के प्रथम श्रेणी के कवियों में श्री राहुल की गणना की जाती है। यहाँ प्रासंगिक तौर पर श्री राहुल के 'षडभाषापरमेश्वर' उपपद पर कुछ रुकना पड़ता है। भारतीय साहित्य में 'षड्-भाषाओं' की रूढ़ि प्राकृत साहित्य में भी पायी जाती है। परन्तु वहाँ मान्य छह भाषाएँ हैं, संस्कृत, शौरसेनी मागधी, पैशाची, महाराष्ट्री और अपभ्रंश।[1] हिन्दी के आदिकवि चन्द ने भी केवल रूढ़िवश कहा है; "षट भाषा पुरानं च कुरानं कथितं मया"। (४) धातुपाठ[2]—मोग्गल्लान-व्याकरण के अनुसार धातुओं की सूची है। कच्चायन-व्याकरण की 'धातु-मंजूसा' की अपेक्षा यह अधिक संक्षिप्त है। उसकी तरह पद्यवद्ध न होकर यह गद्य में है। सम्भवतः काल-क्रम में यह उससे प्राचीन है, क्योंकि 'धातु-मंजूषा' में इसी का आश्रय लिया गया है।[3] धातुपाठ के रचयिता के नाम या काल के विषय में अभी कुछ ज्ञात नहीं हो सका है।

सद्दनीति और उसका उपकारी साहित्य

पालि-व्याकरण का तीसरा सम्प्रदाय 'सद्दनीति' का है। यह बरमा में रचित पालि-व्याकरण है। बरमा में भी सिंहली की ही तरह और उसी से प्रेरणा लेकर

---

१. धर्मवर्द्धन (१२०० ई०)-कृत 'षड्भाषानिर्मितपार्श्वजिनस्तवन' तथा जिनपद्म (चौदहवीं शताब्दी) द्वारा लिखित 'षड्भाषाविभूषितशान्ति-नाथस्तवन' इन्हीं भाषाओं में रचित रचनाएँ हैं।

२. देखिये भिक्षु जगदीश काश्यप : पालि महाव्याकरण, पृष्ठ ३६७-४१२ (मोग्गल्लान-धातु पाठो)।

३. गायगर : पालि लिटरेचर ऐण्ड लैंग्वेज, पृष्ठ ५६।

४. 'मोग्गल्लान-पञ्चिका' (मोग्गल्लान-पञ्चिका) पर 'सारत्थविलासिनी' या 'सुसद्दसिद्धि' नामक टीका सिंहली भिक्षु संवरक्खित ने लिखी, ऐसी सूचना मललसेकर ने दी है। देखिये उनकी 'दि पालि लिटरेचर ऑफ सिलोन, पृष्ठ २००, २८४।

५. हेमर स्मिथ वे तीन भागों में इस ग्रन्थ का रोमन लिपि में सम्पादन किया है। प्रथम भाग, पदमाला (परिच्छेद १-१४), द्वितीय भाग, धातुमाला (परिच्छेद १५-१९), तृतीय भाग, सुत्तमाला (परिच्छेद २०-२८), चौथे भाग में सूचियाँ हैं। हम्फे मिलफर्ड, लन्दन १९२८-१९४४ ई०।

पालि-व्याकरण के अध्ययन की महती परम्परा चली, जिसके पूर्ण विकास को हम 'सद्दनीति' में देखते हैं। कहा जाता है कि 'सद्दनीति' की प्रति जब श्रीलंका के महाविहार में उत्तराजीव (छपद के गुरु), उसके लिखे जाने के कुछ ही समय पश्चात ले गये, तो वहाँ के भिक्षुओं ने इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की और स्वीकार किया कि निश्चय ही शब्द-शास्त्र पर इसके समान विद्वत्तापूर्ण रचना उनके यहाँ कोई नहीं है।[1] श्रीमती मेबिल बोड ने माना है कि 'सद्दनीति' बरमा का सिंहल के प्रति प्रथम प्रतिदान था।[2] शासन के क्षेत्र में बरमा ने सिंहल से बहुत कुछ पाया और उसकी प्रथम प्रतिदान उसने 'सद्दनीति'-व्याकरण भेंट कर किया। इसकी रचना सन ११५४ ई० में हुई। इसके रचयिता पगान के निवासी बरमी भिक्षु अग्गवंस थे, जो 'अग्गपण्डित तृतीय' भी कहलाते थे। "ततिय अग्गपण्डितो पन अग्गवंसो' ति पि वोहरीयति।"[3] 'अग्ग पण्डित द्वितीय' उनके मामा थे, जो 'अग्ग-पण्डित प्रथम' (महाअग्ग पण्डित) के शिष्य थे। प्रथम अग्ग पण्डित 'लोकुप्पत्ति' के रचयिता थे। अग्गवंस बरमी राजा नरपति-सिथु (११६७-१२०२) के गुरु थे। अग्गवंस-कृत 'सद्दनीति' एक प्रकार से कच्चायन-व्याकरण पर ही आधारित है।[4] मोग्गल्लान-व्याकरण तो सम्भवतः उसके बाद की ही रचना है। संस्कृत-व्याकरण का भी अग्गवंस ने पर्याप्त आश्रय लिया है। उन्होंने अपने ग्रन्थ के अन्त में स्वयं कहा है कि पूर्व आचार्य (आचरिया) और तिपिटक-साहित्य से आश्रय लेकर उन्होंने 'सद्दनीति' की रचना की है। निश्चय ही 'सद्दनीति' एक पाण्डित्यपूर्ण व्याकरण है। बरमा में वह शास्त्री की तरह पूजित है। इस ग्रन्थ में सत्ताईस अध्याय हैं। प्रथम १८ अध्याय 'महा-सद्दनीति' और शेष ९ अध्याय 'चूल-सद्दनीति' कहलाते हैं। 'पदमाला', 'धातुमाला' और 'सुत्तमाला' इन ३ भागों में सम्पूर्ण सद्दनीति-व्याकरण विभक्त है। 'धातुमाला' में लेखक ने पालि रूपों के संस्कृत प्रतिरूप भी दिये हैं।

---

१. "सद्दविसये अयं गन्थो विय सीहळदीपे गन्धो नत्थि।" सासनवंसो, पृष्ठ ७१ (देवनागरी संस्करण)। देखिये मेबिल बोड : दि पालि लिटरेचर ऑफ बरमा, पृष्ठ १७ भी।

२. दि पालि लिटरेचर ऑफ बरमा, पृष्ठ १७।

३. सासनवंसो, पृष्ठ ७१ (देवनागरी संस्करण)।

४. यह फ्रैंक का मत है, जिसे गायगर ने पालि लिटरेचर ऐण्ड लैंग्वेज, पृष्ठ ५५ में उद्धृत किया है।

'धात्वत्थदीपनी' (या 'धात्वत्थदीपक') नाम की पद्यबद्ध धातु-सूची में सद्दनीति-व्याकरण के अनुसार धातुओं का संकलन किया गया है। कच्चायन-व्याकरण की धातुसूची 'धातु-मञ्जूसा' और मोग्गल्लान-व्याकरण की धातुसूची 'धातुपाठ' के समान इसमें भी पाणिनीय धातुपाठ का पर्याप्त आधार लिया गया है। इसके लेखक और उसके काल का ठीक पता नहीं है। हम पहले देख ही चुके हैं कि 'सासन-वंस' कार पञ्ञासामी थेर ने भी 'सद्दनीति-वण्णना' ('सद्द-नीति' की व्याख्या) लिखी थी। उन्नीसवीं के शताब्दी में विसुद्धाचार नामक बरमी भिक्षु ने 'धात्वत्थसंगह' भी लिखा, जिसमें अकारादि क्रम से पालि धातुपाठ का संकलन किया गया है। इसके अतिरिक्त 'सद्दनीति' पर और कोई विशेष साहित्य नहीं है।

अन्य पालि-व्याकरण

उपर्युक्त तीन सम्प्रदायों के व्याकरण-साहित्य के अतिरिक्त अन्य भी बहुत व्याकरण-साहित्य उपलब्ध हैं, जो यद्यपि इनमें से किसी विशिष्ट सम्प्रदाय में नहीं रक्खा जा सकता; किन्तु जो पालि-व्याकरण के पूर्ण शास्त्रीय अध्ययन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। यह साहित्य भी परिमाण में इतना अधिक है कि इसकी पूरी सूची तो आचार्य सुभूति द्वारा संकलित 'नाममाला' (पालि-व्याकरण पर सिंहली भाषा में लिखित ग्रन्थ) या डे ज़ॉयसा के 'केटेलाग' ('ए केटेलाग ऑफ दि टैम्पिल लाइब्रेरीज ऑफ सिलोन') में ही देखी जा सकती है। यहाँ हम केवल कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का ही उल्लेख करेंगे।

(१) मुखमत्तसार—यह एक पालि व्याकरण है, जिसके रचयिता सागर नामक बरमी भिक्षु थे। "मुखमत्तसारं सागर थेरो अकासि।"[१] इन्हीं सागर नामक भिक्षु को 'गन्धवंस'[२] में गुणसागर कह कर पुकारा गया है। और कहा गया है कि इन्होंने 'मुखमत्तसार' के साथ-साथ उन पर एक टीका भी लिखी। "मुखमत्त-सारं तट्टीकं।" सागर या गुणसागर नामक यह भिक्षु अरिमद्दन नगर (पगान) के निवासी थे और बरमी राजा क्याच्वा (या क्यस्वा) के समकालिक थे। अतः इनका जीवन-काल निश्चित रूप से तेरहवीं शताब्दी ईसवी है।

---

१. सासनवंसो, पृष्ठ ७२ (देवनागरी संस्करण)।

२. पृष्ठ ६३ (जर्नल ऑफ पालि टैक्स्ट सोसायटी, १८८६, में प्रकाशित संस्करण)।

(२) पगान (बरमा) के निवासी सामणेर धम्मदस्सी-कृत 'वच्चवाचक' या 'वाचवाचक'। चौदहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग की रचना है। इसकी टीका १७६८ ई० में बरमी भिक्षु सद्धम्मनन्दी ने की।[१]

(३) मंगल-कृत 'गन्धट्ठि', जिसका विषय उपसर्गों का विवेचन करना है। यह चौदहवीं शताब्दी की रचना है। इसकी भी रचना पगान में हुई।[२] इन बरमी भिक्षु मंगल को उन महामंगल नामक सिंहली भिक्षु से पृथक् समझना चाहिये जो बुद्धघोसुप्पत्ति के रचयिता थे, यद्यपि दोनों का एक ही समय है।

(४) अरियवंस-कृत 'गन्धाभरण' ('गन्थाभरण' या 'गण्डाभरण' भी) उपसर्गों का विवेचनपरक ग्रन्थ है। इसकी रचना १४३६ ई० में हुई।[३] सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दियों में इस पर बरमी विद्वानों द्वारा टीकाएँ लिखी गयी।

(५) विभत्यत्थप्पकरण-२७ गाथाओं की यह पुस्तिका विभक्तियों के प्रयोगों का विवेचन करती है। सुभूति ने 'अभिधानप्पदीपिका' के अपने संस्करण में इसे भी स्थान दिया है। उन्होंने सासनवंस का अनुसरण कर माना है कि इसकी रचना बरमी राजा क्यच्वा की पुत्री ने १४८१ ई० में की।[४] इस पर बाद में 'विभत्यत्थ-टीका' या "विभत्यत्थदीपनी' के नाम से एक टीका लिखी गयी। सम्भवतः ये दो अलग-अलग टीकाएँ भी हों। एक और टीका 'विभत्तिकथावण्णना' के नाम से भी इस रचना पर लिखी गयी। 'विभत्यत्थ' नाम से एक रचना चौदहवीं शताब्दी के पगान के प्रसिद्ध भिक्षु सद्धम्मञाण की भी बतायी जाती है। उन्होंने कातंत्र-व्याकरण का पालि में अनुवाद भी किया। उनके कुछ अन्य ग्रन्थों का उल्लेख हम पहले चौदहवीं शताब्दी के बरमी पालि साहित्य के विवरण में कर चुके हैं।

---

१. मेबिल : बोड दि पालि लिटरेचर ऑफ बरमा, पृष्ठ २२।

२. मेबिल बोड : दि पालि लिटरेचर ऑफ बरमा, पृष्ठ २६।

३. मेबिल बोड : दि पालि लिटरेचर ऑफ बरमा, पृष्ठ ४३।

४. 'सासनवंस' (देवनागरी संस्करण, पृष्ठ ७३), में कहा गया है, "तस्स रञ्ञो ('क्यच्वा' रञ्ञो) एका धीता विभत्त्यत्थं नाम गन्धं अकासि।" इसे सुभूति ने प्रामाणिक माना है। गायगर और मेबिल ने उनके मत का अनुसरण किया है। देखिये गायगर : पालि लिटरेचर ऐण्ड लैंग्वेज, पृष्ठ ५७। मिलाइये बोड : दि पालि लिटरेचर ऑफ बरमा, पृष्ठ २५।

(६) 'संवण्णनानयदीपनी'—इस ग्रन्थ की रचना जम्बुधज (जम्बुध्वज) के द्वारा १६५१ ई० में की गयी। इसी लेखक के दो अन्य ग्रन्थ 'निरुत्ति-संगह' और 'सर्वज्ञन्यायदीपनी' भी प्रसिद्ध हैं।[१]

(७) सद्दवुत्ति (सद्दवुत्तिपकासकं), जिसकी रचना चौदहवीं शताब्दी के सद्धम्मपाल नामक पगान (अरिमद्दननगर-बरमा) के भिक्षु ने या इसी शताब्दी के सद्धम्मगुरु नामक पन्या (विजयपुर-बरमा) के निवासी भिक्षु ने की।[२] 'सासनवंस' (पृष्ठ ८५, देवनागरी संस्करण) में इसे सद्धम्मगुरु की ही रचना बताया गया है। "सद्दवुत्तिं पन सद्धम्मगुरु थेरो अकासि।" डे जॉयस ने इस ग्रन्थ का रचनाकाल १६५६ ई० माना है।[३] एक अज्ञात लेखक ने इस पर 'सद्दवुत्ति-विवरण' नामक टीका भी लिखी, जिसका गन्धवंस[४] में उल्लेख है।

(८) कारकपुप्फमंजरी—पालि शब्द-योजना पर लिखित यह रचना कांडी (लंका) के अत्तरगम बंडार राजगुरु नामक लेखक की है, जो सरणंकर संघराज के शिष्य थे। लंका के राजा कीर्ति श्री राजसिंह के शासन-काल (१७४७-८०) में यह रचना लिखी गयी।[५]

(९) सुधीरमुखमंडन—यह रचना पालि-समास पर है।[६]
इसके भी लेखक "कारकपुप्फमंजरी' के समान ही हैं।

(१०) नयलक्खणविभावनी—बरमी भिक्षु विचित्ताचार (विचित्राचार) ने १८वीं शताब्दी के उत्तर भाग में इस ग्रन्थ की रचना की।

(११-१५) सद्दसंखेप, निरुत्तिदीपनी, सद्दकारिका, सम्बन्धमालिनी और सद्दावतार जैसे अनेक ग्रन्थ पालि-व्याकरण पर लिखे गये हैं, जिनका पूरा विवरण यहाँ नहीं दिया जा सकता।

---

१. मेबिल बोड : दि पालि लिटरेचर ऑफ बरमा, पृष्ठ ५५।
२. मेबिल बोड : दि पालि लिटरेचर ऑफ बरमा, पृष्ठ २९, ४६।
३. केटेलाग, पृष्ठ २७।
४. वही पृष्ठ ६५, ७५।
५. जॉयसा : केटेलाग, पृष्ठ २४; देखिये मललसेकर : दि पालि लिटरेचर ऑफ सिलोन, पृष्ठ २८३ भी।
६. जॉयसा : केटेलाग, पृष्ठ २८।
७. जॉयसा : केटेलाग, पृष्ठ २५; देखिये गायगर : पालि लिटरेचर ऐण्ड लैंग्वेज, पृष्ठ ५८ भी।

यहीं पर पालि-व्याकरण पर लिखित 'नाममाला' नामक एक अन्य महत्त्वपूर्ण रचना का भी उल्लेख कर देना चाहिए, जो सन १८७६ ई० में प्रकाशित हुई और जिसके लेखक महान् सिंहली विद्वान् भिक्षु वस्कडुवे सिरि सुभूति थेर थे। इसमें अंग्रेजी और सिंहली में लिखित दो प्रस्तावनाएँ भी हैं, जिनमें से सिंहली-प्रस्तावना में उन्होंने उस समय तक के श्रीलंका में उपलब्ध पालि-व्याकरणों का ब्यौरा दिया है।

लंका और बरमा में छठी या सातवीं शताब्दी से लेकर ठीक उन्नीसवीं शताब्दी तक पालि-व्याकरण सम्बन्धी जो गहरी तत्परता और उसके परिणामस्वरूप उत्पन्न महान् ग्रन्थ-राशि, जो हम देखते हैं, उसका किंचित् दिग्दर्शन ऊपर किया जा चुका है, अब उसका वास्तविक महत्त्वांकन क्या है? निश्चय ही पालि-व्याकरण का अध्ययन इन देशों में उस समय किया गया, जब पालि जीवित भाषा नहीं रही थी। अतः पिटक और अनुपिटक साहित्य एवं संस्कृत-व्याकरण ही इनके प्रधान आधार रहे। स्वभावतः इनमें वह भाषावैज्ञानिक तत्त्व नहीं मिल सकता; जो आधुनिक भाषाविज्ञान के विद्यार्थी को तृप्त कर सके। किन्तु 'न्यास'; 'रूप-सिद्धि'; 'सद्दनीति' और 'बालावतार' जैसे व्याकरण, पाण्डित्य की दृष्टि से किसी भी देश या साहित्य में रचित व्याकरण ग्रन्थों से टक्कर ले सकते हैं। निश्चित ही, जैसा भिक्षु जगदीश काश्यप ने कहा है, "मोग्गल्लान-व्याकरण की गिनती पाणिनि, चान्द्र, कात्यायन आदि महान् वैयाकरणों में है।"[1] भारतीय मूल स्रोत से इतने अलग रह कर भी इन बरमी और सिंहली आचार्यों ने संस्कृत के समकालिक पालि-भाषा का कितना सुन्दर और मनोयोगपूर्वक अध्ययन किया है, इसे देखकर आश्चर्यान्वित रह जाना पड़ता है। सांस्कृतिक एकता की इससे अधिक गहरी बुनियाद कभी डाली गयी हो, इसका इतिहास साक्ष्य नहीं देता। यह एकता राजाओं के दरबारों में न डाली जाकर भिक्षु-परिवेणों में डाली गयी और इसकी मूल प्रेरणा थी अपने शास्ता के धम्म को 'सात्थं' 'सब्यञ्जनं' समझने की गहरी जिज्ञासा। इसीलिए वह इतनी स्थायी भी हुई है। यह कितनी विडम्बना की बात है कि जिस पालि भाषा को हमारे प्राचीन वैयाकरणों ने नाम से भी नहीं जाना, उसी का इतना गहन अनुशीलन दूसरे देशों में हुआ। एक ही ग्रन्थ (मोग्गल्लान पञ्चिका-प्रदीप) का अंशतः पालि और अंशतः सिंहली में लिखा जाना, भारत और सिंहल के उस गौरवमय सम्बन्ध का सूचक है, जिसकी नींव बौद्ध धर्म ने डाली थी और जिसे उस साहित्य ने दृढ़ किया है। भारत और स्वयं मध्य-मण्डल (शास्ता की विचरण-

---

१. पालि महाव्याकरण, पृष्ठ पचास (वस्तुकथा)।

भूमि) में पालि-अध्ययन के प्रति गहरी उदासीनता को देखकर इन दूर स्थित बौद्ध बन्धुओं के प्रति श्रद्धा से मस्तक झुक जाता है।[1] कारण, इन्होंने ही धम्म की ज्योति को प्रकाशित रक्खा है, इन्होंने ही ज्ञान के दीपक को हम तक पहुँचाया है। उनका पालि-व्याकरण-सम्बन्धी प्रभूत कार्य इसका एक वाह्य साक्ष्य मात्र है।

पालि कोश : अभिधानप्पदीपिका एवं एकक्खरकोस

पालि-साहित्य में केवल दो प्रसिद्ध कोश हैं, मोग्गल्लान-कृत 'अभिधानप्पदीपिका'[2] और बरमी भिक्षु सद्धम्मकित्ति (सद्धर्मकीर्ति)—कृत 'एकक्खर-कोस'।[3] 'अभिधानप्पदीपिका' (अभिधानप्रदीपिका) पर्यायवाची शब्दों का कोश है। यह तीन भागों या कांडों में विभक्त है, (१) सग्गकंड (स्वर्ग-कांड) जिसमें देवता, वृद्ध, शाक्यमुनि, देव-योनि, इन्द्र, निर्वाण आदि के पर्यायवाची शब्दों का संकलन

---

१. वस्तुतः हमसे अधिक पालि-भाषा और उसके व्याकरण का अध्ययन तो उन पाश्चात्य विद्वानों ने ही किया है; जो बौद्ध धर्म से प्रभावित हुए। उनके इस सम्बन्धी कार्य और उनकी व्याकरण-सम्बन्धी रचनाओं के परिचय के लिए देखिए गायगर : पालि लिटरेचर ऐण्ड लैंग्वेज, पृष्ठ ५९-६०; लाहा : हिस्ट्री ऑफ पालि लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६३८-६४०; लाहा ने पाश्चात्य विद्वानों के साथ-साथ भारतीय विद्वानों केभी इस सम्बन्धी कार्य का विवरण दिया है। बाद का प्रकाशन होने के कारण 'पालि महाव्याकरण' (भिक्षु जगदीश काश्यप-कृत) का उल्लेख यहाँ नहीं किया जा सकता है। पालि-व्याकरण साहित्य पर भिक्षु जी की यह हिन्दी की महत्त्वपूर्ण देन है।

२. वस्कडुवे सिरि सुभूति थेर द्वारा सिंहली लिपि में सम्पादित, प्रथम संस्करण, कोलम्बो, १८३५ ई०; द्वितीय संस्करण, कोलम्बो १८८३; देवनागरी लिपि में मुनि जिनविजय द्वारा सम्पादित, गुजरात पुरातत्त्व मन्दिर, अहमदाबाद, सं० १९८० वि०।

३. मुनि जिनविजय द्वारा सम्पादित उपर्युक्त 'अभिधानप्पदीपका' के संस्करण में ही 'एकक्खरकोस' भी सम्मिलित है, अभिधानप्पदीपिका, पृष्ठ १५७-१७०। इसी प्रकार सुभूति के सिंहली संस्करण में परिशिष्ट के रूप में 'एकक्खरकोस' सम्मिलित है। पृष्ठ २६३-२६९। पाँचवाँ संस्करण, कोलम्बो, १९३८ ई०।' बल्कि सुभूति ने अपने उक्त संस्करण में 'विभत्यत्थपकरण' को भी स्थान दिया है, पृष्ठ २७०-२७२।

है। (२) भूकंड (भू-कांड) जिसमें पृथ्वी आदि सम्बन्धी शब्दों के पर्यायवाची शब्दों का संकलन है। (३) सामञ्ञ-कांड, (श्रामण्य-कांड), जिसमें प्रव्रज्या आदि सम्बन्धी शब्दों के पर्यायवाची शब्दों का संकलन है। इस प्रकार यह कोश पर्यायवाची शब्दों का संकलन ही है। ग्रन्थ के अन्तिम भाग में ऐसे अनेकार्थवाची शब्दों की सूची है, जो सदृश रूप वाले, किन्तु भिन्नार्थक हैं। साथ ही अव्यय, निपात (क्रियाविशेषण आदि) और अविभक्तिक उपसर्गों की सूची भी है। बरमा और सिंहल में इस ग्रन्थ का बड़ा आदर है। इस ग्रन्थ की रचना संस्कृत के अमर-कोश (४००-६०० ई०) के आधार पर हुई है। अमर, हलायुध, मेदिनी आदि संस्कृत शब्दकोशों की तरह यहाँ भी अकारादि क्रम से शब्दों का संकलन नहीं है। बल्कि उन्हीं की तरह वर्गों में पर्यायवाची शब्द संकलित किये गये हैं। उपर्युक्त तीन काण्ड उन वर्गों के ही सूचक हैं। शैली और प्रक्रिया बिलकुल वही है।[1] जैसा अभी कहा जा चुका है, अभिधानप्पदीपिका मोग्गल्लान थेर की रचना है। यह स्थविर लंकानिवासी भिक्षु थे। अभिधानप्पदीपिका में इन्होंने कहा है कि लंकाधिपति 'परक्कम-भुज नामक भूपाल' के शासन-काल में इन्होंने इस ग्रन्थ की रचना की।[2] वहीं इन्होंने अपना निवास-स्थान पुलत्थिपुर (पोलोन्नरुवा) में सरोगाम-समूह में 'महाजेतवन' नामक विहार बताया है।[3] जिस 'परक्कमभुज नामक भूपाल' के शासन-काल में मोग्गल्लान स्थविर ने 'अभिधानप्पदीपिका' की रचना की, वह विद्वानों के निश्चित मतानुसार पराक्रमबाहु प्रथम ही है, जिसका शासनकाल ११५३-११८६ है और जिसके समय पालि के टीका-साहित्य की अद्भुत समृद्धि हुई। अतः मोग्गल्लान थेर का भी यही समय है। 'अभिधान-प्पदीपिका' के लेखक मोग्गल्लान थेर को उसी नाम के और प्रायः उसी समय के वैयाकरण मोग्गल्लान से भिन्न समझना चाहिए। वैयाकरण मोग्गल्लान, जैसा हम पहले देख चुके हैं, अनुराधपुर के थूपाराम नामक विहार में रहते थे, जब कि कोशकार मोग्गल्लान ने अपना निवास-स्थान पुलत्थिपुर या पोलोन्नरुवा का

---

१. देखिये मललसेकर : दि पालि लिटरेचर ऑफ सिलोन, पृष्ठ १८८-१८९।

२. "परक्कमभुजो नाम भूपालो गुणभूसणो। लंकायमासि तेजस्सी जयी केसरिविक्कमो।" पृष्ठ १५६ (मुनि जिनविजय द्वारा सम्पादित नागरी-संस्करण)

३. "महाजेतवनाख्यम्हि विहारे साधुसम्मते। सरोगामसमूहम्हि वसता सन्तवुत्तिना।। सद्धम्मट्ठितिकामेन मोग्गल्लानेन धीमता। थेरेन रचिता एसा अभिधानप्पदीपिका।।" पृष्ठ १५६ (देवनागरी संस्करण)। पृष्ठ १८२ (सुभूति का पाँचवाँ सिंहली संस्करण)।

महाजेतवन-विहार बतलाया है। 'गन्धवंस'[1] में कोशकार मोग्गल्लान को 'नव मोग्गल्लान' कहा गया है और वह निश्चयतः वैयाकरण मोग्गल्लान से उसकी भिन्नता दिखाने के लिए ही। चौदहवीं शताब्दी के मध्य भाग में, बरमी राजा कित्तिसीहसूर (कीर्तिसिंह शूर) के शासन-काल में, उसके चतुरंगबल नामक एक अमात्य के द्वारा, जो विजयपुर (पन्या) नगर का निवासी था, अभिधानप्पदीपिका पर 'संवण्णना' नामक टीका लिखी गयी। अठारहवीं शताब्दी में बरमी-भिक्षु ञाणवर ने अभिधानप्पदीपिका का बरमी भाषा में अनुवाद किया। उन्नीसवीं शताब्दी में 'सासन-वंस' के रचयिता प्रज्ञास्वामी स्थविर ने 'अभिधानप्पदीपिका' की एक व्याख्या प्रस्तुत की और उसका बरमी भाषा में अनुवाद किया। सिंहल में भी 'अभिधानप्पदीपिका' पर 'सन्न' और 'टीका' लिखे गये, जिनमें 'सन्न' अधिक प्राचीन और महत्त्वपूर्ण माना जाता है। सन १८८३ ई० में प्रसिद्ध सिंहली भिक्षु वस्कडुवे सिरि सुमूति थेर ने 'अभिधानप्पदीपिकासूची' प्रस्तुत की, जिसमें व्याकरण-सम्बन्धी टिप्पणियाँ हैं और जो 'अभिधानप्पदीपिका' को समझने के लिए एक महत्त्वपूर्ण सहायक ग्रन्थ है। 'एकक्खरकोस' बरमी भिक्षु सद्धम्मकित्ति (सद्धर्म-कीर्ति) की रचना है। यह अरियवंस के शिष्य थे। १४६५ ई० में इस कोश की रचना की गयी। यह कोश एकाक्षरात्मक शब्दों की पद्यबद्ध सूची है। संस्कृत भाषा के एकाक्षरी कोश का यह पालि रूपान्तर मात्र ही कहा जा सकता है। इसके अन्त में आता है—"इति सद्धम्मकित्ति नाम महाथेरेन सक्कतभासातो परिवत्तेत्वा विरचितं एकक्खर-कोसं नाम सद्दप्पकरणं परिसमत्तं।" ("सद्धर्मकीर्ति नामक महास्थविर द्वारा संस्कृत भाषा से रूपान्तरित कर के विरचित 'एकाक्षर-कोश' नामक शब्द-प्रकरण समाप्त")।

छन्दः शास्त्र : वुत्तोदय आदि

पालि में छन्दःशास्त्र पर 'वुत्तोदय'[2] (वृत्तोदय) नामक एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। यह छह परिच्छेदों में है और गद्य-पद्य मिश्रित रचना है। 'छन्दोविचिति', 'कविसारपकरण' और 'कविसार-टीका-निस्सय' नामक अल्प प्रसिद्धि के एक-आध ग्रन्थ और भी छन्दःशास्त्र पर पालि में हैं। 'कविसार' में छन्दों का वर्णन है। इसके रचयिता हंसावतीनगरवासी धम्मबुद्ध नामक बरमी स्थविर थे।

---

१. पृष्ठ ६२।

२. देवनागरी लिपि में भिक्षु धर्मरत्न द्वारा सम्पादित, महाबोधि सभा, सारनाथ द्वारा प्रकाशित।

"हंसावतीनगरवासी येव धम्मबुद्धथेरो कविसारं नाम छन्दोवण्णनं अकासि"।[1] इन स्थविर का काल कदाचित् सोलहवीं शताब्दी है। 'वुत्तोदय' की रचना सिंहली भिक्षु सारिपुत्त के शिष्य, खुद्दकसिक्खा-टीका और कच्चान-व्याकरण पर 'सम्बन्ध-चिन्ता' के लेखक (जिनका निर्देश पहले हो चुका है) स्थविर संघरक्खित हैं, जिनका काल १२वीं शताब्दी का उत्तर भाग है। चौदहवीं शताब्दी में पगान के प्रसिद्ध विद्वान् भिक्षु सद्धम्मञाण ने वुत्तोदय पर अपनी टीका लिखा, जो 'वुत्तोदय पंचिका' या 'छन्दोसारत्थविकासिनी' कहलाती है।[2] सिंहली भिक्षु सारिपुत्त के शिष्य वाचिस्सर की लिखी 'वुत्तोदय-विवरण' नाम की एक अन्य टीका भी 'वुत्तोदय' पर मिलती है। 'वुत्तोदय' पर 'वचनत्थजोति'[3] या 'वचनत्थजोतिका' नाम की एक अन्य टीका (वुत्तोदय टीका) बरमा में ही पगान के वेपुल्ल या वेपुल्लबुद्धि के द्वारा लिखी गयी और एक अन्य टीका पन्या (बरमा) के नव-विमल-बुद्धि या चुल्ल-विमलबुद्धि के द्वारा लिखी गयी। इसके विषय में 'सासनवंस'[4] में कहा गया है, "चूळविमलबुद्धि थेरो पन वुत्तोदयस्स पोराणटीकं अकासि।" उन्नीसवीं शताब्दी में बरमा में छन्दःशास्त्र पर एक रचना पालि में लिखी गयी, जिसका नाम 'छन्दोमंजरी' है। इसके लेखक विसुद्धाचार नामक बरमी विद्वान् थे और इन्होंने यह रचना सन १८९७ में लिखी। बरमी भाषा में इस पर एक 'निस्सय' भी लिखा गया। पन्द्रहवीं शताब्दी में श्रीलंका के गतारा परिवेण के निवासी थेर उपतपस्सी (जिन्होंने अपने को 'सरसिगाममूलमहासामी' भी कह कर पुकारा है) के द्वारा लिखी गयी 'वुत्तमाला' या 'वुत्तमालासन्देस-सतक' का भी यहाँ उल्लेख कर देना चाहिए। इसमें छन्दों की ध्वनियों का उच्चारण सिखाया गया है, यद्यपि इसका विषय राज-स्तुति आदि है।

काव्य-शास्त्र—सुबोधालङ्कार

पालि काव्य-शास्त्र पर 'सुबोधालंकार'[5] एकमात्र रचना है। यह १०२

---

१. सासनवंसो, पृष्ठ ४५, (देवनागरी संस्करण)।

२. "छन्दोसारत्थविकासिनि सद्धम्मञाणथेरो अकासि।" सासनवंसो, पृष्ठ ७१ (देवनागरी संस्करण)।

३. "वचनत्थजोतिं पनवेपुल्लथेरो अकासि।" सासनवंसो, पृष्ठ ७१। देवनागरी संस्करण)।

४. पृष्ठ ७१ (देवनागरी संस्करण)।

५. 'बौद्धालङ्कारशास्त्रम्' शीर्षक से डॉ० ब्रह्ममित्र अवस्थी द्वारा देवनागरी

गाथाओं के रूप में है। इसमें चार परिच्छेद हैं, जिनमें क्रमशः दोषावबोध, दोष-परिहारावबोध, गुणावबोध और अर्थालंकारवबोध का निरूपण है। दण्डी के 'काव्यादर्श' से काफी प्रभावित है। इसके रचयिता उपर्युक्त स्थविर संघरक्खित ही हैं। इस पर वाचिस्सर (सिंहली भिक्षु सारिपुत्त के शिष्य ने 'सुबोधालंकार टीका) लिखी। सुबोधालंकार पर 'अलंकार-निस्सय' नाम की एक व्याख्या सन १८८० में बरमा में लिखी गयी। 'छपच्चयदीपनी' नामक एक काव्यशास्त्रीय रचना बरमी भिक्षु सद्धम्मञाण ने चौदहवीं शताब्दी के आदि में लिखी। इसी प्रकार छक्किन्दाभिसिरि नामक बरमी लेखक ने सन १८७२ में 'काव्यसारत्थ-संगह' नामक एक रचना भी काव्य-शास्त्र पर लिखी।

पालि का अभिलेख-साहित्य

पालि का सब से बड़ा गौरव बुद्ध-वचनों के बाद उसका अभिलेख-साहित्य है। भारतीय साहित्य और इतिहास की ही नहीं, विश्व-संस्कृति के इतिहास की भी वह मूल्यवान् सम्पत्ति है। मात्रा में स्वाभाविक रूप से अल्प होते हुए भी यह साहित्य अपनी उदात्त और गम्भीर वाणी, स्वाभाविक और सरल शैली एवं जीवन के गम्भीरतम पहलुओं और अनुभवों पर निष्ठित होने के कारण उसी महत्ता को लिये हुए है, जिसे हम उपनिषत्कालीन ऋषियों की वाणी; बुद्ध-वचनों मध्यकालीन सन्तों के उद्‌गारों या आधुनिक काल में महात्मा गाँधी की सहज आत्म-निःसृत वाणी से सम्बन्धित करते हैं। पालि का अभिलेख-साहित्य ई० पू० तीसरी शताब्दी से पन्द्रहवीं शताब्दी ईसवी तक मिलता है। अशोक के अभिलेख उसकी ऊपरी काल-सीमा और बरमा के राजा धम्मचेति के प्रसिद्ध कल्याणी-अभिलेख उसकी निचली काल-सीमा निश्चित करते हैं। इन काल-कोटियों से वेष्टित प्रसिद्ध पालि अभिलेख-साहित्य यह हैं—अशोक के अभिलेख, साँची और भरहुत के अभिलेख, सारनाथ के कनिष्ककालीन अभिलेख, मौगन (बरमा) के दो स्वर्णपत्र-लेख, मब्जा का पाँचवीं-छठी शताब्दी का स्वर्ण-पत्र लेख, बोबोगी पेगोडा (मब्जा-बरमा) के खंडित पाषाण-लेख, पगान का सन १४४२ ई० का अभिलेख और कल्याणी-अभिलेख। इनमें अशोक के अभिलेख सबके सिरमौर हैं और काल-क्रम में भी वे सर्वप्रथम आते हैं।

लिपि में सम्पादित तथा संस्कृत और हिन्दी में अनुवादित। प्रकाशक श्री लाल-बहादुर शास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, दिल्ली—७, १९७३ ई०।

अशोक के अभिलेख

अशोक के अभिलेख उत्तर में हिमालय से दक्षिण में मैसूर तक और पूर्व में उड़ीसा से पश्चिम में काठियावाड़ तक पहाड़ी चट्टानों ,पत्थर के विशाल स्तम्भों और गुफाओं पर उत्कीर्ण मिलते हैं। अब तक करीब २०० से अधिक अभिलेख मिल चुके हैं। इन अभिलेखों का प्रधानतः तीन दृष्टियों से बड़ा महत्त्व है। (१) इन अभिलेखों में अशोक ने अपने शब्दों में अपनी जीवनी का वर्णन किया है। जीवनी किसी स्थूल अर्थ में नहीं। अशोक ने यहाँ अपने आन्तरिक जीवन के परिवर्तन का, अहिंसा के अपने प्रयोगों का, जीवन के अपने गम्भीरतम अनुभवों का, सादी से सादी भाषा में, बड़ी स्पष्टता और सच्चाई के साथ वर्णन किया है। (२) अशोक-कालीन इतिहास को जानने के लिए ये अभिलेख प्रकाशगृह हैं। पालि-साहिय के अन्य वर्णनों की अपेक्षा इन अभिलेखों का साक्ष्य इतिहास-लेखकों को सदा अधिक मान्य रहा है। निश्चय ही ये अभिलेख स्वतः प्रमाण-सिद्ध हैं और इन्हीं के आधार पर अशोककालीन इतिहास का निर्माण किया गया है। (३) अशोक के अभिलेखों से पालि भाषा के स्वरूप और उसके साहित्य के विकास पर भी काफी प्रकाश पड़ता है। हमारे प्रस्तुत अध्ययन के प्रसंग में उनका यह महत्त्व हमारे लिए सब से अधिक मूल्यवान् है। पहले हम अशोक के अभिलेखों का संक्षिप्त विवरण देंगे, फिर उपर्युक्त तीनों दृष्टियों से उनके महत्त्व का विवेचन करेंगे।

उनका वर्गीकरण

अशोक के अभिलेखों का वर्गीकरण सामान्यतया निम्न प्रकार से किया जाता है:

१. चौदह शिला-लेख।
२. सात स्तम्भ-लेख।
३. दो कलिंग के फुटकर अभिलेख।
४. दो लघु शिला-लेख तथा भाब्रू शिला-लेख।
५. लघु स्तम्भ-लेख।
६. गुफा-लेख।

उपर्युक्त अभिलेख जिन स्थानों में पाये गये हैं, उनका विवरण क्रमशः इस प्रकार हैं।

१. चौदह शिला-लेख इन निम्न आठ स्थानों में पाये गये हैं:

(१) गिरनार पहाड़ी, जूनागढ़ के समीप, वर्तमान गुजरात राज्य में।

(२) कालसी; जिला देहरादून, उत्तरप्रदेश।
(३) धौली; जिला पुरी, उड़ीसा।
(४) जौगढ़; जिला गंजाम, उड़ीसा।
(५) शाहबाजगढ़ी; जिला पेशावर, पाकिस्तान।
(६) मनसेहरा; जिला हज़ारा, पाकिस्तान।
(७) सोपारा; जिला ठाणा, महाराष्ट्र राज्य।
(८) एर्रागुडि, जिला कुरनूल, आन्ध्रप्रदेश।

उपर्युक्त कई स्थानों में १४ या १३ अभिलेख एक साथ उत्कीर्ण मिले हैं। धौली और जौगढ़ में उपर्युक्त लेखों में से केवल दस मिले हैं और साथ में एक-एक प्रादेशिक लेख भी हैं।

२. सात स्तम्भ-लेख इन छह स्थानों पर मिले हैं:
दिल्ली, मेरठ, इलाहाबाद, लौरिया अरराज (बिहार), लौरिया नन्दनगढ़ (बिहार)और रामपुरवा (बिहार)। दिल्ली के स्तम्भ पर, जिसे फीरोजशाह तुगलक ने अम्बाला के समीप तोपरा से मँगवाया था, सातों लेख हैं। मेरठ वाली लाट पर, जिसे भी फीरोजशाह तुगलक ने दिल्ली मँगवाया था, लेख अस्पष्ट हैं। बाकी स्थानों के स्तम्भों पर छह-छह लेख हैं।

३. कलिंग के दो फुटकर अभिलेख धौली और जौगढ़ में मिले हैं।

४. दो लघु शिला-लेख तथा भाब्रू शिला-लेख—दो लघु शिला-लेखों के दो संस्करण हैं; उत्तरी और दक्षिणी। उत्तरी संस्करण इन चार स्थानों पर मिलते हैं, यथा सहसराम (बिहार), रूपनाथ (मध्यप्रदेश), बैराठ (राजस्थान) और गुजर्रा (मध्य प्रदेश)। दक्षिणी संस्करण इन आठ स्थानों पर मिलते हैं, ब्रह्मगिरि, सिद्धपुर; जटिंग रामेश्वर (तीनों मैसूर राज्य में), मास्की (हैदराबाद), एर्रागुडि (आन्ध्र प्रदेश), गोवीमठ (हैदराबाद), पल्कीगुण्डु (हैदराबाद) और राजुल मण्डगिरि (आन्ध्र प्रदेश)। भाब्रू शिलालेख जयपुर (राजस्थान) के पास बैराट नामक स्थान में मिला था। यह प्रसिद्ध अभिलेख बैराट में ही प्राप्त उक्त दो लघु शिलालेखों से भिन्न है। बैराट से बारह मील दूर भाब्रू नामक स्थान है। उसी के नाम पर इसका नाम भाब्रू-शिलालेख पड़ गया है। यह इस समय कलकत्ता में है।

५. लघु स्तम्भ-लेख संख्या में चार हैं और ये इन छह स्थानों में मिले हैं; सारनाथ, कौशाम्बी, साँची, इलाहाबाद, रुम्मिनदेई और निगलीवा।

६. गुफा-लेख गया के समीप बराबर पहाड़ी की गुफाओं में उत्कीर्ण हैं।

इन अभिलेखों में अशोक ने अपना परिचय अधिकतर 'देवानं पियो पियदसि राजा' ('देवानं प्रियः प्रियदर्शी राजा') या केवल 'देवानं पियो' या 'पियदसि राजा' के रूप में दिया है। केवल दो अभिलेखों में उसका नाम 'अशोक' भी पाया जाता है। ये हैं लघु शिलालेख प्रथम के गुजर्रा और मास्की के संस्करण, जिनमें गुजर्रा के अभिलेख में है 'देवानं पियस असोकराजस' और मास्की के अभिलेख में है; 'देवानं पियस असोकस'।

अशोक का व्यक्तित्व; उसका शासन, उसका राजनीति-दर्शन और तत्कालीन भारत की परिस्थिति, इन लेखों से स्पष्टतः व्यंजित होते हैं। सब से पहले अशोक की बुद्ध-भक्ति है, जिसने अशोक को अशोक बनाया। अशोक का विश्व-इतिहास में जो भी कुछ स्थान है[1] या अपने राजनीति-दर्शन के रूप में अशोक जो कुछ भी विश्व को दे गया है, वह सब बुद्ध का एक छोटा-सा दान है। उससे अधिक भी बहुतों ने पाया है, यद्यपि इतिहास में उनका नाम नहीं है। अशोक ने बुद्ध से जो कुछ पाया, उसे वह स्वयं भी ज्ञानपूर्वक समझता था। भीषण कलिंग-युद्ध के बाद उसके हृदय में जो ग्लानि पैदा हुई थी, उसका उसने अपने बारहवें शिलालेख में मार्मिक वर्णन किया है। यह उसके लिए एक युगान्तकारी घटना थी। इसके बाद उसने निश्चय किया कि संसार में क्षेम, संयम, चित-शांति और प्रसन्नता की ही वृद्धि करूँगा; शान्ति, सद्भाव और अहिंसा का ही प्रचार करूँगा। यही सर्वोत्तम विजय होगी। रणभेरी को छोड़कर उसने धर्म-घोष से ही दिशाओं को गुंजायमान करने का निश्चय किया। यही उसका 'प्रियदर्शी' रूप था। अशोक पहले नर-हत्यारा था, चंडाशोक था। बुद्धानुभाव से वह देवताओं और मनुष्यों का प्यारा हुआ, धर्माशोक हुआ। अशोक के इस जीवन-परिवर्तन में कहाँ तक बौद्ध प्रभाव उत्तर-दायी था अथवा कहाँ तक यह उसके स्वतंत्र विचार और चिन्तन का परिणाम था, इसके विषय में विवाद करने की गुंजायश नहीं है। विंसेंट स्मिथ का यह कहना

---

१. "Amidst the tens and thousands of names of monaschs that crowd the columns of History the name of Asoka shines, and Hshines almost alone a star" एच० जी० वेल्स अपनी 'आउट लाइन ऑफ हिस्ट्री' पृष्ठ २१२ में (सन् १९२० का संशोधित संस्करण)। देखिये उनकी 'ए शॉर्ट हिस्ट्री ऑफ दि वर्ल्ड' भी, पृष्ठ १०४-१०५ (पैलिकन बुक्स, जून १९३८) भी।

कि अशोक अपने धर्म-परिवर्तन का श्रेय किसी दूसरे को नहीं देना चाहता था,[१] ठीक नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि पुरुषार्थ तो मनुष्य को स्वयं ही करना होता है और पर्याप्त हृदय-मंथन के बाद उपयुक्त चित्त-भूमि भी उसे ही तैयार करनी होती है। यह सब अशोक ने भी किया था। कलिंग-युद्ध के बाद उसके हृदय में धार्मिक पवित्रता और शान्ति के लिए उत्कट अभिलाषा (तिव्रे धम्मवय धम्म-कमट') उत्पन्न हुई थी। परन्तु कौन जानता है कि इतना होने पर भी अशोक को यदि स्थविर (या श्रामणेर)[२] न्यग्रोध न मिलते तो 'बिखरे बादल की तरह' वह विनष्ट नहीं हो जाता। अतः अशोक को बुद्ध-शासन का प्रकाश अवश्य मिला था, जिसके लिए उसने अपने शिलालेखों में पर्याप्त कृतज्ञता भी प्रकाशित की है। भाब्रू-शिलालेख में उसने मगध के भिक्षु-संघ का श्रद्धापूर्वक अभिवादन किया है, उनके कुशल-मंगल की कामना की है और कहा है; "भन्ते ! आपको मालूम ही है कि बुद्ध, धर्म और संघ के प्रति मेरे हृदय में कितने आदर और श्रद्धा है। भन्ते ! भगवान् बुद्ध से जो कुछ कहा है, सब सुन्दर ही कहा है।" कलिंग-युद्ध अशोक के राज्याभिषेक के आठवें वर्ष में हुआ था और उसके बाद ही उसने न्यग्रोध नामक

---

१. स्मिथ ने इस बात पर जोर दिया है कि अशोक ने जिस धर्म का अपने शिलालेखों में उपदेश दिया है, वह तो सम्पूर्ण भारतीय धर्मों का वह समन्वित रूप था, जिसे अशोक ने अपने स्वतन्त्र विचार के परिणामस्वरूप उद्भावित किया था और उसका बुद्ध धर्म से, जैसा कि वह तिपिटक के अनेक ग्रन्थों में निहित है, कोई सम्बन्ध नहीं है। देखिये उनका अशोक : पृष्ठ ५९-६६ (रूलर्स ऑफ इण्डिया सीरीज)।

२. जिस व्यक्ति से अशोक को बुद्ध-मत की दीक्षा मिली, उसका नाम, स्थविरवाद परम्परा के अनुसार, न्यग्रोध था। 'दीपवंस' के वर्णन के अनुसार न्यग्रोध स्थविर थे; 'समन्तपासादिका' में उन्हें स्थविर और श्रामणेर दोनों ही कहा गया है। महावंस (५।६४-६८) के अनुसार वे केवल श्रामणेर थे अधिकतर वे न्यग्रोध श्रामणेर (निग्रोध सामणेर) के नाम से ही प्रसिद्ध हैं। चाहे स्थविर हों, चाहे श्रामणेर, भिक्षु, न्यग्रोध एक कुशल योगी अवश्य थे, जिन्होंने अपने व्यक्तित्व से अशोक को आकृष्ट कर लिया। 'दिव्यावदान' में निहित परम्परा के अनुसार अशोक को बुद्ध-धर्म की ओर आकृष्ट करने वाले प्रथम व्यक्ति स्थविर समुद्र थे। देखिये दिव्यावदान, पृष्ठ २३७ (दरभंगा संस्करण)।

भिक्षु से उपासकत्व की दीक्षा ली थी।[1] उसके वाद तो अशोक नियमित रूप से बौद्ध गृहस्थ-शिष्य (उपासक) हो गया। अपने 'धर्म तथा शील में प्रतिष्ठित' ('धम्मम्हि सीलम्हि तिट्ठन्तो') होने की वात अशोक ने अपने छठे शिलालेख में कही है। मैसूर के तीन लघु शिलालेखों में अशोक ने अपने उपासक-जीवन का वर्णन किया है। यहाँ उसके उपासक स्वरूप की दो अवस्थाएँ उपलक्षित होती हैं। पहिली अवस्था वह है, जिसमें अशोक एक साधारण उपासक मात्र है। 'य हकं उपासके' अर्थात् 'जब कि मैं उपासक था।' दूसरी अवस्था वह है, जिसमें अशोक संघ में जाने वाला (संघ उपयिते) उपासक वन गया है। अपनी इस अवस्था को सूचित करते हुए उसने कहा है 'यं मया संघे उपयिते' अर्थात 'जब कि मैं संघ के दर्शनार्थ जाता था।' अशोक के धर्म-विकास की अन्तिम अवस्था वह है, जब कि वह 'भिक्खुगतिक' हो जाता है; अर्थात् स्वयं भिक्षु तो नहीं होता, किन्तु उसकी गति भिक्षुओं की-सी हो जाती है। अनासक्त भाव से राज्यकार्य करता हुआ वह कभी-कभी सत्संग पाने के लिए विहार में जाकर भिक्षुओं के साथ रहने लगता है।[2] यहाँ अशोक पूर्ण राजर्षि-पद प्राप्त कर लेता है। चीनी यात्री इ-त्सिंग ने, जो सातवीं शताब्दी में भारत में आया था, अशोक की एक मूर्ति भिक्षु-वेश में भी देखी थी। किन्तु यह सन्दिग्ध है कि अशोक अपने अन्तिम जीवन में भिक्षु हो गया था। कुछ भी हो, इसमें सन्देह नहीं कि बुद्ध, धम्म और संघ में अशोक की असीम निष्ठा थी। अपने राज्याभिषेक के इक्कीसवें वर्ष में वह भगवान् बुद्धदेव की जन्मभूमि लुम्बिनी-वन में गया और वहाँ एक सुन्दर, गोलाकार स्तम्भ पर उसने अंकित करवाया "हिद बुधे जाते सक्य-मुनीति......हिद भगवा जते ति लुम्मिनिगामे", अर्थात् "यहीं लुम्बिनी-ग्राम में शाक्यमुनि बुद्ध उत्पन्न हुए थे; यहीं भगवान् उत्पन्न हुए थे।" अशोक की बुद्ध-निष्ठा का यह ज्वलन्त उदाहरण है। उसने कपिलवस्तु, सारनाथ, श्रावस्ती, गया आदि अन्य स्थानों की भी, जो बुद्ध की स्मृति से अंकित थे, यात्रा की और अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित की। पहले अशोक की पाकशाला में हजारों जीव प्रतिदिन मारे जाया करते थे।[3] अपने प्रथम शिलालेख में उसने सूचना दी कि इस समय सिर्फ

---

१. यद्यपि पालि-वृत्तान्त के अनुसार अभिषेक के चौथे वर्ष में अशोक ने बुद्धमत की दीक्षा ली। ('चतुत्थे संवच्छरे बुद्ध-सासने पसीदि')।

२. देखिये राधाकुमुद मुकर्जी : मैन ऐण्ड थॉट इन एन्शियण्ट इंडिया, पृष्ठ १३०।

३. पुलुवं महानससि देवानं पियस पियदसिने लाजिने अनुदिवसं बहूनि पान सत सहसानि आलभियिसु सूपठाये (पहले देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा की

दो मोर और एक हिरन ही मारे जाते थे, जिनमें हिरन का मारा जाना निश्चित नहीं है और आगे ये तीन प्राणी भी नहीं मारे जायँगे।[1] मृगया और विहार-यात्राओं के स्थान पर उसने धर्म-यात्राएँ करना प्रारम्भ किया,[2] क्योंकि अब उसे जीवन की गम्भीरता का ज्ञान हो चुका था। उसने देख लिया था कि संसार के सुख-भोग, प्रतिष्ठा और बड़प्पन, परलोक में कुछ काम नहीं आते।[3] अशोक यद्यपि बौद्ध था, किन्तु सम्प्रदायवाद उसके हृदय में नहीं था। विश्व का होने के लिए ही वह बुद्ध का हुआ था। ब्राह्मण और जैन साधुओं को भी वह बौद्धों के समान ही दान देता था और उनके तीर्थ-स्थानों के भी समान आदर के साथ ही दर्शन करता था। अपने बारहवें शिलालेख में अशोक ने धार्मिक सहिष्णुता का मर्मस्पर्शी उपदेश दिया है। उसका कहना है कि सच्ची धर्मोन्नति का मूल वाक-संयम है ('इदं मूलं वचि गुति')। मनुष्य अपने धर्म की स्तुति और दूसरे के धर्म की निन्दा न करे। जो अपने सम्प्रदाय की भक्ति के कारण अपने ही धर्म वालों की प्रशंसा करता है और अन्य धर्मानुयायियों की निन्दा करता है; वह वास्तव में अपने सम्प्रदाय को बहुत हानि पहुँचाता है। वह इस प्रकार अपने धर्म को क्षीण करता है और पर-धर्म का अपकार करता है। लोग एक-दूसरे के धर्म को सुनें और उसका सेवन करें। सब धर्म वाले बहुश्रुत हों और उनका ज्ञान कल्याणमय हो। "प्रियदर्शी राजा चाहता है कि सब धर्म वाले सर्वत्र मेल-मिलाप से रहें। वे सभी संयम और भाव-शुद्धि चाहते हैं। मनुष्यों के ऊँच-नीच विचार और ऊँच-नीच अनुराग होते हैं। कोई अपने धर्म का पूरी तरह और कोई अंशमात्र पालन करेंगे। जिसके यहाँ देने को बहुत दान नहीं है, उसमें भी संयम, भाव-शुद्धि, कृतज्ञता और दृढ़ भक्ति तो अवश्य हो ही सकती है।"[4] सर्वधर्म-समभाव का इससे अधिक प्रभावशाली उपदेश विश्व-इतिहास में नहीं दिया गया। अशोक ने भारत और उसके बाहर पश्चिमी एशिया के देशों में इस विश्वधर्म का प्रचार करने के लिए जो महनीय कार्य किया, उसके दूसरे और

पाठशाला में अनेक शत-सहस्र प्राणी सूप के लिए मारे जाते थे) शिलालेख १ (जौगढ़ पाठ)।

१. से अज अदा इयं धम्मलिपि लिखिता तिनियेव पानानि आलभियंति— दुवे मजुला एके मिगे। से पि चु मितें नो ध्रुवं। एतानि पि चु तिनि पानानि पछा नो आलभियिसंति। शिलालेख १ (जौगढ़ पाठ)।

२. शिलालेख ८।

३. शिलालेख १०।

४. शिलालेख १२।

तेरहवें शिलालेखों में अंकित है और दूसरे अध्याय में तृतीय बौद्ध-संगीति का वर्णन करते समय हम उसका कुछ उल्लेख कर चुके हैं।

अशोक ने बुद्ध धर्म को जैसा समझा और जैसा उसका आचरण किया, वह कुछ प्रव्रजितों का ही धर्म नहीं था, बल्कि जीवन की पवित्रता पर आश्रित वह विस्तृत लोक-धर्म था, जिसका आचरण जीवन की प्रत्येक अवस्था में और प्रत्येक व्यक्ति द्वारा किया जा सकता है। अहिंसा, बड़ों का आदर, सत्य-भाषण, इन बातों को सिखाते हुए प्रियदर्शी राजा कभी थकता नहीं।[1] माता-पिता की सेवा करना, मित्र, परिचित, सम्बन्धी, ब्राह्मण और श्रमणों का आदर करना, दास और भृत्यों के साथ सद्व्यवहार करना, यही सब अशोक की शिक्षाएँ थीं।[2] अल्पव्ययता और अल्प-भाण्डारता (कम सामान इकटठा करना) की उसने बड़ी प्रशंसा की है।[3] आत्म-निरीक्षणों को उसने धर्म का प्रमुख साधन माना है। बुद्ध के समान अशोक ने भी धर्म के आन्तरिक स्वरूप पर जोर दिया है। तत्कालीन लोकाचारों की एक सच्चे बुद्धिवादी के समान तुच्छता दिखाते हुए उसने कहा है—"बीमारी में, निमंत्रण में, विवाह में, पुत्र-जन्म और यात्रा के प्रसंगों पर, स्त्री-पुरुष बहुत से मंगल-कार्य करते हैं, परन्तु वे मंगल थोड़े फल के देने वाले होते हैं। किन्तु अहिंसा, दया, दान, गुरुजनों की पूजा इत्यादि धर्म के मंगल-कार्य अनन्त पुण्य करते हैं।"[4] अशोक ने धर्म-दान की बड़ी प्रशंसा की है। उसने कहा है कि सच्चा अनुष्ठान धर्म का अनुष्ठान है, सच्ची यात्रा धर्म की यात्रा है, सच्चा मंगलाचार धर्म-मंगल है। वास्तव में धर्म (धम्म) शब्द को यहाँ अशोक ने बड़े व्यापक अर्थ में प्रयोग किया है।

अशोक की शासन-नीति को जानने के लिए उसके अभिलेख बड़े सहायक हैं। कोई भी शासक अपनी आज्ञाएँ शिलालेखों पर खुदवा सकता है। किन्तु अशोक के अभिलेखों जैसा स्थायित्व, उनकी इतनी विश्वजनीनता, इतनी मार्मिकता, इतनी गम्भीर सच्चाई, विश्व-साहित्य में अन्यत्र कहीं नहीं देखी गयी। वे एकदम इतिहास की सामग्री हैं, उच्चतम साहित्य हैं और गम्भीरतम जीवन-दर्शन भी हैं। उनके अन्दर 'प्रियदर्शी' की लोक-कल्याण के लिए छटपटाती हुई आत्मा अभी तक निःश्वास ले रही है और अतीत को जीवन प्रदान कर

---

१. २. शिलालेख ३, ९ और ११।

३. शिलालेख ३।

४. शिलालेख ९।

५. देखिये शिलालेख ९, शिलालेख ११ भी; मिलाइये धम्मपद, "सब्बदानं धम्मदानं जिनाति।"

रही है। अशोक अपने अभिलेखों में हमारे लिए जीवित हैं। राजनीति जीवन से भिन्न नहीं है। बल्कि उसका ही एक अंग है। अशोक ने जो तत्त्व जीवन में देखा है, उसी का अपने राजनैतिक जीवन में अभ्यास किया है, उसी को अपनी प्रजाओं को सिखाया है और उसी को लेखों में अंकित करवाया है। क्या है वह तत्त्व? यह वही तत्त्व है, जिसे स्थविर न्यग्रोध ने उसे प्रथम बार सिखाया,[1] तथागत ने जिसे अन्तिम बार दुहराया,[2] अशोक ने जिसे जीवन भर निभाया—कल्याणकारी कार्यों में अप्रमाद, अनवरत और अनासक्त कर्म-योग का अभ्यास।[3] यही तथागत का वीर्यारम्भ है, अशोक के लेखबद्ध शब्दों में यही 'उस्टान'[4] (उत्थान) है; यही 'उयम'[5] (उद्यम) है[6] यही 'उसह'[7] (उत्साह); यही 'पकम' या 'परक्कम' (पराक्रम) है, जिसे सिखाते हुए 'पियदसी धम्म-राजा' कभी थकता नहीं। निरालस होकर परोपकार के लिए अदम्य कर्मयोग का अभ्यास ही अशोक के जीवन का मूल दर्शन है, जिसे उसने राजनीति के क्षेत्र में भी प्रयुक्त किया है और उसे धर्म-साधना का अंग बना लिया है।[8] अपने छठे शिलालेख

---

१. दीपवंस में कहा गया है कि न्यग्रोध ने अशोक को यह गाथा सुनायी "अप्रमाद अमृत-पद है। प्रमाद मृत्यु का पद है। अप्रमादी मनुष्य मृत्यु को प्राप्त नहीं होते, प्रमादी मनुष्य तो मृत ही हैं।" धम्मपद के द्वितीय वग्ग की यह प्रथम गाथा है। महावंस ५।६८ के अनुसार भी न्यग्रोध ने अशोक को यही गाथा सुनायी।

२. तथागत के अंतिम शब्द ये थे "अप्रमाद के साथ (जीवन के लक्ष्य को) सम्पादन करो।" (अप्पमादेन सम्पादेथ—महापरिनिब्बाण-सुत्त—दीघ, २।३); मिलाइये महासुकुलुदायि-सुत्त—मज्झिम २।३।७—आनापानसति-सुत्त—मज्झिम. ३।२।८; अप्पमत्तक वग्ग (अंगुत्तर-निकाय, एकक निपात); सम्मप्पधानसंयुत्त (संयुत्त-निकाय); थपति-सुत्त (संयुत्त-निकाय), पधान-सुत्त (अंगुत्तर-निकाय) आदि, आदि।

३. शिलालेख ६।

४. शिलालेख १३।

५. स्तम्भलेख १।

६. लघु शिलालेख प्रथम।

७. शिलालेख १०।

८. इसी को व्यक्त करते हुए उसने अमर शब्दों में कहा है "नास्ति हि कंमतरं सर्वलोकहितत्पा य च किं चि" (शिलालेख ६, गिरनार पाठ) ("नहीं है निश्चय ही सब लोगों के हित से अधिक उपादेय काम"।)

में उसने कहा है "मैंने यह प्रवन्ध किया है कि प्रत्येक समय चाहे उस समय खाता होऊँ चाहे अन्तःपुर में रहूँ, चाहे शयनागार में रहूँ; चाहे उद्यान में रहूँ, सब जगह ही प्रतिवेदक (पेशकार) जनता के कार्य की सूचना मुझे दें। मैं जनता के कार्य सव जगह करूँगा। यदि स्वयं आज्ञा दूँ कि अमुक कार्य किया जाय और महामात्रों में उसके विषय में कोई मतभेद उपस्थित हो अथवा मन्त्रि-परिषद् उसे स्वीकार न करे; तो हर घड़ी और हर समय मुझे सूचना दी जाय, क्योंकि मैं कितना ही परिश्रम करूँ और कितना ही राज्य-कार्य करूँ, फिर भी मुझे पूर्ण संतोष नहीं होता। मैं जो कुछ प्रयत्न (पराक्रम) करता हूँ, वह इसलिए कि प्राणियों के प्रति जो मेरा ऋण है, उससे उऋण हो जाऊँ और यहाँ कुछ लोगों को सुखी करूँ और परलोक में उन्हें स्वर्ग का अधिकारी वनाऊँ। अत्यधिक प्रयत्न (पराक्रम) के विना यह कार्य कठिन है। जिस प्रकार अपने पुत्रों का हित और सुख चाहता हूँ, उसी प्रकार मैं लोक के ऐहिक और पारलौकिक हित और सुख की कामना करता हूँ।" इसी प्रकार अपने चौथे स्तम्भ-लेख में अशोक ने घोषणा की है, "जिस प्रकार कोई मनुष्य अपनी सन्तान को निपुण दाई के हाथ में सौंपकर निश्चिन्त हो जाता है और सोचता है कि यह धाय मेरे वालक को सुख देने की भर-पूर चेष्टा करेगी, उसी प्रकार प्रजा के हित और सुख के लिए मैंने 'रज्जुक' (लजुका) नाम के कर्मचारी नियुक्त किये हैं।" इन वाणियों से अशोक के कार्य और नीति का पता लग सकता है। अहिंसा के सिद्धान्त को वह व्यावहारिक राजनीति के साथ समन्वित करने की कितनी क्षमता रखता था, यह उसके उस अभिलेख से स्पष्ट होता है जो उसने सतत उपद्रव करने की ओर प्रवणता रखने वाली उत्तर-पश्चिमी सीमा की जंगली जातियों को सम्बोधित करते हुए उनके प्रदेश में अंकित करवाया था, "सीमान्त जातियाँ मुझ से भयभीत न हों, मुझ पर विश्वास रखें और मेरे द्वारा सुख प्राप्त करें, कभी दुख न पावें और विश्वास रखें कि जहाँ तक क्षमा का व्यवहार हो सकता है, राजा हम लोगों के साथ क्षमा का व्यवहार करेंगे।"[१] सम्राट् अशोक और उसके उच्च कर्मचारी समय-समय पर देहाती जनता के सम्पर्क में आने और उसके दर्शन करने के लिए ('जानपदस जनस दसनं') राज्य का दौरा (अनुसंधान) करते थे।[२] अशोक चाहता था कि कानून के भय से ही लोग सदाचार का आचरण न करें, वल्कि उनके आन्तरिक जीवन को इस प्रकार शिक्षित किया जाय, जिससे वे पाप की ओर प्रवण ही न हों। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने 'महामात्र'

---

१. शिलालेख २।

२. शिलालेख ८ (गिरनार); शिलालेख १२ भी।

नामक उच्च कर्मचारी नियुक्त किये थे और उन्हें अनेक विशेषाधिकार भी दिये थे।[1] इन कार्यों के अलावा अशोक ने अपने विशाल साम्राज्य में स्थान-स्थान पर धर्म-शालाएँ बनवायीं, मनुष्यों और पशुओं को आराम देने के लिए छायादार पेड़ लगवाये, आम-वाटिकाएँ बनवायीं और पानी के कुण्ड बनवाये।[2] सब से बड़ा काम उसने औषधालय और चिकित्सालय खोलने का किया। अपने दूसरे शिलालेख में अशोक ने कहा है कि उसने रोगी मनुष्यों और पशुओं के लिए अलग-अलग चिकित्सालय स्थापित किये हैं।[3] यह काम उसने न केवल अपने ही राज्य में किया है; बल्कि विदेशों में भी अपने धर्मोपदेशकों द्वारा करवाया है।[4] जहाँ-जहाँ मनुष्यों और पशुओं के प्रयोग में आनेवाली औषधियों और औषधोपयोगी कन्द-मूल-फल नहीं हैं, वहाँ-वहाँ वे भिजवाये गये हैं और लगवाये गये हैं।[5] कहने की आवश्यकता नहीं कि यह काम अशोक ने जाति-धर्म-देश-निर्विशेष प्राणि-मात्र के कल्याणार्थ ही किया। उसी के द्वारा मानवता की दुन्दुभी विश्व में चारों ओर बजवायी गयी। बौद्ध धर्म उसी समय से विश्व-धर्म बन गया।

इस संक्षिप्त विवरण के बाद अब हमें उस महत्त्वपूर्ण साक्ष्य को देखना है, जो अशोक के अभिलेख पालि-भाषा के स्वरूप और उसके साहित्य के विकास के विषय में देते हैं। अशोक के अभिलेखों में तत्कालीन राष्ट्रभाषा (मागधी भाषा) के कितने स्वरूप दृष्टिगोचर होते हैं और उनका तथाकथित पालि-भाषा से क्या सम्बन्ध है, इसका विस्तृत विवेचन हम पहले अध्याय में कर चुके हैं। गिरनार (पश्चिम); जौगढ़ (पूर्व) और मनसेहरा (उत्तर) के अभिलेखों की भाषा का तुलनात्मक अध्ययन और अनेक विद्वानों के एतद्विषयक मतों की समीक्षा वहीं की जा चुकी है। अशोक के अभिलेखों में प्रयुक्त प्रादेशिक भाषाओं के यही तीन मुख्य

---

१. शिलालेख ५; स्तम्भ लेख ७; धर्ममहामात्रों के क्या कर्त्तव्य थे, इसके लिए देखिए, 'अशोक की धर्मलिपियाँ' प्रथम भाग, पृष्ठ ५१-५२, (काशी नागरी प्रचारिणी सभा)।

२. स्तम्भलेख ७।

३. द्वे चिकीछा कता मनुसचिकीछा च पसुचिकीछा च। शिलालेख २ (गिरनार पाठ)।

४. शिलालेख १३ एवं २।

५. ओसुढानि च यानि मनुसोपगानि च पसोपगानि च यत यत नास्ति सर्वत्र हारापितानि च रोपापितानि च। मूलानि च फलानि च यत नास्ति सर्वत्र हारापितानि च रोपापितानि च। शिलालेख २ (गिरनार पाठ)।

वर्ग हम कर सकते हैं। यदि चाहें तो दक्षिणी भारत का एक अलग वर्ग भी मान सकते हैं। इन प्रादेशिक भाषा-रूपों के सम्बन्ध में यहाँ यही कहा जा सकता है कि विभिन्न प्रदेशों में राजकीय आज्ञा से स्थानीय आवश्यकताओं को देखते हुए जो विभिन्न प्रादेशिक भाषाएँ प्रयुक्त की गयी हैं, उनमें विषय और शैली दोनों ही दृष्टियों से भारी समानता है और वे एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं। डॉ० बरुआ ने अशोक के अभिलेखों की भाषा में पाँच प्रादेशिक बोलियों के रूप देखे हैं, जो गिरनार, शाहबाजगढ़ी, काल्सी, ब्रह्मगिरि और धौली के अभिलेखों में प्रतिनिधित्व प्राप्त करते हैं। इनके विस्तृत तुलनात्मक अध्ययन के बाद डॉ० बरुआ इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि इनमें से गिरनार के शिलालेख की भाषा का पालि से सर्वाधिक साम्य है।[1] वास्तव में अशोक के अभिलेखों का महत्त्व पालि भाषा और साहित्य के सन्दर्भ में ही महत्त्वपूर्ण नहीं है, उनका महत्त्व समग्र भारतीय साहित्य की दृष्टि से भी है और जहाँ तक भाषा का सम्बन्ध है, मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा-युग के पूरे भाषा-रूप को समझने के लिए उनका अध्ययन नितान्त आवश्यक है। अब पालि साहित्य के विकास पर इस अभिलेखों से क्या प्रकाश पड़ता है, इस पर हम यहाँ कुछ विचार करेंगे। इस दृष्टि से अशोक के भाब्रू-शिलालेख का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। विषय-गौरव की दृष्टि से भी यह लेख अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अतः उसे यहाँ उद्धृत करना ही अधिक उपयुक्त होगा।

भाब्रू-शिलालेख

पियदसि लाजा मागधं संघं अभिवादनं आहा, अपाबाधतं च फासु विहालतं च। विदिते वे भन्ते आवतके हमा बुधसि धम्मसि संघसिति गालवे च पसादे च। ए केचि भंते भगवता बुधेन भासिते सवे से सुभासिते वा। ए चु खो भंते हमियाये दिसेया हेवं सघंमे चिलठितीके होसतीति अलहामि हकं तं वतवे। इमानि भंते धमपलियायानि विनयसमुकसे, अलियवसानि, अनागतभयानि, मुनिगाथा, मोनेयसूते, उपतिसपसिने ए चा लाघुलोवादे मुसावादं अधिगिच्य भगवता बुधेन भासिते। एतानि भंते धंमपलियायानि इच्छामि किं ति बहुके भिखुपाये चा भिखुनिये चा अभिखिनं सुनयु चा उपधालेयेयु चा। हेवं मेवा उपासका चा उपासिका चा। एतेनि भंते इमं लिखापयामि अभिपेतं में जानंतूति।

---

१. पूरे विवेचन के लिए देखिए उनका 'अशोक ऐण्ड हिज इनस्क्रिप्सन्स,' भाग द्वितीय, पृष्ठ ४९-६१ (कलकत्ता, १९४६)।

हिन्दी-अनुवाद

"प्रियदर्शी राजा मगध के संघ को अभिवादन करता है और उनका कुशल-मंगल पूछता हैं और कहता है। भन्ते! आपको मालूम ही है कि बुद्ध, धर्म और संघ के प्रति मेरे हृदय में कितना आदर और श्रद्धा है। भन्ते? भगवान् ने जो कुछ कहा है, सब सुन्दर हीं कहा है। भन्ते! जो कुछ मुझे कहना है, उसे कहता हूँ, ताकि सद्धर्म चिरस्थायी हो।

भन्ते! ये धम्म-पलियाय हैं—विनय-समुत्कर्ष, आर्यवंश, अनागतभय, मुनि-गाथा, मोनेय्य-सूत्र, उदतिष्य-प्रश्न और राहुलोवाद-सूत्र, जिसमें भगवान् ने मृषावाद के विषय में उपदेश दिया है। भन्ते! मैं चाहता हूँ कि सभी भिक्षु, भिक्षुणियाँ, उपासक तथा उपासिकाएँ; इन्हें सदा सुनें और पालन करें। भन्ते! इसी-लिए मैं यह लेख लिखवा रहा हूँ, ऐसा समझें।"

उपर्युक्त अभिलेख में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यहाँ अशोक ने कुछ बुद्ध-वचनों (धम्म-पलियाय) के नाम लेकर भिक्षु-भिक्षुणियों और उपासक-उपासिकाओं सभी को उनका सतत स्वाध्याय करने की प्रेरणा की है। उसने बुद्ध-वचनों के कुछ अंशों को चुना है; जिनकी महत्ता सार्वजनीन है और जिनमें सदाचार के उस रूप की प्रतिष्ठा की गयी है; जिसका आचरण सभी स्त्री-पुरुष कर सकते हैं। जिन सात धम्म-परियायों या धम्म पलियायों को अशोक ने गिनाया है, वे प्रायः उन्हीं नामों में वर्तमान पालि-तिपिटक में भी विद्यमान हैं। किस-किस धम्म-परियाय की अनुरूपता पालि-तिपिटक के किस-किस अंश या सुत्त के साथ है, यह नीचे लिखे विद्वानों के एतद्विषयक मतों से; जिनमें कहीं-कहीं कुछ अल्प विभिन्नता भी है, स्पष्ट होगा।

१. विनय-समुकसे (विनय-समुत्कर्ष)

१. विनय का उत्कृष्ट उपदेश या पातिमोक्ख—डॉ० रायस डेविडस और ओल्डानबर्ग।[१]

---

१. सेक्रेट बुक्स ऑफ दि ईस्ट, जिल्द तेरहवीं, पृष्ठ २६ (भूमिका), अलग-अलग भी रायस डेविड्स : जर्नल ऑफ रायल एशियाटिक सोसायटी, १८९८, जर्नल ऑफ पालि टैक्स्ट सोसायटी, १८९६, बुद्धिस्ट इंडिया, पृष्ठ १६९; इसी प्रकार ओल्डनवर्ग : विनय-पिटकं, जिल्द पहली, पृष्ठ ८० में टिप्पणी (विनय-पिटक का रोमन-लिपि में संस्करण, पालि टैक्स्ट सोसायटी द्वारा प्रकाशित)।

२. बुद्ध की 'सामुक्कंसिका धम्मदेसना' (ऊँचा उठानेवाला धर्मोपदेश), जिसका उपदेश वाराणसी में दिया गया (अर्थात् धम्मचक्कपवत्तन-सुत्त)—ए० जे० एडमंड्स।[1]

३. सप्पुरिस-सुत्त (मज्झिम ३।२।३) या अंगुत्तर-निकाय का विनय-सम्बन्धी उपदेश (अत्थवसवग्ग)—प्रो० मित्र।[2]

४. 'गिहि-विनय' (गृह-विनय) नाम से प्रसिद्ध सिंगालोवाद-सुत्त (दीघ ३।८) तथा 'भिक्खु-विनय' (भिक्षु-विनय) के नाम से प्रसिद्ध अनुमान-सुत्त (मज्झिम० १।२।५)—डॉ० वेणीमाधव बरुआ।[3]

५. तुवट्ठक-सुत्त (तुवट्टक या तुवटक-सुत्त भी) (सुत्त-निपात)—प्रो० डी० आर० भण्डारकर।[4]

२. अलियवसानि (आर्यवंश)

१. अंगुत्तर-निकाय के चतुक्क-निपात के महा-अरियवंस-सुत्त में निर्दिष्ट चार आर्य-वंश (चत्तारो अरियवंसा)—आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी।[5]

२. अंगुत्तर निकाय के दसक-निपात के 'अरियवास-सुत्त' में अथवा दीघ-

---

१. जर्नल ऑफ रॉयल एशियाटिक सोसायटी १९१३, पृष्ठ ३८५। पं० विधुशेखर भट्टाचार्य भी धम्मचक्कपवत्तन-सुत्त को ही 'विनय-समुकसे' मानते हैं। देखिये उनकी 'बुद्धिस्ट टैक्स्ट ऐज़ रिकमण्डेड बाई अशोक, पृष्ठ ग्यारह (प्रस्तावना), (कलकत्ता, १९४८)।

२. लाहा : हिस्ट्री ऑफ पालि लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६६५ में उद्धृत।

३. जर्नल ऑफ रॉयल एशियाटिक सोसायटी, १९१५, पृष्ठ ८०५। 'अशोक ऐण्ड हिज इन्स्क्रिप्शन्स', द्वितीय भाग, पृष्ठ ३३ (कलकत्ता, १९४६) में उन्होंने मज्झिम-निकाय के अनुमान-सुत्त या अंगुत्तर-निकाय के विनय-सम्बन्धी उपदेश "अत्थवसवग्ग' को ही 'विनय-समुत्कर्ष' माना है। उनका तर्क यह है कि यहीं विनय के वास्तविक उत्कर्ष और उसके प्रयोजन का पूर्ण निरूपण है।

४. इण्डियन एंटिक्वेरी, जिल्द ४०, पृष्ठ ८९।

५. इंडियन एंटिक्वेरी ४१, ४०; देखिये उनकी 'भगवान् बुद्ध', पृष्ठ ३२०-३२२ (साहित्य अकादमी के लिए राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम हिन्दी संस्करण, १९५६)।

निकाय के 'संगीति-परियाय-सुत्त' और 'दसुत्तर-सुत्त' में निर्दिष्ट दस आर्य-वास डॉ० रायस डेविड्स।[1]

३. अंगुत्तर-निकाय का महाअरियवंस-सुत्त—बरुआ।[2]

३. अनागत-भयानि

१. अंगुत्तर-निकाय के पंचक निपात में निर्दिष्ट पाँच अनागत-भय—डॉ० रायस डेविड्स।[3]

४. मुनि-गाथा

१. मुनि-सुत्त (सुत्त-निपात)—डॉ० रायस डेविड्स।[4]

५. मोनेय-सूते (मोनेय-सुत्त)

१. नालक-सुत्त (सुत्त-निपात)—आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी।[5]

२. प्रस्तावना को छोड़कर नालक-सुत्त का शेष भाग—डॉ० वेणीमाधव बरुआ।[6]

३. इतिवुत्तक का मोनय्य-सुत्त—डॉ० रायस डेविड्स।[7]

४. 'इतिवुत्तक' का ६७वाँ सुत्त (मोनेय्य-सुत्त) एवं अंगुत्तर-निकाय के तिकनिपात में निर्दिष्ट मोनेय्यानि डॉ विंटरनित्ज।[8]

---

१. ऊपर उद्धृत पद-संकेत १ के समान। पं० विधुशेखर भट्टाचार्य ने भी इसी के समान दीघ-निकाय के संगीति-सुत्तन्त और दसुत्तर-सुत्तन्त को 'अलियवस' (अरिय-वास) माना है। देखिये उनकी बुद्धिस्ट टैक्स्ट पृष्ठ ग्यारह (प्रस्तावना)।

२. अशोक ऐण्ड हिज इन्स्क्रिप्शन्स, भाग द्वितीय, पृष्ठ ३४।

३. जर्नल ऑफ रॉयल एशियाटिक सोसायटी, १८९८।

४. उपर्युक्त के समान। डॉ० बरुआ और विधुशेखर भट्टाचार्य भी इससे सहमत हैं।

५. इंडियन एंटिक्वेरी, ४०, ४१, देखिये उनकी 'भगवान् बुद्ध', पृष्ठ ३२६-३२९ भी (राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९५६)।

६. जर्नल ऑफ रॉयल एशियाटिक सोसायटी, १९१५, पृष्ठ ८०५। 'अशोक ऐण्ड हिज इन्स्क्रिप्शन्स' में उन्होंने स्पष्ट रूप से कुछ नहीं कहा। केवल दूसरे विद्वानों के मतों को उद्धृत किया है।

७. उपर्युक्त पद-संकेत ५ के समान।

८. हिस्ट्री ऑफ इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६०७ (परिशिष्ट ३)।

६. उपतिस-पसने (उपतिष्य-प्रश्न)[1]

१. सारिपुत्त-सुत्त (सुत्त-निपात)—कोसम्बी और बरुआ।[2]

२. मज्झिम-निकाय के रथविनीत-सुत्त (१।३।४) में निर्दिष्ट 'उपतिष्य-प्रश्न—न्यूमैन'।[3]

७. लाघुलोवादे मुसावादं अधिगिच्य भगवता बुधेन भासिते

(राहुल को उद्देश्य कर मृषावाद के सम्बन्ध में भगवान् बुद्ध का दिया हुआ उपदेश)।

१. अम्बलट्ठिक-राहुलोवाद-सुत्तन्त (मज्झिम, २।२।१)—डॉ० रायस डेविड्स।[4]

२. अम्बलट्ठिक-राहुलोवाद-सुत्तन्त (मज्झिम, २।२।१)—ई० सेनाँ[5]

भाब्रू-अभिलेख में निर्दिष्ट धम्म-पलियायों की पहचान का अधिक विवेचन हमें यहाँ अभीष्ट नहीं है। इसलिए केवल विभिन्न विद्वानों के मतों के उद्धरण से सन्तोष कर लिया है। हमारा उद्देश्य है अशोक के भाब्रू अभिलेख के ऐतिहासिक साक्ष्य और महत्त्व को स्पष्ट करना और पालि-तिपिटक के सन्दर्भ में उसे देखना। यद्यपि भाब्रू शिलालेख में निर्दिष्ट धम्म-पलियायों की पालि-तिपिटक के विशिष्ट सूत्रों से पहचान करने में विद्वानों में कुछ मतभेद अवश्य रहा है, किन्तु यह मतभेद बहुत अल्प है और अधिकांश तो एक ही विषय के पालि-तिपिटक में अनेक स्थानों में प्रायः

---

१. उपतिष्य सारिपुत्र का नाम है। चूँकि सुत्त-निपात के सारिपुत्त-सुत्त में सारिपुत्र ने कुछ प्रश्न किये हैं जिनका उत्तर बुद्ध ने दिया है, अतः यह प्रायः सुनिश्चित ही है कि अशोक का तात्पर्य इसी उपदेश से था।

२. इन विद्वानों के लेखों का निर्देश ऊपर हो चुका है। 'अशोक ऐण्ड हिज इन्स्क्रिप्शन्स', भाग द्वितीय, पृष्ठ ३६ में डॉ० बरुआ ने यह सम्भावना दिखायी है कि मज्झिम-निकाय का रथविनीत-सुत्तन्त भी 'उपतिस-पसिने' हो सकता है। सम्भवतः न्यूमन के अनुसरण पर उन्होंने ऐसा किया है। डॉ० विंटरनित्ज सुत्त-निपात के सारिपुत्त-सुत्त को ही 'उपतिस-पसिने' समझते हैं। देखिये उनकी हिस्ट्री ऑफ इंडियन लिटरेचर, पृष्ठ ६०७ (परिशिष्ट ३)।

३. विंटरनित्ज : हिस्ट्री ऑफ इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६०६ में उद्धृत।

४. जर्नल ऑफ रॉयल एशियाटिक सोसायटी, १८९८।

५. जर्नल एशियाटिक, १८८४, जिल्द तीसरी, पृष्ठ ४७८।

समान शब्दों में वर्णन करने के कारण ही है। अतः यह कहना इसके साक्ष्य को अतिरंजित करना नहीं होगा कि जिस समय अशोक का यह शिलालेख लिखा गया था, अर्थात् तृतीय शताब्दी ईसवी-पूर्व, उस समय पालि-तिपिटक अपने उसी रूप में और अपने सूत्रों के प्रायः उन्हीं नामों के साथ, जिनमें वह आज पाया जाता है, विद्यमान था।[1] अशोक के प्रज्ञापनों की भाव-शैली से भी यही परिलक्षित होता है। उन पर बुद्ध-वचनों का, जैसे कि वे आज पालि-तिपिटक में निहित हैं, पर्याप्त प्रभाव दृष्टि-गोचर होता है। हाँ, विशेषता केवल यही है कि उसने बुद्ध-वचनों के अथाह समुद्र में से केवल ऐसे सुवचनों को चुन लिया है, जिनका उपदेश सर्व-साधारण के लिए, जिनमें विशेषतः गृहस्थों की ही अधिकता होती है, उपकारी हो सकता था। यही कारण है कि आर्य-सत्य, आर्य-अष्टांगिक मार्ग, प्रतीत्यसमुत्पाद, निर्वाण जैसे गम्भीर विषयों का उल्लेख न कर, उसने जन-साधारण के सामने इस लोक के साधारण सामाजिक, पारिवारिक और आधुनिक भाषा में कहें तो, नागरिक कर्त्तव्यों का उपदेश रखा है, जिसे पालि-लिपिटक के सिगालोवाद (या सिगालोवाद) सुत्त (दीघ० ३।८) लक्खण-सुत्त (दीघ० ३।७) और महामंगलसुत्त (सुत्त-निपात) जैसे भागों में गृहस्थों को लक्ष्य कर सिखाया गया है। 'सिगालोवाद-सुत्त' तो पूरे अर्थों में 'गिहि-विनय' (गृह-विनय) कहा ही गया है। अशोक ने जिस धर्म को सिखाया है, उसमें प्राणधारियों की अहिंसा (अनारम्भो प्राणानं), जीवों को कष्ट न पहुँचाना (अविहिंसा भूतानं), माता-पिता की सेवा (मातरि पितरि सुस्रूसा), बड़ों का आदर (थेर-सुस्रूसा), मित्र, परिचितों, सम्बन्धियों ब्राह्मणों और श्रमणों के प्रति उदारता और शिष्टता का व्यवहार (मित-संस्तुत-ञातिकानं ब्राह्मण-समणानं दानं सम्पटिपति), गुरुओं का सम्मान (गुरूनं अपचिति), दासों और नौकरों के साथ शिष्टता और उदारता का व्यवहार (दास-भतकम्हि सम्मपटिपत्ति), मितव्ययता और अल्प संग्रह करना (अपव्ययता, अपभांडता) आदि सामान्य लोक-धर्म की बातें ही हैं। बुद्ध ने यही धर्म साधारण जनता को सिखाया था। 'सिगालोवाद-सुत्त' के इस संक्षिप्त उद्धरण को ही देखिये—

---

१. डॉ० वेणीमाधव बरुआ इसी निष्कर्ष पर पहुँचे, किन्तु विंटरजित्ज ने उनके इस निष्कर्ष को कुछ अतिरंजित माना है। देखिये उनकी हिस्ट्री ऑफ इंडियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६०८; फिर भी विंटरनित्ज ने उन विद्वानों के साथ सहमति नहीं दिखायी है, जो अशोक के समय किसी भी प्रकार के पालि-तिपिटक का अस्तित्व स्वीकार नहीं करते। देखिये वहीं, पृष्ठ ६०८-६०९।

"माता-पिता पूर्व दिशा हैं, आचार्य दक्षिण दिशा।
पुत्र-स्त्री पश्चिम दिशा हैं, मित्र-अमात्य उत्तर दिशा।
दास-कर्मकर नीचे की दिशा हैं, श्रमण-ब्राह्मण ऊपर की दिशा।
गृहस्थ को अपने कुल में इन दिशाओं को अच्छी तरह नमस्कार करना चाहिए।"[1]

निश्चय ही अशोक ने अपने 'धम्म' को ऐसे ही बुद्ध-वचनों से पाया है। ऊपर भाब्रू अभिलेख में उसकी बुद्ध-भक्ति दिखायी जा चुकी है। साँची, प्रयाग और सारनाथ के अपने स्तम्भ-प्रज्ञापनों में संघ-भेद को रोकने के लिए अशोक ने जो तत्परता दिखायी है, वह भी स्पष्ट ही है। वास्तव में उसने अपने सारे जीवन-कार्यों में चक्रवर्ती धर्मराज के उस आदर्श को पूर्ण करने का प्रयत्न किया, जो पालि-तिपिटक में उपदिष्ट किया गया है। लक्खण-सुत्त (दीघ० ३।७) के अनुसार "चक्रवर्ती धार्मिक धर्मराज चारों दिशाओं को जीतकर सागर-पर्यन्त इस पृथ्वी (भारत-भूमि) की दंड और शस्त्र से नहीं, बल्कि धर्म से जीतकर उसके ऊपर शासन करता है।"[2] अशोक की धम्म-विजय का उसकी प्राणि-अविहिंसा का, जाति धर्म-निर्विशेष, सम्पूर्ण मनुष्य-जाति की सेवा के उसके उच्च आदर्श का, इसके अलावा और अर्थ ही क्या हो सकता था? अतः यह निर्विवाद है कि अशोक की प्रेरणा का मूलाधार बुद्ध-धर्म ही था। किस प्रकार धम्म-दान की प्रशंसा करते हुए अशोक ने धम्मपद की एक गाथा के अंश ('धम्मदानं सब्बदानं जिनाति') को प्रतिध्वनित किया है, अथवा किस प्रकार उसके नवें शिलालेख के अन्तिम भाग की शैली 'कथावत्थु' से मिलती-जुलती है, यह हम पहले दिखा चुके हैं। अतः यह निःसंदेह है कि अशोक के अभिलेखों का साक्ष्य उसके बुद्ध-वचनों या पालि-तिपिटक के उस रूप से परिचित होने के पक्ष में है, जो आज हमें प्राप्त है और जिसमें से 'गृहविनय' के ही लोकसामान्य आदर्श ओ लेकर अशोक ने स्वयं (अपने गृहस्थ शासक होने की अवस्था में) उसको अपनाया और उसी को अपनी प्यारी जनताओं को भी सिखाया।[3]

---

१. दीघ-निकाय, पृष्ठ २७६ (राहुल सांकृत्यायन का अनुवाद)।

२. "चक्कवती धम्मिको धम्मराजा चातुरन्तो विजितावी सो इमं पठविं सागरपरियन्तं अदण्डेन असत्थेन अभिविजिय अज्झावसति।" लक्खण-सुत्त (दीघ० ३।७)।

३. अशोक के अभिलेखों पर भाषा और भाव दोनों ही दृष्टियों से पालि-तिपिटक का प्रभाव स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है। अशोक-वचनों में किस प्रकार

अशोक के अभिलेखों के अलावा अन्य प्रभूत पालि अभिलेख-साहित्य भी हमें आज प्राप्त हैं। यह बहुत पुराना भी है और उसकी परम्परा ठीक अर्वाचीन काल तक भी चलती आ रही है। तीसरी और दूसरी शताब्दी ईसवी-पूर्व से लेकर ठीक अठारहवीं शताब्दी तक के पालि अभिलेख हमें प्राप्त हैं। यद्यपि इन सब अभिलेखों का साहित्यिक महत्त्व और ऐतिहासिक साक्ष्य अशोक के अभिलेखों के समान महत्त्वपूर्ण नहीं हैं, किन्तु इनमें से अधिकांश पालि-साहित्य के विकास की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। उसकी विकास-परम्परा के विभिन्न पहलुओं को समझने के लिए वे हमें बहुत सहायता देते हैं। हम इन आठ मुख्य अभिलेखों का यहाँ उल्लेख करेंगे (१) साँची और भरहुत के अभिलेख, (२) सारनाथ के कनिष्ककालीन अभिलेख, (३) मौगन (बरमा) के दो स्वर्ण-पत्र लेख, (४) मञ्जा (प्रोम-बरमा) का पाँचवीं-छठी शताब्दी का स्वर्ण-पत्र लेख, (५) मञ्जा (प्रोम-बरमा) के बोबोगी पेगोडा में प्राप्त खंडित पाषाण-लेख, (६) १४४२ ई० का पगान (बरमा) का अभि, (७) थाई (स्याम) देश के सुखोदयपुर में सन १४२६ ई० में अंकित पालि अभिलेख और (८) रामण्य-देश (पेगू-बरमा) के राजा धम्मचेति का सन १४७६ ई० का प्रसिद्ध कल्याणी-अभिलेख।

साँची और भरहुत के अभिलेख[1]

प्राय: सभी पुरातत्त्वविदों का इस विषय में एक मत है कि मध्य-प्रदेश राज्य के साँची और भरहुत के स्तूप तीसरी-दूसरी शताब्दी ईसवी-पूर्व के हैं। इन स्तूपों की पाषाण-वेष्टनियों पर जो लेख उत्कीर्ण हैं और प्राचीन बौद्ध कथाओं के जो चित्र अंकित हैं, वे भारतीय पुरातत्त्व की तो अमूल्य निधि हैं ही, पालि-तिपिटक की प्राचीनता और प्रामाणिकता को दिखाने के लिए भी उनका प्रमाण अन्तिम और पूर्णरूप से निश्चित है। हम पहले देख चुके हैं कि इन स्तूपों के लेखों में भिक्षुओं

बुद्धवचन ध्वनित हैं, इसके सोद्धरण विवेचन के लिए देखिये बरुआ : अशोक ऐण्ड हिज इन्स्क्रिप्शन्स, भाग द्वितीय, पृष्ठ ६२-९२। महाभारत आदि के अवतरणों से भी यहाँ डॉ० बरुआ ने अशोक-वचनों को मिलाया है और तत्सम्बन्धी उद्धरण दिये हैं।

१. साँची और भरहुत के अभिलेखों के अध्ययन के लिए देखिये विशेषण : बरुआ और सिंह "भरहुत इन्सक्रिप्शन्स", कलकत्ता, १९२६; मेसे : साँची और इट्स रिमेन्स, लन्दन १८९२, मार्शल : ए गाइड टू साँची, कलकत्ता, १९१८; हिन्दी में अभी इस विषय का विशेषतापूर्ण अध्ययन नहीं किया गया।

के विशेषणस्वरूप 'सुत्तन्तिक', 'पेटकी', 'धम्मकथिक', 'पञ्चनेकायिक', 'माणक' जैसे शब्दों का प्रयोग किया गया है, जिनसे स्पष्ट है कि जिस समय ये लेख लिखे गये थे, बुद्धवचनों का 'पिटक' 'सुत्त', 'पंच निकाय' आदि में वर्गीकरण प्रसिद्ध था और उनका संगायन करनेवाले (भाणक) भिक्षु भी पाये जाते थे। अतः पालि तिपिटक प्रायः अपने उसी विभाजन में, जिसमें वह आज उपलब्ध हैं, तीसरी-दूसरी शताब्दी ईसवी पूर्व भी पाया जाता था, यह निश्चित है। एक और प्रमाण भी इन्हीं स्तूपों से इस निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए मिलता है। भरहुत और साँची की पाषाण-वेष्टनियों पर बौद्ध-कथाओं के चित्र अंकित हैं, जो जातक की अनेक कथाओं से विचित्र समानता रखते हैं। इतना ही नहीं; भरहुत-स्तूप में तो कुछ जातक-कथाओं के नाम तक भी उल्लिखित हैं, जो इस प्रकार हैं (१) वितुर पुनकिय, (२) मिग, (३) नाग, (४) यवमझकिय, (५) मुगपकय, (६) लतुवा; (७) छदन्तिय, (८) इसिसिंगिय, (९) यं वमणो अवयेसि, (१०) हंस, (११) किनर, (१२) इसिमिगो, (१३) जनोको राजा, (१४) सिवला देवी, (१५) उद, (१६) सेछ; (१७) सुजतो गहुतो, (१८) विडल जातक, (१९) कुकुट जातक, (२०) मघादेविय, (२१) भिस और (२२) हरनिय। इन जातकों की कथाएँ और कहीं-कहीं नाम भी आज प्राप्त 'जातक' की इन कहानियों से समानता रखते हैं, यथा (१) विधुर पण्डित, (२) निग्रोध-मिग, (३) कक्कट, (४) महाउम्मग्ग; (५) मूगपक्ख, (६) लटुकिक, (७) छद्दन्द, (८) अलम्बुस, (९) अण्डभूत, (१०) नच्च, (११) चन्द किन्नर, (१२) मिगपोतक, (१३) महाजनक, (१४) दब्ब-पुप्फ, (१५) दूभिय मक्कट, (१६) सुजात, (१७) कुक्कुट, (१८) मखादेव और (१९) भिस जातक। भरहुत-स्तूप में कहीं-कहीं दृश्य तो अंकित हैं, किन्तु नीचे उनके नाम नहीं दिये गये हैं। फिर भी इन चित्रों से विदित होता है कि वे पालि-जातक की कुछ कहानियों के चित्रों को ही अंकित करते हैं। इस प्रकार की 'जातक' की कहानियाँ, जो यहाँ अंकित हैं, ये हैं (१) कुरुंग-मिग, (२) सन्धि-भेद, (३) असदिस, (४) दसरथ, (५) महाकपि, (६) चम्मसाटक, (८) आराम-दूसक (संख्या ४६) और (८) कपोत जातक। अतः इन सब साक्ष्यों से स्पष्ट है कि न केवल पालि-तिपिटक बल्कि उसके कुछ विशिष्ट ग्रन्थ भी अपने उसी स्वरूप में, जैसे वे आज हैं, तृतीय-द्वितीय शताब्दी ईसवी-पूर्व भी विद्यमान थे। इस प्रकार साँची और भरहुत के महत्त्वपूर्ण अभिलेख और चित्र अशोक के अभिलेखों के साक्ष्य का ही अनुमोदन करते हुए 'तेपिटक' बुद्ध-वचनों की प्रामाणिकता और प्राचीनता का साक्ष्य देते हैं।

सारनाथ के कनिष्ककालीन अभिलेख

सारनाथ संग्रहालय में लम्बे आकार की बोधिसत्त्व की एक मूर्ति सुरक्षित है। उस पर तीन अभिलेख अंकित हैं, जो कुषाण-राजा कनिष्क के शासन-काल के तीसरे वर्ष में अंकित किये गये हैं। इन लेखों का विषय बुद्ध का 'धम्मचक्कपवत्तन' है। पंचवर्गीय भिक्षुओं के प्रति भगवान् ने वाराणसी में चतुरार्य सत्य-विषयक जो उपदेश दिया, वह यहाँ इन शब्दों में अंकित है "चत्तारि मानि भिक्खवे अरिय-सच्चानि। कतमानि चत्तारि? दुक्खं हि, भिक्खवे, अरियसच्चं। दुक्खसमुदयो अरियसच्चं, दुक्ख-निरोधो अरियसच्चं, दुक्खनिरोध-गामिनी च पटिपदा।" इसका हिन्दी अनुवाद है—"भिक्षुओ! ये चार आर्य सत्य हैं? कौन से चार? भिक्षुओ! दुःख आर्य सत्य है, दुःख-समुदाय आर्य सत्य है, दुःख-निरोध आर्य सत्य है, दुःख-निरोध गामिनी-प्रतिपदा (मार्ग) आर्य सत्य है।" 'धम्मचक्क पवत्तन-सुत्त' का यह अक्षरशः उद्धरण ही है। कनिष्क ने इसे अंकित करवाकर उसी स्थान पर रखा, जहाँ पर कि वह ऐतिहासिक रूप से प्रथम बार दिया गया था, इससे स्पष्ट विदित होता है कि ईसवी सन् के लगभग (कनिष्क का समय) पालि-माध्यम में निहित बुद्ध-वचन ऐतिहासिक रूप से प्रामाणिक माने जाते थे। अशोक के तथा साँची और भरहुत के अभिलेखों के कालक्रम से प्राप्त साक्ष्य का इस प्रकार यह अभिलेख भी अनुमोदन करता है।

मौंगन (बरमा) के दो स्वर्णपत्र-लेख

स्वर्णपत्रों पर लिखे हुए दो पालि-अभिलेख बरमा में प्रोम के समीप मौंगन नामक गाँव में मिले हैं। सम्भवतः ये पाँचवीं-छठी शताब्दी ईसवी के हैं और दक्षिण भारत की कदम्ब (कन्नड-तेलुगु) लिपि में लिखे हुए हैं। प्रथम अभिलेख यह है "ये धम्मा हेतुप्पभवा तेसं हेतुं तथागतो आह तेसं च यो निरोधो, एवं वादी महासमणो ति, चत्तारो सम्मप्पधाना, चत्तारो सतिपट्ठाना, चत्तारि अरियसच्चानि, चतु-वेसारज्जानि, पञ्चिन्द्रियाणि, पञ्च चक्खूनि, छ असद्धारणानि, सत्त बोज्झगं, अरियो अट्ठंगिको मग्गो, नव लोकुत्तरा धम्मा, दस बलानि, चुद्दस बुद्धञाणानि, अट्ठारस बुधम्मा ति।" इसका हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है, "जो धर्म हेतुओं से उत्पन्न हैं, उनके हेतु को तथागत बतलाये हैं और उनके निरोध को भी, महाश्रमण का यही मत है, जैसे कि चार सम्यक् प्रधान, चार स्मृति-प्रस्थान, चार आर्य-सत्य, चार वैशारद्य, पाँच इन्द्रिय, पाँच चक्षु, छह असाधारण, दस बल, चौदह बुद्धज्ञान एवं अठारह बुद्ध-धर्म।" इस अवतरण का प्रथम भाग अर्थात् यह अंश "जो धर्म हेतुओं से उत्पन्न है, उनके हेतु को तथागत बतलाते हैं और उनके निरोध

को भी, यही उन महाश्रमण का मत है" बुद्ध के सारे मन्तव्य को जैसे एक संक्षिप्त सूत्र में ही रख देता है। पालि-तिपिटक में भी यह बहुत प्रसिद्ध है। अस्सजि (अश्वजित्) नामक भिक्षु ने यही कहकर प्रथम बार सारिपुत्र को बुद्ध-मन्तव्य का परिचय दिया था; बाद में अंश में बोधिपक्षीय धर्मों का परिगणन कराया गया है, जो बुद्ध के नैतिक आदर्शवाद की एक परिपूर्ण सूची हैं। स्थविरवाद बौद्ध धर्म बुद्ध धर्म के नैतिक सिद्धान्तों को आधार मानकर भगवान् बुद्ध द्वारा उपदिष्ट बोधिपक्षीय धर्मों को ही उनका मुख्य मन्तव्य मानता है। पाँचवीं-छठी शताब्दी में बरमी बौद्ध धर्म की प्रगति पर यह स्वर्ण-पत्र लेख अच्छा प्रकाश डालता है। द्वितीय स्वर्णपत्र, पर भी प्रथम लेख के आदि का अंश अंकित है (ये धम्मा......महासमणोति), किन्तु उसके बाद यहाँ बुद्ध की वन्दना और अंकित है, यथा—"तिपि सो भगवा अरहं सम्मा सम्बुद्धो विज्जाचरणसम्पन्नो सुगतो लोकविदू अनुत्तरो पुरिसदम्मसारथी सत्था देवमनुस्सानं बुद्धो भगवाति।" यह भी पालि-तिपिटक का ही एक उद्धरण है। इसका हिन्दी-अनुवाद है—"वे भगवान् अर्हत्, सम्यक् सम्बुद्ध, विद्या आचरण-सम्पन्न, सुगत, लोकविद्, अद्वितीय पुरुष-दम्य-सारथी, देव और मनुष्यों के शास्ता भगवान् बुद्ध हैं।" बुद्ध-भक्ति के उद्गारस्वरूप ही ये लेख लिखे गये हैं।

मब्जा का पाँचवीं-छठी शताब्दी का स्वर्णपत्र-लेख

बरमा में प्रोम के पास मब्जा नामक स्थान पर (जो बरमा की प्यू नामक जाति की पुरानी राजधानी का अवशेष है और जिसके पास ही उपर्युक्त मौंगन गाँव है) बीस स्वर्ण-पत्रों पर लिखा हुआ एक पालि अभिलेख पाया गया है; यह भी दक्षिण-भारत की कन्नड-तेलुगु की लिपि में लिखा हुआ है। इस अभिलेख में विनय और अभिधम्मपिटक के कुछ उद्धरण अंकित हैं। बोधिपक्षीय धर्मों और प्रतीत्य-समुत्पाद के भी उद्धरण हैं। कुछ अंश इस प्रकार हैं, "चत्तारो सतिपट्ठाना, चत्तारो सम्मप्पधाना, चत्तारो इद्धिपादा....अविज्जा-पच्चया शंखारा, शंखार-पच्चया विञ्ञाणं, विञ्ञाण-पच्चया नामरूपं....।" इस अभिलेख में यह भी अंकित है "विरागो सेट्ठो धम्मानं दिपदानं च चक्खुमाति।" यह 'धम्मपद' (२०।१) का गाथार्ध भाग ही है। बरमा में पालि बौद्ध धर्म के विकास के इतिहास पर इस अभिलेख से पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

मब्जा के बोबोगी पेगोडा में प्राप्त खण्डित पाषाण-लेख

बरमा में मब्जा (प्राचीन प्रोम) के बोबोगी पेगोडा में सन् १९१०-११

ई० में तीन खण्डित पाषाण-लेख मिले, जो सम्भवतः छठी शताब्दी ईसवी के हैं। इनकी लिपि भी दक्षिण भारत की कन्नड-तेलुगु लिपि से मिलती-जुलती है। इन अभिलेखों में पालि-तिपिटक, विशेषतः अभिधम्म-पिटक, के ही किसी ग्रन्थ का उद्धरण है, जिसका अभी निश्चयतः पता नहीं लगाया जा सका है। इस अभिलेख से बरमा की अभिधम्म-पिटक सम्बन्धी अध्ययन की ओर विशेष रुचि का, जो वहाँ आरम्भ से ही रही है, पता चलता है।

१४४२ ई० का पगान (बरमा) का अभिलेख

बरमा के तौंगद्विन नामक प्रान्त के बौद्ध उपासक राज्यपाल और उसकी पत्नी ने १४४२ ई० में वहाँ के भिक्षु-संघ को कुछ महत्त्वपूर्ण दान दिया था। उसी की स्मृति को सुरक्षित रखने के लिए यह लेख अंकित करवाया गया था। इस लेख में अन्य बातों के साथ-साथ उन ग्रन्थों का भी उल्लेख है, जिनका दान उक्त राज्यपाल ने भिक्षु-संघ को दिया था। अतः बरमा में पालि-साहित्य के विकास की दृष्टि से इस अभिलेख का एक विशेष महत्त्व है। एक विशेष महत्त्वपूर्ण बात इस अभिलेख की यह भी है कि यहाँ पालि-ग्रन्थों की सूची में अमरकोश, वृत्तरत्नाकर जैसे कुछ संस्कृत-ग्रन्थ भी सम्मिलित हैं, जो बरमा में तद्विषयक अध्ययन की परम्परा का अच्छा साक्ष्य देते हैं। पन्द्रहवीं शताब्दी तक बरमी पालि-साहित्य की प्रगति को दिखाने के लिए यद्यपि इस अभिलेख में निर्दिष्ट ग्रन्थों का अधिक विवेचन अपेक्षित है, किन्तु विस्तार-भय से हम यहाँ ऐसा न कर केवल उनका नाम परिगणन मात्र ही करते हैं, जिनकी भी संख्या २९५ है, यथा—(१) पाराजिककंड, (२) पाचित्तिय, (३) भिक्खुनी-विभंग, (४) विनय-महावग्ग, (५) विनय-चूळवग्ग, (६) विनय-परिवार, (७) पाराजिक-कंड-अट्ठकथा, (८) पाचित्तियादि-अट्ठकथा, (९) पाराजिककंड-टीका, (१०) तेरसकंडटीका, (११) विनय-संग्रह-अट्ठकथा (महा), (१२) विनय-संग्रह-अट्ठकथा (लघु), (१३) कंखावितरणी-अट्ठकथा, (१४) खुद्दसिक्खा-टीका (प्राचीन), (१५) खुद्दसिक्खा-टीका (अभिनवा); (१६) कंखा-टीका (अभिनवा), (१७) विनयगण्ठिपद, (१८) विनय - उत्तर - सिंचय - अट्ठकथा, (१९) विनय-सिंचय-टीका, (२०) विनयक्खन्ध-निद्देस, (२१) धम्मसंगणि, (२२) विभंग, (२३) धातुकथा, (२४) पुग्गलपञ्ञत्ति, (२५) कथावत्थु, (२६) मूल यमक, (२७) इन्द्रिय यमक, (२८) तिक-पट्ठान, (२९) दुक-तिक-पट्ठान, (३०) दुक-पुट्ठान, (३१) अट्ठसालिनी-अट्ठकथा, (३२) सम्मोहविनोदनी-अट्ठकथा, (३३) पञ्चप्पकरण-अट्ठकथा, (३४) अभिधम्म-अनुटीका,

(३५) अभिधम्मत्थसंगह-अट्ठकथा, (३६) अभिधम्मत्थसंगह-टीका, (३७) अभिधम्मत्थविभावनी-टीका, (३८) सीलक्खन्ध, (३९) महावग्ग, (४०) पाथेय्य; (४१) सीलक्खन्ध-अट्ठकथा, (४२) महावग्ग-अट्ठकथा, (४३) पाथेय्य-अट्ठकथा, (४४) सीलक्खन्ध-टीका, (४५) महावग्ग-टीका, (४६) पाथेय्य-टीका, (४७) मूलपण्णास, (४८) मूलपण्णास-अट्ठकथा, (४९) मूलपण्णास-टीका (५०) मज्झिमपण्णास; (५१) मज्झिमपण्णास-अट्ठकथा, (५२) मज्झिमपण्णास-टीका, (५३) उपरिपण्णास, (५४) उपरिपण्णास-अट्ठकथा; (५५) उपरिपण्णास-टीका, (५६) सगाथवग्ग-संयुत्त, (५७) सगाथवग्गसंयुत्त-अट्ठकथा, (५८) सगाथवग्गसंयुत्त-टीका, (५९) निदान-वग्ग-संयुत्त, (६०) निदानवग्गसंयुत्त-अट्ठकथा, (६१) खन्धवग्ग-संयुत्त, (६२) खन्धवग्ग-संयुत्त-टीका, (६३) सळायतन-वग्ग-संयुत्त, (६४) सळायतनवग्ग-संयुत्त-अट्ठकथा, (६५) महावग्ग-संयुत्त, (६६) एक-दुक-तिक-निपात-अंगुत्तर, (६७) चतुक्क-निपात-अंगुत्तर, (६८) पञ्चनिपात-अंगुत्तर, (६९) छसत्तनिपात-अंगुत्तर, (७०) अट्ठ - नव - निपात - अंगुत्तर, (७१) दस-एकादस-निपात-अंगुत्तर, (७२) एकनिपात-अंगुत्तर-अट्ठकथा, (७३) दुक-तिक-चतुक्क-निपात-अंगुत्तर-अट्ठकथा, (७४) पंचादि-अंगुत्तर-अट्ठकथा, (७५) अंगुत्तर-टीका (१), (७६) अंगुत्तर-टीका (२), (७७) खुद्दक-पाठ, अट्ठकथा-सहित, (७८) धम्मपद, अट्ठकथा-सहित, (७९) उदान, अट्ठकथा-सहित, (८०) इतिवुत्तक, अट्ठकथा-सहित, (८१) सुत्त-निपात, अट्ठकथा-सहित, (८२) विमानवत्थु, अट्ठकथा-सहित, (८३) पेतवत्थु, अट्ठकथा-सहित, (८४) थेरगाथा, अट्ठकथा-सहित, (८५) थेरीगाथा, अट्ठकथा-सहित, (८६) पाठचरिय, (८७) एक-निपात-जातक-अट्ठकथा, (८८) दुकनिपात-जातक-अट्ठकथा; (८९) तिक-निपात-जातक-अट्ठकथा, (९०) चतुक्क-पंच-छ-निपात जातक-अट्ठकथा, (९१) सत्त-अट्ठ-नव-निपात-जातक-अट्ठकथा, (९२) दस-एकादस-निपात-जातक-अट्ठकथा, (९३) द्वादसतेरस-पकिण्णक-निपात-जातक-अट्ठकथा, (९४) वीसतिजातक-अट्ठकथा, (९५) जातत्तकी-सोत्तत्तकी-निदान-अट्ठकथा, (९६) चूळनिद्देस, (९७) चूळ-निद्देस-अट्ठकथा; (९८) महानिद्देस, (९९) महानिद्देस, (१००) जातक-टीका, (१०१) दुम-जातक-अट्ठकथा, (१०२) अपदान, (१०३) अपदान-अट्ठकथा; (१०४) पटिसम्भिदामग्ग, (१०५) पटिसम्भिदा-मग्ग-अट्ठकथा, (१०६) पटिसम्भिदामग्ग-गण्ठि पद, (१०७) विसुद्धिमग्ग-अट्ठकथा, (१०८) विसुद्धिमग्ग-टीका, (१०९) बुद्धवंस-अट्ठकथा, (११०) चरियापिटक-अट्ठकथा, (१११) नामरूप-टीका (नवीन), (११२) परमत्थ-विनिच्छय

(नवीन), (११३) मोह-विच्छेदनी, (११४) लोक-पञ्ञत्ति, (११५) मोह-नयन, (११६) लोकुप्पत्ति, (११७) अरुणवति, (११८) छगति-दीपनी, (११९) सहस्सरंसिमालिनी, (१२०) दसवत्थु, (१२१) सहस्सवत्थु, (१२२) सीहल-वत्थु, (१२३) पेटकोपदेस, (१२४) तथागतुप्पत्ति, (१२५) धम्मचक्क (पवत्तन-सुत्त), (१२६) धम्मचक्क-टीका, (१२७) दाठाधातुवंस, (१२८) दाठा-धातुवंस-टीका, (१२९) चूलवंस, (१३०) दीपवंस, (१३१) थूपवंस, (१३२) अनागतवंस, (१३३) बोधिवंस, (१३४) महावंस, (१३५) महावंस-टीका, (१३६) धम्मदान, (१३७) महाकच्चायन, (१३८) न्यास, (१३९) थन्-ब्यन्-टीका, (१४०) महाथेर-टीका, (१४१) रूपसिद्धि-अट्ठकथा, (१४२) रूपसिद्धि-टीका, (१४३) बालावतार, (१४४) वुत्ति-मोग्गलान, (१४५) पंचिका मोग्गल्लान, (१४६) पञ्चिका-मोग्गल्लान-टीका; (१४७) कारिका, (१४८) कारिका-टीका, (१४९) लिंगत्थ-विवरण, (१५०) लिंगत्थ-विवरण-टीका, (१५१) मुखमत्तसार, (१५२) मुखमत्तसार-टीका, (१५३) महागण, (१५४) चूलगण, (१५५) अभिधान, (१५६) अभिधान-टीका, (१५७) सद्दनीति, (१५८) चूलनिरुत्ति, (१५९) चूलसन्धि-विसोधन, (१६०) सद्दत्थभेदचिन्ता, (१६१) सद्दत्थभेद-चिन्ता-टीका, (१६२) पद-सोधन, (१६३) सम्बन्ध-चिन्ता-टीका, (१६४) रूपावतार, (१६५) सद्दावतार, (१६६) सद्धम्मदीपक, (१६७) सोतमालिनी, (१६८) सम्बन्धमालिनी, (१६९) पदावहामहाचक्क, (१७०) स्वादि (मोग्गल्लान), (१७१) कतचा (कृत-चक्र), (१७२) महाका (महाकप्प या महाकच्चायन), (१७३) वालत्तजन, (बालावतारण), (१७४) सुत्तावलि, (१७५) अक्खरसम्मोहच्छेदनी, (१७६) चेतिद्धिनेमिपरिगाथा, (१७७) समस्सतद्धितदीपनी (१७८) बीजख्यं, (१७९) कच्चायन-सार, (१८०) बालप्पबोधन, (१८१) अट्ठसालिनी, (१८२) अट्ठसालिनी-निस्सय, (१८३) कच्चायन-निस्सय, (१८४) रूपसिद्धि-निस्सय; (१८५) जातक-निस्सय, (१८६) जातकगण्ठि, (१८७) धम्मपदगण्ठि-निस्सय, (१८८) कम्मवाचा, (१८९) धम्मसत्त, (१९०) कलापपञ्चिका, (१९१) कलाप-पञ्चिका-टीका; (१९२) कलापसुत्त-प्रतिञ्ञासकु, (१९३) प्रिण्डो-टीका, (१९४) रत्नमाला, (१९५) रत्नमाला-टीका, (१९६) रोगनिदान, (१९७) दब्बगुण, (१९८) दब्बगुण-टीका, (१९९) छन्दोविचिति, (२००) चन्द्रप्रुति (चन्द्रवृत्ति), (२०१) चन्द्रपञ्चिकर (चान्द्रपञ्जिका), (२०२) कामन्दकी, (२०३) धम्मपञ्ञा-पकरण, (२०४) महोसट्ठि, (२०५) सुबोधालंकार, (२०६) सुबोधालंकार-टीका (२०७) तनोगबुद्धि, (२०८) तण्डि (दण्डी), (२०९) तण्डि-टीका,

(२१०) चंकदास, (२११) अरिय तच्चावतार, (२१२) विचित्रगन्ध, (२१३) सद्धम्मुपाय, (२१४) सारसंगह, (२१५) सारपिण्ड, (२१६) पटिपत्तिसंगह; (२१७) सूलचारक; (२१८) पालतक्क, (२१९) त्रक्कमासा (तर्कभाषा), (२२०) सद्दकारिका, (२२१) कासिकापुत्तिपालिनी, (२२२) सद्धम्मदीपक, (२२३) सत्यतत्त्वाववोध, (२२४) वालप्पबोधन-प्रुत्तिकरण, (२२५) अत्थ-व्याख्यं, (२२६) चूलनिरुत्तिमंजूसा, (२२७) मंजूसाटीकाव्याख्यं, (२२८) अनुटीकाव्याख्यं, (२२९) पकिण्णक-निकाय, (२३०) चत्थ-पयोग, (२३१) मत्थपयोग, (२३२) रोगयात्रा; (२३३) रोगयात्रा-टीका, (२३४) सत्थेक-विपसवप्रकाश, (२३५) राजमत्तन्त, (२३६) परासव; (२३७) कोलद्धज, (२३८) बृहज्जातक, (२३९) वृहज्जातक-टीका, (२४०) दाठाधातुवंस, टीका-सहित, (२४१) पतिग-विवेक-टीका, (२४२) अलंकार-टीका, (२४३) चलिन्द-पञ्चिका, (२४४) वेदविधिनिमित्तनिरुत्ति-वण्णना, (२४५) निरुत्तिव्याख्यं, (२४६) वुत्तोदय, (२४७) वुत्तोदय-टीका, (२४८) मिलिन्द-पञ्ह, (२४९) सारत्थ-संगह, (२५०) अमरकोस-निस्सय, (२५१) पिण्डो-निस्सय, (२५२) कलाप-निस्सय, (२५३) रोगनिदान-व्याख्यं, (२५४) दब्बगण टीका, (२५५) अमरकोस, (२५६) दण्डी-टीका (प्रथम); (२५७) दण्डी-टीका (द्वितीय), (२५८) दण्डी-टीका (तृतीय), (२५९) कोलध्वज-टीका, (२६०) अलंकार; (२६१) अलंकार-टीका, (२६२) भेसज्जमंजूसा, (२६३) युद्धजेय्य, (२६४) यतनप्रभा-टीका, (२६५) विरग्घ, (२६६) विरग्घ-टीका, (२६७) चूळमणि-सार, (२६८) राजमत्तन्त-टीका, (२६९) मृत्युवञ्चन, (२७०) महाकाल-चक्क, (२७१) महाकालचक्क-टीका, (२७२) परविवेक, (२७३) कच्चायन-रूपावतार, (२७४) पुम्भरसारी, (२७५) तक्तावतार (तत्त्वावतार), (२७६) तक्तावतार-टीका, (२७७) न्याय-बिन्दु, (२७८) न्यायबिन्दु-टीका, (२७९) हेतुबिन्दु, (२८०) हेतुबिन्दु-टीका, (२८१) रिक्कणिय-यात्रा, (२८२) रिक्कणिय-यात्रा-टीका, (२८३) वरित्तरताकर (वृत्तरत्नाकर), (२८४) श्यारामितिकव्य, (२८५) युत्तिसंगह; (२८६) युत्ति-संगह-टीका, (२८७) सारसंगह-निस्सय, (२८८) रोग-यात्रा-निस्सय, (२८९) रोग-निदान-निस्सय, (२९०) सद्दत्थमेदचिन्ता-निस्सय, (२९१) पारानिस्सय, (२९२) श्यारा-मितिकव्य-निस्सय, (२९३) वृहज्जातक-निस्सय, (२९४) रत्तमाला, और (२९५) नरयुत्ति-संगह।[1]

---

१. देखिए मेबिल बोड : दि पालि लिटरेचर ऑफ बरमा, पृष्ठ १०१-१०९।

थाई (स्याम) देश के सुखोदयपुर में सन् १४२६ ई० में अंकित पालि-अभिलेख

यह एक पालि-लेख है, जिसे सन् १४२६ ई० (बुद्ध-संवत्सर १९७०) में सिरि मेधंकर नामक महाथेर ने थाई (स्याम) देश के सुखोदयपुर के समीप सच्चवन्धव पर्वत पर एक पाषाण-फलक पर अपने द्वारा स्थापित 'बुद्धपाद' पर भगवान् के चरण-चिह्नों के नीचे अंकित करवाया। इस पाषाण-फलक पर, जो इस समय बैंकाक नगर के राजकीय संग्रहालय में सुरक्षित है, बुद्ध-चरण अंकित हैं और उनके नीचे उनके अस्सी महाश्रावक स्थविर अंकित हैं। ये भिक्षु अंजलि बाँधे भगवान् को नमस्कार करते हुए संघबद्ध होकर एक शोभा-यात्रा के रूप में जाते दिखाये गये हैं। इन अस्सी महाश्रावक भिक्षुओं के नाम भी यहाँ अंकित हैं और यही इस लेख का मूल रूप है। इन नामों की भाषा पालि ही है, परन्तु कहीं-कहीं उच्चारण-वैचित्र्य इतना अधिक है कि उनकी पहचान करना भी मुश्किल हो जाता है। पालि अट्ठकथाओं में जहाँ-तहाँ अनेक स्थलों पर बुद्ध के अस्सी महाश्रावक, महास्थविरों के निर्देश हैं और उनके नामों की पूरी सूची 'थेरगाथट्ठकथा' में दी गयी है। उससे मिलान करने पर ज्ञात होता है कि अधिकांश नाम, जो थाई-देश के इस पन्द्रहवीं शताब्दी के 'बुद्धपाद' पर अंकित हैं, 'थेरगाथट्ठकथा' में निहित पालि-परम्परा के समान हैं, परन्तु कुछ विभिन्न भी हैं। इससे विदित होता है कि बुद्ध के अस्सी महाश्रावक महास्थविरों के नामों की परम्परा, जो 'थेरगाथट्ठकथा' में निर्दिष्ट है, उससे कुछ भिन्न एक लक्षणीय परम्परा थाईदेश में प्रचलित थी और उसी का अनुगमन उक्त अभिलेख में किया गया है। 'चूळवंस' से विदित होता है कि अठारहवीं शताब्दी ईसवी में स्याम (थाई) के राजा धम्मिक ने सच्चवन्धव पर्वत पर स्थापित उक्त 'बुद्धपाद' की एक प्रतिमा सिंहलराज कीर्ति श्री राजसिंह (कित्ति, सिरि राजसीह) के पास भिजवायी थी। वास्तव में पालि-परम्परा में वह अनुश्रुति विदित ही है कि बोधि-प्राप्ति के आठवें वर्ष में बुद्ध भगवान् तीसरी बार श्रीलंका गये थे और वहाँ उन्होंने सुमनकूट पर्वत पर अपने चरण-चिह्न प्रकट किये थे। इन्हीं चरण-चिह्नों के अनुकरण पर वास्तव में थाई-देश में उपर्युक्त 'बुद्धपाद' सच्चवन्धव पर्वत पर सिरि मेधंकर महास्थविर द्वारा स्थापित भी करवाया गया था, जिस पर उक्त रूप से बुद्ध के अस्सी महाश्रावक महास्थविरों के नाम अंकित हैं और जिसकी ही पाषाणमय अनुकृति उपर्युक्त स्यामराजा

ने लंका-नरेश कीर्ति श्री राजसिंह के पास भिजवायी। इस प्रकार बुद्ध के पद-चैत्य के माध्यम से श्रीलंका और थाई-देश एक गहरे आध्यात्मिक सम्बन्ध में बँधे हुए हैं। और थाई-देश में बुद्ध के चरण-चिह्नों के नीचे उनके जो अस्सी महान् भिक्षु-शिष्यों के नाम अंकित हैं, उनके भी सांस्कृतिक महत्त्व का सम्यक् अनुमाप कौन करे?

रामण्य-देश (पेगू-बरमा) के राजा धम्मचेति का १४७६ ई० का कल्याणी-अभिलेख

कल्याणी अभिलेख रामण्य-देश (पेगू-बरमा) के राजा धम्मचेति ने सन् १४७६ ई० में अंकित करवाया। बरमा में बौद्ध धर्म के विकास, विशेषतः भिक्षु-संघ की परम्परा, पर इस अभिलेख से पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। भिक्षुओं के उपसम्पदा-संस्कार की विधि एवं विहार-सीमा के निर्णय करने के विषय पर राजा धम्मचेति (१४६०-१४९१) ई० के समय में बरमी भिक्षु-संघ में विवाद उपस्थित हो गया। इस विवाद का निश्चित समाधान करने के लिए प्राचीन बौद्ध साहित्य, विशेषतः विनय-पिटक और उसकी अट्ठकथा एवं उपकारी टीका-साहित्य का काफी गवेषण किया गया। उसके परिणामस्वरूप जो निश्चित मार्ग-दर्शन प्राप्त हुआ, उसी का उल्लेख कल्याणी-अभिलेख में है। राजा धम्मचेति ने (जो स्वयं पहले बौद्ध भिक्षु रहा था और जिसका अब भी बौद्ध धर्म में अनुराग था) कुछ भिक्षुओं को उपसम्पदार्थ सिंहल भेजा, क्योंकि वहाँ स्थविर महेन्द्र के समय से ही उपसम्पदा की विधि महाविहार की परम्परा के रूप में अपने विशुद्ध रूप में चली आ रही थी। राजा धम्मचेति द्वारा भेजे गये इन बरमी भिक्षुओं की कोलम्बो के समीप कल्याणी नदी के तट पर स्थित कल्याणी-विहार में उपसम्पदा हुई और जब ये भिक्षु लौटकर बरमा आये, तो इन्होंने पेगू नगर के समीप जेंग्-नेंग् नामक स्थानों में एक 'सीमा' स्थापित की, जो कल्याणी की स्मृति में 'कल्याणी-सीमा' कहलायी और वहाँ सिंहल-निकाय के अनुसार दीक्षा देने का विधान हुआ। इसीलिए वहाँ अंकित अभिलेख भी कल्याणी-अभिलेख के नाम से प्रसिद्ध हुआ। यह लेख पत्थर की दस पट्टियों पर है और पेगू नगर के पश्चिमी भाग में मिला है। आजकल ये पट्टियाँ टूट चुकी हैं। प्रथम तीन पट्टियों पर अंकित अभिलेखों की भाषा पालि है और शेष की तलैङ्ग जो मूल पालि पाठ से अनूदित की गयी है। यह सारा विषय बौद्ध भिक्षुओं के प्रव्रज्या-उपसम्पदा संस्कार तथा उससे सम्बद्ध क्रियाकाण्ड से इतना सम्बन्धित है कि उसका उद्धरण देने से यहाँ कोई विशेष प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता। फिर भी विषय के सन्दर्भ और उसके विकास के सम्बन्ध में इतना

कहना आवश्यक है कि विनय-पिटक के 'महावग्ग' के उपोसथक्खन्धक में भगवान् ने भिक्षुओं के एकावास के लिए 'सीमा सम्मुति' (सीमा सम्मति) की अनुज्ञा दी थी, पर्वत-निमित्त, पाषाण-निमित्त, वन-निमित्त, वृक्ष-निमित्त आदि कुछ निमित्तों को लेकर। इनकी व्याख्या 'समन्तपासादिका' (विनयट्ठकथा) में की गयी और उत्तर काल में विनय-सम्बन्धी अनेक व्याख्या-ग्रन्थों में भी। यहाँ तक कि आठवीं-नवीं शताब्दी ईसवी में रचित 'महावंस-टीका' में 'सीमा-कथा' के सम्बन्ध में एक व्याख्या का उल्लेख किया गया है, जिसमें सीमा-सम्बन्धी समस्याओं को सुलझाया गया था। इसके बाद संघराज श्री सारिपुत्र महास्थविर के वाचिस्सर और छपद जैसे महाविद्वान् शिष्यों ने, जो क्रमशः सिंहली और बरमी स्थविर थे; सीमा-सम्बन्धी प्रश्न को सुलझाने का प्रयत्न किया। उनकी इन सम्बन्धी रचनाओं का उल्लेख हम पहले आठवें अध्याय में कर चुके हैं। सीमा के विषय पर ही पन्द्रहवीं शताब्दी में संघराज श्री राहुल महास्थविर ने 'सीमालंकारछेदनी' लिखी; बल्कि उन्नीसवीं शताब्दी तक में भी श्रीलंका में आचार्य विमलसार ने 'सीमा-लक्खण-दीपनी' लिखी और इसी शताब्दी में सन् १८०१ में बरमा में 'सीमा-विनिच्छय-कथा' लिखी गयी। इस प्रकार यह विषय जो बुद्ध के काल से शुरू हुआ, ठीक आधुनिक काल तक बौद्ध भिक्षु-संघ में चलता आ रहा है। परन्तु जहाँ तक इसके साहित्यिक महत्त्व का सम्बन्ध है, उसे अल्प ही माना जा सकता है। पालि-साहित्य के बरमा में विकास की दृष्टि से केवल इस कल्याणी-अभिलेख पर अंकित उन पालि-ग्रन्थों के नाम महत्त्वपूर्ण हैं; जिनकी सहायता उपर्युक्त विवाद के शमनार्थ ली गयी थी। इन ग्रन्थों में ये मुख्य हैं—पातिमोक्ख, खुद्दक-सिक्खा, विमति-विनोदनी, विनय पालि, वज्रबुद्धि स्थविर (वजिरबुद्धि थेर)-कृत विनय-टीका; 'सारत्थदीपनी' नामक विनय-टीका, कंखावितरणी, विनय-विनिच्छय-पकरण, विनयसंगहप्पकरण और सीमालंकार-पकरण (सीमालंकार-संगह) आदि। जैसा स्पष्ट है, विनय-पिटक सम्बन्धी साहित्य ही इसमें प्रधान है। इनमें से कुछ रचनाओं का परिचय हम पहले दे चुके हैं।

कल्याणी-अभिलेख सिंहल में 'कल्याणिप्पकरण' शीर्षक से पुस्तकाकार रूप में उपलब्ध है। और उसकी कुछ प्रतियाँ, मललसेकर द्वारा दी गयी सूचना के अनुसार, अमरपुर-निकाय के विहारों में आज भी सिंहल में पायी जाती हैं।[1]

कल्याणी-अभिलेख इस दिशा में पालि-साहित्य सृजन की अंतिम काल-सीमा

---

१. देखिए उनका 'दि पालि लिटरेचर ऑफ सिलोन, पृष्ठ १५७।

निश्चित करता है। वह उस प्रभूत पालि-साहित्य की ओर भी संकेत करता है; जो लंका की तरह बरमा में भी लिखा गया। साथ ही भ्रम्म (बरमी) और सिंहली भिक्षु-निकायों के सम्बन्ध की कथा भी उसमें है और मध्यकालीन बरमी शासकों की बुद्ध धर्म-सम्बन्धी गहरी निष्ठा का ज्वलन्त उदाहरण भी। पालि-साहित्य यद्यपि संस्कृत की तरह एक पूरा वाङ्मय नहीं है, फिर भी उसकी रचना भारत, श्रीलंका, बरमा, स्याम, कम्बोदिया (कम्पूचिया) और लाओस जैसे देशों में हुई है। उसकी अनेकविध बिखरी हुई सामग्री इसका प्रमाण है। पालि में विभिन्न ज्ञानशाखाओं पर ग्रन्थ नहीं लिखे गये। जो कुछ लिखे भी गये, उनका भी आधार विशाल संस्कृत वाङ्मय ही था और उनका अपने-आप में कोई विशेष महत्त्व नहीं है।

उपसंहार

भारतीय वाङ्मय में पालि-साहित्य का स्थान

गत पृष्ठों में जिस साहित्य का पर्यालोचन किया गया है, वह भारतीय साहित्य का अभी तक प्राय: एक उपेक्षित अंग ही रहा है। सम्पूर्ण मध्यकालीन भारतीय आर्य-साहित्य का ही वैसे तो यथावत् अध्ययन अभी हिन्दी में नहीं किया गया है, किन्तु पालि-साहित्य के अतिशय गौरवशाली होने के कारण उसकी उपेक्षा तो अत्यन्त हृदयद्रावक है। छठी शताब्दी ईसवी-पूर्व से लेकर छठी शताब्दी ईसवी तक अर्थात् पूरे १२०० वर्ष के भारतीय इतिहास में जो कुछ भी सबसे अधिक स्मरणीय, जो कुछ भी सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है, वह पालि-साहित्य में निहित है। इस युग का भारतीय समाज, धर्म, दर्शन और सबसे अधिक विश्व-संस्कृति को उसका मौलिक दान, सभी कुछ पालि-साहित्य में अंकित है। फिर भी इस महत्त्वपूर्ण साहित्य का जितना अध्ययन और प्रकाशन कोलम्बो (सिंहल), रंगून (बरमा), बैंकाक (स्याम) और पालि टैक्स्ट सोसायटी, लन्दन से हुआ है, उतना किसी भारतीय नगर या शिक्षा-केन्द्र के विषय में तो कहा भी नहीं जा सकता। सम्पूर्ण भारत की बात जाने दें, तो भी मध्य-मण्डल (शास्ता की विचरण-भूमि) में पालि स्वाध्याय की जो दयनीय अवस्था है (जिसमें अब कुछ कमी अवश्य हुई है); उसे देखकर तो आश्चर्य होता है कि हम किस प्रकार अपनी संस्कृति के तत्त्वों के संरक्षण का दम भरते हैं। जिस संस्कृति के प्रभाव को चीन, जापान, कोरिया, मंगोलिया, तिब्बत, मध्य-एशिया और अफगानिस्तान की भूमियाँ अभी नहीं भूली हैं, जिसकी स्मृतियाँ अभी तक श्रीलंका, बरमा, स्याम, कम्बोदिया (कम्पूचिया), वियतनाम और लाओस के निवासियों के हृदयों में, उनके सारे सामाजिक संस्थान और राजनीतिक विधान में, गुँथी हुई पड़ी हैं, उसे हम भारतवासी, जो उसके वास्तविक प्रतिनिधि हैं, भूल चुके हैं। यह एक दुःखद किन्तु सत्य बात है। भगवान् बुद्ध के जिस शासन के माध्यम से हम संसार के सम्पर्क में आये थे, उसे हम आज तोड़ चुके हैं। आज हम कच्ची बुनियादों पर महल खड़े कर रहे हैं। समय ही बतायेगा कि ये बुनियादें कितनी स्थायी होती हैं। हाँ, इतिहास की ओर

मुड़कर हम चाहें तो एक ऐसे अधार का भी आश्रय ले सकते हैं, जिसकी परीक्षा पहले हो चुकी है। यह आधार उस साहित्य और संस्कृति का है, जिसे हम वुद्ध के नाम से संयुक्त करते हैं। इस माध्यम की पूर्व परम्परा बड़ी शुभ्र रही है। इसके द्वारा हम जिस किसी से मिले, तो उसका शोषण करने के लिए नहीं, बल्कि अपने सम्पर्क से केवल उसी को कृतार्थ करने के लिए, उसी के अनुकम्पार्थ ! अशोक के प्रव्रजित पुत्र महेन्द्र और उनके साथी भिक्षुओं ने जब लंकाधिपति देवानं पिय तिस्स से गौरव भरे शब्दों में यह कहा, 'हम तेरे ऊपर अनुग्रह करने के लिए ही भारत से यहाँ आये हैं', ('तवेव अनुकम्पाय जम्वुद्दीपा इधागता') तो उन्होंने अपने इन शब्दों से उस सारी भावना का ही प्रतिनिधित्व कर दिया, जिससे प्रभावित होकर शतसहस्र धर्मोपदेशक भिक्षुओं और मानव-जाति के सेवक भारतीय मनीषियों ने हजारों कोसों की भयानक पैदल यात्राएँ कर विदेश-गमन किया था। इन स्मृतियों की पृष्ठभूमि को लेकर चाहे तो भारतीय राष्ट्र आज भी कम-से-कम एशिया के देशों में अपने पूर्व सम्बन्धों को फिर से जीवित कर सकता है, उनके साथ मैत्री के सम्बन्ध दृढ़तर कर सकता है। पालि-साहित्य का शुभ आशीर्वाद सदा उसे अपने इस प्रयत्न में मिलेगा।

विशुद्ध साहित्य की दृष्टि से पालि-साहित्य का अर्थ-गौरव और उसकी प्रभावमयी ओजस्विनी भाषा-शैली किसी भी साहित्य से टक्कर ले सकती हैं। किन्तु उसके इस सम्बन्धी गुणों या ऐतिहासिक महत्त्व के विषय में हमें यहाँ कुछ नहीं कहना है। पहले भी इसके सम्बन्ध में बहुत कहा जा चुका है। भारतीय साहित्य के इतिहास में पालि का स्थान सब प्रकार संस्कृत के साथ है। संस्कृत साहित्य रूपी महासमुद्र में ही आर्य जाति के सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान का भांडार निहित है। उसी महासागर का एक आवर्त पालि भी है। पालि संस्कृत से व्यतिरिक्त नहीं, बल्कि भाषा और साहित्य दोनों ही दृष्टियों से वह उसी का एक रूपान्तर या अंग ही है। अतः संस्कृत-साहित्य के अविभाज्य अवयव के रूप में पालि का महत्त्व भारतीय-साहित्य में सदा सुप्रतिष्ठित रहना ही चाहिए। हाँ, भारत की सीमा के बाहर के देशों में पालि अपनी ज्येष्ठ भगिनी संस्कृत से भी कहीं-कहीं प्रभावशीलता में अधिक बढ़ गयी है। इसका कारण है पालि का तथागत की सन्देश-वाहिका होना। अपने इस गौरव के कारण ही सचमुच पालि जैसी प्रादेशिक भाषा को भी विश्वजनीन होने का सौभाग्य मिल गया है, जो सम्भवतः आज तक अंशतः संस्कृत को छोड़कर अन्य किसी भारतीय भाषा को नहीं मिला।

पालि और विश्व-साहित्य

जर्मन कवि-दार्शनिक गेटे ने साहित्य को विश्व का मानवीकरण कहा है। दुनिया का शायद ही कोई साहित्य इस कसौटी पर उतना खरा उतर सके, जितना पालि-साहित्य। भारतीय भाषाओं में यदि किसी के भी साहित्य में विश्वजनीन तत्त्व सबसे अधिक हैं, तो निश्चय ही पालि में। गत पृष्ठों में पालि-साहित्य के विवेचन में यदि लेखक ने अधिक प्रमाद नहीं किया है, तो इससे स्पष्ट हो गया होगा कि पालि-साहित्य एक धार्मिक सम्प्रदाय (स्थविरवाद बौद्ध धर्म) का ही साहित्य नहीं है, बल्कि वह जाति-धर्म-निर्विशेष विश्व-मानव का साहित्य है; जो विश्वजनीनता की भावनाओं से अनुप्राणित है। यही कारण है कि भारतीय भूमि से उद्भूत होकर उसका विकास समान रूप से ही अन्य देशों में भी हुआ है। संकुचित राष्ट्रीय आदर्शों की अभिव्यक्ति उसके अन्दर नहीं है। वह मनुष्य मात्र की समस्याओं को लेकर उनके समाधान के लिए खड़ा है, जिसमें देश या राष्ट्र का वैसा कुछ भेद नहीं होता। बुद्ध धर्म कैसे विश्व धर्म हो गया, इसका बहुत कुछ रहस्योद्घाटन पालि-साहित्य में ही हो जाता है। यहाँ कोई ऐसा विशिष्ट विश्वास नहीं, कोई ऐसा कर्मकाण्ड का विधान नहीं, कोई ऐसा देवत्व का आदर्श नहीं, जो मनुष्य-मनुष्य के बीच भेद डाल सके। यहाँ केवल नैतिक आदर्शवाद है, मनुष्य को मनुष्य बनाने का प्रयत्न है, और यह सब है मनुष्य को मनुष्य समझ-कर, मनुष्य के द्वारा मनुष्य को मार्ग दिखाकर। यदि धर्म के नाम पर मानवता का अपलाप ही आज हमारे अनेक अनर्थों का कारण है, तो पालि-साहित्य हमें आज उसके प्रतिकार करने के लिए आह्वान करता है। यदि मनुष्यता के गठ-बन्धन में बँधना ही विश्व-मानव के भावी कल्याण का एकमात्र मार्ग है और उसी के लिए चारों ओर से प्रगति करनी है, तो उसके लिए भी पालि-साहित्य सबसे पहले हमारा आह्वान करता है और हमारे मार्ग को प्रशस्त करता है। विश्व-धर्म के प्रसारक इस साहित्य का यदि समुचित प्रचार और प्रसार किया जाय, तो निश्चय ही वह भारतीय जनता को संसार के शेष मनुष्यों के साथ मनुष्यता की उस समान भूमि पर लाकर खड़ा कर देगा; जिसकी आज सबसे अधिक आव-श्यकता है और जिसके बिना भारत विश्व-संस्कृति को अपने उस महत् दान को दे भी नहीं सकता, जिसे उसने बुद्ध धर्म के रूप में कभी उसे दिया था।

⊙

नामानुक्रमणिका

१—पालि-ग्रन्थ

छ

ज

प

श

स

ह

⊙

२—पालि-ग्रन्थकार

⊙

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	१५	पलियं	पालियं
१०	१३	मगन्ता	भगवता
१३	८	(सक्तनिरुत्ति)	('सका निरुत्ति')
,,	३०	'घूपवंस'	'थूपवंस'
१४	१	घूपवंसो।"	थूपवंसो।"
३७	३	स्कन्ध	सम्बन्ध
,,	४	मन्नना	मन्तना
,,	४-५	सम्परिमाया-सुत्त	सम्बरिमाया-सुत्त
,,	५	सम"	समं"
,,	२०	दैवों	देवों
३९	१०	'शेष	'शेषं
४५	२५	'उपगा'	'उपग'
५८	१८	उस्सुक	उस्सुक्कं
९१	१७	सरणत्रयवण्णना	सरणत्तयवण्णना
९२	२६	सुत्तक विमर्शी	सत्तक-निपात
,,	२७	नन्दमाग-सुत्त	नन्दमाता-सुत्त
,,	,,	अपने	आये
,,	२८	प्रखर	सस्वर
,,	,,	'सञ्याद-सुत्त'	'सज्झाय-सुत्त'
,,	२९	सन्ध्या के पूर्णवच में 'धर्म पद्धो' की साधन करते देखे,	साधना के पूर्व काल में 'धर्मपदों' का स्वाध्याय करते देखते हैं,
९४	२७	वेलकण्टकी	वेलुकण्टकी
१०२	८	वस्सतपरिनिब्बुते	वस्ससतपरिनिब्बुते
१०८	१८	सादे का	सावका
१२६	२३	'सिद्धम्मसंगह'	'सद्धम्मसंगह'
१२७	३०	महादान-शास्त्रों	महायान-शास्त्रों
१४२	१९	सुम-सुत्तदही	सुम-सुत्त ही
१५१	१८	खाना	दिखाना
१६४	५	'पेटकोपदेव'	'पेटकोपदेस'
१६५	१०	ज्ञान-संयुत्त	झान-संयुत्त
१६६	३	द्वेवादितक्क-सुत्त	द्वेधावितक्क-सुत्त
,,	,,	पादासि-राज-सुत्त	पायासि-राजञ्ञ-सुत्त
,,	४	सुनकदत्त-सुत्त	सुनक्खत्त-सुत्त
१७०	१५	बुद्धि-सुत्त	वुट्ठि-सुत्त
१७२	५	दीघश्रमाणानं	दीघप्पमाणानं
,,	७	सरणत्रय वण्णना	सरणत्तयवण्णना
२०७	१९	इसलिए कि	इसलिए भी

२०९	८	दक्खिण-विभंग-सुत्त	दक्खिणा-विभंग-सुत्त
२१०	३१	समझाने	समझने
२११	६	बायहित	बाहित
२२४	२१	ज्ञान-संयुत्त	ज्ञान-संयुत्त
२२६	१८	सेवानी गाँव	सेनानी गाँव
"	२६	उपस्थापक	उपस्थाक
२२७	२५	परिनिवृत्ति	परिनिवृत्त
"	अन्तिम	परिनिवृत्त	परिनिवृत
२३२	४	संगा अंगुत्तेर	सङ्खा अंगुत्तरे
२३६	३०	शिप्राभिज्ञी	क्षिप्राभिज्ञों
२४८	१८	कम्बाजानं	कम्बोजानं
२५०	२९	'खुद्दकन्थो"	'खुद्दकगन्थो'
२५९	२९	खुद्दक मठ	खुद्दकपाठ
२६१	१८	'व्यञ्जना'	'वण्णना'
२६२	१६	महालिच्छवि	महालि लिच्छवि
२७२	६	मार्ग-गमन	आवागमन
२८६	७	(तता,	(तथता,
२८९	१३	कर्म-प्रयोग	शब्द-प्रयोग
२९७	३	पधाक-सुत्त	पधान-सुत्त
२९८	२३-२४	अधित्थनं	अधिवचनं
३०१	५	पुण्णाकपण्हे	पुण्णकपञ्हे
"	६-७	उदय पण्हे	उदयपञ्हे
"	८-९	पुण्णकपण्हे	पुण्णकपञ्हे
"	९	वेळकण्टकी	वेळुकण्टकी
"	"	सुत्तक-निपात	सत्तक-निपात
"	१३	अजितपमैंहे	अजितपञ्हे
३०८	८	"दत्थियं	"यदत्थियं
"	९	कामनार्थ	यापनार्थ
३८३	७	वस्साति	वस्सानि
३८४	२९	इन्ध	इध
"	२८	अनागत-सुत्त	अनागतभय-सुत्त
५१३	१८	सङ्खा	सङ्खारा
५१९	४	म	में
५८४	१४-१५	मोग्गलिसुत्त	मोग्गलिपुत्त
५९९	९	बुद्धवंसोज कब	बुद्धवंसो केन
"	१०	कृत्थ	कुत्थ
६००	८	पढमबोधियं	पठमबोधियं
६६५	१४	बुद्ध-शाक्य	बुद्ध-शासन
७४६	२८	शास्त्र	शास्ता



